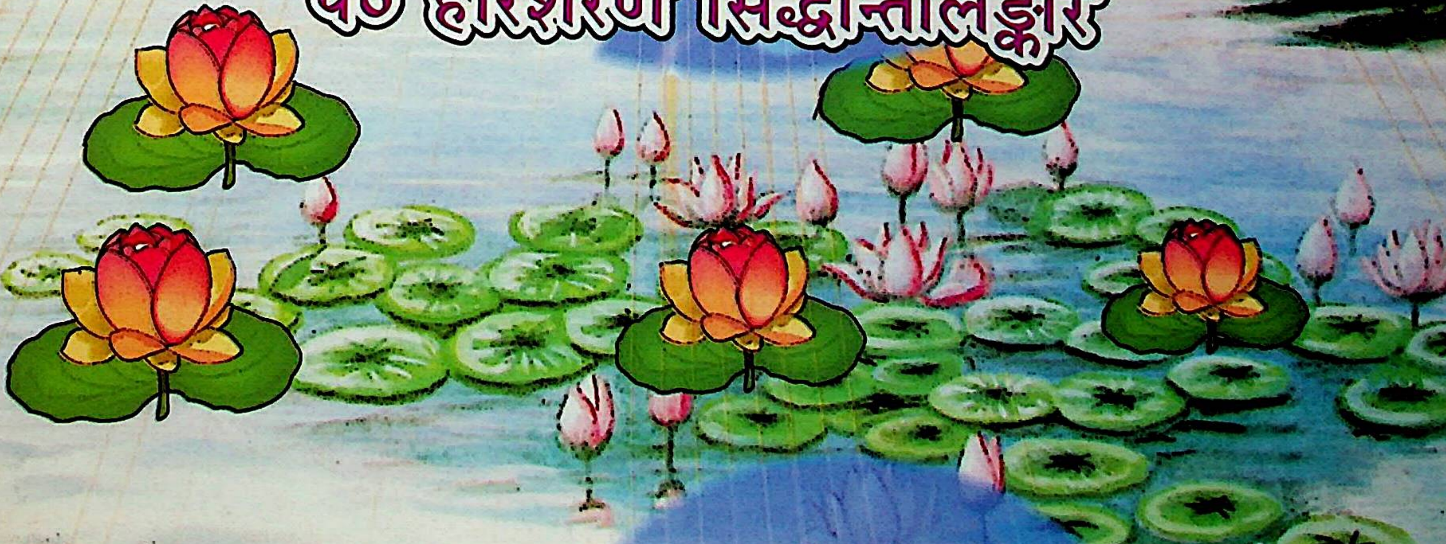
3'6

॥ ओ३म् ॥

ऋग्वेदभाष्यम्

तृतीयो भागः

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार



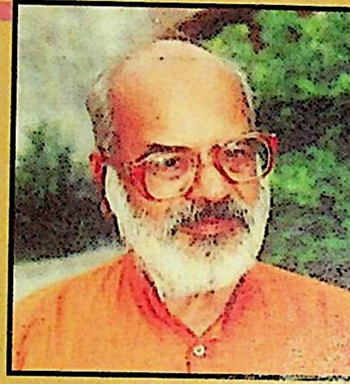


पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार का जीवन परिचय

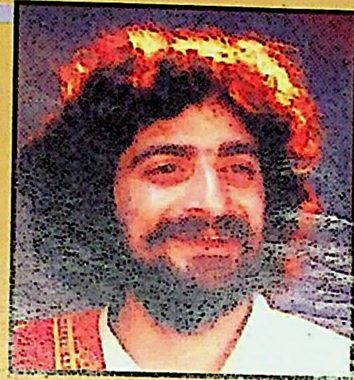
श्री हरिशरण जी का जन्म 2 जनवरी 1901 को कमालिया नगर (अब पाकिस्तान में) के एक सम्पन्न गृहस्थ मास्टर लक्ष्मणदास के यहां हुआ। पिता की आठ सन्तानों –शान्तिस्वरूप, हरिशरण, हरिप्रेम, वेदकुमारी, राजकुमारी, हरिश्चन्द्र, हरिप्रकाश व हरिमोहन–में से वह दूसरे थे। उनकी माता सद्दांबाई अत्यन्त धर्मपरायणा व कुशल गृहणी थीं। श्री लक्ष्मणदास ने कुछ समय जालन्धर में अध्यापक के रूप में कार्य किया। बाद में उन्होंने कोयले के व्यापार में हाथ डाला और उसमें खूब सफलता प्राप्त की। वहीं पर आप स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्व महात्मा मुंशीराम) के सम्पर्क में आए और महर्षि दयानन्द की वैदिक विचारधारा से प्रभावित हुए।

श्री लक्ष्मणदास अत्यन्त दृढ़व्रती, तपस्वी एवं स्वाध्यायप्रेमी धार्मिक व्यक्ति थे। बालक हरिशरण को भी ये गुण विरासत में अपने पिता से प्राप्त हुए। उनकी आरम्भिक शिक्षा दीक्षा गुरुकुल मुलतान में हुई। वहां दसवीं कक्षा तक की पढ़ाई पूरी करके आगे विद्याध्ययन के लिए वह गुरुकुल कांगडी आए। यहां उन्होंने तीन वर्ष तक आयुर्वेद का अध्ययन किया परन्तु स्नातक परीक्षा वेद विषय में उत्तीर्ण की।

हरिशरण जी अत्यन्त परिश्रमी व मेधावी छात्र थे। पहली कक्षा से स्नातक बनने तक सदैव अपनी कक्षा में प्रथम स्थान पाते रहे। संस्कृत व्याकरण के अतिरिक्ति दर्शन व साहित्य पर भी उनका पूरा अधिकार था। आंग्ल भाषा गणित, भूगोल व विज्ञान में भी उन्होंने विशेष योग्यता अर्जित की थी।



स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती, नई दिल्ली



आचार्य श्री आनन्द पुरुषार्थी होशंगाबाद (म०प्र०)



श्री मित्रावसु मॉडल टाउन, दिल्ली

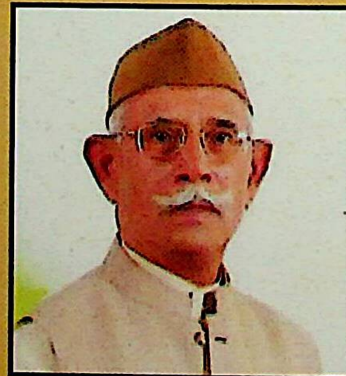


श्री कृष्ण चोपड़ा सोलिहुल (यू०के०)



श्रीमती सावित्री देवी–डॉ० बलवन्त सिंह आर्य बीकानेर (राज०)

आर्यसमाज (वैदिक मिशन) वैस्ट मिडलेण्ड्स, बरमिंघम (यू०के०)



राव श्री हरिश्चन्द्रजी आर्य नागपुर (महा०)

सुश्री उमाजी भल्ला अम्बाला छावनी (हरि०)

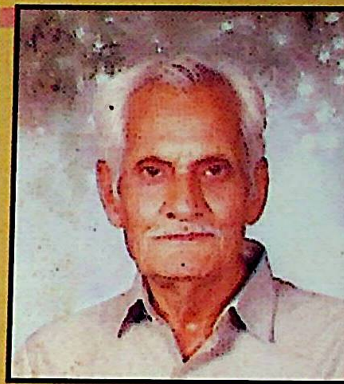
हलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास



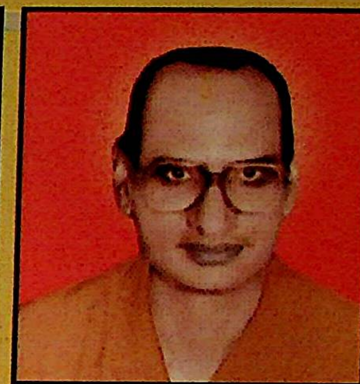
श्री [illegible] [illegible]हत्यानी
[illegible] ([illegible]जरात)



प्रिय गीतेश, आपकी स्मृति में–
श्रीमती गरिमा गोयल-श्री गणेशदास गोयल



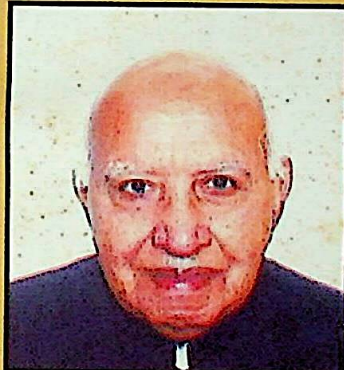
श्री उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी
आगरा (उ०प्र०)



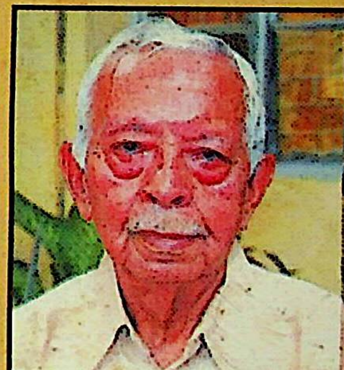
श्रद्धेय पतिदेव डॉ० बी०एल० मित्तल
आपकी स्मृति में, प्रतिभा मित्तल



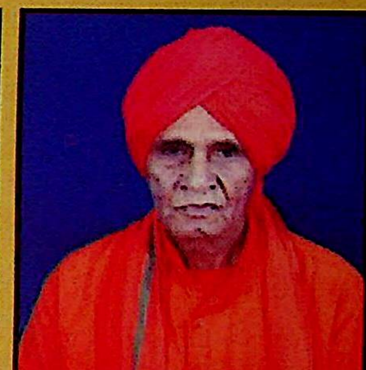
श्रीमती रक्षा चोपड़ा
सोलिहुल (यू०के०)



श्री गोपालचन्द्र
बरमिंघम (यू०के०)



श्री राधेश्याम, दिल्ली
(श्री मनोहर विद्यालंकार)



स्वामी श्री श्रद्धानन्द सरस्वती
अलीगढ़ (उ०प्र०)



श्रीमती कंचनलतादेवी–श्री सरस्वतीप्रसादजी गोयल
सवाई माधोपुर (राज०)



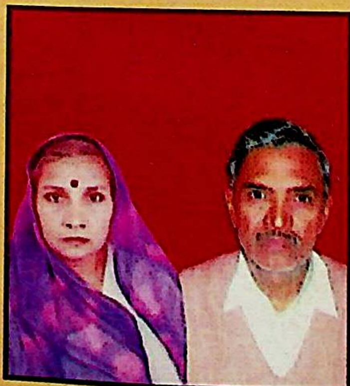
श्रीमती सुवीराजी अम्बेसंगे
उद्‌गीर, जिला लातूर, महाराष्ट्र



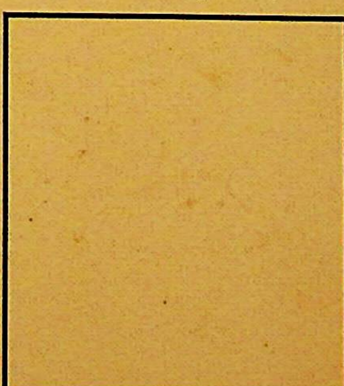
डॉ० रामावतार सिंघल
मेरठ (उ०प्र०)



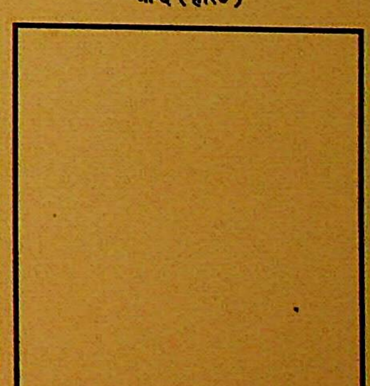
श्री अशोकजी-गजेन्द्रजी गौतम
जीन्द (हरि०)



श्रीमती प्रशान्दी देवी–श्री रामेश्वरदयालजी गुप्ता
नई दिल्ली







श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

(अथ तृतीयं मण्डलम्)

(१-६२ सूक्तम्)

एवं

(चतुर्थ मण्डलम्)

(१-५८ सूक्तम्)

[तृतीयो भागः]

भाष्यकार :
पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार



अनुष्ठानकर्त्ता :
स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास
हिण्डौन सिटी, राजस्थान-३२२ २३०

ISBN-978-93-80209-13-5

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
"अभ्युदय" भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग,
स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६-७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२, ०-९८८७४-५२९५९

संस्करण : २०६९ विक्रमी संवत्, २०१२ ई०

मूल्य : ३५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११०००६,
चलभाष : ०९३५०९९३४५५

२. **श्री गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेममणि-निवास,
नया बाजार, दिल्ली-११० ००६, चलभाष : ०९८९९७५९००२

शब्द-संयोजक : **आर्य लेज़र प्रिंट्स,** हिण्डौन सिटी, राजस्थान

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११० ०३१

ओ३म्

ऋग्वेदभाष्यम्

प्रथम सूक्त का अन्तिम वाक्य ही अन्तिम सूक्त का भी अन्तिम वाक्य है। प्रभु के सर्वत्र दर्शन से यह मण्डल प्रारम्भ होता है और 'यह द्रष्टा किस प्रकार संन्यस्थ होकर लोगों को उपदेश देता हुआ आगे बढ़े' इन शब्दों के साथ यह मण्डल समाप्त होता है। अब तृतीय मण्डल का प्रारम्भ 'विश्वामित्रः गाथिनः' ऋषि के सूक्त से होता है। गतमण्डल की समाप्ति पर संन्यासी का चित्रण हुआ था। संन्यासी वही है, जो किसी के साथ द्वेष नहीं करता (विश्वामित्र), प्रभु का गायन करता है (गाथिनः)। यह कहता है कि—

अथ तृतीयं मण्डलम्

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमरक्षण व प्रभुप्राप्ति

सोम॑स्य मा त॒वसं॒ वक्ष्य॑ग्ने॒ वह्निं॑ चकर्थ वि॒दथे॒ यज॑ध्यै।
दे॒वाँ अच्छा॒ दीद्य॑द्युञ्जे॒ अद्रिं॑ शमा॒ये अ॑ग्ने त॒न्वं॑ जुषस्व॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **मा**=मेरे लिए **सोमस्य तवसम्**=सोम के, वीर्य के-बल को **वक्षि**=आप कहते हो। सोम का महत्त्व मेरे लिए प्रतिपादन करते हो और आप मुझे **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **यजध्यै**=यज्ञात्मक कर्मों को करने के लिए **वह्निं चकर्थ**=कार्य का वहन करनेवाला बनाते हो, अर्थात् मैं आपकी कृपा से सोम का महत्त्व समझकर सोम-रक्षण करता हूँ। ज्ञानप्राप्ति के निमित्त उत्तम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता हूँ। (२) **देवान् अच्छा**=माता, पिता व आचार्य आदि देवों की ओर जाता हुआ मैं **दीद्यत्**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त होता हुआ-हुआ मैं **युञ्जे**=मन को योगयुक्त करने का प्रयत्न करता हूँ। इस प्रकार योग का अभ्यास करता हुआ **अद्रिं शमाये**=आदरणीय प्रभु का स्तवन करता हूँ (शमाये=स्नौमि सा०), (३) **अग्ने**=हे परमात्मन्! **तन्वम्**=यज्ञ, ज्ञान व स्तवन का विस्तार करनेवाले मुझको आप **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक प्राप्त होइये। मैं आपको प्राप्त करने की योग्यतावाला बनूँ।

भावार्थ—सोम का मैं रक्षण करूँ, ज्ञान और यज्ञ का वहन करूँ, देवों के सम्पर्क से ज्ञान बढ़ाऊँ। योगाभ्यासी बनूँ। प्रभु-स्तवन करूँ। मुझे प्रभु प्राप्त हों।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञ-ज्ञान-उपासना

प्राञ्चं॑ य॒ज्ञं च॑कृम॒ वर्ध॑तां॒ गीः स॒मिद्भि॑र॒ग्निं नम॑सा दुवस्यन्।
दि॒वः श॑शासुर्वि॒दथा॑ कवी॒नां गृत्सा॑य चि॒त्तव॑से गा॒तुमी॑षुः॥ २॥

(१) हम **यज्ञम्**=यज्ञ को **प्राञ्चम्**=(प्र अञ्च्) दिन व दिन बढ़नेवाले को **चकृम**=करते हैं। हमारे जीवन में यज्ञियवृत्ति दिन व दिन बढ़ती जाए। **गीः वर्धताम्**=हमारे जीवन में ज्ञान-वाणी भी बढ़े, अर्थात् हम यशस्वी हों और स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। हमारे सब व्यक्ति **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **समिद्भिः**=पृथिवीस्थ पदार्थों के ज्ञानरूप प्रथम समिधा से द्युलोकस्थ पदार्थों के ज्ञानरूप द्वितीय समिधा से तथा अन्तरिक्षलोकस्थ पदार्थों के ज्ञानरूप तृतीय समिधा से तथा **नमसा**=नमन द्वारा **दुवस्यन्**=(परिचरेयुः) परिचर्या करनेवाले हों। प्रभु का वस्तुतः उपासन इन प्रभुरचित पदार्थों में प्रभुमहिमा देखने द्वारा तथा नम्रता द्वारा ही होता है। इस प्रकार हमारे जीवनों में 'यज्ञ, ज्ञान तथा उपासन' तीनों का सुन्दर समन्वय हो। (२) हमारे लिए **दिवः**=ज्ञानी लोग **कवीनां विदथा**=ज्ञानियों के ज्ञानों का **शशासुः**=उपदेश करते हैं और ये सब देव **गृत्साय**=स्तोता के लिए **चित्**=निश्चय से **तवसे**=वृद्धि व शक्ति के लिए **गातुं ईषुः**=मार्ग को चाहते हैं, अर्थात् उसे मार्ग का उपदेश करके-उस मार्ग द्वारा उसके वर्धन की कामना करते हैं। हमारे जीवनों में पाँच वर्ष तक 'मातृ देवो भव' मातृरूप देवता का स्थान है फिर आठवें वर्ष तक 'पितृ देवो भव' पितृ रूप देवता का स्थान है, तदनन्तर पच्चीसवें वर्ष तक 'आचार्य देवो भव' आचार्यरूप देवता का स्थान है। फिर गृहस्थ में भी 'अतिथि देवो भव' विद्वान् अतिथिरूप देवों का स्थान है। ये सब देव हमें समय-समय पर ज्ञान देते रहते हैं और इस प्रकार हमें मार्गदर्शन करा के हमारी वृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'यज्ञ, ज्ञान व उपासना' का समन्वय हो। ज्ञानियों से हमें ज्ञान प्राप्त हो।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

कल्याण का मार्ग

मयो॑ द॒धे मेधि॑रः पू॒तद॑क्षो दि॒वः सु॒बन्धु॑र्ज॒नुषा॑ पृथि॒व्याः ।

अवि॑न्दन्नु द॒र्श॒तम॒प्स्व१॒॑न्तर्दे॒वासो॑ अ॒ग्निम॒पसि॒ स्वसॄ॑णाम् ॥ ३ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **मयः दधे**=कल्याण व नीरोगता को धारण करता है। चूँकि **मेधिरः**=मेधावाला होता है, **पूतदक्षः**=पवित्र बलवाला होता है। **दिवः सुबन्धुः**=ज्ञान को उत्तमता से अपने में बाँधनेवाला होता है और **पृथिव्याः**=शरीररूप पृथिवी के **जनुषा**=विकास से, अर्थात् शारीरिक शक्तियों के विकास से यह **मयः**=नीरोगता को **दधे**=धारण करता है। कल्याण प्राप्त करने का मार्ग यही है कि—(क) हम मेधा-सम्पन्न बनें, (ख) पवित्र बलवाले हों, (ग) ज्ञान को अपने में उत्तमता से स्थापित करें, (घ) तथा शरीर के अंग-प्रत्यंग को सशक्त बनाएँ। (२) **देवासः**=देववृत्ति के लोग **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं के अन्दर स्थित उस **दर्शतम्**=दर्शनीय **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **स्वसृणां अपसि**=आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाली (स्व-सृ) इन वेदवाणियों के, इन वेदवाणियों से निर्दिष्ट कर्मों में **नु अविन्दन्**=निश्चय से प्राप्त करते हैं। ये देवपुरुष वेदानुसार कर्मों को करते हैं और अन्तःस्थित प्रभु को देखते हैं।

भावार्थ—कल्याणप्राप्ति का मार्ग यही है कि हम मेधावी बनें, पवित्र बलवाले हों, ज्ञान प्राप्त करें, शरीर की शक्तियों को विस्तृत करें। वेदवाणी के अनुसार कर्म करते हुए अन्तःस्थित प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्राह्म-तेज

अवर्धयन्त्सुभगं सप्त यह्वीः श्वेतं जज्ञानमरुषं महित्वा।
शिशुं न जातमभ्यारुरश्वा देवासो अग्निं जनिमन्वपुष्यन्॥ ४॥

(१) वेदवाणियाँ सात छन्दों में होने के कारण 'सप्त' हैं, अर्थ के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण होने के कारण 'यह्वी' हैं। ये **सप्त यह्वीः**=सातों महत्त्वपूर्ण वाणियाँ **सुभगम्**=उस उत्तम भगवाले भगवान् (प्रभु) को, समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य के आधारभूत प्रभु को **अवर्धयन्**=बढ़ाती हैं। ये सब उस प्रभु का ही वर्णन करती हैं, 'सर्वे वेदाः यत् पदमामनन्ति'। उस प्रभु का वर्णन करती हैं, जो कि **श्वेतम्**=शुद्ध ही शुद्ध हैं, निर्मल हैं **जज्ञानम्**=सर्वत्र प्रादुर्भूत हो रहे हैं-सब पदार्थों में उन्हीं की तो दीप्ति दीप्त हो रही है। **महित्वा**=अपनी महिमा से जो आरोचमान हैं, क्या समुद्र में, क्या पृथिवी में, अन्तरिक्ष में बहनेवाली वायु में और द्युलोकस्थ सूर्य में सर्वत्र प्रभु की महिमा व्याप्त है। (२) **जातं शिशुं न**=जैसे उत्पन्न हुए-हुए बच्चे को देखने के लिए सब बन्धु आते हैं, इसी प्रकार प्रादुर्भूत हुए-हुए उस **अग्निम्**=अग्नि को, अग्रणी प्रभु को **अश्वाः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **देवासः**=देववृत्ति के लोग **अभ्यासः**=सब ओर से आते हैं और **जनिमन्**=उस प्रभु के प्रादुर्भाव में **वपुष्यन्**=(वपुर्दीप्तिमकुर्वन्) अपने शरीर की दीप्ति को करते हैं। हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है, तो सारा शरीर चमक उठता है। वस्तुतः यही ब्रह्म-तेज की प्राप्ति के नाम से कहा जाता है, इस तेज के सामने अन्य तेज फीके पड़ जाते हैं।

भावार्थ—सब वेदवाणियाँ प्रभु का प्रतिपादन करती हैं। वस्तुतः सब पदार्थों में प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। कर्मशील देव प्रभु के प्रकाश को अपने में देखते हैं और ब्रह्म-तेज से दीप्त हो उठते हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत्त्व में रजोगुण का पुट

शुक्रेभिरङ्गै रज आततन्वान्क्रतुं पुनानः कविभिः पवित्रैः।
शोचिर्वसानः पर्यायुरपां श्रियो मिमीते बृहतीरनूनाः॥ ५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार ब्रह्मतेज प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति **शुक्रेभिः अंगैः**=निर्मल दीप्त अंगों से युक्त हुआ **रजः आततन्वान्**=अपने अन्दर कुछ (आ=ईषत्) रजोगुण का विस्तार करता है। यह रजोगुणी तो नहीं बन जाता, पर अपने सत्त्वगुण में कुछ रजोगुण के पुट का समावेश करनेवाला होता है। इस रजोगुण से उसका सत्त्वगुण क्रियाशील बना रहता है। (२) यह अपनी **क्रतुम्**=यज्ञात्मक उत्तम क्रियाओं को **कविभिः**=क्रान्तदर्शी विद्वानों के सम्पर्क से तथा **पवित्रैः**=पवित्रीकरण के साधनभूत ज्ञानों से 'नहि ज्ञानेन संदृशं पवित्रमिहविद्यते' **पुनानः**=और अधिक पवित्र करनेवाला होता है। गतमन्त्र के ये 'अश्वाः देवासः'=कर्मशील देव वैसे ही पवित्र क्रियाओंवाले होते हैं, परन्तु विद्वानों का सम्पर्क और ज्ञान इनके कर्मों में और अधिक पवित्रता उत्पन्न करनेवाला होता है। (३) **शोचिः**=ज्ञानदीप्ति को यह **वसानः**=धारण करनेवाला होता है। इस ज्ञानदीप्ति द्वारा **परि आयुः**=सर्वतः पूर्ण जीवन को, शरीर, मन व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से पूर्ण जीवन को यह प्राप्त करता है। स्वस्थ शरीरवाला बनता है, निर्मल मनवाला व दीप्त ज्ञानवाला। (४) और यह **अपाम्**=कर्मों की **श्रियः**=लक्ष्मी का **मिमीते**=निर्माण करता है। जो कि **बृहतीः**=दिन-

प्रतिदिन बढ़नेवाली हैं, वृद्धि का कारण होती हैं तथा **अनूनाः**=न्यूनता से रहित हैं। स्वयं पुरुषार्थ से प्राप्त लक्ष्मी वृद्धि का ही कारण बनती है, उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। अनायास प्राप्त लक्ष्मी मनुष्य को विलास में फँसाकर समाप्त कर देती है।

भावार्थ—उपासक अपने में उचित मात्रा में रजोगुण उत्पन्न करके क्रियाशील बनता है, पुरुषार्थ से ही धनार्जन करता है। यह धन उसकी वृद्धि का ही कारण बनता है, ह्रास का नहीं।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सप्त वाणीः (अवसानाः अनग्नाः) कामात्मता व अकामता से ऊपर

व॒व्राजा॑ सी॒मन॑दती॒रद॑ब्धा दि॒वो य॒ह्वीरव॑साना॒ अन॑ग्नाः।
सना॒ अत्र॑ यु॒व॒तयः॒ सयो॑नी॒रेकं॒ गर्भं॑ दधिरे स॒प्त वाणीः॑॥ ६॥

(१) उपासक **सीम्**=निश्चय से **सप्त वाणीः**=सात छन्दों में परिणत वेदवाणियों को **वव्राज**=प्राप्त होता है (व्रज गतौ) जो वेदवाणियाँ **अनदतीः**=कुछ खाती नहीं (न अदतीः)। वस्तुतः इनके अध्ययन से मानव शक्तियों का विकास ही होता है, ह्रास नहीं। **अदब्धाः**=जो अहिंसित हैं। वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाला वासनाओं के आक्रमण से बचा रहता है। **दिवः यह्वीः**=ये उस प्रकाशमय प्रभु की सन्तान के समान हैं। प्रभु ही इन्हें जन्म देते हैं—प्रभु से ही ये प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित की जाती हैं, **अवसानाः अनग्नाः**=ये न तो बहुत कपड़े पहनती हैं, नां ही नग्न रहती हैं, अर्थात् वेदवाणियों का उपदेश यही है कि मनुष्य न तो काममय बन जाए और नां ही बिलकुल अकाम हो जाए। न तो कपड़ों की संख्या बढ़ाते ही बढ़ाते जाना और नां ही बिलकुल समाप्त कर देना। (२) ये वेदवाणियाँ **सनाः**=अत्यन्त सनातन हैं। **अत्र**=यहाँ संसार में—हमारे जीवनों में **युवतयः**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अच्छाइयों को हमारे साथ मिश्रण करनेवाली और बुराइयों को हमारे से पृथक् करनेवाली हैं। **सयोनीः**=ये वेदवाणियाँ एक ही उत्पत्ति-स्थानवाली हैं—सब प्रभु से उत्पन्न होती हैं, प्रभु ही इनके निधान हैं। ये सब की सब **एकम्**=उस अद्वितीय **गर्भम्**=सब के अन्दर गर्भरूप से रहनेवाले—सर्वव्यापक प्रभु को **दधिरे**=धारण करती हैं। सब का प्रतिपाद्य विषय वह प्रभु ही है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। इनके अध्ययन से हम सशक्त बने रहेंगे। इनका मौलिक उपदेश 'कामात्मता व अकामता' से ऊपर उठना है।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदवाणी का जीवन पर प्रभाव

स्ती॒र्णा अ॑स्य सं॒हतो॑ वि॒श्वरू॑पा घृ॒तस्य॒ योनौ॑ स्र॒वथे॑ मधू॒नाम्।
अस्थु॒रत्र॑ धे॒नवः॒ पिन्व॑माना म॒ही द॒स्मस्य॑ मा॒तरा॑ समी॒ची॥ ७॥

(१) **संहतः**=(सं+हन्+क्विप्) सम्यक्तया कामादि वासनाओं का हनन करनेवाले **अस्य**=इस उपासक के अन्तःकरण में **विश्वरूपाः**=सब सत्य विद्याओं का निरूपण करनेवाली ये वेदवाणियाँ **स्तीर्णाः**=स्तीर्ण होती हैं—बिछ-सी जाती हैं—उसका हृदय इन वाणियों से आच्छादित हो जाता है। ये हृदय में बिछी हुई वेदवाणियाँ **घृतस्य योनौ**=मलों के क्षरण तथा ज्ञानदीप्ति का निमित्त बनती हैं, इन दोनों बातों को जन्म देती हैं और **मधूनां स्रवथे**=मधुरता के प्रवाह का कारण बनती हैं। वेदवाणियों से उसका जीवन 'निर्मल, ज्ञानदीप्त व मधुर' बनता है। (२) **अत्र**=इसके जीवन में **धेनवः**=ये ज्ञानदुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौवें **पिन्वमानाः**=इसको प्रीणित करती हुई **अस्थुः**=स्थित

होती हैं। इस ज्ञान द्वारा-प्रीणन का परिणाम यह होता है कि **दस्मस्य**=इस वासना विनाशक की **मातरा**=द्यावापृथिवी रूप माता-पिता-द्युलोकरूप मस्तिष्क और पृथिवीरूप शरीर दोनों ही **मही**=महत्त्वपूर्ण होते हैं और **समीची**=परस्पर संगत होकर चलनेवाले होते हैं। इसकी बुद्धि और शक्ति दोनों ही उत्तम होती हैं, परस्पर उपकारक होती हैं। यही इसके जीवन में 'ब्रह्म व क्षत्र' का समन्वय कहलाता है।

भावार्थ—जीवन वेदवाणी से प्रभावित होने पर उसमें निर्मलता आ जाती है, वहाँ ज्ञान दीप्त हो उठता है तथा मधुर शब्दों का ही प्रवाह होता है। शक्ति व बुद्धि का समन्वय होकर जीवन वस्तुतः सुन्दर बन जाता है।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शुक्रा रभसा वपूंषि

बभ्राणः सूनो सहसो व्यद्यौद्दधानः शुक्रा रभसा वपूंषि।
श्चोतन्ति धारा मधुनो घृतस्य वृषा यत्र वावृधे काव्येन॥ ८॥

(१) हे **सहसः सूनो**=शक्ति के पुत्र-शक्ति के पुतले-शक्तिपुञ्ज प्रभो! **बभ्राणः**=आपकी वेदवाणियों से धारण किया जाता हुआ यह व्यक्ति **व्यद्यौत्**=चमक उठता है। यह **शुक्रा**=ज्ञान से दीप्त, पवित्र व **रभसा**=शक्तिशाली (robust) **वपूंषि**=शरीरों को **दधानः**=धारण करता है। इसका शरीर निर्मल, ज्ञानदीप्त व शक्तिशाली होता है। (२) इसके जीवन में **मधुनः**=मधु की तथा **घृतस्य**=ज्ञानदीप्ति की **धाराः**=धाराएँ **श्चोतन्ति**=क्षरित होती हैं। इसकी वाणी में मिठास होता है। इसका मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल हो जाता है। कब? **यत्र**=जिस समय **वृषा**=यह शक्तिशाली पुरुष **काव्येन**=इस वेदरूप काव्य से **वावृधे**=निरन्तर वृद्धि प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु की इन ज्ञानवाणियों से धारण किये जाने पर मनुष्य का शरीर ज्ञानदीप्त व शक्तिसम्पन्न होता है। उसके मुख से मधुर ही शब्द प्रवाहित होते हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

हृदयरूप गुहा में, पर गुहा में ही नहीं

पितुश्चिदूधर्जनुषा विवेद व्यस्य धारा असृजद्वि धेनाः।
गुहा चरन्तं सखिभिः शिवेभिर्दिवो यह्वीभिर्न गुहा बभूव॥ ९॥

(१) गतमन्त्र का 'वेदरूप काव्य से वृद्धि प्राप्त करनेवाला' व्यक्ति **पितुः**=उस पालक पिता के **ऊधः**=ज्ञानदुग्ध के आधारभूत ऊधस् को **जनुषा**=शक्तियों के विकास के हेतु से **विवेद**=प्राप्त करता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने से, वासनाओं का क्षय होकर इसकी शक्तियों का विकास होता है। यह ज्ञानदुग्ध **अस्य**=इस उपासक की **धाराः**=धारणशक्तियों को **वि असृजत्**=विशेषरूप से उत्पन्न करता है और **धेनाः**=इस के अन्दर ज्ञानवाणियों को **वि**=(असृजत्) उत्पन्न करता है। 'धारा' शब्द शक्ति की सूचना देता है, तो 'धेना'=ज्ञान की। इसकी शक्ति भी बढ़ती है और ज्ञान भी बढ़ता है। इसके ब्रह्म और क्षत्र का विकास होता है। (२) इस प्रकार इस 'ऊधस्' के दो लाभों का प्रतिपादन करके सर्वमहान् लाभ का इन शब्दों में उल्लेख करते हैं कि यह ऊधस् उन परमात्मा का भी इसे दर्शन कराता है जो **गुहा चरन्तम्**=हृदयरूप गुहा में ही विचरण कर रहे हैं किनके साथ? **शिवेभिः सखिभिः**=अपने इन जीवरूप मित्रों के साथ जो कि शिव-मंगलमय कार्यों में ही लगे हुए हैं और **दिवः यह्वीभिः**=जो ज्ञान के अपत्य व सन्तान बने हैं, अर्थात् ज्ञानप्राप्ति में

निरन्तर लगे रहकर ज्ञानपुञ्ज से बन रहे हैं। ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगानेवाले तथा कर्मेन्द्रियों को शिव-कार्यों में लगानेवाले व्यक्ति ही हृदय में प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। (३) प्रभु का दर्शन अवश्य हृदय में ही होता है, पर वे प्रभु **न गुहा बभूव**=हृदय में ही रहते हों (भू=to stay) ऐसी बात नहीं। वे सर्वव्यापक हैं। 'हृदयरूप गुहा प्रभु को अपने में समा लेती हो' ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—वेद के अध्ययन से (क) धारणशक्ति प्राप्त होती है, (ख) ज्ञान बढ़ता है, (ग) हृदय में प्रभु का दर्शन होता है।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभुस्मरण व वेदाध्ययन

पितुश्च गर्भं जनितुश्च बभ्रे पूर्वीरेको अधयत्पीप्यानाः।
वृष्णो सपत्नी शुचये सबन्धू उभे अस्मै मनुष्ये नि पाहि॥ १०॥

(१) गतमन्त्र का वेदाध्येता **पितुः**=उस पालक पिता के **जनितुः च**=और शक्तियों का विकास करनेवाले प्रभु के **गर्भं बभ्रे**=गर्भ को धारण करता है, अर्थात् अपने हृदय में प्रभु को स्थापित करता है। हृदयस्थ प्रभु का सदा स्मरण करता हुआ ही तो यह धर्ममार्ग से विचलित नहीं होता। (२) यह **एकः**=(इ गतौ) क्रियामय जीवनवाला व्यक्ति **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी गई अथवा पालन व पूरण करनेवाली **पीप्यानाः**=आप्यायन व वर्धन करनेवाली वेदवाणियों का **अधयत्**=पान करता है। 'प्रभुस्मरण व वेदाध्ययन' इस के जीवन को सुन्दर बनानेवाले होते हैं। (२) हे अग्ने (परमात्मन्)! **अस्मै**=इस **वृष्णो**=शक्तिशाली, **शुचये**=पवित्र व्यक्ति के लिये **उभे**=दोनों द्यावापृथिवी को **निपाहि**=निश्चय से रक्षित करिए। जो द्यावापृथिवी **सपत्नी**=समान प्रभुरूप पतिवाली हैं-दोनों का ही पति प्रभु है। **सबन्धू**=ये दोनों समानरूप से मनुष्य की बन्धुभूत हैं, अथवा 'द्युलोक' पृथिवी से सम्बद्ध है और पृथिवी द्युलोक से। **मनुष्ये**=(मनुष्येभ्यो हिते) विचारशील पुरुष के लिये हितकर हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण करनेवाले वेदाध्येता के लिये द्युलोक व पृथिवी लोक कल्याणकर होते हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभुदर्शन के उपाय

उरौ महाँ अनिबाधे ववर्धापो अग्निं यशसः सं हि पूर्वीः।
ऋतस्य योनावशयद्दमूना जामीनामग्निरपसि स्वसॄणाम्॥ ११॥

(१) वे प्रभु **महान्**=पूजा के योग्य हैं। वे **उरौ**=विशाल व **अनिबाधे**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं की बाधा से रहित हृदय में **ववर्ध**=वृद्धि को प्राप्त होते हैं। तंग दिलवाला व काम आदि से पीड़ित हृदयवाला व्यक्ति प्रभु का दर्शन नहीं कर पाता। वे महान् प्रभु संकुचित हृदय में आयें भी कैसे? **यशसः**=यशस्वी जीवनवाली, **पूर्वीः**=अपना पालन व पूरण करनेवाली **आपः**=प्रजाएँ **हि**=वही **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **सं (ववर्ध)**=अपने में सम्यक् बढ़ानेवाली होती हैं। परमात्मप्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम यशस्वी कर्मों को ही करें, अपने शरीर का पालन (रोगों से रक्षण) करें व मनों को न्यूनता से रहित कर उनका पूरण करनेवाले हों। मनों में वासनाओं को न अंकुरित होने दें। (२) **ऋतस्य योनौ**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **दमूनाः**=दान्तमनवाला

अशयत्=निवास करता है। ऋत और सत्य को प्रभु ही अपने तीव्र तप से जन्म देते हैं, सो प्रभु ऋत के योनि हैं। अपने मन का दमन करनेवाला व्यक्ति प्रभु में निवास करता है। इस व्यक्ति के जीवन में भी सब भौतिक क्रियाएँ ऋत के अनुसार ही होती हैं। (३) वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अपसि**=कर्मों में स्थित हैं। किन के कर्मों में? **जामीनाम्**=विकास की कारणभूत (जनी प्रादुर्भावे) **स्वसृणाम्**=(स्व+सृ) आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाली वेदवाणियों के, अर्थात् जब हम इन वेदवाणियों के अनुसार कर्म करते हैं तो हमें प्रभुप्राप्ति होती है। इन वेदवाणियों से हमारे में दिव्यताओं का विकास होता है (जामि) और ये हमें आत्मतत्त्व की ओर ले चलती हैं (स्व+सृ)।

भावार्थ—प्रभुदर्शन उसे होता है (क) जो विशाल हृदयवाला है, (ख) जिसके हृदय में वासनाओं की बाधा नहीं, (ग) जो यशस्वी कर्मोंवाला है, (घ) जो अपना पालन व पूरण करता है, (ङ) जो मन का दमन करता है, (च) वेद से निर्दिष्ट कर्मों में व्यापृत होता है।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु का स्वरूप

अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनां दिदृक्षेयः सूनवे भाऋजीकः।
उदुस्रिया जनिता यो जजानापां गर्भो नृतमो यह्वो अग्निः॥ १२॥

(१) गतमन्त्र में प्रभुदर्शन का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अक्तः न**=वे हमारे पर आक्रमण करनेवाले नहीं। वे रुद्र हैं, पर शिव हैं। उनके हाथ में वज्र है, तो वह सर्जन के हाथ में वर्तमान चाकू की तरह है। **बभ्रिः**=वे चाकू से आपरेशन (शल्यक्रिया) करके हमारा धारण ही करनेवाले हैं। **महीनाम्**=(मह पूजायाम्) पूजा करनेवाली प्रजाओं के **समिथे**=संगम में-सभा में **दिदृक्षेयः**=दर्शन योग्य हैं। उपासकों की संसद् में ही प्रभुदर्शन होता है। पानगोष्ठियों में प्रभुदर्शन नहीं हुआ करता। **सूनवे भाऋजीकः**=अपने सन्तानों के लिये दीप्ति प्राप्त करानेवाले हैं (ऋज्=to acquire) इस ज्ञानदीप्ति से ही तो सन्तानों का वे कल्याण करते हैं। (२) **यः जनिता**=जो प्रभु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न करनेवाले हैं वे **उस्रियाः**=प्रकाश की किरणों को **उत् जजान**=उत्कर्षेण उत्पन्न करते हैं। **अपां गर्भः**=सब प्रजाओं के अन्दर रह रहे हैं। अन्तःस्थित हुए-हुए ही हम सब को प्रेरणा देनेवाले हैं। **नृतमः**=वे हमारे सर्वोत्कृष्ट नेता हैं। **यह्वः**=महान् हैं अथवा अन्ततः सब प्राणियों से जापे जाते हैं और पुकारे जाते हैं। **अग्निः**=अग्रणी हैं, हमें आगे और आगे ले चल रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु कल्याण ही कल्याण करनेवाले हैं। ज्ञानदीप्ति देनेवाले हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों का प्रभु से मेल

अपां गर्भं दर्शतमोषधीनां वना जजान सुभगा विरूपम्।
देवासश्चिन्मनसा सं हि जग्मुः पनिष्ठं जातं तवसं दुवस्यन्॥ १३॥

(१) जो प्रभु **ओषधीनाम्**=ओषधियों के **सुभगा वना**=सौभाग्ययुक्त, सब ऐश्वर्यों से युक्त, अद्भुत रोगनिवारणादि गुणों से युक्त वनों को **जजान**=उत्पन्न करता है, उस **अपां गर्भम्**=सब प्रजाओं के गर्भरूप-सब प्रजाओं में निवास करनेवाले, **दर्शतम्**=दर्शनीय, **विरूपम्**=विशिष्टरूपवाले प्रभु को **देवासः**=देववृत्ति के व्यक्ति **चित्**=निश्चय से **मनसा**=मन द्वारा **हि**=ही **संजग्मुः**=प्राप्त होते हैं। प्रभुदर्शन मन से होता है। देववृत्तिवाले व्यक्तियों का मन पवित्र होता है, अतः वे मन द्वारा

प्रभु को प्राप्त होते हैं। इस मन की पवित्रता के लिये ही प्रभु ने इस वानस्पतिक जगत् को उत्पन्न किया है। ओषधियों-वनस्पतियों का प्रयोग मन को मलिन नहीं होने देता, मांस-भोजनादि से ही तो वह दूषित होता है। (२) ये देव उस परमात्मा का **दुवस्यन्**=पूजन करते हैं, जो कि सचमुच **पतिष्ठम्**=स्तुत्यतम हैं। **जातम्**=अधिक से अधिक निरतिशय विकासवाले हैं तथा **तवसम्**=अत्यन्त बढ़े हुए हैं व बलवान् हैं। प्रभु के उपासन से इन देवों का जीवन भी स्तुत्य, विकसित व शक्तिसम्पन्न बनता है।

भावार्थ—प्रभु ओषधियों के सुन्दर वनों को जन्म देते हैं। इनके प्रयोग से पवित्र मनवाले देव प्रभु से मेल प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अमृतदोहन

बृहन्त इद्भानवो भाऋजीकमग्निं सचन्त विद्युतो न शुक्राः।

गुहेव वृद्धं सदसि स्वे अन्तरपार ऊर्वे अमृतं दुहानाः॥ १४॥

(१) **इत्**=निश्चय से **बृहन्तः**=अधिक से अधिक बढ़ी हुई **भानवः**=ज्ञानदीप्तियाँ **अग्निं सचन्त**=उस अग्रणी प्रभु के साथ समवेत होती हैं, जो कि **भाऋजीकम्**=अपने मित्र जीव के लिये दीप्ति का अर्जन करनेवाले हैं। ये दीप्तियाँ इस प्रकार प्रभु के साथ समवेत होती हैं **न**=जैसे कि **शुक्राः विद्युतः**=चमकती हुई (शुद्ध) बिजलियाँ। (२) **स्वे**=अपने **सदसि**=शरीररूप गृह के **अन्तः**=अन्दर **गुहा इव**=हृदयरूप गुहा की तरह **वृद्धम्**=बढ़े हुए उस परमात्मा को (सचन्त=) सेवित करते हैं। वे व्यक्ति सेवित करते हैं जो कि **अपारे ऊर्वे**=इस अनन्त से संसार में **अमृतं दुहानाः**=(यज्ञशेषं=अमृतम्) यज्ञशेष का अपने में पूरण करनेवाले होते हैं, अर्थात् जो यज्ञ करके सदा यज्ञशेष का ही सेवन करते हैं। यह यज्ञशेष का सेवन इन्हें पवित्र हृदय बनाता है और इस पवित्र हृदय में ये प्रभु का दर्शन व उपासन करते हैं। (३) प्रभु सर्वव्यापक हैं, परन्तु उनका दर्शन हृदय में ही होता है। हृदय में वे हृदयपरिमाण ही प्रतीत होते हैं 'गुहेव वृद्धम्'।

भावार्थ—प्रभु दीप्तिमय हैं। उस दीप्त प्रभु को हृदयों के अन्दर वे व्यक्ति देखते हैं जो कि यज्ञशेष का ही सेवन करते हैं, यह यज्ञशेष का सेवन ही 'अमृतदोहन' है।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उपासना का प्रकार व लाभ

ईळे च त्वा यजमानो हविर्भिरीळे सखित्वं सुमतिं निकामः।

देवैरवो मिमीहि सं जरित्रे रक्षा च नो दम्येभिरनीकैः॥ १५॥

(१) मन्त्र का पूर्वार्ध उपासना के प्रकार का उल्लेख करता है और मन्त्र का उत्तरार्ध उपासना के फल का। हे प्रभो! **यजमानः**=यज्ञशील पुरुष **हविर्भिः**=त्यागपूर्वक अदन द्वारा गतमन्त्र के यज्ञशेष के सेवन व अमृतदोहन द्वारा **त्वा ईडे**=आपकी उपासना करता है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'=हवि द्वारा ही तो आपका उपासन होता है। (२) **च**=और वह व्यक्ति **ईडे**=आपकी उपासना करता है जो **सखित्वम्**=सखित्व को तथा **सुमतिम्**=सुमति को-कल्याणी मति को **निकामः**=नितरां चाहनेवाला होता है। प्रभु का सच्चा उपासन यही है कि (क) हम यज्ञशील हों, (ख) सब के सखा बनकर रहें-विशेषतः इस सखित्व से प्रभु के सखा बनने की कामनावाले हों, (ग) सदा शुभ बुद्धि की प्रार्थना करें। (३) हे प्रभो! आप इस **जरित्रे**=स्तोता के लिये

देवैः=सूर्यादि देवों से **अवः**=रक्षण को **सं मिमीहि**=सम्यक्तया निर्मित करिए। सब सूर्यादि देव हमारे अनुकूल हों। इन जलवायु आदि देवों की अनुकूलता से हमारा स्वास्थ्य ठीक हो। **च**=और आप **दम्येभिः**=पूर्णरूप से नियन्तव्य **अनीकैः**=बलों द्वारा **रक्षा**=हमारी रक्षा करिए। हमें शक्ति प्राप्त कराईए। वह शक्तिपूर्ण रूप से हमारे नियन्त्रण में हो। यही नियन्त्रित शक्ति ही तो हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाएगी।

भावार्थ—उपासना का प्रकार यह है कि—(क) हम यज्ञशील बनें, (ख) सखा बनें, (ग) उत्तम बुद्धि की कामनावाले हों। उपासना का लाभ यह है कि—(क) सूर्य जल वायु आदि सब देव हमारे अनुकूल होंगे, (ख) तथा हमें नियन्त्रित शक्ति प्राप्त होगी जिससे कि हम लक्ष्यस्थान पर पहुँच सकेंगे।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सुरेतसा+श्रवसा

उपक्षेतारस्तव सुप्रणीतेऽग्ने विश्वानि धन्या दधानाः ।

सुरेतसा श्रवसा तुञ्जमाना अभि ष्याम पृतनायूँरदेवान्॥ १६॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी! **सुप्रणीते**=उत्तम प्रणयन-नेतृत्व-मार्गदर्शन करनेवाले प्रभो! **तव**=आपके **उपक्षेतारः (क्षि निवासगत्योः)**=समीप रहकर क्रियामय जीवन बितानेवाले व्यक्ति **विश्वानि**=सब **धन्या**=उन वस्तुओं को जो कि हमारे जीवन को धन्य बनाती हैं **दधानाः**=धारण करते हुए होते हैं। प्रभु के उपासक कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होते। माता-पिता की दृष्टि में रहनेवाली सन्तान का जीवन सदा उत्तम बनता है। इसी प्रकार उपासक का जीवन पवित्र बना रहता है। (२) मार्गभ्रष्ट न होते हुए हम **सुरेतसा**=उत्तम शक्ति से तथा **श्रवसा**=ज्ञान से **तुञ्जमानाः**=रोगों व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करते हुए, रेतस् से रोगों को तथा श्रवस् से वासनाओं को विनष्ट करते हुए, **पृतनायून्**=हमारे पर आक्रमण करनेवाले **अदेवान्**=अदिव्य व आसुरभावों को **अभिष्याम**=अभिभूत करनेवाले हों। शरीर पर आक्रमण करनेवाले राक्षसों, रोगकृमियों को भी हम जीतनेवाले हों। मन पर आक्रमण करनेवाले काम आदि भाव असुर हैं और शरीर पर आक्रमण करनेवाले रोगकृमि असुर हैं। हम इन्हें ज्ञान व शक्ति द्वारा पराभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु के प्रणयन में चलते हुए हम शक्तिरक्षण से रोगों को जीतें तथा ज्ञान से आसुरभावों को।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवों के रथ के सारथि प्रभु

आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्।

प्रति मर्ताँ अवासयो दमूना अनु देवान्रथिरो यासि साधन्॥ १७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **देवानाम्**=देववृत्ति के व्यक्तियों के लिये **केतुः**=प्रज्ञापक **आ अभवः**=समन्तात् होते हैं। वस्तुतः प्रभु के मार्गदर्शन से ही ये देव बनते हैं। प्रभु की प्रेरणा सुननेवाले देव बन जाते हैं, न सुननेवाले असुर हो जाते हैं। (२) हे प्रभो! आप **मन्द्रः**=आनन्दस्वरूप हैं, उपासकों के जीवन को आनन्दमय बनानेवाले हैं। **विश्वानि**=सब **काव्यानि**=ज्ञानों को **विद्वान्**=आप जानते हैं। यह वेदरूप अजरामर काव्य आपका ही तो है। प्रति सृष्टि के प्रारम्भ में आप इसे योग्यतम व्यक्तियों के हृदयों में प्राप्त कराते हैं। (३) **दमूनाः**=(दानमनाः नि० ४।४)

दान के मनवाले आप-जीवों के लिये सब हितकर पदार्थों को प्राप्त करानेवाले आप **मर्तान्**=सब मनुष्यों को **प्रति अवासयः**=अपने-अपने घर में उत्तम निवासवाला बनाते हैं। जिस घर में प्रभु-पूजन चलता है, वहाँ योगक्षेम की तो कमी होती ही नहीं। वह घर बड़ा सुन्दर बना रहता है। (४) हे प्रभो! आप **रथिरः**=उत्तम सारथि के रूप में होकर **साधन्**=सब विजयों को सिद्ध करते हुए **देवान्**=देवों को **अनुयासि**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। देवों के आप सारथि बनते हैं और उन्हें विजयी बनाकर उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार जैसे कि अर्जुन को कृष्ण ने सफलता प्राप्त करायी।

भावार्थ—देवताओं के मार्गदर्शक प्रभु ही हैं। प्रभु इनके निवास को उत्तम बनाते हैं। प्रभु इनके रथ के सारथि होते हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

घर के राजा प्रभु

नि दुरोणे अमृतो मर्त्यानां राजा ससाद विदथानि साधन्।
घृतप्रतीक उर्विया व्यद्यौदग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्॥ १८॥

(१) **अमृतः**=वे अविनाशी प्रभु **मर्त्यानाम्**=जन्म-मरण के चक्र में फँसे हुए मनुष्यों के **दुरोणे**=गृह में **राजा**=दीप्ति के देनेवाले होकर **नि ससाद**=विराजमान हैं। प्रभु इस शरीर-रथ में प्रकाश के समान हैं। हृदयस्थरूपेण वे **विदथानि**=ज्ञानों को **साधन्**=सिद्ध कर रहे हैं। प्रभु कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान हमें निरन्तर देते हैं। (२) **घृतप्रतीकः**=दीप्त अंगोंवाले, सर्वतः दीप्त वे प्रभु **उर्विया व्यद्यौत्**=अत्यन्त ही द्योतित होते हैं। वे प्रभु प्रकाश ही प्रकाश हैं। **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **विश्वानि काव्यानि विद्वान्**=सब ज्ञानों को जानते हैं। सर्वज्ञता के नाते कोई भी बात उनसे छिपी नहीं। सब तत्त्वों के ज्ञाता होते हुए वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में इस ज्ञान को अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वज्ञ हैं। हमारे हृदयों में स्थित हुए-हुए हमें अन्तःप्रकाश प्राप्त कराते हैं। इस शरीरगृह के वे ही राजा=दीप्त करनेवाले हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की मित्रता रक्षण तथा तरुत्र धन

आ नो गहि सख्येभिः शिवेभिर्महान्महीभिरूतिभिः सरण्यन्।
अस्मे रयिं बहुलं सन्तरुत्रं सुवाचं भागं यशसं कृधी नः॥ १९॥

(१) हे **महान्**=पूज्य **सरण्यन्**=निरन्तर गतिशील प्रभो! आप **शिवेभिः सख्येभिः**=कल्याणकर मित्रताओं के साथ तथा **महीभिः ऊतिभिः**=महनीय रक्षणों के साथ **नः**=हमें **आगहि**=प्राप्त होइये। आपकी मित्रता में हमारा सदा कल्याण ही कल्याण है तथा आपके रक्षण सदा महनीय हैं। आपका उपासन करते हुए हम इन्हें प्राप्त हों। (२) आप **अस्मे**=हमारे लिये **रयिम्**=धन को **कृधि**=करिये। जो धन (क) **बहुलम्**=(बहून् लाति) बहुत अर्थों को प्राप्त करानेवाला है-प्रचुर मात्रावाला है। (ख) **सन्तरुत्रम्**=हमें सब वासनाओं व उपद्रवों से तरानेवाला है। **नः**=हमारे लिये आप उस धन को करिये, जो कि (ग) **सुवाचम्**=उत्तम वाणीवाला है, जिसको प्राप्त करके हम अभिमानवश तेज वाणी नहीं बोलते। (घ) **भागम्**=जो धन संविभागपूर्वक बहुतों से सेवन करने योग्य है। जिसको हम अकेले ही नहीं खा जाते। (ङ) **यशसम्**=जो धन

हमारे जीवन को यशस्वी बनाता है। जिस धन का हम यज्ञों में विनियोग करके यश प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हमें प्रभु की मित्रता व रक्षण प्राप्त हो। वह धन प्राप्त हो, जो आवश्यकताओं को पूर्ण करे और हमारे यश का भी कारण बने।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञों द्वारा प्रभु का पूजन

एता ते अग्ने जनिमा सनानि प्र पूर्व्याय नूतनानि वोचम्।
महान्ति वृष्णे सवना कृतेमा जन्मंजन्मन्निहितो जातवेदाः ॥ २० ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **एता**=इन **सनानि**=प्राचीन व **नूतनानि**=नवीन **जनिमा**=विकासों को, उत्पादन कार्यों को **पूर्व्याय ते**=पालन व पूरण करनेवाले आप के लिये **प्रवोचम्**=मैं प्रकर्षेण कथन करनेवाला होऊँ। आपके निर्मित इन कार्यों की महिमा का अनुभव करता हुआ आपका स्मरण करनेवाला बनूँ। (२) **वृष्णे**=शक्तिशाली आप की प्राप्ति के लिये ही **इमा महान्ति**=ये महान् **सवना**=यज्ञ **कृता**=किये गये हैं। आपकी उपासना यज्ञों द्वारा ही तो होती है। (३) वे **जातवेदाः**=(जाते जाते विद्यते) प्रत्येक उत्पन्न होनेवाले पदार्थ में होनेवाले प्रभु **जन्मन् जन्मन्**=प्रत्येक प्राणी में **निहितः**=निहित हैं, वर्तमान हैं। इस प्रभु के प्रकाश को यज्ञशील पुरुष ही देखते हैं।

भावार्थ—प्रभु से उत्पादित प्रत्येक वस्तु स्तुत्य है। यज्ञों द्वारा प्रभु की पूजा होती है, उस प्रभु की जो कि सब प्राणियों में विद्यमान हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विश्वामित्र द्वारा प्रभुदीप्ति का दर्शन

जन्मंजन्मन्निहितो जातवेदा विश्वामित्रेभिरिध्यते अजस्रः।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ २१ ॥

(१) **जातवेदाः**=प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में रहनेवाले वे प्रभु **जन्मन् जन्मन्**=प्रत्येक प्राणी में **निहितः**=निहित हैं। प्रत्येक प्राणी के हृदयदेश में वे वर्तमान हैं। वे **अजस्रः**=(जसु मोक्षणे) जिनका छूटना संभव ही नहीं, अर्थात् जो सदा हमारे साथ वर्तमान हैं, वे प्रभु **विश्वामित्रेभिः इध्यते**=विश्वामित्रों से दीप्त किये जाते हैं। उन प्रभु का प्रकाश उन व्यक्तियों के हृदयों में होता, है जो कि सब के साथ स्नेह से चलते हैं। प्राणिमात्र के प्रति स्नेह ही हृदय की निर्मलता का प्रतीक है, इस पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। सब जगह होते हुए भी वे प्रभु मलिन हृदयवालों को दिखते नहीं। (२) **तस्य यज्ञियस्य**=उस पूज्य प्रभु की **वयम्**=हम **अपि**=भी **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रं सौमनसे**=सबका कल्याण करनेवाले सौमनस (उत्तम-मनस्कता)=उत्तम मन में **स्याम**=हों। प्रभुकृपा से हमें सदा सुमति प्राप्त हो और हम उस उत्तम मन को प्राप्त हों, जो कि सदा सबका कल्याण ही सोचता है।

भावार्थ—हम सब के प्रति स्नेहवाले होकर प्रभु को अपने हृदयों में दीप्त कर पाते हैं। ऐसा करने पर ही हमें सुमति व भद्र-सौमनस की प्राप्ति होती है। तब, हमारे विचार व हमारी सब कामनाएँ उत्तम ही होती हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—ज्योतिष्मतीत्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञ+सात्त्विक अन्न+महती धन

इमं यज्ञं सहसावन्त्वं नो देवत्रा धेहि सुक्रतो रराणः।
प्र यंसि होतर्बृहतीरिषो नोऽग्ने महि द्रविणमा यजस्व॥ २२॥

(१) हे **सहसावन्**=बलसम्पन्न! **सुक्रतो**=उत्तम प्रज्ञावाले प्रभो! (क्रतु=प्रज्ञा नि० ३।९) **रराणः**=उत्तम उपदेश व प्रेरणा देते हुए (रण शब्दे) **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिये **देवत्रा**=देवों की प्राप्ति के निमित्त, अर्थात् दिव्यगुणों के विकास के लिये **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **धेहि**=स्थापित करिये। मेरा जीवन यज्ञमय हो। इन यज्ञों से ही तो मेरे में दिव्यगुणों का विकास होगा। प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करके मैं यज्ञों में प्रवृत्त होऊँ और सद्गुणों को प्राप्त करूँ। (२) हे **होतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमारे लिये **बृहतीः**=वृद्धि के कारणभूत **इषः**=अन्नों को **प्रयंसि**=दीजिये। उन अन्नों को हम प्राप्त करें जिनसे कि हमारा 'शरीर, मन व बुद्धि' सब विकास को प्राप्त करें। (३) **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! आप **महि द्रविणम्**=महतीय द्रव्य को **आयजस्व**=हमारे साथ संगत करिए। हमें वह धन प्राप्त हो, जो कि सुपथ से कमाया गया है, तथा जिसका संविभागपूर्वक सेवन किया जाता है।

भावार्थ—प्रभुप्रेरणा द्वारा यज्ञों को करते हुए हम दिव्यगुणों का वर्धन करें। सात्त्विक अन्नों को प्राप्त करें तथा महतीय धन का हमें लाभ हो।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वेदवाणी, उत्तम सन्तान व सुमति

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥ २३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **हवमानाय**=आपको पुकारते हुए मेरे लिये आप **इडाम्**=इस वेदवाणी को **साध**=सिद्ध करिए। जो वाणी **पुरुदंसम्**=पालनात्मक व पूरणात्मक (पुरु) कर्मों (दंस) वाली है, जिसमें ऐसे कर्मों का उपदेश है जो कि हमारे शरीरों का पालन करते हैं व मनों का पूरण करनेवाले हैं। जो **गोः सनिम्**=ज्ञानवाणियों को देनेवाली है, हमारे ज्ञान का वर्धन करनेवाली है। **शश्वत्तमम्**=अत्यन्त सनातन है, अनादिकाल से प्रभु द्वारा जीवों में स्थापित की जा रही है। (२) इस वेदवाणी के सिद्ध करने से **नः सूनुः**=हमारी सन्तान भी **तनयः**=शक्तियों का विस्तार करनेवाली **विजावा**=विविध व विशिष्ट विकासोंवाली **स्यात्**=हो। वेदवाणी की आराधना सन्तानों को भी उत्तम बनाती है। (३) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सा**=वह **ते सुमतिः**=आपकी कल्याणी मति **अस्मे**=हमारे लिये **भूतु**=हो। यह वेदाध्ययन हमारी बुद्धि को शुद्ध करें।

भावार्थ—हमें प्रभु की वेदवाणी प्राप्त हो। इससे हमारे सन्तान भी उत्तम होंगी। हमें भी सुमति प्राप्त होगी।

सूक्त का प्रारम्भ 'सोमरक्षण द्वारा प्रभुप्राप्ति' से हुआ है, (१) समाप्ति पर 'प्रभु से वेदवाणी द्वारा सुमतिप्राप्ति की याचना है।' अगले सूक्त में भी सुमति प्राप्त करके विश्वनरहित में प्रवृत्त होने का उपदेश है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निर्वैश्वानरः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वैश्वानर+ऋतावृध्+अग्नि

वैश्वानराय धिषणामृतावृधे घृतं न पूतमग्नये जनामसि।
द्विता होतारं मनुषश्च वाघतो धिया रथं न कुलिशः समृण्वति ॥ १ ॥

(१) **वैश्वानराय**=(विश्वनरहिताय) सब मनुष्यों के हित करनेवाले, **ऋतावृधे**=उपासकों के जीवन में ऋत (=सत्य) का वर्धन करनेवाले, **अग्नये**=उस अग्रणी प्रभु के लिये, उस प्रभुप्राप्ति के लिये, **पूतं घृतं न**=पवित्र ज्ञानदीप्ति की तरह **धिषणाम्**=स्तुति को **जनामसि**=उत्पन्न करते हैं। प्रभुप्राप्ति के लिये जितना ज्ञान आवश्यक है, उतना ही स्तवन भी। ज्ञान और स्तवन मिलकर हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं, प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी 'वैश्वानर' बनते हैं, ऋत का अपने में वर्धन करनेवाले होते हैं और सदा अपने को आगे बढ़ाने की प्रवृत्तिवाले बनते हैं। (२) **द्विता**=इस प्रकार ज्ञान व स्तवन के विस्तार से (द्वि+तन्) **मनुषः च**=ज्ञानी लोग और **वाघतः**=स्तवन करनेवाले लोग **होतारम्**=उस सृष्टि-यज्ञ के होता प्रभु को-सब कुछ देनेवाले प्रभु को **समृण्वति**=अपने हृदयों में सुसंस्कृत करते हैं। इस प्रकार सुसंस्कृत करते हैं **न**=जैसे कि **धिया**=बुद्धिपूर्वक व्यापृत किये गये **कुलिशः**=वासी आदि औजार **रथम्**=रथ को संस्कृत करनेवाले होते हैं। यह उपमा इस बात को स्पष्ट कर रही है कि ज्ञानपूर्वक की गई स्तुति भी जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए एक सुसंस्कृत रथ का काम देती है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करके प्रभुस्तवन करते हुए हम सब नरों के हित में प्रवृत्त हों, अपने जीवन में ऋतवर्धन करें और निरन्तर आगे बढ़ें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निर्वैश्वानरः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

ईड्य पुत्र

स रोचयज्जनुषा रोदसी उभे स मात्रोरभवत्पुत्र ईड्यः।
हव्यवाळग्निरजरश्चनोहितो दूळभो विशामतिथिर्विभावसुः ॥ २ ॥

(१) **सः**=वह गतमन्त्र के अनुसार अपने जीवन में ऋतवर्धन करनेवाला **जनुषा**=शक्तियों के विकास द्वारा **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **रोचयत्**=दीप्त करता है। इसका मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति से दीप्त होता है, तो इसका शरीर स्वास्थ्य की दीप्तिवाला होता है। **सः**=वह **मात्रोः**=द्युलोक व पृथिवीलोकरूपी माता-पिता का **ईड्यः**=स्तुत्य **पुत्रः**=पुत्र **अभवत्**=होता है। 'पुत्र' की भावना है 'पुनाति आयते'=अपने को पवित्र बनाता है और रोगों से अपना 'त्राण' बचाव करता है, माता-पिता 'द्युलोक व पृथिवीलोक' हैं 'द्यौ पिता पृथिवी माता'। द्युलोकस्थ सूर्य की तरह मस्तिष्क में उदित ज्ञान से यह अपने को पवित्र बनाता है 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'। पृथिवी की दृढ़ता की तरह शरीर की दृढ़ता होने से यह रोगाक्रान्त नहीं होता। (२) इस प्रकार बनकर यह अपने गृहस्थ में **हव्यवाट्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करनेवाला, **अग्निः**=आगे और आगे बढ़नेवाला बनता है। यज्ञशील होता है और प्रगतिशील बनता है। गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ में **अजरः**=न जीर्ण शक्तिवाला, **चनोहितः**=सात्त्विक वन्य-अन्नों को ही अपने में स्थापित करनेवाला बनता है और अन्ततः **दूडभः**=वासनाओं से न हिंसित होनेवाला यह **विशां अतिथिः**=सब प्रजाओं का अतिथि बनता है, 'वसुधैव कुटम्बकम्' समस्त वसुधारूप परिवार में विचरता है।

विभावसुः=ज्ञानरूप धनवाला होता है-सब प्रजाओं के लिये इस ज्ञानरूप धन को देनेवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य में दो ही कार्य हैं, 'ज्ञान व शक्ति' प्राप्त करना। गृहस्थ में यज्ञमय बनकर आगे बढ़ना। वानप्रस्थ में शक्ति को न जीर्ण होने देते हुए सात्त्विक अन्नों का सेवन करना तथा अन्त में संन्यस्त हो सब वासनाओं से ऊपर उठकर ज्ञान का प्रसार करना।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निर्वैश्वानरः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभुदर्शन के साधन

क्रत्वा दक्षस्य तरुषो विधर्मणि देवासो अग्निं जनयन्त चित्तिभिः।
रुरुचानं भानुना ज्योतिषा महामत्यं न वाजं सनिष्यन्नुप ब्रुवे ॥ ३ ॥

(१) **दक्षस्य क्रत्वा**=बल के कर्मों से, अर्थात् उन कार्यों द्वारा जिनसे कि बलवर्धन होता है तथा **तरुषः**=वासनाओं को तैर जाने के **विधर्मणि**=विशेषरूप से धारण करने पर, **चित्तिभिः**=ज्ञानों द्वारा **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अग्निं जनयन्त**=उस अग्नि नामक प्रभु को अपने में प्रादुर्भूत करते हैं। प्रभुदर्शन तब होता है जब कि हम (क) शरीर में बल का सम्पादन करें, (ख) मन में वासनाओं को न आने दें तथा (ग) मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करें। (२) **वाजं सनिष्यत्**=बल प्राप्त करने की कामनावाला होता हुआ मैं उस प्रभु को स्तुत करता हूँ, जो कि **भानुना रुरुचानम्**=दीप्ति से रोचमान हैं। **ज्योतिषा महाम्**=ज्योति से महान् हैं। इस प्रभुकृपा से ही मैं **अत्यं न**=घोड़े के समान (वाजं) शक्ति प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम शरीर में बल का सम्पादन करें, मन को वासनाशून्य बनाएँ और मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करें। प्रभुकृपा से ही हमें शक्ति प्राप्त होगी।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निर्वैश्वानरः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभुस्तवन व बलप्राप्ति

आ मन्द्रस्य सनिष्यन्तो वरेण्यं वृणीमहे अह्रयं वाजमृग्मियम्।
रातिं भृगूणामुशिजं कविक्रतुमग्निं राजन्तं दिव्येन शोचिषा ॥ ४ ॥

(१) **मन्द्रस्य**=उस आनन्दमय स्तुत्य प्रभु का **सनिष्यन्तः**=संभजन करते हुए हम **वरेण्यम्**=वरणीय **अह्रयम्**=अलज्जावह, जो लज्जा का कारण नहीं बनता, अर्थात् जिसद्वारा हम कोई अशुभ कार्य नहीं करते, **ऋग्मियम्**=स्तुत्य **वाजम्**=बल को **वृणीमहे**=वरते हैं। प्रभु का स्तवन करते हैं और प्रशंसनीय शक्ति की याचना करते हैं। (२) उस प्रभु से हम शक्ति की याचना करते हैं जो कि **भृगूणां रातिम्**=तपस्वियों के अभिलषितार्थ को देनेवाले हैं। **उशिजम्**=मेधावी हैं (नि० ३।१५)। **कविक्रतुम्**=क्रान्त-प्रज्ञावाले व शक्तिसम्पन्न हैं। **अग्निम्**=अरोणी हैं और **दिव्येन शोचिषा राजन्तम्**=दिव्यदीप्ति से दीप्त हैं, अद्भुत कान्ति-सम्पन्न हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें। प्रभु से प्रशंसनीय बल प्राप्त करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निर्वैश्वानरः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पापशून्यता व वाणी का संयम

अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जना वाजश्रवसमिह वृक्तबर्हिषः।
यतस्रुचः सुरुचं विश्वदेव्यं रुद्रं यज्ञानां साधदिष्टिमपसाम् ॥ ५ ॥

(१) **इह**=इस जीवन में **वृक्तबर्हिषः**=हृदय से पापवर्जन करनेवाले **जनाः**=लोग **वाजश्रवसम्**= शक्ति के कारण, यशवाले **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **सुम्नाय**=सुखप्राप्ति के लिए **पुरः दधिरे**=सामने धारण करते हैं। सदा प्रभु का स्मरण करते हैं। इस प्रभु के उपासन से ही ये पापों में फँसने से बचते हैं और यशस्वी बल प्राप्त करके सुखी होते हैं। (२) **यतस्रुचः**=यज्ञ के चम्मचों को हाथ में पकड़नेवाले, अर्थात् यज्ञशील लोग अथवा (स्रुक्=वाणी श० ६।३।१।८) नियतवाणीवाले ये लोग, परिमित बोलनेवाले, उस प्रभु का स्तवन करते हैं, जो कि **सुरुचम्**=उत्तम दीप्तिवाले हैं, **विश्वदेव्यम्**=सब उत्तम दिव्यगुणोंवाले हैं। **रुद्रम्**=दुःखों का द्रावण करनेवाले हैं तथा **अपसाम्**=कर्मशील लोगों के **यज्ञानाम्**=यज्ञों के **साधदिष्टिम्**=इष्ट रूप में सिद्ध करनेवाले हैं। सब यज्ञों के पालक प्रभु ही हैं, उन्हीं की कृपा से सब यज्ञ सिद्ध हुआ करते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों को पापशून्य बनाते हुए तथा वाणी का संयम करते हुए या यज्ञशील बनते हुए प्रभु के उपासक हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उपासना द्वारा पवित्रता

पावकशोचे तव हि क्षयं परि होतर्यज्ञेषु वृक्तबर्हिषो नरः।

अग्ने दुव इच्छमानास आप्यमुपासते द्रविणं धेहि तेभ्यः॥ ६॥

(१) **पावकशोचे**=हे पवित्र दीप्तिवाले प्रभो! **होतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! **यज्ञेषु**=यज्ञों में **वृक्तबर्हिषः**=हृदय से पाप का वर्जन करनेवाले **नरः**=लोग **तव**=आपके **हि**=ही **क्षयम्**=निवास का **परि उपासते**=उपासन करते हैं। आपकी ही शरण में आते हैं। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **दुवः इच्छमानासः**=परिचर्या (=उपासना) को चाहते हुए ये लोग **आप्यम्**=प्राप्त करने योग्य आपकी **उपासते**=उपासना करते हैं। आपको प्राप्त कर लेने पर सब कुछ स्वयं प्राप्त हो जाता है। **तेभ्यः**=उन उपासकों के लिये आप **द्रविणम्**=संसारयात्रा को पूर्ण करने के लिये आवश्यक धन को **धेहि**=धारण करिए। (३) वस्तुतः जितना-जितना हम प्रभु का उपासन करते हैं, उतना-उतना हमारा जीवन पवित्र बनता है। प्रभु की ज्ञानदीप्ति हमारे जीवनों का शोधन करनेवाली है। प्रभु की उपासना से पाप तो नष्ट होते ही हैं, इहलोक की यात्रा के लिये आवश्यक सब धन भी प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करके पवित्र जीवनवाले हों। प्रभु हमें सब आवश्यक धन प्राप्त कराएँगे। हमारा पाप की ओर झुकाव ही समाप्त हो जाएगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

लोकत्रयी का पूरण

आ रोदसी अपृणदा स्वर्महज्जातं यदेनमपसो अधारयन्।

सो अध्वराय परि णीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः॥ ७॥

(१) **यत्**=जब, गतमन्त्र के अनुसार, **जातम्**=सदा से प्रादुर्भूत **एनम्**=इस प्रभु को **अपसः**=कर्मशील लोग **अधारयन्**=अपने हृदयों में धारण करते हैं तो यह प्रभु **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **आ अपृणत्**=समन्तात् पूरित करता है, अर्थात् इन उपासकों के मस्तिष्क व शरीर को न्यूनताओं से रहित करता है। इनके शरीर को दृढ़ व नीरोग बनाता है और इनके मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करता है। इसी प्रकार वे प्रभु **महत् स्वः**=इस महान् अन्तरिक्ष को भी पूरित करते हैं, हृदयान्तरिक्ष

में भी किसी प्रकार की न्यूनता को नहीं आने देते। उपासक का हृदय महान् व पवित्र बनता है। (२) **सः**=वह प्रभु **अध्वराय**=यज्ञों के लिये **परिणीयते**=सर्वतः प्राप्त किया जाता है। उस प्रभु द्वारा ही तो हमारे यज्ञ पूर्ण होते हैं। **कविः**=वे प्रभु सर्वज्ञ हैं, **अत्यः न**=अश्व के समान हैं–सतत क्रियाशील हैं। प्रभु ज्ञान व क्रिया (शक्ति) की पराकाष्ठा हैं। वे प्रभु **वाजसातये**=शक्ति-प्राप्ति के लिये होते हैं, प्रभु से हमें शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्ति को प्राप्त कराने के लिए ही **चनोहितः**=वे अन्न का धारण करनेवाले हैं। अन्नों द्वारा वे हमारे शरीरों में प्राणशक्ति को स्थापित करते हैं 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः'।

भावार्थ—प्रभु का हम उपासन करेंगे तो प्रभु हमारे शरीर, हृदय व मस्तिष्क सभी को बड़ा सुन्दर बनाएँगे। हमारा जीवन यज्ञमय होगा और अन्नों का सेवन करते हुए हम शक्तिशाली बनेंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निर्वैश्वानरः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वह महान् पुरोहित

नमस्यत हव्यदातिं स्वध्वरं दुवस्यत दम्यं जातवेदसम्।
रथीर्ऋतस्य बृहतो विचर्षणिरग्निर्देवानामभवत् पुरोहितः ॥ ८ ॥

(१) **हव्यदातिम्**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले, **स्वध्वरम्**=उत्तम यज्ञोंवाले प्रभु को **नमस्यत**=प्रातः-सायं नमन करनेवाले बनो। प्रभु सब उत्कृष्ट पदार्थों को हमें प्राप्त कराते हैं। सब आवश्यक हव्यों को प्राप्त कराके वे हमारे सब यज्ञों को पूर्ण किया करते हैं। **दम्यम्**=(दमेभ्यो हितं) सब गृहों के लिये हितकर **जातवेदसम्**=उस सर्वज्ञ व सब धनोंवाले प्रभु को **दुवस्यत**=तुम पूजो। जिस घर में प्रभु-पूजन सम्मिलित रूप से होता रहता है, वह घर उत्तम वृत्तिवाला बनकर सदा ठीक बना रहता है और किसी प्रकार के आवश्यक धन की कमी नहीं रहती। (२) वे प्रभु, जिनका नमन व पूजन हमें गृहों में करना है, **बृहतः ऋतस्य**=महान् ऋत के **रथीः**=प्रणेता हैं। प्रभु के शासन में प्रत्येक प्राकृतिक पिण्ड व लोक बड़ी नियमित गति से चल रहा है। प्रकृति के इन नियमों को ही 'ऋत' कहते हैं। अनन्त लोक-लोकान्तर इस ऋत के अनुसार अपने-अपने मार्ग पर चल रहे हैं। **विचर्षणिः**=वे प्रभु विशेषरूप से हमारे ब्रह्माण्ड के द्रष्टा हैं, अध्यक्ष हैं, प्रभु की अध्यक्षता में यह सारा ब्रह्माण्ड-यन्त्र घूम रहा है। **अग्निः**=वे ही अग्रणी हैं, सबको आगे ले चल रहे हैं। (३) **देवानां पुरोहितः अभवत्**=देवों के वे पुरोहित हैं। देववृत्ति के लोगों के लिये वे आदर्श के रूप में हैं। उनके सामने (पुरः) विद्यमान हैं (हितः)। प्रभु को देखकर देव भी वैसा बनने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु अनन्त दयालु हैं, ये भी दया को अपनाते हैं। प्रभु न्यायकारी हैं, ये भी न्याय को अपनाने के लिये यत्नशील होते हैं। इस प्रकार ये देव भी परमात्मा के गुणों को धारण करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का हम उपासन करें, प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निर्वैश्वानरः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

तीन समिधाएँ

तिस्रो यह्वस्य समिधः परिज्मनोऽग्नेरपुनन्नुशिजो अमृत्यवः।
तासामेकामदधुर्मर्त्ये भुजमु लोकमु द्वे उप जामिमीयतुः ॥ ९ ॥

(१) **यह्वस्य**=उस महान् प्रभु की **तिस्रः समिधः**=तीन समिधाएँ हैं। 'इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीया उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति'=यह पृथिवीलोक पहली समिधा है, द्युलोक दूसरी और

तीसरी समिधा अन्तरिक्ष है। जैसे इस अग्नि में डाले जानेवाली समिधा से अग्नि दीप्त होती है, उसी प्रकार पृथिवीलोक के पदार्थों में द्युलोक के सूर्यादि पिण्डों में तथा अन्तरिक्ष लोक के मेघ विद्युत् आदि में प्रभु की महिमा दिखती है एवं ये पदार्थ प्रभु को हमारे लिये दीप्त करते हैं। उस प्रभु को जो कि **परिज्मनः**=चारों ओर गतिवाले हैं, सर्वव्यापक हैं। **अग्नेः**=जो अग्रणी हैं। उन प्रभु के ये तीनों लोक तीन समिधाएँ हैं। **उशिजः**=तेजस्वी लोग **अमृत्यवः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले लोग **अपुनन्**=इन तीनों समिधाओं का शोधन करते हैं। इन लोकों के पदार्थों का गहरा ज्ञान प्राप्त करते हैं और इनमें प्रभु की महिमा देखते हैं। (२) **तासाम्**=उन समिधाओं में से **एकाम्**=एक इस पृथ्वीरूप समिधा को **उ**=निश्चय से **मर्त्ये**=मनुष्य के निमित्त **भुजम्**=पालन करनेवाली के रूप में **अदधुः**=स्थापित करते हैं। इस पृथ्वी के पदार्थों का प्रयोग करता हुआ मनुष्य इनमें प्रभु की महिमा को देखना भूल जाता है। इस प्रकार यह पृथिवी रूप समिधा तो मनुष्य का पालन करनेवाली ही हो जाती है। **उ**=और **द्वे उ**=दो समिधाएँ निश्चय से **जामिम्**=सारे ब्रह्माण्ड को जन्म देनेवाले **लोकम्**=प्रकाशमय प्रभु के **उप ईयतुः**=समीप प्राप्त होती हैं, अर्थात् अन्तरिक्ष व द्युलोक के पदार्थों में प्रभु की महिमा सदा दिखती है और मनुष्य को प्रभु का स्मरण कराती है।

भावार्थ—पृथ्वी के पदार्थ मनुष्य के प्रयोग में आकर उसका पालन करते हैं। अन्तरिक्ष व द्युलोक के पदार्थ उसे प्रभु की महिमा दिखाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

मानवोचित इच्छाएँ

विशां कविं विश्पतिं मानुषीरिषः सं सीमकृण्वन्त्स्वधितिं न तेजसे।
स उद्वतो निवतो याति वेविषत्स गर्भमेषु भुवनेषु दीधरत्॥ १०॥

(१) **मानुषीः इषः**=मानवोचित इच्छाएँ **सीम्**=निश्चय से उस प्रभु को अपने में **सं अकृण्वन्**=संस्कृत करती हैं जो कि **कविम्**=क्रान्तप्रज्ञ हैं और **विशां विश्पतिम्**=प्रजाओं के पालक हैं। प्रभु को अपने में इस प्रकार संस्कृत करते हैं, **न**=जैसे कि **स्वधितिम्**=परशु को **तेजसे**=(तैक्ष्यार्थं) तेज करने के लिये संस्कृत किया करते हैं। परशु को सान पर घिसकर तेज करते हैं, इसी प्रकार अपनी बुद्धि का परिमार्जन करके ये प्रभु का दर्शन करते हैं, यही प्रभु का संस्कृत करना है। प्रभुदर्शन के अभिलाषी के लिये आवश्यक है कि वह पाशविक-भोगविषयक इच्छाओं से ऊपर उठे। उसमें मानव के योग्य इच्छाएँ ही हों (मानुषीः इषः)। (२) वैसे तो वे प्रभु **उद्वतः**=उत्कृष्ट प्रदेशों में तथा **निवतः**=निम्न प्रदेशों में सर्वत्र **वेविषत्**=व्याप्त होता हुआ **याति**=गति करता है। **सः**=वह **एषु भुवनेषु**=इन लोकों में **गर्भम्**=गर्भ को **दीधरत्**=धारण करता है। सब पदार्थों के गर्भ में वे प्रभु हैं। अपनी व्यापकता से वे सर्वत्र हैं, परन्तु महत्त्व तो इस बात का है कि हम अपनी बुद्धि को परिष्कृत करके प्रभुदर्शन करनेवाले बनें। पाशविक-इच्छाओं से ऊपर उठें। मानव-इच्छाओं को महत्त्व दें।

भावार्थ—बुद्धि परिष्कृत करके, मानवोचित इच्छाओं को धारण करते हुए हम उस व्यापक प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

शेर के समान गर्जना करते हुए

स जिन्वते जठरेषु प्रजज्ञिवान्वृषा चित्रेषु नानदन्न सिंहः।
वैश्वानरः पृथुपाजा अमर्त्यो वसु रत्ना दयमानो वि दाशुषे॥ ११॥

(१) **सः**=वे **प्रजज्ञिवान्**=सदा से प्रादुर्भूत (जात) **वृषा**=शक्तिशाली प्रभु **चित्रेषु जठरेषु**=नाना प्रकार के जठरों में-भुवनों (प्राणियों) के गर्भों में **जिन्वते**=वृद्धि को प्राप्त होते हैं (वर्धते सा०), अर्थात् प्रभु प्राणभेद से नाना प्रकार के जठरों में विद्यमान हैं-सब प्राणियों के अन्दर प्रभु स्थित हैं। वहाँ स्थित हुए-हुए वे प्रभु **सिंहः न**=शेर के समान **नानदत्**=गर्जना कर रहे हैं। अत्यन्त ऊँचे प्रेरणा दे रहे हैं, परन्तु कोई विरल ही व्यक्ति उस प्रेरणा को सुननेवाला होता है। (२) वे प्रभु तो **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। **पृथुपाजाः**=विस्तृत शक्तिवाले हैं। **अमर्त्यः**=कभी नष्ट होनेवाले नहीं। **दाशुषे**=दाश्वान् के लिये-प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिये अथवा दानशील के लिये वे प्रभु **वसु**=सब धनों को तथा **रत्ना**=रत्नों को **विदयमानः**=विशेषरूप से देनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभुप्रेरणा को सुनें, तदनुसार चलें। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करेंगे तो प्रभु हमारे लिये सब रत्नों को देंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निर्वैश्वानरः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'ज्ञानमय आनन्दमय' एकरस प्रभु

वैश्वानरः प्रत्नथा नाकमारुहद्दिवस्पृष्ठं भन्दमानः सुमन्मभिः।
स पूर्ववज्जनयञ्जन्तवे धनं समानमज्मं पर्येति जागृविः॥ १२॥

(१) **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु **दिवस्पृष्ठम्**=द्युलोक रूप पृष्ठवाले-ज्ञानप्रकाशरूप आधारवाले, **नाकम्**=आनन्दमय लोक में **प्रत्नथा**=सनातन काल की तरह अर्थात् सदा **आरुहत्**=आरूढ़ होते हैं, अर्थात् प्रभु ज्ञानमय हैं और आनन्दमय हैं। वे प्रभु **सुमन्मभिः**=उत्तम विचारशील स्तोताओं से **भन्दमानः**=स्तूयमान होते हैं। ज्ञानीपुरुष सदा प्रभुस्तवन करते हैं। प्रभुस्तवन करते हुए ये भी अपने ज्ञान को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए आनन्दमयता प्राप्त करते हैं। (२) वे प्रभु **पूर्ववत्**=पहले की तरह, जैसे पिछली सृष्टि में, उसी तरह इस सृष्टि में भी, **जन्तवे**=प्राणी के लिये **धनम्**=धन को **जनयन्**=उत्पन्न करते हैं। सब मनुष्यों को वे प्रभु आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। **जागृविः**=सदा जागरित वे प्रभु **समानम्**=समान ही **अज्मम्**=मार्ग पर **पर्येति**=गति करते हैं। प्रभु एकरस हैं। वे अपनी व्यवस्थाओं को न भंग करते हुए समान मार्ग से आगे और आगे बढ़ते चल रहे हैं। कोई भी घटना प्रभु को मार्ग से विचलित नहीं कर सकती। 'पिछली सृष्टि के नियमों से अब की बार कुछ परिवर्तन हो गया है', ऐसी बात नहीं है। वे प्रभु एकरस हैं, उनके नियम अपरिवर्तनीय हैं। प्रभु का मार्ग सदा एक समान है।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानमय व आनन्दमय हैं। सब के लिये वे आवश्यक धन देते हैं। प्रभु का मार्ग सदा एक समान है, प्रभु के नियमों में परिवर्तन नहीं होता रहता।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निर्वैश्वानरः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

मातरिश्वा

ऋतावानं यज्ञियं विप्रमुक्थ्य१मा यं दधे मातरिश्वा दिवि क्षयम्।
तं चित्रयामं हरिकेशमीमहे सुदीतिमग्निं सुविताय नव्यसे॥ १३॥

(१) **ऋतावानम्**=ऋतवाले व ऋत का अवन (=रक्षण) करनेवाले-प्राकृतिक संसार में काम करनेवाला नियम ऋत कहलाता है, प्रभु इस ऋत का रक्षण करते हैं, प्रभु की व्यवस्था में प्रत्येक पिण्ड ऋत के अनुसार गति कर रहा है। **यज्ञियम्**=पूज्य, संगतिकरण योग्य व समर्पणीय।

विप्रम्=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले, **उक्थ्यम्**=स्तुत्य, **दिवि क्षयम्**=प्रकाशमय स्वरूप में निवास करनेवाले **यम्**=जिस ईश को **मातरिश्वा**=वेदमाता के अनुसार गति करनेवाला व वृद्धि प्राप्त करनेवाला जीव **दधे**=धारण करता है। **तम्**=उसी प्रभु की हम **ईमहे**=याचना करते हैं। प्रभु का यह उपासक भी ऋतरक्षण करनेवाला, यज्ञशील, अपना पूरण करनेवाला व स्तुतिमय जीवनवाला बनता है। (२) **तम्**=उस **चित्रयामम्**=अद्भुत गतिवाले-उस प्रभु की गतियाँ जीव के लिये अज्ञेय हैं। **हरिकेशम्**=दुःख के हरण करनेवाली ज्ञानरश्मियोंवाले। **सु-दीतिम्**=उत्तम दीप्तिवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **नव्यसे**=अत्यन्त स्तुत्य **सुविताय**=सुवित के लिये **ईमहे**=याचना करते हैं। प्रभुकृपा से हम प्रशस्त-जीवन-मार्गवाले हों।

भावार्थ—प्रभुस्तवन करते हुए हम प्रशस्त-जीवन-मार्ग का आक्रमण करें। प्रभु-धारण के लिये वेदानुकूल जीवनयापन का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'शोधक' प्रभु

शुचिं न यामन्निषिरं स्वर्दृशं केतुं दिवो रोचनस्थामुषर्बुधम्।

अग्निं मूर्धानं दिवो अप्रतिष्कुतं तमीमहे नमसा वाजिनं बृहत्॥ १४॥

(१) **यामन्**=हमारी जीवनयात्रा में **शुचिं न**=शोधक के समान जो प्रभु हैं। प्रभु वस्तुतः हमारे जीवन का शोधन करनेवाले हैं। प्रभुस्मरण हमें पाप से बचाता है। **इषिरम्**=वे प्रभु हमें सतत प्रेरणा देनेवाले हैं (इष प्रेरणे), **स्वर्दृशम्**=प्रकाश को दिखानेवाले हैं, **दिवः केतुम्**=ज्ञान के प्रज्ञापक हैं। प्रभु ही तो सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देते हैं। **रोचनस्थाम्**=दीप्त हृदय में स्थित होनेवाले हैं। मैं अपने हृदय को निर्मल करने का प्रयत्न करता हूँ-उस निर्मल हृदय में प्रभु को आमन्त्रित करने का अधिकारी होता हूँ। **उषर्बुधम्**=वे प्रभु प्रातः हमारे में प्रबुद्ध होनेवाले हैं। उस समय का नाम ही 'ब्राह्ममुहूर्त' पड़ गया है। रात्रि की निद्रा से उस समय हम जागे हैं और अभी सांसारिक व्यवहारों का प्रारम्भ नहीं हुआ। इस प्रकार यह उषाकाल प्रभुस्मरण का सर्वोत्तम समय है। (२) **तम्**=उस **अग्निम्**=अग्रणी, **दिवः मूर्धानम्**=ज्ञान के शिखरभूत, **अप्रतिष्कुतम्**=किसी से (अप्रतिष्कृतः अप्रस्खलितः नि० ६।१६) विचलित न किये जानेवाले, **वाजिनम्**=शक्तिशाली प्रभु को **नमसा**=नमन द्वारा **बृहत्**=अत्यन्त ही **ईमहे**=याचना करते हैं।

भावार्थ—यह प्रभुस्मरण ही हमें पवित्र, प्रकाशमय व अस्खलित जीवनवाला बनायेगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निर्वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'सब ऐश्वर्यों के दाता' प्रभु

मन्द्रं होतारं शुचिमद्वयाविनं दमूनसमुक्थ्यं विश्वचर्षणिम्।

रथं न चित्रं वपुषाय दर्शतं मनुर्हितं सदमिद्राय ईमहे॥ १५॥

(१) **मन्द्रम्**=स्तुत्य, **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले, **शुचिम्**=पवित्र, **अद्वयाविनम्**=कुटिलता से रहित (अद्वयावी), **दमूनसम्**=दान के मनवाले, **उक्थ्यम्**=स्तुतियोग्य, **विश्वचर्षणिम्**=सर्वद्रष्टा, सबका ध्यान करनेवाले, **रथं न**=जो प्रभु जीवनयात्रा की पूर्ति के लिये रथ के समान हैं। **चित्रम्**=अद्भुत अथवा ज्ञान देनेवाले **वपुषाय दर्शतम्**=(वपुषं=beauty) सौन्दर्य के लिये दर्शनीय, अर्थात् जहाँ-जहाँ भी सौन्दर्य है, वह सब प्रभुतेज के अंश के कारण ही तो है, **मनुर्हितम्**=मानवहित करनेवाले उस प्रभु से **सदम्**=सदा **इत्**=ही **रायः**=धनों को **ईमहे**=माँगते हैं।

(२) सब धनों के स्वामी वे प्रभु हैं, उस प्रभु से ही हम धनों की याचना करते हैं। प्रभु से जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धनों को प्राप्त करते हुए हम अपनी जीवनयात्रा को सुन्दरता से निभानेवाले बनते हैं। प्रभुस्तवन करते हैं, प्रभु पर पूर्ण विश्वास के साथ चलते हैं। 'प्रभु सदा देनेवाले हैं, वे हमारा हित करनेवाले हैं' यह धारणा हमें जीवन के सौन्दर्य को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रभु से ही हम सब आवश्यक ऐश्वर्यों की याचना करते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त इसी भाव से परिपूर्ण है कि प्रभु ही सब इष्ट धनों के देनेवाले हैं। इस प्रभु की ही उपासना अगले सूक्त में भी उपदिष्ट है—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—वैश्वानरोऽग्निः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभुस्तवन तथा देवसंग

वैश्वानराय पृथुपाजसे विपो रत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे।
अग्निर्हि देवाँ अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दूदुषत्॥ १॥

(१) **विपः**=मेधावी पुरुष **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **पृथुपाजसे**=अनन्त शक्तिवाले प्रभु के लिये **रत्ना**=रमणीय स्तोत्रों को **विधन्त**=करते हैं, **धरुणेषु गातवे**=ताकि वे धारणात्मक कर्मों में चल सकें (गाङ् गतौ)। प्रभु के स्तोत्र इन स्तोताओं के सामने गन्तव्य-मार्ग को उपस्थित करते हैं। स्तुति से उनके सामने एक लक्ष्य-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है कि हमें इस प्रकार का बनना है। इस प्रकार स्तोता सदा धारणात्मक कर्मों को ही करनेवाले होते हैं। (२) इस प्रकार यह स्तोता **अग्निः**=प्रगतिशील होता हुआ **हि**=निश्चय से **अमृतः**=विषयों के पीछे न मरता हुआ और अतएव नीरोग होता हुआ **देवान् दुवस्यति**=देवों की परिचर्या करता है। यह सज्जनों का संग उसके जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। **अथा**=अब यह अग्नि **सनता धर्माणि**=सनातन धर्मों को **न दूदुषत्**=दूषित नहीं करता। अहिंसा सत्य आदि सार्वकालिक धर्मों का यह सदा पालन करता है।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से स्तोता में सदा धारणात्मक कार्यों को करने की रुचि उत्पन्न होती है तथा विद्वानों का संग करता हुआ यह नित्य धर्मों का पालन करता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—वैश्वानरोऽग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

दर्शनीय दूत

अन्तर्दूतो रोदसी दस्म ईयते होता निषत्तो मनुषः पुरोहितः।
क्षयं बृहन्तं परि भूषति द्युभिर्देवेभिरग्निरिषितो धियावसुः॥ २॥

(१) **दूतः**=ज्ञान का सन्देश देनेवाला **दस्मः**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाला, दर्शनीय प्रभु **रोदसी अन्तः**=द्युलोक और पृथिवीलोक के अन्दर **ईयते**=गतिवाला होता है, वे प्रभु सम्पूर्ण अवकाश को व्याप्त किये हुए हैं। **होता**=वे सब हव्य पदार्थों को देनेवाले हैं। **निषत्तः**=सब के हृदयों में आसीन हैं। **मनुषः पुरोहितः**=एक विचारशील पुरुष के सामने विद्यमान हैं। वह सर्वत्र प्रभु को देखता है। प्रभु को देखता हुआ प्रभु से ही प्रेरणा प्राप्त करता है। (२) वे प्रभु **बृहन्तं क्षयम्**=महान् हृदयरूपी गृह को **द्युभिः**=ज्ञान-ज्योतियों से **परिभूषति**=अलंकृत करते हैं। हम हृदय को कुछ विशाल बनायें, उस विशाल हृदय में प्रभु के दर्शन होंगे। यह विशाल हृदय प्रभु के प्रकाश से दीप्त हो उठेगा। (३) **देवेभिः**=देववृत्ति के पुरुषों से **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु

इषितः=अपने अन्दर प्रेरित किये जाते हैं। ये व्यक्ति अपने हृदयों में प्रभुप्रेरणा को सुन पाते हैं। आसुर-वृत्तियों के होने पर प्रभु का आभास नहीं होता। **धियावसुः**=वे प्रभु प्रज्ञापूर्वक कर्मों द्वारा सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। वस्तुतः प्रभुप्रेरणा को सुननेवाले व्यक्ति सदा ज्ञानपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और ये कर्म उनको सब वसुओं=निवास के लिये आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु दूत हैं, उनका सन्देश विशाल हृदय में ही सुन पड़ता है, उस सन्देश को सुननेवाला, ज्ञानपूर्वक कर्मों में प्रवृत्त हुआ-हुआ सब वसुओं को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु के प्रति अर्पण

केतुं यज्ञानां विदथस्य साधनं विप्रासो अग्निं महयन्त चित्तिभिः।

अपांसि यस्मिन्नधि सन्दधुर्गिरस्तस्मिन्त्सुम्नानि यजमान आ चके॥ ३॥

(१) **विप्रासः**=ज्ञानी लोग **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **चित्तिभिः**=बड़े ज्ञानपूर्वक **महयन्त**=पूजित करते हैं। समझकर-अर्थभावनपूर्वक प्रभु का पूजन करते हैं। उस प्रभु का जो कि **यज्ञानां केतुम्**=यज्ञों के प्रज्ञापक हैं तथा **विदथस्य**=ज्ञानों को **साधनम्**=सिद्ध करनेवाले हैं। पूजित हुए-हुए प्रभु कर्त्तव्यकर्मों की प्रेरणा तो देते ही हैं, सब ज्ञानों को प्राप्त करानेवाले भी होते हैं। (२) **गिरः**=स्तोता लोग **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **अपांसि**=सब कर्मों को **अधिसन्दधुः**=आधिक्येन धारण करते हैं, अर्थात् उस ब्रह्म में स्थित होकर ही कर्मों को करते हैं और सब कर्मों को उसमें ही अर्पित कर देते हैं-उन कर्मों को प्रभुशक्ति से होता हुआ जानकर उनका अहंकार नहीं करते। **तस्मिन्**=उस प्रभु के विषय में ही **यजमानः**=यह यज्ञशील पुरुष **सुम्नानि**=स्तोत्रों की (सुम्न=hymn) **आचके**=कामना करता है। सदा प्रभुविषयक स्तोत्रों का उच्चारण करता हुआ प्रभु जैसा बनाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—ज्ञानी लोग अर्थभावनपूर्वक प्रभु के नाम का जप करते हैं। सब कर्मों को प्रभु में ही अर्पित करते हैं, प्रभु के स्तोत्रों की ही कामना करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'यज्ञरक्षक' प्रभु

पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनं च वाघताम्।

आ विवेश रोदसी भूरिवर्पसा पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः॥ ४॥

(१) वे प्रभु **यज्ञानाम्**=सब यज्ञों के-लोकहित के लिये किये जानेवाले कर्मों के **पिता**=रक्षक हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता (युजपालने) च प्रभुरेव च'। इन यज्ञों के करनेवाले **विपश्चिताम्**=ज्ञानी पुरुषों के अन्दर वे प्रभु **असुरः**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं। **च**=और **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **वाघताम्**=इन यज्ञभारों का वहन करनेवाले ऋत्विजों की **विमानम्**=विशिष्ट शक्तियों का निर्माण करनेवाले तथा **वयुनम्**=प्रज्ञान का साधन हैं। प्रभु यज्ञों का रक्षण करते हैं, ज्ञानी लोग यज्ञों को करते हैं और प्रभु उनमें प्राणशक्ति का संचार करते हैं, यज्ञभार का वहन करनेवालों को प्रभु विशिष्ट शक्ति तथा ज्ञान प्राप्त कराते हैं। (२) **पुरुप्रियः**=इस प्रकार पालन व पूरण करनेवाले तथा हमें प्रीणित करनेवाले **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभु **भूरिवर्पसा**=(भृ=धारणपोषणयोः) पालक व पूरक आकृतिवाले-जिनका निर्माण इस रूप में हुआ है कि यह हमारा पालन व पूरण करते हैं,

रोदसी=द्युलोक व पृथिवीलोक में **आविवेश**=सर्वत्र प्रविष्ट हो रहे हैं तथा **धामभिः**=अपने तेजों के हेतु से **भन्दते**=वे प्रभु सदा स्तुत होते हैं। इन धामों के अभाव में 'प्रभु' प्रभु ही नहीं रहते।

भावार्थ—प्रभु यज्ञों के रक्षक हैं। यज्ञशील को वे ज्ञान व शक्ति देते हैं। सर्वत्र व्याप्त हुए-हुए वे प्रभु अपने तेजों से सब का धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आनन्दमय प्रभु

चन्द्रम॒ग्निं च॒न्द्रर॑थं॒ हरि॑व्रतं वैश्वान॒रम॑प्सु॒षदं॑ स्व॒र्विद॑म् ।
वि॒गा॒हं तूर्णिं॒ तवि॑षीभि॒रावृ॑तं॒ भूर्णिं॑ दे॒वास॑ इ॒ह सु॒श्रियं॑ दधुः ॥ ५ ॥

(१) **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **इह**=इस जीवन में **सुश्रियम्**=उत्तम श्री वाले-लक्ष्मीपति प्रभु को **दधुः**=धारण करते हैं-अपने हृदयों में प्रतिष्ठापित करते हैं। जो प्रभु **चन्द्रम्**=आह्लादमय हैं, **अग्निम्**=अग्रणी हैं। **चन्द्ररथम्**=आह्लादयुक्त शरीर-रथ को प्राप्त करानेवाले हैं, यहाँ कष्ट तो हमारे रथ के ठीक न संचालन से होते हैं। **हरिव्रतम्**=प्रभु के नियम हमारे कष्टों का हरण करनेवाले हैं (नियमः पुण्यकं व्रतम्)। यदि हम प्रभुनियमों के अनुसार चलते हैं तो कष्ट का प्रश्न ही नहीं रहता। **वैश्वानरम्**=वे प्रभु सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। **अप्सुषदम्**=सब प्रजाओं में आसीन होनेवाले हैं, सब के हृदयों में स्थित हैं और **स्वर्विदम्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं (स्वः=प्रकाश, विद् लाभे) हृदयस्थरूपेण वे प्रेरणा दे ही रहे हैं। (२) **विगाहम्**=सर्वत्र अवगाहन व प्रवेश करनेवाले-सर्वव्यापक हैं। **तूर्णिम्**=शीघ्रता से सब कार्यों को करनेवाले हैं। **तविषीभिः आवृतम्**=बलों से आवृत हैं, बलों के पुञ्ज हैं और **भूर्णिम्**=सब का भरण व पोषण कर रहे हैं। प्रभु की शक्ति पालन में ही व्ययित होती है। उपासक को भी शक्ति का यही विनियोग समझना चाहिये।

भावार्थ—प्रभु आनन्दमय हैं, प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं, शक्ति के पुञ्ज हैं और सब का पोषण करनेवाले हैं। इस प्रभु का ही धारण करके हम देव बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'अभिशस्ति चातन' प्रभु

अ॒ग्निर्दे॒वेभि॒र्मनु॑षश्च ज॒न्तुभि॑स्तन्वा॒नो य॒ज्ञं पु॑रु॒पेश॑सं धि॒या ।
र॒थीर॒न्तरी॑यते॒ साध॑दिष्टिभिर्जी॒रो दमू॑ना अभिशस्ति॒चात॑नः ॥ ६ ॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **साधत् इष्टिभिः**=यज्ञों को सिद्ध करनेवाले **देवेभिः**=विद्वानों (देवताओं) द्वारा **च**=तथा **जन्तुभिः**=प्राणियों द्वारा-गौ इत्यादि पशुओं द्वारा **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **पुरुपेशसम्**=नानारूपोंवाले **यज्ञम्**=यज्ञ को **धिया**=बुद्धिपूर्वक **तन्वानः**=विस्तृत करता हुआ है। यज्ञों की पूर्णता में विद्वान् तो सहायक होते ही हैं। इन विद्वानों ने ही विधिपूर्वक यज्ञों को करवाना होता है। गौ इत्यादि पशु भी यज्ञ के लिये घृत आदि पदार्थों को प्राप्त कराके सहायक होते हैं। अन्त में सब व्यवस्था प्रभु द्वारा ही होती है। (२) **रथीः**=वह सब यज्ञों का प्रणेता प्रभु **अन्तः ईयते**=हम सब के हृदयों के अन्दर ही गति करता है। **जीरः**=वह प्रभु क्षिप्रकारी हैं। **दमूनाः**=दान के मनवाले हैं, सदा सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं। **अभिशस्तिचातनः**=यज्ञ में विघ्न करनेवाले राक्षसीवृत्ति के व्यक्तियों का नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही यज्ञ के सब साधनों को जुटाते हैं और आनेवाले विघ्नों का निराकरण करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—वैश्वानरोऽग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उत्तम सन्तान+उत्तम जीवन

अग्ने जरस्व स्वपत्य आयुन्यूर्जा पिन्वस्व समिषो दिदीहि नः।
वयांसि जिन्व बृहतश्च जागृव उशिग्देवानामसि सुक्रतुर्विपाम्॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **स्वपत्ये**=उत्तम सन्तानों के निमित्त तथा **आयुनि**=उत्तम आयुष्य के निमित्त **जरस्व**=स्तुत होओ। हम आपका स्तवन करें ताकि हमारी सन्तानें भी उत्तम हों तथा हमारी आयु भी दीर्घ हो। जिस घर में प्रभुस्तवन होता है, वहाँ सन्तानें भी अच्छी होती हैं-सब के जीवन भी अच्छे बनते हैं। (२) हे अग्ने! **ऊर्जः**=बल और प्राणशक्ति से **पिन्वस्व**=आप हमें प्रीणित करिए। **नः**=हमारे लिये **इषः**=प्रेरणाओं को **संदिदीहि**=सम्यग् दीप्त करिये। हम आपकी प्रेरणाओं को सुननेवाले बनें। **च**=और **बृहतः**=वृद्धिशील पुरुष के **वयांसि**=जीवनों को **जिन्व**=दीजिये। हम जीवन में निरन्तर आगे बढ़नेवाले हों। हे **जागृवे**=सदा जागरित प्रभो! आप **देवानाम्**=देवों के **उशिक्**=चाहनेवाले हैं तथा **विपाम्**=मेधावियों के **सुक्रतुः**=उत्तम प्रज्ञानों व कर्मों के सम्पादक हैं। देव आपको प्रिय होते हैं और आपकी कृपा से ही मेधावी पुरुष उत्तम कर्मों को कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से उत्तम सन्तान व उत्तम आयुष्य प्राप्त होता है। प्रभु हमें बल व प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। हमारे जीवन को वृद्धिशील बनाते हैं। देवों के प्रिय व मेधावियों के उत्तम कार्यों के साधक होते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—वैश्वानरोऽग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

बुद्धि+यज्ञ+धन

विश्पतिं यह्वमतिथिं नरः सदा यन्तारं धीनामुशिजं च वाघताम्।
अध्वराणां चेतनं जातवेदसं प्र शंसन्ति नमसा जूतिभिर्वृधे॥ ८॥

(१) **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले व्यक्ति **वृधे**=वृद्धि के लिये-जीवन में उत्कर्ष के लिये **नमसा**=नमन द्वारा तथा **जूतिभिः**=क्रियाशीलताओं द्वारा उस प्रभु का **प्रशंसन्ति**=शंसन करते हैं, जो प्रभु **विश्पतिम्**=प्रजाओं के पालक व रक्षक हैं, **यह्वाम्**=महान् हैं, **अतिथिम्**=जीवहित के लिये सदा गतिशील हैं 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च'। **सदा**=हमेशा **धीनाम्**=बुद्धियों को **यन्तारम्**=देनेवाले हैं। (२) उस प्रभु का शंसन करते हैं जो कि **वाघताम्**=यज्ञादि कार्यभारों का वहन करनेवालों के **उशिजम्**=प्रिय हैं, उनको चाहनेवाले हैं। ये यज्ञशीलपुरुष प्रभु को सदा प्रिय होते हैं। **अध्वराणां चेतनं (यज्ञस्य केतुं)**=यज्ञों के ये प्रज्ञापक हैं, हृदयस्थरूपेण सदा यज्ञों की प्रेरणा देनेवाले हैं। वेदों में सब यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाले हैं। **जातवेदसम्**=यज्ञों की सिद्धि के लिये सब ऐश्वर्यों को देनेवाले हैं (जातं वेदः=धनं यस्मात्)।

भावार्थ—प्रभु प्रजाओं के रक्षक हैं। वे बुद्धि देते हैं, यज्ञों की प्रेरणा देते हैं। यज्ञों की सिद्धि के लिये धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—वैश्वानरोऽग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पापवर्जन व प्रभुव्रत स्वीकार

विभावा देवः सुरणः परि क्षितीरग्निर्बभूव शवसा सुमद्रथः।
तस्य व्रतानि भूरिपोषिणो वयमुप भूषेम दम आ सुवृक्तिभिः॥ ९॥

(१) वे प्रभु **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाले हैं (दीपनात्), **देवः**=उस दीप्ति को हमें देनेवाले हैं (द्योतनात्)। इस दीप्ति को देने के लिये **सुरणः**=हृदयस्थरूपेण उत्तम शब्दों को करनेवाले हैं (सु+रण् शब्दे)। इस प्रकार वे प्रभु **अग्निः**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं और **शवसा**=शक्ति द्वारा **क्षितीः परिबभूव**=सब मनुष्यों को व्याप्त करनेवाले हैं। वस्तुतः जो भी शक्ति है, वह सब प्रभु की है। जितना-जितना हम प्रभु को अपनाते हैं, उतना-उतना शक्ति-सम्पन्न बनते हैं। शक्ति को देकर **सुमद् रथः**=उत्तम आनन्दमय शरीररथवाले वे हैं-प्रभु हमारे शरीररथों को सुन्दर बनाते हैं और हमारे जीवनों को आनन्दयुक्त करते हैं। (२) **तस्य**=उस **भूरिपोषिणः**=अत्यन्त ही पोषण करनेवाले प्रभु के **व्रतानि**=व्रतों को **दमे**=इस शरीररूप गृह में **सुवृक्तिभिः**=अच्छी प्रकार पापों के वर्जन द्वारा **वयम्**=हम **उपभूषेम**=उपभूषित करते हैं-प्रकाशित करते हैं (प्रकाशयामः)। हमारा जीवन प्रभु के व्रतों से सुशोभित होता है। हम प्रभु की तरह न्याय व दया आदि गुणों को अपनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु से ज्ञानदीप्ति व शक्ति प्राप्त करके हम पापों का वर्जन करते हैं और प्रभु के व्रतों को स्वीकार करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—वैश्वानरोऽग्निः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

तेजस्विता व सुख

वैश्वा॑नर॒ तव॒ धामा॒न्या च॑के॒ येभिः॑ स्व॒र्विद॑भ॑वो विचक्षण।

जा॒त आपृ॑णो भुव॑नानि॒ रोद॑सी॒ अग्ने॒ ता विश्वा॑ परि॒भूर॑सि॒ त्मना॑॥ १०॥

(१) हे **वैश्वानर**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभो! **तव**=आपके **धामानि**=तेजों की **आचके**=मैं कामना करता हूँ, **येभिः**=जिनद्वारा हे **विचक्षण**=सर्वद्रष्टाः प्रभो! आप **स्वर्वित्**=सुख प्राप्त करानेवाले **अभवः**=होते हैं। आप हमें तेजस्वी बनाते हैं, उन तेजों द्वारा हमारे जीवनों को सुखी करते हैं। (२) **जातः**=सदा से प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **भुवनानि**=सब लोकों को तथा **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **आपृणः**=आपूरित करते हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ता विश्वा**=उन सब लोकों को **त्मना**=स्वयं **परिभूः असि**=आप व्याप्त किये हुए हैं। वस्तुतः आपकी व्यापकता के कारण ही उन लोकों में अमुक-अमुक श्री व ऊर्ज उपलभ्य है।

भावार्थ—हम प्रभु के तेजों को प्राप्त करने की कामना करें। इसी से हमारा जीवन सुखी होगा। सारे संसार को प्रभु ने व्याप्त किया हुआ है, प्रभु की सत्ता के कारण ही वहाँ श्री व ऊर्ज् उपलभ्य है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—वैश्वानरोऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

यज्ञार्थ धन

वै॒श्वा॒न॒रस्य॑ दं॒सना॑भ्यो बृ॒हदारि॑णा॒देकः॑ स्वप॒स्यया॑ क॒विः।

उ॒भा पि॒तरा॑ म॒हय॑न्नजायता॒ग्निर्द्यावा॑पृथि॒वी भूरि॑रेतसा॥ ११॥

(१) **वैश्वानरस्य**=उस सब मनुष्यों के हित करनेवाले प्रभु की **दंसनाभ्यः**=दर्शनीय क्रियाओं से **बृहत्**=अत्यन्त ही धन प्राप्त होता है। वह **एकः**=अद्वितीय **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभु **स्वपस्यया**=उत्तम यज्ञादि कर्मों की इच्छा से **अरिणात्**=धनों को देता है। प्रभु का धनदान इसलिए है कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों को करने में समर्थ हो सकें। (२) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **भूरिरेतसा**=पालक व पोषक शक्तिवाले **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक रूप **उभा**

पितरा=दोनों पितरों को **महयन्**=महिमायुक्त करता हुआ **अजायत**=प्रादुर्भूत होता है। द्युलोक व पृथिवीलोक सब प्रजाओं के माता-पिता के समान हैं। इनमें प्रभु की महिमा प्रकट होती है। इनके अन्दर होनेवाली क्रियाओं को देखकर एक ज्ञानी मनुष्य प्रभुमहिमा को अनुभव करता है। उसे इनमें प्रभु का साक्षात्कार होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें अत्यन्त ही धन प्राप्त कराते हैं ताकि हम यज्ञ आदि उत्तम कार्यों को कर सकें।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुमहिमा का वर्णन करता है। प्रभु ही हमें बुद्धि, शक्ति व धन देते हैं कि हम यज्ञादि उत्तम कर्म कर सकें। अगले सूक्त का भी विषय यह है कि हम एक-एक अंग को बड़ा सुन्दर बनायें। प्रत्येक अंग को आप्रीणित करनेवाले हों। इसी से यह 'आप्री' सूक्त है। प्रार्थना का प्रारम्भ इस तरह है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञानदीप्ति-पवित्रता

समित्समित्सुमना बोध्यस्मे शुचाशुचा सुमतिं रासि वस्वः।
आ देव देवान्यजथाय वक्षि सखा सखीन्त्सुमना यक्ष्यग्ने॥ १॥

(१) 'इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीया उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति' इस मन्त्र के अनुसार हमें पृथिवीस्थ पदार्थों का, द्युलोक के पदार्थों का तथा अन्तरिक्षस्थ पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना है। यही तीन समिधाएँ कहलाती हैं। **समित् समित्**=जितना-जितना हम त्रिलोकी के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते चलते हैं, उतना-उतना **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **अस्मे बोधि**=हमारे लिये होइए, अर्थात् आप हमें उत्तम मन प्राप्त कराइए। वस्तुतः ज्ञान ही तो मन को पवित्र बनाएगा। (२) **शुचा शुचा**=मन की अधिकाधिक शुचिता के अनुसार आप **वस्वः**=धन की **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **रासि**=हमारे लिए देते हैं। पवित्रता होने पर हम कभी भी छलछिद्र से धन को कमाने का ध्यान नहीं करते। (३) **देव**=हे प्रकाशमय-दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **यजथाय**=संगतिकरण के लिये **देवान्**=देवों को **आवक्षि**=हमें प्राप्त कराते हैं। इन देवों के संग से हम भी देववृत्तिवाले बनते हैं। (४) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सखा**=सब के मित्र आप **सुमनाः**=उत्तम मनवाले होते हुए **सखीन् यक्षि**=हम सखाओं को सब धनादि आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं। प्रभु हमें उत्तम मन प्राप्त कराते हैं। साथ ही सब आवश्यक धनादि पदार्थों को देते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के अनुपात में हमारा मन पवित्र होता है। पवित्रता के अनुपात में हम धन कमाने के विषय में सुमति को बनाये रखते हैं। देवों के सम्पर्क में चलते हैं। प्रभुरूप मित्र से सब धनों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पाप व रोग-निवारण द्वारा अग्रगति

यं देवासस्त्रिरहन्नायजन्ते दिवेदिवे वरुणो मित्रो अग्निः।
सेमं यज्ञं मधुमन्तं कृधी नस्तनूनपाद् घृतयोनिं विधन्तम्॥ २॥

(१) **यम्**=जिस प्रभु को **देवासः**=देववृत्ति के लोग **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **अहन् त्रिः**=दिन में तीन बार **आयजन्ते**=उपासित करते हैं। दिन के प्रारम्भ में तो उठते ही प्रभु का ध्यान करते

ही हैं और इसी प्रकार सायं कार्य समाप्ति पर भी ध्यान में प्रवृत्त होते हैं। दिन में भोजन से पूर्व प्रभु का स्मरण कर लेते हैं। इस प्रकार आदि, मध्य व अवसान में इनका पूजन चलता है। पूजित हुआ-हुआ वह प्रभु **वरुणः**=(पापात् निवारयति) पाप से हमारा निवारण करता है। **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) रोगों से हमें बचाता है और **अग्निः**=हमें उन्नतिपथ पर आगे ले चलता है। (२) **सः**=वह प्रभु **तनूनपात्**=हमारे शरीरों को न गिरने देनेवाले हैं। हे प्रभो! आप **इमं नः यज्ञम्**=हमारे इस जीवन-यज्ञ को **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाला **घृतयोनिम्**=ज्ञान का उत्पत्ति-स्थान व **विधन्तम्**=प्रभु परिचर्यावाला **कृधि**=करिये। हम इस जीवन में सदा मधुर बोलनेवाले हों, स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाले हों तथा प्रभुपूजा की वृत्तिवाले बनें। देवताओं की तरह प्रातः मध्याह्न (भोजन से पूर्व) व सायं उस प्रभु का स्मरण अवश्य करें। यह स्मरण ही तो वस्तुतः हमें देव बनाएगा।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। प्रभु हमें पापों व रोगों से बचाकर आगे ले चलेंगे। हमारा जीवन मधुर, ज्ञानप्रवण व पूजावृत्तिवाला बनेगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्तवन द्वारा ज्ञान व दिव्यता की प्राप्ति

प्र दिधितिर्विश्ववारा जिगाति होतारमिळः प्रथमं यजध्यै।
अच्छा नमोभिर्वृषभं वन्दध्यै स देवान्यक्षदिषितो यजीयान्॥ ३॥

(१) **विश्ववारा**=सब से वरने योग्य **दीधितिः**=हमारी ज्ञानदीप्ति व स्तुति **होतारम्**=इस सृष्टियज्ञ के होता प्रभु को, सब कुछ देनेवाले प्रभु को **प्रजिगाति**=प्राप्त होती है। हम प्रभु का स्तवन करते हैं। यह प्रभुस्तवन सब से वरने योग्य है। हम प्रभु का स्तवन इसलिए करते हैं कि **प्रथमम्**=सब से पूर्व **इडः**=(इडायाः) वेदवाणी का **यजध्यै**=अपने साथ संगतिकरण के लिये। प्रभुस्तवन से हमारा सम्पर्क प्रभु के साथ स्थापित होगा। इस सम्पर्क से हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले होंगे। (२) हम **वृषभं अच्छा**=उस सुखों के वर्षण करनेवाले प्रभु की ओर **नमोभिः**=नमन के साथ **वन्दध्यै**=वन्दना के लिये जाते हैं। **इषितः**=अपने हृदयों में हमारे से प्रेरित किया गया वह प्रभु-हृदयों में ध्यान किया गया वह प्रभु **देवान् यक्षत्**=दिव्यगुणों को हमारे साथ संगत करता है। इसी से वे प्रभु **यजीयान्**=सर्वाधिक उपास्य हैं। जितना-जितना हम प्रभु का उपासन करेंगे, उतना-उतना अपने में दिव्यगुणों का संचार कर पाएँगे।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन करें। हमें वेदवाणी प्राप्त होगी और दिव्यगुणों का हमारे साथ सम्पर्क होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

यज्ञशीलता द्वारा ज्ञान व पवित्रता

ऊर्ध्वो वां गातुरध्वरे अकार्यूर्ध्वा शोचींषि प्रस्थिता रजांसि।
दिवो वा नाभा न्यसादि होता स्तृणीमहि देवव्यचा वि बर्हिः॥ ४॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अध्वरे**=यज्ञों में **वां गातुः**=तुम दोनों पतिपत्नी का मार्ग **ऊर्ध्वः अकारि**=उत्कृष्ट बनाया गया है। पति-पत्नी मिलकर यज्ञों को करनेवाले हों, यही उत्कृष्ट मार्ग है। इससे तुम्हारी **शोचींषि**=ज्ञानदीप्तियाँ (ज्वालाएँ) **ऊर्ध्वा प्रस्थिता**=ऊपर की ओर प्रस्थित होती हैं, अर्थात् तुम्हारा ज्ञान बढ़ता है। **रजांसि**=तुम्हारे रजोगुण के अंश भी ऊर्ध्व दिशा में प्रस्थित होनेवाले होते हैं, अर्थात् तुम्हारे रजोगुण में सत्त्वगुण का संमिश्रण होता है। (२) ऐसा होने पर

प्रत्येक व्यक्ति **होता**=दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला होता है और **दिवः नाभा**=ज्ञान के केन्द्र में **न्यसादि**=निषण्ण होता है। हे प्रभो! हम भी उक्त वृत्ति के बनकर **देवव्यचाः**=दिव्यगुणों के विस्तारवाले **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **विस्तृणीमहि**=विशेषरूप से बिछाते हैं। इस निर्मल हृदय में ही तो हम आपको आमन्त्रित कर पाएँगे।

भावार्थ—यज्ञों को करते हुए हम ज्ञान बढ़ाते हैं और हृदय को वासनाशून्य करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर

सप्त होत्राणि मनसा वृणाना इन्वन्तो विश्वं प्रति यन्नृतेन।

नृपेशसो विदथेषु प्र जाता अभी३मं यज्ञं वि चरन्त पूर्वीः ॥ ५ ॥

(१) 'कर्णाविभौ नासिके चक्षणी मुखम्' इस मन्त्रभाग में जीवनयज्ञ के सात होताओं का उल्लेख है। ये ही सात ऋषि कहलाते हैं 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'। इन सातों होताओं के **सप्त**=सात **होत्राणि**=होतृकर्मों का **मनसा वृणानाः**=मन से वरण करते हुए **विश्वं इन्वन्तः**=और शरीर के सब अंगों को प्रीणित करते हुए **ऋतेन प्रतियन्**=ऋत से प्रत्येक कार्य में प्रवृत्त होते हैं। प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करते हैं। (२) इस प्रकार सब कार्यों को ऋतपूर्वक करते हुए **नृपेशसः**=अपने को नर (=प्रगतिशील) बनानेवाले, **विदथेषु प्रजाताः**=ज्ञान-यज्ञों में विकास को प्राप्त हुए-हुए **पूर्वीः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले ये लोग **इमं यज्ञं अभि**=इस पूज्य प्रभु की ओर (यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः) **विचरन्त**=विचरण करते हैं। प्रभु की ओर जाने का मार्ग यही है कि ऋत का पालन करते हुए हम अपने को प्रगतिशील बनाएँ।

भावार्थ—हमारे कान, नासिका, आँखें व मुख जीवनयज्ञ के होता बनें। ऋतपूर्वक चलते हुए हम नर बनकर प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर बढ़ें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विकसित दिन और रात

आ भन्दमाने उषसा उपाके उत स्मयेते तन्वा३ विरूपे।

यथा नो मित्रो वरुणो जुजोषदिन्द्रो मरुत्वाँ उत वा महोभिः ॥ ६ ॥

(१) 'उषसा' यह द्विवचनान्त शब्द 'उषासानक्त' के लिये प्रयुक्त हुआ है। **उषसा**=ये दिन और रात परस्पर **उपाके**=संगत हुए-हुए, **उत**=और **भन्दमाने**=प्रभु का स्तवन करते हुए, **तन्वा विरूपे**=शरीर से भिन्न-भिन्न रूपवाले (अहश्च कृष्णं अहरर्जुनञ्च) **आ स्मयेते**=सर्वथा हँसते हुए हैं-खिले हुए हैं। दिन और रात के परस्पर संगत होने का भाव यह है कि दिन रात्रि से और रात्रि दिन से जुड़ी हुई हों। दिन में (अ+हन्) एक-एक क्षण को नष्ट न करते हुए हम अत्यन्त क्रियामय जीवनवाले हों, ताकि रात्रि में गाढ़निद्रा प्राप्त करके हम अपने में तेज भर सकें। हमारा जागरित स्थान (=दिन का समय) 'वैश्वानर' हो-नरहित के कार्यों में लगा हुआ हो, ताकि स्वप्नस्थान (=रात्रि का समय) 'तैजस' बन सके। दिन-रात हमें प्रभु का स्मरण बना रहे। हम सब कार्यों को प्रभुस्मरणपूर्वक करें। सोते समय भी प्रभुस्मरण के साथ सोएँ। ऐसा होने पर ये दिन-रात हमारे लिये खिले हुए होंगे। हम दिन-रात सदा प्रसन्न रहेंगे। (२) बस इस प्रकार का हमारा जीवन बन जाए **यथा**=जिससे **नः**=हमें **मित्रः**=दिन का अभिमानी देव 'सूर्य' तथा **वरुणः**=रात्रि का अभिमानी देव 'चन्द्र' **जुजोषत्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। सूर्य हमें 'प्रमीतेः त्रायते'=रोगों

से बचाएँ तो 'चन्द्र' हमें मन:प्रसाद प्राप्त कराके निष्पाप बनाएँ (पापान् निवारयति इति वरुण:)। (३) **उत**=और **मरुत्वान्**=(मरुत: प्राणा:) प्राणोंवाला **इन्द्र:**=इन्द्र **वा**=निश्चय से **महोभि:**=तेजस्विताओं के साथ हमारा सेवन करे, अर्थात् हम प्राणसाधना करते हुए जितेन्द्रिय बनें, ताकि अपने अन्दर तेजस्विता का पूरण करनेवाले हों। प्राणायाम द्वारा मनुष्य इन्द्रिय-दोषों को दूर करके ऊर्ध्वरेता बनता है। इस प्रकार यह ऊर्ध्वरेतस्कता इसे तेजस्वी बनाती है।

भावार्थ—हम दिन में क्रियाशील रहकर रात्रि को अपने लिये वस्तुत: रमयित्री बनाएँ। सदा प्रभुस्मरण करनेवाले हों। इस प्रकार नीरोग, निष्पाप व तेजस्वी बनें।

ऋषि:—**विश्वामित्र:** ॥ देवता—**आप्रिय:** ॥ छन्द:—**स्वराट्पङ्क्ति:** ॥ स्वर:—**पञ्चम:** ॥

दो मुख्य होता अथवा ऋत व व्रत का पालन

दैव्या होतारा प्रथमा न्यृञ्जे सप्त पृक्षास: स्वधया मदन्ति।
ऋतं शंसन्त ऋतमित्त आहुरनु व्रतं व्रतपा दीध्याना:॥ ७॥

(१) **प्रथमा होतारा**=इस जीवनयज्ञ के मुख्य होता प्राण और अपान हैं। ये **दैव्या**=हमें देव=प्रभु की ओर ले चलते हैं। इनको मैं **निऋञ्जे**=निश्चय से प्रसाधित करता हूँ। प्राणायाम द्वारा इनकी शक्ति को बढ़ाना ही इनका प्रसाधन है। उस समय **सप्त**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' दो कान, दो नासिकाछिद्र, दो आँखें व मुख ये सात होता (येन यज्ञस्तायते सप्त होता) अथवा ये सात ऋषि (सप्त ऋषय: प्रतिहिता: शरीरे) **पृक्षास:**=सदा ज्ञानों व उत्तम कर्मों के साथ सम्पर्कवाले होते हैं और **स्वधया**=आत्मधारण शक्ति के साथ **मदन्ति**=आनन्द व हर्ष का अनुभव करते हैं। प्राणसाधना से निर्दोष बनी हुई इन्द्रियाँ ज्ञान व उत्तम कर्मों में ही प्रवृत्त होती हैं और मनुष्य को 'स्व-धा' द्वारा आनन्दित करती हैं। 'सुख' है ही 'सु+ख'=इन्द्रियों का उत्तम होना (खं=इन्द्रिय)। (२) इस प्रकार के लोग **ऋतं शंसन्त:**=सदा ऋत का शंसन करते हैं। **ते**=वे **इत्**=निश्चय से **ऋतं आहु:**=अपने जीवनों में ऋतपालन करते हैं, जीवन में ऋत करते हैं, अर्थात् इनकी कोई क्रिया अनृतवाली नहीं होती। ये व्यक्ति **अनुव्रतम्**=व्रतों के अनुसार अपना जीवन चलाते हैं। **व्रतपा:**=व्रतों का रक्षण करते हैं और अतएव **दीध्वाना:**=दीप्यमान होते हैं-दीप्त जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। हमारी इन्द्रियाँ आत्मधारण-शक्तिवाली हों। ऋतपालन करते हुए, व्रतों के रक्षण द्वारा हम दीप्त-जीवनवाले हों।

ऋषि:—**विश्वामित्र:** ॥ देवता—**आप्रिय:** ॥ छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वर:—**धैवत:** ॥

भारती, इडा व सरस्वती

आ भारती भारतीभि: सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्नि:।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु॥ ८॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में 'भारती' द्युलोक की देवी है, 'इडा' पृथ्वीलोक की तथा 'सरस्वती' अन्तरिक्षस्थ देवी है। 'भरत' आदित्य हैं, उसकी रश्मियाँ 'भारती' हैं इन **भारतीभि:**=सूर्य-रश्मियों के साथ **सजोषा:**=संगत हुई-हुई **भारती**=यह द्युलोकस्थ देवी हमें **आ अर्वाक्**=सर्वथा अभिमुख प्राप्त हो। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है। ज्ञानरश्मियाँ ही भारती हैं। यह ज्ञान की अधिष्ठातृ देवी 'भारती' ज्ञान-रश्मियों से संगत हुई-हुई हमें प्राप्त हो। (२) **इडा**=यह पृथिवीस्थ देवी, वाग्देवता (वेदवाणी) **देवै:**=देववृत्तिवाले लोगों के साथ तथा **मनुष्येभि:**=विचारशील पुरुषों के साथ हमारे लिये **अग्नि:**=अग्रणी हो, हमें आगे ले चलनेवाली हो। देववृत्तिवाले विचारशील पुरुषों के सम्पर्क

में आकर हम इस वेदवाणी को प्राप्त हों और जीवन में आगे बढ़ें। (३) **सारस्वतेभिः**=संस्कृति के उपासकों द्वारा **सरस्वती**=यह हृदयों को परिष्कृत करनेवाली-हृदयान्तरिक्ष को निर्मल करनेवाली सरस्वती हमें प्राप्त हो। (४) हमारा मस्तिष्क ज्ञानरश्मियों से दीप्त हो, हमारी वाणी ज्ञानप्रधान शब्दों का ही उच्चारण करनेवाली हो, हमारा हृदय परिष्कृत हो। इस प्रकार **तिस्त्रः देवीः**=ये तीनों देवियाँ **इदं बर्हिः**=इस वासनाशून्य हृदय में **आसदन्तु**=आसीन हों। हमारे हृदय में ज्ञान-परिष्कृत वाणी व संस्कृत-व्यवहारों (आचारों) को प्राप्त करने का संकल्प हो।

भावार्थ—हम 'भारती, इडा व सरस्वती' के उपासक बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति का परिपाक

तन्नस्तुरीपमध पोषयित्नु देव त्वष्टर्वि रराणः स्यस्व ।

यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः ॥ ९ ॥

(१) हे **देव**=दिव्यगुणों के पुञ्ज, **त्वष्टः**=निर्माण करनेवाले प्रभो! **रराणः**=सदा (रममाणः) हमारे हृदयों में रमण करते हुए अथवा (रा दाने) सदा उत्तम तत्त्वों को हमारे लिए देते हुए आप **नः**=हमारे लिए **तत्**=उस **तुरीयम्**=दुःखों से तरानेवाले-रोगों को नष्ट करनेवाले **अध**=और **पोषयित्नु**=पोषक बल को **वि स्यस्व**=(Complete) पूर्ण कीजिये, अर्थात् हमारे अन्दर रस-रुधिरादि के क्रम से वीर्य का ठीक परिपाक कीजिए। (२) **यतः**=जिस वीर्य द्वारा **वीरः जायते**=हमें वीर सन्तान की प्राप्ति होती है, जो सन्तान **कर्मण्यः**=क्रियाशील होता है, **सुदक्षः**=उत्तम दक्षता, उन्नति व कुशलतावाला होता है, **युक्तग्रावा**=ज्ञानीगुरुओं के मेलवाला, ज्ञानियों के सम्पर्क की ओर झुकाववाला **देवकामः**=दिव्यगुणों की कामनावाला होता है।

सूचना—यहाँ सन्तान की भावना न लेकर इस प्रकार भी अर्थ ठीक है कि हमें वह शक्ति दीजिए जिससे कि मनुष्य 'वीर, कर्मण्य, सुदक्ष-युक्त ग्रावा व देवकाम' बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे में रोगतारक पोषक वीर्य शक्ति का परिपाक करें, जिससे कि हम वीर, क्रियाशील, कुशल, ज्ञानियों के सम्पर्कवाले व दिव्यगुणों की कामनावाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**आप्रियः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शमिता अग्नि

वनस्पतेऽव सृजोप देवानग्निर्हविः शमिता सूदयाति।

सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद ॥ १० ॥

(१) **वनस्पते**=(वनस्=loveliness, glory, wealth) सौन्दर्य, यश व धन के स्वामिन्! आप **देवान् उप**=देवों के समीप **अवसृज**=इस ऐश्वर्य को प्राप्त कराइए। यह **अग्निः**=प्रगतिशील **शमिता**=शान्त स्वभाववाला, वासनारूप पशुओं को नष्ट करनेवाला व्यक्ति (कामः पशुः, क्रोधः पशुः) **हविः**=हवि को-दानपूर्वक अदन की वृत्ति को **सूदयाति**=अपने में प्रेरित करता है। (२) **उ**=और **सः**=वह **इत्**=निश्चय से **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला **सत्यतरः**=अधिक सत्य-जीवनवाला होता हुआ **यजाति**=प्रभुपूजन करता है **यथा**=जिससे वह **देवानाम्**=देवों के **जनिमानि**=जन्मों को, अपने अन्दर विकास को **वेद**=प्राप्त करता है। प्रभुपूजन की वृत्ति से दिव्यगुणों की इसमें वृद्धि होती है।

भावार्थ—प्रभु हमें ऐश्वर्य प्राप्त कराएँ, जिससे कि हम यज्ञों को सिद्ध करें। सत्यमय

जीवनवाले होते हुए हम प्रभुपूजन करें, जिससे कि हमारे में दिव्यगुणों का विकास हो। हम कामादि पशुओं का हनन करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—आप्रियः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'त्याग+दिव्यता+अमृतत्त्व'

आ याह्यग्ने समिधानो अर्वाङिन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः।
बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्॥ ११ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जीवन में दिव्यगुणों का विकास होने के पश्चात् हम इस प्रार्थना के अधिकारी बनते हैं कि हे **अग्ने**=हे परमात्मन्! **अर्वाङ् आयाहि**=आप हमारे अन्दर आइए। **समिधानः**=हमारे अन्तःकरण को दीप्त करिए। (२) **सुपुत्रा अदितिः**=शक्ति व बुद्धि आदि उत्तम पुत्रोंवाली स्वास्थ्य की देवी (अ-दीना देवमाता) **इन्द्रेण**=उस प्रभु के साथ तथा **तुरेभिः**=त्वरा के साथ कार्य करनेवाले देवों के साथ **सरथम्**=इस समान शरीररूप रथ में **नः**=हमारे **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में आसीन हो। हमारा हृदय इस देवमाता अदिति का अधिष्ठान बने। इस अदिति के साथ देवों व देवराट् इन्द्र का भी यह निवास बने। स्वास्थ्य के सर्वथा समीचीन होने पर दिव्यगुणों का विकास होता है। दिव्यगुणों के विकास से प्रभुप्राप्ति होती है। (३) वस्तुतः इस संसार में **स्वाहा**=स्वाहाकार से युक्त, त्याग की भावना से युक्त **अमृताः**=अमरणशील-विषयों के पीछे न मरनेवाले अथवा नीरोग **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **मादयन्ताम्**=अद्भुत हर्ष का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति हमारे जीवन को प्रकाशमय कर दे। हमें 'स्वास्थ्य, दिव्यगुणों व प्रभु' की प्राप्ति हो। हम त्यागी, नीरोग व देववृत्तिवाले बनकर आनन्द का अनुभव करें।

यह सूक्त जीवन की पवित्रता पर बल दे रहा है। इस जीवन को पवित्र बनाने के लिए ही अगले सूक्त में प्रभु से अन्धकार को दूर करने के लिये प्रार्थना करते हैं—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अन्धकार-ध्वंसक प्रभु

प्रत्यग्निरुषसश्चेकितानोऽबोधि विप्रः पदवीः कवीनाम्।
पृथुपाजा देवयद्भिः समिद्धोऽप द्वारा तमसो वह्निरावः॥ १ ॥

(१) **प्रति उषसः**=प्रत्येक उषाकाल में **चेकितानः**=जाना जाता हुआ, **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाला, **कवीनाम्**=ज्ञानियों का **पदवीः**=मार्ग, अर्थात् ज्ञानी लोग जिसका स्तवन करते हुए अपने जीवनमार्ग का निर्णय करते हैं वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अबोधि**=जाना जाता है। प्रभु का दर्शन उषाकाल में होता है, यह वह समय है जब कि हम चेतना में आते हैं और अभी संसार की बातों में उलझे नहीं होते। ये प्रभु हमारी न्यूनताओं को दूर करने के लिये सतत प्रेरणा दे रहे हैं। ज्ञानी लोग प्रभु के अनुसार दयालु व न्यायकारी आदि बनने का प्रयत्न करते हैं। (२) ये **पृथुपाजाः**=अनन्त शक्तिवाले प्रभु **देवयद्भिः**=दिव्यगुणों की कामनावाले पुरुषों से अपने हृदयों में **समिद्धः**=दीप्त किए जाते हैं। यह **वह्निः**=हमें उन्नतिपथ पर प्राप्त करानेवाले प्रभु **तमसः द्वारा**=अन्धकार द्वारा निर्गमन द्वारों को **अपावः**=खोल डालते हैं। सारे अन्धकार को हमारे से दूर भगा देते हैं।

भावार्थ—प्रभुदर्शन का उपयुक्त काल ब्राह्ममुहूर्त (उषाकाल) है, ये प्रभु अन्धकार को हमारे से दूर भगा देते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुदर्शन के साधन—'स्तवन व स्वाध्याय'

प्रेद्वग्निर्वावृधे स्तोमेभिर्गीर्भिः स्तोतृणां नमस्य उक्थैः ।
पूर्वीर्ऋतस्य सन्दृशश्चकानः सं दूतो अद्यौदुषसो विरोके॥ २॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **स्तोमेभिः**=स्तुतियों द्वारा तथा **गीर्भिः**=ज्ञानवाणियों द्वारा **इत् उ**=निश्चय से **प्रवावृधे**=बढ़ता है, अर्थात् स्तुतियों व ज्ञानवाणियों द्वारा हम प्रभु के अधिकाधिक समीप होते हैं। वे प्रभु **स्तोतॄणाम्**=स्तोताओं के **उक्थैः**=स्तोत्रों से **नमस्यः**=पूजा योग्य हैं। (२) वे प्रभु पूजित होने पर **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाली **ऋतस्य**=ऋत की, जो ठीक है उसकी अथवा यज्ञ की **संदृशः**=दृष्टियों को **चकानः**=चाहता है व दीप्त करता है। हम प्रभु का पूजन करते हैं, प्रभु हमें ऋत का मार्ग दिखलाते हैं। यही प्रभु का सर्वमहान् अनुग्रह है। (३) **दूतः**=ये ज्ञान का सन्देश देनेवाले प्रभु **उषसः विरोके**=उषाकाल प्रकाशित होने पर **समद्यौत्**=हमारे हृदयों में दीप्त होते हैं। उषाकाल में हम प्रभु का ध्यान करें, तो उस समय एकाग्रता के कारण हम प्रभु के सन्देश को सुन पाते हैं।

भावार्थ—प्रभुपूजन के लिये स्तवन व स्वाध्याय साधन हैं। ये प्रभु हमें ऋत का मार्ग दिखाते हैं। उषाकाल पूजा का सर्वोत्तम काल है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शिखरस्थ-प्रभु

अधाय्यग्निर्मानुषीषु विक्ष्वपां गर्भो मित्र ऋतेन साधन्।
आ हर्यतो यजतः सान्वस्थादभूदु विप्रो हव्यो मतीनाम्॥ ३॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **मानुषीषु विक्षु**=विचारशील मानवहितकारी प्रजाओं में **अधायि**=स्थापित होते हैं। प्रभु का दर्शन विचारशील व मानवहित करनेवाले लोगों को ही होता है। **अपां गर्भः**=वैसे तो वे प्रभु सब प्रजाओं के गर्भभूत हैं। सब के अन्दर प्रभु का निवास है, सब का निवास प्रभु में है। **मित्रः**=ये हमें मृत्यु व रोग से बचानेवाले हैं। **ऋतेन साधन्**=ऋत द्वारा वे प्रभु हमारे सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं। (२) **हर्यतः**=वे गतिशील कान्त **यजतः**=पूज्य प्रभु **सानु आस्थात्**=शिखर पर स्थित हैं। प्रत्येक गुण की चरमसीमा हैं। ज्ञान व शक्ति की पराकाष्ठा ही तो वे प्रभु हैं। **उ**=निश्चय से वे प्रभु **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले **अभूत्**=हैं और अतएव **मतीनाम्**=विचारशील पुरुषों के **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं। प्रभु को पुकारते हुए ये अपनी न्यूनताओं को दूर कर पाते हैं। प्रभु के गुण इनके सामने जीवन के सर्वोत्तम मार्ग को उपस्थित करते हैं।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु का दर्शन विचारशील पुरुषों को होता है। वे प्रभु प्रत्येक गुण की चरमसीमा हैं। वे हमारा पूरण करनेवाले हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सिन्धुओं व पर्वतों का मित्र

मित्रो अग्निर्भवति यत्समिद्धो मित्रो होता वरुणो जातवेदाः।
मित्रो अध्वर्युरिषिरो दमूना मित्रः सिन्धूनामुत पर्वतानाम्॥ ४॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **यत् समिद्धः**=जब दीप्त होते हैं, अर्थात् स्वाध्याय व स्तवन द्वारा जब हृदयों में प्रभु का प्रकाश होता है तो वे **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) हमें पाप व रोगों से बचानेवाले **भवति**=होते हैं। वे **मित्रः**=रोगों व पापों से बचानेवाले प्रभु **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं, **वरुणः**=हमें पापों से बचानेवाले हैं तथा **जातवेदाः**=ज्ञान का प्रकाश करनेवाले हैं। वस्तुतः आवश्यक चीजें देकर, पाप से रोककर तथा ज्ञान प्राप्त कराके ही प्रभु हमारे मित्र होते हैं। (२) वे **मित्रः**=मित्र प्रभु **अध्वर्युः**=हमारे जीवनयज्ञ को चलानेवाले हैं, **इषिरः**=प्रेरणा को देनेवाले हैं तथा **दमूनाः**=सदा हमारे लिये दान के मनवाले हैं, अथवा हमें दान्त मनवाला बनाते हैं। वे प्रभु **मित्रः**=मित्र उन्हीं के हैं जो कि **सिन्धूनाम्**=(स्यन्दन्ते) नदियों के प्रवाह की तरह कर्म के प्रवाहवाले हैं-क्रियाशील स्वभाववाले हैं। **उत**=और **पर्वतानाम्**=(पर्व पूरणे) जो आत्मालोचन द्वारा अपनी कमियों को देखकर उन कमियों को दूर करनेवाले हैं। कमियों को दूर करके अपना पूरण करनेवाले हैं। इन सिन्धुओं व पर्वतों के ही प्रभु मित्र हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशील व न्यूनताओं को दूर करने की वृत्तिवाले बनें। ऐसा होने पर हम प्रभु की मित्रता पा सकेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन कदमों को रखकर प्रभु के समीप पहुँचना

पाति प्रियं रिपो अग्रं पदं वेः पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य।
पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः पाति देवानामुपमादमृष्वः॥ ५॥

(१) **रिपः**=(रिप्-क) हृदयस्थरूपेण उपदेश देनेवाले वे प्रभु **वेः**=इस गतिशील पृथ्वी के **अग्रम्**=श्रेष्ठ **प्रियम्**=प्रिय **पदम्**=कदम को **पाति**=रक्षित करते हैं। 'पृथ्वी का कदम' शरीर को स्वस्थ रखना है ('पृथिवी शरीरम्')। यह मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है, इसके बिना अगले कदमों का रखना सम्भव ही नहीं। यह प्रिय इसलिए है कि स्वास्थ्य में ही सब आनन्दों का आधार है। स्वास्थ्य न होने पर सब आनन्द नीरस हो जाते हैं। प्रभु भोजनादि के विषय में उचित प्रेरणा देते हुए हमें स्वस्थ रहने योग्य बनाते हैं। (२) **यह्वः**=वे महान् प्रभु **सूर्यस्य**=सूर्यसम्बन्धी **चरणम्**=कदम का **पाति**=रक्षण करते हैं। यही द्युलोक सम्बद्ध कदम है। 'द्युलोक में जैसे सूर्योदय होता है, इसी प्रकार मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-सूर्य का उदय' यह दूसरा कदम है। (३) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **नाभा**=इन दोनों के मध्य में, नाभि में, अन्तरिक्ष में **सप्तशीर्षाणम्**=सात सिरोंवाले को **पाति**=सुरक्षित करता है। हृदय में धर्मभावना का रक्षण ही अन्तरिक्ष सम्बन्धी कदम है। 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः' इस मन्त्रभाग में सप्त मर्यादाओंवाले धर्म का संकेत है, ये सात मर्यादाएँ ही धर्म के सात सिर हैं। यास्क के शब्दों में ये सात मर्यादाएँ इस प्रकार होती हैं—'**स्तेयम्**=चोरी, **तल्पारोहणम्**=परस्त्रीगमन, **ब्रह्महत्या**=वेदज्ञ ब्राह्मण की हत्या अथवा अस्वाध्याय, **भ्रूणहत्या**=गर्भपात, **सुरापान**=शराब पीना, **दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः-पुनः सेवा**=बुरे काम का बार-बार करना, **पातके अनृतोघम्**=किसी पाप के छिपाने में झूठ बोलना।' (४) एवं पहला कदम 'शरीर को स्वस्थ बनाना, दूसरा ज्ञानसूर्योदय तथा तीसरा हृदय में सात मर्यादाओं के पालन की वृत्ति है। वह **ऋष्वः**=दर्शनीय प्रभु **देवानाम्**=तीन कदमों को रखकर देव बन जानेवाले पुरुषों के **उपमादम्**=परमेश्वर की उपासना में प्राप्त होनेवाले आनन्द का **पाति**=रक्षण करते हैं। देववृत्तिवाले पुरुष प्रभु का उपासन करते हैं और आनन्द को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हमारा शरीर स्वस्थ हो, मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य उदित हो, हृदय में सात मर्यादाओंवाले

धर्मपालन का भाव हो। इस प्रकार देव बनकर प्रभु की उपासना में हम आनन्द का अनुभव करें। तीन कदम रख कर हम चौथे स्थान में प्रभु के उपासक होते हैं 'सोमनात्मा चतुष्पात्'।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ऋभुकृत 'प्रभु-स्मरण'

ऋभुश्चक्र ईड्यं चारु नाम विश्वानि देवो वयुनानि विद्वान्।
ससस्य चर्म घृतवत्पदं वेस्तदिदग्नी रक्षत्यप्रयुच्छन् ॥ ६ ॥

(१) **ऋभुः**='ऋतेन भाति' ऋत से-ठीक कार्यों से दीप्त होनेवाला पुरुष **ईड्यम्**=स्तुति योग्य **चारु नाम**=सुन्दर नाम को **चक्रे**=करता है, अर्थात् उत्तमता से प्रभु का नामस्मरण करता है। उसके प्रभुस्मरण का प्रकार यह है कि—'वह **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं, अर्थात् वे प्रभु सर्वज्ञ हैं। मेरा कोई भी विचार उस प्रभु से अज्ञात नहीं। (२) उस **वेः**=सर्वव्यापक-सर्वत्र गतिवाले प्रभु का **पदम्**=मार्ग **घृतवत्**=मलों के क्षरण व दीप्तिवाला है। उस प्रभु की ओर चलने से हमारे मानस-मल दूर होते हैं और हमारा ज्ञान सूर्य की तरह चमक उठता है। यह प्रभु का मार्ग **ससस्य चर्म**=अन्न की ढाल है। यह हमारे भोजनों में मद्य-मांसादि को प्रविष्ट नहीं होने देता। प्रभुस्मरण करनेवाला व्यक्ति, सभी को प्रभुपुत्र के रूप में देखता हुआ, कभी भी परमांस से स्वमांस के पोषण का विचार भी नहीं कर सकता। (३) वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अप्रयुच्छन्**=किसी भी प्रकार का प्रमाद न करता हुआ **तद् इदम्**=इस विस्तृत ब्रह्माण्ड का **रक्षति**=रक्षण करते हैं।

भावार्थ—ऋतमार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति प्रभुस्मरण करता हुआ कहता है कि प्रभु सर्वत्र हैं, हमारे भोजनों को विकृत नहीं होने देते, हमें ज्ञानदीप्त बनाते हैं और हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दीप्त, पवित्र व गतिमय'

आ योनिमग्निर्घृतवन्तमस्थात् पृथुप्रगाणमुशन्तमुशानः ।
दीद्यानः शुचिर्ऋष्वः पावकः पुनःपुनर्मातरा नव्यसी कः ॥ ७ ॥

(१) **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **उशानः**=प्रभुप्राप्ति की कामना करता हुआ **उशन्तम्**=सब का हित चाहनेवाले, **घृतवन्तम्**=ज्ञानदीप्तिवाले, **योनिम्**=सब के उत्पत्ति-स्थान, **पृथुप्रगाणम्**=विशाल गतिवाले अथवा विस्तृत यशवाले प्रभु में **आ अस्थात्**=सर्वथा स्थित होता है। (२) यह प्रभु में स्थित होनेवाला **दीधानः**=ज्ञानज्योति से दीप्त होता है **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला होता है, **ऋष्वः**=गतिशील होता है। मस्तिष्क में 'दीद्यान', हृदय में 'शुचि' और शरीर व हाथों में 'ऋष्व'। इस प्रकार यह 'ज्ञान, भक्ति व कर्म' तीनों का अपने जीवन में समन्वय करता है। **पावकः**=औरों के जीवन को भी पवित्र बनाने का ध्यान करता है। **पुनः पुनः**=फिर-फिर **मातरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक रूप माता-पिता को, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को (द्यौः=मस्तिष्क, पृथिवी=शरीर) **नव्यसी**=अत्यन्त स्तुत्य **कः**=बनाता है। मस्तिष्क में 'ब्रह्म' के व शरीर में 'क्षत्र' के विकास का ध्यान करता है। ब्रह्म और क्षत्र का विकास करके यह प्रभु का मित्र बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु में स्थित हों, अपने जीवन को 'दीप्त, पवित्र व गतिमय' बनाएँ। ब्रह्म व क्षत्र का विकास करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वानस्पतिक भोजन

सद्यो जात ओषधीभिर्ववक्षे यदी वर्धन्ति प्रस्वो घृतेन।
आप इव प्रवता शुम्भमाना उरुष्यदग्निः पित्रोरुपस्थे ॥ ८ ॥

(१) विद्यार्थी आचार्यकुल में आचार्य के समीप रहता हुआ, विद्याध्ययन की समाप्ति पर जिस दिन वापिस घर को लौटता है, यह उसका द्वितीय जन्म माना जाता है। 'तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः' इस उत्पन्न हुए-हुए को देखने के लिये देव लोग एकत्र होते हैं। यह **सद्यः जातः**=शीघ्र जन्म को प्राप्त हुआ-हुआ **ओषधीभिः ववक्षे**=ओषधियों से वृद्धि प्राप्त करता है। आचार्यकुल में तो वन्य फल-मूल आदि ही इसके पवित्र भोजन होते थे। अब गृहस्थ में आने पर भी यह वानस्पतिक भोजन पर ही अपना आधार रखता है। यह मांस-भोजन में प्रवृत्त नहीं हो जाता। (२) **यत् ई**=चूँकि निश्चय से **घृतेन**=घृत के साथ **प्रस्वः**=फल ही **वर्धन्ति**=इसके वर्धन का कारण बनते हैं (वर्धयन्ति)। इसलिए यह **शुम्भमानाः आपः**=शोभायमान जल **इव**=जैसे **प्रवता**=निम्न मार्ग से गतिवाले होते हैं, इसी प्रकार नम्रता से सदा गतिशील बना रहता है। इसकी क्रिया जल-प्रवाह की तरह शान्त व स्वाभाविक-सी हो जाती है और यह कभी उन कर्मों का गर्व नहीं करता। (३) यह **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **पित्रेः उपस्थे**=द्युलोक व पृथिवीलोक रूप पिता-माता की गोद में **उरुष्यत्**=अपने को सुरक्षित रखता है। मस्तिष्क व शरीर में ब्रह्म व क्षत्र के ठीक विकास द्वारा यह जीवन को बड़ा सुन्दर बना पाता है।

भावार्थ—हमें अपना भोजन फल-फूल, घृत आदि शुद्ध वानस्पतिक पदार्थों को ही रखना चाहिए। इससे हमारे जीवन में नम्रतायुक्त क्रियाशीलता बनी रहती है और ब्रह्म-क्षत्र का ठीक विकास होकर जीवन सुरक्षित रहता है और वासनाओं व रोगों के आक्रमण से बचा रहता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'स्तुति+ज्ञान+यज्ञात्मक कर्म'

उदु ष्टुतः समिधा यह्वो अद्यौद्वर्ष्मन्दिवो अधि नाभा पृथिव्याः।
मित्रो अग्निरीड्यो मातरिश्वा दूतो वक्षद्यजथाय देवान् ॥ ९ ॥

(१) **उ**=निश्चय से **स्तुतः**=स्तुति किया गया **यह्वः**=महान् प्रभु **समिधा**=ज्ञानदीप्ति द्वारा **दिवः वर्ष्मन्**=द्युलोक के शिखर पर, अर्थात् ज्ञान के उत्कर्ष में तथा **पृथिव्याः नाभा अधि (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः)**=यज्ञों में **उद् अद्यौत्**=उत्कर्षेण दीप्त होता है। प्रभुप्रकाश के लिये 'स्तुति, ज्ञान व यज्ञ' तीनों का समन्वय आवश्यक है। 'स्तुतः' शब्द स्तुति के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। **'दिवः वर्ष्मन्'** से ज्ञान का महत्त्व स्पष्ट है, तथा 'पृथिव्याः नाभा' शब्द यज्ञ की आवश्यकता को स्पष्ट कर रहे हैं। (२) यह दीप्त हुए-हुए प्रभु **मित्रः**=हमें रोगों से बचानेवाले हैं, **अग्निः**=हमारी अग्रगति के कारण हैं, **ईड्यः**=स्तुति योग्य हैं। यह स्तुति ही तो हमारे सामने लक्ष्यदृष्टि को उपस्थित करके हमें आगे ले चलती है। **मातरिश्वा**=ये प्रभु वेदमाता में वृद्धि को प्राप्त होते हैं, अर्थात् ये वेद प्रभु का ही मुख्यतया प्रतिपादन कर रहे हैं। **दूतः**=ये हमारे लिये ज्ञान-सन्देश देनेवाले हैं। ये **देवान्**=देववृत्ति के लोगों को **यजथाय**=यज्ञ के लिये **वक्षत्**=(आवहत्) प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभुदर्शन 'स्तुति, ज्ञान व कर्म' के समन्वय से होता है और प्रभु ही हमें यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

क्रियामयता+ज्ञानशीलता=स्वर्ग

उदस्तम्भीत्समिधा नाकमृष्वो३ऽग्निर्भवन्नुत्तमो रोचनानाम्।
यदी भृगुभ्यः परि मातरिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहं समीधे॥ १०॥

(१) **ऋष्वः**=गतिशील पुरुष-सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्तिवाला पुरुष **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **नाकम्**=स्वर्गलोक को-सुखमय लोक को **उद् अस्तम्भीत्**=थामनेवाला होता है। ये यज्ञादि कर्म तथा ज्ञान उसे स्वर्ग प्राप्त कराते हैं-इसका गृहस्थ एक स्वर्ग ही बन जाता है। (२) यह **रोचनानाम्**=ज्ञान से दीप्त पुरुषों में **उत्तम**=श्रेष्ठ **भवन्**=होता हुआ **अग्निः**=आगे और आगे बढ़ता है। यह सब होता तभी है **यदि**=जब यह **मातरिश्वा**=वेदवाणी में गतिवाला-वेद का स्वाध्याय करनेवाला और तदनुसार गति करनेवाला, **भृगुभ्यः परि**=ज्ञान-परिपक्व (विदग्ध) आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करके उस **गुहा सन्तम्**=हृदय रूप गुहा में होनेवाले **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों के देनेवाले प्रभु को **समीधे**=अपने अन्दर समिद्ध करता है। वस्तुतः प्रभुदर्शन से ही मनुष्य की प्रवृत्ति यज्ञादि में होती है और वह ज्ञान की रुचिवाला बनता है।

भावार्थ—'क्रियामय ज्ञानप्रवण' व्यक्ति अपने जीवन को स्वर्ग बना पाता है। इस प्रकार का यह तब बनता है जब कि आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वेदज्ञान+उत्तम सन्तान+उत्तम मति

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ११॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **हवमानाय**=आराधना करनेवाले के लिये-आपको पुकारनेवाले के लिये, **इडाम्**=इस वेदवाणी को **साध**=सिद्ध कीजिए। जो वेदवाणी **पुरुदंसम्**=पालक व पूरक (पुरु) कर्मों (दंस) का उपदेश देनेवाली है। **गोः सनिम्**=ज्ञान प्राप्त करानेवाली है तथा **शश्वत्तमम्**=सनातन काल से चली आ रही है। (२) **नः**=हमारा **सूनुः**=सन्तान (Son) भी **तनयः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला तथा **विजावा**=विशिष्ट विकासवाला **स्यात्**=हो। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सा**=वह **ते**=आपकी **सुमतिः**=कल्याणी मति **अस्मे**=हमारे लिये **भूतु**=हो।

भावार्थ—उत्तम कर्मों का उपदेश देनेवाली सनातन वेदवाणी हमें प्राप्त हो। हमारा सन्तान उत्तम हो, हमें सुमति प्राप्त हो।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुस्मरण द्वारा जीवन को उत्तम बनाने पर बल दे रहा है। अगले सूक्त में भी इसी उत्तम जीवन का चित्रण है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुस्तवन व यज्ञशीलता

प्र कारवो मनना वच्यमाना देवद्रीचीं नयत देवयन्तः।
दक्षिणावाड् वाजिनी प्राच्यैति हविर्भरन्त्यग्नये घृताची॥ १॥

(१) **कारवः**=कुशलता से कर्म करनेवालो! **देवयन्तः**=प्रभुप्राप्ति की कामनावालो! **मनना**

वच्यमानाः=मनन द्वारा प्रेरित किए जाते हुए पुरुषो! **देवद्रीचीम्**=उस देव की ओर जानेवाली वाणी को **प्र नयत**=प्राप्त कराओ। 'कारु, देवयन् व मनना वच्यमान' पुरुषों को प्रभु का स्मरण करना चाहिए ताकि वे सचमुच उत्तम जीवनवाले बन पाएँ। (२) हे **अग्ने**=प्रभो! इन व्यक्तियों के जीवन में **दक्षिणावाड्**=दक्षिणा व दान प्राप्त करानेवाली, **वाजिनी**=इनके जीवनों को शक्तिशाली बनानेवाली, **हविः भरन्ती**=हवि का भरण करती हुई, **घृताची**=घृत से सक्त 'जुहू' चम्मच **प्राची एति**=सब से आगे आनेवाली होती है, अर्थात् इनके जीवनों में यज्ञों का स्थान प्रमुख होता है। ये यज्ञ इन्हें शक्तिशाली बनाते हैं। यज्ञियवृत्ति भोग्यवृत्ति की विरोधिनी होने से इनकी शक्ति को नष्ट नहीं होने देती। इन यज्ञों का प्रारम्भ अग्निहोत्र से होता है। इस अग्निहोत्र में चम्मच घृताक्त होता है और हव्यद्रव्यों से पूर्ण होता है। यह व्यक्ति लोकहित के लिये सदा दान की वृत्तिवाला बना रहता है।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन करें और यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सात छन्दोंवाली वेदवाणी द्वारा प्रेरणा

आ रोदसी अपृणा जायमान उत प्र रिक्था अध नु प्रयज्यो।

दिवश्चिदग्ने महिना पृथिव्या वच्यन्तां ते वह्नयः सप्तजिह्वाः॥ २॥

(१) हे परमात्मन्! **जायमानः**=प्रादुर्भूत होते हुए आप **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **आ अपृणाः**=समन्तात् पूरित कर रहे हैं-इनमें भरे हुए हैं। **उत**=और हे **प्रयज्यो**=प्रकर्षेण **यष्टव्य**=उपास्य प्रभो! हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **महिना**=अपनी महिमा से **दिवः चित्**=द्युलोक से भी **अध नु**=और निश्चय से **पृथिव्याः**=पृथिवी से भी **प्ररिक्थाः**=अतिरिक्त हैं-बढ़े हुए हैं। ये द्युलोक व पृथिवीलोक आपकी महिमा को सीमित नहीं कर पाते। (२) **ते**=आपकी **सप्तजिह्वाः**=सात छन्दरूप जिह्वाओंवाली **वह्नयः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाली वेदवाणियाँ **वच्यन्ताम्**=उच्चारण की जाएँ। इन द्वारा अपने कर्त्तव्यों को जानकर हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। हमारे हृदयों में भी स्थित हैं। उनसे हम सात छन्दोंवाली वेदवाणियों द्वारा कर्त्तव्यज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शुक्र अर्चि' की उपासना

द्यौश्च त्वा पृथिवी यज्ञियासो नि होतारं सादयन्ते दमाय।

यदी विशो मानुषीर्देवयन्तीः प्रयस्वतीरीळते शुक्रमर्चिः॥ ३॥

(१) **द्यौः**=यह द्युलोक **पृथिवी च**=और पृथिवी लोक तथा **यज्ञियासः**=पूज्य व संगतिकरण-योग्य माता, पिता व आचार्य आदि देव **होतारं त्वा**=सब कुछ देनेवाले आपको **दमाय**=हमारे इस शरीररूप गृह के लिये **निसादयन्ते**=निश्चय से बिठाते हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक के प्रत्येक पिण्ड में आपकी महिमा को देखता हुआ मैं अपने हृदय में आपका ध्यान करने के लिये प्रवृत्त होता हूँ। इसी प्रकार माता, पिता, आचार्य आदि यज्ञिय देव मुझे आपकी ओर झुकाते हैं। वे अपने उपदेशों व शिक्षणों से आपको मेरे हृदय में स्थापित करते हैं। हृदय में आपका ध्यान करता हुआ मैं इन्द्रियों, मन व बुद्धि पर शासन करनेवाला बनता हूँ। मेरा यह शरीर वस्तुतः 'दम' बन जाता है। (२) ऐसा होने पर वह स्थिति आती है **यदि** (यदा)=जब कि **देवयन्तीः**=उस महान् देव प्रभु को

प्राप्त करने की कामनावाली होती हुई, **प्रयस्वतीः**=उन्नति के लिये उद्योगवाली (यस्) व सात्त्विक अन्न का (प्रयस्) सेवन करनेवाली **मानुषी विशः**=विचारशील प्रजाएँ उस प्रभु के **शुक्रम्**=शुद्ध-देदीप्यमान **अर्चिः**=(light, lustre) प्रकाश की **ईडते**=उपासना करते हैं। इन्हें ज्ञान ही रुचिकर होता है-इनका झुकाव ही ज्ञान की ओर हो जाता है। प्रकृति=प्रवण न रहकर ये प्रभुप्रवण हो जाते हैं।

भावार्थ—जब हम प्रभु को अपने हृदयों में आसीन कर पाते हैं, तब हम ज्ञान की ही रुचिवाले हो जाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उस 'उरुगाय' की दो धेनुएँ

म॒हान्त्स॒धस्थे॑ ध्रु॒व आ निष॑त्तो॒ऽन्तर्द्यावा॑ माहि॑ने॒ हर्य॑माणः।

आस्क्रे॑ स॒पत्नी॑ अ॒जरे॒ अमृ॑क्ते सब॒र्दुघे॑ उरुगा॒यस्य॑ धे॒नू॥ ४॥

(१) **महान्**=वह पूजनीय प्रभु **सधस्थे**=जीव और प्रभु मिलकर बैठने के स्थान (सह+स्थ) हृदय में **ध्रुवः**=स्थिरता से विद्यमान है। वह प्रभु **द्यावा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के **अन्तः**=अन्दर **आनिषत्तः**=चारों ओर निषण्ण है। सर्वत्र उस प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है। ये प्रभु **माहिने**=पूजा करनेवाले के लिये **हर्यमाणः**=गति व कान्तिवाले होते हैं। इस पूजा करनेवाले को ही प्रभु प्राप्त होते हैं, इसे ही वे चाहते हैं। (२) ये द्युलोक व पृथिवीलोक **आस्क्रे**=आक्रमणशील हैं-वस्तुतः इस ब्रह्माण्ड का कोई पदार्थ ठहरा हुआ नहीं। **सपत्नी**=ये एक ही प्रभुरूप पतिवाले हैं, **अजरे**=कभी जीर्ण नहीं होते-द्युलोक व पृथिवी लोक जीर्ण होकर न्यूनशक्ति होते जाते हों सो बात नहीं है। **अमृक्ते**=ये किसी से हिंसित नहीं हो सकते। **सबर्दुघे**=अमृतरूप जल का ये दोहन करनेवाले हैं। पृथ्वी से वाष्पीभूत होकर पानी ऊपर जाता है और फिर घनीभूत होने पर बिन्दुओं में परिणत होकर बरसता है। यह जल अमृत ही होता है। इस प्रकार ये द्युलोक व पृथिवी लोक उस **उरुगायस्य**=विशाल गति व अनन्त स्तुतिवाले प्रभु की **धेनू**=दो प्रीणन करनेवाली गायें ही हैं। प्रभु इनद्वारा सभी प्राणियों का पोषण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु द्युलोक व पृथिवीलोक रूप दो धेनुओं द्वारा सभी का पालन कर रहे हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महतो महान् प्रभु

व्र॒ता ते॑ अग्ने मह॒तो म॒हानि॒ तव॒ क्रत्वा॒ रोद॑सी॒ आ त॑तन्थ।

त्वं दू॒तो अ॑भवो॒ जाय॑मान॒स्त्वं ने॒ता वृ॑षभ चर्षणी॒नाम्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **महतः**=महान् व पूजनीय **ते**=आपके **व्रता महानि**=कर्म भी महान् हैं। ब्रह्माण्ड में यह पृथ्वीलोक अत्यन्त छोटा होता हुआ भी कितना महान् हैं। जीव के लिये तो यह भी अनन्त-सा प्रतीत होता है। पन्द्रह मिनिट की वृष्टि विशाल जलधाराओं के प्रवाह का कारण हो जाती है। (२) आप **तव**=अपने **क्रत्वा**=प्रज्ञान व शक्ति से **रोदसी**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक को **आततन्थ**=विस्तृत करते हैं और **जायमानः**=हमारे हृदयों में आविर्भूत होते हुए **त्वम्**=आप **दूतः अभवः**=हमारे लिये ज्ञानसन्देश देनेवाले होते हैं। हे **वृषभ**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले शक्तिशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **चर्षणीनाम्**=श्रमशील व्यक्तियों के **नेता**=नेतृत्व करनेवाले-उन्हें मार्गदर्शन करनेवाले हैं। पुरुषार्थियों को प्रभु सदा उचित मार्ग से ले चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु महान् हैं, उनके व्रत महान् हैं। सब लोकों का वे विस्तार करते हैं, जीवों को ज्ञानसन्देश देते हैं और पुरुषार्थियों का वे मार्गदर्शन करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

कैसी ज्ञानेन्द्रियाँ व कैसी कर्मेन्द्रियाँ?

ऋतस्य वा केशिना योग्याभिर्घृतस्नुवा रोहिता धुरि धिष्व।
अथा वह देवान्देव विश्वान्त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः॥ ६॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप हमारे इस शरीररथ के **धुरि**=जुए में **धिष्व**=उन इन्द्रियाश्वों को धारण कीजिये जो कि **ऋतस्य केशिना**=ऋत के प्रकाशक हैं (नि० १२.२५), सत्यज्ञान देनेवाले हैं तथा **योग्याभिः**=उचित क्रियाओं के निरन्तर अभ्यास द्वारा (Exercise) **घृतस्नुवा**=निर्मलता को टपकानेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थों का ठीक प्रकाशन करती हैं तो कर्मेन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहकर मलिनता को नहीं आने देतीं। (२) **अथ**=अब **देव**=हे दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमें **विश्वान् देवान्**=सब देवों को-सब दिव्यगुणों को **आवह**=प्राप्त कराइए और हमें **स्वध्वरा**=उत्तम यज्ञोंवाला **कृणुहि**=करिए।

भावार्थ—आपकी कृपा से हम दिव्यगुणों को अपने में धारण करें और सदा उत्तम यज्ञादि कर्मों के करनेवाले बनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति

दिवश्चिदा ते रुचयन्त रोका उषो विभातीरनु भासि पूर्वीः।
अपो यदग्न उशधग्वनेषु होतुर्मन्द्रस्य पनयन्त देवाः॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते रोकाः**=तेरी दीप्तियाँ **दिवः चित्**=सूर्य से भी अधिक **रुचयन्त**=चमकती हैं। 'दिवि सूर्यसहस्रस्य०' इन शब्दों में प्रभु की दीप्ति को हजारों सूर्यों की दीप्ति से भी अधिक ही कहा है। आप ही **विभातीः**=चमकती हुई **पूर्वीः**=इन पालन व पूरण करनेवाली **उषः**=उषाओं को **अनुभासि**=दीप्त करते हैं, अथवा इन उषाकालों में प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है। (२) हे अग्ने! **यत्**=जब **वनेषु**=इन उपासकों में आप **अपः**=इन रेतःकणरूप जलों की **उशधक्**=कामना करते हैं-चाहते हैं और जला देते हैं तब **देवाः**=ये देववृत्ति के लोग **होतुः**=सब कुछ देनेवाले **मन्द्रस्य**=आनन्दमय व स्तुत्य आपका **पनयन्त**=स्तवन करते हैं। 'रेतःकणों का उत्पन्न होना और उनका ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना' यह प्रभुकृपा से ही होता है। जब ये रेतःकण विनष्ट न होकर शरीर में ही व्ययित होते हैं तो उस समय हमारी वृत्ति देववृत्ति बनती है। हम तब प्रभु का शंसन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—'क्या सूर्य, क्या उषा' ये सब प्रभु की दीप्ति से दीप्त हैं। मानवहृदय को भी प्रभु ही दीप्त करते हैं। इसके लिये वे रेतःकणों को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्व-देवाधिष्ठानता

उरौ वा ये अन्तरिक्षे मदन्ति दिवो वा ये रोचने सन्ति देवाः।
ऊमा वा ये सुहवासो यजत्रा आयेमिरे रथ्यो अग्ने अश्वाः॥ ८॥

(१) **ये**=जो **देवाः**=देव **उरौ अन्तरिक्षे वा**=या तो इस विशाल अन्तरिक्षलोक में **मदन्ति**=हर्ष का अनुभव करते हैं **वा**=या **ये**=जो **दिवः रोचने**=द्युलोक के प्रकाशमय प्रदेश में **सन्ति**=हैं, **वा**=अथवा **ये**=जो **ऊमाः**=हमारे रक्षक यहाँ पृथिवी पर स्थित **सुहवासः**=सुगमता से पुकारने योग्य **यजत्राः**=संगतिकरण योग्य व पूज्य देव हैं, ये सब देव **आयेमिरे**=हमें प्राप्त कराए जाते हैं। 'द्युलोक के ग्यारह देव, अन्तरिक्ष के ग्यारह देव तथा पृथिवी के ग्यारह देव' ये सब तेतीस देव हमें प्राप्त हों। हमारा शरीर सब देवों का अधिष्ठान बने। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **रथ्यः**=शरीर-रथ के वहन में उत्तम **अश्वाः**=इन्द्रियरूप अश्व हमें प्राप्त हों। इन अश्वों द्वारा हमारा यह शरीर-रथ लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाला हो।

भावार्थ—हमारा शरीर सब देवों का अधिष्ठान बने और उत्तम इन्द्रियाश्वों से युक्त होकर यह शरीर-रथ हमें लक्ष्य पर पहुँचानेवाला हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

महादेव का आगमन

ऐभि॑रग्ने स॒रथं॑ याह्य॒र्वाङ् नाना॑र॒थं वा॑ वि॒भवो॒ ह्यश्वाः॑।
पत्नी॑वतस्त्रिं॒शतं॒ त्रींश्च॑ दे॒वान॑नुष्व॒धमा व॑ह मा॒दय॑स्व ॥ ९ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! देवों के अग्रणी प्रभो! **एभिः**=इन, गतमन्त्र में उल्लिखित देवों के साथ **सरथम्**=समान रथ पर आरूढ़ हुए-हुए आप **अर्वाङ् आयाहि**=हमें अन्दर प्राप्त होइए। हमारे अन्दर देवों का निवास हो, देवों के निवास के साथ हम आपको अपने हृदयों में आसीन कर सकें। **वा**=अथवा यदि इस शरीर में हम आपको न भी प्राप्त कर सकें तो **नानारथम्**=इस शरीर से भिन्न शरीरों में हम आपको पानेवाले बनें। हम आपकी प्राप्ति के मार्ग पर चलते हुए इस जन्म में मार्ग का पूरा आक्रमण न कर सकें तो अगले जन्म में इसी यात्रा को करते हुए आप तक पहुँचनेवाले बनें। मार्गभ्रष्ट न हों। आपके दिये हुए **अश्वाः**=ये इन्द्रियाश्व **हि विभवः**=निश्चय से हमें आप तक पहुँचाने में समर्थ हैं। हम भटकेंगे नहीं तो अवश्य आपको प्राप्त करेंगे ही। (२) **पत्नीवतः**=पत्नियोंवाले **त्रिंशतम्**=तीस **त्रीन् च**=और तीन, अर्थात् तेतीस **देवान्**=देवों को **अनुष्वधम्**=आत्मतत्त्व के धारण का लक्ष्य करके **आवह**=प्राप्त कराइए। और **मादयस्व**=हमें इस जीवन में वास्तविक हर्ष को दीजिए। देवों की शक्ति ही देवपत्नी कहलाती है। हम शक्ति सहित देवों का धारण करें। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है। देवों के धारण से ही महादेव का धारण होता है। उस प्रभु के धारण में ही आनन्द है।

भावार्थ—देवों को धारण करते हुए हम इसी जीवन में व अगले जीवन में प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। इसी में आनन्द है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम मस्तिष्क व शरीर

स होता॒ यस्य॒ रोद॑सी चिदु॒र्वी य॒ज्ञंय॑ज्ञम॒भि वृ॒धे गृ॑णी॒तः।
प्राची॑ अध्व॒रेव॑ तस्थतुः सु॒मेके॑ ऋ॒ताव॑री ऋ॒तजा॑तस्य स॒त्ये ॥ १० ॥

(१) **सः**=गतमन्त्र में प्रभु का आवाहन करनेवाला साधक **होता**=सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है-यह भोगवृत्ति को नहीं अपनाता। यह वह होता है **यस्य**=जिस के **रोदसी**=द्यावापृथिवी, मस्तिष्क और शरीर **चित्**=निश्चय से **उर्वी**=विस्तीर्ण होते हैं। यह शरीर और

मस्तिष्क की शक्ति को बढ़ाता है। इसके मस्तिष्क और शरीर **यज्ञं यज्ञम्**=प्रत्येक यज्ञ की **अभि**=ओर चलते हैं और **वृधे**=वृद्धि के लिये **गृणीतः**=उन यज्ञों का ही उच्चारण करते हैं, अर्थात् इसके मस्तिष्क और शरीर यज्ञ की ही अभिरुचि व झुकाववाले होते हैं। यह यज्ञों को ही सोचता है, यज्ञों को ही करता है। (२) इसके मस्तिष्क और शरीर **प्राची**=आगे बढ़नेवाले, **अध्वरा इव**=यज्ञमय से, **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाले **ऋतावरी**=ऋत का अवन (रक्षण) करनेवाले होकर **तस्थतुः**=स्थित होते हैं। **ऋतजातस्य**=ऋत के प्रादुर्भाववाले इस व्यक्ति के ये द्यावापृथिवी **सत्ये**=बिलकुल ठीक होते हैं। शरीर बिलकुल नीरोग, मस्तिष्क दीप्तिमय। ये इसे आगे बढ़ाते हैं (प्राची), इसके जीवन को यज्ञमय बनाते हैं (अध्वरा इव) सदा शुभ कर्मों को कराते हैं (सुमेके) और इसके जीवन में ऋत का रक्षण करते हैं (ऋतावरी)।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों उत्तम हों-हमें यज्ञप्रवण करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वेदज्ञान-उत्तम सन्तान-सुमति

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ११ ॥

व्याख्या ५.११ पर द्रष्टव्य है।

प्रभु से जीवन को उत्तम बनाने के लिये प्रार्थना से परिपूर्ण यह सूक्त है। अगले सूक्त में उत्तम जीवन का चित्रण करते हुए कहते हैं—

अथ तृतीयाऽष्टके प्रथमोऽध्यायः

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

माता-पिता का संचरण

प्र य आरुः शितिपृष्ठस्य धासेरा मातरा विविशुः सप्त वाणीः।
परिक्षिता पितरा सं चरेते प्र सर्स्राते दीर्घमायुः प्रयक्षे ॥ १ ॥

(१) **ये**=जो **प्र आरुः**=प्रकृष्ट मार्ग पर चलते हैं-उस प्रभु के प्रकृष्ट मार्ग पर जो कि **शितिपृष्ठस्य**=(शिति=White) देदीप्यमान पृष्ठवाले हैं, अर्थात् चमकते हैं और **धासेः**=धारण करनेवाले हैं। प्रभु की कल्पना प्रकाश के ही रूप में होती है। वे प्रभु सूर्य की तरह दीप्त हैं 'आदित्यवर्ण' हैं। (२) **ये**=जो **मातरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **विविशुः**=प्रवेश करते हैं, मस्तिष्क व शरीर का उत्तम निर्माण करते हैं और **सप्त वाणीः**=सात छन्दों में प्रतिपादित वेदवाणियों में प्रवेश करते हैं। (३) इनके जीवन में **परिक्षिता**=चारों ओर वर्तमान-व्याप्त **पितरा**=द्युलोक व पृथ्वीलोक **संचरेते**=मिलकर गतिवाले होते हैं, अर्थात् यह मस्तिष्क और शरीर दोनों की समन्वित उन्नति करनेवाला होता है। मस्तिष्क में ब्रह्म तथा शरीर में क्षत्र का विकास करता है। इस प्रकार विकसित हुए-हुए ब्रह्म और क्षत्र इसके **आयुः**=जीवन को **प्रयक्षे**=प्रकृष्ट यज्ञों की सिद्धि के लिये **दीर्घं प्रसर्स्राते**=अत्यन्त दीर्घ कर देते हैं, अर्थात् यह व्यक्ति दीर्घजीवन को प्राप्त करता है और उस जीवन में यज्ञशील होता है।

भावार्थ—हम प्रभु के मार्ग पर चलें, शरीर व मस्तिष्क दोनों के विकास का ध्यान करें, वेद

का स्वाध्याय करें (ज्ञानोपार्जन करें) इससे हमारे में ब्रह्म व क्षत्र का विकास होकर हमें दीर्घ जीवन प्राप्त होगा और वह जीवन यज्ञमय होगा।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानवाणियों की प्राप्ति

दिवक्षसो धेनवो वृष्णो अश्वा देवीरा तस्थौ मधुमद्वहन्तीः।
ऋतस्य त्वा सदसि क्षेमयन्तं पर्येका चरति वर्तनिं गौः॥ २॥

(१) **वृष्णः**=इस गतमन्त्र के अनुसार जीवन बनानेवाले शक्तिशाली पुरुष के **अश्वाः**=इन्द्रियाश्व **दिवक्षसः**=ज्ञान के प्रकाश में निवास करनेवाले (दिव्+क्षि) तथा **धेनवः**=उत्तम कर्मों द्वारा प्रीणित करनेवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान में निवास करती हैं तो कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत होती हैं। (२) यह व्यक्ति **मधुमद् वहन्तीः**=अत्यन्त माधुर्ययुक्त ज्ञान प्राप्त कराती हुई **देवीः**=दिव्यगुणों की जननी इन वेदवाणियों का **आतस्थौ**=अधिष्ठाता बनता है। इनका अध्ययन करता हुआ इनका अत्यन्त परिमार्जन करता है। (३) **ऋतस्य**=ऋत के-ठीक ज्ञान व ठीक कर्मों के **सदसि**=गृह में **क्षेमयन्तम्**=निवास को चाहते हुए **वर्तनिम्**=उस ज्ञान के अनुसार वर्तनेवाले **त्वा**=तुझ को **एका**=यह अद्वितीय **गौः**=वेदवाणी **परिचरति**=सेवित करती है। वेदवाणी इसके कार्यों को सिद्ध करती है।

भावार्थ—हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति में लगें और कर्मेन्द्रियाँ उत्तम कर्मों में। वेदवाणी के हम प्रिय हों। सदा ऋत में निवास की कामनावाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रयिविद् रयीणाम् (पुरुधप्रतीकः)

आ सीमरोहत्सुयमा भवन्तीः पतिश्चिकित्वान्रयिविद्रयीणाम्।
प्र नीलपृष्ठो अतसस्य धासेस्ता अवासयत्पुरुधप्रतीकः॥ ३॥

(१) यह व्यक्ति **सीम्**=निश्चय से **सुयमाः**=उत्तम नियमनवाली **भवन्तीः**=होती हुई इन इन्द्रियों का **आ अरोहत्**=आरोहण करता है। इन इन्द्रियाश्वों पर आरूढ़ हुआ-हुआ इन्हें अपने वश में करता है। यह इन इन्द्रियाश्वों का **पतिः**=स्वामी व रक्षक बनता है। **चिकित्वान्**=ज्ञानी होता है। **रयीणां रयिविद्**=उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त करनेवाला होता है। (२) यह **नीलपृष्ठः**=(नील=an auspicious proclamation) प्रभु की शुभ उद्घोषणा को जीवन का आधार बनानेवाला पुरुष, **अतसस्य**=निरन्तर गतिशील, स्वाभाविकी क्रियावाले **धासेः**=धारक प्रभु को **ताः**=उन उद्घोषणाओं को **अवासयत्**=अपने अन्दर निवास देता है, अर्थात् उनको अपने जीवन में घटाता है-उनके अनुसार अपने जीवन को बनाता है और इस प्रकार **पुरुन्ध-प्रतीकः**=बहुत अच्छे प्रकार से अपने अंगों का धारण करता है। प्रभु की उद्घोषणा के अनुसार जीवन बिताने से सब अंग अन्त तक ठीक बने रहते हैं-मनुष्य जीर्ण नहीं हो जाता। वृद्ध नहीं बनता है।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश में करें। उत्तम धन प्राप्त करें। प्रभु की उद्घोषणा के अनुसार चलते हुए सब अंगों को ठीक प्रकार से धारण करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अजुर्य+स्तभूयमान

महि त्वाष्ट्रमूर्जयन्तीरजुर्यं स्तभूयमानं वहतो वहन्ति ।
व्यङ्गेभिर्दिद्युतानः सधस्थ एकामिव रोदसी आ विवेश ॥ ४ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित 'सुयमाः भवन्तीः' उत्तम नियमन में चलती हुई इन्द्रियाँ **वहतः**=सब कार्यों का वहन करती हुई **महि**=इस पूजा की वृत्तिवाले **त्वाष्ट्रम्**=निर्माता प्रभु के उपासक अतएव **अजुर्यम्**=न जीर्ण होनेवाली **स्तभूयमानम्**=अपनी शक्तियों का स्तम्भन करते हुए पुरुष को **ऊर्जयन्तीः**=बल व प्राण से युक्त करती हुई **वहन्ति**=कार्यचक्र को पूर्ण करती हैं। (२) यह पुरुष **अंगेभिः**=एक-एक अंग से **विदिद्युतानः**=विशेषरूप से दीप्तिवाला होता है। **सधस्थे**=प्रभु के साथ एक स्थान में स्थित होने पर **रोदसी**=द्यावापृथिवी में इस प्रकार **प्राविवेश**=प्रवेश करता है, **इव**=जैसे कि **एकाम्**=ये दोनों एक हों। मस्तिष्क व शरीर ही द्यावापृथिवी हैं। यह केवल मस्तिष्क को ही नहीं विकसित करता, शरीर का भी पूरा ध्यान करता है। शरीर के साथ मस्तिष्क को भी विकसित करते हुए चलता है। शरीर व मस्तिष्क को एक ही वस्तु के दो सिरे बना देता है। प्रभु का स्मरण करता हुआ यह ब्रह्म और क्षत्र दोनों का विकास करता है।

भावार्थ—इन्द्रियों के नियमन से शक्ति व ज्ञान का वर्धन होता है। मनुष्य अजीर्ण व स्थिर शक्तियोंवाला बनता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वृषा+अरुष्य (दिवोरुचः, सुरुचः व रोचमानाः)

जानन्ति वृष्णो अरुषस्य शेवमुत ब्रध्नस्य शासने रणन्ति ।
दिवोरुचः सुरुचो रोचमाना इळा येषां गण्या माहिना गीः ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र के साधक लोग **वृष्णः**=शक्तिशाली **अरुषस्य**=आरोचमान अथवा (अ+रुष) क्रोधरहित पुरुष के **शेवम्**=सुख को **जानन्ति**=जानते हैं। जब ये शक्ति व ज्ञान का विकास करते हैं तो इन्हें वह सुख प्राप्त होता है जो कि शरीर में शक्ति-सम्पन्न व मस्तिष्क में ज्ञान से आरोचमान पुरुष को प्राप्त होता है। (२) **उत**=और ये लोग **ब्रध्नस्य**=उस महान् प्रभु के **शासने**=शासन में **रणन्ति**=(रमन्ते) आनन्द अनुभव करते हैं। प्रभु की आज्ञा में चलते हुए आनन्दमय जीवनवाले होते हैं। (३) ये लोग **दिवः रुचः**=ज्ञान की रुचिवाले होते हैं, **सुरुचः**=मन में उत्तम रुचियोंवाले व शुभ इच्छाओंवाले होते हैं, **रोचमानाः**=अपनी तेजस्विता के कारण चमकते हैं। कौन? **येषाम्**=जिनकी **इडा**=वाणी **गण्या**=गणनीय-संख्यावाली-ज्ञानवाली होती है। जिनकी **गीः**=वाणी **माहिना**=पूजावाली होती है, अर्थात् जो ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करते हैं तथा स्तुतिवाणियों का उच्चारण करते हैं, वे ही 'दिवोरुच्, सुरुच् व रोचमान' होते हैं।

भावार्थ—स्वाध्याय व ध्यान की रुचिवाले लोग ज्ञानी, शुभ इच्छाओंवाले व तेजस्वी बनते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानवस्त्र व आत्मिक तेज

उतो पितृभ्यां प्रविदानु घोषं महो महद्भ्यामनयन्त शूषम् ।
उक्षा ह यत्र परि धानमक्तोरनु स्वं धाम जरितुर्ववक्ष ॥ ६ ॥

(१) गतमन्त्र के ज्ञानीपुरुष **उत**=और **उ**=निश्चय से **अनु घोषम्**=प्रभु के गुणों के उच्चारण के अनुसार **प्रविदा**=प्रकृष्ट ज्ञान से **महो महद्भ्याम्**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **पितृभ्याम्**=द्युलोक व पृथिवीलोक रूप माता-पिता के लिए-मस्तिष्क व शरीर के लिए **शूषम्**=बल को **अनयन्त**=प्राप्त कराते हैं। शरीर व मस्तिष्क दोनों को सबल बनाते हैं। इनको सबल बनाने के लिये वे प्रभु के नामों के उच्चारण व स्वाध्याय को अपनाते हैं। ध्यान व स्वाध्याय इन्हें व्यसनों से बचाए रखते हैं, इस प्रकार इनका शरीर भी ठीक बना रहता है और मस्तिष्क भी। (२) यह होता तभी है **यत्र**=जब कि **उक्षा**=सब को सुखों व शक्तियों से सिक्त करनेवाला प्रभु **ह**=निश्चय से **अक्तोः**=प्रकाश की रश्मियों के **परिधानम्**=वस्त्र को **स्वं धाम अनु**=आत्मतेज के अनुसार **जरितुः**=इस स्तोता को **ववक्ष**=प्राप्त कराता है। प्रभु स्तोता को ज्ञान प्राप्त कराते हैं और आत्मिक तेज भी। ऐसा होने पर इस स्तोता के मस्तिष्क व शरीर दोनों ही बड़े ठीक बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु जब स्तोता को आत्मिक तेज व ज्ञान प्राप्त कराते हैं तो स्तोता के शरीर व मस्तिष्क दोनों ही बड़े सुन्दर बनते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवों के व्रतों का अनुगमन

अध्वर्युभिः पञ्चभिः सप्त विप्राः प्रियं रक्षन्ते निहितं पदं वेः।
प्राञ्चो मदन्त्युक्षणो अजुर्या देवा देवानामनु हि व्रता गुः॥ ७॥

(१) **सप्त विप्राः**=शरीरस्थ सात ऋषि 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्', अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ **पंचभिः**=पाँच **अध्वर्युभिः**=जीवनयज्ञ को चलानेवाली कर्मेन्द्रियों से **वेः**=उस सर्वव्यापक गतिशील प्रभु के **निहितम्**=हमारे लिए स्थापित **प्रियम्**=आनन्द के कारणभूत **पदम्**=मार्ग को **रक्षन्ते**=रक्षित करती हैं। शरीर में 'सप्त विप्राः' ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, ये ही सात ऋषि भी कहलाती हैं। 'पाँच अध्वर्यु' यहाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। प्रभु ने हमारे लिये यज्ञरूप-मार्ग की स्थापना की है। यह मार्ग अन्ततः स्वर्गप्राप्ति का साधनभूत होने से अत्यन्त प्रिय है ज्ञानेन्द्रियरूप सप्तऋषियों ने कर्मेन्द्रियरूप अध्वर्युओं द्वारा इस जीवनयज्ञ को सुन्दरता से चलाता है। (२) इस यज्ञ को चलानेवाले व्यक्ति **प्राञ्चः**=(प्र+अञ्च्) अग्रगतिवाले होते हैं। ये सदा उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं और **मदन्ति**=सदा हर्ष को प्राप्त-प्रसन्न-मनोवृत्तिवाले होते हैं। **उक्षणः**=सदा अपने को शक्ति से सिक्त करनेवाले और अतएव **अजुर्याः**=जीर्ण नहीं होते। इनकी सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी रहती है। (३) ये **देवाः**=देववृत्तिवाले बनकर **हि**=निश्चय से **देवानाम्**=देवों के **व्रता**=व्रतों का **अनुगुः**=अनुगमन करते हैं। देवों के व्रतों को अपने में धारण करने का प्रयत्न करते हैं। सूर्य की तरह निरन्तर गतिमय व प्रकाशमय बनने का प्रयत्न करते हैं, वायु से गति द्वारा सब बुराइयों के हिंसन का पाठ सीखते हैं और अग्नि बनकर क्रियाशीलता द्वारा दोषों का दहन करनेवाले बनते हैं। इसी प्रकार सब देवों के व्रतों धारण करते हुए देव बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में यज्ञ का विलोप न हो। हम देवों के व्रतों को धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

ऋत का शंसन, ऋत का कथन

दैव्या होतारा प्रथमा न्यृञ्जे सप्त पृक्षासः स्वधया मदन्ति।
ऋतं शंसन्त ऋतमित्त आहुरनु व्रतं व्रतपा दीध्यानाः॥ ८॥

(१) शरीर में प्राणापान **प्रथमा**=सर्वमुख्य **दैव्या होतारा**=देव (प्रभु) द्वारा स्थापित होता है। इनकी ही शक्ति अन्य सब इन्द्रियों में काम करती हैं। ये दैव्य इसलिए भी कहलाते हैं कि ये हमें देव (प्रभु) की ओर ले चलनेवाले हैं। इन प्राणापान को मैं **नि-ऋञ्जे**=प्रसाधित करता हूँ। इनके प्रसाधन से अन्य सब इन्द्रियों का शोधन तो हो ही जाता है। इन प्राणापान-साधन के होने पर **सप्त**=सात **पृक्षासः**=(पृची संपर्के) पदार्थों के साथ सम्पर्क में आनेवाली इन्द्रियाँ (दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख) उन पदार्थों में प्रभु की महिमा देखती हुई **स्वधया**=आत्मधारण-शक्ति से **मदन्ति**=आनन्द अनुभव करती हैं। (२) इस प्रकार प्राणापान का साधन करनेवाले लोग **ऋतं शंसन्तः**=ऋत का शंसन करनेवाले होते हैं। **ते**=वे **इत्**=निश्चय से **ऋतं आहुः**=अपने जीवन से भी ऋत का ही प्रतिपादन करते हैं। ऋत की प्रशंसा करते हुए ऋत को जीवन में लाने का प्रयत्न करते हैं। ये **व्रतपाः**=व्रत का पालन करनेवाले होते हैं। व्रत का पालन ही ऋत है। **अनुव्रतम्**=व्रत के अनुसार **दीध्यानाः**=ये दीप्त-जीवनवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक रहती है। इस साधना के परिणामस्वरूप जीवन व्रती होता है। व्रतपालन से हम दीप्त हो उठते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुयामाः रश्मयः

वृषायन्ते महे अत्याय पूर्वीर्वृष्णे चित्राय रश्मयः सुयामाः।
देव होतर्मन्द्रतरश्चिकित्वान्महो देवान्रोदसी एह वक्षि॥ ९॥

(१) **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाली **सुयामाः**=हमारे जीवनों को बड़ा नियमित बनानेवाली **रश्मयः**=ज्ञानरश्मियाँ **वृषायन्ते**=हमारे लिये सुखों का वर्षण करती हैं, अथवा हमें बड़ा शक्तिशाली बनाती हैं ये ज्ञानरश्मियाँ उस प्रभुप्राप्ति के लिये होती हैं जो कि **महे**=पूजनीय हैं, **अत्याय**=सतत गतिवाले हैं, **वृष्णे**=शक्तिशाली हैं तथा **चित्राय**=अद्भुत हैं, अथवा हमें ज्ञान देनेवाले हैं। (२) हे **देव**=प्रकाशमय **होतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! आप **मन्द्रतरः**=अत्यन्त आनन्दमय व स्तुत्य हैं, **चिकित्वान्**=ज्ञानी हैं, हमारे लिये नीरोग जीवन देनेवाले हैं (कित् रोगापनमने)। आप **महः देवान्**=तेजस्वी देवों को-तेजस्वितायुक्त दिव्यगुणों को तथा **रोदसी**=द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **इह**=यहाँ, इस जीवन में हमें **आवक्षि**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—जीवन को सुनियन्त्रित बनानेवाली ज्ञानरश्मियाँ हमें प्रभु प्राप्त कराती हैं। प्रभु हमें तेजस्विता-दिव्यगुण व उत्तम शरीर व मस्तिष्क को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम उषाकाल

पृक्षप्रयजो द्रविणः सुवाचः सुकेतव उषसो रेवदूषुः।
उतो चिदग्ने महिना पृथिव्याः कृतं चिदेनः सं महे दशस्य॥ १०॥

(१) हे प्रभो! हमारे लिए **उषसः**= उषाकाल **रेवत्**=धनसम्पन्न होकर **ऊषुः**=अन्धकार दूर करनेवाले हों। ये उषाएँ **पृक्षप्रयजः**=संपर्चनीय प्रभु के साथ प्रकृष्ट संगतिवाली हों-इनमें हम प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। ये उषाएँ **द्रविणः**=(द्रु गतौ) गतिवाली हों-हमारे जीवनों में क्रियाशीलता की प्रेरणा देनेवाली हों। **सुवाचः**=उत्तम वाणीवाली हों, उषाकालों में तो हम कभी भी कोई अभद्र

शब्द न बोलें। **सुकेतवः**=ये उत्तम ज्ञानवाली हों, इनमें स्वाध्याय करते हुए हम अपने ज्ञानों को बढ़ानेवाले हों। (२) **उता चित्**=और निश्चय से हे **अग्ने**=परमात्मन्! **पृथिव्याः महिना**=पृथिवी, अर्थात् विशालता की महिमा से **कृतं चित् एनः**=किये हुए बड़े भी पाप को **संदशस्य**=आप विनष्ट करिए (संक्षपय) ताकि हम इस पापनाश द्वारा **महे**=आपके पूजन के लिये हों। पापवृत्ति का नाश ही प्रभुपूजन है, पाप को नष्ट कर सत्य अपनाने से हम सत्यस्वरूप-प्रभु का पूजन करते हैं।

भावार्थ—हमारे उषाकाल प्रभु पूजनवाले, गतिशील, मधुरवाणीवाले व उत्तम ज्ञानवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

वेदज्ञान-उत्तम सन्तान-सुमति

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥ ११॥

अर्थ ५.११ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त जीवन की उत्तम स्थिति के साधनों का प्रतिपादन करता है। अगले सूक्त में भी यही विषय प्रवृत्त है—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुप्राप्ति के साधन

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन।
यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे॥ १॥

(१) हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन्! **देवयन्तः**=दिव्यगुणों की कामनावाले पुरुष **त्वा**=आपको **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **अञ्जन्ति**=प्राप्त होते हैं। **दैव्येन मधुना**=देव से उत्पादित मधु द्वारा वे आपको प्राप्त होते हैं। शरीर में ओषधियों का सारभूत अन्तिम तत्त्व **सोम**=वीर्य है। यही 'मधु' है। परमात्मा की व्यवस्था से उत्पन्न होने के कारण यह 'दैव्य मधु' कहलाता है। इसके रक्षण से बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म बनती है और इस सूक्ष्मबुद्धि द्वारा यह साधक प्रभु का दर्शन करनेवाला बनता है एवं प्रभुप्राप्ति के निम्न उपायों का संकेत स्पष्ट है—(क) जीवन को अहिंसावाला व यज्ञात्मक बनाना (अध्वरे), (ख) दिव्यगुण-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होना (देवयन्तः), (ग) शरीर में सोमशक्ति का रक्षण करना (मधुना दैव्येन)। (२) हे प्रभो! **यद्**=जब आप **ऊर्ध्वः तिष्ठा**=हमारे जीवनों में सबसे ऊपर स्थित होते हैं तो **इह**=यहाँ हमारे जीवन में आप **द्रविणा धत्तात्**=सब आवश्यक धनों को धारण करते हैं। **यद्वा**=अथवा कम से कम इस उपासक का **अस्याः मातुः उपस्थे**=इस पृथिवी माता की गोद में **क्षयः**=निवास होता है। इसका जीवन उसी प्रकार सौन्दर्य से बीत जाता है, जैसे कि बच्चे का माता की गोद में। इसको जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कभी चिन्ता नहीं करनी पड़ती। इनकी पूर्ति के लिये आवश्यक धन इसे सदा प्राप्त रहते हैं।

भावार्थ—हम जीवन को यज्ञमय बनायें, दिव्यगुणों की कामनावाले हों और सोम का रक्षण करें। ऐसा करने पर हमें प्रभु प्राप्त होंगे। प्रभु हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करेंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सौभाग्य-सम्पन्न जीवन

समिद्धस्य श्रयमाणः पुरस्ताद् ब्रह्म वन्वानो अजरं सुवीरम्।
आरे अस्मदमतिं बाधमान उच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥ २॥

(१) **समिद्धस्य**=ज्ञान से दीप्त पुरुष के **पुरस्तात्**=सामने **श्रयमाणः**=वर्तमान होते हुए, अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकरूप समिधाओं से अपनी ज्ञानाग्नि को समिद्ध करनेवाला, इन लोकों में स्थित सब पदार्थों की रचना के अन्दर आपकी महिमा को देखनेवाला पुरुष आपको सर्वत्र अनुभव करता है। (२) **अजरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले-अजरामर **सुवीरम्**=हमें उत्तम वीर बनानेवाले **ब्रह्म**=ज्ञान को **वन्वानः**=(प्रयच्छन्) देते हुए, तथा **अस्मत्**=हमारे से **अमतिम्**=अविचारशीलता को **आरे बाधमानः**=दूर करते हुए आप **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिये **उच्छ्रयस्व**=उद्गत होइए। हमारे जीवनों में आपका स्थान सर्वोपरि हो। आपकी पूजा करते हुए हम (क) ज्ञानदीप्त होकर सर्वत्र आपकी महिमा को देखें, (ख) आपके अजरामर हमें वीर बनानेवाले वेदज्ञान को प्राप्त करें तथा (ग) अविवेक को सदा अपने से दूर रखें। ऐसा करने पर ही हमारा जीवन सौभाग्य-सम्पन्न होगा।

भावार्थ—सर्वत्र प्रभु को देखते हुए, प्रभु के अजरामर काव्य का ज्ञान प्राप्त करते हुए, अविवेक से दूर होते हुए हम सौभाग्य-सम्पन्न जीवनवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—स्वराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

युक्तचेष्टता द्वारा प्रभु का ज्ञान

उच्छ्रयस्व वनस्पते वर्ष्मन्पृथिव्या अधि। सुमिती मीयमानो वर्चो धा यज्ञवाहसे॥ ३॥

(१) हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन् प्रभो! आप **पृथिव्याः वर्ष्मन् अधि**=इस शरीररूप पृथिवी के सर्वोत्कृष्ट प्रदेश हृदय में **उच्छ्रयस्व**=आश्रय कीजिए। मेरा हृदय आपका निवास-स्थान बने। मैं इस हृदय को 'बर्हिः' बनाऊँ, इसमें से सब वासनाओं का उद्बर्हण कर दूँ और इसे आपके लिये पवित्र करनेवाला बनूँ। (२) **सुमिती**=उत्तम मिति द्वारा, अर्थात् प्रत्येक चीज को माप-तौलकर करने द्वारा **मीयमानः**=जाने जाते हुए आप **यज्ञवाहसे**=यज्ञों को धारण करनेवाले मेरे लिए **वर्चः धाः**=शक्ति का धारण कीजिये। मैं खान-पान, सोने-जागने, उठने-बैठने आदि सब कर्मों में युक्तचेष्ट बनूँ तथा जीवन को यज्ञमय बनाऊँ और इस प्रकार शक्ति प्राप्त करने का पात्र होऊँ।

भावार्थ—हमारे हृदयों में प्रभु का निवास तब होता है, जब हम हृदयों को पवित्र बनाते हैं, सब कर्मों में युक्तचेष्ट होते हैं और यज्ञमय जीवनवाले बनते हैं। ये प्रभु हमें वर्चस् प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

आचार्य के लक्षण

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥ ४॥

(१) **युवा**=दोषों का अमिश्रण व गुणों का अपने साथ मिश्रण करनेवाला, **सुवासाः**=उत्तम

ज्ञानवस्त्र धारण करनेवाला **परिवीतः**=रशना से परिवेष्टित हुआ-हुआ, अर्थात् कटिबद्धता व संयम के जीवनवाला यह **आगात्**=आया है। आचार्यकुल से समावृत्त होकर घर को प्राप्त हुआ है। **सः**=वह **उ**=निश्चय से **जायमानः**=आचार्यकुल से उत्पन्न होता हुआ **श्रेयान्**=उत्कृष्ट जीवनवाला **भवति**=होता है। (२) **तम्**=उसको आचार्यकुल में वे उपाध्याय **उन्नयन्ति**=उन्नत करते हैं जो कि (क) **धीरासः**=ज्ञान देनेवाले हैं (धियं रान्ति), (ख) **कवयः**=क्रान्तदर्शी हैं, (ग) **स्वाध्यः**=उत्तम ध्यान से युक्त हैं और (घ) **मनसा**=मन से **देवयन्तः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामनावाले हैं। वस्तुतः ऐसे आचार्य व उपाध्याय ही विद्यार्थी का जीवन सुन्दर बना सकते हैं।

भावार्थ—'धीर कवि ध्यानशील व देवयन्' आचार्य ही विद्यार्थी को श्रेष्ठ जीवनवाला बना पाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्नातक

जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः।

पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्॥ ५ ॥

(१) **जातः**=आचार्यकुल से उत्पन्न हुआ-हुआ गतमन्त्र का युवा **अह्नां सुदिनत्वे जायते**=दिनों की सुदिनता-शोभनता के निमित्त होता है, अर्थात् आचार्यकुल से समावृत्त होकर यह युवक अपने गृह के लिए सुदिन लाने का कारण बनता है। घरवालों के लिए वह सुदिन होता है, जिस दिन कि यह युवक ज्ञानी बनकर घर वापिस लौटता है। यह **अर्यः**=स्वामी बनकर-इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर **विदथे**=ज्ञान-यज्ञ में **सं आवर्धमानः**=सम्यक् समन्तात् वृद्धिवाला होता है। जितेन्द्रियता द्वारा अपने ज्ञान की निरन्तर वृद्धि करनेवाला होता है, अथवा **स-मर्ये विदथे**=उत्तम लोगों से युक्त ज्ञानगोष्ठियों में यह **आवर्धमानः**=सब ओर वृद्धि व शोभावाला होता है। (२) इस प्रकार के **धीराः**=ज्ञान को देनेवाले **अपसः**=कर्मशील पुरुष **मनीषा**=अपनी बुद्धि से **पुनन्ति**=सब लोगों का जीवन पवित्र करनेवाले होते हैं। ज्ञानी व ज्ञान के अनुसार कर्म करनेवाले लोग ही औरों को उत्तम प्रेरणा दे पाते हैं। **देवयाः**=(देवं यजति) उस महान् देव प्रभु का पूजन करनेवाला **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला ज्ञानी पुरुष **वाचं उदियर्ति**=सदा स्तुतिवचनों का उच्चारण करता है, अथवा ऐसा ही पुरुष औरों के लिये उपदेश की वाणी का प्रयोग करता है।

भावार्थ—ज्ञानप्राप्त युवक घर के लिये सुदिनों को लानेवाला होता है। ज्ञानगोष्ठियों में यह ऊँची स्थिति प्राप्त करता है। ये औरों के जीवन को भी पवित्र करनेवाले होते हैं, सदा स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रजावत् रत्नम्

यान्वो नरो देवयन्तो निमिम्युर्वनस्पते स्वधितिर्वा ततक्ष।

ते देवासः स्वरवस्तस्थिवांसः प्रजावदस्मे दिधिषन्तु रत्नम्॥ ६ ॥

(१) हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन् प्रभो! **यान्**=जिनको **वः नरः**=('नृ' का बहुवचन) आपके मनुष्य, **देवयन्तः**=सदा दिव्यगुणों की कामनावाले **निमिम्युः**=निश्चय से बनाते हैं, **वा**=अथवा **स्वधितिः**=(स्व+धितिः) आत्मतत्त्व का धारण **ततक्ष**=हमारा निर्माण करता है **ते**=वे सब **देवासः**=देववृत्ति के बन पाते हैं, **स्वरवः**=सदा प्रभुस्तवन करनेवाले होते हैं तथा

तस्थिवांसः=स्थिरवृत्तिवाले बनते हैं। मनुष्य के जीवन का निर्माण 'माता, पिता, आचार्य' आदि देवों से होता है। 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'। इनद्वारा किए जानेवाले शिक्षण के साथ यदि आत्मतत्त्व-धारण का अभ्यास भी हो, अर्थात् कुछ देर के लिये आत्मचिन्तन का अभ्यास भी किया जाए, तब तो जीवन का बहुत ही सुन्दर परिष्कार हो जाता है। इस परिष्कार के होने पर (क) मनुष्य कुछ दैवी-वृत्तिवाला बनता है, (ख) प्रभुस्तवन की ओर झुकाववाला होता है और (ग) स्थिरवृत्तिवाला बनता है, विषयों में उसका चित्त भटकता नहीं रहता। (२) **अस्मे**=ऐसा बननेवाले हमारे लिए देव **प्रजावत् रत्नम्**=उत्तम विकासवाले रमणीय धन को **दिधिषन्तु**=धारण करें-हमें इस धन को प्राप्त कराएँ। 'प्रजावत्' का अर्थ 'उत्तम सन्तानवाला' भी यहाँ ग्राह्य ही है। हमें धन भी प्राप्त हो, वह धन उत्तम सन्तानोंवाला हो। उस धन द्वारा हम सन्तानों का उत्तम शिक्षण करने-कराने में समर्थ हों।

भावार्थ—देववृत्ति के माता, पिता, आचार्य हमारे जीवनों का सुन्दर निर्माण करें। 'आत्मचिन्तन' से हमारा जीवन परिष्कृत बने। हमें उत्तम सन्तान के साथ रमणीय धन प्राप्त हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

देवत्रा वार्यम्

ये वृक्णासो अधि क्षमि निमितासो यतस्रुचः। ते नो व्यन्तु वार्यं देवत्रा क्षेत्रसाधसः ॥ ७ ॥

(१) **ये**=जो **वृक्णासः**=(वृज्) पाप का वर्जन करनेवाले हैं अथवा जो (torn away) पाप से पृथक् हो गए हैं। **अधि क्षमि**=इस शरीररूप पृथिवी में **निमितासः**=प्रत्येक क्रिया बड़े परिमित रूप में करनेवाले हैं-खान-पान, सोना-जागना, उठना-बैठना ये सभी क्रियाएँ इनकी बड़ी नियमित रूप से चलती हैं। **यतस्रुचः**=जिन्होंने चम्मच हाथ में लिया हुआ है, अर्थात् जो सदा यज्ञशील हैं (स्रुच्=वाक् श० ६।३।१।८) अथवा संयत वाणीवाले हैं। **क्षेत्रसाधसः**=जो शरीररूप क्षेत्र बड़ा ठीक सिद्ध करनेवाले हैं। **ते**=वे **नः**=हमारे लिए **देवत्रा**=देवों में जो भी **वार्यम्**=वरणीय वस्तु है, उसे **व्यन्तु**=प्राप्त कराएँ (गमयन्तु)। (२) प्रचारकार्य व नरनिर्माण-कार्य में लगे हुए लोगों को (क) पाप से दूर होना चाहिए, अन्यथा वे औरों को क्या सुपथ पर ला सकेंगे? (ख) इनकी सब क्रियाएँ नपी-तुली होनी चाहिए, ऐसे ही व्यक्ति औरों को प्रभावित कर पाते हैं। (ग) ये यज्ञशील व संयतवाक् हों। बहुत बोलनेवाले का भी प्रभाव नहीं पड़ता। (३) इनका शरीर स्वस्थ होना चाहिए। अस्वस्थ व्यक्ति चाहता हुए भी औरों का हित नहीं कर पाता। ये लोग प्रचारकार्य को करते हुए 'सूर्य से प्रकाश को, वायु से क्रियाशीलता को तथा अग्नि से दोषदहन शक्ति को' ग्रहण करने का लोगों को उपदेश दें। देवों के मार्ग पर चलने का भाव यही है कि प्रत्येक देव से वरणीय गुण को ग्रहण करते हुए हम अपने जीवन को दिव्यजीवन बनाने का यत्न करें।

भावार्थ—निष्पाप, संयमी, यज्ञशील व स्वस्थ पुरुष हमें अपने उपदेशों से दिव्यगुणों को प्राप्त करने के लिये प्रेरित करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

('आदित्य, रुद्र और वसु') यज्ञ-रक्षण

आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम्।
सजोषसो यज्ञमवन्तु देवा ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम् ॥ ८ ॥

(१) प्रकृतिविद्या को पढ़नेवाले विद्वान् प्राकृतिक पदार्थों का ठीक प्रयोग करते हुए 'वसु'

कहलाते हैं, ये अपने निवास को उत्तम बना पाते हैं। समाजशास्त्र के अध्ययन से जीव-स्वभाव को भी अच्छी तरह समझनेवाले विद्वान् 'रुद्र' कहलाते हैं, ये उचित व्यवहार करते हुए दुःखों का द्रावण करनेवाले होते हैं। आत्मविद्या का अध्ययन करते हुए सब सद्गुणों के आदान से ये 'आदित्य' बनते हैं। ये 'आदित्याः रुद्राः वसवः'=आदित्य, रुद्र व वसु विद्वान् **सुनीथाः**=हमें उत्तम मार्ग से ले चलनेवाले हों। (२) जब हम उत्तम मार्ग पर चलें तो उस समय **द्यावाक्षामा**=द्युलोक और पृथिवीलोक तथा **पृथिवी**=अतिविस्तृत **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष ये सब **सजोषसः**=समान रूप से प्रीतिपूर्वक हमारा सेवन (=हमारी सहायता) करते हुए **यज्ञम्**=हमारे जीवन-यज्ञ का **अवन्तु**=रक्षण करें। सब पदार्थों की हमें अनुकूलता हो और हमारा जीवन-यज्ञ बड़ी सुन्दरता से चले। (३) इस प्रकार हमारे जीवन-यज्ञ का रक्षण करते हुए **देवाः**=सब देव **अध्वरस्य केतुम्**=यज्ञज्ञान को **ऊर्ध्वं कृण्वन्तु**=हमारे में सर्वोपरि करें, अर्थात् हम यज्ञों को समझें और इन यज्ञों को ही जीवन में सर्वप्रथम स्थान दें।

भावार्थ—देव हमें उत्तम मार्ग से ले चलनेवाले हों। सब संसार हमारे लिए अनुकूल हो ताकि हम यज्ञों को सिद्ध कर पाएँ। विद्वान् लोग इन यज्ञों का हमें मुख्यरूप से उपदेश दें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कवि सम्पर्क

हंसाइव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरवो न आगुः।

उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद्देवा देवानामपि यन्ति पाथः॥ ९॥

(१) **नः**=हमें विद्वान् लोग, लोक विध्वंस रहित जो विद्वान् **स्वरवः**=सदा प्रभु का शंसन करने में प्रवृत्त हैं। **शुक्रा वसानाः**=निर्मल ज्ञानदीप्तियों को धारण करनेवाले हैं। **हंसाः इव**=हंसों की तरह निर्मल व श्वेत हैं, शुद्ध जीवनवाले हैं। **श्रेणिशः यतानाः**=एक श्रेणि के रूप में यत्न करनेवाले हैं, अर्थात् जिनके कार्य एक-दूसरे का विरोध करनेवाले नहीं, जिनके कार्य एक-दूसरे के पूरक ही होते हैं। यदि इनके उपदेश एक-दूसरे के विरुद्ध हों तो लोगों को सिवाय मतिभ्रम के और कुछ नहीं होता और वे मार्ग को ठीक रूप में जान नहीं पाते। (२) इस प्रकार के **कविभिः**=क्रान्तदर्शी लोगों के उपदेशों से **पुरस्तात् उन्नीयमानाः**=आगे उन्नतिपथ पर ले जाये जाते हुए ये लोग **देवाः**=देववृत्ति के बनते हैं। और **देवानाम्**=देवों के **पाथः**=मार्ग पर **अपियन्ति**=चलनेवाले होते हैं। 'सूर्य से, चन्द्र से, पर्जन्य से' सभी से अपने जीवनव्रतों का ये ग्रहण करते हैं तथा विद्वान् लोगों के जीवन का अनुकरण करते हैं।

भावार्थ—हमें 'हंसों की तरह उज्ज्वल जीवनवाले (श्वेत), परस्पर अविरुद्ध यत्न करनेवाले, दीप्तज्ञानों को धारण करनेवाले, प्रभु के उपासक' विद्वान् प्राप्त हों। इनसे उन्नतिपथ पर ले जाये जाते हुए हम देव बनें। सूर्यादि देवों से व्रतों को धारण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आदर्श प्रचारक

शृङ्गाणीवेच्छृङ्गिणां सं ददृशे चषालवन्तः स्वरवः पृथिव्याम्।

वाघद्भिर्वा विहवे श्रोषमाणा अस्माँ अवन्तु पृतनाज्येषु॥ १०॥

(१) **स्वरवः**=ये प्रभु का उपासन करनेवाले लोग **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **चषालवन्तः**=(चषाल=bee hive) मधु के छत्तेवाले **सं ददृशे**=दिखते हैं। इनके मुख से सदा

मधुर शब्द ही उच्चरित होते हैं। ये लोग **इत्**=निश्चय से **शृंगिणाम्**=सींगवाले पशुओं के **शृंगाणि इव**=सींगों के समान होते हैं। जैसे सींग अवाञ्छनीय रुकावट को दूर करनेवाले होते हैं, इसी प्रकार ये भी लोक-विध्वंसक तत्त्वों को दूर करके लोकरक्षण करनेवाले होते हैं। (२) ये उपासक **विहवे**=यज्ञों में (विशेषेण हूयन्ते अज) **वाघद्भिः**=ज्ञान का वहन करनेवाले विद्वानों से **श्रोषमाणाः**=ज्ञान का श्रवण करते हुए और इस प्रकार अपने ज्ञानों को निरन्तर बढ़ाते हुए **अस्मान्**=हमें **पृतनाज्येषु**=संग्रामों में **अवन्तु**=रक्षित करें। इनके उपदेशों से उत्कृष्ट प्रेरणाओं को प्राप्त करते हुए हम काम-क्रोध आदि को जीतनेवाले बनें, कभी इनसे अभिभूत न हों।

भावार्थ—आदर्श प्रचारक लोकविध्वंस एक तत्त्वों को दूर करते हुए, मधुर शब्दों को बोलते हुए प्रभु के उपासक होते हैं। ये ज्ञानियों से और अधिक ज्ञान का श्रवण करते हुए, अपने उपदेशों से, हमें काम-क्रोध आदि को अभिभूत करने में प्रेरित व सशक्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शतवल्श विरोहण

वन॑स्पते श॒तव॑ल्शो॒ वि रो॑ह स॒हस्र॑वल्शा॒ वि व॒यं रु॑हेम।
यं त्वाम॒यं स्वधि॑ति॒स्तेज॑मानः प्रणि॒नाय॑ मह॒ते सौभ॑गाय ॥ ११ ॥

(१) **वनस्पते**=हे ज्ञान-रश्मियों के स्वामिन्! **यं त्वाम्**=जिस तुझको **अयं स्वधितिः**=यह आत्मतत्त्व का धारण करनेवाला, **तेजमानः**=तेजस्वी होता हुआ **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिये **प्रणिनाय**=प्राप्त कराता है वह तू **शतवल्शः**=सैकड़ों शाखाओंवाला होकर **विरोह**=विशेषरूप से उन्नत हो, अर्थात् आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले तेजस्वी पुरुषों के सम्पर्क में महान् उत्कृष्ट ज्ञान को (भग=ज्ञान) प्राप्त कर। ज्ञानरश्मियोंवाला बनकर सैंकड़ों प्रकार से जीवन को उन्नत करनेवाला हो। (२) **वयम्**=तेरे सम्पर्क में आनेवाले हम भी **सहस्रवल्शाः**=हजारों शाखाओंवाले होते हुए **विरुहेम**=विशेषरूप से उन्नत हों। हमें ज्ञान देनेवाले आचार्य अपने ब्रह्मनिष्ठ तेजस्वी आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करके उन्नत हों। इनसे ज्ञान प्राप्त करके हम भी सब दिशाओं में उन्नति कर सकें।

भावार्थ—हमारे आचार्य, अपने आत्मनिष्ठ तेजस्वी आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करें और हमें उत्कृष्ट ज्ञान को देनेवाले हों।

सूक्त का मुख्य भाव यह है कि हम ज्ञानियों के सम्पर्क में उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करके उन्नत हों। हमें प्रभुप्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त हो। 'हम प्रभु के सखा बनें' इन शब्दों से अगले सूक्त का आरम्भ होता है—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु का वरण

सखा॑यस्त्वा ववृमहे दे॒वं मर्ता॑स ऊ॒तये॑। अ॒पां नपा॑तं सु॒भगं॑ सु॒दीदि॑तिं सु॒प्रतू॑र्तिमने॒हस॑म् ॥ १ ॥

(१) जीव प्रभु से प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हम **मर्तासः**=बारम्बार इस जीवन-मरण के चक्र में फँसनेवाले व्यक्ति **सखायः**=मित्र बनकर **ऊतये**=रक्षा के लिए **देवं त्वा**=सब आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले, ज्ञानदीप्त-हमें ज्ञान से दीप्त करनेवाले आपका **ववृमहे**=वरण करते हैं। आपका वरण ही हमें भोगमार्ग से बचाकर योगमार्ग पर प्रवृत्त करेगा, तभी हम जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो पाएँगे। आपके वरण के अतिरिक्त रक्षा का कोई अन्य मार्ग नहीं है। (२) आप **अपां**

नपातम्=हमारे शक्तिकणों का नाश न होने देनेवाले हैं। हमें भोगमार्ग से ऊपर उठाकर आप इस योग्य बनाते हैं कि हम शक्तिकणों का रक्षण करनेवाले हों। **सुभगम्**=आप उत्तम भगवाले हैं। आपके वरण से हमें भी यह उत्तम भग प्राप्त होता है। हम भी 'ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्य' रूप भगवाले होते हैं। **सुदीदितम्**=आप उत्तम कर्मोंवाले हैं। आपके उपासन से हमारे भी कर्म उत्तम होते हैं। **सुप्रतूर्तिम्**=आप बहुत अच्छी तरह शत्रुओं का हिंसन करनेवाले हैं। आपका उपासक बनकर मैं काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार कर पाता हूँ। **अनेहसम्**=आप निष्पाप हैं। मैं भी शत्रुओं का संहार करता हुआ अथवा त्वरा से सब कार्यों को सिद्ध करता हुआ पाप से रहित होता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु का वरण करें। यह प्रभु का वरण हमें 'शक्तिकणों का रक्षक, उत्तम भगवाला, उत्तम कर्मोंवाला, शत्रुओं को त्वरा से हिंसित करनेवाला तथा निष्पाप' बनाएगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

निवर्तन की अवाञ्छनीयता

कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः। न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद् दूरे सन्निहाभवः ॥ २ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं—गतमन्त्र के अनुसार **वना**=उपासना की वृत्ति को तथा ज्ञानरश्मियों को **कायमानः**=(कामयमानः) चाहता हुआ **त्वम्**=तू **यत्**=जो **मातॄः**=धन का निर्माण करनेवाले **अपः**=कर्मों को **अजगन्**=प्राप्त हुआ है, अतः हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **ते**=तेरे **तत्**=उस **निवर्तनम्**=फिर लौट जाने को **न प्रमृषे**=मैं सह नहीं सकता-क्षमा नहीं कर सकता। तेरा वह कार्य ठीक नहीं। वानप्रस्थ व संन्यास में जाकर फिर गृहस्थ में लौट आने की तरह यह तेरा कार्य है। (२) संसार बड़ा चमकीला है। न जाने कब यह हमें अपनी ओर आकृष्ठ करले। हम प्रभु की उपासना की ओर चलते हैं, परन्तु हो सकता है कि धन अपनी चमक से हमें फिर अपनी ओर झुका ले। इसलिए सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। प्रभु कहते हैं कि यह '**यत्**=जो तू **दूरे सन्**=इन विषयों से दूर जाकर **इह अभवः**=फिर यहीं हो गया' यह ठीक नहीं है। विषयों को तो छोड़ना और फिर दृढ़ता से छोड़ ही देना ठीक है। फिर उनकी ओर न झुकना चाहिए।

भावार्थ—उपासना व ज्ञान की कामनावाले बनकर हम आगे बढ़ें और फिर विषयों से विनिवृत्त ही हो जाएँ। इन विषयों की चमक हमें फिर वापिस आकर्षित न करले।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

तृष्णा से ऊपर (सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः)

अति तृष्टं ववक्षिथाथैव सुमना असि ।
प्रप्रान्ये यन्ति पर्यन्य आसते येषां सख्ये असि श्रितः ॥ ३ ॥

(१) प्रभु ही जीव से कह रहे हैं—**तृष्टं अतिववक्षिथ**=तू तृष्णा से ऊपर उठ जाता है और **अथ एव**=अब त्यों ही **सुमनाः असि**=उत्तम मनवाला हो जाता है। तृष्णा के चक्र में रमते रहने पर मन कभी शान्ति का अनुभव नहीं करता। तृष्णा के चक्र से ऊपर उठते ही शान्ति प्राप्त हो जाती है। (२) **अन्ये**=दूसरे तो-वे व्यक्ति तो जो कि तृष्णा से ऊपर नहीं उठ पाये **प्र प्रयन्ति**=अत्यन्त और अत्यन्त ही भटकते हैं। धन की तृष्णा इन्हें शान्त नहीं बैठने देती। ये भटकते ही रहते हैं। व्यास के शब्दों में 'अनृणी चाप्रवासी च' सुखी वही है जो कि ऋणग्रस्त नहीं और

जिसे घर से बाहिर भटकने का अवसर नहीं होता, परन्तु तृष्णा कहाँ शान्त बैठने देती है। (३) इन तृष्णाग्रस्तों से **अन्ये**=दूसरे वे व्यक्ति भी हैं जो कि **परि** (परेर्वर्जने)=तृष्णा को छोड़कर, तृष्णा से परे होकर, **आसते**=प्रभु के उपासन में स्थित होते हैं। ये वे व्यक्ति हैं **येषाम्**=जिनकी **सख्ये**=मित्रता में **श्रितः असि**=तूने आश्रय किया है। तू भी इन उपासकों की मित्रता में स्थित होकर धन के पीछे मारा-मारा न फिरता रह।

भावार्थ—तृष्णा से ऊपर उठने पर ही मानस-शान्ति प्राप्त होती है। तृष्णाग्रस्त पुरुष भटकते ही रहते हैं। हमें उन्हीं का सखा बनना चाहिए जो कि तृष्णा से भटक नहीं रहे-तृष्णा छोड़कर प्रभु की उपासना कर रहे हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

गुणचयन व अद्रोह

ईयिवांसमति स्रिधः शश्वतीरति सश्चतः
अन्वीमविन्दन्निचिरासो अद्रुहोऽप्सु सिंहमिव श्रितम् ॥ ४ ॥

(१) **स्रिधः अति ईयिवांसम्**=सब हिंसाओं व कुत्साओं के पार गये हुए को तथा **शश्वतीः**=प्लुतगतिवाली, चुस्ती व चालाकियोंवाली **सश्चतः**=गतियों से अति (ईयिवांसं) लाँघकर कर्म करनेवाले का **अनु**=अनुगमन करके **ईम्**=निश्चय से **अविन्दन्**=प्रभु को प्राप्त करते हैं। प्रभु-प्राप्ति के लिए हिंसाओं व कुत्साओं से ऊपर उठना आवश्यक है, इसी प्रकार चुस्ती व चालाकीवाली गतियों से ऊपर उठकर शान्त सरलभाव से कार्य करना जरूरी है। (२) ये प्रभु को प्राप्त करनेवाले **निचिरासः**=निश्चय से गुणों का चयन करनेवाले होते हैं और **अद्रुहः**=किसी से द्रोह नहीं करते। ये व्यक्ति उस प्रभु को पाते हैं जो कि **अप्सु**=कर्मशील प्रजाओं में **सिंहं इव**=(हिनस्ति) वासनाओं के संहारक के समान **श्रितम्**=विद्यमान हैं। वासनारूप मृगों के लिए प्रभु सिंह के समान हैं। उपासकों की वासनाओं का प्रभु विनाश करते हैं।

भावार्थ—अकुटिल-वृत्तिवाला व्यक्ति प्रभु को प्राप्त करता है। यह अपने में उत्तरोत्तर गुणों का चयन व अद्रोह की भावना का वर्धन करता है। प्रभु इसके वासनारूप मृगों के लिए सिंह के समान होते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

प्राणसाधना व स्वाध्याय

ससृवांसमिव त्मनाग्निमित्था तिरोहितम्। एनं नयन्मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितं परि ॥ ५ ॥

(१) **त्मना**=स्वयं **ससृवांसं इव**=निरन्तर गति करते हुए के समान, अर्थात् स्वाभाविकी क्रियावाले **अग्निम्**=उस प्रभु को **इत्था**=इस प्रकार **तिरोहितम्**=हृदय देश में ही छिपकर रहते हुए **एनम्**=इस प्रभु को **मातरिश्वा**=वायु, अर्थात् प्राण **परावतः**=दूर देश से **आनयत्**=समीप प्राप्त कराता है। प्रभु स्वाभाविकी क्रियावाले हैं। वे किसी स्वार्थ से कभी क्रिया नहीं करते और नां ही उन्हें अपनी क्रियाओं में किसी की सहायता की अपेक्षा होती है। ये प्रभु हमारे हृदयों में ही गुप्त रूप से रह रहे हैं। प्राणसाधना द्वारा दोषों को दूर करके निर्मल हृदय बनने पर हम प्रभु को देख पाते हैं। (२) उस प्रभु को हम देख पाते हैं, जो कि **देवेभ्यः**=विद्वानों व देववृत्तिवाले पुरुषों से **परिमथितम्**=चारों ओर मथित हुए हैं। ये देववृत्तिवाले विद्वान् प्रत्येक पिण्ड के तत्त्व का अवगाहन करते हुए उसमें प्रभु की रचना-चातुरी को देखते हैं।

भावार्थ—प्रभुदर्शन के लिए प्राणसाधना व स्वाध्याय द्वारा ज्ञानवर्धन आवश्यक है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

यज्ञरक्षक प्रभु

तं त्वा मर्ता अगृभ्णत देवेभ्यो हव्यवाहन ।
विश्वान्यद्यज्ञाँ अभिपासि मानुष तव क्रत्वा यविष्ठ्य ॥ ६ ॥

(१) हे **हव्यवाहन**=सब हव्यपदार्थों को देनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **मर्ताः**=मनुष्य **देवेभ्यः**=विद्वानों द्वारा ज्ञान प्राप्त करके **अगृभ्णत**=ग्रहण करते हैं। जब एक मनुष्य देवों के सम्पर्क में आकर ज्ञान प्राप्त करता है तो वह निर्मलचित्त होकर प्रभुदर्शन करनेवाला बनता है। वह प्रभु को इस रूप में अनुभव करने लगता है कि सब हव्यपदार्थों को देनेवाले प्रभु ही हैं। (२) हे **मानुष**=विचारशील पुरुष का हित करनेवाले प्रभो! **यद्**=जब आप **विश्वान् यज्ञान्**=सब उत्तम कर्मों को **अभिपासि**=रक्षित करते हैं तो **तव क्रत्वा**=आप अपने प्रज्ञानों व कर्मों से **यविष्ठ्य**=हमारी बुराइयों को अधिक से अधिक दूर करनेवाले होते हैं और अच्छाइयों के साथ हमारा सम्पर्क करते हैं। आप 'यविष्ठ्य' हैं ('यु मिश्रणामिश्रणयोः')।

भावार्थ—हम देवों के सम्पर्क में आकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हुए प्रभुदर्शन करनेवाले बनें। प्रभु ही हमारे सब यज्ञों का रक्षण करते हैं, वे ही हमारी बुराइयों को दूर करके हमारे साथ अच्छाइयों का मिश्रण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

भद्रम्

तद्भद्रं तव दंसना पाकाय चिच्छदयति। त्वां यदग्ने पशवः समासते समिद्धमपिशर्वरे ॥ ७ ॥

(१) **तद् भद्रम्**=कल्याण व सुख यही है कि **तव दंसना**=तेरे कर्मों से, अर्थात् तेरे पुरुषार्थ के होने पर **पाकाय**=जीवन ठीक से परिपाक हो सकने के लिए **चित्**=निश्चय से **छदयति**=वे प्रभु तुझे धन से परिवृत करनेवाले होते हैं। प्रभु तुझे तेरे पुरुषार्थ के अनुपात में धन प्राप्त कराते हैं, जिससे कि तेरे जीवन का ठीक परिपाक हो सके। पुरुषार्थ से प्राप्त धन उन्नति का कारण बनता है, व्यर्थ में (बिना पुरुषार्थ के) मिला धन जीवन की व्यर्थता का कारण बनता है। (२) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! दूसरी भद्रता की बात यह है **यत्**=कि **त्वाम्**=तुझे **पशवः समासते**=गौ आदि पशु समीपता से प्राप्त होते हैं। गौ तेरा दाहिना हाथ होती है तो घोड़ा तेरा बांया हाथ होता है। ये पशु तेरे जीवन में 'ब्रह्म व क्षत्र' के विकास का कारण बनते हैं। (३) तीसरी बात यह है कि **शर्वरे अपि**=(darkness) चारों ओर अन्धकार होने पर भी **समिद्धम्**=तेरे अन्दर ज्ञान-दीप्ति होती है। तेरा हृदय प्रकाशमय होता है। बाहर विषाद के होने पर भी तेरे अन्दर प्रसाद होता है, अर्थात् आपत्ति में भी तू घबराता नहीं।

भावार्थ—कल्याण की बात यही है कि (क) जीवनपरिपाक के लिये पुरुषार्थ से पर्याप्त धन की प्राप्ति हो, (ख) गौ आदि पशुओं की कमी न हो, (ग) आपत्तियों में अव्याकुल भाव से हम रह सकें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभुपूजन

आ जुहोता स्वध्वरं शीरं पावकशोचिषम्। आशुं दूतमजिरं प्रत्नमीड्यं श्रुष्टी देवं सपर्यत ॥ ८ ॥

(१) **आजुहोता**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करो जो प्रभु **स्वध्वरम्**=उत्तम अध्वर (हिंसारहित यज्ञ) वाले हैं, उत्तम सृष्टियज्ञ करनेवाले हैं। **शीरम्**=हमारी सब वासनाओं को शीर्ण करनेवाले हैं। **पावकशोचिषम्**=पवित्र दीप्तिवाले हैं। **आशुम्**=शीघ्रता से सब कार्यों को करनेवाले हैं, अथवा सर्वत्र व्याप्त हैं। **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं, अथवा कष्टों की अग्नि में तपाकर हमारा जीवन उज्ज्वल करनेवाले हैं। (२) इस **अजिरम्**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति द्वारा सब बुराइयों को सुदूर फेंकनेवाले प्रभु को **श्रुष्टी**=(happiness) आनन्दप्राप्ति के लिए **सपर्यत**=पूजो। ये प्रभु ही **प्रत्नम्**=सनातन हैं, **ईड्यम्**=स्तुति के योग्य हैं, **देवम्**=प्रकाशमय हैं। सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभुपूजन करें। प्रभु ही हमारे जीवनों को निर्मल व दीप्त बनानेवाले हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

ज्ञानदीप्ति व निर्मल हृदय

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ९ ॥

(१) **त्रीणि शता**=तीन सौ, **त्री सहस्राणि**=तीन हजार, **त्रिंशत् च**=और तीस **नव च**=और नौ, अर्थात् तीन हजार तीन सौ उनतालीस **देवाः**=देव **अग्निं असपर्यन्**=उस अग्रणी प्रभु का पूजन करते हैं। यह तीन हजार तीन सौ उनतालीस संख्या तेतीस देवों के महत्त्व प्रतिपादन के लिए ही है। सब देव प्रभु की पूजा करते हैं। सूर्यादि सब देवों में देवत्व उस प्रभु द्वारा ही स्थापित होता है। प्रभु महादेव हैं, वे इन देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं। इनमें प्रभु की ही महिमा का दर्शन उपासक करता है। (२) इस प्रभुप्राप्ति के लिए **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन **अस्तृणन्**=बिछाते हैं। और **आत् इत्**=शीघ्र इसके बाद **होतारम्**=इस सृष्टियज्ञ के महान् होता उस प्रभु को **न्यसादयन्त**=उस हृदयासन पर बिठाते हैं, अर्थात् उस निर्मल हृदय में प्रभु का दर्शन करते हैं।

भावार्थ—सब देव प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभुपूजन के लिए हमें अपने को ज्ञानदीप्त करना है-हृदय निर्मल करना है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु सखा बनने व प्रभुदर्शन के उपायों का संकेत करता है। इन उपायों को क्रियान्वित करते हुए मनीषी प्रभु को अपने में समिद्ध करते हैं—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

मनीषियों को प्रभुदर्शन

त्वामग्ने मनीषिणः सम्राजं चर्षणीनाम्। देवं मर्तास इन्धते समध्वरे ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मनीषिणः मर्तासः**=बुद्धिमान् मनुष्य **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **त्वां समिन्धते**=आपको ही समिद्ध करते हैं-आपका ही दर्शन करने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु का दर्शन 'मनीषा'=बुद्धि से ही होता है 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'। (२) बुद्धिमान् पुरुष देखता है कि वे प्रभु ही **चर्षणीनां सम्राजम्**=श्रमशील पुरुषों के जीवनों को दीप्त करनेवाले हैं। **देवम्**=प्रकाशमय हैं, इन चर्षणियों को-श्रमशील व्यक्तियों को प्रकाश प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—श्रमशील पुरुषों के जीवनों को दीप्त करनेवाले उस प्रकाशमय प्रभु का दर्शन मनीषी

(बुद्धिमान्) ही कर पाते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आत्मदमन करनेवाले के हृदय में प्रभु का प्रकाश

त्वां यज्ञेष्वृत्विजमग्ने होतारमीळते। गोपा ऋतस्य दीदिहि स्वे दमे॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यज्ञेषु**=यज्ञात्मक कर्मों में **त्वां ईडते**=उन कर्मों को करनेवाले आपका ही उपासन करते हैं। जो आप **ऋत्विजम्**=ऋतु-ऋतु में उपासनीय हैं, सदा उपासनीय हैं तथा **होतारम्**=उन यज्ञों की पूर्ति के लिये सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। (२) आप ही **ऋतस्य गोपाः**=ऋत के रक्षक हैं। 'ऋत का रक्षण, अनृत का विध्वंस' यह आपका व्रत ही है। आप **स्वे दमे**=(home) आत्मदमन के होने पर **दीदिहि**=दीप्त होइए। जब कोई भी व्यक्ति अपनी इन्द्रियों आदि का दमन करता है, तो आप उसके हृदय में प्रकाशित होते हैं। उसका हृदय आपका घर बन जाता है, उसका हृदय आपका स्व-दम (Home) होता है।

भावार्थ—यज्ञों द्वारा हम उस प्रभु का उपासन करें, जो कि ऋत के रक्षक हैं और आत्मदमन करनेवाले पुरुष के हृदय में दीप्त होते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

समर्पण से सुवीर्य व पोषण

स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेदसे। सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति॥ ३॥

(१) **सः**=वह पुरुष ही **घा**=निश्चय से, **यः**=जो कि **समिधा**=ज्ञानदीप्ति द्वारा **जातवेदसे**=सर्वज्ञ **ते**=आपके लिये **ददाशति**=अपना अर्पण करता है, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सः**=वह ही **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **धत्ते**=धारण करता है, **सः**=वह ही **पुष्यति**=अपना ठीक प्रकार से पोषण करता है। (२) जितना-जितना हमारा ज्ञान दीप्त होता जाता है, उतना-उतना हम प्रभु के समीप होते जाते हैं। ज्ञानी प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला होता है। इस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले को वासनाएँ नहीं सतातीं। यह शक्ति का रक्षण करता है और सब दृष्टिकोणों से फलता-फूलता है।

भावार्थ—हम ज्ञानदीप्ति द्वारा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें और शक्ति धारण करते हुए अपना पोषण करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

यज्ञ प्रकाशक प्रभु

स केतुरध्वराणामग्निर्देवेभिरा गमत्। अञ्जानः सप्त होतृभिर्हविष्मते॥ ४॥

(१) **सः**=वह **अध्वराणाम्**=सब हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों का **केतुः**=ज्ञान देनेवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **देवेभिः**=दिव्यगुणों द्वारा **आगमत्**=प्राप्त होता है। हम जितना-जितना अच्छे गुणों को धारण करने का प्रयत्न करते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप होते चलते हैं। 'देव बनना' महादेव की प्राप्ति का महान् साधन है। (२) ये प्रभु **हविष्मते**=हविवाले पुरुष के लिए, यज्ञशील पुरुष के लिए, त्यागपूर्वक अदन करनेवाले पुरुष के लिए **सप्त होतृभिः**=इन दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख रूप सात जीवनयज्ञ को चलानेवाले होताओं से **अञ्जानः**=व्यक्त किए जाते हैं। यज्ञशील-पुरुष की ज्ञानेन्द्रियाँ सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखती हैं।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश उसे दिखता है जो कि दिव्यगुणों को धारण करने की कामना

करे तथा हविष्मान् बने। प्रभु यज्ञों के प्रकाशक हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

प्रभुस्तवन का महत्त्व

प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्। विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥ ५ ॥

(१) उस प्रभु के लिए **पूर्व्यं वचः**=उन स्तुति-वचनों को जो कि स्तोता का पालन व पूरण करनेवाले हैं, स्तोता के सामने उसके जीवन का लक्ष्य स्थापित करके उसे ऊँचा उठानेवाले हैं तथा **बृहत्**=जो स्तुतिवचन, उसे अन्य व्यसनों से बचाकर, वृद्धिपथ पर ले चलते हैं (बृहि वृद्धौ) उन स्तुतिवचनों को **प्रभरत**=अत्यन्त ही सम्पादित करो। जितना हम प्रभुस्तवन करते हैं, उतना ही जीवन में आगे बढ़ते हैं और उन्नत होते हैं। (२) उस प्रभु के लिए स्तुतिवचनों को धारण करिए, जो प्रभु **होत्रे**=होता हैं, सब कुछ देनेवाले हैं। **अग्नये**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं। **वेधसे न**=जैसे वे विधाता हैं-सृष्टि को बनानेवाले हैं (नः इव) उसी प्रकार **विपाम्**=मेधावियों के जीवन में **ज्योतींषि**=ज्योतियों को **बिभ्रते**=धारण करनेवाले हैं। प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं और उस समय उत्पन्न किये गये अपने मानसपुत्रों में सर्वश्रेष्ठ बुद्धिवाले 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' के (पूर्वे चत्वारः) हृदयों में वेदज्ञान का स्थापन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु होता हैं, अग्नि हैं, विधाता हैं और ज्ञान देनेवाले हैं। प्रभु का ही हमें स्तवन करना चाहिए।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

प्रभु का साक्षात्कार

अग्निं वर्धन्तु नो गिरो यतो जायत उक्थ्यः। महे वाजाय द्रविणाय दर्शतः ॥ ६ ॥

(१) **नः गिरः**=हमारी स्तुतिवाणियाँ **अग्निं वर्धन्तु**=उस अग्रणी प्रभु का ही वर्धन करें। **यतः**=जिन स्तुतिवचनों से **उक्थ्यः**=वह प्रशंसनीय प्रभु **जायते**=प्रादुर्भूत होता है। इन स्तुतिवचनों द्वारा प्रभु की महिमा प्रकट होती है। स्तोता सर्वत्र प्रभु की महिमा देखने लगता है। (२) ये प्रभु **महे वाजाय**=महान् वाज (=शक्ति) के लिए होते हैं। स्तोता को वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे कि वह पर्वत के समान कष्टों को भी अनायास उठाने में समर्थ हो जाता है। ये प्रभु **महे द्रविणाय**=महान् ज्ञानरूप धन के लिए होते हैं, प्रभुस्तवन से अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है, वास्तविक ज्ञान तो यही है। ये प्रभु **दर्शतः**=दर्शनीय हैं। शक्ति व ज्ञान प्राप्त करके यह उपासक प्रभु का साक्षात्कार करता है।

भावार्थ—हम प्रभु का ही स्तवन करें। इस स्तवन से ही प्रभु की महिमा दिखेगी। शक्ति व ज्ञान प्राप्त करके हम प्रभु का साक्षात्कार कर पाएँगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

प्रभुप्रकाश-प्राप्ति

अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान्देवयते यज। होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥ ७ ॥

(१) **अग्ने**=हे परमात्मन्! आप ही **यजिष्ठः**=सर्वोत्तम उपास्य हैं, हमारे साथ सद्गुणों का सम्पर्क करनेवाले हैं। **अध्वरम्**=इस जीवनयज्ञ में **देवयते**=दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामनावाले पुरुष के लिए **देवान् यज**=दिव्यगुणों को उसके साथ संगत करिए। प्रभु की उपासना ही हमें दिव्यता की प्राप्ति करानेवाली होती है। (२) **होता**=हे प्रभु आप ही सब कुछ देनेवाले हैं।

मन्द्रः=आनन्दमय व स्तुत्य हैं। **स्त्रिधः अति**=सब विनाशक शत्रुओं को लाँघकर **विराजसि**=विशेषरूप से देदीप्यमान हो रहे हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं, इससे सब अशुभ वृत्तियों का ध्वंस होता है और प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे साथ दिव्यगुणों का सम्पर्क करते हैं, वे ही उपास्य हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

अन्तिकतम (अ+न्तम) प्रभु

स नः पावक दीदिहि द्युमदस्मे सुवीर्यम्। भवा स्तोतृभ्यो अन्तमः स्वस्तये॥ ८॥

(१) **सः**=वे आप ही **नः पावकः**=हमारे लिए पवित्रता करनेवाले प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिये **द्युमत्**=ज्योतिर्मय **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति **दीदिहि**=दीजिए। प्रभु ही हमें पवित्र करते हैं और ज्योति तथा शक्ति प्राप्त कराते हैं। (२) हे प्रभो! आप **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **अन्तमः**=अन्तिकतम मित्र **भवा**=होइए। **स्वस्तये**=आप ही हमारे कल्याण के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्योति व शक्ति प्राप्त कराते हैं। वे ही हमारे अन्तिकतम मित्र हैं-वे ही हमारे कल्याण को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

प्रभुदर्शन किनको ?

तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। हव्यवाहममर्त्यं सहोवृधम्॥ ९॥

(१) **हव्यवाहम्**=सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले, **अमर्त्यम्**=इन हव्य पदार्थों द्वारा अमरता प्राप्त करानेवाले, इस अमरता के लिए ही **सहोवृधम्**=सहस् (बल) वर्धन करनेवाले **तं त्वा**=उन आपको **विप्राः**=ज्ञानी, **विपन्यवः**=स्तुतिकर्ता, **जागृवांसः**=सदा सावधान और अतएव वासनारूप शत्रुओं से आक्रान्त न होनेवाले पुरुष **समिन्धते**=अपने हृदयदेश में समिद्ध करते हैं। आपका दर्शन इन 'विप्र, विपन्युव जागृवान्' पुरुषों को ही होता है। (२) प्रभु सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। इन पदार्थों के प्रापण से वे हमें अकालमृत्यु से बचाते हैं। इसी दृष्टिकोण से वे हमारे में बलवर्धन करते हैं। इस प्रभुदर्शन के लिये आवश्यक है कि हम ज्ञान प्राप्त करें, स्तवन की वृत्तिवाले हों और सदा सावधान होकर जीवनयात्रा में आगे बढ़ें।

भावार्थ—हम प्रभुदर्शन के लिये ज्ञान व ध्यान को अपनाते हुए सदा जागरित रहकर कामादि आक्रमण से अपना रक्षण करें। प्रभु हमें सब उत्तम पदार्थों को प्राप्त करा के हमारा बलवर्धन करेंगे।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुदर्शन के उपायों का संकेत कर रहा है। अगले सूक्त का भी विषय यही है—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

निरन्तर यज्ञ

अग्निर्होता पुरोहितोऽध्वरस्य विचर्षणिः। स वेद यज्ञमानुषक्॥ १॥

(१) वे प्रभु **अग्निः**=अग्रणी हैं। **होता**=सब पदार्थों को देनेवाले हैं। **पुरोहितः**=हमारे सामने (पुरः) आदर्श के रूप रखे हुए हैं (हितः) अर्थात् हमें प्रभु के गुणों को देखकर ही अपने जीवनों का निर्माण करना है। प्रभु दयालु हैं, तो हमें भी दयालु बनना है। प्रभु न्यायकारी हैं, अतः हमें भी न्यायकारी बनना है। प्रभु की तरह ही ज्ञानी व न्यायकारी बनने का प्रयत्न करना है। **अध्वरस्य**

विचर्षणिः=वे यज्ञों के विशेषरूप से द्रष्टा हैं-ध्यान करनेवाले हैं। हम यज्ञ करते हैं तो प्रभु उन यज्ञों का रक्षण व पालन करते हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (भुज पालने)। (२) **सः**=वे प्रभु **आनुषक्**=निरन्तर **यज्ञम्**=यज्ञ को **वेद**=जानते हैं। प्रभु का ब्रह्माण्ड का निर्माण, धारण व प्रलयवाला यज्ञ निरन्तर चल रहा है। प्रभु यज्ञरूप ही हैं-यज्ञ ही हैं। इनकी उपासना हम भी यज्ञशील बनकर ही कर सकते हैं 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'।

भावार्थ—प्रभु यज्ञरूप हैं। हमें भी यज्ञ करने के लिए सब आवश्यक पदार्थों को देते हैं और हमारे यज्ञों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सात्त्विक अन्न का सेवन

स हव्यवाळमर्त्य उशिग्दूतश्चनोहितः। अग्निर्धिया समृण्वति॥ २॥

(१) **सः**=वे प्रभु **हव्यवाट्**=सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। **अमर्त्यः**=हव्यपदार्थों को प्राप्त कराके हमें मृत्यु से बचानेवाले हैं। **उशिक्**=सदा जीव के हित की कामनावाले हैं। इस हितसाधन के लिए ही **दूतः**=उसे ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं तथा **चनोहितः**=सात्त्विक अन्न में निहित हैं, अर्थात् सात्त्विक अन्न के सेवन से ही सत्त्वशुद्धि होकर, स्मृति की प्राप्ति होती है। 'मैं कौन हूँ? क्यों आया हूँ?' इन बातों का स्मरण होने पर वासना का विनाश होता है और वासना-विनाश से प्रभुदर्शन होता है। (२) वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **धिया**=बुद्धि द्वारा **समृण्वति**=संगत होते हैं 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या' सूक्ष्म बुद्धि से ही तो प्रभुदर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु हव्यपदार्थों को देकर हमें असमय की मृत्यु से बचाते हैं। हमारे हित के लिए हमें ज्ञान देते हैं। सात्त्विक अन्न के सेवन से बुद्धि सूक्ष्म होने पर प्रभु का दर्शन होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु का स्मरण 'तारक' है

अग्निर्धिया स चेतति केतुर्यज्ञस्य पूर्व्यः। अर्थं ह्यस्य तरणि॥ ३॥

(१) **सः अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु! **धिया चेतति**=बुद्धि द्वारा हमारे में चेतते हैं, अर्थात् बुद्धि द्वारा हमें प्रभु का ज्ञान होता है। वे प्रभु **यज्ञस्य केतुः**=यज्ञों के प्रकाशक हैं, वेद द्वारा यज्ञों का हमें उपदेश देते हैं। **पूर्व्यः**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हैं। प्रभु का स्मरण करने से हम आधि-व्याधियों से ऊपर उठते हैं। (२) **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस प्रभु का **अर्थम्**=गमन (ऋ गतौ) अर्थात् प्रभु की ओर चलना **तरणि**=हमारा तरानेवाला है। प्रभु के स्मरण से हम वासनाओं को तैर जाते हैं, रोगों से भी आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाते हुए हम प्रभु को पाने का प्रयत्न करें। प्रभु की ओर चलना ही हमें वासनाओं से तराता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु हमारे 'वह्नि' (वाहक) हैं

अग्निं सूनुं सनश्रुतं सहसो जातवेदसम्। वह्निं देवा अकृण्वत॥ ४॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **वह्निम्**=अपना वहन करनेवाला **अकृण्वत**=करते हैं। प्रभु पर ये आश्रित होते हैं-प्रभु इनके रथ बनते हैं। इस रथ द्वारा ये अपनी जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाते हैं। (२) वे प्रभु इनका रथ बनते हैं जो कि **सहसः सूनुम्**=बल

के पुत्र हैं-बल के पुतले-बल के पुञ्ज। वे इन देवों को भी बल प्राप्त कराते हैं। **सन-श्रुतम्**=वे प्रभु सनातन ज्ञानवाले हैं। प्रभु का ज्ञान नैमित्तिक नहीं। प्रभु से ही उपासक को ज्ञान प्राप्त होता है। प्रभु का ज्ञान स्वाभाविक है। **जातवेदसम्**=प्रत्येक पदार्थ को वे प्रभु जानते हैं, अथवा कण-कण में वे विद्यमान हैं (जाते-जाते विद्यते)।

भावार्थ—देववृत्ति के व्यक्ति प्रभु को अपना आधार बनाते हैं। वस्तुतः प्रभु को आधार बनाना ही उन्हें 'देव' बनानेवाला होता है। प्रभु इन्हें शक्ति व ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सदा नवीन 'रथ'

अदाभ्यः पुरएता विशामग्निर्मानुषीणाम्। तूर्णी रथः सदा नवः॥ ५॥

(१) गतमन्त्र में कहा था कि देव प्रभु को अपना आधार बनाते हैं। उस प्रभु रूप रथ का ही वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है, वे प्रभु **अदाभ्यः**=किसी से हिंसित होने योग्य नहीं। **अग्निः**=वे अग्रणी हैं। **मानुषीणां विशाम्**=विचारशील प्रजाओं के **पुरः एता**=आगे चलनेवाले हैं, उनके पथ-प्रदर्शक हैं। प्रभु की प्रेरणा विचारशील पुरुष ही सुनते हैं। (२) प्रभु इन विचारशील पुरुषों के लिए एक रथ के समान हैं, जो **रथः**=रथ **तूर्णिः**=त्वरायुक्त है-त्वरित गतिवाला है-हमें शीघ्रता से लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाला है। यह रथ **सदानवः**=सदा नवीन है। इसमें मरम्मत की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव यह **नवः**=स्तुत्य है (नु स्तुतौ)। एवं ये विचारशील पुरुष इस प्रभुरूप रथ द्वारा अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए एक रथ के समान हैं, जो रथ कभी हिंसित नहीं होता, हमारी अग्रगति का कारण बनता है-त्वरायुक्त है-सदा नवीन है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वासनाओं का मर्षण

साह्वान्विश्वा अभियुजः क्रतुर्देवानाममृक्तः। अग्निस्तुविश्रवस्तमः॥ ६॥

(१) ये प्रभु **विश्वाः अभियुजः**=सब हमें अभियुक्त करनेवाली-हमारे पर आक्रमण करनेवाली वासनाओं का **साह्वान्**=अभिभव करनेवाले हैं। हमारी वासनाओं को प्रभु कुचल देते हैं। इन वासनाओं को कुचलकर ये देवों को शक्ति प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः प्रभु ही **देवानां क्रतुः**=देवों की शक्ति हैं। **अमृक्तः**=वे प्रभु कभी हिंसित होनेवाले नहीं। (२) ये **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तुविश्रवस्तमः**=अत्यन्त विशाल ज्ञानवाले हैं (तुवि=महान्)। इस ज्ञान को देकर ही हमें आगे और आगे ले चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं को अभिभूत करके हमें शक्तिशाली बनाते हैं। ज्ञान देकर हमें उन्नतिपथ पर बढ़नेवाला करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

युक्ताहार-विहार व प्रभुप्राप्ति

अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वाँ अश्नोति मर्त्यः। क्षयं पावकशोचिषः॥ ७॥

(१) **दाश्वान् मर्त्यः**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला व्यक्ति **वाहसा**=शरीरवहन के दृष्टिकोण से **प्रयांसि**=अन्नों को **अभि अश्नोति**=सर्वतः प्राप्त करता है। यह शरीर धारण के लिए ही भोजन करता है और शरीर धारण के लिए आवश्यक भोजन इसे प्राप्त हो ही जाता है। (२)

शरीरधारण के लिए ही भोजन करता हुआ यह व्यक्ति **पावकशोचिषः**=उस पवित्र दीप्तिवाले प्रभु के **क्षयम्**=गृह को **अभि अश्नोति**=प्राप्त करता है। भोजनादि में बड़ी 'युक्तता' वाला होता हुआ यह इस लोक को भी स्वास्थ्य द्वारा सुन्दर बनाता है और परलोक में तो प्रभुप्राप्ति का अधिकारी बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। नपा-तुला भोजन करते हुए हम पवित्र ज्ञानदीप्तिवाले प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

उत्तम हितकर वस्तुओं की प्राप्ति

परि॒ विश्वा॑नि॒ सुधि॑ता॒ग्नेर॑श्याम॒ मन्म॑भिः। विप्रा॑सो जा॒तवे॑दसः ॥ ८ ॥

(१) हम **अग्नेः मन्मभिः**=उस प्रभु के मनन व स्तोत्रों द्वारा **विश्वानि**=सब **सुधिता**=उत्तम हितकर वस्तुओं को **परिअश्याम**=प्राप्त करें। जितना-जितना हम ज्ञान प्राप्त करते हैं और प्रभुस्मरण करनेवाले होते हैं, उतना-उतना ही उत्तम हितकर वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। (२) इन वस्तुओं द्वारा, इनके ठीक प्रयोग द्वारा हम **विप्रासः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले होते हैं (वि+प्रा पूरणे) और **जातवेदसः**=ज्ञानी बन पाते हैं। इस ठीक प्रयोग से हमारे शरीरों में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं होती और हमारे मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक उत्तम हितकर वस्तुओं को प्राप्त करता है। उनके ठीक प्रयोग से यह शक्ति-सम्पन्न व ज्ञानी बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु में प्रवेश

अग्ने॒ विश्वा॑नि॒ वार्या॒ वाजे॑षु सनिषामहे। त्वे दे॒वास॒ एरि॑रे ॥ ९ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! हम **वाजेषु**=(वाज गतौ) गतियों के होने पर-श्रम करने पर **विश्वानि वार्या**=सब वरणीय वस्तुओं को **सनिषामहे**=प्राप्त करें (संभजामहे)। श्रम से प्राप्त वस्तु ही उत्थान का कारण बनती है। 'वाजेषु' का अर्थ 'संग्रामों में' भी है। वासनाओं के साथ संग्राम करते हुए हम वाञ्छनीय वस्तुओं को प्राप्त करें। (२) इस प्रकार श्रमशील व वासनाओं के साथ संग्राम करनेवाले व्यक्ति ही **देवासः**=देव बनते हैं। ये देव **त्वे एरिरे**=हे प्रभो! आप में गतिवाले होते हैं। आपकी ओर चलते हुए ये अन्ततः आप में प्रवेश करते हैं।

भावार्थ—हम इस जीवन में गतिशील हों, वासनाओं के साथ संग्राम करें। इसी से हम वरणीय वस्तुओं को प्राप्त करेंगे और अन्ततः प्रभु को भी पानेवाले होंगे।

यह सूक्त प्रभुदर्शन व प्राप्ति के उपायों का ही संकेत करता है। उन उपायों का प्रयोग करते हुए हम अन्ततः प्रभु में प्रवेश करनेवाले होते हैं। अगला सूक्त केवल अग्नि देवता का न होकर 'इन्द्राग्नी' का है, वहाँ बल व प्रकाश के पुञ्ज के रूप में प्रभु को देखना है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वरेण्य नभस्

इन्द्रा॑ग्नी॒ आ ग॑तं सु॒तं गी॒र्भिर्नभो॒ वरे॑ण्यम्। अ॒स्य पा॑तं धि॒येषि॒ता ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि-शक्ति व प्रकाश के देवताओ! **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के हेतु से इस **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए **वरेण्यम्**=वरणीय **नभः**=(Water) रेतःकणों के प्रति **आगतम्**=आओ। ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस सोम का (रेतःकणों का) पान आवश्यक है। (२) **धिया इषिता**=बुद्धि से प्रेरित हुए-हुए आप **अस्य पातम्**=इसका पान करो। प्रत्येक समझदार व्यक्ति इसके महत्त्व को समझता है और इस सोमपान का प्रयत्न करता है। इस सोमरक्षण से ही शरीर में शक्ति प्राप्त होती है तथा मस्तिष्क में प्रकाश का भी यही साधन बनता है। इन्द्र व अग्नि दोनों तत्त्वों का निर्भर इस सोमरक्षण पर ही है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम शक्ति व प्रकाश का वर्धन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

यज्ञ+चेतन

इन्द्राग्नी जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः। अया पातमिमं सुतम्॥ २॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि देवो! शक्ति व प्रकाश के देवो! यह सोम (नभस्=रेतःकण) **जिगाति**=तुम्हें प्राप्त होता है। जो सोम **जरितुः सचा**=स्तोता के साथ रहनेवाला है, अर्थात् जिसका प्रभुस्तवन द्वारा रक्षण होता है। स्तवन से भोगवृत्ति का विनाश होकर सोमरक्षण की अनुकूलता होती है। **यज्ञः**=यह सोम प्रभु के साथ मेल करानेवाला है (यज् संगतिकरणे)। इस सोमरक्षण से ही उस सोम (प्रभु) की प्राप्ति होती है, **चेतनः**=यही ज्ञानप्राप्ति का साधन बनता है-हमारी चेतना को यह जगानेवाला है। (२) **अया**=(अनया) इस दृष्टिकोण से कि यह 'यज्ञ' है और यह 'चेतन' है **इमं सुतम्**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम का तुम **पातम्**=पान करो-शरीर में ही इसका रक्षण करो।

भावार्थ—प्रभुस्तवन की वृत्ति से सोमरक्षण होता है। रक्षित सोम प्रभु के साथ हमारा मेल कराने का साधन बनता है और हमारी चेतना को स्थिर रखता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु प्रसादन

इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे। ता सोमस्येह तृम्पताम्॥ ३॥

(१) **कविच्छदा**=(कवेः छन्दकौ, छंद to please, gratify) प्रभु को प्रसन्न करनेवाले **इन्द्रं अग्निम्**=बल के देव व प्रकाश के देव को **यज्ञस्य जूत्या**=यज्ञप्रेरणा के हेतु से **वृणे**=वरण करता हूँ। शक्ति व प्रकाश का साधन प्रभु को प्रसन्न करता है। इनद्वारा हम यज्ञों को सिद्ध कर पाते हैं। शक्ति व ज्ञान मेल होने पर ही यज्ञात्मक कर्म हुआ करते हैं। (२) **ता**=वे इन्द्र और अग्नि **इह**=इस जीवन में **सोमस्य तृम्पताम्**=सोम से तृप्ति का अनुभव करें। सोमरक्षण से शरीर में शक्ति-वर्धन होता है, तो मस्तिष्क में यह प्रकाश-वर्धन का कारण बनता है। शक्ति और प्रकाश में ही यज्ञात्मक कर्मों का सम्भव होता है और इस प्रकार हम प्रभु के प्रीति-पात्र बन पाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम शक्ति व प्रकाश प्राप्त करके, यज्ञों में प्रवृत्त हुए-हुए, प्रभु को आराधित कर पाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वाजसातमा

तोशा वृत्रहणा हुवे सजित्वानापराजिता। इन्द्राग्नी वाजसातमा॥ ४॥

(१) ये **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि-शक्ति व प्रकाश के तत्त्व **तोशा**=शत्रुओं का बाधन

करनेवाले हैं (तुश् to strike, kill)। **वृत्रहणा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले हैं। **सजित्वाना**=सदा विजयशील हैं। **अपराजिता**=कभी पराजित होनेवाले नहीं। इन इन्द्र और अग्नि को **हुवे**=मैं पुकारता हूँ-इन्हें प्राप्त करने की प्रार्थना करता हूँ। (२) ये इन्द्र और अग्नि **वाजसातमा**=(वाज=strength, wealth, speed, sacrifice) शक्ति, धन, गति व त्याग आदि के अतिशयेन देनेवाले हैं। इन चीजों को देकर ये हमारे जीवनों को बड़ा सुन्दर बनानेवाले हैं।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमारे जीवनों में शक्ति, धन, गति व त्याग आदि का संचार करनेवाले हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तवनमार्ग पर चलना-वासना क्षय

प्र वा॑मर्चन्त्यु॒क्थिनो॑ नीथा॒विदो॑ जरि॒तार॑ः। इन्द्रा॑ग्नी॒ इष॒ आ वृ॑णे ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि, **वाम्**=आपको **उक्थिनः**=स्तोता लोग-आपके गुणों का उच्चारण करनेवाले लोग **प्र अर्चन्ति**=प्रकर्षेण पूजित करते हैं। **नीथाविदः**=मार्ग को जाननेवाले लोग, अर्थात् मार्ग पर चलनेवाले लोग आपका अर्चन करते हैं। **जरितारः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले लोग आपका अर्चन करते हैं। प्रभुस्तवन से (उक्थ) मार्गदर्शन होता है (नीथा) और शक्ति प्राप्त करके विघ्नों को हम दूर करनेवाले बनते हैं (जरितारः)। यही उन्नति का मार्ग है। (२) मैं इन इन्द्र और अग्नि से ही **इषः**=प्रेरणाओं को **आवृणे**=वरता हूँ-प्रेरणाओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। मेरा प्रत्येक कार्य शक्ति व प्रकाश-वर्धन के लिए होता है।

भावार्थ—बल व प्रकाश प्राप्त करनेवाले व्यक्ति (क) प्रभु स्तवन करते हैं, (ख) भक्ति मार्ग पर चलते हैं, (ग) वासनाओं को जीर्ण करने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दासों की नगरियों का विध्वंस

इन्द्रा॑ग्नी नव॒तिं पुरो॑ दा॒सप॑त्नीरधूनुतम्। सा॒कमेके॑न॒ कर्म॑णा ॥ ६ ॥

(१) हमारे शरीरों में वासनाएँ हमारा क्षय करनेवाली हैं। इसीलिए ये 'दास' कहलाती हैं (दसु उपक्षये) ये वासनाएँ हमारे अन्दर अपने निवास-स्थान बना लेती हैं। 'काम' इन्द्रियों में, 'क्रोध' मन में तथा 'लोभ' बुद्धि में अपना किला बनाता है। इस प्रकार वासनाओं की शतशः पुरियाँ यहाँ बन जाती हैं। इन्द्र और अग्नि, शक्ति व प्रकाश के तत्त्व इनका विनाश करते हैं। हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! **दासपत्नीः**=काम आदि जिनके पति हैं, ऐसी **नवतिं पुरः**=इन नव्बे नगरियों को **साकम्**=साथ मिलकर, **एकेन कर्मणा**=एक अद्भुत कर्म से **अधूनुतम्**=कम्पित कर देते हो। (२) शक्ति व प्रकाश अलग-अलग इन असुरपुरियों का विध्वंस नहीं कर पाते। ये मिलकर ही इनका विनाश कर पाते हैं। यही भाव 'साकं' शब्द से व्यक्त किया गया है। 'एकेन कर्मणा' शब्द का अर्थ 'अद्भुत कर्म' है। वस्तुतः इन नगरियों का विध्वंस स्वयं अपने में एक महान् कर्म है।

भावार्थ—हम शक्ति व प्रकाश का समन्वय करते हुए वासनाओं का विध्वंस कर डालें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—यवमध्याविराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'कर्मठ-ध्यानी' पुरुष

इन्द्रा॑ग्नी॒ अप॑स॒स्पर्यु॒प प्र य॑न्ति धी॒तय॑ः। ऋ॒तस्य॑ प॒थ्या॒३॑ अनु॑ ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! **अपसः**=कर्मशील पुरुष तथा **धीतयः**=ध्यानशील पुरुष **परि उप प्रयन्ति**=चारों ओर से प्रभु के समीप प्रकर्षेण जानेवाले होते हैं। शक्ति इन्हें कर्मशील बनाती है, प्रकाश (=ज्ञान) इनके ध्यान में विशेषता उत्पन्न करता है। (२) ये व्यक्ति सदा **ऋतस्य पथ्याः अनु**=ऋतमार्गों का लक्ष्य करके गतिवाले होते हैं। ये ऋतमार्ग पर चलते हैं। अनृत से सदा दूर रहते हैं। शक्ति व प्रकाश दोनों मिलकर मनुष्य को ऋतपालन के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—शक्ति व प्रकाश द्वारा ऋतमार्ग पर चलते हुए हम कर्मशील व ध्यानशील बनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शक्ति व प्रकाश का समन्वय

इन्द्राग्नी तविषाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च। युवोरप्तूर्यं हितम्॥ ८॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! **वाम्**=आप दोनों के **तविषाणि**=बल **च**=और **प्रयांसि**=प्रयत्न **सधस्थानि**=मिलकर होनेवाले हैं। प्रकाश के बिना शक्ति अधूरी है, शक्ति के बिना प्रकाश अधूरा है। दोनों के मेल में ही मानव का कल्याण है। (२) **युवोः**=आप दोनों में ही **अप्तूर्यम्**=कर्मों द्वारा वासनाओं का संहार **हितम्**=रखा है। शक्ति व प्रकाश द्वारा जब मनुष्य कर्मों में लगा रहता है तब वासनाओं का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—शक्ति व प्रकाश का समन्वय करके हम कर्मों में लगे रहें, यह कर्मव्यापृति हमारी वासनाओं का विनाश करेगी।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मस्तिष्क की दीप्ति व संग्रामविजय

इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः। तद्वां चेति प्र वीर्यम्॥ ९॥

(१) हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के तत्त्वो! आप **दिवः रोचना**=मस्तिष्करूप द्युलोक के दीप्त करनेवाले हो। ज्ञानरूपी सूर्य से मस्तिष्करूप द्युलोक चमक उठता है और आप **वाजेषु**=सब संग्रामों में व गतियों में **परिभूषथः**=शोभायमान होते हो अथवा शत्रुओं का पराभव करते हो (परिभवथः सा०)। (२) **वाम्**=आप दोनों का **तद् वीर्यम्**=वह वीर्य (शक्ति) **प्रचेति**=प्रकर्षेण ज्ञात होता है। 'शक्ति व प्रकाश के मेल में किस प्रकार मनुष्य दीप्त मस्तिष्क होता है और संग्रामों में शत्रु विजय कर पाता है' यह साधक अनुभव करते हैं।

भावार्थ—शक्ति व प्रकाश का समन्वय हमें दीप्तमस्तिष्क व संग्रामविजयी बनाता है।

सम्पूर्ण सूक्त 'शक्ति व प्रकाश के समन्वय' का माहात्म्य व्यक्त कर रहा है, इस समन्वय को करनेवाला व्यक्ति 'ऋषभः='श्रेष्ठ बनता है। सब का यह मित्र तो होता ही है 'वैश्वामित्रः'। यह 'ऋषभ वैश्वामित्र' प्रार्थना करता है कि—

द्वितीयोऽनुवाकः

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—ऋषभो वैश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिगुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

देवों व महादेव की प्राप्ति

प्र वो देवायाग्नये बर्हिष्ठमर्चास्मै। गमद्देवेभिरा स नो यजिष्ठो बर्हिरा सदत्॥ १॥

(१) **वः**=तुम्हारे **देवाय**=जीवन को द्योतित करनेवाले (देवः द्योतनात्) **अग्नये**=अग्रणी

अस्मै=इस प्रभु के लिए **बर्हिष्ठम्**=अत्यन्त प्रवृद्ध (बृहि वृद्धौ) इस स्तोत्र को **प्र अर्च**=(उच्चारयत सा०) प्रकर्षेण उच्चरित करो। इस स्तोत्र द्वारा प्रभु की अर्चना करो। (२) इस स्तवन के करने पर **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **देवेभिः**=दिव्यगुणों के साथ **आगमत्**=प्राप्त होते हैं और **यजिष्ठः**=वे पूज्यतम प्रभु हमारे **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसदत्**=आसीन होते हैं।

भावार्थ—स्तवन से हमें दिव्यगुण प्राप्त होते हैं और अन्ततः प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

हविष्मान्-सनिष्यन्

ऋ॒तावा॒ यस्य॒ रोद॑सी॒ दक्षं॒ सच॑न्त ऊ॒तयः॑। ह॒विष्म॑न्त॒स्तमी॑ळते॒ तं स॑नि॒ष्यन्तो॒ऽव॑से॥ २॥

(१) **ऋतावा**=वे प्रभु ऋतवाले हैं-ऋत का रक्षण करनेवाले हैं। **यस्य**=जिनके **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी हैं। द्यावापृथिवी के स्वामी वे प्रभु हैं। **ऊतयः**=(अव अवगम, प्राप्ति) प्रभु को जानने व प्राप्त करनेवाले व्यक्ति **दक्षं सचन्ते**=बल को प्राप्त करते हैं। (२) **तम्**=उस ऋत का रक्षण करनेवाले प्रभु को **हविष्मन्तः**=प्रशस्त हविवाले लोग **ईडते**=उपासित करते हैं। (हु दानादनयोः 'हविः') दानपूर्वक अदन (भक्षण) करनेवाले लोग प्रभु के सच्चे उपासक हैं। **तम्**=उस परमात्मा को **सनिष्यन्तः**=सम्पत्तियों का संविभागपूर्वक सेवन करते हुए लोग **अवसे**=रक्षण के लिए उपासन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के सच्चे उपासक सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले-यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हैं तथा उपासक वे हैं जो कि संविभागपूर्वक सम्पत्तियों का सेवन करते हैं।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

वनिता व दाता

स य॒न्ता विप्र॑ ए॒षां स य॒ज्ञाना॒मथा॒ हि षः। अ॒ग्निं तं वो॑ दुवस्यत॒ दाता॒ यो वनि॑ता म॒घम्॥ ३॥

(१) **सः**=वे प्रभु ही **यन्ता**=सब कुछ देनेवाले हैं अथवा नियामक हैं। **सः**=वे प्रभु ही **एषाम्**=इन उपासकों के, गतमन्त्र में वर्णित 'हविष्मान्' व 'सनिष्यन्' पुरुषों के **विप्रः**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। **अथा**=और **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **यज्ञानाम्**=सब यज्ञों के (विप्रः) पूरक हैं। (२) **तम्**=उस **वः अग्निम्**=तुम्हें आगे ले चलनेवाले उस प्रभु को **दुवस्यत**=पूजित करो। **दाता**=वे प्रभु ही सब कुछ देनेवाले हैं, **यः**=जो **मघं वनिता**=सब ऐश्वर्यों को विजय करते हैं। 'अहं धनानि संजयामि शश्वतः'।

भावार्थ—प्रभु ही सब धनों के विजेता व दाता हैं। उसी की पूजा करनी योग्य है।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शन्तम शर्म (शान्त गृह)

स न॒ः शर्मा॑णि वी॒तये॒ऽग्निर्य॑च्छतु॒ शन्त॑मा। यतो॑ नः प्रु॒ष्णव॒द्वसु॑ दि॒वि क्षि॒तिभ्यो॑ अ॒प्स्वा॥ ४॥

(१) **सः अग्निः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **वीतये**=(वी=प्रजन) अन्धकार दूर करने के लिए अथवा उत्तम गुणों के विकास के लिए **शन्तमा**=अत्यन्त शान्ति व सुख प्राप्त करानेवाले **शर्माणि**=गृहों को **यच्छतु**=दें। शान्त वातावरणवाले घरों में ही गुणों का विकास सम्भव है। (२) इन शान्त घरों को प्रभु हमें इसलिए दें **यतः**=जिससे कि हमें **दिवि**=द्युलोक में, **अप्सु**=अन्तरिक्षलोक में **क्षितिभ्यः**=इन पृथिवियों से **प्रुष्णवत्**=वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **वसु**=धन **आ**=(गच्छतु) प्राप्त हो। द्युलोक यहाँ मस्तिष्क है, उसमें हमें ज्ञानरूप धन प्राप्त हो, वह ज्ञान निरन्तर बढ़ता चले।

अन्तरिक्ष यहाँ हृदय है, उसमें श्रद्धा का धन हमें प्राप्त हो। हमारी श्रद्धा निरन्तर बढ़नेवाली हो। ये ज्ञान व श्रद्धा के धन क्षितियों से प्राप्त हों। **क्षिति**=पृथिवी, अर्थात् शरीर। शरीर स्वस्थ होने पर ही मस्तिष्क में ज्ञान का व हृदय में श्रद्धा का विकास होता है। ये हमारे ज्ञान व श्रद्धा के धन निरन्तर बढ़ते चलें।

भावार्थ—गृह के शान्त वातावरण में हम ज्ञान, श्रद्धा व स्वास्थ्य का विकास करनेवाले हों।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

'दीप्त-सदा तेजस्वी, दाता व रक्षक' प्रभु

दीदिवांसमपूर्व्यं वस्वीभिरस्य धीतिभिः। ऋक्वाणो अग्निमिन्धते होतारं विश्पतिं विशाम्॥ ५॥

(१) **अस्य**=उस प्रभु की **वस्वीभिः**=निवास को उत्तम बनानेवाली **धीतिभिः**=ध्यानवृत्तियों से **ऋक्वाणः**=स्तुति करता हुआ पुरुष **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **इन्धते**=अपने हृदय देश में दीप्त करता है। ध्यानपूर्वक प्रभु का स्तवन हमें प्रभुदर्शन के योग्य बनाता है। यह ध्यान हमारे इस जीवन के निवास को उत्तम करता है। (२) इस ध्यान द्वारा हम उस प्रभु को अपने में समिद्ध करते हैं, जो कि **दीदिवांसम्**=ज्ञान से दीप्त हैं-दीप्तिमय हैं। **अपूर्व्यम्**=तेजस्विता के कारण जो सदा अभिनव (नवीन) हैं-जो कभी पुराणे नहीं हो जाते। **होतारम्**=हमें उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं। **विशां विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के रक्षक हैं।

भावार्थ—ध्यान द्वारा प्रभु का दर्शन होता है। वे प्रभु दीप्त-सदा तेजस्वी, दाता व रक्षक हैं।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

ब्रह्म+उक्थ (ज्ञान+स्तवन)

उत नो ब्रह्मन्नविष उक्थेषु देवहूतमः। शं नः शोचा मरुद् वृधोऽग्ने सहस्रसातमः॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **देवहूतमः**=आप देवों द्वारा अधिक से अधिक आह्वान योग्य होते हैं। आप **नः**=हमें **ब्रह्मन्**=(ब्रह्मणि) ज्ञानप्राप्ति में **अविषः**=रक्षित करिए। आप से रक्षित होकर हम ज्ञान प्राप्त करनेवाले हों। **उत**=और **उक्थेषु**=स्तोत्रों में (अविषः) आप हमारा रक्षण करिए। आप से रक्षित हुए-हुए हम स्तुति आदि कार्यों को सम्यक् सम्पन्न करनेवाले हों। (२) हे प्रभो! आप **मरुद् वृधः**=प्राणों से बढ़नेवाले हैं। प्राणायाम से चित्तवृत्ति का निरोध होकर हमें आपका दर्शन होता है। **सहस्रसातमः**=आप हजारों धनों को देनेवाले हैं। आप **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्तिकर होते हुए **शोच**=दीप्त होइए। आपके उपासन से हमें शान्ति व दीप्ति प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु हमारे ज्ञान व स्तवन की वृत्ति को बढ़ायें। हमें शान्ति व दीप्ति प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

प्रार्थनीय धन

नू नो रास्व सहस्रवत्तोकवत्पुष्टिमद्वसु। द्युमदग्ने सुवीर्यं वर्षिष्ठमनुपक्षितम्॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नः**=हमारे लिए **नु**=शीघ्र ही **वसु**=धन को **रास्व**=दीजिए। जो धन **सहस्रवत्**=हजारों की संख्यावाला है, अर्थात् पर्याप्त है। **तोकवत्**=उत्तम सन्तानवाला है-जो धन हमारी सन्तानों को उत्तम बनाने में विनियुक्त होता है। **पुष्टिमत्**=हमारे पोषणवाला है। जिस धन द्वारा हम उचित आहार-विहार प्राप्त करते हुए अपना ठीक से पोषण कर पाते हैं। (२) जो धन **द्युमत्**=ज्योतिवाला है, ज्ञान की साधनभूत पुस्तकों आदि के संग्रह का साधन बनता हुआ हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। **सुवीर्यम्**=जो धन उत्तम वीर्य व पराक्रमवाला है-जिस धन

द्वारा हम सौम्य भोजनों को प्राप्त करके अपनी शक्ति का वर्धन करते हैं। **वर्षिष्ठम्**=जो धन बढ़ता ही है, **अनुपक्षितम्**=क्षीण नहीं होता, अर्थात् आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सदा पर्याप्त रहता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें वह धन प्राप्त हो जो कि हमारी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त होता हुआ हमारी '**वृद्धि, पुष्टि, ज्योति व शक्ति**' का कारण बनता है।

सम्पूर्ण सूक्त में प्रभु का अग्नि नाम से उपासन करते हुए उन्नति के लिए साधनभूत वस्तुओं की याचना की गई है। अगले सूक्त में भी प्रभु का अग्नि नाम से ही उपासन करते हुए कहते हैं—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—ऋषभो वैश्वामित्रः ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सत्यः-यज्वा

आ होता मन्द्रो विदथान्यस्थात्सत्यो यज्वा कवितमः स वेधाः।
विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केशः पृथिव्यां पाजो अश्रेत्॥ १ ॥

(१) प्रभु **विदथानि**=ज्ञानयज्ञों में **आ अस्थात्**=सर्वथा प्रतिष्ठित होते हैं। हम मिलकर ज्ञानचर्चा करें तो यह प्रभु का पूजन होता है और इन ज्ञानयज्ञों में ही हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। उन प्रभु की, जो कि **होता**=हमें सब कुछ देनेवाले हैं। **मन्द्रः**=आनन्दस्वरूप हैं, हमें आनन्द प्राप्त करानेवाले हैं। **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। **यज्वा**=इस सृष्टियज्ञ को करनेवाले हैं। **कवितमः**=सर्वज्ञ हैं। **सः**=वे प्रभु ही **वेधाः**=विधाता व सब सृष्टि के निर्माता हैं। (२) **विद्युद्रथः**=वे प्रभु हमारे इस शरीर रूप रथ को विशेषरूप से द्योतित करनेवाले हैं। **सहसः पुत्रः**=बल के (पुतले=) पुञ्ज हैं। **अग्निः**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं। **शोचिष्केशः**=ज्योतिर्मय दीप्त-ज्ञानरश्मियोंवाले हैं। ये प्रभु **पृथिव्याम्**=इस पृथिवीरूप शरीर में **पाजः**=शक्ति को **अश्रेत्**=(श्रयते प्रापयति सा०) प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानयज्ञों में प्रभु का पूजन करनेवाले बनें। हमारा जीवन सत्यवाला, यज्ञोंवाला व आनन्दमय होगा। हमें किसी आवश्यक चीज की कमी न रहेगी—अन्त तक हम शक्तिशाली बने रहेंगे।

ऋषिः—ऋषभो वैश्वामित्रः ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋत+सहस् (ऋतावः सहस्वः)

अयामि ते नमउक्तिं जुषस्व ऋतावस्तुभ्यं चेतते सहस्वः।
विद्वाँ आ वक्षि विदुषो नि षत्सि मध्य आ बर्हिरूतये यजत्र॥ २ ॥

(१) हे **ऋतावः**=ऋतवाले प्रभो! **ते**=आपके लिए **नमः उक्तिम्**=नमस्कार वचन को **अयामि**=(प्रेरयामि-उच्चारयामि) उच्चरित करता हूँ। वह नमस्कार वचन **जुषस्व**=आपको प्रिय हो। **चेतते**=ज्ञान को देनेवाले **तुभ्यम्**=आपके लिए मैं इस वचन का उच्चारण करता हूँ। हे **सहस्वः**=शक्तिमान् प्रभो! वह वचन आपकी प्रीति का कारण बने। (२) **विद्वान्**=सर्वज्ञ आप **विदुषः**=ज्ञानी पुरुषों को **आवक्षि**=हमें प्राप्त कराइए। इन ज्ञानियों के सम्पर्क में रहते हुए हम अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों। हे **यजत्र**=पूज्य प्रभो! आप **ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **बर्हिः मध्ये**=इस वासना-शून्य हृदय के मध्य में **आनिषत्सि**=सर्वथा आसीन होइए। हृदयस्थ आप से प्रेरणा प्राप्त करके हम सदा सदाचार के मार्ग में आगे बढ़ें।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति नमनवाले होकर 'ऋत और सहस्' को प्राप्त करें। विद्वानों के सम्पर्क में ज्ञानवृद्धि करें। हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा सुनें।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शक्ति+क्रियाशीलता+हवि

द्रवतां त उषसा वाजयन्ती अग्ने वातस्य पथ्याभिरच्छ।
यत्सीमञ्जन्ति पूर्व्यं हविर्भिरा वन्धुरेव तस्थतुर्दुरोणे॥ ३॥

(१) **उषसा**=उषाकाल से ही **वाजयन्ती**=शक्ति का सम्पादन करते हुए पति-पत्नी **ते द्रवताम्**=आपके प्रति आनेवाले हों। हमारे सारे व्यवहार शक्तिसम्पादन के अनुकूल हों। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'=बल हीनों से प्रभु पाए भी तो नहीं जा सकते। (२) हे **अग्ने**=प्रभो! आप **वातस्य पथ्याभिः**=वायु के मार्गों से हमें **अच्छ**=आभिमुख्येन प्राप्त होइए। जैसे वायु निरन्तर गतिशील है, इसी प्रकार निरन्तर गतिशील व्यक्तियों को ही प्रभु प्राप्त होते हैं। (३) **यत्**=जब **सीम्**=निश्चय से **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम आपको **हविर्भिः**=हवियों द्वारा-त्यागपूर्वक अदन द्वारा **अञ्जन्ति**=प्राप्त होते हैं (अञ्ज् गतौ) तो ये पति-पत्नी **वन्धुरा इव**=बड़े सुन्दर से जीवनवाले बनकर **दुरोणे**=गृह में **आतस्थतुः**=स्थित होते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के तीन उपाय हैं—(क) शक्ति का सम्पादन, (ख) वायु की तरह निरन्तर क्रियाशीलता, (ग) हवि का स्वीकार, अर्थात् त्यागपूर्वक अदन। इस प्रकार के पति-पत्नी सुन्दर जीवनवाले बनकर गृह में स्थित होते हैं।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मित्र, वरुण व मरुत्'

मित्रश्च तुभ्यं वरुणः सहस्वोऽग्ने विश्वे मरुतः सुम्नमर्चन्।
यच्छोचिषा सहसस्पुत्र तिष्ठा अभि क्षितीः प्रथयन्त्सूर्यो नॄन्॥ ४॥

(१) हे **सहस्वः**=शक्ति के पुञ्ज, **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तुभ्यम्**=आपके लिए **मित्रः च**=मित्र **वरुणः**=वरुण और **विश्वे**=सब **मरुतः**=प्राण **सुम्नं अर्चन्**=स्तोत्र को करते हैं। वस्तुतः प्रभु के उपासक 'मित्र, वरुण व प्राण' हैं, अर्थात् प्रभु का उपासक वही है जो कि—(क) सबके साथ स्नेह करता है, (ख) किसी के साथ द्वेष नहीं करता (ग) तथा प्राणसाधना का करनेवाला होता है। प्रभु की अर्चना से यह भी शक्तिशाली बनता है और जीवन में आगे बढ़ता है। (२) हे **सहसस्पुत्र**=बल के पुञ्ज प्रभो! **यत्**=जब आप **सूर्यः**=सूर्यसम ज्योतिवाले होते हुए **शोचिषः**=दीप्ति से **क्षितीः अभि**=मनुष्यों की ओर **तिष्ठा**=स्थित होते हैं तो **नॄन्**=इन अग्रगतिवाले पुरुषों को **प्रथयन्**=विस्तृत शक्तिवाला करते हैं। सूर्य-प्रकाश में मनुष्य मार्ग पर आगे बढ़ता है, इसी प्रकार उस सुष्ठु प्रेरक (सूर्य) प्रभु प्रेरणा में ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य विस्तृत शक्तिवाला बनता है।

भावार्थ—उपासक सबके प्रति स्नेहवाला, निर्द्वेष व प्राणसाधना करनेवाला होता है। प्रभु की दीप्ति से दीप्त होकर प्रवृद्ध-शक्तिवाला होता है।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तानहस्त

वयं ते अद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य।
यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवानस्रेधता मन्मना विप्रो अग्ने॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वयम्**=हम **अद्य**=आज **ते**=तेरे प्रति **कामम्**=अपनी इच्छा को **ररिमा हि**=दे ही डालते हैं। हम अपनी इच्छा को आपकी इच्छा में मिला देते हैं। **उत्तानहस्ताः**=ऊपर फैलाए हुए हाथोंवाले हम (उत्तान=elevated), हाथ पर हाथ रखकर जो बैठ नहीं गए, अपितु कार्यों में लगे हुए हैं, ऐसे हम **नमसा उपसद्य**=नमन द्वारा आपकी उपासना करते हुए अपनी इच्छा को आपकी इच्छा में मिला देते हैं। (१) प्रभु अपने इस उपासक से कहते हैं कि **यजिष्ठेन**=अधिक से अधिक यज्ञ की वृत्तिवाले **मनसा**=मन से **देवान् यक्षि**=तू दिव्यगुणों को अपने साथ संगत कर। हम यदि यज्ञादि कर्मों में लगते हैं तो उससे हमारे में दिव्यता का वर्धन होता है। तथा **अस्त्रेधता**=न क्षीण होते हुए **मन्मना**=ज्ञान से तू **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला बन। जितना अधिक ज्ञान में प्रवृत्त होंगे, उतना ही हमारा जीवन अधिकाधिक पवित्र होता चलेगा।

भावार्थ—हम अपनी इच्छा को परमात्मा की इच्छा में मिला दें। हाथ पर हाथ रखकर बैठ न जाएँ। यज्ञिय-वृत्तिवाला हमारा मन हो। हमारा ज्ञान अक्षीण हो।

सूचना—'उत्तानहस्त' शब्द की यह भी भावना है कि हमारा हाथ सदा उत्तान हो, उत्तम हो, ऊपर हो नीचे नहीं। हम सदा देनेवाले हों-उत्तमर्ण न कि अधमर्ण।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

द्रोहशून्य सत्यवाणी

त्वद्धि पुत्र सहसो वि पूर्वीर्देवस्य यन्त्यूतयो वि वाजाः।
त्वं देहि सहस्रिणं रयिं नोऽद्रोघेण वचसा सत्यमग्ने॥ ६॥

(१) हे **सहसः पुत्र**=बल के पुतले, सर्वशक्तिमान् प्रभो! **देवस्य**=गतमन्त्र के अनुसार देववृत्तिवाले पुरुष की **पूर्वीः ऊतयः**=पालन व पूरण करनेवाली अथवा उसे प्रथम स्थान में पहुँचानेवाली रक्षाएँ **हि**=निश्चय से **त्वत्**=आप से ही **यन्ति**=प्राप्त होती हैं। **वाजः**=सब शक्तियाँ **वि (यन्ति)**=आप से ही विशेषरूप से प्राप्त होती हैं। जो भी देववृत्तिवाला बनता है, प्रभु उसका रक्षण करते हैं और उसे शक्तियाँ प्राप्त कराते हैं। (२) हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **सहस्रिणं रयिम्**=सहस्र संख्याक धन को **देहि**=दीजिये। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमारे लिए **अद्रोघेण वचसा**=द्रोह-शून्य वचन के साथ **सत्यम्**=सत्य को दीजिए। हमारी वाणी में कटुता व हिंसा का भाव न हो, यह सदा सत्य हो।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें आप से रक्षण प्राप्त हो, शक्तियाँ प्राप्त हों, सहस्र संख्याक धन हमें प्राप्त हों और द्रोहशून्य सत्यवाणी प्राप्त हो।

ऋषिः—**ऋषभो वैश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'दक्षता, प्रज्ञा, शक्ति व प्रकाश'

तुभ्यं दक्ष कविक्रतो यानीमा देव मर्तासो अध्वरे अकर्म।
त्वं विश्वस्य सुरथस्य बोधि सर्वं तदग्ने अमृत स्वदेह॥ ७॥

(१) हे **दक्ष**=सब दृष्टिकोणों से समृद्ध प्रभो! **कविक्रतो**=क्रान्तप्रज्ञ सर्वशक्तिमन् प्रभो! **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए **मर्तासः**=हम मरणधर्मा मनुष्य **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **यानि**=जिन **इम**=इन **अकर्म**=कर्मों को करते हैं, तो आप **विश्वस्य**=सब **सुरथस्य**=उत्तम शरीर रूप रथवालों का **बोधि**=ध्यान करते हैं। प्रभु ऐसे व्यक्तियों को 'दक्षता, प्रज्ञा, शक्ति व प्रकाश' प्राप्त कराते हैं। इनको प्राप्त करके इनके जीवन सुन्दर बन जाते हैं। (२)

हे **अमृत**=अमर व अमरता को देनेवाले (न मृतं यस्मात्) **अग्ने**=परमात्मन्! आप **इह**=इस जीवन में **तत् सर्वम्**=उन इन्द्रिय, मन व बुद्धि आदि सब को **स्वद**=मधुर बना दीजिए। इन्द्रियों के माधुर्य से हमारे सब व्यवहार मधुर होंगे। मन का माधुर्य हमें शान्ति देगा। बुद्धि की मधुरता हमें वह विवेक प्राप्त कराएगी जो कि हमारे मोक्ष का कारण बन पाएगा।

भावार्थ—प्रभु कृपा से कर्मशील हम लोगों को 'दक्षता, प्रज्ञा, शक्ति व प्रकाश' प्राप्त हो। इन्हें प्राप्त करके हम 'सुरथ' बनें। हमारे सब इन्द्रिय, मन व बुद्धि मधुर हों।

इस सूक्त में प्रथम मन्त्र में 'विद्युद्रथः' तथा अन्तिम मन्त्र में 'सुरथस्य' शब्द का प्रयोग स्पष्ट कर रहा है कि सूक्त का विषय जीवन को सुन्दर बनाना है। जीवन को सुन्दर बनाने के लिए ही यह 'उत्कील'=उत्कृष्ट व्रतों के बन्धनवाला बनकर 'कात्य' (क+तम्) सुख का विस्तार करनेवाला बनता है। इसकी प्रार्थना है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्वेषों, राक्षसीभावों व रोगों से दूर

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः।

सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहं सुहवस्य प्रणीतौ ॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **पृथुना**=विस्तृत **पाजसा**=बल से **विशोशुचानः**=विशेषरूप से दीप्त होते हुए आप हमारे **द्विषः**=द्वेष के भावों को **रक्षसः**=राक्षसी-वृत्तियों को तथा **अमीवाः**=रोगों को **बाधस्व**=हमारे से दूर रोक दीजिए। हमारे तक इन द्वेषों, राक्षसीभावों व रोगों की पहुँच ही न हो। (२) मैं **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **सुशर्मणः**=उत्तम रक्षण के (शर्म protection) **शर्मणि**=सुख में **स्याम्**=निवास करूँ। **अहम्**=मैं **सुहवस्य**=सुगमता से पुकारने योग्य आपके **प्रणीतौ**=प्रणयन में चलूँ। आपकी प्रेरणा सुनकर उसके अनुसार चलनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके हम द्वेष व राक्षसीभावों से ऊपर उठें, नीरोग जीवनवाले हों। प्रभु के रक्षण में सुख प्राप्त करें। प्रभु की प्रेरणा में चलें।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शक्तियों के विस्तार द्वारा उत्तम विकास

त्वं नो अस्या उषसो व्युष्टौ त्वं सूर उदिते बोधि गोपाः।

जन्मेव नित्यं तनयं जुषस्व स्तोमं मे अग्ने तन्वा सुजात॥ २॥

(१) **त्वम्**=हे परमात्मन्! आप **अस्याः**=इस **उषसः**=उषा के **व्युष्टौ**=उदित होने पर **नः**=हमारे **गोपाः**=रक्षक होते हुए **बोधि**=ध्यान करिए। **त्वम्**=आप **सूरे उदिते**=सूर्य के उदय होने पर हमारा ध्यान करिए, आप से रक्षा प्राप्त करके हम प्रत्येक उषा को-प्रत्येक सूर्योदय के समय को बड़ी सुन्दरता से बितानेवाले हों। (२) **इव**=जैसे **जन्म**=जनक व पिता **नित्यं तनयम्**=अपने औरस पुत्र को प्रेम करता है, इसी प्रकार **अग्ने**=हे परमात्मन्! **तन्वा**=प्रत्येक शक्ति के विस्तार से **सुजात**=उत्तम प्रादुर्भाववाले प्रभो! **मे स्तोमं जुषस्व**=मेरे स्तवन का सेवन करिए। मेरे द्वारा किया गया आपका स्तवन आपके लिये प्रिय हो। आपका मेरे द्वारा किया गया सच्चा स्तवन यही तो है कि मैं भी अपनी शक्तियों का विस्तार करता हुआ उत्तम विकासवाला बनूँ। मैं शरीर को अधिक से अधिक स्वस्थ बनाऊँ, मन की निर्मलता को सिद्ध करूँ और तीव्रबुद्धि बनने का यत्न करूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के रक्षण में चलें। प्रभुस्तवन करते हुए, प्रभु जैसे बनते हुए प्रभु के प्रिय हों।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अन्धकार में भी प्रकाश

त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो वि भाहि।
वसो नेषि च पर्षि चात्यंहः कृधी नो राय उशिजो यविष्ठ॥ ३॥

(१) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् व सब सुखों का वर्षण करनेवाले **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले हैं। **अरुषः**=आरोचमान आप **कृष्णासु**=अन्धकारमयी रात्रियों में **अनु**=क्रमशः **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाली ज्ञान-ज्योतियों को **विभाहि**=विशेषरूप से प्रकाशित करिए। हमारे जीवनों में जब भी अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत हो, उस समय आपका ध्यान हमें प्रकाश प्राप्त करानेवाला हो। (२) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **नेषि च**=आप हमें सन्मार्ग से ले चलते हैं, **च**=और **अंहः अतिपर्षि**=पाप से पार प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार हे **यविष्ठ**=हमें बुराइयों से दूर तथा अच्छाइयों के समीप करनेवाले प्रभो! **उशिजः**=आपकी ही कामनावाले **नः**=हमें **राये**=दान देने योग्य धनों के लिए **कृधी**=करिए। हमें धनों की कमी न हो, उन धनों में हमें आसक्ति न हो। आपका उपासन करते हुए हम सदा धनों को सत्कार्यों में व्यय करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से चारों ओर अन्धकार होने पर भी हमें अन्दर प्रकाश प्राप्त हो। पाप से दूर रहते हुए हम धनों को देनेवाले हों।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञ व रक्षण

अषाळ्हो अग्ने वृषभो दिदीहि पुरो विश्वाः सौभगा संजिगीवान्।
यज्ञस्य नेता प्रथमस्य पायोर्जातवेदो बृहतः सुप्रणीते॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अषाढः**=शत्रुओं से कभी पराजित न होनेवाले तथा **वृषभः**=शक्तिशाली व सब सुखों का वर्षण करनेवाले आप **दिदीहि**=हमारे अन्तःकरणों में दीप्त होइये। आप **विश्वाः पुरः**=शत्रुओं की सब पुरियों को तथा **सौभगा**=धनों को **संजिगीवान्**=जीतनेवाले होइये। इन्द्रियों में बनी हुई कामासुर की पुरी को जीतकर मुझे स्वास्थ्य का धन प्राप्त कराइये। इस धन से मेरी सब इन्द्रियाँ सशक्त बनें। मन में क्रोधासुर की पुरी का विध्वंस करके मुझे मानस शान्ति प्राप्त कराइये। तथा बुद्धि में बने हुए लोभ के किले का विध्वंस करके मेरी बुद्धि को प्रकाशमय करिए। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ **सुप्रणीते**=हमारा उत्तम प्रणयन करनेवाले प्रभो! आप हमारे जीवनों में **यज्ञस्य नेता**=यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रणयन करनेवाले हैं तथा **प्रथमस्य**=सर्वमुख्य व विस्तृत **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **पायोः**=रक्षण के **नेता**=प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु काम-क्रोध-लोभ को विनष्ट करके हमें सब सौभाग्यों व ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। हमें यज्ञशील बनाते हैं तथा हमें सर्वोच्च रक्षण प्राप्त कराते हैं। काम-क्रोध-लोभ के आक्रमण से बचाना ही सर्वोच्च रक्षण है। यज्ञात्मक-वृत्ति ही वस्तुतः रक्षण का साधन बन जाती है।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमेके रोदसी

अच्छिद्रा शर्म जरितः पुरूणि देवाँ अच्छा दीद्यानः सुमेधाः।

रथो न सस्निरभि वक्षि वाजमग्ने त्वं रोदसी नः सुमेके॥ ५॥

(१) हे **जरितः**=हमारी वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! हमारे **शर्म**=सुख **अच्छिद्रा**=बिना छिद्र के हों, निरन्तर हों, ये सुख **पुरूणि**=पालक व पूरक हों। आप **देवान् अच्छा**=देवों की ओर **दीद्यानः**=चमकनेवाले हों और **सुमेधाः**=उन्हें शोभन-बुद्धि को प्राप्त करानेवाले हों। (२) **रथः न**=उन देववृत्ति के व्यक्तियों के लिये आप रथ के समान हों। **सस्निः**=उनके जीवन का शोधन करनेवाले हों। उन्हें **वाजं अभिवक्षि**=बल को प्राप्त कराएँ। हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नः**=हमारे **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाला करें। 'द्यावा' मस्तिष्क है, 'पृथिवी' शरीर है। प्रभु हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों को क्रमशः प्रकाश व शक्ति से युक्त करें।

भावार्थ—हमारे सुख 'वासनामय' न हों। प्रभु को अपना रथ बनाकर हम जीवनयात्रा को पूर्ण करें। हमारा मस्तिष्क व शरीर दोनों बड़े उत्तम हों।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दुर्मति से दूर

प्र पीपय वृषभ जिन्व वाजानग्ने त्वं रोदसी नः सुदोघे।

देवेभिर्देव सुरुचा रुचानो मा नो मर्तस्य दुर्मतिः परि ष्ठात्॥ ६॥

(१) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् प्रभो! **प्र पीपय**=आप हमारा प्रकर्षेण आप्यायन करनेवाले होइये। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **वाजान्**=शक्तियों को **जिन्व**=दीजिए। **त्वम्**=आप **नः रोदसी**=हमारे द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **सुदोघे**=उत्तम प्रपूरणवाला करिए (दुह प्रपूरणे) मस्तिष्क ज्ञान से पूर्ण हो और शरीर शक्ति-सम्पन्न हो। (२) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **देवेभिः**=दिव्यगुणों के साथ तथा **सुरुचा**=उत्तम ज्ञानदीप्ति के साथ **रुचानः**=हमें चमकाते हुए आप हों। प्रभुकृपा से हम मनों में दिव्यगुणोंवाले हों और मस्तिष्क में ज्ञानदीप्तिवाले हों। **मर्तस्य**=विषयों के पीछे मरनेवाले प्राकृत मनुष्य की **दुर्मतिः**=दुष्टबुद्धि **नः मा परिष्ठात्**=हमारे चारों ओर स्थित न हो। हम दुर्बुद्धि से घिरे न रहें। दुर्बुद्धि से सदा दूर रहें।

भावार्थ—हमारा आप्यायन हो-हम शक्तिसम्पन्न बनें। दुर्मति से दूर रहें।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'विजावा तनयः' सूनुः

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।

स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥ ७॥

३.६.११ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त 'द्वेष, राक्षसीभाव व रोगों' से ऊपर उठने पर बल देता है। अगले सूक्त में भी 'सुवीर्य' द्वारा जीवन उत्तम बनाने के लिए प्रार्थना है—

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सुवीर्य, धन व ज्ञान

अयमग्निः सुवीर्यस्येशे महः सौभगस्य। राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम्॥ १ ॥

(१) **अयम्**=यह **अग्निः**=प्रगतिशील-जीव **सुवीर्यस्य ईशे**=उत्तम शक्ति का ईश बनता है। सात्त्विक भोजन के सेवन से इसमें सात्त्विक शक्ति उत्पन्न होती है, इस शक्ति का यह औरों के रक्षण में ही विनियोग करता है और इस प्रकार यह **महः सौभगस्य**=महान् सौभाग्य का-यश का ईश बन जाता है। यह सुवीर्य इसके सौभग का कारण बनता है। बल के साथ यश का मेल हो जाता है। (२) यह अग्नि **रायः ईशे**=धन का स्वामी बनता है। उस धन का स्वामी बनता है, जिसे कि यह 'रा दाने' दान देनेवाला होता है। इस दान के कारण ही यह धन **'स्वपत्यस्य'**=उत्तम सन्तानवाला होता है 'श्रदस्मै वचसे नरो दधातन यदाशीर्दा दम्पती नाममश्नुतः'। दान देनेवाली पति-पत्नियों के सन्तान उत्तम ही होते हैं। 'स्वपत्यस्य' का अर्थ न पतन के हेतुभूत यह भी है। 'अग्नि' उस धन का स्वामी बनता है, जो धन उसके पतन का कारण नहीं बनता। इस धन द्वारा वह उत्थान के साधनों को ही जुटाता है। (३) **गोमतः ईशे**=यह गोमानों का ईश बनता है 'गावः वेदवाचः' वेदवाणियों के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ बनता है और इसीलिए **वृत्रहथानाम्**=वृत्र के मारनेवालों में भी अग्रणी होता है। ज्ञान द्वारा यह वासना (वृत्र) का संहार करता है।

भावार्थ—'अग्नि'=प्रगतिशील वह है जो कि रक्षण में विनियुक्त होनेवाले यशस्वी बल का ईश बनता है, धनों को दान देता हुआ उन्हें पतन का कारण नहीं बनने देता और ज्ञान की वाणियों को ग्रहण करता हुआ वासनाओं का विनाश करता है।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दुर्विचारों व दुर्भावों का अभिभव

इमं नरो मरुतः सश्चता वृधं यस्मिन्रायः शेवृधासः ।
अभि ये सन्ति पृतनासु दूढ्यो विश्वाहा शत्रुमादभुः॥ २ ॥

(१) हे **मरुतः नरः**=प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **इमम्**=इस **वृधम्**=सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए परमात्मा का **सश्चता**=सेवन करनेवाले बनो। **प्राणसाधना द्वारा** चित्तवृत्ति का निरोध होकर प्रभु का साक्षात्कार होता है। उस प्रभु का, **यस्मिन्**=जिसमें कि **शेवृधासः**=सुखों का वर्धन करनेवाले **रायः**=धन हैं। प्रभु उन सब धनों का आधार हैं जो कि हमारे सुख का कारण बनते हैं। (२) प्रभु का सेवन करनेवाले वे हैं **ये**=जो कि **पृतनासु**=संग्रामों में **दूढ्यः**=(दुर्धियः) दुष्ट विचारों को **अभिसन्ति**=अभिभूत करते हैं और **विश्वाहा**=सदा **शत्रुम्**=विनाश करनेवाले 'काम-क्रोध-लोभ' आदि का **आदभुः**=हिंसन करते हैं। प्रभु का उपासक दुष्ट विचारों से व काम-क्रोध आदि दुष्ट वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा प्रभु का उपासन करते हुए हम सुखवर्धक धनों को प्राप्त करें और दुर्विचारों व दुर्भावों को अभिभूत करनेवाले हों।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

उत्कृष्ट धन

स त्वं नो रायः शिशीहि मीढ्वो अग्ने सुवीर्यस्य ।
तुविद्युम्न वर्षिष्ठस्य प्रजावतोऽनमीवस्य शुष्मिणः ॥ ३ ॥

(१) हे **मीढ्वः**=सुखों का वर्षण करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **नः रायः शिशीहि**=हमारे धनों को तीक्ष्ण करिए-बढ़ाइए। उन धनों को जो कि **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीर्य व शक्तिवाले हैं। धन प्राप्त करके, विषय वासनाओं में फँसकर, हम अपनी शक्ति को नष्ट न कर लें। (२) हे **तुविद्युम्न**=बढ़े हुए महान् धनवाले प्रभो! हमें वह धन दीजिए जो कि **वर्षिष्ठस्य**=वृद्धतम-प्रभूत है (more than sufficient। **प्रजावतः**=जो उत्तम सन्तानवाला है अथवा उत्तम विकासवाला है। धन के कारण हमारी सन्तान बिगड़ न जाएँ। **अनमीवस्य**=जो धन नीरोगता देनेवाला है। धन के कारण, विषयों में फँसकर, हम रोगी ही न हो जाएँ। **शुष्मिणः**=हमें वह धन दीजिए जो कि शत्रु-शोषक बलवाला है। धन के कारण हम काम-क्रोध आदि के लिये गम्य न हो जाएँ।

भावार्थ—हमें वह धन दीजिए जो कि हमें 'सुवीर्य, प्रजावान्, नीरोग व शत्रुशोषक शक्तिवाला' बनाए तथा पर्याप्त हो।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

देव-शंस व सुवीर्य

चक्रिर्यो विश्वा भुवनाभि सासहिश्चक्रिर्देवेष्वा दुवः ।
आ देवेषु यतत आ सुवीर्य आ शंस उत नृणाम् ॥ ४ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **विश्वा भुवना**=सब लोकों को **चक्रिः**=बनाते हैं, जो **अभिसासहिः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। जो प्रभु **देवेषु**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों में **दुवः**=(Wealth) धन को **आचक्रिः**=सब प्रकार से करनेवाले हैं। (२) ये प्रभु **देवेषु**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों में **आयतते**=(आभिमुख्येन गच्छति) आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं, **सुवीर्ये**=उत्तम शक्तिवाले में प्राप्त होते हैं। **उत**=और **नृणाम्**=मनुष्यों में **शंसे**=शंसन करनेवाले व स्तुति करनेवाले में **आ**=प्राप्त होते हैं। प्रभु की प्राप्ति 'देव, सुवीर्य व शंसों' को होती है। 'विद्वांसो हि देवाः' ज्ञानी पुरुष ही देव हैं। इसी प्रकार प्रभुप्राप्ति उसको होती है जो कि (क) मस्तिष्क के दृष्टिकोण से देव है, (ख) मन के दृष्टिकोण से शंस है, (ग) तथा शरीर के दृष्टिकोण से सुवीर्य है। (३) ये प्रभु ही देवों को धन प्राप्त कराते हैं। शंसन व स्तवन करनेवालों के काम-क्रोध आदि का पराभव करते हैं। सुवीर्य पुरुषों के अंग-प्रत्यंगों का सुन्दर निर्माण करते हैं।

भावार्थ—हम देव बनकर धन के पात्र हों। स्तवन करनेवाले होकर काम आदि का पराभव करनेवाले हों। सुवीर्य बनकर सुन्दर अंग-प्रत्यंगवाले हों।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'अज्ञान, अवीरता व अप्रशस्तेन्द्रियता' से दूर

मा नो अग्नेऽमतये मावीरतायै रीरधः । मागोतायै सहसस्पुत्र मा निदेऽप द्वेषांस्या कृधि ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमें **अमतये**=अज्ञान के लिये **मा रीरधः**=मत सिद्ध करिए,

हमें अज्ञान का विषय न बनाइये। **अवीरतायै**=अवीरता के लिए भी हमें मत सिद्ध करिए। न हम अज्ञानी हों, न अवीर हों। मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न व शरीर में शक्ति-सम्पन्न हों। (२) हे **सहसस्पुत्र**=बल के पुतले-बल के पुञ्ज प्रभो! हमें **अगोतायै**=(गावः इन्द्रियाणि) अप्रशस्तेन्द्रियता के लिए **मा**=मत सिद्ध करिए। हमारी सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य बड़ी अच्छी तरह से करनेवाली हों। हमें **निदे**=निन्दा के लिये **मा**=मत सिद्ध करिए। हम कभी भी निन्दा के पात्र न हों। हे प्रभो! आप **द्वेषांसि**=द्वेषों को **अपाकृधि**=हमारे से दूर करिए।

भावार्थ—हम 'ज्ञान, वीरता, प्रशस्तेन्द्रियता व अनिन्दा' को प्राप्त हों, तथा धर्मों का प्रतिपालन आवश्यक है तथा ज्ञानप्राप्ति हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है। प्रभु हमें पवित्र बनाते हैं और हमारे साथ दिव्यगुणों का सम्पर्क करते हैं।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

यज्ञ से समृद्धि

शुग्धि वाजस्य सुभग प्रजावतोऽग्ने बृहतो अध्वरे।
सं राया भूयसा सृज मयोभुना तुविद्युम्न यशस्वता॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=विद्वन्! तू **अध्वरम्**=अहिंसित उत्तम व्यवहार में **प्रजावतः**=प्रजा से युक्त **बृहतः**=बड़े **वाजस्य**=बल को प्राप्त करने में **शग्धि**=समर्थ हो बलवान् बन। (२) हे **सुभग**=विभूतियों के स्वामिन्! हे **तुविद्युम्न**=ऐश्वर्यों के स्वामिन् तू **मयोभुना**=सुख उत्पादक **यशस्वता**=कीर्त्ति से सम्पन्न **राया**=धन से **संसृज**=हमें सम्पन्न कर।

भावार्थ—मनुष्य को हिंसा रहित उद्यमों द्वारा समृद्ध बनना चाहिये।

इस सूक्त में मनुष्यों को तेजस्वी, बलवान् और सम्पन्न बनने की प्रेरणा दी गयी है। अग्रिम सूक्त भी इसी की पुष्टि करता है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अग्नि के समान तेजस्वी

समिध्यमानः प्रथमानु धर्मा समक्तुभिरज्यते विश्ववारः।
शोचिष्केशो घृतनिर्णिक्पावकः सुयज्ञो अग्निर्यजथाय देवान्॥ १॥

(१) जैसे **यजथाय**=यज्ञ के लिये **समिध्यमानः**=प्रदीप्त अग्नि **प्रथमा धर्मा अनु**=विस्तृत, श्रेष्ठ, प्रसिद्ध धर्मों के अनुसार **अक्तुभिः**=घृतादि से **अञ्जते**=दीप्त किया जाता है। **विश्ववारः**=सबसे वरणीय **शोचिष्केशः**=किरणों से युक्त **घृतनिर्णिक्**=घृत से पवित्र **पावकः**=पवित्र करनेवाला **सुयज्ञः**=उत्तम यज्ञ का साधन होकर **अग्नि देवान् यजथाय भवति**=जो अग्रणी प्रभु विद्वानों को ज्ञान देने में समर्थ होता है।

भावार्थ—सभी मनुष्यों को दीप्तमान अग्नि के समान ऊपर उठना चाहिए।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभुकृत ज्ञानयज्ञ

यथायजो होत्रमग्ने पृथिव्या यथा दिवो जातवेदश्चिकित्वान्।
एवानेन हविषा यक्षि देवान्मनुष्वद्यज्ञं प्र तिरेममद्य॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यथा**=जिस प्रकार आपने **पृथिव्याः**=पृथिवी के **होत्रम्**=ज्ञानदान रूप यज्ञ को **अयजः**=किया और **जातवेदः**=सर्वज्ञ, **चिकित्वान्**=हमारे सब रोगों की चिकित्सा करनेवाले प्रभो! **यथा**=जैसे **दिवः**=द्युलोक के होत्र को आपने किया। **एवा**=इस प्रकार **अनेन हविषा**=इस ज्ञानदानरूप प्रक्रिया से **देवान् यक्षि**=सब देवों को हमारे साथ संगत करिए। अन्तरिक्षस्थ सब देवों के पदार्थों का हमें ज्ञान दीजिए। 'इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीया उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति' इस मन्त्रभाग में इसी ज्ञानयज्ञ का उल्लेख है। यहाँ ज्ञानाग्नि की तीन समिधाएँ 'पृथिवी, द्युलोक व अन्तरिक्षलोक' कही गई हैं। (२) हे प्रभो! आप **अद्य**=आज हमारे **इमम्**=इस **मनुवत् यज्ञम्**=ज्ञानवाले यज्ञ को **प्रतिर**=बढ़ाइये। आप से ज्ञान प्राप्त करके इसी ज्ञान को हम औरों के लिए देनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में हमारे लिए 'पृथिवी, द्युलोक व अन्तरिक्ष' में स्थित सभी देवों (पदार्थों) का ज्ञान दिया। हम भी सदा इस ज्ञानयज्ञ को करनेवाले बनें।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुस्मरण से कामादि का दहन

त्रीण्यायूंषि तव जातवेदस्तिस्र आजानीरुषसस्ते अग्ने ।
ताभिर्देवानामवो यक्षि विद्वानथा भव यजमानाय शं योः ॥ ३ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! हमारे **त्रीणि आयूंषि**=तीनों जीवन **तव**=आपके हों। जीवन का प्रातःसवन, माध्यन्दिन-सवन तथा सायन्तन-सवन ये तीनों आपकी उपासना में बीतें। बाल्य, यौवन व वार्धक्य तीनों कालों में हम आपका स्मरण करें। **तिस्रः उषसः**=(उष दाहे) तीनों दहन, 'काम-क्रोध-लोभ' का दहन, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते आजानीः**=आपको जन्म देनेवाले हों। काम आदि को दग्ध करके हम आपका दर्शन करनेवाले हों। (२) **ताभिः**=उन उषाओं से, उन काम-क्रोध-लोभ के दहन से **देवानां अवः**=देवताओं का रक्षण हमारे साथ **यक्षि**=संगत करिए। काम-क्रोध-लोभ का दहन होने पर ही 'प्रेम, करुणा व उदारता' का उद्भव होता है। इस प्रकार दिव्यगुणों को उत्पन्न करके **अथा**=अब **शं योः भव**=यजमान के लिए शान्ति को देनेवाले तथा भयों का यावन (पार्थक्य) करनेवाले होइये।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें, इससे काम-क्रोध-लोभ का दहन होता है, दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है और शान्ति व निर्भयता प्राप्त होती है।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की उपासना से अमृतत्त्व की प्राप्ति

अग्निं सुदीतिं सुदृशं गृणन्तो नमस्यामस्त्वेड्यं जातवेदः ।
त्वां दूतमरतिं हव्यवाहं देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम् ॥ ४ ॥

(१) **अग्निम्**=निरन्तर गतिशील (अगि गतौ) **सुदीतिम्**=उत्तम दीप्तिवाले, **सुदृशम्**=अत्यन्त दर्शनीय (सुन्दर) **त्व**=आपका **गृणन्तः**=स्तवन करते हुए, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ईड्यम्**=स्तुत्य आपको **नमस्यामः**=नमस्कार करते हैं। आपके उपासन से ही हमारा जीवन 'क्रियाशील, दीप्तिवाला, तेजस्वी व स्तुत्य' बनता है। (२) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **त्वाम्**=आपको ही **अकृण्वन्**=उपासित करते हैं, जो आप **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं, **अरतिम्**=सर्वभृत् होते हुए भी अ-सक्त हैं (असक्तं सर्वभृच्चैव) अथवा (ऋ गतौ) गतिशील हैं और **हव्यवाहम्**=सब हव्य पदार्थों को प्राप्त

करानेवाले हैं। ये प्रभु ही **अमृतस्य नाभिम्**=अमृतत्त्व का केन्द्र हैं। इनकी उपासना से अमृतत्त्व प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु दीप्त व दर्शनीय हैं। प्रभु की उपासना से ही अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—उत्कीलः कात्यः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञ व दिव्य भाव

यस्त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान्द्विता च सत्ता स्वधया च शंभुः ।
तस्यानु धर्म प्र यजा चिकित्वोऽथा नो धा अध्वरं देववीतौ ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **त्वत् होता**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला है, **पूर्वः**=अपना पालन व पूरण करनेवाला है, **यजीयान्**=अतिशयेन यज्ञशील है, **द्विता च सत्ता**=और दो के विस्तार से आसीन होनेवाला है, अर्थात् शक्ति व ज्ञान दोनों का विस्तार करनेवाला है अथवा इहलोक व परलोक दोनों का ध्यान करते हुए चलनेवाला है—अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करता है, **च**=और जो **स्वधया**=आत्मधारण द्वारा **शंभुः**=अपने अन्दर शान्ति का भावन करनेवाला है। **तस्य**=उसके **अनुधर्म**=धर्मों के अनुसार **प्रयजा**=उसके साथ मेल करनेवाले होइये, अर्थात् उसको प्राप्त होइये। वस्तुतः जितना-जितना हमारा जीवन धर्म के अनुसार होता जाता है, उतना-उतना हम प्रभु के समीप होते जाते हैं। (२) **अथा**=अब हे **चिकित्वः**=सर्वज्ञ व हमारे रोगों का अपनयन करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे लिए **देववीतौ**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के निमित **अध्वरं धाः**=यज्ञ को धारण करिए। यह यज्ञ ही हमें आसुरभावों से दूर करके दिव्यभावों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु उसे प्राप्त होते हैं जो कि शक्ति व ज्ञान दोनों को सिद्ध करता है। प्रभु ही हमें यज्ञिय वृत्तिवाला बनाते हैं, जिससे हमें दिव्यगुण प्राप्त होते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु की उपासना के साधनों व फलों का वर्णन करता है। अगले सूक्त का भी विषय यही है—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—कतो वैश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासना के तीन लाभ

भवा नो अग्ने सुमना उपेतौ सखेव सख्ये पितरेव साधुः ।
पुरुद्रुहो हि क्षितयो जनानां प्रति प्रतीचीर्दहतादरातीः ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **उपेतौ**=उपासना के होने पर **नः**=हमारे लिए **सुमनाः भव**=उत्तम मन को देनेवाले होइये (शोभनं मनो यस्मात्) प्रभु की उपासना का पहला लाभ यह है कि हमारा मन उत्तम होता है। (२) हे प्रभो! इस उपासना के होने पर आप **साधुः**=इस प्रकार हमारे कार्यों को सिद्ध करनेवाले होते हैं **इव**=जैसे **सखा**=मित्र **सख्ये**=मित्र के लिए कार्यों को सिद्ध करता है और **इव**=जिस प्रकार **पितरा**=माता-पिता पुत्र के कार्यों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। (३) हे प्रभो! **जनानाम्**=लोगों के **क्षितयः**=लोग **हि**=ही **पुरुद्रुहः**=बड़ा द्रोह करनेवाले हैं अतः आप **प्रतीचीः**=हमारी ओर आनेवाले **अरातीः**=इन शत्रुओं को **प्रतिदहतात्**=एक-एक करके दग्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—उपासना के तीन लाभ हैं—(क) उत्तम मन की प्राप्ति, (ख) कार्यसिद्धि, (ग)

शत्रुदहन (शत्रु-विनाश)।

ऋषिः—कतो वैश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रु-दहन

तपो ष्वग्ने अन्तराँ अमित्रान्तपा शंसमररुषः परस्य ।
तपो वसो चिकितानो अचित्तान्वि ते तिष्ठन्तामजरा अयासः ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अन्तरान् अमित्रान्**=अन्दर के शत्रुओं को—काम-क्रोध-लोभ को उ=निश्चय से **सु तप**=अच्छी तरह दग्ध कर दीजिए। (२) **अररुषः**=दान की वृत्ति से शून्य **परस्य**=शत्रु के **शंसम्**=अशुभ के शंसन को **तप**=(क्षपय) नष्ट करिए। ये जो अशुभ को शुभ के रूप में चित्रित करें तो हम उनकी बातों में न आ जाएँ। (३) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **चिकितानः**=सर्वज्ञ व हमारी चिकित्सा करनेवाले होते हुए आप **अचित्तान्**=अज्ञानियों को **तप उ**=निश्चय से दग्ध करिए। हमारे लिए **ते**=आपके **अजराः**=जीर्णता को न उत्पन्न करनेवाले **अयासः**=गमन व कार्य **वितिष्ठन्ताम्**=विशेषरूप से स्थित हों, अर्थात् प्रभु का प्रत्येक कार्य हमें अजर बनानेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं को दग्ध करें। प्रभु की प्रत्येक क्रिया हमें अजीर्ण करनेवाली हो।

ऋषिः—कतो वैश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अग्निहोत्र व सन्ध्यावन्दन

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! मैं **इच्छमानः**=चाहता हुआ, अर्थात् इच्छापूर्वक **इध्मेन**=समिधाओं से (काष्ठखण्डों से) **घृतेन**=घृत से **हव्यम्**=आहुति के योग्य द्रव्यों को **जुहोमि**=अग्नि में आहुत करता हूँ। अग्निहोत्र को सम्यक्तया सिद्ध करता हूँ, **तरसे**=वेग के लिए और **बलाय**=बल के लिए। मैं अग्निहोत्र करता हूँ ताकि मेरा जीवन नीरोग व स्फूर्तिवाला बने। (२) मैं **ब्रह्मणा**=इन ज्ञान की वाणियों से आपका **वन्दमानः**=वन्दन करनेवाला बनता हूँ **यावत्**=जिससे कि **इमाम्**=इस **देवीम्**=दिव्यगुणोंवाली **धियम्**=बुद्धि का **ईशे**=ईश बनूँ। यह बुद्धि मेरे लिए **शतसेयाय**=शतशः वासनाओं का अन्त करनेवाली हो (षो अन्तकर्मणि)।

भावार्थ—अग्निहोत्र द्वारा मुझे स्फूर्ति व बल प्राप्त हो। प्रभु-वन्दन से मैं दिव्यबुद्धि प्राप्त करूँ, जो कि वासनाओं का अन्त करनेवाली हो।

ऋषिः—कतो वैश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानयुक्त उत्कृष्ट जीवन

उच्छोचिषा सहसस्पुत्र स्तुतो बृहद्वयः शशमानेषु धेहि।
रेवदग्ने विश्वामित्रेषु शं योर्मर्मृज्मा ते तन्वं१ भूरि कृत्वः ॥ ४ ॥

(१) हे **सहसः पुत्र**=बल के पुतले—बल के पुञ्ज प्रभो! आप **शशमानेषु**=शंसन व स्तवन करनेवालों में अथवा प्लुत गतिवालों, अर्थात् स्फूर्ति के साथ कार्य करनेवालों में **उत् शोचिषा**=उत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति के साथ **बृहद्वयः**=दीर्घ जीवन को **धेहि**=धारण करिए। इनको ज्ञानयुक्त दीर्घजीवन प्राप्त

कराइये। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **विश्वामित्रेषु**=इन सब के प्रति स्नेह की वृत्तिवालों में **रेवत्**=धन से युक्त **शंयोः**=शान्ति व भयों के यावन (दूरीकरण) को **धेहि**=स्थापित करिए। इन्हें धन की कमी न हो। शान्तियुक्त इनका जीवन हो, ये निर्भय व नीरोग हों। (३) हे प्रभो! हम इसी उद्देश्य से **ते तन्वम्**=आपके इस शरीर को **भूरिकृत्यः**=बहुत बार **मर्मृज्म**=शुद्ध करते हैं। इस शरीर को आपका जानते हुए इसे मलिन नहीं होने देते।

भावार्थ—हम स्तोताओं को उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति के साथ वृद्धिशील जीवन प्राप्त हो। इस जीवन में 'धन, शान्ति व निर्भयता' हो। हम शरीर को प्रभु का समझें और मलिन न करें।

ऋषिः—कतो वैश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'धन, क्रियाशील भुजाएँ व उत्तम रूप'

कृधि रत्नं सुसनितर्धनानां स घेदग्ने भवसि यत्समिद्धः।
स्तोतुर्दुरोणे सुभगस्य रेवत्सृप्रा करस्ना दधिषे वपूंषि॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **धनानां सुसनितः**=धनों के उत्तम दाता आप **यत्**=जब **समिद्धः भवसि**=हृदयों में दीप्त किये जाते हैं तो **सः**=वे आप **घा इत्**=निश्चय से ही **रत्नं**=हमारे लिए रमणीय धनों को **कृधि**=करिए। (२) **सुभगस्य**=उत्तम ज्ञानवाले (भग=ज्ञान) **स्तोतुः**=स्तोता के **दुरोणे**=गृह में **रेवत्**=धनयुक्त **सृप्रा**=कार्यों में सर्पणशील **करस्ना**=बाहुओं को तथा **वपूंषि**=उत्कृष्टरूपवाले शरीरों को **दधिषे**=धारण करते हैं। ज्ञानी स्तोता 'धन को, कार्यव्यापृत भुजाओं को तथा उत्कृष्ट रूपवाले शरीरों को' प्राप्त करता है।

भावार्थ—उपासक को 'धन, क्रियाशील भुजाएँ व उत्कृष्टरूप सम्पन्न शरीर' प्राप्त होता है। उपासना के लाभों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—(क) उत्तम मन की प्राप्ति होती है, (ख) कार्यसिद्धि मिलती है और (ग) विघ्नों का विनाश होता है। (१) प्रभु हमारे आन्तर शत्रुओं का दहन करते हैं, (२) स्फूतिबल और वासना-विनाशक दिव्य बुद्धि प्राप्त होती है, (३) ज्ञान-ज्योति युक्त उत्कृष्ट जीवन मिलता है, (४) प्रभु हमें 'धन, क्रियाशील भुजाएँ व उत्तम रूप देते हैं।

अगले सूक्त में यह प्रभु का स्तवन करनेवाला 'गाथी' 'कौशिक' है 'साधु विक्रोशयिता अर्थानाम्' (नि०) अर्थों का उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाला है। यह अर्थों का ठीक निश्चय करता हुआ प्रभु का ही वरण करने का निश्चय करता है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रायै-वाजय

अग्निं होतारं प्र वृणे मियेधे गृत्सं कविं विश्वविदममूरम्।
स नो यक्षद्देवताता यजीयान्राये वाजाय वनते मघानि॥ १॥

(१) **मियेधे**=इस जीवनयज्ञ में **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु का **प्रवणे**=वरण करता हूँ, जो प्रभु **होतारम्**=मेरे लिए सब पदार्थों को देनेवाले हैं। **गृत्सम्**=ज्ञान का उपदेश करनेवाले हैं (गृणाति)। **कविम्**=सर्वज्ञ हैं, **विश्वविदम्**=सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। **अमूरम्**=हमारी मूढता नष्ट करनेवाले हैं (मूर=मूढ़)। (२) **सः**=वे **यजीयान्**=अतिशयेन पूज्य प्रभु **नः**=हमारे लिए **देवताता**=यज्ञ के होने पर **यक्षत्**=सब कुछ देनेवाले हों। वस्तुतः ये प्रभु हमारे

लिए **मघानि**=सब ऐश्वर्यों को **वनते**=विजय करते हैं (Win) ताकि **राये**=हम उचित यज्ञादि कार्यों के लिए इन्हें देनेवाले हों (रा दाने) तथा **वाजाय**=इनका उचित आहार-विहार के सम्पादन के लिए विनियोग करते हुए शक्ति सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रकृति में न उलझकर हम प्रभु का वरण करें। ये प्रभु ही हमें ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं ताकि हम इनका दान करें तथा इनद्वारा शक्ति-सम्पादन के लिए आवश्यक साधनों को जुटा पाएँ।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उत्तम स्तुति

प्र ते॑ अग्ने ह॒विष्म॑तीमिय॒र्म्यच्छा॑ सुद्यु॒म्नां रा॒तिनीं॑ घृ॒ताची॑म्।
प्र॒द॒क्षि॒णिद्दे॒वता॑तिमुरा॒णः सं रा॒तिभि॒र्वसु॑भिर्य॒ज्ञम॑श्रेत् ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते अच्छा**=आपके प्रति उस स्तुति को **इयर्मि**=प्रेरित करता हूँ जो कि **हविष्मतीम्**=हविवाली है-दानपूर्वक अदन से युक्त है, **सुद्युम्नाम्**=जो उत्तम ज्योतिवाली है, **रातिनीम्**=दान से युक्त है, **घृताचीम्**=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति की ओर गतिवाली है। स्तुति वही ठीक है, जो त्याग व ज्ञान से युक्त है। (२) हे प्रभो! आप **प्रदक्षिणित्**=(प्रदक्षिणं करोति) बड़ी दक्षिणतापूर्वक **देवतातिम्**=दिव्यगुणों के विस्तार को **उराणः**=(उरु कुर्वाणः) बहुत करते हुए **रातिभिः**=आवश्यक वस्तुओं को देने के साथ तथा **वसुभिः**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों के साथ **यज्ञम्**=हमारे इस जीवनयज्ञ का **सं अश्रेत्**=सम्यक् सेवन करें। हमारा यह जीवनयज्ञ प्रभु से आश्रित हो। प्रभु हमें सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराएँ तथा निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को दें। हमारे जीवन में प्रभु दिव्यगुणों का विस्तार करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें, ज्ञान व त्याग को अपनाएँ। प्रभु हमारे जीवन में दिव्यगुणों का विस्तार करें।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

तेजस्वी मन

स तेजी॑यसा॒ मन॑सा॒ त्वोत॑ उ॒त शि॑क्ष स्वप॒त्यस्य॑ शि॒क्षोः।
अग्ने॑ रा॒यो नृत॑मस्य॒ प्रभू॑तौ भू॒याम॑ ते सुष्टु॒तय॑श्च॒ वस्वः॑ ॥ ३ ॥

(१) **सः**=वह **त्वा ऊतः**=आपसे रक्षा किया हुआ पुरुष **तेजीयसा मनसा**=तेजस्वी मन से युक्त होता है। **उत**=और **शिक्षोः**=दान में समर्थ होने की इच्छावाले के प्रति **स्वपत्यस्य**=उत्तम सन्तानोंवाले अथवा अपतन के कारणभूत धन को **शिक्ष**=आप दीजिए (शिक्षतिर्दानकर्मा)। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! हम **ते**=आपके **वृतमस्य**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **रायः**=धन के **प्रभूतौ**=ऐश्वर्य में (prosperity) **भूयाम**=हों। **च**=और **सुष्टुतयः**=उत्तम स्तुतिवाले होते हुए **वस्वः**=वसु के भाजन हों-वसु को प्राप्त करें। उन सब आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करें जो कि जीवन को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें तेजस्वी मन, प्रचुर ऐश्वर्य व निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दिव्य शक्ति व दिव्यगुण

भूरीणि हि त्वे दधिरे अनीकाग्ने देवस्य यज्यवो जनासः।
स आ वह देवतातिं यविष्ठ शर्धो यदद्य दिव्यं यजासि॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **देवस्य यज्यवः**=प्रकाशमय आपके उपासक **जनासः**=लोग **त्वे**=आप में स्थित हुए-हुए **भूरीणि**=बहुत **अनीका**=बलों को **हि**=निश्चय से **दधिरे**=धारण करते हैं। उपासक को प्रभु का बल प्राप्त होता है। (२) **सः**=वे आप हे **यविष्ठ**=सब बुराइयों को पृथक् करनेवाले प्रभो! **देवतातिम्**=दिव्यगुणों के विस्तार को **आवह**=प्राप्त कराइये। यह आपकी महती कृपा है **यत्**=जो **अद्य**=आज आप हमारे लिए **दिव्यं शर्धः**=दिव्य बल को **यजासि**=हमारे साथ संगत करते हैं। इस दिव्य बल को प्राप्त करके हम अपने में दिव्यगुणों का विस्तार करते हैं।

भावार्थ—उपासना से दिव्य बल प्राप्त होता है। इसके परिणामस्वरूप दिव्यगुण प्राप्त होते हैं। शक्ति में ही गुणों का वास है।

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासक के रक्षक प्रभु

यत्त्वा होतारमनजन्मियेधे निषादयन्तो यजथाय देवाः।
स त्वं नो अग्नेऽवितेह बोध्यधि श्रवांसि धेहि नस्तनूषु॥ ५॥

(१) **यत्**=जब **होतारं त्वा**=सब कुछ देनेवाले आपको **मियेधे**=जीवनयज्ञ में **अनजन्**=प्राप्त होते हैं (अञ्ज् गतौ) तो **देवाः**=ये देववृत्ति के पुरुष **यजथाय**=उपासना के लिए **निषादयन्तः**= आपको अपने हृदयासन पर बिठाते हैं। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **स त्वम्**=वे आप **इह**=इस जीवनयज्ञ में **नः**=हमारे **अविता**=रक्षक होते हुए **बोधि**=हमारा ध्यान करिए। **नः तनूषु**=हमारे शरीरों में **श्रवांसि**=ज्ञानों को **अधिधेहि**=आधिक्येन धारण करिए। इन ज्ञानों द्वारा ही वस्तुतः आप हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हैं-प्रभु हमारा रक्षण करते हैं।

हम प्रभु की उपासना करते हैं तो प्रभु हमें दान व शक्ति प्राप्ति के लिये धन देते हैं, (१) प्रभु हमारे में दिव्यगुणों का विस्तार करते हैं, (२) हमारे मनों को तेजस्वी बनाते हैं, (३) दिव्यशक्ति को देते हैं, (४) और ज्ञान द्वारा हमारा रक्षण करते हैं। इस रक्षण के परिणामस्वरूप हमारे जीवनों में सब देवताओं का वास होता है।

सम्पूर्ण सूक्त उपासक को दिव्यगुणों से पूर्ण करने की प्रेरणा दे रहा है। अग्रिम सूक्त भी इसी विषय से सम्बन्धित है—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अग्नि, उषा, अश्विना व दधिक्रा

अग्निमुषसमश्विना दधिक्रां व्युष्टिषु हवते वह्निरुक्थैः ।
सुज्योतिषो नः शृण्वन्तु देवाः सजोषसो अध्वरं वावशानाः॥ १॥

(१) **वह्निः**=अपने कर्त्तव्यभार का सम्यक् वहन करनेवाला व्यक्ति **व्युष्टिषु**=उषाकालों द्वारा

अन्धकार के दूर होने पर **अग्निम्**=अग्नि को, **उषसम्**=उषा को, **अश्विना**=प्राणापानों को, **दधिक्राम्**=दधिक्रा को **हवते**=पुकारता है। इन देवों के पुकारने का भाव इन वृत्तियों को अपने अन्दर धारण करना है। 'अग्नि' को पुकारना, अर्थात् आगे बढ़ने की भावना को धारण करना। 'उषस्' को पुकारना, अर्थात् 'उषदाहे' वासनाओं के दहन की वृत्ति को धारण करना। 'अश्विना' को पुकारना, अर्थात् 'प्राणापान' की साधना करना। 'दधिक्रा' को पुकारना, अर्थात् 'दधत् क्रामति' यह निश्चय करना कि मैं निर्माणात्मक कार्यों को करते हुए ही आगे बढ़ूँगा। (२) **सुज्योतिषः**=उत्तम ज्योतिवाले **देवाः**=सब देव **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होकर **नः शृण्वन्तु**=हमारी प्रार्थना को सुनें, और **अध्वरं वावशानः**=हमारे यज्ञ की कामनावाले हों, अर्थात् देवों की कृपा से हमें भी ज्योति प्राप्त हो और हम यज्ञशील जीवन बितानेवाले हों।

भावार्थ—हमारे में आगे बढ़ने की भावना हो, हम वासनाओं को दग्ध कर दें, प्राणापान की साधना करें, धारणात्मक कर्मों को करते हुए गतिशील हों। देवों से ज्योति प्राप्त करके यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन

अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था तिस्रस्ते जिह्वा ऋतजात पूर्वीः।
तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन्॥ २॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं—हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **ते**=तेरे **त्री वाजिना**=तीन अन्न हैं-'ओषधि-वनस्पति, दूध और घृत'। इनद्वारा ही तूने अपने जीवन का पोषण करना है। **त्री**=तीन **सध-स्था**=तेरे मिलकर बैठने के स्थान हैं, 'समाधि-सुषुप्ति, मोक्षेषु-ब्रह्मरूपता' समाधि में-सुषुप्ति में और मोक्ष में यह जीव प्रभु के साथ विचरता है। हे **ऋतजात**=ऋत द्वारा, नियमित गति द्वारा अपना विकास करनेवाले जीव! **ते**=तेरी **तिस्रः**=तीन **पूर्वीः**=तेरा पालन व पूरण करनेवाली **जिह्वाः**=जिह्वायें हैं-वाणियाँ हैं-'ऋग्, यजुः और साम'। ऋचाओं द्वारा तू प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करता है। यजुः द्वारा अपने यज्ञात्मक कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा साम द्वारा प्रभु का तू उपासन करता है। (२) **ते**=तेरी **तिस्रः तन्वः**=तीनों शरीर—'स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर' **उ**=निश्चय से **देववाताः**=दिव्यगुणों को अपने में प्रेरित करनेवाले हैं अथवा देवों से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। स्थूल शरीर अग्नि से प्रेरित होकर गतिशील होता है, सूक्ष्म शरीर वायु से प्रेरित होकर वासनाओं का गन्धन व हिंसन करनेवाला होता है, कारण शरीर आदित्य से प्रेरित होकर सूर्यसम ज्योतिवाला होता है। (३) हे जीव! **ताभिः**=उन शरीरों से **अप्रयुच्छन्**=प्रमाद न करते हुए **नः**=हमारी **गिरः**=ज्ञानवाणियों का **पाहि**=रक्षण कर। यदि जीव इन वेदवाणियों को अपनाएगा, तो ये वाणियाँ उसी प्रकार इसका कल्याण करेंगी, जैसे कि माता पुत्र का।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों के सेवन से प्रभु को पानेवाले बनें। ज्ञानवाणियों को अपनाएँ और तीनों शरीरों में 'अग्नि, वायु व आदित्य' आदि देवों से प्रेरणा प्राप्त करें।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नामस्मरण का लाभ

अग्ने भूरीणि तव जातवेदो देव स्वधावोऽमृतस्य नाम।
याश्च माया मायिनां विश्वमिन्व त्वे पूर्वीः सन्दधुः पृष्टबन्धो॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी **जातवेदः**=सर्वज्ञ, **देव**=प्रकाशमय, **स्वधा वः**=आत्मधारण शक्ति युक्त (=अपराश्रित) प्रभो! **अमृतस्य तव**=अविनाशी आपके **भूरीणि नाम**=अनन्त नाम हैं अथवा **नाम भूरीणि**=आपके नाम हमारा भरण करनेवाले हैं। आपके नामों का स्मरण हमें प्रेरणा देता है और हमारे जीवनों को उन्नत करता है। 'अग्नि' नाम आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करता है, 'जातवेदः' ज्ञानप्राप्ति की प्रेरणा देता है, 'देव' नाम हमें प्रकाशमय बनाता है और 'स्वधावः' का स्मरण अपराश्रितता का पाठ सिखाता है। (२) हे **विश्वमिन्व**=विश्व को प्रीणित करनेवाले, **पृष्टबन्धो**=(जिज्ञासायाम्) जिज्ञासु के बन्धुभूत प्रभो! **याः**=जो **मायिनाम्**=प्रज्ञावालों की **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली अथवा पालन व पूरण करनेवाली **मायाः**=प्रज्ञाएँ हैं, उन प्रज्ञाओं को वे **त्वे**=आप में ही **सन्दधुः**=धारण करते हैं, अर्थात् जिज्ञासुओं को ज्ञान देनेवाले आप ही हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आपके नामों से हम प्रेरणाओं को प्राप्त करें तथा आप में स्थित होते हुए, आपकी उपासना द्वारा ज्ञान को निरन्तर बढ़ाएँ।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋतुपा ऋतावा

अ॒ग्निर्ने॒ता भग॑इव क्षिती॒नां दैवी॑नां दे॒व ऋ॑तु॒पा ऋ॒तावा॑।
स वृ॑त्र॒हा स॒नयो॑ वि॒श्ववे॑दाः॒ पर्ष॒द्विश्वाति॑ दु॒रि॒ता गृ॒णन्त॑म्॥ ४॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **भगः इव**=सूर्य की तरह जैसे सूर्य पृथिवी आदि को अपने साथ आगे और आगे ले चल रहा है, उसी प्रकार **दैवीनां क्षितीनाम्**=देववृत्तिवाले मनुष्यों का **नेता**=आगे ले चलनेवाला है। **देवः**=वह प्रकाशमय है। **ऋतुपाः**=प्रकृति में सब ऋतुओं का पालन करनेवाला है और जीव में **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाला है। जो भी जीव प्रभु का स्मरण करता है, प्रभु उसके जीवन को ऋतवाला बनाते हैं। ब्रह्मवादी ऋतवादी होता है। (२) **सः**=वह ऋतावा प्रभु **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करते हैं। **सनयः**=सनातन पुराण पुरुष हैं अथवा 'स-नयः'=सदा नीति के साथ हैं-भक्त को नीतिमार्ग से ले चलते हैं। **विश्ववेदाः**=सर्वज्ञ हैं अथवा सर्वैश्वर्यवाले हैं तथा **गृणन्तम्**=स्तुति करनेवाले को **विश्वा दुरिता**=सब बुराईयों के **अति पर्षत्**=पार ले जाते हैं। उपासक की वासनाओं को विनष्ट करके प्रभु उसे नीतिमार्ग से ले चलते हैं और उसे सब ज्ञानों व ऐश्वर्यों को प्राप्त कराके बुराइयों से दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब के नेता हैं। देवों में प्रभु ही ऋत का रक्षण करते हैं। वे ही उपासक को सब दुरितों के पार ले जाते हैं।

ऋषिः—**गाथी कौशिकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दिव्य-जीवन

द॒धि॒क्राम॒ग्निमु॒षसं॑ च दे॒वीं बृह॒स्पतिं॑ सवि॒तारं॑ च दे॒वम्।
अ॒श्विना॑ मि॒त्रावरु॑णा॒ भगं॑ च॒ वसू॑न्रु॒द्राँ आ॑दि॒त्याँ इ॒ह हु॑वे॥ ५॥

(१) **इह**=इस जीवन में **हुवे**=मैं इन देवों को पुकारता हूँ! (क) **दधिक्राम्**= दधत्क्रामति' दधिक्रा को। मैं चाहता हूँ कि मैं धारणात्मक कार्यों में लगा हुआ गतिशील बना रहूँ। (ख) **अग्निम्**=अग्नि को पुकारता हूँ। दधिक्रा बनकर मैं उन्नतिपथ पर आगे और आगे बढ़ता ही चलूँ। (ग) **च**=और **उषसं देवीम्**=प्रकाशमयी उषा को। उन्नतिपथ पर चलते हुए मेरा जीवन अधिकाधिक

प्रकाशमय बनता जाए। जैसे उषा अन्धकार का दहन करती है, इसी प्रकार मैं जीवन में अज्ञानान्धकार का दहन करनेवाला बनूँ। (घ) **बृहस्पतिम्**=ऊर्ध्वादिक् के अधिपति बृहस्पति को पुकारता हूँ। अज्ञानान्धकार का दहन मुझे उन्नति शिखर पर पहुँचानेवाला हो। (२) इस प्रकार जीवन को उन्नत करके (ङ) **सवितारं च देवम्**=सविता देव को भी मैं पुकारता हूँ। इस प्रकाशमय प्रेरक सूर्य से प्रेरणा प्राप्त करके मैं भी प्रकाशमय बनकर सभी को कर्मों में प्रेरणा देनेवाला बनता हूँ। (च) इस कार्य में शिथिल न पड़ जाने के उद्देश्य से **अश्विना**=प्राणापान को पुकारता हूँ। प्राणसाधना करता हुआ अपनी शक्ति को स्थिर रखने का प्रयत्न करता हूँ। (छ) **मित्रावरुणा**=मैं सभी का मित्र बनने का प्रयत्न करता हूँ-निर्द्वेष होने के लिए यत्नशील होता हूँ-द्वेष का निवारण करता हूँ। (ज) **भगं च**=भग को पुकारता हूँ-ऐश्वर्य के देवता की आराधना करता हूँ। लोकहित के कार्यों के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को जुटाता हूँ। (३) अन्त में (झ) **वसून्**=वसुओं को, (ञ) **रुद्रान्**=रुद्रों को, (ट) **आदित्यान्**=आदित्यों को **हुवे**=पुकारता हूँ। उत्तम निवासवाला स्वस्थ बनता हूँ। वासनारूप हत्-मानस रोगों का द्रावण करनेवाला बनता हूँ। ऊँचे से ऊँचे ज्ञान का आदान करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को देवों की आराधना से देवमय बनाएँ।

सम्पूर्ण सूक्त जीवन को दिव्य बनाने की प्रेरणा दे रहा है। अगले सूक्त में जीवन को यज्ञमय बनाने की प्रेरणा है—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञ, हव्य व घृत

इमं नो यज्ञममृतेषु धेहीमा हव्या जातवेदो जुषस्व।
स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्य होतः प्राशान प्रथमो निषद्य॥ १॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **इमम्**=इस **नः यज्ञम्**=हमारे द्वारा प्रतिपादित किये गये यज्ञ को **अमृतेषु**=नीरोगताओं के निमित्त **धेहि**=धारण कर। यज्ञों को करते हुए अपने जीवन को नीरोग बना। हे **जातवेदः**=उत्पन्न हुआ है ज्ञान जिसमें ऐसा तू **इमा हव्या**=इन हव्य पदार्थों का **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। ज्ञानी पुरुष सदा पवित्र पदार्थों का ही सेवन करता है-वह सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है। (२) हे **अग्ने**=प्रगतिशील, **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाले जीव! तू **प्रथमः निषद्य**=सर्वप्रथम उपासना में स्थित होकर, अर्थात् प्रभुस्मरण के अनन्तर **घृतस्य**=घृत के **मेदसः**=मेदस्तत्त्व के **स्तोकान्**=कणों को **प्राशान**=खानेवाला बन। भोजन में मेदस्तत्त्व (Fat) का होना भी आवश्यक है, परन्तु वह मेदस्तत्त्व घृत से ही प्राप्त किया जाए। इसे अधिक मात्र में न खाकर थोड़ा ही खाया जाए 'आज्यं तौलस्य प्राशान'। तेल से भी व चरबी से भी यह तत्त्व प्राप्त हो सकता है, परन्तु वह मनुष्य के लिये वाञ्छनीय नहीं। घृत से ही इस तत्त्व को लेना चाहिए।

भावार्थ—हम यज्ञशील हों। हव्य-पदार्थों का ही सेवन करें। मेदस्तत्त्व को प्राप्त करने के लिए मितरूप में घृत का प्रयोग करें।

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

घृत तथा आवश्यक धन

घृतवन्तः पावक ते स्तोकाः श्चोतन्ति मेदसः। स्वधर्मन्देववीतये श्रेष्ठं नो धेहि वार्यम्॥ २॥

(१) जीव प्रभु से निवेदन करता है कि हे **पावक**=मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **घृतवन्तः**=घृतवाले **मेदसः स्तोकाः**=मेदस्तत्त्व के कण **श्चोतन्ति**=मेरे में क्षरित होते हैं, अर्थात् मैं घृत द्वारा मेदस्तत्त्व के कणों को प्राप्त करता हूँ। (२) **स्वधर्मन्**=अपने धारण के निमित्त अर्थात् जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त तथा **देववीतये**=अतिथिरूपेण आये हुए देवों के भक्षण के निमित्त **नः**=हमारे लिए **श्रेष्ठम्**=उत्तम **वार्यम्**=वरणीय धन को **धेहि**=धारण करिए। हमें इतना धन प्राप्त कराइये कि हम अपने जीवन को धारण कर सकें तथा आये-गये को खिला सकें। इस धन को हम उत्तम साधनों से ही कमानेवाले हों।

भावार्थ—हम घृत से मेदस्तत्त्व के कणों को प्राप्त करें तथा आवश्यक धन को उत्तम साधनों से कमानेवाले हों।

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ऋषिः श्रेष्ठः

तुभ्यं स्तोका घृतश्चुतोऽग्ने विप्राय सन्त्य। ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव॥ ३॥

(१) प्रभु कहते हैं—हे **सन्त्य**=संविभागपूर्वक धनों का सेवन करनेवाले **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विप्राय तुभ्यम्**=समझदार तेरे लिए ये **घृतश्चुतः स्तोकाः**=घृत का क्षरण करनेवाले कण हैं, अर्थात् घृतकणों का ही सेवन करनेवाला बनता है। (२) **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा बनता है, **श्रेष्ठः**=अत्यन्त प्रशस्त जीवनवाला होता है। **समिध्यसे**=तू ज्ञान से दीप्त होता है। **यज्ञस्य प्राविता भव**=यज्ञ का प्रकर्षेण रक्षण करनेवाला हो।

भावार्थ—हम घृत का प्रयोग करें। तत्त्वद्रष्टा उत्तम जीवनवाले बनकर यज्ञशील बने रहें।

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानदीप्त

तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य।
कविशस्तो बृहता भानुनागा हव्या जुषस्व मेधिर ॥ ४॥

(१) प्रभु कहते हैं—हे **अध्रिगो**=अधृतगमन-सदा क्रियाशील **शचीवः**=प्रज्ञापूर्वक कर्म करनेवाले **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **तुभ्यम्**=तेरे लिए **घृतस्य मेदसः**=घृत के मेदस्तत्त्व के (Fat के) **स्तोकासः**=कण **श्चोतन्ति**=क्षरित होते हैं। तू मेदस्तत्त्व को प्राप्त करने के लिए घृतकणों का ही प्रयोग करता है। इस प्रयोग से तू (क) क्रियाशील, (ख) प्रज्ञा व शक्ति-सम्पन्न तथा (ग) प्रगतिवाला होता है। (२) **कविशस्तः**=कवियों-ज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट हुआ-हुआ तू **बृहता भानुना**=वृद्धि के कारणभूत ज्ञान द्वारा **आ अगाः**=हमें प्राप्त हो। प्रभुप्राप्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है। (३) हे **मेधिर**=मेधावी पुरुष! तू **हव्या जुषस्व**=हव्य-पदार्थों का ही सेवन कर। हव्य-पदार्थों के प्रयोग से ही जीवन सात्त्विक बनता है।

भावार्थ—घृत व हव्य-पदार्थों का प्रयोग करते हुए हम मेधावी बनें। ज्ञानदीप्ति प्राप्त करके प्रभु की ओर चलनेवाले बनें।

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

तैल व घृत का अभ्यञ्जन

ओजिष्ठं ते मध्यतो मेद उद्भृतं प्र ते वयं ददामहे ।
श्चोतन्ति ते वसो स्तोका अधि त्वचि प्रति तान्देवशो विहि ॥ ५ ॥

(१) प्रभु कहते हैं—**ते**=तेरे लिए **ओजिष्ठं मेदः**=अत्यन्त ओज देनेवाला मेदस्तत्त्व **मध्यतः**=दूध में से अथवा फलों के गूदे से अथवा तिल व सरसों आदि ओषधियों में से **उद्धृतम्**=निकाला गया है। **वयम्**=हम **ते**=तेरे लिये **प्रददामहे**=इसे देते हैं। (२) हे **वसो**=निवास को उत्तम बनानेवाले जीव! **ते**=तेरे **त्वचि अधि**=त्वचा पर **स्तोकाः**=इस मेदस्तत्त्व के कण **श्चोतन्ति**=क्षरित होते हैं, अर्थात् इस घृत व तैल से त्वचा पर मालिश करता है और **तान्**=उन मेदस्तत्त्व के कणों को **देवशः**=देवों के उत्पादन के दृष्टिकोण से अपने में दिव्य भावों को जगाने के हेतु से **प्रतिविहि**=प्रतिदिन सेवन कर। केवल शरीर के दृष्टिकोण से इनका सेवन करनेवाला मांस आदि से इस मेदस्तत्त्व को प्राप्त करने की कामना करता है। उस व्यक्ति के स्वभाव में क्रूरता आदि आसुरभाव जाग उठते हैं। इनका सेवन 'देवत्व' प्राप्ति के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए। शरीर पर इस घृत व तैल का मर्दन भी हितकर है। तैल कुछ उष्णता का कारण बनता है, घृत शीतलता का।

भावार्थ—हमें मेदस्तत्त्व को दूध व फलों से ही प्राप्त करना चाहिए। यही देव बनने का मार्ग है।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि शरीर के लिये मेदस्तत्त्व की प्राप्ति घृतकणों के सेवन द्वारा ही वाञ्छनीय है। इन घृतकणों द्वारा उत्पन्न सोमशक्ति के रक्षण के भाव से अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—पुरीष्या अग्नयः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमरक्षण से शक्ति की प्राप्ति

अयं सो अग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः ।
सहस्रिणं वाजमत्यं न सप्तिं ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः ॥ १ ॥

(१) **अयम्**=यह **सः**=वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु हैं, **यस्मिन्**=जिनकी प्राप्ति के निमित्त **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष, **वावशानः**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामना करता हुआ, **सुतं सोमम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **जठरे दधे**=अपने उदर में ही धारण करता है। सोम को नष्ट न होने देकर उसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। यह रक्षित सोम इसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। दीप्त ज्ञानाग्नि से यह प्रभु का दर्शन करता है। एवं इस सोमरक्षण से उस सोम (=प्रभु) की प्राप्ति होती है। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप इस सोमरक्षक को **अत्यं न सप्तिम्**=सततगामी अश्व के समान **सहस्रिणं वाजम्**=सहस्र गुणित शक्ति **ससवान्**=प्राप्त कराते हुए **स्तूयसे**=स्तुति किए जाते हो। प्रभु का उपासक विषयों में न फँसकर सोम का रक्षण कर पाता है। इस सोमरक्षण से उसे शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्तिरक्षण के लिए वह प्रभु का स्तवन करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही सोम (प्रभु) का दर्शन होता है। इस सोमरक्षक को प्रभु सहस्रगुणित शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—पुरीष्या अग्नयः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

तेजोमय प्रभु

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यत्**=जो **दिवि**=द्युलोक में सूर्यरूप से रहनेवाला **वर्चः**=तेज है, वह **ते**=आपका ही है। **पृथिव्याम्**=पृथिवी में अग्निरूप से **यत्**=जो तेज है, वह भी आपका ही है। हे **यजत्र**=पूज्य प्रभो! **ओषधीषु**=ओषधियों में सोमरूप से जो तेज है और **अप्सु**=जलों में 'और्व' नामक जो तेज **आ**=समन्तात् विद्यमान है, वह सब आपका ही है। (२) **येन**=जिस वायुरूप तेज से **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को **आततन्थ**=आप विस्तृत करते हो **सः**=वे आप **त्वेषः**=दीप्ति ही दीप्ति हो, **भानुः**=सूर्य के समान देदीप्यमान आप हो। **अर्णवः**=आप ज्ञान के समुद्र हो। **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले हो। प्रभु अपने तेज से व ज्ञान से सब प्राणियों का पालन करते हैं। वस्तुतः तेज व ज्ञान देकर ही प्रभु पालन करते हैं।

भावार्थ—द्युलोक में, पृथिवीलोक में, अन्तरिक्ष में, ओषधियों व जलों में सर्वत्र प्रभु के ही तेज का अंश दीप्त हो रहा है। प्रभु तेज व ज्ञान के पुञ्ज हैं। तेज व ज्ञान द्वारा वे सब मनुष्यों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—पुरीष्या अग्नयः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'अग्नि' का लक्षण

अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या ये।
या रोचने परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **दिवः अर्णम्**=ज्ञानजल की **अच्छा**=ओर **जिगासि**=तू जाता है, अर्थात् ज्ञानजल प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है। तू **देवान् अच्छा**=देवों की ओर जाता है, अर्थात् दिव्यगुणों को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है। **ये**=जो **धिष्ण्याः**=(धिषणाभवः धिष्ण्य=power, strength) प्राणाग्नियाँ हैं, उन्हें **ऊचिषे**=तू अपने में समवेत करता है। संक्षेप में अग्नि वह है, जो (क) ज्ञान प्राप्त करता है, (ख) दिव्यगुणों का सम्पादन करता है, (ग) प्राणाग्नियों का अपने में समवेत करता है। (२) इस अग्नि को **आपः**=वे रेतःकण **उपतिष्ठन्ते**=उपस्थित होते हैं, **याः**=जो **सूर्यस्य परस्तात्**=मस्तिष्क में स्थित सहस्रारचक्र से भी ऊपर **रोचने**=प्रकाशमय लोक में हैं। जो रेतःकण ऊर्ध्वगतिवाले होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। **च**=और **या**=जो रेतःकण **अवस्तात्**=नीचे होते हैं, अर्थात् जो रेतःकण सन्तान निर्माण के कार्य में विनियुक्त होते हैं अथवा शरीर में शक्ति-संचार का कारण बनते हैं। अग्नि वह है, जो रेतःकणों का विनियोग ज्ञानाग्नि की दीप्ति में अथवा शरीर में शक्ति-संचार के लिये करता है।

भावार्थ—अग्नि (क) ज्ञानप्रवण होता है, (ख) दिव्यगुणों का सम्पादन करता है, (ग) प्राणशक्ति को बढ़ाता है, (घ) रेतःकणों को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाता है, तथा (ङ) इनद्वारा शरीर को शक्ति-सम्पन्न करता है।

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—पुरीष्या अग्नयः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—ऋषभः ॥

अद्रोह

पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः। जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽ नमीवा इषो महीः ॥ ४ ॥

(१) **अग्नयः**=प्रगतिशील जीव! **पुरीष्यासः**=सदा उत्तम अन्न का सेवन करनेवाले होते हैं (पुरीष=अन्नम् श० ८।१।४।५)। सात्त्विक अन्न का सेवन इनकी बुद्धि को भी सात्त्विक बनाता है। ये अग्नि **प्रावणेभिः**=प्रकृष्ट रक्षणों के साथ **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हैं। ये शरीर, मन व बुद्धि तीनों का रक्षण करते हैं–तीनों के रक्षण को समान महत्त्व देते हैं। (२) ये अग्नि **यज्ञं जुषन्ताम्**=सदा यज्ञात्मक उत्तम कार्यों का सेवन करते हैं। **अद्रुहः**=कभी किसी का द्रोह नहीं करते। **अनमीवाः**=रोगरहित होते हैं और **महीः इषः**=महत्त्वपूर्ण प्रेरणाओं को ये प्राप्त करनेवाले होते हैं, अर्थात् अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणाओं को ये सुनते हैं।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए हम शरीर, मन व बुद्धि का रक्षण करें। यज्ञशील हों। द्रोह से ऊपर उठें, नीरोग हों। प्रभु-प्रेरणाओं को सुननेवाले बनें।

ऋषिः—गाथी कौशिकः ॥ देवता—पुरीष्या अग्नयः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वेदवाणी की प्राप्ति

इळामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे॥ ५॥

मन्त्र व्याख्या ३.१.२३ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का भाव यही है कि सोमरक्षण से शक्ति प्राप्त करके हम अग्नि बनें। अग्नि बनने के लिए ही यह 'देवश्रवाः' देवों से ज्ञान प्राप्त करनेवाला बनता है तथा 'देववातः'=सूर्यादि देवों से प्रेरणा प्राप्त करता है। सूर्य से 'गति द्वारा चमकने' की प्रेरणा प्राप्त करता है, तो चन्द्रमा से 'आह्लाद' की प्रेरणा प्राप्त करता है। इस प्रकार ये देवश्रवा और देववात अपना उत्तम भरण करने के कारण 'भारतौ' कहलाते हैं। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं। ये प्रभु से प्रार्थना करते हैं—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—देवश्रवा देववातश्च भारतौ ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अमृतत्त्व का धारण

निर्मथितः सुधित आ सधस्थे युवा कविरध्वरस्य प्रणेता।
जूर्यत्स्वग्निरजरो वनेष्वत्रा दधे अमृतं जातवेदाः ॥ १॥

(१) **अत्रा**=यहाँ इस संसार में **जातवेदाः**=वे सर्वज्ञ प्रभु **वनेषु**=उपासकों में **अमृतम्**=अमृतत्त्व को **दधे**=धारण करते हैं। उपासकों को प्रभु जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठाकर अमरता प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु जो कि **जूर्यत्सु अजरः**=(विनश्यत्सु अविनश्यन्तम्) जीर्ण होनेवाले पदार्थों में अजर हैं–कभी जीर्ण होनेवाले नहीं। **अग्निः**=अग्रणी हैं, सब से अग्र स्थान में स्थित हैं, हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हैं। (२) ये हमें उन्नतिपथ पर तब ले चलते हैं, जब कि **निर्मथितः**=ज्ञान व श्रद्धा रूप अरणियों की रगड़ द्वारा प्रकट किए जाते हैं। 'ध्यान निर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्' ध्यानरूप रगड़ द्वारा प्रभु का मन्थन होता है। इस रगड़ द्वारा ही वे प्रभु **सधस्थे**=जीव व प्रभु के साथ-साथ ठहरने के स्थान हृदय में **आसुधितः**=सर्वथा उत्तमता से स्थापित होते हैं। हृदयस्थ होकर ये प्रभु 'युवा'=हमें बुराइयों से पृथक् करनेवाले तथा अच्छाइयों से मिलानेवाले हैं। बुराइयों से दूर करने के लिए ही **कविः**='कौति सर्वाः विद्याः' सब ज्ञानों को देनेवाले हैं और ज्ञान देकर **अध्वरस्य प्रणेता**=यज्ञों का प्रणयन करनेवाले हैं–प्रभु हमें यज्ञों के मार्ग पर ले चलते हैं। ये यज्ञ ही हमारे अमृतत्त्व का कारण बनते हैं।

भावार्थ—अजर प्रभु उपासकों को भी अजर बनाते हैं।

ऋषिः—देवश्रवा देववातश्च भारतौ ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का मन्थन

अमन्थिष्टां भारता रेवदग्निं देवश्रवा देववातः सुदक्षम् ।
अग्ने वि पश्य बृहताभि रायेषां नो नेता भवतादनु द्यून् ॥ २ ॥

(१) **देवश्रवाः**=देवों-विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करनेवाला तथा **देववातः**=सूर्यादि देवों से प्रेरणा प्राप्त करनेवाला ये दोनों **भारता**=अपना उचित भरण करनेवाले हैं। ये **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु का **अमन्थिष्टाम्**=ध्यान द्वारा प्रकाश करते हैं, जो प्रभु **रेवत्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाले हैं और **सुदक्षम्**=उत्तम उन्नति व विकास का कारण हैं। (२) ये प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **अग्ने**=हे परमात्मन्! आप **बृहता**=वृद्धि के कारणभूत **अभिराया**=आन्तर व बाह्य द्विविध धन से (=ज्ञान व हिरण्य से) **विपश्य**=हमारा विशेषरूप से पालन करें (दृश्=to look after) और आप **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **नः**=हमारे लिए **इषाम्**=प्रेरणाओं के **नेता**=प्राप्त करानेवाले **भवतात्**=होइये। इन प्रेरणाओं के अनुसार चलते हुए ही हम अजरामर बन सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का हम मन्थन करें। प्रभु हमें उत्कृष्ट प्रेरणा द्वारा उन्नतिपथ पर ले चलेंगे।

ऋषिः—देवश्रवा देववातश्च भारतौ ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुप्रकाश किनको ?

दश क्षिपः पूर्व्यं सीमजीजनन्त्सुजातं मातृषु प्रियम् ।
अग्निं स्तुहि दैववातं देवश्रवो यो जनानामसद्वशी ॥ ३ ॥

(१) **दश क्षिपः**=दसों इन्द्रियों के विषयों को परे फेंकनेवाले-दशानन की बजाय दशक्षिप् बननेवाले-दसों इन्द्रियों से भोगों को भोगने के स्थान में, विषयों को अपने से दूर फेंकनेवाले उपासक ही **सीम्**=निश्चय से **पूर्व्यम्**=उस पालन व पूरण करनेवाले परमात्मा को **अजीजनन्**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं। जो प्रभु **सुजातम्**=(शोभनं जातं यस्मात्) उत्तम विकास (=प्रादुर्भाव) के कारण हैं। **मातृषु प्रियम्**=निर्माण के कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों के विषय में प्रिय हैं, अर्थात् निर्माता लोग जिन्हें प्रिय हैं। (२) हे **देवश्रवः**=विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करनेवाले उपासक! तू **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु का **स्तुहि**=स्तवन कर। जो **दैववातम्**=(देवेभ्यः वातं यस्मात्) सूर्यादि देवों द्वारा उपासकों को प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं और **यः**=जो **जनानाम्**=सब लोगों को **वशी असत्**=वश में करनेवाले हैं। प्रभु की न्याय-व्यवस्था के सब अधीन हैं, उनकी अधीनता में ही यह ब्रह्माण्डचक्र चल रहा है।

भावार्थ—प्रभुदर्शन उन्हीं को होता है, जो इन्द्रियों को विषयों से दूर कर पाते हैं। दृष्ट-प्रभु हमारे उत्तम विकास का कारण होते हैं।

ऋषिः—देवश्रवा देववातश्च भारतौ ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'दृषद्वती आपया व सरस्वती' में स्नान

नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम् ।
दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि ॥ ४ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **वरे**=उत्कृष्ट स्थान में **निदधे**=स्थापित

करता हूँ। विविध पार्थिव शरीरों में यह मानव शरीर सर्वोत्कृष्ट है। इससे ऊँची योनि सम्भव नहीं। पिछली सब भोग-योनियाँ थीं तो यही कर्मयोनि है। इस कर्मयोनि में भी **इडायाः पदे**=वेदवाणी के पद में तुझे स्थापित करता हूँ। प्रभु मानव शरीर देकर यह उत्कृष्ट वेदज्ञान हमें प्राप्त कराते हैं। वेदज्ञान देकर **अह्नां सुदिनत्वे**=दिनों में भी हमें शुभ दिनों में स्थापित करते हैं, अर्थात् हमें उत्तम माता-पिता व आचार्यों का सम्पर्क प्राप्त कराते हैं। संक्षेप में प्रभु हमें (क) सर्वोत्कृष्ट मानव शरीर देते हैं, (ख) उसमें वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं (ग) उत्तम माता-पिता व आचार्य आदि के सम्पर्कवाले शुभ दिन हमें दिखाते हैं। (२) इस सबको प्राप्त कराके कहते हैं कि **मानुषे**=इस मानव जीवन में **दृषद्वत्याम्**=(दृषद्=पत्थर, 'अश्मा भवतु नस्तनूः') पत्थर के समान दृढ़ शरीर में **आपयायाम्**=(आपृ=प्राप्तौ, या=गतौ) प्रभुप्राप्ति के लिए गति की भावनावाले मन में तथा **सरस्वत्याम्**=(सरस्=प्रवाह) ज्ञान के प्रवाहवाले मस्तिष्क में स्थित हुआ-हुआ **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **रेवत्**=धनयुक्त होकर **दिदीहि**=दीप्त हो। हमारा कर्त्तव्य यह है कि—(क) हम शरीर को पत्थर जैसा दृढ़ बनाएँ, (ख) मन में प्रभुप्राप्ति की भावना से सब गतिविधियोंवाले हों, (ग) मस्तिष्क द्वारा सरस्वती (=ज्ञानाधिष्ठातृदेवता) का आराधन करें। (घ) उचित धनार्जन करते हुए दीप्त जीवनवाले हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें मानव शरीर, वेदज्ञान तथा शुभ दिन प्राप्त होते हैं। इन्हें प्राप्त करके हम इस मानव जीवन में 'दृढ शरीर, प्रभुप्राप्ति के लिए गतिमय, सरस्वती के आराधक, धनयुक्त दीप्त जीवनवाले' बनें।

ऋषिः—**देवश्रवा देववातश्च भारतौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदवाणी

इळा॑मग्ने पुरु॒दंसं॑ स॒निं गोः श॑श्वत्त॒मं हव॑मानाय साध।
स्यान्नः॑ सू॒नुस्तन॑यो वि॒जावाग्ने॒ सा ते॑ सुम॒तिर्भू॑त्व॒स्मे ॥ ५ ॥

मन्त्र व्याख्या ३.१.२३ पर द्रष्टव्य है।

यह सारा सूक्त प्रभुदर्शन द्वारा अमृतत्त्व की प्राप्ति का उल्लेख करता है। यह प्रभु का उपासक, सब का मित्र 'विश्वामित्र' बनता है और प्रार्थना करता है कि—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शत्रु-मर्षण

अग्ने॒ सह॑स्व॒ पृत॑ना अ॒भिमा॑ती॒रपा॑स्य। दु॒ष्टर॒स्तर॒न्नरा॑ती॒र्वर्चो॑ धा य॒ज्ञवा॑हसे ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **पृतनाः**=हमारे पर आक्रमण करनेवाले शत्रुसैन्यों को **सहस्व**=(षह मर्षणे) कुचलनेवाले होइये। इन शत्रुसैन्यों को हम अपनी शक्ति से सम्भवतः न जीत पाएँगे। आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम इनका विजय कर पाएँगे। इस विजय के उपरान्त उत्पन्न हो जानेवाली **अभिमातीः**=अभिमान की भावनाओं को **अपास्य**=हमारे से दूर करिए। इन काम-क्रोध आदि के विजय का कहीं हम गर्व न कर बैठें। (२) हे **दुष्टरः**='शत्रुओं से जिन आपकी शक्ति तैरी नहीं जा सकती' ऐसे आप! **अरातीः**=इन सब शत्रुओं को **तरन्**=तैरते हुए, अर्थात् इन्हें संग्राम में पराजित करते हुए **यज्ञवाहसे**=यज्ञशील पुरुष के लिए **वर्चः**=शक्ति को **धाः**=धारण करिए।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। प्रभुकृपा से हम कभी अभिमान के

शिकार न हों। प्रभु ही हमें शक्ति देते हैं कि हम यज्ञात्मक-कर्मों को कर सकें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञ-रक्षण

अग्ने इळा समिध्यसे वीतिहोत्रो अमर्त्यः। जुषस्व सू नो अध्वरम्॥ २॥

(१) हे **अग्ने**=शत्रुओं का दहन करनेवाले प्रभो! आप **इडा**=वेदवाणी द्वारा **समिध्यसे**=निर्मल हृदयों में दीप्त किए जाते हो, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययन से शुद्ध हृदय होकर हम आपका दर्शन कर पाते हैं। आप **वीतिहोत्रः**=(वीतिः प्रीतिविषयं होत्रं यस्य सा०) यज्ञों में प्रीतिमान् हैं-यज्ञशील पुरुष आपको प्रिय होते हैं। यज्ञों द्वारा आपका उपासन होता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। **अमर्त्यः**=आप अमर्त्य हैं, उपासक को भी आप अमृतत्त्व प्राप्त कराते हैं। (२) आप **नः**=हमारे **अध्वरम्**=यज्ञ को **सु**=अच्छी प्रकार **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करिए। हमारा यज्ञ आपको प्रिय हो। आपके सहाय्य से ही यह यज्ञ पूर्ण होना है। आप ही सब यज्ञों के रक्षक हैं। मेरे जीवन-यज्ञ का रक्षण भी आपके ही हाथ में है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान अपनाकर प्रभु को हृदयों में समिद्ध करें। प्रभु हमारे जीवन-यज्ञ का रक्षण करेंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

हृदय को प्रभु का आसन बनाना

अग्ने द्युम्नेन जागृवे सहसः सूनवाहुत। एदं बर्हिः सदो मम॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **द्युम्नेन जागृवे**=ज्ञान-ज्योति से जागनेवाले प्रभो! (वैसे तो प्रभु सदा सर्वत्र व्याप्त हैं, पर प्रभु का दर्शन ज्ञान-ज्योति के जगने पर ही होता है) **सहसः सूनो**=हे बल के पुञ्ज प्रभो! **आ-हुत**=(आहुतं यस्य) चारों ओर जिनके दान विद्यमान हैं ऐसे प्रभो! आप **मम**=मेरे **इदम्**=इस **बर्हिः**=वासना शून्य हृदय में **आसदः**=आसीन होइये। (२) प्रभु को हृदयासन पर बिठाने का तरीका यही है कि हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ। यदि हम ऐसा करेंगे तो प्रभु हमें आगे और आगे ले चलेंगे (अग्नि), प्रभु हमारे रक्षक होंगे (जागृति) हमें शक्ति प्राप्त कराएँगे (सहस्) तथा सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराएँगे (आहुत)।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदयासन पर आसीन करें। प्रभु हमारी सब उन्नतियों को सिद्ध करेंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तुति व यज्ञ

अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्देवेभिर्महया गिरः। यज्ञेषु य उ चायवः॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विश्वेभिः**=सब **अग्निभिः**=अग्नियों द्वारा, माता के रूप में दक्षिणाग्नि द्वारा, पिता के रूप में गार्हपत्य अग्नि द्वारा तथा आचार्य के रूप में आहवनीय अग्नि द्वारा तथा **देवेभिः**=विद्वान् अतिथियों द्वारा **गिरः**=(गृणन्ति स्तुवन्ति) स्तुति करनेवाले लोगों को **ये उ**=और जो निश्चय से **यज्ञेषु चायवः**=(चायृ पूजायाम्) यज्ञों में प्रभु का पूजन करनेवाले हैं, उन्हें **महय**=महिमायुक्त कर। (२) जिन घरों में माता-पिता उत्तम होते हैं, जिन बालकों व युवकों को उत्तम आचार्य प्राप्त होते हैं, जिन गृहस्थों को विद्वान् अतिथियों का सम्पर्क प्राप्त होता रहता है, उनकी वृत्ति सदा उत्तम बनती है। ये प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले होते हैं और यज्ञों द्वारा प्रभु का पूजन करते हैं।

भावार्थ—'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' जब उत्तम प्रेरणा देनेवाला होते हैं तो स्तुति व यज्ञ की वृत्ति बनी रहती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

धन तथा तीव्रबुद्धि

अग्ने दा दाशुषे रयिं वीरवन्तं परीणसम्। शिशीहि नः सूनुमतः ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **दाशुषे**=आपके प्रति अर्पण करनेवाले मेरे लिए **रयिं दाः**=धन को दीजिए। जो धन **वीरवन्तम्**=वीरसन्तानोंवाला है अथवा हमें वीरतायुक्त करनेवाला है तथा **परीणसम्**=पर्याप्त है (परिपूर्वक व्याप्त्यर्थक नस् धातु)। हम धन द्वारा अपनी सब आवश्यकताओं को पूरा कर सकें तथा धन प्राप्त करके विलास के मार्ग पर न चल पड़ें। यह मार्ग हमारी अवीरता का कारण बनेगा। (२) **सूनुमतः**=प्रशस्त पुत्रोंवाले **नः**=हमें आप **शिशीहि**=बड़ा तीव्रबुद्धि व तेजस्वी बनाइए। धन के कारण हम सन्तानों का उचित पालन व पोषण कर सकें। उनके जीवनों को प्रशस्त बनायें। स्वयं भी धन द्वारा स्वाध्याय के साधनों को जुटाते हुए हम तीव्र बुद्धि बनें। यह धन हमें तेजस्वी बनाए।

भावार्थ—प्रभु हमें वह धन दें, जिससे कि हम सन्तानों का उत्तम निर्माण करें और स्वयं तेजस्वी व तीव्रबुद्धि बनें।

सूक्त की मूल भावना इतनी ही है कि मैं प्रभुस्मरण करता हूँ, प्रभु मेरे जीवन को उत्तम बनाते हैं। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

दिवः सूनुः-पृथिव्याः तना

अग्ने दिवः सूनुरसि प्रचेतास्तना पृथिव्या उत विश्ववेदाः। ऋधग्देवाँ इह यजा चिकित्वः ॥ १ ॥

(१) **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! आप **दिवः सूनुः**=प्रकाश के पुञ्ज (पुतले व पुञ्ज) हों-प्रकाश ही प्रकाश हो। **प्रचेता**=हमें प्रकृष्ट चेतना प्राप्त करानेवाले हो। **पृथिव्याः तना**=पृथिवी के तनय हैं-पृथिवी के पुत्र। दृढ़ता के पुञ्ज आप हैं (पृथिवी दृढ़ता या शक्ति विस्तार का प्रतीक है) **उत**=और **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनोंवाले हैं। आप मुझे भी 'ज्ञान का प्रकाश, शरीर में दृढ़ता तथा धन' प्राप्त कराते हैं। शरीर की दृढ़ता से मेरे में कार्य करने की शक्ति होती है, ज्ञान के प्रकाश में मैं मार्ग से भटकता नहीं तथा धन उन सब साधनों को जुटाने में मुझे क्षम करते हैं, जिनसे कि मैं उस-उस कार्य को सिद्ध कर पाता हूँ। (२) हे **चिकित्वः**=हमारे सब रोगों की चिकित्सा करनेवाले प्रभो! आप **इह**=इस जीवन में **ऋधक्**=पृथक्-पृथक्, उस-उस स्थान में **देवान्**=देवों को **यजा**=संगत करिए। चक्षु में सूर्य का निवास हो, नासिका में वायु का, मुख में अग्नि का, मन में चन्द्रमा का, पाँवों में पृथिवी का और इसी प्रकार मस्तिष्क में आकाश का। सब के सब देव मेरे शरीर में स्थित हों। इन देवों की अनुकूलता से मुझे पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु मुझे 'ज्ञान, दृढ़ता व धन' प्राप्त कराएँ। मेरे शरीर में सब देवों का निवास हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

वीर्य+वाज

अग्निः सनोति वीर्याणि विद्वान्त्सनोति वाजममृताय भूषन्। स नो देवाँ एह वहा पुरुक्षो ॥ २ ॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **वीर्याणि**=वीर्यों को **सनोति**=प्राप्त कराते हैं। हमारी प्रत्येक इन्द्रिय को प्रभु शक्तिशाली बनाते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय की सशक्तता में ही सुख है। **विद्वान्**=वे ज्ञानी प्रभु **वाजं सनोति**=बल को देते हैं। प्रभुकृपा से हमारा शरीर सबल बना रहता है। इस प्रकार इन्द्रियों को सशक्त तथा शरीर को सबल बनाकर प्रभु हमें **अमृताय भूषन्**=अमृतत्त्व के लिए-नीरोगता के लिए अलंकृत करते हैं। (२) हे **पुरुक्षो**=पालक व पूरक अन्नोंवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **इह**=यहाँ इस जीवन में **देवान्**=देवों को **आवह**=प्राप्त कराइये, अर्थात् हमारे शरीर में यथास्थान सब देवों का निवास हो। यह देवों का आनुकूल्य हमारे स्वास्थ्य को सिद्ध करे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी इन्द्रियाँ सशक्त हों, शरीर सबल हो। हमारे शरीर में देवों का निवास हो। हम स्वस्थ हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

बल+अन्न

अग्निर्द्यावापृथिवी विश्वजन्ये आ भाति देवी अमृते अमूरः।
क्षयन्वाजैः पुरुश्चन्द्रो नमोभिः ॥ ३ ॥

(१) **अमूरः अग्निः**=वे सर्वज्ञ अग्रणी प्रभु **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **आभाति**=दीप्तिमय करते हैं। द्युलोक को उग्र तथा पृथिवीलोक को दृढ़ बनाते हैं। इनके निर्माण में उस 'अमूर' सर्वज्ञ प्रभु ने कोई कमी नहीं रहने दी। ये **विश्वजन्ये**=सब लोगों का हित करनेवाले हैं, **देवी**=सब व्यवहारों के साधक हैं (दिव् व्यवहारे) **अमृते**=ये अमृतत्त्व के साधक हैं। द्युलोक पिता है तो पृथिवी माता। माता-पिता के समान ये हमारा हित करनेवाले हैं। (२) **पुरुश्चन्द्रः**=वे पालक पूरक व आह्लादमय प्रभु **वाजैः**=बलों से तथा **नमोभिः**=अन्नों से (नमः अन्न नि०) **क्षयन्**=हमारे निवास व हमारी गति को उत्तम बनाते हैं। अन्नों द्वारा शक्ति को देते हुए वे प्रभु हमारा पालन करते हैं, पूरण करते हैं और हमारे जीवनों को आह्लादमय बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु के बनाये द्यावापृथिवी हमें अन्न व बल प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार ये हमारे अमृतत्त्व के साधक होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अग्नि+इन्द्र

अग्न इन्द्रश्च दाशुषो दुरोणे सुतावतो यज्ञमिहोप यातम्। अमर्धन्ता सोमपेयाय देवा ॥ ४ ॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आप **च**=और **इन्द्र**=इन्द्र सर्वशक्तिमान् प्रभु **दाशुषः**=देनेवाले **सुतावतः**=यज्ञशील पुरुष के **दुरोणे**=गृह में **इह**=यहाँ **यज्ञम्**=यज्ञ को **उपयातम्**=प्राप्त होते हो। वस्तुतः जिस समय हम देने की वृत्तिवाले बनते हैं और निर्माण के कार्यों में लगते हैं, यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं, तो उस समय हमें प्रभुकृपा से प्रकाश व शक्ति की प्राप्ति होती है। 'दाश्वान्' बनकर मैं अपने जीवन को प्रकाशमय बनाता हूँ, 'सुतावान्' बनकर मैं अपने जीवन को शक्तिशाली बनाता हूँ। (२) ये अग्नि और इन्द्र **अमर्धन्ता**=मेरे जीवन को अहिंसित करनेवाले होते हैं। **सोमपेयाय**=ये मुझे सोमपान के योग्य करते हैं। प्रभु का मैं अग्नि और इन्द्र के रूप में स्मरण करता हुआ सोम को (=वीर्य को) अपने शरीर में सुरक्षित कर पाता हूँ। **देवा**=ये मेरे जीवन को द्योतित करते हैं (देवः द्योतनात्)। सोमरक्षण से शरीर तेजस्विता से तथा मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से द्योतित हो उठता है।

भावार्थ—मैं दान की वृत्तिवाला व यज्ञशील बनकर अग्नि व इन्द्र को प्राप्त करता हूँ-प्रकाश व शक्तिवाला बनता हूँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

उन्नति, शक्ति व ज्ञान

अग्ने अपां समिध्यसे दुरोणे नित्यः सूनो सहसो जातवेदः। सधस्थानि महयमान ऊती ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज (पुत्र=पुतले) **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **अपां दुरोणे**=कर्मों के घर में अथवा रेतःकणों से सम्बद्ध गृह में **समिध्यसे**=दीप्त होते हैं। वैसे तो आप **नित्यः**=(नि=In) सब के अन्दर होनेवाले हैं, परन्तु आपका दर्शन उसी व्यक्ति को होता है जो कि कर्मशील है, तथा रेतःकणों का शरीर में ही रक्षण करनेवाला है। (२) आप **ऊती**=रक्षण द्वारा **सधस्थानि**=आप के साथ मिलकर बैठने के स्थानभूत हृदय देशों को **महयमानः**=महिमायुक्त करते हैं। ये हृदय देश आपके उपासन से दीप्त हो उठते हैं।

भावार्थ—कर्मशील व सोमरक्षण करनेवाले बनकर हम प्रभु का दर्शन करते हैं। प्रभु हमें उन्नत करते हैं, शक्ति प्राप्त कराते हैं व प्रकाश हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त इस भाव को व्यक्त कर रहा है कि प्रभु उपासक को बल व प्रकाश प्राप्त कराके उन्नतिपथ पर ले चलते हैं। अगले सूक्त में प्रभु को 'वैश्वानर' रूप में उपासित करते हैं—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वैश्वानर प्रभु का दर्शन

वैश्वानरं मनसाग्निं निचाय्या हविष्मन्तो अनुषत्यं स्वर्विदम्।
सुदानुं देवं रथिरं वसूयवो गीर्भी रण्वं कुशिकासो हवामहे ॥ १ ॥

(१) **वसूयवः**=सब वसुओं को अपनाने की कामनावाले-शरीर में निवास को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक तत्त्वों को जुटानेवाले **कुशिकासः**=प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले हम **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों से **रण्वम्**=रमणीय प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं। उस प्रभु को जो कि **सुदानुम्**=सब उत्तम वस्तुओं को देनेवाले हैं अथवा (दाप् लवने) हमारी वासनाओं का उत्तमता से खण्डन करनेवाले हैं। **देवम्**=प्रकाशमय हैं-हमारे जीवनों को द्योतित करनेवाले हैं। **रथिरम्**=हमारे शरीर रूप रथ के सारथि हैं। (२) **हविष्मन्तः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले व्यक्ति इस **अग्निम्**=प्रकाशमय प्रभु को **मनसा**=शुद्ध अन्तःकरण द्वारा **निचाय्या**=निश्चय करके पुकारते हैं (हवामहे)। उस प्रभु को जो कि **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। **अनुषत्यम्**=सत्य से अनुगत हैं, सत्यस्वरूप हैं और सत्य द्वारा प्राप्त होते हैं। जितना-जितना हम सत्य को अपनाते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप होते हैं। **स्वर्विदम्**=ये प्रभु प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। (स्वः=प्रकाश, विद् लाभे)।

भावार्थ—प्रभु का दर्शन शुद्ध अन्तःकरण से होता है। जितना-जितना हम सत्य को अपनाते हैं, उतना-उतना प्रभु के समीप होते हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

रक्षक का दिव्यगुण विस्तारक प्रभु

तं शुभ्रमग्निमवसे हवामहे वैश्वानरं मातरिश्वानमुक्थ्यम्।
बृहस्पतिं मनुषो देवतातये विप्रं श्रोतारमतिथिं रघुष्यदम्॥ २॥

(१) **तम्**=उस **शुभ्रम्**=शुद्धस्वरूप **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। जो प्रभु **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। **मातरिश्वानम्**=वेदमाता में वृद्धि को प्राप्त होनेवाले हैं, सारे वेद उस प्रभु का ही तो प्रतिपादन करते हैं। **उक्थ्यम्**=स्तुति-योग्य हैं। (२) **मनुषः**=विचारशील पुरुष के **देवतातये**=दिव्यगुणों के विस्तार के लिए उस प्रभु को पुकारते हैं, जो कि **बृहस्पतिम्**=बड़े-बड़े आकाशादि लोकों के स्वामी हैं। **विप्रम्**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। **श्रोतारम्**=हमारी पुकार को सुननेवाले हैं। **अतिथिम्**=हमारे हित के लिए निरन्तर गतिवाले हैं। **रघुष्यदम्**=तीव्र वेगवाले हैं। सब कार्यों को शीघ्रता से-स्फूर्ति के साथ करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारें। प्रभु ही हमारा रक्षण करते हैं, प्रभु ही हमारे में दिव्यगुणों का विस्तार करते हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सुवीर्य, स्वश्व्य व रत्न

अश्वो न क्रन्दञ्जनिभिः समिध्यते वैश्वानरः कुशिकेभिर्युगेयुगे।
स नो अग्निः सुवीर्यं स्वश्व्यं दधातु रत्नममृतेषु जागृविः॥ ३॥

(१) **अश्वः न**=अश्व के समान **क्रन्दन्**=शब्द करता हुआ। वेद में प्रभु को 'अश्व न त्वा वारवन्ति'=इस मन्त्र भाग में अश्व से उपमा दी है। 'हरिरेति कनिक्रदत्' इन शब्दों में भी अश्व के समान प्रभु के क्रन्दन (ऊँचे शब्द करने) का उल्लेख है। सबके हृदय में व्याप्त होते हुए प्रभु 'तिस्रो वाचः उदीरते' तीन वाणियों का उच्चारण कर रहे हैं कि—(क) विज्ञान का अध्ययन करो (ऋच्), (ख) इसके अनुसार कर्मों को करनेवाले बनो (यज्), (ग) इन कर्मों को प्रभु के प्रति अर्पण करके, इस त्याग से शान्ति को प्राप्त करो (साम) 'त्यागात् शान्तिः अनन्तरम्'। ये तीन वाणियों का उपदेश करनेवाले प्रभु **जनिभिः**=निर्माण के कार्यों को करनेवाले अथवा शक्तियों का विकास करनेवाले पुरुषों से **समिध्यते**=अपने हृदय देश में दीप्त किये जाते हैं। **वैश्वानरः**=सब नरों का हित करनेवाले प्रभु **कुशिकेभिः**=स्तुति वचनों का उच्चारण करनेवाले पुरुषों से **युगे युगे**=समय-समय पर स्मरण किये जाते हैं। (२) **सः**=वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **नः**=हमारे लिए **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को, **स्वश्व्यम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वों को, **रत्नम्**=रमणीय रस रुधिर आदि धातुओं को **दधातु**=धारण करें। ये प्रभु **अमृतेषु**=विषयों के पीछे न मरनेवाले नीरोग पुरुषों में **जागृविः**=जागते हैं। इन अमृत पुरुषों में ही प्रभु का प्रकाश होता है। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं। पर अन्य व्यक्ति प्रभु के प्रकाश को नहीं देख पाते, उनमें प्रभु का प्रबोध नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश निर्माण के कार्यों में लगे हुए, विषयों के पीछे न मरनेवाले व्यक्तियों को ही होता है। प्रभु सुवीर्य, उत्तम इन्द्रियाश्वों व रत्नों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

पर्वत-प्रवेपन

प्र यन्तु वाजास्तविषीभिरग्नयः शुभे संमिश्लाः पृषतीरयुक्षत।
बृहदुक्षो मरुतो विश्ववेदसः प्र वेपयन्ति पर्वताँ अदाभ्याः ॥ ४ ॥

(१) हे प्रभो! हमें आपकी कृपा से **वाजाः प्रयन्तु**=बल प्राप्त हों। **तविषीभिः**=वृद्धि के साधनभूत बलों के साथ **अग्नयः**=ज्ञान के प्रकाश प्राप्त हों। इस प्रकार **शुभे संम्मिश्लाः**=सदा शुभ कार्यों में लगे हुए आपके उपासक **पृषतीः**=शरीर-रथ में इन्द्रियरूप उषाओं को (घोड़ियों को) **अयुक्षत**=जोतते हैं, अर्थात् सदा क्रियाशील जीवनवाले बनते हैं। (२) ये **बृहदुक्षः**=अत्यन्त ही अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले पुरुष **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले व परिमित बोलनेवाले होते हैं। **विश्ववेदसः**=सब ज्ञानों को प्राप्त करनेवाले (विद् ज्ञाने) अथवा अन्नमयादि कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से युक्त करनेवाले (विद् लाभे) ये पुरुष **अदाभ्याः**=अहिंसित होते हैं-ये रोगों व वासनाओं के शिकार नहीं होते। **पर्वतान् प्रवेपयन्ति**=ये पञ्चपर्वा अविद्या को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम शक्ति व ज्ञान प्राप्त करके सदा शुभ कार्यों में लगे रहें। यही वासनाओं से ऊपर उठने का मार्ग है।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उपासक का स्वरूप

अग्निश्रियो मरुतो विश्वकृष्टय आ त्वेषमुग्रमव ईमहे वयम्।
ते स्वानिनो रुद्रिया वर्षनिर्णिजः सिंहा न हेषक्रतवः सुदानवः ॥ ५ ॥

(१) **अग्निश्रियः**=अग्नि के समान श्री वाले, अर्थात् तेजस्वी, **मरुतः**=प्राणसाधना को करनेवाले अथवा मितरावी-परिमित बोलनेवाले **विश्वकृष्टयः**=सब कृषि आदि काम साध्य कर्मों को करनेवाले **वयम्**=हम **त्वेषम्**=दीप्त **उग्रम्**=तेजस्वी **अवः**=रक्षण को **आ ईमहे**=सर्वथा माँगते हैं। प्रभु का रक्षण हमें ज्ञान से दीप्त करता है तथा तेजस्वी शरीरवाला बनाता है। वस्तुतः प्रभु का उपासक अग्नि के समान श्रीवाला बनने का प्रयत्न करता है। इसके लिए ही प्राणसाधना को अपनाता है, परिमित बोलता है और श्रमसाध्य कर्मों में आनन्द का अनुभव करता है। (२) **ते**=वे प्रभु के उपासक **स्वानिनः**=उत्तम स्वनों व शब्दोंवाले होते हैं-प्रभु के नामों का जप करते हैं। **रुद्रियाः**=उस रुद्र (रुत्+र) ज्ञान देनेवाले प्रभु के उपासक बनते हैं। प्रकृति के उपासक न बनकर प्रभु के उपासक बनते हैं। **वर्षनिर्णिजः**=(वृष् सेचने) अपने में शक्ति के सेचन द्वारा अपना शोधन करनेवाले होते हैं। **सिंहा न**=शेरों के समान **हेषक्रतवः**=गम्भीर शब्द को करनेवाले होते हैं। इनकी वाणी में ओज होता है। **सुदानवः**=(दाप् लवने) बुराई को पूर्णतया नष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभुरक्षण प्राप्त करके हम तेजस्वी व पवित्र जीवनवाले बनें।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

उपासना का फल

व्रातंव्रातं गणंगणं सुशस्तिभिरग्नेर्भामं मरुतामोज ईमहे।
पृषदश्वासो अनवभ्रराधसो गन्तारो यज्ञं विदथेषु धीराः ॥ ६ ॥

(१) शरीर में सर्वप्रथम पञ्चभूतों का एक **व्रात**=समूह है, इसी व्रात से यह शरीर बना हुआ है। दूसरा व्रात पाँच प्राणों का है, तीसरा पाँच कर्मेन्द्रियों का, चौथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों का तथा पाँचवाँ 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' का अन्तःकरण पंचक है। इन **व्रातं व्रातम्**=सारे समूहों को, **गणंगणम्**=(गणनाद् गुणश्च नि०) प्रत्येक दिव्यगुण को, **अग्नेर्भामम्**=अग्नि की तेजस्विता को (अग्नि श्रियः ५) तथा **मरुतां ओजः**=प्राणों के बल को **सुशस्तिभिः**=उत्तम स्तुतियों द्वारा हम **ईमहे**=चाहते हैं। हे प्रभो! हम आपका स्तवन करते हुए इन्हीं चीजों की याचना करते हैं। (२) **पृषद् अश्वासः**=शक्ति से सिक्त इन्द्रियाश्वोंवाले, **अनवभ्रराधसः**=अहिंसित ज्ञानैश्वर्यवाले, **यज्ञं गन्तारः**=यज्ञों में जानेवाले तथा **विदथेषु धीराः**=ज्ञानयज्ञों में ज्ञान देनेवाले हम बनें। हमारे में शक्ति तथा गतिशीलता हो। सदा हम स्वाध्याय करनेवाले हों। यज्ञशील हों तथा ज्ञान का प्रसार करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करते हुए हम शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य को, मन की पवित्रता को, अग्नि के समान तेजस्विता को व प्राणशक्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—आत्मा॥ देवता—अग्निरात्मा वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उपासक का आत्म परिचय

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम॥ ७॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में उपासक के आत्म-परिचय के रूप में उपासक के जीवन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **अग्निः अस्मि**=मैं अग्नि के समान तेजस्वी हूँ (अग्निश्रियः ५, अग्नेर्भामं ६) उपासक उस अग्नि (=ब्रह्म) के तेज से तेजस्वी बनता ही है। **जन्मना जातवेदाः**=जन्म से ही मैं ज्ञानी हूँ-मानो ज्ञानप्राप्ति के लिए ही मेरा जन्म हुआ है। **मे चक्षुः घृतम्**=मेरी आँख दीप्त है-सब इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी हुई है। **मे आसन् अमृतम्**=मेरे मुख में अमृत है, मैं सदा अमृतमय मधुर वचनों को ही बोलता हूँ। (२) **अर्कः**=सदा प्रभु की अर्चना करनेवाला बनता हूँ। **त्रिधातुः**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का धारण करनेवाला बनता हूँ। **रजसः विमानः**=रजोगुण का ठीक माप में धारण करनेवाला हूँ-उतना रजोगुण, जितना कि वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग के लिए आवश्यक है। **अजस्रः**=(जसुनोक्षणे) कर्मों का त्याग न करके केवल कर्मफल का ही त्याग करनेवाला हूँ। **घर्मः**=प्राणशक्ति की उष्णतावाला व उत्साहवाला हूँ। **हविः अस्मि नाम**=निश्चय से त्यागपूर्वक अदन करनेवाला हूँ। (३) उपासना करने पर इस प्रकार का जीवन बनता है। उपासक ने सदा मन्त्र के इन शब्दों में अपने को प्रेरणा देनी है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना करता हुआ मैं मन्त्र के शब्दों में 'अग्नि' बनने से जीवन को प्रारम्भ करता हूँ, हवि बनने पर मेरे जीवन का अन्तिम रूप आता है।

सूचना—ब्रह्मचर्याश्रम में 'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः'। गृहस्थ में 'घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्'। वानप्रस्थ में 'अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानः' संन्यास में 'अजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम'। यह उपासक का जीवन होता है।

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः॥ देवता—अग्निरात्मा वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'श्रद्धा, मनन व ज्ञान' से प्रभुदर्शन

त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्ध्य१र्कं हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत्॥ ८॥

(१) गतमन्त्र का उपासक **त्रिभिः पवित्रैः**=पवित्र शरीर, पवित्र मन व पवित्र बुद्धि द्वारा **हि**=निश्चय से **अपुपोत्**=अपने को पूर्ण पवित्र बनाता है। शरीर को रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता, मन को वासनाओं से वासित नहीं होने देता तथा मस्तिष्क को कुविचारों से मलिन नहीं करता। **हि**=निश्चय से **हृदा**=हृदय से-हृदयस्थ श्रद्धा से **मतिम्**=मनन व **ज्योतिः**=ज्ञानप्रकाश के **अनु**=अनुसार **अर्कम्**=उस उपासनीय परमात्मा को **प्रजानन्**=यह जानता है। (२) परमात्मा को जानता हुआ यह **वर्षिष्ठम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **रत्नम्**=रमणीय धातुओं को **अकृतः**=शरीर में उत्पन्न करता है। इसका आहार-विहार इतना उत्तम होता है कि उससे इसके शरीर में सात्त्विक ही रस रुधिर आदि धातुओं का निर्माण होता है। **आत् इत्**=अब यह शीघ्र ही **स्वधाभिः**=आत्मधारण शक्तियों से **द्यावापृथिवीः**=मस्तिष्क व शरीर का **पर्यपश्यत्**=पूरा ध्यान करता है (look after)। शरीर को दृढ़ बनाता है और मस्तिष्क को ज्ञान से उज्ज्वल करनेवाला होता है।

भावार्थ—उपासक 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को पवित्र बनाता है। 'श्रद्धा, मनन व ज्ञान' से परमात्मा को जानने का प्रयत्न करता है। शरीर में युक्ताहार-विहार से रमणीय धातुओं को उत्पन्न करता है और शरीर को दृढ़ तथा मस्तिष्क को ज्ञान से उज्ज्वल बनाता है।

ऋषिः—**गाथिनो विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वामित्रोपाध्यायः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शतधार-सत्यवाक्

शतधा॑रमुत्स॒मक्षी॑यमाणं विप॒श्चितं॑ पि॒तरं॒ वक्त्वा॑नाम्।
मेळिं॒ मद॑न्तं पि॒त्रोरु॒पस्थे॒ तं रो॑दसी पिपृतं सत्य॒वाच॑म्॥ ९॥

(१) गतमन्त्र के **तम्**=उस उपासक को **पित्रोः उपस्थे**=प्रकृति और परमात्मा की गोद में (जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ) **रोदसी**=द्यावापृथिवी **पिपृतम्**=पालित करें। 'द्युलोक और पृथिवीलोक' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् इस उपासक का रक्षण करनेवाला हो। सब सूर्य-चन्द्र आदि देवों की इसके लिए अनुकूलता हो। यह उपासक प्रकृति व परमात्मा की गोद में उसी प्रकार निवास करता है, जैसे कि एक बालक माता व पिता की गोद में। (२) ये रोदसी उस उपासक का रक्षण करते हैं, जो कि **शतधारम्**=सौ वर्ष पर्यन्त शक्तियों को धारण करता है, अथवा शतशः धारणात्मक कार्यों को करनेवाला होता है। **उत्सम्**=ज्ञान का यह स्रोत ही बन जाता है, अथवा 'वदति इति' प्रभु के नामों का सदा उच्चारण करनेवाला बनता है। **अक्षीयमाणम्**=क्षीण शक्ति नहीं होता। **विपश्चितम्**=ज्ञानी बनता है। **पितरम्**=पालक होता है। **वक्त्वानां मेडिम्**=वेदवाक्यों का परस्पर संगतिकरण करनेवाला होता है-उनके परस्पर समन्वय से वेदार्थ को स्पष्ट करनेवाला होता है। **मदन्तम्**=सदा प्रसन्न रहता है और **सत्यवाचम्**=सत्य वाणी को ही बोलता है। ठीक बात तो यह है कि इसके मुख से जो कुछ निकलता है, वह सत्य ही हो जाता है (ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुवर्तते)।

भावार्थ—हम धारणात्मक कर्मों में लगे हुए सत्य वाणीवाले बनें। सारा संसार हमारे अनुकूल होगा।

यह सम्पूर्ण सूक्त प्रभुदर्शन के साधनों व फलों का सुन्दर चित्रण कर रहा है। अगले सूक्त का भी विषय यही है कि 'अग्नि' नामक प्रभु का उपासक 'अग्नि' ही बनता है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—ऋतवोऽग्निर्वा ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शक्ति, ज्ञान व त्याग

प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या। देवाञ्जिगाति सुम्नयुः ॥ १ ॥

(१) प्रभु उपासकों से कहते हैं कि **वः**=तुम्हारे **वाजाः**=बल **अभिद्यवः**=प्रकाश की ओर चलनेवाले हैं, अर्थात् तुम्हारी शक्ति ज्ञानप्राप्ति के लिए सहायक हो। शक्ति स्वयं अपने में साध्य न होकर ज्ञान के लिए साधनभूत हो। ये बल **घृताच्या**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति द्वारा (घृत+अञ्च्, घृ क्षरणदीप्त्योः) **हविष्मन्तः**=त्याग की वृत्तिवाले हों, अर्थात् तुम शक्तियों को प्राप्त करके शरीर को रोगों से रहित रखते हुए तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाते हुए हृदयों में त्याग की वृत्तिवाले बनो। तुम सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हों—यज्ञशेष के सेवन की वृत्तिवाले बनो। (२) **सुम्नयुः**=(सुम्न=happiness) आनन्द की कामनावाला व्यक्ति **देवान् जिगाति**=दिव्यगुणों की ओर गति करता है, अर्थात् जो भी जीवन को वास्तविक आनन्द से परिपूर्ण करना चाहता है, वह उत्तम गुणों से जीवन को अलंकृत करने का प्रयत्न करता है। सब से प्रथम यह आवश्यक है कि—(क) शक्ति का सम्पादन किया जाए (वाजाः)। बिना शक्ति के गुण निराधार रहते हैं- शक्ति के साथ ही गुणों का होना सम्भव है। शक्ति को प्राप्त करके, (ख) हम ज्ञान के संचयी बनें (अभि द्यवः) ज्ञान ही हमारे जीवन को पवित्र करता है। (ग) इस ज्ञान को प्राप्त करके हम त्याग की वृत्तिवाले हों। (हविष्मन्तः) त्याग के अभाव में ज्ञान का क्या महत्त्व है? त्याग से ही तो हम परमात्मा को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—हम 'शक्ति, ज्ञान व त्याग' के उपासक हों। इनको प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य हो।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

श्रुष्टीवानं-धितावानम्

ईळे अग्निं विपश्चितं गिरा यज्ञस्य साधनम्। श्रुष्टीवानं धितावानम्॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र में प्रभु के निर्देश को सुनकर जीव निश्चय करता है कि **गिरा अग्निं ईडे**=वेदवाणी द्वारा मैं उस अग्रणी प्रभु की उपासना करता हूँ। प्रभु ने ही मुझे 'शक्ति, ज्ञान व त्याग की भावना' को प्राप्त कराना है। मैं उस प्रभु की उपासना करता हूँ, जो कि **विपश्चितम्**=ज्ञानी हैं। ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करता हुआ मैं प्रभु की ज्ञानयज्ञ से उपासना करता हूँ। उस प्रभु की जो कि **'यज्ञस्य साधनम्'**=सब यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं। प्रभुकृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। (२) उस प्रभु का मैं उपासन करता हूँ, जो कि **श्रुष्टीवानम्**=(सुखवन्तम् सा०) सब सुखोंवाले हैं, प्रभु ही सब सुखों को प्राप्त कराते हैं। **धितावानम्**=वननीय (=प्रशस्त) धन को वे धारण करानेवाले हैं। इन वननीय धनों के धारण द्वारा ही वे हमारे जीवनों को सुखी करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से हमारा ज्ञान बढ़ता है (विपश्चितं), हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है (यज्ञस्य साधनम्) हम सुखी होते हैं (श्रुष्टीवानं) तथा वननीय धनों को प्राप्त करते हैं (धितावानम्)।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वाजिनः-देवस्य

अग्ने॑ श॒केम॑ ते व॒यं यमं॑ दे॒वस्य॑ वा॒जिनः॑ । अति॑ द्वेषां॑सि तरेम ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वयम्**=हम **वाजिनः**=शक्तिशाली **देवस्य**=प्रकाशमय **ते**=आपके **यमम्**=नियमन में, अर्थात् अपने हृदयों के अन्दर अवस्थापन में **शकेम**=शक्त हों-समर्थ हों। शक्तिशाली व प्रकाशस्वरूप आपका ध्यान करते हुए हम भी शक्ति का संपादन करें और अपने जीवन को ज्ञान से दीप्त बनाने का पूर्ण प्रयत्न करें। (२) इस प्रकार शक्तिशाली व ज्ञानी बनकर **द्वेषांसि अतितरेम**=द्वेषों को तैर जाएँ। सब द्वेषों से हम ऊपर उठ जाएँ। द्वेषों से ऊपर उठने का मार्ग 'शक्ति व ज्ञान का सम्पादन' ही है।

भावार्थ—शक्तिशाली प्रकाशमय प्रभु में चित्तवृत्ति को स्थिर करते हुए हम शक्ति व ज्ञान का सम्पादन करके द्वेषों से दूर हो जाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अग्निः पावकः

स॒मि॒ध्यमा॑नो अध्व॒रे३॒ऽग्निः पा॑व॒क ईड्यः॑ । शो॒चिष्के॑श॒स्तमी॑महे ॥ ४ ॥

(१) **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **समिध्यमानः**=दीप्त किए जाते हुए वे प्रभु **अग्निः**=हमारे आगे ले चलनेवाले होते हैं। हम प्रभु का ध्यान करते हैं। यह प्रभुस्मरण हमें उन्नतिपथ पर ले चलता है। **पावकः**=वे प्रभु हमें पवित्र करते हैं। उन्नतिपथ पर ले चलने का यही तो मार्ग है। प्रभु हमारी मलिनताओं को दूर करते हैं। इसीलिए वे प्रभु **ईड्यः**=स्तुत्य हैं। यदि स्तुति से हमारा जीवन पवित्र न बने, तो वह स्तुति किस काम की? (२) वे प्रभु **शोचिष्केशः**=दीप्तज्ञान-रश्मियोंवाले हैं। **तं ईमहे**=उस प्रभु को हम उपासित करते हैं। इसकी उपासना हमें उन दीप्तज्ञान-रश्मियों में स्नान कराती है। यह स्नान हमारे जीवन को पवित्र करता है। पवित्रता द्वारा हम उन्नत होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें ज्ञान से धो डालता है। हम पवित्र होकर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

घृतनिर्णिक्

पृथुपाजा॒ अम॑र्त्यो घृतनि॑र्णि॒क्स्वा॑हुतः । अ॒ग्निर्य॒ज्ञस्य॑ हव्य॒वाट् ॥ ५ ॥

(१) मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र प्रभु का उपासन करते हुए कहता है कि वे प्रभु **पृथुपाजाः**=विस्तृत शक्तिवाले हैं-सर्वत्र शक्तिमान् हैं। मैं भी प्रभु की तरह ही शक्तियों का विस्तार करनेवाला बनूँ। (२) **अमर्त्यः**=प्रभु अमर हैं। मैं भी शक्तिसम्पन्न बनकर नीरोगता की साधना करता हुआ असमय की मृत्यु से बचूँ। (३) **घृतनिर्णिक्**=वे प्रभु ज्ञानदीप्ति द्वारा उपासनों का शोधन कर रहे हैं। उन ज्ञानधाराओं से मैं भी अपने को पवित्र करूँ। (४) **स्वाहुतः**=(सु आ हुतं यस्य) उस प्रभु के सर्वत्र उत्तम दान हैं। उन दानों का अपने को पात्र बनाता हुआ मैं भी दान की वृत्तिवाला बनूँ। (५) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **यज्ञस्य हव्यवाट्**=यज्ञ के साधनभूत सब हव्यों को प्राप्त करानेवाले हैं। इन हव्यपदार्थों को प्राप्त करके मैं यज्ञशील बनूँ।

भावार्थ—प्रभु का उपासक 'शक्तिशाली, नीरोग, ज्ञानधौत, दानशील व उन्नतिपथ पर चलनेवाला यज्ञशील' होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

(यज्ञवन्तः) रक्षक प्रभु

तं सबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्तः । आ चक्रुरग्निमूतये ॥ ६ ॥

(१) **तं अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **ऊतये**=अपने रक्षण के लिए **आचक्रुः**=अभिमुख करते हैं। प्रभुरक्षण को कौन प्राप्त करते हैं? (क) **सबाधः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के बाधन से जो युक्त हैं, अर्थात् प्रभुरक्षण उन्हें ही प्राप्त होता है, जो कि इन वासनारूप शत्रुओं को पीड़ित करने का प्रयत्न करते हैं। (ख) **यतस्रुचः**=जिन्होंने यज्ञ के चम्मच को पकड़ा है, अर्थात् जो यज्ञशील हैं अथवा 'वाग्वै स्रुचः श० ६।३।१।८' जो संयतवाक् हैं। परिमित-नपा-तुला बोलनेवाले व्यक्ति प्रभु से रक्षणीय होते हैं। (ग) **इत्था**=सत्य **धिया**=बुद्धिपूर्वक **यज्ञवन्तः**=प्रशस्त यज्ञों में लगे रहनेवाले व्यक्ति प्रभुरक्षण के पात्र बनते हैं। (२) इस प्रलोभनों से परिपूर्ण मायामय संसार में इस माया को वे ही तैर पाते हैं, जो कि प्रभु को प्राप्त करते हैं 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'। प्रभु को प्राप्त करनेवाले व्यक्ति (क) वासनाओं को पीड़ित करने का प्रयत्न करते हैं, (ख) परिमित बोलते हैं तथा (ग) बुद्धिपूर्वक यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—हम 'काम-क्रोधादि को पीड़ित करनेवाले, संयतवाक् व यज्ञशील' बनकर प्रभु से रक्षणीय हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

रक्षण का प्रकार

होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया । विदथानि प्रचोदयन् ॥ ७ ॥

(१) वे प्रभु **होता**=हमारे लिए सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं। **देवः**=प्रकाशमय हैं-हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनाते हैं। आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराके तथा प्रकाश देकर **अमर्त्यः**=वे प्रभु हमें मृत्यु से बचाते हैं। (२) वे प्रभु **मायया**=ज्ञान के साथ **पुरस्ताद् एति**=हमारे सामने आते हैं और **विदथानि**=ज्ञानों को **प्रचोदयन्**=हमारे अन्तःकरणों में प्रेरित करते हैं। वस्तुतः इन ज्ञान की प्रेरणाओं से ही ठीक मार्ग को दिखलाते हुए वे हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें आवश्यक पदार्थ व प्रकाश को प्राप्त कराते हैं। हमारे अन्तःकरणों में ज्ञान को प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

युद्ध व यज्ञ

वाजी वाजेषु धीयतेऽध्वरेषु प्र णीयते । विप्रो यज्ञस्य साधनः ॥ ८ ॥

(१) **वाजी**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **वाजेषु**=संग्रामों में **धीयते**=धारण किया जाता है, अर्थात् जब हम काम-क्रोध-लोभ आदि आन्तर हेय-वृत्तियों से संग्राम करते हैं, तो इस संग्राम में विजय के लिए प्रभु को ही आगे स्थापित करते हैं। प्रभु ने ही इन काम आदि को पराजित करना होता है। (२) **अध्वरेषु**=यज्ञों में भी वे प्रभु **प्रणीयते**=प्राप्त कराए जाते हैं। सब यज्ञों को भी तो प्रभु ने ही पूर्ण करना होता है। प्रभु ही **वि-प्रः**=विशेषरूप से यज्ञों को पूरण करनेवाले हैं। **यज्ञस्य साधनः**=सब यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं। वस्तुतः इन अध्यात्म-संग्रामों व यज्ञों द्वारा ही प्रभु का पूजन होता है।

भावार्थ—सब संग्रामों में विजय तथा यज्ञों में सफलता प्रभुकृपा से ही प्राप्त होती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

बुद्धिपूर्वक कर्मों द्वारा प्रभु का उपासन

धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमा दधे। दक्षस्य पितरं तना ॥ ९ ॥

(१) वह प्रभु **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा **चक्रे**=(कृतः अभूत्) हृदयों में स्थापित किया जाता है। यह प्रभु ही **वरेण्यः**=वरणीय व श्रेष्ठ है। सब **भूतानाम्**=भूतों के **गर्भम्**=गर्भ को **आदधे**=धारण करता है। 'मम यो निर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्, संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत' महत् तत्त्ववाली प्रकृति में प्रभु ही गर्भ को धारण करते हैं और उससे सब भूतों का जन्म होता है। (२) वे प्रभु ही **दक्षस्य पितरम्**=(दक्ष=Growth) उन्नति के रक्षक पुरुष को **तना**=शक्तियों के विस्तार द्वारा धारण करते हैं। जो भी व्यक्ति अपने जीवन में उन्नति व विकास के लिये यत्नशील होता है, प्रभु उसकी शक्तियों का विस्तार करते हैं और इस प्रकार उसको धारण करते हैं।

भावार्थ—बुद्धिपूर्वक कर्मों द्वारा प्रभु का उपासन होता है। ये प्रभु ही सब भूतों को उत्पन्न करते हैं और उन्नतिशील जीवों की शक्तियों का विस्तार करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शक्तिशालिता

नि त्वा दधे वरेण्यं दक्षस्येळा सहस्कृत। अग्ने सुदीतिमुशिजम् ॥ १० ॥

(१) हे **सहस्कृत**=शक्ति द्वारा किए जानेवाले, अर्थात् शक्ति द्वारा उपासित होनेवाले प्रभो! हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वा**=आपको **दक्षस्य**=उन्नतिशील पुरुष की **इडा**=वाणी **निदधे**=अपने हृदय में स्थापित करती है। जो भी व्यक्ति दक्ष बनता है, कार्यों को कुशलता से करता हुआ आगे बढ़ता है, उस पुरुष से उच्चरित स्तुति-वाणी प्रभु को प्रिय लगती है, उसी के हृदय में प्रभु का वास होता है। (२) उस प्रभु का जो कि **वरेण्यम्**=वरणीय है। प्रकृति का वरण न करके प्रभु का वरण करना ही ठीक है। **सुदीतिम्**=शोभन दीप्तियुक्त हैं, और **उशिजम्**=(कामयमानं) हमारे हित की कामनावाले हैं। प्रभु को हृदयों में धारण करने से हमारा जीवन श्रेष्ठ दीप्तियुक्त बनता है।

भावार्थ—प्रभु शक्ति के सम्पादन तथा कुशलता से कार्यों को करते हुए स्तवन द्वारा प्राप्त होते हैं। प्रभुप्राप्ति हमारे जीवनों को दीप्त बनाती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यन्तुरं व असुरम्

अग्निं यन्तुरमप्तुरमृतस्य योगे वनुषः। विप्रा वाजैः समिन्धते ॥ ११ ॥

(१) **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को, जो कि **यन्तुरम्**=सब के नियामक हैं-सब सूर्य-चन्द्र-तारों तथा पृथिवी आदि के अन्तःस्थित हुए-हुए उनका धारण व नियमन कर रहे हैं। जो **असुरम्**=सब को कर्मों में प्रेरित करनेवाले हैं-हृदयस्थरूपेण सदा कर्मों की वे प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं। इन प्रभु को **अमृतस्य योगे**=अमृतत्व व नीरोगता का सम्पर्क होने पर **वाजैः**=शक्तियों द्वारा **वनुषः**=काम-क्रोधादि को जीतनेवाले **विप्राः**=ज्ञानीपुरुष **समिन्धते**=अपने में समिद्ध करते हैं। (२) प्राकृतिक संसार के दृष्टिकोण से प्रभु 'यन्तुर' हैं, जीवों के दृष्टिकोण से 'असुर' हैं। प्रकृति पूर्ण परतं का है, सो सूर्यादि की गति में किसी प्रकार की गलती नहीं होती। जीव को प्रभु ने कर्म करने की स्वतन्त्रता दी है। प्रभु प्रेरणा देते हैं। यदि जीव सुनकर उसके अनुसार कार्य करता

है तो ठीक होता है। नहीं सुनता और मनमाना चलता है तो कष्ट पाता है। (३) इस प्रभु को पाने के लिए आवश्यक है कि हम (क) नीरोग बनें (अमृतस्य योगे), (ख) शक्ति का सम्पादन करें (वाजैः), (ग) काम-क्रोधादि को अभिभूत करें (वनुषः) तथा (घ) ज्ञानी बनें (विप्राः)।

भावार्थ—प्रभु प्रकृति के नियामक हैं, जीव के प्रेरक हैं। प्रभुप्राप्ति के लिए 'नीरोगता, काम आदि का अभिभव, ज्ञान व शक्ति का सम्पादन' साधन हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रज्ञावान्+शक्तिसम्पन्न

ऊर्जो नपातमध्वरे दीदिवांसमुप द्यवि। अग्निमीळे कविक्रतुम्॥ १२॥

(१) मैं उस प्रभु को **ईडे**=उपासित करता हूँ, जो कि **ऊर्जः नपातम्**=शक्ति को न नष्ट होने देनेवाले हैं। प्रभु की उपासना से चित्तवृत्ति वासनाक्रान्त नहीं होती। चित्तवृत्ति का वासनाक्रान्त न होना 'शक्तिरक्षण' का साधन हो जाता है। (२) उस प्रभु का मैं उपासन करता हूँ, जो कि **अध्वरे दीदिवांसम्**=यज्ञों में दीप्त होनेवाले हैं। प्रभु का दर्शन वहीं होता है, जहाँ जीवन यज्ञमय होते हैं। वस्तुतः वे सब यज्ञ प्रभुकृपा से ही पूर्ण होते हैं। (३) उस प्रभु का मैं उपासन करता हूँ, जो कि **उपद्यवि अग्निम्**=ज्ञान की समीपता में आगे ले चलनेवाले हैं, अर्थात् ज्ञान वृद्धि द्वारा हमें उन्नत करनेवाले हैं। (४) उस प्रभु का उपासन करता हूँ, जो कि **कविक्रतुम्**=क्रान्तप्रज्ञ व शक्तिशाली हैं। उपासित हुए-हुए प्रभु हमें प्रज्ञा व शक्ति से सम्पन्न करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। हमारी शक्ति का इससे रक्षण होगा, हम यज्ञों में दीप्त होंगे, ज्ञान द्वारा आगे बढ़ेंगे, प्रज्ञावान् व शक्तिसम्पन्न बनेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ईडेन्य व नमस्य

ईळेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा॥ १३॥

(१) ये प्रभु **ईडेन्यः**=स्तुति-योग्य हैं, **नमस्यः**=नमस्कार-योग्य हैं। **तमांसि तिरः**=सब अन्धकारों को तिरोभूत करनेवाले हैं और **दर्शतः**=दर्शनीय हैं। प्रभु का हम स्तवन करते हैं, तो प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं। (२) ये **वृषा**=शक्तिशाली **अग्निः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्रभु **सं इध्यते**=स्तवन व नमन द्वारा हृदयों में समिद्ध किये जाते हैं। प्रभु का दर्शन उन्हीं को होता है जो कि शक्ति का सम्पादन करें (वृषा) तथा उन्नतिपथ पर आगे बढ़ने का प्रयत्न करें (अग्नि)।

भावार्थ—स्तवन व नमन से प्रीत प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं। हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हैं और शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'हविष्मान्' उपासक

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईळते॥ १४॥

(१) **वृषः**=शक्तिशाली, **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **समिध्यते**=उपासकों से हृदयों में समिद्ध किये जाते हैं। वे प्रभु **अश्वः न**=अश्व के समान हैं। जैसे घोड़ा अपने सवार को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाता है, इसी प्रकार प्रभु उपासकों को लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। **देववाहनः**=देवों से ये प्रभु धारण किये जाते हैं। देववृत्ति के पुरुष ही हृदयों में प्रभु का दर्शन करते हैं। (२) **तम्**=उस प्रभु

को **हविष्मन्तः**=प्रशस्त हविवाले पुरुष ही **ईडते**=पूजते हैं। प्रभु का पूजन 'हवि' से होता है 'हविषा विधेम'। यज्ञशेष का सेवन करनेवाला यज्ञशील पुरुष ही प्रभु का सच्चा पूजन करता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु हमें शक्तिशाली व उन्नत बनाकर लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शक्ति व ज्ञान

वृषणं त्वा वयं वृषन्वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यतं बृहत्॥ १५॥

(१) हे **वृषन्**=शक्तिशालिन् **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वृषणं त्वा**=शक्तिशाली आपको **वयम्**=हम **वृषणः**=शक्तिशाली बने हुए **समिधीमहि**=अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। प्रभुप्राप्ति का मार्ग यही है कि हम प्रभु जैसे बनें। प्रभु 'वृषा' हैं, हम भी 'वृषा' बनें। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' निर्बल को तो प्रभु प्राप्त नहीं होते। (२) वे प्रभु **दीद्यतम्**=देदीप्यमान हैं, **बृहत्**=महान् हैं। अथवा 'बृहद् दीद्यतं' अत्यन्त ही देदीप्यमान हैं। प्रभु को अपने में समिद्ध करने का प्रयत्न करते हुए हम भी अत्यन्त ही ज्ञान-ज्योति से दीप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु वृषा हैं। हम भी वृषा बनकर प्रभु के सच्चे उपासक होते हैं। इस उपासना से हमारा जीवन दीप्त हो उठेगा।

सूक्त की मूल भावना यही है कि 'अग्नि' नामवाले प्रभु का उपासन करते हुए हम भी अग्नि बनें। प्रभु वृषा हैं, हम भी वृषा (शक्तिशाली) बनें। अग्नि व वृषा बनने के लिए जीवन के तीनों सवनों में वेदवाणी का अध्ययन आवश्यक है। प्रातःसवन २४ वर्ष का है। माध्यन्दिन-सवन अगले ४४ वर्ष का है और सायन्तन-सवन अन्तिम ४८ वर्ष का है। इन तीनों ही सवनों में सोम का पान (वीर्य का रक्षण) करते हुए सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से दिये गये ज्ञान को हमें अपनाना है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हवि+पुरोडाश

अग्ने जुषस्व नो हविः पुरोळाशं जातवेदः। प्रातःसावे धियावसो॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्रभो! **नः**=हमारा **हविः**=यह दानपूर्वक अदन **जुषस्व**=आपके लिए प्रीतिकर हो (जुष्=take delight in)। जैसे पुत्र को पढ़ने में व्यस्त देखकर पिता को प्रसन्नता होती है, इसी प्रकार हमारा यह यज्ञशेष का सेवन आपके लिये प्रीतिकर हो। हमें यज्ञमग्न देखकर आपको हम प्रिय लगें। यह यज्ञशेष का सेवन ही तो उन्नति का मार्ग है। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ-सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देनेवाले प्रभो! आप **पुरोडाशम्**=(पुरः दाश्यते) हमारे इस वेदाध्ययन-ज्ञानप्राप्ति को देखकर प्रसन्न होइये। सृष्टि के प्रारम्भ में यह वेदज्ञान दिया गया है। इससे इसका नाम 'पुरोडाश' पड़ गया है। यह पुरोडाश आपको प्रसन्न करे। हम प्रतिदिन प्रातः इसका अध्ययन करें। हमारे जीवन का प्रातःकाल, अर्थात् प्रथम २४ वर्ष तो इसके अध्ययन में ही व्यतीत हों। हे **धियावसो**=बुद्धिपूर्वक कर्मों से वसुओं को-धनों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आपकी कृपा व प्रेरणा से **प्रातःसावे**=इस जीवन के प्रातःसवन में हम 'हवि' और 'पुरोडाश' का ही ध्यान करें, दानपूर्वक अदन करनेवाले, यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें और सृष्टि के आरम्भ

में आपसे दिये गये इस वेदज्ञान को अपनाएँ। हमारे ये दोनों काम आप के लिए प्रिय हों।

भावार्थ—हम जीवन के प्रातःसवन में यज्ञशेष का सेवन व वेदाध्ययन करते हुए प्रभु के प्रिय हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान का परिपाक व परिष्कार

पुरोळा अग्ने पचतस्तुभ्यं वा घा परिष्कृतः ॥ तं जुषस्व यविष्ठ्य ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **पुरोडाः**=यह (पुरः दाश्यते) सृष्टि के प्रारम्भ में दिया गया वेदज्ञान **पचतः**=मेरे से पकाया गया है। जैसे एक बालक अपने पाठ को अभ्यास से पकाता है, इसी प्रकार इस जीवन के प्रातःसवन में (प्रथम २४ वर्षों में) मैंने इस वेदज्ञान को परिपक्व किया है और **वा घा**=निश्चय से **परिष्कृतः**=इसे परिष्कृत किया है- आचार्यों द्वारा इसे अत्यन्त परिमार्जित कर लिया है। (२) हे **यविष्ठ्य**=हमारे अज्ञानों को दूर करने व ज्ञानों को प्राप्त करानेवालों में सर्वश्रेष्ठ प्रभो! आप **तं जुषस्व**=हमारे इस वेदज्ञान के परिपक्व व परिष्कृत करने को देखकर प्रसन्न होइये। आपके लिए हमारा यह कार्य प्रीतिकर हो।

भावार्थ—जीवन का प्रथमकाल ज्ञान की परिपक्वता व परिष्कार के लिए ही हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडुष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

ज्ञान व वासना-विनाश

अग्ने वीहि पुरोळाशमाहुतं तिरोअह्न्यम्। सहसः सूनुरस्यध्वरे हितः ॥ ३ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **पुरोडाशम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले इस वेदज्ञान को **वीहि**=(वी=convey) हमें प्राप्त कराइये। यह वेदज्ञान **आहुतम्**=इस ब्रह्माण्ड के लोक-लोकान्तरों में चारों ओर दिया गया है। **तिरः अह्न्यम्**=(अ हन् य) यह ज्ञान न नष्ट करने योग्य कामवासना को तिरोभूत करनेवाला है। काम को नष्ट करना बड़ा कठिन है। जब हम इस ज्ञान प्राप्ति में लगते हैं, तो यह ज्ञान ही वासना को विनष्ट करता है। (२) हे **सहसः सूनो**=शक्ति के पुञ्ज प्रभो! आप **अध्वरे हितः असि**=यज्ञ में निहित होते हैं, जो भी अपने जीवन को यज्ञमय बनाने का प्रयत्न करता है, प्रभु उसे प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वेदज्ञान दें। यह ज्ञान ही वासना को विनष्ट करनेवाला है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

माध्यन्दिन-सवन में ज्ञानयज्ञ

माध्यंदिने सवने जातवेदः पुरोळाशमिह कवे जुषस्व।
अग्ने यह्वस्य तव भागधेयं न प्र मिनन्ति विदथेषु धीराः ॥ ४ ॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभो! **इह**=इस जीवन में **माध्यन्दिन सवने**=जीवन के २५ से ६८ वर्ष तक के ४४ वर्ष के माध्यन्दिनसवन में **पुरोडाशम्**=इस सृष्टि के प्रारम्भ में दिये गये वेदज्ञान को **जुषस्व**=देने में प्रीतिवाले होइये (delight in granting) अर्थात् आपकी कृपा से इस जीवन के मध्याह्न में हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले हों। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यह्वस्य**=महान् **तव**=आपके **भागधेयम्**=भाग को **धीराः**=ज्ञानी पुरुष **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **न प्रमिनन्ति**=हिंसित नहीं करते हैं, अर्थात् धीरपुरुष संसार के सब कार्यों को करते हुए भी स्वाध्याय के समय को समाप्त नहीं कर देते। इसे वे बड़ा पवित्र समय समझते

हैं। यह समय ज्ञानयज्ञ द्वारा आपकी उपासना का होता है। यह 'माध्यन्दिन सवन' गृहस्थ का समय है। इसमें भी वे स्वाध्याय का विलोप नहीं होने देते।

भावार्थ—जीवन के माध्यन्दिनसवन में भी—२५ से ६८ वर्ष तक भी हम स्वाध्याय को विलुप्त न होने दें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान+यज्ञ

अग्ने तृतीये सवने हि कानिषः पुरोळाशं सहसः सूनवाहुतम्।
अथा देवेष्वध्वरं विपन्यया धा रत्नवन्तममृतेषु जागृविम्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! हे **सहसः सूनो**=शक्ति के पुञ्ज प्रभो! आप इस **आहुतम्**=सब लोक-लोकान्तरों में दिये गये **पुरोडाशम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये गये वेदज्ञान को **तृतीये सवने**=जीवन के तृतीय सवन में भी ६९ से ११६ वर्ष तक के जीवन के सायन्तन-सवन में भी **हि**=निश्चयपूर्वक **कानिषः**=दीप्त करिए, अर्थात् हम गृहस्थ से ऊपर उठकर वानप्रस्थ व संन्यास में भी इस वेदज्ञान को उपेक्षित न करें। (२) **अथा**=अब, इस वेदज्ञान के साथ **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **विपन्यया**=विशिष्ट स्तुति के साथ **अध्वरम्**=यज्ञ को **धाः**=धारण करिए। उस यज्ञ को धारण करिए, जो कि **रत्नवन्तम्**=रत्नोंवाला है-सब रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला है 'एष वो स्विष्टकामधुक्'। उस यज्ञ को धारण करिए जो कि **अमृतेषु जागृविम्**=देवों में-संसार के विषयों के पीछे न मरनेवाले मनुष्यों में सदा जागता है। वैषयिक-पुरुष ही यज्ञ को छोड़ बैठते हैं।

भावार्थ—हम जीवन के तृतीय सवन में भी, अर्थात् ६९ से ११६ वर्ष तक भी ज्ञान व यज्ञ को अपनानेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आहुति+पुरोडाश

अग्ने वृधान आहुतिं पुरोळाशं जातवेदः। जुषस्व तिरोअह्न्यम्॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **आहुतिं वृधानः**=आप हमारे जीवन में आहुति का वर्धन करिए, अर्थात् हम अधिकाधिक यज्ञिय-वृत्तिवाले बनते चलें। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **पुरोडाशम्**=इस सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले वेदज्ञान को **जुषस्व**=हमारे लिए कृपा करके दीजिए (जुष्=delight in granting), जो वेदज्ञान **तिरो अह्न्यम्**=जिनका नाश बड़ा कठिन है उन कामादि को तिरोभूत करनेवाला है। इस वेदज्ञान को प्राप्त करने में लगे रहनेवाला व्यक्ति वासना का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे में यज्ञवृत्ति का वर्धन हो तथा वेदज्ञान हमारे लिए रुचिकर हो।

सूक्त के प्रारम्भ व अन्त में समान ही प्रार्थना है कि हम वेदज्ञान में रुचिवाले हों तथा यज्ञों की ओर झुकाववाले बनें। अगला सूक्त का इस वेदज्ञान की प्राप्ति के लाभ के प्रतिपादन के साथ प्रारम्भ होता है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

अधिमन्थन+प्रजनन

अस्तीदमधिमन्थनमस्ति प्रजननं कृतम्। एतां विश्पत्नीमा भराग्निं मन्थाम पूर्वथा॥ १॥

(१) जैसे दूध का जमा रूप दही 'मक्खन' की उत्पत्ति का आधार होती है तथा मथानी (मन्थनदण्ड) उस मक्खन की प्राप्ति का साधन बनती है, इसी प्रकार **इदं अधिमन्थनं अस्ति**=यह बुद्धि (=अन्तःकरण) तो उत्कृष्ट मन्थनदण्ड है तथा सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाला यह गत सूक्त का पुरोडाश (=वेदज्ञान) **प्रजननं कृतं अस्ति**=प्रजनन किया गया है। यह वेदज्ञान ही परमात्म-प्रकाश का आधार बनता है 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'। (२) बुद्धिरूप मन्थनदण्ड द्वारा इस वेदज्ञान रूप दधि का मन्थन करने से ज्ञानप्रकाश की उत्पत्ति होती है। **एताम्**=इस **विश्पत्नीम्**=प्रजाओं की पालिका वेदविद्या को **आभर**=तू अपने में भरनेवाला बन। इस वेदज्ञान से हम **पूर्वथा**=पहले की तरह **अग्निम्**=उस अग्नि नामक प्रभु को **मन्थाम**=मथित करें। इस वेदज्ञान रूप दधि के मन्थन से प्रभु प्रकाश रूप 'नवनीत' को हम प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी रूप दधि के बुद्धि रूप मन्थनदण्ड से मन्थन करने पर परमात्म-प्रकाशरूप नवनीत (मक्खन) की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

जागरण, हवि व मनन

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भइव सुधितो गर्भिणीषु।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः॥ २॥

(१) **जातवेदाः**=(जाते-जाते विद्यते) अग्नि **अरण्योः निहितः**=दो अरणियों में निहित होता है। जैसे दो अरणियों की रगड़ से वह प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार प्रभु भी 'विद्या व श्रद्धा' रूप दो अरणियों में निहित हैं। विद्या व श्रद्धा के परस्पर सम्पर्क होने पर ही प्रभु रूप अग्नि का दर्शन होता है। वैसे प्रभु 'जातवेदाः'=सर्वत्र विद्यमान हैं। प्रभु का दर्शन मस्तिष्क व हृदयरूप अरणियों की रगड़ के होने पर ही होगा। वे प्रभु इन ज्ञान व श्रद्धा रूप अरणियोंवाले पुरुषों में उसी प्रकार **सुधितः**=उत्तमता से निहित (स्थापित) हैं **इव**=जैसे कि **गर्भिणीषु**=गर्भिणी स्त्रियों में **गर्भः**=गर्भ सुधित होता है। (२) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **ईड्यः**=स्तुति योग्य होते हैं। किनसे? (क) **जागृवद्भिः**=जागनेवाले पुरुषों से, अर्थात् प्रभु के उपासक वे हैं जो कि सदा जाग रहे हैं। इस संसार में मनुष्य जरा भी प्रमाद करता है-कुछ अलसाने लगता है, त्यों ही वह विषयों से आक्रान्त हो जाता है। प्रभु का उसे स्मरण नहीं रहता और विषयों के आस्वाद में वह उत्तरोत्तर फँसता जाता है। पर जब मनुष्य इन विषयों में नहीं फँसता, तब वह 'हविष्मान्' बना रहता है। इन **हविष्मद्भिः**=हविवाले-त्यागपूर्वक अदनवाले मनुष्यों से वे प्रभु उपासित होते हैं, अर्थात् प्रभु का उपासक विषयाकृष्ट न होकर सदा यज्ञशील बना रहता है। ऐसा बने रहने के लिए ही वह विचारशील बनता है-सदा इन विषयों के स्वरूप का चिन्तन करने से वह इनमें नहीं फँसता। इन **मनुष्येभिः**=मननशील पुरुषों से वह प्रभु उपासित होता है।

भावार्थ—प्रभुदर्शन के लिये श्रद्धा व विद्या का मेल आवश्यक है। प्रभु का उपासक सदा सावधान, त्यागपूर्वक अदनवाला व विचारशील होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानबीज-वपन

उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाज इळायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट॥ ३॥

(१) **चिकित्वान्**=समझदार ज्ञानी बनता हुआ तू **उत्तानायाम्**=(उत् तान=stretched out) उत्कृष्ट विस्तारवाली बुद्धि में **अवभरा**=ज्ञान को भरनेवाला बन। **प्रवीता**=(to conceive) ज्ञानबीज को गर्भ में धारण करनेवाली यह बुद्धि **सद्यः**=शीघ्र ही **वृषणम्**=उस शक्तिशाली प्रभु को **जजान**=उत्पन्न करती है। इस प्रकार बुद्धि द्वारा प्रभु का दर्शन होता है। (२) अब यह व्यक्ति **अरुष स्तूपः**=आरोचमान तेजःसंघवाला होता है (स्तूपः तेजः संघः)। **अस्य पाजः**=इसकी शक्ति **रुशत्**=देदीप्यमान होती है। यह **इडायाः पुत्रः**=वेदवाणी का पुत्र बनता है, वेदवाणी द्वारा 'पुनाति त्रायते' अपने को पवित्र करता है और इस प्रकार अपना रक्षण करता है। **वयुने**=ज्ञान में **अजनिष्ट**=प्रादुर्भाव को प्राप्त करता है-प्रादुर्भूत ज्ञानवाला बनता है।

भावार्थ—बुद्धि रूप क्षेत्र में ज्ञानबीज के बोने से मनुष्य तेजस्वी व प्रादुर्भूत ज्ञानवाला बनता है। ज्ञान का विकास इसे विषयों से बचाकर तेजस्वी बनाता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

स्वाध्याय+यज्ञ

इळायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि। जातवेदो नि धीमह्यग्ने हव्याय वोळ्हवे॥ ४॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **त्वा**=आपको **वयम्**=हम **निधीमहि**=निश्चय से अपने हृदयों में धारण करते हैं एक तो **इडायाः पदे**=वेदवाणी के शब्दों में तथा दूसरे **पृथिव्याः नाभा अधि**=(अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) यज्ञों में। प्रभुदर्शन का प्रथम साधन तो यह है कि हम स्वाध्याय द्वारा इन वेदवाणी के शब्दों में आपके प्रकाश को देखें। जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ेगा, हम आपके समीप होते चलेंगे। दूसरा साधन 'यज्ञ' है। प्रभु यज्ञरूप हैं। यज्ञरूप प्रभु का यज्ञ से ही उपासन होता है। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! हम आपका उपासन इसलिए करते हैं कि **हव्याय वोढवे**=आप हमारे लिए हव्यपदार्थों का वहन करें। आपकी उपासना से सब पवित्र यज्ञिय-पदार्थों की हमें प्राप्ति होती है।

भावार्थ—स्वाध्याय तथा यज्ञ हमें प्रभु का सामीप्य प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमारे लिये हव्य-पदार्थों को देते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—ऋत्विज अग्निर्वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु-मन्थन

मन्थता नरः कविमद्वयन्तं प्रचेतसममृतं सुप्रतीकम्।
यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरस्तादग्निं नरो जनयता सुशेवम्॥ ५॥

(१) हे **नरः**=प्रगतिशील जीवो! उस प्रभु का **मन्थता**=मन्थन करो-विचार करो जो कि **कविम्**=क्रान्तप्रज्ञ-सर्वज्ञ हैं। **अद्वयन्तम्**=(द्वययं अकुर्वाणम्) जो दो अभिप्रायोंवाली-परस्पर विरुद्ध भावोंवाली, वाणी को नहीं बोलते। **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट चेतनावाले हैं। **अमृतम्**=सब रोगों से अतीत (मृत्यु=रोग) **सुप्रतीकम्**=अत्यन्त तेजस्वी हैं। इस प्रकार प्रभु का मन्थन करता हुआ मैं भी 'ज्ञानी, सत्यसरल वाणीवाला, प्रकृष्ट चेतनावाला, नीरोग व तेजस्वी' बनता हूँ। (२) हे **नरः**=मनुष्यो! उस

अग्निम्=अग्रणी प्रभु को **पुरस्ताद्**=सब से पहले **जनयता**=अपने हृदयदेश में प्रादुर्भूत करो, जो कि **यज्ञस्य केतुम्**=यज्ञों के प्रकाशक हैं-वेद द्वारा यज्ञों का ज्ञान दे रहे हैं। **प्रथमम्**=अत्यन्त विस्तारवाले-सर्वव्यापक हैं (प्रथ विस्तारे) अथवा सर्वोत्तम स्थान में स्थित हैं। **सुशेवम्**=उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले हैं। उठते ही प्रभु का स्मरण करने से (क) हमारी वृत्ति यज्ञिय बनती है, (ख) हम आगे बढ़ते हुए प्रथम स्थान में स्थित होते हैं और (ग) हम आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का मन्थन करना-प्रभु का चिन्तन करना ही हमें उन्नत करता है और आनन्द को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निर्विघ्नता

यदी मन्थन्ति बाहुभिर्वि रोचतेऽश्वो न वाज्यरुषो वनेष्वा।

चित्रो न यामन्नश्विनोरनिवृतः परि वृणक्त्यश्मनस्तृणा दहन्॥ ६॥

(१) **यदि**=जब **बाहुभिः**=प्रयत्नों से, अर्थात् यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहने के साथ **मन्थन्ति**=उस प्रभु का मन्थन व विचार करते हैं, तो वह प्रभु **वनेषु**=इन उपासकों में **आविरोचते**=सर्वथा विशिष्ट दीप्तिवाले होते हैं। **अश्वः न**=वे प्रभु इन उपासकों के लिए अश्व के समान होते हैं। जैसे 'अश्व' लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाने में सहायक होता है, उसी प्रकार ये उपासक प्रभु द्वारा लक्ष्य स्थान पर पहुँचते हैं। **वाजी**=प्रभु इन उपासकों के लिए शक्ति देनेवाले व **अरुषः**=आरोचमान होते हैं। प्रभु इन उपासकों को शरीर में शक्ति तथा मस्तिष्क में दीप्ति प्राप्त कराते हैं। (२) **अश्विनोः**=प्राणापान की साधना करनेवाले पति-पत्नी के **यामन्**=जीवन मार्ग में ये प्रभु **चित्रः न**=ज्ञान देनेवाले के समान होते हैं (चित्+र)। **अनिवृतः**=किसी भी अन्य से प्रभु की गति रोकी नहीं जा सकती। प्रभु **अश्मनः परिवृणक्ति**=मार्ग में विघ्नरूप से आनेवाले इन पाषाणों को दूर करते हैं और **तृणा दहन्**=घास-फूँस को जला देते हैं। 'काम-क्रोध-लोभ' आदि आसुरभाव 'अश्मा' हैं, और संसार के विषय 'तृण' हैं। प्रभु इन्हें दूर करके उपासक के लिए मार्ग को निर्विघ्न करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासक के मार्ग को निर्विघ्न करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वाजी, सुदानु व हव्यवाट्

जातो अग्नी रोचते चेकितानो वाजी विप्रः कविशस्तः सुदानुः।

यं देवास ईड्यं विश्वविदं हव्यवाहमदधुरध्वरेषु ॥ ७॥

(१) मन्थन द्वारा-मनन व चिन्तन द्वारा, **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए **अग्निः**=वे प्रभु **रोचते**=हमारे हृदय देशों में दीप्त होते हैं। **चेकितानः**=वे हमें ज्ञान देते हैं। **वाजी**=प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं। **विप्रः**=ज्ञानी हैं। **कविशस्तः**=ज्ञानी पुरुषों द्वारा स्तुत हुए-हुए वे प्रभु **सुदानुः**=अच्छी प्रकार वासनाओं का खण्डन करनेवाले हैं (दाप् लवने)। (२) **यम्**=जिस प्रभु को **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अध्वरेषु**=यज्ञात्मक जीवनों में **अदधुः**=स्थापित करते हैं। देव जीवन को यज्ञमय बनाते हैं और इस यज्ञिय-जीवन में प्रभु का प्रकाश देखते हैं। ये प्रभु ही **ईड्यम्**=स्तुति योग्य हैं। **विश्वविदम्**=सर्वज्ञ हैं। **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—देव बनकर हम यज्ञशील हों। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है। ये प्रभु हमें शक्ति देते

हैं, हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं और सब हव्यपदार्थों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हवि द्वारा देवयजन

सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ।

देवावीर्देवान्हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः ॥ ८ ॥

(१) हे **होतः**=सब हव्यपदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप उ=निश्चय से **स्वे लोके**=अपने स्थान इस हृदय देश में **सीद**=आसीन होइये। मेरा हृदय आपका आसन बने। इसे निर्मल करके मैं आपको इसपर बैठने के लिए आमन्त्रित करूँ। **चिकित्वान्**=आप सर्वज्ञ हैं। **सुकृतस्य योनौ**=सब उत्तम कर्मों के उत्पत्ति स्थान बने हुए इस हृदय में **यज्ञं सादय**=आप यज्ञ को बिठाइये। आपकी कृपा से मेरा हृदय सुकृत की योनि बने और इसमें यज्ञिय भावों का ही निवास हो। प्रत्येक कर्म की उत्पत्ति इस हृदय में ही विचाररूप में होती है 'यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति'। 'शुद्ध विचार' शुद्ध कर्म को जन्म देता है। एवं मेरा हृदय शुद्ध विचारों से परिपूर्ण होता हुआ शुद्ध कर्मों को जन्म देनेवाला बने। इस सुकृत के योनिभूत हृदय में यज्ञात्मक कर्मों के ही विचार उठें। (२) हे प्रभो! आप **देवावीः**=सब देवों का रक्षण करनेवाले हैं-दिव्यगुणों के रक्षक आप ही हैं। **हविषा**=हवि द्वारा, त्यागपूर्वक अदन द्वारा, हमारे साथ **देवान् यजासि**=दिव्यगुणों का मेल करते हैं। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यजमाने**=यज्ञशील पुरुष में **बृहद् वयः**=वृद्धिशील जीवन को **धाः**=धारण करिए। यज्ञशील पुरुष आपकी कृपा से दीर्घ उत्कृष्ट जीवन प्राप्त करे।

भावार्थ—मेरा हृदय प्रभु का निवास स्थान बने। मेरे हृदय में शुभ ही विचार उत्पन्न हों। त्यागपूर्वक अदन करता हुआ मैं दिव्यगुणों का अपने में वर्धन करूँ। मेरा यज्ञमय जीवन वृद्धिशील हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देवों द्वारा दस्युओं का पराभव

कृणोत धूमं वृषणं सखायोऽस्त्रेधन्त इतन वाजमच्छ ।

अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवासो असहन्त दस्यून् ॥ ९ ॥

(१) हे **सखायः**=मित्रो! **धूमम्**=उस वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले प्रभु को **कृणोत**=उपासित करो। जो प्रभु **वृषणम्**=शक्तिशाली हैं। हमारी वासनाओं को विनष्ट करके हमें भी वे शक्तिशाली बनाते हैं। **अस्त्रेधन्तः**=अहिंसित होते हुए-अक्षीण होते हुए **वाजं अच्छ**=शक्ति की ओर **इतन**=चलो। वासनाएँ शक्ति का क्षय करती हैं। जब हम वासनाओं से हिंसित नहीं होते, तो अपनी शक्ति को सुरक्षित कर पाते हैं। (२) **अयम्**=यह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **पृतनाषाट्**=शत्रु-सैन्यों का पराभव करनेवाला है। **सुवीरः**=उत्तम वीर है। **येन**=जिसद्वारा **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **दस्यून्**=दस्युओं को-विनाशक वृत्तियों को **असहन्त**=पराभूत करते हैं। वस्तुतः प्रभु को आगे करके ही देव विजयी बनते हैं। हम देव बनें, महादेव के समीप उपस्थित होनेवाले हों। ये महादेव कामदेव को अवश्य भस्म करेंगे।

भावार्थ—प्रभु का हम उपासन करें। प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करेंगे और हमें शक्तिशाली बनाएँगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिग् अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभु का निवास-स्थानभूत 'हृदय'

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्नग्न आ सीदाथा नो वर्धया गिरः ॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अयम्**=यह मेरा शरीर व हृदय **ते योनिः**=आपका घर हो-आपका यहाँ निवास हो। यह **ऋत्वियः**=प्रत्येक ऋतु में आपका हो, अर्थात् मैं सदा आपका स्मरण करूँ। यह मेरा हृदय ऐसा हो कि **यतः**=जिससे **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **अरोचथाः**=देदीप्यमान हों। आपकी ज्योति से यह मेरा हृदय चमक उठे। (२) हे **जानन्**=सर्वज्ञ **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तं आसीद**=उस हृदय में आप आसीन होइये **अथा**=और **अवनः**=हमारे लिए **गिरः**=इन ज्ञानवाणियों का **वर्धया**=वर्धन करिए। हृदयस्थ प्रभु हमारा ज्ञानवर्धन करें।

भावार्थ—मेरा हृदय प्रभु का निवास स्थान बने। प्रभु इसे ज्ञानदीप्त करने का अनुग्रह करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

तनूनपात्

तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते ।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि ॥ ११ ॥

(१) वह प्रभु 'तनूनपात्' हमारे शरीरों को न नष्ट होने देनेवाले **उच्यते**=कहे जाते हैं, अर्थात् मैं अपने को, गतमन्त्र के अनुसार, प्रभु का निवास-स्थान बनाता हूँ, तो प्रभु मेरा रक्षण करते हैं। **गर्भः**=वे सबके अन्दर गर्भरूप से रह रहे हैं 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः'। **आसुरः**='असुराणां हन्ता सा०' वे हमारे पर आक्रमण करनेवाले आसुर भावों को विनष्ट करनेवाले हैं। (२) **यद्विजायते**=जब प्रभु अपनी विभूतियों में विविधरूप से प्रकट होते हैं, तो **नराशंसः भवति**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले पुरुषों से शंसनीय होते हैं। ज्ञानीपुरुष सर्वत्र प्रभु की महिमा देखते हैं और प्रभु का गायन करते हैं। (३) **यत्**=चूँकि **मातरि**=निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पुरुष में **अभिमीत**=प्रभु सब सद्गुणों का निर्माण करते हैं, अतः वे 'मातरिश्वा' निर्माता में स्थित होकर उसका वर्धन करनेवाले कहलाते हैं। (४) **सरीमणि**=हृदय में प्रभु की गति होने पर **वातस्य**=जीवात्मा का-प्राणधारी जीव का (वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्) **सर्गः**=दृढ़ निश्चय **अभवत्**=होता है। हृदय में प्रभु की स्थिति को अनुभव करनेवाला पुरुष बड़ा दृढ़ निश्चयी होता है।

भावार्थ—मैं प्रभु का निवास-स्थान बनूँ। प्रभु मेरे शरीर को नष्ट न होने देंगे-मेरे पर होनेवाले आसुरभावों के आक्रमण से मेरा रक्षण करेंगे, मेरा वर्धन करेंगे, मुझे दृढ़ निश्चयी बनायेंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिग् अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सुनिर्मन्थन

सुनिर्मथा निर्मथितः सुनिधा निहितः कविः । अग्ने स्वध्वरा कृणु देवान्देवयते यज ॥ १२ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **सुनिर्मथा**=उत्तम निर्मन्थन से, स्वाध्याय व चिन्तन से **निर्मथितः**=चिन्तन किये जाते हो। **सुनिधा**=उत्तम निधान, दिव्यगुणों के स्थापन से आप **निहितः**=हृदयों में स्थापित किये जाते हो। चिन्तन से आपके स्वरूप का कुछ आभास मिलता है, तो दिव्यगुणों के धारण से हम आपका धारण करनेवाले बनते हैं। **कविः**=आप सर्वज्ञ हैं। (२) हे प्रभो! धारण किये गये आप **स्वध्वरा**=हमें उत्तम यज्ञादि कर्मोंवाला करिए और **देवयते**=दिव्यगुणों की कामनावाले पुरुष के साथ **देवान्**=दिव्यगुणों को **यज**=संगत करिए। इस 'देवयन्' पुरुष को

देवों का सम्पर्क प्राप्त हो। देवों का सम्पर्क प्राप्त करके यह दिव्यगुणों को धारण करनेवाला बने।

भावार्थ—उत्तम चिन्तन (=स्वाध्याय) व दिव्यगुणों को धारण करते हुए हम अपने हृदयों में प्रभु को स्थापित करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

एक मात्र लक्ष्य—'प्रभुप्राप्ति'

अजींजनन्नमृतं मर्त्यासोऽस्रेमाणं तरणिं वीळुजम्भम् ।

दश स्वसारो अग्रुवः समीचीः पुमांसं जातमभि सं रभन्ते॥ १३॥

(१) **मर्त्यासः**=मरणधर्मा होते हुए भी उपासक लोग **अमृतं अजीजनन्**=उस अमृत प्रभु को अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं, जो प्रभु **अस्रेमाणम्**=क्षय व हिंसा से रहित हैं। **तरणिम्**=उपासक को सब वासनाओं से तरानेवाले हैं। **वीडुजम्भम्**=दृढ़ दंष्ट्राओंवाले हैं, अर्थात् इन दंष्ट्राओं से असुरों का संहार करनेवाले हैं। (२) इस प्रभु का इस रूप में स्मरण करने पर **दश**=ये दस इन्द्रियाँ **स्वसारः**=उस आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाली होती हैं। इसीलिए **अग्रुवः**=आगे और आगे ले चलनेवाली होती हैं। **समीचीः**=सदा संगत व सम्यक् (उत्तम) गतिवाली होती हैं। उस **जातम्**=सदा से प्रादुर्भूत **पुमांसम्**=(पुनाति) पवित्र करनेवाले प्रभु की **अभि**=ओर **संरभन्ते**=उद्योग करनेवाली होती हैं। उपासक के सब कार्य प्रभुप्राप्ति के उद्देश्य से होते हैं। उसका खान-पान भी प्रभुप्राप्ति को लक्ष्य करके होता है। शरीररक्षण भी वह प्रभुप्राप्ति के मन्दिर के रूप में देखता हुआ करता है।

भावार्थ—हमारी सब क्रियाएँ प्रभुप्राप्ति के उद्देश्य से हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रतिदिन असुर के जठर से प्रादुर्भाव

प्र सप्तहोता सनकादरोचत मातुरुपस्थे यदशोचदूधनि ।

न नि मिषति सुरणो दिवेदिवे यदसुरस्य जठरादजायत॥ १४॥

(१) **सप्त होता**='कर्णाविमौ नासिके चक्षुणी मुखम्' दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख इन सातों को होता का रूप देनेवाला व्यक्ति-इनसे जीवन यज्ञ को उत्तमता से पूर्ण करनेवाला व्यक्ति, **सनकात्**=उस सनातन पुरुष से **प्र अरोचत**=अत्यन्त ही चमक उठता है। जीवन को यज्ञ का रूप देनेवाले पुरुष के हृदय में प्रभु का प्रकाश दीप्त होता है। इस प्रकाश से इस व्यक्ति का जीवन दीप्त हो जाता है। यह होता तभी है **यत्**=जब कि यह **मातुः उपस्थे**=वेदमाता की गोद में (स्तुता मया वरदा वेदमाता०) **ऊधनि**=उसके ज्ञानदुग्ध के आधार में **अशोचत्**=दीप्त होता है, अर्थात् जब एक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करता हुआ जीवन को यज्ञमय बनाता है, तो उसका हृदय प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो उठता है। (२) यह **सुरणः**=उत्तमता से प्रभु के नामों का जप करनेवाला **न निमिषति**=कभी प्रमाद नहीं करता, आलस्यवाला नहीं होता। **यत्**=चूँकि यह **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **असुरस्य**=(असून् राति) प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु के **जठराद्**=जठर से **अजायत**=प्रादुर्भूत होता है। यह सोने लगता है, तो प्रभु का स्मरण करता हुआ प्रभु में ही लीन हो जाता है। प्रतिदिन प्रातः जागता है, तो उस प्रभु के उदर से ही मानो बाहर आता है। सदा प्रातःसायं प्रभु में लीन होना ही प्रभु के जठर में स्थित होना है। ध्यान से उठकर कार्यों में लगना ही उस जठर से बाहर आना है। यह व्यक्ति अप्रमत्तरूप से अपने कर्त्तव्यों का पालन करनेवाला होता है।

भावार्थ—जीवन को हम यज्ञमय बनाएँ। वेदमाता की गोद में आनन्द का अनुभव करें। प्रतिदिन प्रभुस्मरण करते हुए अप्रमत्त रूप से कर्त्तव्य का पालन करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

स्तवन व प्रभुदीप्ति

अमित्रायुधो मरुतामिव प्रयाः प्रथमजा ब्रह्मणो विश्वमिद्विदुः।
द्युम्नवद् ब्रह्म कुशिकास एरिर एकएको दमे अग्निं समीधिरे॥ १५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभुस्मरणपूर्वक कार्यों में लगनेवाले व्यक्ति **अमित्रायुधः**='काम-क्रोध-लोभ' आदि शत्रुओं से युद्ध करनेवाले होते हैं। ये व्यक्ति **मरुतां प्रयाः इव**=प्राणों के सैन्य के समान होते हैं। प्राणसाधना करनेवालों के प्राणापान रोगों व वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले सैनिक ही बन जाते हैं। ये **प्रथमजाः**=प्रथम स्थान में स्थित होनेवाले, अर्थात् उत्तम सात्त्विक गति में स्थित होनेवाले बनते हैं। **ब्रह्मणः**=वेद द्वारा **विश्वम्**=सम्पूर्ण ज्ञान को **इद्**=निश्चय से **विदुः**=जाननेवाले होते हैं। (२) ये **कुशिकासः**=(कोशते शब्दकर्मणः नि० २।२२) प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाले **द्युम्नवद् ब्रह्म**=ज्योतिर्मय स्तोत्र को **एरिरे**=अपने में प्रेरित करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हैं-उन स्तवन के शब्दों के अर्थ का भावन (चिन्तन) करते हैं। उन स्तवनों से प्रेरणा प्राप्त करके ये अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाते हैं। **एकः एकः**=कुशिकों में से प्रत्येक **दभे**=इन्द्रियों के दमन में प्रवृत्त होता है, अर्थात् इन्द्रियदमन इनका मुख्य ध्येय होता है। इसमें सफल होकर ये **अग्निम्**=उस प्रकाशमय प्रभु को **समीधिरे**=समिद्ध करते हैं।

भावार्थ—वासनाओं के साथ संघर्ष में चलते हुए हम इन्द्रियदमन द्वारा प्रभुदर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

श्रेयो-वरण, न कि प्रेयस् का

यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्होतश्चिकित्वोऽवृणीमहीह।
ध्रुवमया ध्रुवमुताशमिष्ठाः प्रजानन्विद्वाँ उप याहि सोमम्॥ १६॥

(१) हे **होतः**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले प्रभो! **चिकित्वः**=सर्वज्ञ प्रभो! **यद्**=जब **अद्य**=आज **इह**=यहाँ **अस्मिन्**=इस **प्रयति यज्ञे**=प्रकृष्ट गतिवाले जीवनयज्ञ में **त्वा** **अवृणीमहि**=आपका वरण करते हैं, तब आप **ध्रुवम्**=निश्चय से **अयाः**=हमें प्राप्त होइये। वस्तुतः इस जीवन में सारा उत्कर्ष या अपकर्ष इस बात पर निर्भर करता है कि हम प्रकृति का वरण करते हैं या प्रभु का। प्रकृति का वरण हमारे अपकर्ष या समाप्ति का कारण बनता है और प्रभु का वरण हमें उत्कर्ष की ओर ले जानेवाला होता है। कठोपनिषद् के शब्दों में मन्द पुरुष प्रेय का ही वरण करता है, कोई धीर ही श्रेय का वरण करता है। (२) हे प्रभो! आप हमें प्राप्त होइये, **उत**=और **ध्रुवम्**=निश्चय से **अशमिष्ठाः**=हमारे जीवन को शान्त करिए। प्रकृति के वरण में शान्ति नहीं, वहाँ उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती जाती है और हमारा जीवन अत्यधिक अशान्त हो जाता है। **प्रजानन्**=हमारी स्थिति को पूर्णतया जानते हुए **विद्वान्**=सर्वज्ञ आप **सोमम्**=सौम्य स्वभाववाले विनीत मुझ उपासक को **उपयाहि**=प्राप्त होइये। मैं सौम्य बनकर आपकी प्राप्ति का अधिकारी बनूँ।

भावार्थ—हम इस जीवन यज्ञ में प्रभु का वरण करें, न कि प्रकृति का। प्रभु के वरण से हमारा जीवन शान्त बने। हम सौम्य-विनीत बनकर प्रभुप्राप्ति के अधिकारी बनें।

सम्पूर्ण सूक्त चिन्तन व वेदाध्ययन (स्वाध्याय) द्वारा प्रभुदर्शन पर बल दे रहा है। अन्ततः हमें चाहिए कि हम प्रभु का ही वरण करें, प्रकृति में न उलझ जाएँ। 'प्रभु की कामना' से ही अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

तृतीयोऽनुवाकः

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुभक्त का सुन्दर जीवन

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि।
तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सोम्यासः**=सौम्य वृत्ति के **सखायः**=मित्रता की भावनावाले लोग **त्वा इच्छन्ति**=आपको ही चाहते हैं। प्रकृति में फँसनेवाले लोग सोम्य न रहकर धनमदमत्त हो जाते हैं और सखा न रहकर राग-द्वेष से भरपूर होते हैं। ये आपका वरण करनेवाले लोग **सोमं सुन्वन्ति**=अपने शरीर में सोम का अभिषव करते हैं। इस सोम (=वीर्य) के रक्षण से ही वस्तुतः वे सोम्य बनते हैं और सखित्व की वृत्तिवाले होते हैं। ये प्रभु-प्रेमी भक्त **प्रयांसि दधति**=सात्त्विक अन्नों को धारण करते हैं-सात्त्विक भोजन को ही करते हैं अथवा (प्रयस्=effort) सदा श्रमशील होते हैं-इनका जीवन क्रियामय होता है। (२) **जनानाम्**=लोगों के **अभिशस्तिम्**=अपमानजनक शब्दों को (accusation) व हिंसाओं (injure) को **तितिक्षन्ते**=सहते हैं। गालियों का उत्तर गालियों में नहीं देने लगते और कभी बदले की भावना से कार्यों को नहीं करते। (३) हे प्रभो! **हि**=वस्तुतः इन लोगों के जीवनों में **त्वद्**=आपसे ही **कश्चन**=कोई अद्भुत **आ प्रकेतः**=प्रकाश प्राप्त होता है। इनके जीवनों में आपका ज्ञान ही कार्य कर रहा होता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त 'सोम्य, सखा, वीर्यरक्षक, क्रियानिष्ठ व सहनशील' होते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

परमलोक की प्राप्ति

न ते दूरे परमा चिद्रजांस्या तु प्र याहि हरिवो हरिभ्याम्।
स्थिराय वृष्णे सवना कृतेमा युक्ता ग्रावाणः समिधाने अग्नौ॥ २॥

(१) प्रभु इस भक्त से कहते हैं कि **परमाचित् रजांसि**=सर्वोत्कृष्ट लोक भी दूर से दूर 'मर्त्यलोक, पितृलोक, देवलोक व ब्रह्मलोक' इस क्रम में परतम स्थान में स्थित यह ब्रह्मलोक भी **ते दूरे न**=तेरे से दूर नहीं है। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तू **तु**=तो **हरिभ्याम्**=इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से **आ प्रयाहि**=इस ब्रह्मलोक में आनेवाला बन। (२) **स्थिराय वृष्णे**=दृढ़ चित्तवृत्तिवाले शक्तिशाली पुरुष के लिए **इमा**=ये **सवनाः**=यज्ञ **कृता**=किये गये हैं, अर्थात् वेद में उपदिष्ट इन यज्ञों को जो अपनाता है, वह चित्त में स्थिर व शरीर में वृषन् बनता है। (३) **ग्रावाणः**=स्तोता लोग **समिधाने अग्नौ**=प्रतिदिन दीप्त की जानेवाली अग्नि में **युक्ताः**=अप्रमत्त होते हैं, अर्थात् कभी भी अग्निहोत्रादि कर्मों में प्रमाद नहीं करते।

भावार्थ—परागति व मोक्ष को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) जितेन्द्रिय बनें, (ख) यज्ञशील हों, (ग) प्रभुस्तवन करते हुए हम अग्निहोत्रादि कर्मों में प्रमाद न करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

इन्द्र

इन्द्रः सुशिप्रो मघवा तरुत्रो महाव्रातस्तुविकूर्मिर्ऋघावान्।
यदुग्रो धा बाधितो मर्त्येषु क्व१ त्या ते वृषभ वीर्याणि॥ ३॥

(१) प्रभु प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **इन्द्रः**=तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता-जितेन्द्रिय है। **सुशिप्रः**=शोभन हनु व नासिकावाला है। तेरे जबड़े उत्तम हैं-तू अभक्ष्य भोजनों को नहीं खाता तथा सदा प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना करनेवाला है। परिणामतः **मघवाः**=तू ज्ञान के ऐश्वर्यवाला है, **तरुत्रः**=काम-क्रोध आदि वासनाओं को तैरे जानेवाला है। **महाव्रातः**=महान् व्रतसमूहवाला है-तेरा जीवन व्रती है। **तुविकूर्मिः**=महान् कर्मोंवाला है-सदा क्रियाशील है। इसीसे **ऋघावान्**=काम-क्रोध आदि आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाला है। (२) **यत्**=जो **उग्रः**=तेजस्वी होता हुआ तू **बाधितः**=इन आसुर-वृत्तियों से पीड़ित हुआ-हुआ **मर्त्येषु**=इन मारण के स्वभाववाले आसुरभावों में **वीर्याणि**=पराक्रमों को **धाः**=करता है-इनपर शक्तिशाली आक्रमणों को करता है, तो हे **वृषभ**=शक्तिशाली जीव! **ते**=तेरे **त्या**=वे **वीर्याणि**=वीर्य व पराक्रम **क्व**=अब कहां हैं? इन आक्रमणों को करता हुआ तू वस्तुतः 'इन्द्र' होता है।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें। सात्त्विक भोजन व प्राणायाम द्वारा वासनाओं को तैरनेवाले बनें। व्रती जीवन को अपनाकर सदा क्रियाशील रहते हुए वासनाओं का हिंसन करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अच्युत च्यावक प्रभु

त्वं हि ष्मा च्यावयन्नच्युतान्येको वृत्रा चरसि जिघ्नमानः।
तव द्यावापृथिवी पर्वतासोऽनु व्रताय निमितेव तस्थुः॥ ४॥

(१) जीव प्रभुस्तवन करता हुआ कहता है कि **त्वम्**=आप **हि ष्मा**=निश्चय से **एकः**=अकेले ही **अच्युतानि**=अत्यन्त स्थिर-दृढमूल भी पदार्थों को **च्यावयन्**=उन्मूलित करते हुए **चरसि**=गति करते हैं। दृढ़ से दृढ़ पर्वतों के समान स्थिर पदार्थों को भी आप कम्पित करनेवाले हैं। आप ही सब **वृत्रा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **जिघ्नमानः**=हिंसित करते हुए गति करते हैं। (२) **द्यावापृथिवी**=यह सम्पूर्ण द्युलोक व पृथिवीलोक तथा **पर्वतासः**=पर्वत भी **तव**=आपके **व्रताय**=नियम के लिए-निर्देश पालन के लिए, **निमिताः इव**=निरवात से-अपने-अपने स्थान पर स्थिर से हुए-हुए **अनुतस्थुः**=अनुकूलता से स्थित हैं। हे प्रभो! सारी शक्ति तो आपकी है। सारे ब्रह्माण्ड का शासन आप ही कर रहे हैं 'द्युलोक-पृथिवीलोक-पर्वत' सब आपके नियमन में हैं। हमारे काम-क्रोध आदि का नियमन भी आपने ही करना है। हमारी क्या शक्ति है कि हम इनका संहार कर सकें?

भावार्थ—प्रभु ही दृढ़ से दृढ़ शत्रुओं का विदारण करनेवाले हैं। मैं प्रभु का उपासक बनूँ। प्रभु की शक्ति मेरे शत्रुओं का विदारण करेगी।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

अभय प्रापक 'ज्ञान'

उताभये पुरुहूत श्रवोभिरेको दृळ्हमवदो वृत्रहा सन्।
इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते॥ ५॥

(१) **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! आप **एकः**=अकेले ही **वृत्रहा सन्**=वृत्र का, वासना का विनाश करनेवाले होते हुए **उत**=निश्चय से **अभये**=अभय प्राप्त कराने के निमित्त **श्रवोभिः**=ज्ञानों को देने के हेतु से **दृढं अवदः**=दृढ़ता से इस वेदवाणी का उच्चारण करते हैं। यह हमारा दौर्भाग्य है कि हम आपकी उस गर्जना को (हरिरेति कनिक्रदत्) भी सुनते नहीं और इस प्रकार बधिर बनकर कष्ट उठानेवाले होते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **इमे**=इन **अपारे**=अत्यन्त विशाल-जिनका पार दिखता ही नहीं, उन **रोदसी चित्**=द्यावापृथिवी को भी **यत्**=जो आप **संगृभ्णाः**=सम्यक् ग्रहण करनेवाले होते हैं, यह हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **इत्**=निश्चय से **ते काशिः**=आपकी ही मुट्ठी है (काशिमुष्टिः नि०)। आपके अतिरिक्त इस सारे ब्रह्माण्ड को कौन अपने वश में कर सकता है? आपकी इस महिमा का स्मरण करता हुआ मैं आपका आराधक बनूँ। आपकी प्रेरणा को सुनता हुआ तदनुसार वर्तनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देकर हमें अभय प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही ब्रह्माण्ड को वश में करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु में प्रवेश

प्र सू त॑ इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते॒ वज्रः॑ प्रमृणन्नेतु शत्रून्।
ज॒हि प्रती॒चो अ॑नू॒चः परा॑चो॒ विश्वं॑ स॒त्यं कृ॑णुहि वि॒ष्टम॑स्तु॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों से युक्त **ते**=तेरा यह शरीररूप रथ **प्रवता**=निम्न मार्ग से, अर्थात् विनीतता के मार्ग से **सु**=अच्छी प्रकार **प्र एतु**=आगे और आगे गतिवाला हो। **ते**=तेरा **वज्रः**=वज्र, अर्थात् क्रियाशीलता (वज गतौ) **शत्रून्**=वासनारूप शत्रुओं को **प्रमृणन्**=हिंसित करता हुआ **प्र एतु**=प्रकृष्ट गतिवाला हो। तू सदा उत्तम कर्मों में लगा रहकर इन वासनारूप शत्रुओं को कुचल डाल। (२) **प्रतीचः**=तेरे प्रति आनेवाले, **अनूचः**=पीछे से आनेवाले व **परा चः**=दूर से ही आक्रमण करनेवाले इन सब शत्रुओं को तू **जहि**=नष्ट कर। इनको नष्ट करके तू **विश्वं सत्यं कृणुहि**=सब कर्मों को सत्य करले। तेरा कोई कर्म असत् न हो। इस प्रकार सत्य को अपनाने से **विष्टं अस्तु**=तेरा उस प्रभु में प्रवेश हो। प्रभु सत्यस्वरूप हैं। सत्य प्रभु को पाने का अधिकारी वही बनता है जो कि सत्य को अपना सकता है।

भावार्थ—हम विनीततापूर्वक प्रभु की ओर गतिवाले हों। वासनाओं को विनष्ट करके सत्य को अपनाएँ। यही प्रभु में प्रवेश का प्रमुख साधन है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अभूतपूर्व धन आदि की प्राप्ति

यस्मै॒ धायु॒रद॑धा॒ मर्त्या॒याभ॑क्तं चिद्भजते गे॒ह्यं१ सः ।
भ॒द्रा त॑ इन्द्र सुम॒तिर्घृ॒ताची॑ स॒हस्र॑दाना पुरुहूत रा॒तिः॥ ७॥

(१) **यस्मै मर्त्याय**=जिस मनुष्य के लिए **धायुः**=वह धारण करनेवाला प्रभु **अदधाः**=धारण करता है, अर्थात् प्रभु जिसके पालक होते हैं, **सः**=वह **अभक्तम्**=आज तक किसी से न सेवन किये गये, अर्थात् अद्भुत **गेह्यम्**=घर की आवश्यक सामग्री को (गेहे भवं) **भजते**=प्राप्त करता है। इस उपासक को घर की उन्नति के लिए सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! **ते**=आपकी **सुमतिः**=कल्याणीमति **भद्रा**=हमारे लिए सुखद होती है और **घृताची**=दीप्ति की ओर हमें ले जानेवाली होती है (घृत=दीप्ति, अञ्च् गतौ)। हे **पुरुहूत**=बहुतों

से पुकारे जानेवाले प्रभो! आपका **राति**=दान **सहस्त्रदाना**=अपरिमित धनदान से युक्त है।

भावार्थ—प्रभु पालक होते हैं, तो हमें अभूतपूर्व उन्नति के साधन प्राप्त होते हैं। प्रभु से दी गई सुमति हमारे जीवन को दीप्त बनाती है। प्रभु-कृपा से किसी भी आवश्यक वस्तु की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अपाद अहस्त करके वृत्र का विनाश

स॒हदा॑नुं पुरुहूत क्षि॒यन्त॑मह॒स्तमि॑न्द्र॒ सं पि॑ण॒क्कुणा॑रुम्।

अ॒भि वृ॒त्रं वर्ध॑मानं॒ पिया॑रुम॒पाद॑मिन्द्र त॒वसा॑ जघन्थ॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले परमात्मन्! आप **सहदानुम्**=दानवी वृत्रमाता सहित, **क्षियन्तम्**=विनाश करनेवाले, **कुणारुम्**=क्वणनशील इस असुर को **अहस्तम्**=निहत्था करके **संपिणक्**=सम्यक् पीस दीजिए। आसुरी-वृत्तियों को आप नष्ट करिए। इनकी कारणभूत दानु को, हमारा लवन (दाप् लवने) (विनाश) करनेवाली आसुरभावों की माता को विनष्ट करिए। ये आसुरभावनाएँ अन्ततः हमें रुलानेवाली होती हैं, अतः 'कुणारु' कहलाती हैं। हमारा विनाश करने के कारण 'क्षियन्' हैं। ये हमारे पर प्रबल न हों। हमारे साथ संग्राम में ये निहत्थे हो जाएँ। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **पियासम्**=हिंसित करनेवाले **वर्धमानम्**=दिन प्रतिदिन बढ़ते जाते हुए **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणभूत इस काम नामक वृत्र को **अपादम्**=पाँव से रहित-गतिशून्य करके **तवसा**=शक्ति द्वारा **अभिजघन्थ**=इसे नष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से कामवासना रूप 'वृत्र' का समूल विनाश हो जाए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

लोकत्रयी का धारण

नि सा॒म॒नामि॑षि॒रामि॑न्द्र॒ भूमिं॑ म॒हीम॑पा॒रां सद॑ने ससत्थ।

अस्त॑भ्ना॒द् द्यां वृ॑ष॒भो अ॒न्तरि॑क्षमर्ष॒न्त्वाप॒स्त्वये॒ह प्रसू॑ताः॥ ९॥

(१) हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशालिन्-सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप इस **भूमिम्**=भूमि को **सदने नि ससत्थ**=अपने स्थान पर स्थापित करते हैं, जो भूमि **सामनाम्**=(सम अन्) सब के प्राणित करने का कारण बनती है। प्राणित करने के लिए ही **इषिराम्**=अन्नों को उत्पन्न करनेवाली है (अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः)। इसीलिए यह भूमि **महीम्**=महनीय-पूजनीय होती है, इसे मातृतुल्य समझा जाता है, जो भूमि **अपाराम्**=अत्यन्त विशाल है। इसका 'पृथिवी' नाम ही इसके पर्याप्त विस्तार का संकेत कर रहा है। (२) वह **वृषभः**=शक्तिशाली प्रभु **द्याम्**=द्युलोक व **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक को **अस्तभ्नात्**=धारण करता है। इन सब लोकों को प्रभु ही धारण करते हैं। हे प्रभो! **इह**=यहाँ **त्वया प्रसूताः**=आप से प्रेरित किए गये **आपः**=जल **अर्षन्तु**=गतिवाले हों। वृष्टि आदि की व्यवस्था से प्रभु ही नदियों के रूप में इन जलों को प्रवाहित करते हैं और इस प्रकार सब प्राणियों का प्राणन सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु ही भूमि, अन्तरिक्ष व द्युलोक को धारण करते हैं। वे ही यहाँ वृष्टि द्वारा नदियों के रूप में जल-प्रवाह की व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

क्रियाशीलता व उपासना

अलातृणो वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार।
सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः ॥ १० ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले, जितेन्द्रिय पुरुष! **वलः**=(Veil) तेरे ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाला यह कामरूप शत्रु (वृत्र), **पुराहन्तोः**=तेरे वज्र प्रहार से पूर्व ही **भयमानः**=भयभीत हुआ-हुआ **व्यार**=(विश्लिषो वभूव) छिन्न-भिन्न गतिवाला हो गया। जो वृत्र (=वल=काम) **अलातृणः**=अत्यन्त हिंसित करनेवाला है। जो **गोः व्रजः**=इन्द्रियों रूप गौओं को अपने में घेर लेनेवाले बाड़े के समान बन जाता है (व्रज=cow-pen)। एक जितेन्द्रिय पुरुष अपने क्रियाशीलता रूप वज्र के प्रहार से इस **वल**=वृत्र व कामवासना के 'व्रज' (बाड़े) को नष्ट कर डालता है। इसमें अवरुद्ध इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हो जाती हैं, फिर वे कामवासना का शिकार नहीं होतीं। मार्ग यही है कि मनुष्य क्रियाशील बने। क्रियाशीलता ही वासना को विनष्ट करती है। (२) इस प्रकार यह इन्द्र **गाः निरजे**=इन्द्रियों को विषयों के बाड़े से निर्गत करने के लिए **पथः सुगान् अकृणोत्**=मार्गों को सुगम करता है। इसी उद्देश्य से उपासक लोग **पुरुहूतं धमन्तीः**=उस बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभु को स्तुत करती हुई **वाणीः**=वाणियों के प्रावन् (प्रकर्षेण अभ्यागच्छन्) प्रति प्रकर्षेण आनेवाले होते हैं, अर्थात् प्रभु का प्रकर्षेण स्तवन करते हैं। प्रभुस्तवन से वासना विनष्ट होती है और इन्द्रियाँ विषयों के बाड़े से मुक्त हो पाती हैं।

भावार्थ—क्रियाशीलता व प्रभु की उपासना द्वारा हम इन्द्रियों को वासना के आक्रमण से बचाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

लोकत्रयी का, हमारे जीवन में, स्थान

एको द्वे वसुमती समीची इन्द्र आ पप्रौ पृथिवीमुत द्याम्।
उतान्तरिक्षादभि नः समीक इषो रथीः सयुजः शूर वाजान् ॥ ११ ॥

(१) **एकः**=वह अद्वितीय **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **द्वे आपप्रौ**=दोनों को पूरण कर रहा है। **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को-दोनों को ही वह व्याप्त कर रहा है। ये पृथिवी और द्युलोक **वसुमती**=सब वसुओंवाले हैं और **समीची**=परस्पर संगत हैं। पृथिवीस्थ जल सूर्य-किरणों से वाष्पीभूत होकर द्युलोक की ओर जाता है, उस द्युलोकस्थ सूर्य से प्रकाश की किरणें पृथिवी की ओर आती हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक पिता व माता की तरह परस्पर मिलकर कार्य करते हुए प्राणियों का पालन करते हैं। (२) **उत**=और हे **शूर**=हमारे सब रोग आदि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **अन्तरिक्षात्**=इस अन्तरिक्षलोक से **नः समीके**=हमारे समीप **इषः**=उत्तम अन्नों को **अभि (आ पप्रौ)**=पूरित करते हैं और इस प्रकार **रथीः**=रथ को उत्तमता से ले चलनेवाले **सयुजः**=मिलकर इसमें जुतनेवाले **वाजान्**=इन्द्रियाश्वों को हमें प्राप्त कराते हैं। अन्तरिक्ष से वृष्टि होकर उत्तम अन्नों की प्राप्ति होती है। इन उत्तम अन्नों से इन्द्रियाँ परिपुष्ट होकर शरीर-रथ का अच्छी प्रकार (संचालन) करती हैं। यह शरीर रथ हमें उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचानेवाला होता है।

भावार्थ—परस्पर संगत द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे लिए सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

अन्तरिक्ष से वृष्टि होकर उत्तम अन्नों की प्राप्ति से शरीर व इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं और हमें लक्ष्य पर पहुँचने में समर्थ करती हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्योदय व सूर्यास्त

दिशः सूर्यो न मिनाति प्रदिष्टा दिवेदिवे हर्यश्वप्रसूताः।

सं यदानळध्वन आदिदश्वैर्विमोचनं कृणुते तत्त्वस्य ॥ १२ ॥

(१) **सूर्यः**=यह सूर्य **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **हर्यश्वप्रसूताः**=(हरयः अश्वाः यस्य) हर्यश्व, अर्थात् उस प्रभु से प्रेरित **प्रदिष्टाः दिशः**=संकेतित दिशाओं को **न मिनाति**=हिंसित नहीं करता। प्रभु ने जिस-जिस दिशा में सूर्य की गति का निश्चय किया है, उस-उस दिशा में सूर्य ठीक गति कर रहा है। प्रभु 'हर्यश्व' हैं, उस प्रभु से जीवों के लिए दिये गये इन्द्रियरूप अश्व जीवों के दुःखों का हरण करनेवाले हैं। सूर्य के अन्दर स्थापित ये किरणरूप अश्व भी सर्वत्र प्राणशक्ति का संचार करके दुःखों का हरण करनेवाले हैं। प्रभु से निर्दिष्ट दिशा में सूर्य गति कर रहा है। (२) **यदा**=जब यह सूर्य **अध्वनः**=मार्गों को **अश्वैः**=अपने किरणरूप अश्वों से **आनट्**=व्याप्त कर चुकता है, **आत् इत्**=तब उसके बाद **विमोचनं कृणुते**=मानो वह अश्वों को खोल डालता है। अब रात्रि आती है और सर्वत्र अन्धकार का राज्य हो जाता है। **तत् तु अस्य**=वह सब तो वस्तुतः उस प्रभु का कार्य है। यह सूर्योदय व सूर्यास्त की व्यवस्था भी प्रभु के अधीन है। प्रभु के नियमों के अनुसार पृथ्वी की गति के कारण सूर्य उदय व अस्त होता हुआ प्रतीत होता है।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था के अनुसार सूर्य निश्चित दिशा में गति करता है-उदय व अस्त होता हुआ प्रतीत होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्योदय व उत्तम कर्म

दिदृक्षन्त उषसो यामन्नक्तोर्विवस्वत्या महि चित्रमनीकम्।

विश्वे जानन्ति महिना यदागादिन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि ॥ १३ ॥

(१) **विवस्वत्याः उषसः**=विवासन वर्त-अन्धकार दूर करनेवाली उषा के **यामन्**=जाने पर **अक्तोः**=प्रकाश की किरणों के **महि चित्रं अनीकम्**=महनीय अद्भुत तेज को **दिदृक्षन्ते**=देखने की इच्छा करते हैं। (२) **यद्**=जब **आगात्**=यह सूर्य का प्रकाश आता है, तो **विश्वे**=सब **महिना**=(महनीयानि सा०) महनीय-आदरणीय-उत्तम अग्निहोत्रादि कर्मों को **जानन्ति**=कर्त्तव्य के रूप में जानते हैं, अर्थात् सूर्य निकलते ही अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। **इन्द्रस्य**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के **कर्म**=काम **सुकृता**=उत्तमता से किये जाते हैं और **पुरूणि**=ये कर्मपालनात्मक व पूरणात्मक होते हैं।

भावार्थ—उषाकाल में जागकर हम सूर्य के स्वागत के लिए तैयार हों। उसके उदय होते ही उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हो जाएँ। इन कर्मों को उत्तमता से करें-ये कर्म पालनात्मक हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जल, दुग्ध व अन्न

महि ज्योतिर्निहितं वक्षणास्वामा पक्वं चरति बिभ्रती गौः।

विश्वं स्वाद्म संभृतमुस्त्रियायां यत्सीमिन्द्रो अदधाद्भोजनाय ॥ १४ ॥

(१) **वक्षणासु**=नदियों में **महि**=महनीय **ज्योतिः**=(ज्योतिरमृतम्=जलम् श० १४।४।१।३२) अमृत (=जल) **निहितम्**=स्थापित किया गया है। प्रभु ने नदियों में उस जल की स्थापना की है, जो सचमुच अमृत है। ठीक उपयुक्त होने पर जल सब रोगों का औषध ही है, इसका नाम ही 'भेषजम्' है। अन्य पेय द्रव्यों की अपेक्षा जल का प्रयोग ही ठीक है। (२) **आमा गौः**=न पकी उमरवाली-तरुणी गौ **पक्वम्**=अपने ऊधस् में पक्व दुग्ध को **बिभ्रती**=धारण करती हुई **चरति**=वायु के साथ खुले प्रदेशों में विचरण करती है (वायुर्येषां सहचारं जुजोष)। गौ से दोहा गया ताजा दूध अमृत तुल्य है, उसे उबाले बिना ही पीना अत्यन्त श्रेयस्कर है। दोहे जाते समय वह वस्तुतः उष्ण होता ही है। (३) **विश्वम्**=सब **स्वाद्म**=स्वादिष्ट भोज्य द्रव्य **उस्त्रियायाम्**=(पृथिव्याम् द०, उस्रा=the earth) पृथिवी से उत्पन्न होनेवाले अन्नों में **सम्भृतम्**=सम्यक् भृत हुए हैं। **यत्**=जिन पदार्थों को **सीम्**=निश्चय से **इन्द्रः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु ने **भोजनाय**=भोजन के लिए **अदधात्**=धारण किया है-स्थापित किया है।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे पालन-पोषण के लिए 'नदियों में जल, गौवों में दूध व पृथिवी में सब स्वादिष्ट अन्नों व फलों' का स्थापन किया है। वस्तुतः 'जल, दूध, अन्न व फल' आदि पर ही हमें अपना भरण-पोषण रखना चाहिये।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दुष्ट शत्रुओं का संहार

इन्द्र दृह्य यामकोशा अभूवन्यज्ञाय शिक्ष गृणते सखिभ्यः।
दुर्मायवो दुरेवा मर्त्यासो निषङ्गिणो रिपवो हन्त्वासः॥ १५॥

(१) **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **दृह्य**=दृढ़ हो। इस जीवनयात्रा में ढिल-मिल बने रहने से काम न चलेगा। जो तेरे साथी **यामकोशाः**=संयत कोशोंवाले-अन्नमयादि कोशों को वश में करनेवाले **अभूवन्**=हुए हैं, उन **सखिभ्यः**=मित्रों से **यज्ञाय**=यज्ञों के लिए तथा **गृणते**=(गृणाति उपदिशति) सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञानोपदेश देनेवाले उस प्रभुप्राप्ति के लिए **शिक्ष**=विद्या का उपादान कर। हमें उस ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, जो कि हमें यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करे तथा प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर ले चले। ज्ञान देनेवाले गुरुओं की साधना ऐसी होनी चाहिए कि वे सब अन्नमयादि कोशों पर प्रभुत्ववाले हों, ताकि उनका 'शरीर मानस व बौद्धिक' स्वास्थ्य ठीक हो। (२) इस ज्ञान को प्राप्त करना इसलिए आवश्यक है कि इस संसार में मनुष्य के लिए **रिपवः**=कितने ही शत्रु हैं, जिन्हें कि **हनवासः**=उसने समाप्त करना है। ये शत्रु **दुर्मायवः**=(मायु=आयुध, मिनन्ति प्रक्षिपन्ति इति) बड़े बुरे अस्त्रोंवाले हैं, **दुरेवाः**=दुष्ट आचरणवाले हैं, **मर्त्यासः**=(मारयितारः सा०) मार डालनेवाले हैं, **निषङ्गिणः**=बड़े-बड़े निषङ्गों-तरकसोंवाले हैं। कामदेव का साहित्य में चित्रण ही 'कुसुमायुध' के रूप में है। वह फूलों से बने धनुष व बाणों को लेकर हमारे पर आक्रमण करता है और हमें मार डालता है। 'मारः' उसका नाम ही है। इसके तरकस में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर प्रहार करने के लिए पञ्चविध बाण हैं। उन्हें यह बुरी तरह हमारे पर फेंकता है और हमें मूर्छित करके समाप्त कर देता है। प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर चलते हुए हमें इसे समाप्त करना है। इसे समाप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में सदा तत्पर रहें।

भावार्थ—ज्ञानियों से यज्ञों व प्रभुप्राप्ति का ज्ञान प्राप्त करते हुए हम कामादि दुष्ट शत्रुओं का संहार करनेवाले बनें। इस जीवनयात्रा में दृढ़ बनकर आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

यज्ञ व प्रभुस्तवन द्वारा शत्रुओं का समूल विनाश

सं घोषः शृण्वेऽवमैरमित्रैर्जही न्येष्वशनिं तपिष्ठाम् ।

वृश्चेमधस्ताद्वि रुजा सहस्व जहि रक्षो मघवन्रन्धयस्व॥ १६॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार यज्ञों व प्रभुप्राप्ति के मार्ग का उपदेश प्राप्त करके जब यह **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष यज्ञों में मन्त्रोच्चारण करे व प्रभु स्तवन करे, तो **घोषः**=यह शब्द **अवमैः**=इन निकृष्ट **अमित्रैः**=काम आदि शत्रुओं से **संशृण्वे**=सुना जाए। उस शब्द को सुनकर ही वे भयभीत होकर हमारे से दूर चले जाएँ। **एषु**=इन शत्रुओं पर **तपिष्ठाम्**=अत्यन्त संतप्त करनेवाले **अशनिम्**=(sacrificial role to kill an enemy) अनुयाज नामक यज्ञास्त्र को **वि जहि**=निश्चय से फेंक (हन् गतौ) इन कामादि शत्रुओं का संहार इस अनुयाज से ही होता है। हम यज्ञादि कर्मों में लगे रहें, काम आदि शत्रु स्वयं विनष्ट हो जाते हैं। (२) **ईम्**=निश्चय से इन शत्रुओं को **अधस्ताद् वृश्च**=नीचे से काट डाल, अर्थात् इनका मूल से उच्छेद कर दे। **विरुजा**=इनको विशेषरूप से भंगकर। **सहस्व**=इनको कुचल दे। हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न जीव! तू **जहि**=इनको मार डाल। **रक्षः**=इन राक्षसी वृत्तियों को **रन्धयस्व**=चीर-फाड़ दे। इन अशुभ वृत्तियों को समाप्त करके जीवनयात्रा में आगे बढ़।

भावार्थ—हम काम-क्रोध आदि का विनाश करके जीवनयात्रा में आगे बढ़ें। इनका विनाश यज्ञों व प्रभु-स्तवन में लगे रहने से ही होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राक्षसों का समूल विनाश

उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि।

आ कीवतः सललूकं चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य॥ १७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्-शत्रुविद्रावक प्रभो! **अह रक्षः**=राक्षसीवृत्तियों को **सहमूलम्**=मूलसहित **उद्वृह**=उखाड़ दीजिए, **मध्यं वृश्चा**=इनके मध्य को भी छिन्न कर दीजिए, **अग्रं प्रतिशृणीहि**=इनके अग्रभाग को भी हिंसित करनेवाले होइये। आपकी कृपा से हमारे पर आक्रमण करनेवाली राक्षसीवृत्तियों का 'आदि, मध्य, अन्त' सब विच्छिन्न हो जाए। इनका नामोनिशान भी न बचे। (२) **कीवतः**=(कियतोऽपि दूरदेशात्) कितने भी दूरदेश से **सललूकम्**=(सृ) गति करनेवाले इस लोभरूप राक्षस को **आचकर्थ**=नष्ट करिए। लोभवृत्ति के कारण ही मनुष्य दूर-दूर भागा फिरता है और उसे न किसी प्रकार की शान्ति है, न अध्यात्म उन्नति का अवसर। इस **ब्रह्मद्विषे**=ज्ञान से प्रीति न रखनेवाले लोभ के लिए **तपुषिं हेतिम्**=तापक अस्त्र को **अस्य**=फेंकिए (असु क्षेपणे)। इस सन्तापक अस्त्र से इसे नष्ट करिए। वस्तुतः तप व क्रियाशीलता ही इस लोभ-विनाश के लिए तापक अस्त्र है। यही लोभ का विनाश करता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से राक्षसी-वृत्ति का समूल विनाश हो। भटकानेवाले लोभ को हम तप व क्रियाशीलता द्वारा विनष्ट करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

रायः वन्तारः (धन का संविभाग करनेवाले)

स्वस्तये वाजिभिश्च प्रणेतः सं यन्महीरिष आसत्सि पूर्वीः।

रायो वन्तारो बृहतः स्यामास्मे अस्तु भग इन्द्र प्रजावान्॥ १८॥

(१) हे **प्रणेतः**=संसार-चक्र के संचालक प्रभो! आप **वाजिभिः**=शक्तिशाली इन्द्रियों द्वारा **स्वस्तये**=हमारे कल्याण के लिए होते हैं। **यत्**=जब आप **सं आसत्सि**=हमारे हृदयों में आसीन होते हैं, तो हम **महीः**=महनीय **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाले **इषः**=अन्नों को तथा **बृहतः रायः**=बढ़ते हुए धनों को **वन्तारः**=सम्भक्त करनेवाले **स्याम**=हों। प्रभु को हृदय में आसीन हुआ-हुआ जानकर हम पुरुषार्थवाले होते हैं, तो हमें उत्तम अन्न व धन प्राप्त होते हैं, उन अन्नों व धनों का हम संविभागपूर्वक सेवन करते हैं। (२) **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **प्रजावान्**=उत्तम सन्तानोंवाला **भगः**=ऐश्वर्य **अस्तु**=हो, अर्थात् हमें ऐश्वर्य प्राप्त हो और वह ऐश्वर्य हमारी सन्तानों की शक्तियों के विकास का कारण बने। धन का संविभागपूर्वक सेवन ही हमें वस्तुतः उत्तम सन्तानों को प्राप्त कराता है 'श्रदस्मै वचसे नरो दधातन, यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः' दानपूर्वक धन का उपभोग ही यज्ञशेष का सेवन है, यही अमृत का पान है।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ उत्तम हों। उत्तम अन्न व धन हमें प्राप्त हों, हम उन्हें बाँटकर सेवन करनेवाले हों। हमारा धन इस प्रकार विनियुक्त हो कि हमारी प्रजाएँ उत्तम बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्युमान् भग

आ नो भर भगमिन्द्र द्युमन्तं नि ते देष्णस्य धीमहि प्रेरेके।

ऊर्वइव पप्रथे कामो अस्मे तमा पृण वसुपते वसूनाम्॥ १९॥

(१) हे **इन्द्र**=सब ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय **भगम्**=ऐश्वर्य को **आभर**=समन्तात् भरनेवाले होइये। **ते देष्णस्य**=आपके धन दानों के **प्ररेके**=प्ररेचन में (over flowing) **निधीमहि**=हम धारण किये जाएँ, अर्थात् हमें आपका अत्यन्त ही धन प्राप्त हो। उस धन का विनियोग हम ज्ञानवृद्धि के लिए करें। (२) यह ठीक है कि **ऊर्वः इव**=वडवानल (समुद्राग्नि) की तरह **अस्मे**=हमारी **कामः**=कामना **पप्रथे**=बढ़ती जाती है। हे **वसूनां वसुपते**=सर्वोत्तम धनों के अधिपति प्रभो! **तम्**=उस कामना को **आपृण**=आप ही पूरा करें। वस्तुतः प्रभुप्राप्ति के होने पर ही धन आदि पदार्थों की कामना पूर्ण होती है। प्रभुप्राप्ति की तुलना में धनप्राप्ति अत्यन्त तुच्छ है। अतः जब प्रभु प्राप्त होते हैं, तो धन की कामना अपने आप ही समाप्त हो जाती है। प्रभुप्राप्ति से दूर रहने पर धनादि की कामना बढ़ती ही जाती है। वस्तुतः धन में तृप्ति है ही नहीं।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्योतिर्मय धन दें। प्रभु हमें अत्यन्त ही धन दें। प्रभुप्राप्ति में ही धन की कामना की पूर्ति है, अन्यथा यह धन की कामना बढ़ती ही जाती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गौवें, घोड़े तथा आह्लादक धन

इमं कामं मन्दया गोभिरश्वैश्चन्द्रवता राधसा पप्रथश्च।

स्वर्यवो मतिभिस्तुभ्यं विप्रा इन्द्राय वाहः कुशिकासो अक्रन्॥ २०॥

(१) हे प्रभो! आप **इमं कामम्**=हमारी इस कामना को **गोभिः**=उत्तम गौवों से, **अश्वैः**=उत्तम घोड़ों से **चन्द्रवता**=आह्लाद प्राप्त करानेवाले **राधसा**=धन से **मन्दया**=आनन्दित करिए **च**=और **पप्रथः**=विस्तारवाला करिए। हम सदा उत्तम गौवों, घोड़ों व आह्लादक धन की ही कामना करें। (२) **स्वर्यवः**=प्रकाश को अपने साथ जोड़नेवाले **विप्राः**=ज्ञानी **कुशिकासः**=स्तुति-मन्त्रों का

उच्चारण करनेवाले हम **इन्द्राय तुभ्यम्**=आपके लिए **मतिभिः**=मनन के साथ **वाहः अक्रन्**=स्तोत्रों को करनेवाले हों। मननपूर्वक इन स्तोत्रों को करते हुए हम आपके प्रिय हों और आपकी कृपा से उत्तम गौवों, घोड़ों व धनों को प्राप्त करें। इन धनों का उपयोग हम, गतमन्त्र के अनुसार, ज्ञानवृद्धि के लिए करें।

भावार्थ—हमें गौवें, घोड़े और प्रसन्नता का कारणभूत धन प्राप्त हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान+शक्ति

आ नो गोत्रा दर्दृहि गोपते गाः सम॒स्मभ्यं॑ स॒नयो॑ यन्तु॒ वाजाः॑।

दि॒वक्षा॑ असि वृषभ स॒त्यशु॑ष्मो॒ऽस्मभ्यं॒ सु म॑घवन्बोधि गो॒दाः ॥ २१ ॥

(१) हे **गोपते**=ज्ञानवाणियों के रक्षक प्रभो! **नः**=हमारे लिए **गोत्रा**=इन ज्ञानवाणियों के समूह को **आदर्दृहि**=(आद्रियस्व) आदर युक्त करिये। हमारे हृदयों में इन ज्ञानवाणियों के प्रति आदर की भावना हो। **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **गाः**=ये ज्ञानवाणियाँ तथा **सनयः वाजाः**=सम्भजनीय बल (शक्तियाँ) **संयन्तु**=प्राप्त हों। (२) **दिवक्षाः असि**=द्युलोक में व्याप्त होकर निवास करनेवाले आप हैं। सदा प्रकाशमय लोक में रहनेवाले आप हैं। हे **वृषभ**=शक्तिशालिन् प्रभो! आप **सत्यशुष्मः**=सच्चे शत्रुशोषक बलवाले हैं। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **गोदाः**=इन ज्ञानवाणियों को देनेवाले होते हुए **सुबोधि**=भली प्रकार हमारा ध्यान करिए। इन ज्ञानवाणियों द्वारा ही तो आप हमारा रक्षण करते हैं। इनको प्राप्त करके हम भी प्रकाशमय लोक में निवासवाले बनें (दिवक्षाः) सच्चे शत्रुशोषक बल को प्राप्त करें (सत्यशुष्मः)।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानवाणियों को तथा सम्भजनीय शक्तियों को प्राप्त कराके हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुस्मरण व विजय

शु॒नं हु॑वेम म॒घवा॑न॒मिन्द्र॑म॒स्मिन्भरे॒ नृत॑मं॒ वाज॑सातौ ।

शृ॒ण्वन्त॑मु॒ग्रमू॒तये॑ स॒मत्सु॒ घ्नन्तं॑ वृ॒त्राणि॑ सं॒जितं॒ धना॑नाम् ॥ २२ ॥

(१) **अस्मिन्**=इस **भरे**=जीवन-संग्राम में **वाजसातौ**=शक्तिप्राप्ति के निमित्त **शुनम्**=(सुखकरं) सुख देनेवाले **मघवानम्**=ऐश्वर्यशाली **नृतमम्**=सर्वोत्तम नेता **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं। प्रभु ने ही तो इस संग्राम में विजयी बनाना है। प्रभुस्मरण से ही शक्ति का लाभ होता है। (२) उस प्रभु को हम **ऊतये**=रक्षा के लिए पुकारते हैं, जो कि **शृण्वन्तम्**=हमारी प्रार्थना को सुनते हैं, **उग्रम्**=तेजस्वी हैं। **समत्सु**=संग्रामों में **वृत्राणि**=हमारे ज्ञान पर परदा डाल देनेवाले कामरूप शत्रु को **घ्नन्तम्**=नष्ट करनेवाले हैं और **धनानां सञ्जितम्**=धनों का विजय करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का आराधन करें। प्रभु हमें जीवन-संग्राम में अवश्य विजयी बनाएँगे।

सम्पूर्ण सूक्त इसी भाव को पुष्ट कर रहा है कि हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें अवश्य विजय प्राप्त कराएँगे। अगले सूक्त का भी यही भाव है—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दुहिता का अपतन

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥ १॥

(१) **शासत्**=अपना शासन करता हुआ-अपनी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अपने वश में करता हुआ, **वह्निः**=अपने कर्त्तव्य-कर्मों का सम्यक् वहन करनेवाला यह पुरुष **दुहितुः**=(दुह प्रपूरणे) ज्ञान का प्रपूरण करनेवाली वेदवाणी के **नप्त्यम्**=अपतन, अत्याग को **गात्**=प्राप्त होता है। यह इस वेदवाणीरूप गौ के दोहन में कभी प्रमाद नहीं करता-नियमितरूप से इसके ज्ञानदुग्ध का पान करता ही है। **विद्वान्**=इसीलिए यह ज्ञानी बनता है और **ऋतस्य दीधितिम्**=उस ऋत को-सत्य को धारण करनेवाले प्रभु का **सपर्यन्**=पूजन करता है। वेदवाणीरूप गौ के दोहन के दो परिणाम हैं—(क) यह दोग्धा व उस दुग्ध का पान करनेवाला व्यक्ति ज्ञानी बनता है और (ख) प्रभु का उपासक होता है। (२) अब यह **पिता**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होनेवाला व्यक्ति **यत्र**=जहाँ **दुहितुः**=उस ज्ञान का प्रपूरण करनेवाली वेदवाणी के **सेकम्**=ज्ञानदुग्ध के सेचन को **ऋञ्जन्**=(प्रसाधयन्) सिद्ध करनेवाला होता है, वहाँ **शग्म्येन मनसा**=बड़े शान्त सुखकर मन से **संदधन्वे**=अपना धारण करता है, अर्थात् यह सदा शान्त प्रसन्न मनवाला होता है।

भावार्थ—वेदवाणीरूप गौ के दोहन व उस ज्ञानदुग्ध-पान के तीन परिणाम हैं—(क) ज्ञान प्राप्ति, (ख) प्रभु के उपासन की वृत्ति और (ग) रक्षणात्मक कार्यों में लगना।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानप्राप्ति ही मूल धर्म है

न जामये तान्वो रिक्थमारैक्चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥ २॥

(१) **तान्वः**=(तनु विस्तारे) यह अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला व्यक्ति **जामये**=सद्गुणों को जन्म देनेवाली इस वेदवाणी रूप बहिन के लिए **रिक्थम्**=धन को **न आरैक्**=नहीं बचा रखता, अर्थात् अधिक से अधिक इस धन का व्यय करता हुआ ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह उस **सनितुः**=सब ऐश्वर्यों का सम्भजन (सेवन) करनेवाले प्रभु के **गर्भम्**=ग्रहण को (गर्भ=joining, union) मेल को, **निधानं चकार**=अपना कोश बनाता है। प्रभु के साथ मेल को ही अपनी सर्वमहान् सम्पत्ति समझता है। (२) **यद् ई**=जब निश्चय से **मातरः**=जीवन का निर्माण करनेवाली ये ज्ञानवाणियाँ **वह्निं जनयन्त**=अपने कर्त्तव्य-कर्म करनेवाले को बनाती हैं, तब **अन्यः**=कोई एक **सुकृतोः कर्ता**=उत्तम यज्ञादि कर्म करनेवाला बनता है तथा **अन्यः**=दूसरा **ऋन्धन्**=अपने को सद्गुणों से सुभूषित करता हुआ होता है।

भावार्थ—हम ज्ञानप्राप्ति के लिए धन का व्यय करें-प्रभुप्राप्ति को ही अपना कोश समझें। ज्ञानवाणियों का अध्ययन करते हुए उत्तम कर्मों को करनेवाले बनें तथा सद्गुणों से अपने को सुभूषित करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

महान् विकास

अग्निर्जज्ञे जुह्वा३ रेजमानो महस्पुत्राँ अरुषस्य प्रयक्षे।
महान्गर्भो मह्याजातमेषां मही प्रवृद्धर्यश्वस्य यज्ञैः॥ ३॥

(१) यह **अग्निः**=अग्रणी–उन्नतिपथ पर अपने को ले चलनेवाला, **जज्ञे**=बनता है। **जुह्वा**=दानपूर्वक अदन की क्रिया से (हु दानादनयोः) यज्ञशेष–सेवन द्वारा **रेजमानः**=यह दीप्तजीवनवाला होता है। **महः पुत्रान्**=तेजस्विता के पुतलों को–तेजस्वी पुरुषों को **प्रयक्षे**=यह अपने साथ सम्पृक्त करने के लिए होता है। इनके सम्पर्क द्वारा **अरुषस्य**=उस आरोचमान प्रभु के **प्रयक्षे**=पूजन के लिए प्रवृत्त होता है। (२) प्रभुपूजन द्वारा यह **महान् गर्भः**=(यो गृह्णाति स गर्भः) उस प्रभु को अपने अन्दर ग्रहण करनेवाला 'महान् गर्भ' बनता है। **एषाम्**=इन व्यक्तियों का–प्रभु का ग्रहण करनेवालों का **महि आजातम्**=महान् प्रादुर्भाव होता है। इस प्रभुप्राप्ति द्वारा शक्तियों के विकासवाले **हर्यश्वस्य**=(हरिः अश्व) दुःखों का हरण करनेवाले इन्द्रियाश्वोंवाले की **यज्ञैः**=यज्ञों द्वारा **प्रवृत्**=प्रवृत्ति **मही**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व आदरणीय होती है, अर्थात् यह सदा यज्ञादि महत्त्वपूर्ण कार्यों में प्रवृत्त रहता है।

भावार्थ—प्रभुपूजन द्वारा प्रभु को अपने अन्दर धारण करनेवाला व्यक्ति सदा यज्ञादि उत्तम कार्य करनेवाला होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रकाशमय जीवन

अभि जैत्रीरसचन्त स्पृधानं महि ज्योतिस्तमसो निरजानन्।
तं जानतीः प्रत्युदायन्नुषासः पतिर्गवामभवदेक इन्द्रः॥ ४॥

(१) **स्पृधानम्**=वासनारूप शत्रुओं के साथ स्पर्धा करनेवाले–उनको पराजित करने की कामनावाले इन्द्र के **अभिप्रति जैत्रीः असचन्त**=शत्रुओं को पराजित करनेवाली शक्तियाँ संगत होती हैं। यह विजय की शक्तियों को प्राप्त करता है। ये **तमसः**=अन्धकार से दूर होकर (तमसो मा ज्योतिर्गमय) **महि ज्योतिः**=महनीय ज्ञान प्रकाश को **निरजानन्**=निश्चय से जानते हैं। इनके जीवन में से अन्धकार विनष्ट हो जाता है और ये प्रकाश को प्राप्त करते हैं। (२) **तं प्रति**=इसके प्रति ही **जानतीः**=ज्ञानप्रकाश को देनेवाली **उषासः**=उषाएँ **उदायन्**=उद्गत होती हैं, अर्थात् यह प्रतिदिन उषाकालों में स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। इस प्रकार यह **गवां पतिः अभवत्**=इन्द्रियों का स्वामी बनता है और **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **एकः**=(एके मुख्यान्यकेवलाः) मुख्य स्थिति–परम पद को प्राप्त करता है–इसका जीवन सामान्य लोगों के जीवनों से विलक्षण ही होता है और यह सदा आनन्द में विचरता है (वल्)।

भावार्थ—वासनाओं को पराजित करनेवाला व्यक्ति प्रकाशमय जीवन प्राप्त करता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

(आवृत्त-चक्षुष्कता) प्रत्यगात्मदर्शन

वीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन्प्राचाहिन्वन्मनसा सप्त विप्राः।
विश्वामविन्दन्पथ्यामृतस्य प्रजानन्नित्ता नमसा विवेश ॥ ५॥

(१) **वीडौ**=बड़ी दृढ़ विषयरूपी पर्वत गुफा में **सतीः**=होती हुई इन इन्द्रियरूप गौवों का **अभि**=लक्ष्य करके **धीराः**=धीर-पुरुष **अतृन्दन्**=इस विषय-पर्वत को हिंसित करते हैं। इस पर्वत को विदीर्ण करके ही तो वे इन्द्रियरूप गौवों को फिर से प्राप्त कर सकेंगे। विषय इन्द्रियों का अपहरण करते हैं। धीर-पुरुष उन्हें विषय-व्यावृत्त करके पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। **विप्राः**=ये ज्ञानी पुरुष **सप्त**=इन सात इन्द्रियों को (कर्णाविमौ नासिके चक्षुणी मुखम्) **प्राचा**=प्रकृष्ट गतिवाले **मनसा**=मन से **अहिन्वन्**=विषयजाल से बाहिर निकालते हैं (निरगमयन् सा०)। मन को उत्कृष्ट चिन्तनवाला बनाते हुए ये धीर-पुरुष इन्द्रियों को विषयों की ओर नहीं जाने देते। (२) इसी उद्देश्य से ये धीर-पुरुष **विश्वाम्**=सब सत्यज्ञानों से युक्त **ऋतस्य**=सत्य की **पथ्याम्**=साधनभूत-सत्य व यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाली इस वेदवाणी को **अविन्दन्**=प्राप्त करते हैं। **ता**=उन सत्य ज्ञानों को **प्रजानन्**=जानता हुआ **इत्**=निश्चय से **नमसा**=नमन द्वारा **आविवेश**=प्रभु में प्रवेश करता है।

भावार्थ—धीर-पुरुष इन्द्रियों को विषय-व्यावृत्त करके, सत्यज्ञान की साधनभूत वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त करता हुआ, नमन द्वारा प्रभु में प्रवेश करता है।

अथ षष्ठो वर्गः॥ ६॥

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अविनाशी तत्त्वों की ओर

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात्॥ ६॥

(१) गतिशील होने से-विषयों में प्रसृत होने से बुद्धि 'सरमा' कहलाती है (सृगतौ)। **यदि**=यदि **सरमा**=बुद्धि **अद्रेः**=पर्वत के **रुग्णम्**=विदारण को **विदद्**=प्राप्त करती है, अर्थात् विषय-पर्वत को विनष्ट करती है, तो **महि**=महनीय **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवाले **सध्र्यक्**=(सह अञ्चति) प्रभुस्मरण के साथ गतिवाले **पाथः**=मार्ग को **कः**=करती है, अर्थात् यदि बुद्धि से विषयों की हेयता को सोचकर मनुष्य उन विषयों में नहीं फँसता तो प्रभुस्मरण के साथ उत्कृष्ट मार्ग पर चलता है। (२) **सुपदी**=उत्तम गतिवाली यह बुद्धि **अग्रं नयत्**=मनुष्य को आगे और आगे ले चलती है। **रवम्**=हृदयस्थ प्रभु की वाणी को **जानती**=जानती हुई यह बुद्धि **प्रथमा**=अत्यन्त विस्तारवाली होती हुई, **अक्षरण्णां अच्छा**=अविनाशी तत्त्वों की ओर **गात्**=चलनेवाली होती है। यह बुद्धि विषयरूप क्षर पदार्थों की ओर झुकाववाली नहीं होती।

भावार्थ—बुद्धि विषय-पर्वत का विदारण करके उत्कृष्ट मार्ग पर चलती है। प्रभु-प्रेरणा को सुनती हुई नश्वर विषयों की ओर झुकाववाली नहीं होती।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु का मित्र कौन?

अगच्छदु विप्रतमः सखीयन्नसूदयत्सुकृते गर्भमद्रिः।
समान मर्यो युवभिर्मखस्यन्नथाभवदङ्गिराः सद्यो अर्चन्॥ ७॥

(१) **विप्रतमः**=ज्ञानी पुरुष **उ**=निश्चय से **सखीयन्**=प्रभु से मित्रता की कामना करता हुआ-सखा प्रभु को अपनाना चाहता हुआ **अगच्छत्**=गति करता है। इसके सब कार्य इस दृष्टिकोण से होते हैं कि यह प्रभु को प्रीणित कर सके। (२) **अद्रिः**=(one who adores) यह प्रभु का

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

महान् विकास

अ॒ग्निर्ज॑ज्ञे जु॒ह्वा॒३॒॑ रेज॑मानो म॒हस्पु॒त्राँ अ॑रु॒षस्य॑ प्र॒यक्षे॑।
म॒हान्गर्भो॒ मह्या जा॒तमे॑षां म॒ही प्र॒वृद्धर्य॑श्वस्य य॒ज्ञैः ॥ ३ ॥

(१) यह **अग्निः**=अग्रणी–उन्नतिपथ पर अपने को ले चलनेवाला, **जज्ञे**=बनता है। **जुह्वा**=दानपूर्वक अदन की क्रिया से (हु दानादनयोः) यज्ञशेष–सेवन द्वारा **रेजमानः**=यह दीप्तजीवनवाला होता है। **महः पुत्रान्**=तेजस्विता के पुतलों को–तेजस्वी पुरुषों को **प्रयक्षे**=यह अपने साथ सम्पृक्त करने के लिए होता है। इनके सम्पर्क द्वारा **अरुषस्य**=उस आरोचमान प्रभु के **प्रयक्षे**=पूजन के लिए प्रवृत्त होता है। (२) प्रभुपूजन द्वारा यह **महान् गर्भः**=(यो गृह्णाति स गर्भः) उस प्रभु को अपने अन्दर ग्रहण करनेवाला 'महान् गर्भ' बनता है। **एषाम्**=इन व्यक्तियों का–प्रभु का ग्रहण करनेवालों का **महि आजातम्**=महान् प्रादुर्भाव होता है। इस प्रभुप्राप्ति द्वारा शक्तियों के विकासवाले **हर्यश्वस्य**=(हरिः अश्व) दुःखों का हरण करनेवाले इन्द्रियाश्वोंवाले की **यज्ञैः**=यज्ञों द्वारा **प्रवृत्**=प्रवृत्ति **मही**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व आदरणीय होती है, अर्थात् यह सदा यज्ञादि महत्त्वपूर्ण कार्यों में प्रवृत्त रहता है।

भावार्थ—प्रभुपूजन द्वारा प्रभु को अपने अन्दर धारण करनेवाला व्यक्ति सदा यज्ञादि उत्तम कार्य करनेवाला होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रकाशमय जीवन

अ॒भि जैत्री॑रसचन्त स्पृधा॒नं महि॒ ज्योति॒स्तम॑सो॒ निर॑जानन्।
तं जा॑न॒तीः प्रत्युदा॑यन्नु॒षासः॒ पति॒र्गवा॑मभव॒देक॒ इन्द्रः॑ ॥ ४ ॥

(१) **स्पृधानम्**=वासनारूप शत्रुओं के साथ स्पर्धा करनेवाले–उनको पराजित करने की कामनावाले इन्द्र के **अभिप्रति जैत्रीः असचन्त**=शत्रुओं को पराजित करनेवाली शक्तियाँ संगत होती हैं। यह विजय की शक्तियों को प्राप्त करता है। ये **तमसः**=अन्धकार से दूर होकर (तमसो मा ज्योतिर्गमय) **महि ज्योतिः**=महनीय ज्ञान प्रकाश को **निरजानन्**=निश्चय से जानते हैं। इनके जीवन में से अन्धकार विनष्ट हो जाता है और ये प्रकाश को प्राप्त करते हैं। (२) **तं प्रति**=इसके प्रति ही **जानतीः**=ज्ञानप्रकाश को देनेवाली **उषासः**=उषाएँ **उदायन्**=उद्गत होती हैं, अर्थात् यह प्रतिदिन उषाकालों में स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। इस प्रकार यह **गवां पतिः अभवत्**=इन्द्रियों का स्वामी बनता है और **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **एकः**=(एके मुख्यान्यकेवलाः) मुख्य स्थिति–परम पद को प्राप्त करता है–इसका जीवन सामान्य लोगों के जीवनों से विलक्षण ही होता है और यह सदा आनन्द में विचरता है (वल्)।

भावार्थ—वासनाओं को पराजित करनेवाला व्यक्ति प्रकाशमय जीवन प्राप्त करता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

(आवृत्त-चक्षुष्कता) प्रत्यगात्मदर्शन

वी॒ळौ स॒तीर॒भि धीरा॑ अतृन्दन्प्रा॒चाहि॑न्व॒न्मन॑सा स॒प्त विप्राः॑।
विश्वा॑मविन्दन्प॒थ्या॑मृ॒तस्य॑ प्रजा॒नन्नित्ता न॒मसा॒ वि॑वेश ॥ ५ ॥

(१) **वीडौ**=बड़ी दृढ़ विषयरूपी पर्वत गुफा में **सतीः**=होती हुई इन इन्द्रियरूप गौवों का **अभि**=लक्ष्य करके **धीराः**=धीर-पुरुष **अतृन्दन्**=इस विषय-पर्वत को हिंसित करते हैं। इस पर्वत को विदीर्ण करके ही तो वे इन्द्रियरूप गौवों को फिर से प्राप्त कर सकेंगे। विषय इन्द्रियों का अपहरण करते हैं। धीर-पुरुष उन्हें विषय-व्यावृत्त करके पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। **विप्राः**=ये ज्ञानी पुरुष **सप्त**=इन सात इन्द्रियों को (कर्णाविमौ नासिके चक्षुणी मुखम्) **प्राचा**=प्रकृष्ट गतिवाले **मनसा**=मन से **अहिन्वन्**=विषयजाल से बाहिर निकालते हैं (निरगमयन् सा०)। मन को उत्कृष्ट चिन्तनवाला बनाते हुए ये धीर-पुरुष इन्द्रियों को विषयों की ओर नहीं जाने देते। (२) इसी उद्देश्य से ये धीर-पुरुष **विश्वाम्**=सब सत्यज्ञानों से युक्त **ऋतस्य**=सत्य की **पथ्याम्**=साधनभूत-सत्य व यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाली इस वेदवाणी को **अविन्दन्**=प्राप्त करते हैं। **ता**=उन सत्य ज्ञानों को **प्रजानन्**=जानता हुआ **इत्**=निश्चय से **नमसा**=नमन द्वारा **आविवेश**=प्रभु में प्रवेश करता है।

भावार्थ—धीर-पुरुष इन्द्रियों को विषय-व्यावृत्त करके, सत्यज्ञान की साधनभूत वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त करता हुआ, नमन द्वारा प्रभु में प्रवेश करता है।

अथ षष्ठो वर्गः॥ ६॥

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अविनाशी तत्त्वों की ओर

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः ।
अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात्॥ ६॥

(१) गतिशील होने से-विषयों में प्रसृत होने से बुद्धि 'सरमा' कहलाती है (सृगतौ)। **यदि**=यदि **सरमा**=बुद्धि **अद्रेः**=पर्वत के **रुग्णम्**=विदारण को **विदद्**=प्राप्त करती है, अर्थात् विषय-पर्वत को विनष्ट करती है, तो **महि**=महनीय **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवाले **सध्र्यक्**=(सह अञ्चति) प्रभुस्मरण के साथ गतिवाले **पाथः**=मार्ग को **कः**=करती है, अर्थात् यदि बुद्धि से विषयों की हेयता को सोचकर मनुष्य उन विषयों में नहीं फँसता तो प्रभुस्मरण के साथ उत्कृष्ट मार्ग पर चलता है। (२) **सुपदी**=उत्तम गतिवाली यह बुद्धि **अग्रं नयत्**=मनुष्य को आगे और आगे ले चलती है। **रवम्**=हृदयस्थ प्रभु की वाणी को **जानती**=जानती हुई यह बुद्धि **प्रथमा**=अत्यन्त विस्तारवाली होती हुई, **अक्षरण्णां अच्छा**=अविनाशी तत्त्वों की ओर **गात्**=चलनेवाली होती है। यह बुद्धि विषयरूप क्षर पदार्थों की ओर झुकाववाली नहीं होती।

भावार्थ—बुद्धि विषय-पर्वत का विदारण करके उत्कृष्ट मार्ग पर चलती है। प्रभु-प्रेरणा को सुनती हुई नश्वर विषयों की ओर झुकाववाली नहीं होती।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का मित्र कौन ?

अगच्छदु विप्रतमः सखीयन्नसूदयत्सुकृते गर्भमद्रिः ।
समान मर्यो युवभिर्मखस्यन्नथाभवदङ्गिराः सद्यो अर्चन्॥ ७॥

(१) **विप्रतमः**=ज्ञानी पुरुष **उ**=निश्चय से **सखीयन्**=प्रभु से मित्रता की कामना करता हुआ-सखा प्रभु को अपनाना चाहता हुआ **अगच्छत्**=गति करता है। इसके सब कार्य इस दृष्टिकोण से होते हैं कि यह प्रभु को प्रीणित कर सके। (२) **अद्रिः**=(one who adores) यह प्रभु का

पूजन करनेवाला **सुकृते**=उत्तम कर्मों के होने पर (कृतं=कर्म) **गर्भम्**=उस सबके अन्दर निवास करनेवाले प्रभु को **असूदयत्**=अपने अन्दर प्रेरित करता है, अर्थात् यह प्रभु को अपने अन्दर देखने के लिए यत्नशील होता है। (३) **मर्यः**=यह आसुरवृत्तियों को नष्ट करनेवाला मनुष्य **युवभिः**=अपने युवा सन्तानों के साथ **मखस्यन्**=यशों की कामना करता हुआ **ससान**=उस प्रभु का सम्भजन करता है। **अथ**=अब यह **अर्चन्**=प्रभु-पूजन करता हुआ **सद्यः**=शीघ्र ही **अंगिराः अभवत्**=अंग-प्रत्यंग में रसवाला होता है। इसका शरीर सूखे काठ की तरह जीवनीशक्ति से शून्य नहीं हो जाता।

भावार्थ—प्रभुमित्रता की कामनावाला, (क) ज्ञान प्राप्त करता है, (ख) उत्तम कर्मों को करता है, (ग) सन्तानों के साथ यज्ञादि में प्रवृत्त होता है और (घ) अंग-प्रत्यंग में जीवनीशक्ति से परिपूर्ण होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अवद्य-मोचन

सतःसतः प्रतिमानं पुरोभूर्विश्वा वेद जनिमा हन्ति शुष्णम्।
प्र णो दिवः पदवीर्गव्युरर्चन्त्सखा सखीँरमुञ्चन्निरवद्यात्॥ ८॥

(१) वे प्रभु **सतः सतः**=प्रत्येक सद्वस्तु के **प्रतिमानम्**=प्रतिमान हैं-अपनी इयत्ता से मापनेवाले हैं। वस्तुतः प्रत्येक सद्वस्तु को उस-उस उत्तमता को प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। **पुरोभूः**=वे इस सृष्टि से पहले से ही हैं 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'। वे प्रभु **जनिमा वेद**=सब उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं को जानते हैं। उनकी अध्यक्षता में ही प्रकृति इन चराचर पदार्थों को जन्म देती है। प्रभु ही **शुष्णम्**=हमारा शोषण करनेवाले इस कामदेव को **हन्ति**=विनष्ट करते हैं। (२) वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **दिवः पदवीः**=ज्ञानमार्ग पर ले चलनेवाले हैं। **गव्युः**=हमारे लिए इन प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त कराने की कामनावाले हैं। **अर्चन् सखा**=(अर्च् to shine) वे हमारे देदीप्यमान मित्र हैं। अपनी इस ज्ञानदीप्ति द्वारा **सखीन्**=हम मित्रों को **अवद्यात्**=अशुभ व पाप से **निरमुञ्चत्**=मुक्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक हैं। सब सूर्यादि को जहाँ देवत्व (दीप्ति) प्राप्त करा रहे हैं, वहाँ हमें भी, वासना-विनाश द्वारा पाप से मुक्त कर रहे हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मोक्ष-मार्ग

नि गव्यता मनसा सेदुरर्कैः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
इदं चिन्नु सदनं भूर्येषां येन मासाँ असिषासन्नृतेन॥ ९॥

(१) **अमृतत्वाय**=मोक्षप्राप्ति के लिए-नीरोग पद की प्राप्ति के लिए **गव्यता**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की प्राप्ति की कामनावाले **मनसा**=मन से **अर्कैः**=स्तुति मन्त्रों के साथ **निसेदुः**=उपासना में निषण्ण होते हैं। नीरोगता व अन्ततः मोक्षप्राप्ति का मार्ग यह है कि—(क) मन में इन्द्रियों को पवित्र बनाने की कामना करें, (ख) प्रभु की अर्चना के साधनभूत मन्त्रों को अपनाएँ, (ग) सदा नियमितरूप से उपासना में बैठें। (२) **एषाम्**=इनका **इदम्**=यह **सदनम्**=उपासना में बैठना, **चित् नु**=निश्चय से **भूरि**=अत्यन्त उत्तम पोषण करनेवाला है (भृ=धारण पोषणयोः)। यह उपासना में स्थित होना वह है **ये न**=जिस से **मासान्**=मासों को, काल विभागों को **ऋतेन**=ऋत द्वारा **असिषासन्**=सेवन करने की कामनावाले होते हैं। उपासना के होने पर इनका सारा समय ऋत व्यवहारपूर्वक बीतता

है-उपासना इनके जीवन में से अनृत को दूर कर देती है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें ऋत (सत्य) की ओर ले चलता है। यह ऋत हमारी नीरोगता व मोक्ष का कारण होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मदर्शन का आनन्द

संपश्यमाना अमदन्नभि स्वं पयः प्रत्नस्य रेतसो दुघानाः।
वि रोदसी अतपद्घोष एषां जाते निःष्ठामदधुर्गोषु वीरान्॥ १०॥

(१) गतमन्त्र के उपासक **स्वं अभि**=आत्मा को लक्ष्य करके **संपश्यमानाः**=सम्यक् दर्शन करते हुए **अमदन्**=आनन्द प्राप्त करते हैं। आत्मतत्त्व का चिन्तन करते हुए आनन्द का अनुभव करते हैं। **प्रत्नस्य रेतसः**=सनातन रेतस् के, विज्ञान के (उदकमिव विज्ञानं द० ७।३३।१३) **पयः दुघानाः**=दुग्ध का अपने में प्रपूरण करते हैं। वेद ही 'प्रत्न रेतस्' है-सनातन विज्ञान है। इससे दिये जानेवाले ज्ञान का ये अपने में पूरण करते हैं। (२) **एषाम्**=इन (क) आत्मतत्त्व का दर्शन करनेवाले व (ख) वेद विज्ञान का अपने में पूरण करनेवाले लोगों का **घोषम्**=प्रभुस्तवन का शब्द **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **वि अतपद्**=विशिष्टरूप से दीप्त करता है। प्रभुस्तवन द्वारा ये मस्तिष्क को उज्ज्वल व शरीर को तेजोदीप्त (तेजस्वी) बनाते हैं। (३) **जाते**=विकास में **निष्ठाम्**=(firm adherence) दृढ़ विश्वास को **अदधुः**=धारण करते हैं। विकास के लिए कटिबद्ध होकर चलते हैं और **गोषु वीरान्**=(प्राणा वै दश वीराः यजु० १९।४८) इन्द्रियों में प्राणों को स्थापित करते हैं-इन्द्रियों को सशक्त बनाते हैं। इनकी एक-एक इन्द्रिय प्राणशक्ति-सम्पन्न बनी रहती है।

भावार्थ—उत्कृष्ट जीवन यह है कि—(क) आत्मदर्शन करते हुए हम आनन्द का अनुभव करें, (ख) सनातन वेदवाणी के ज्ञान का अपने में पूरण करें, (ग) प्रभुस्तवन से मस्तिष्क को उज्ज्वल व शरीर को तेजस्वी बनाएँ, (घ) विकास में निष्ठा को करें और (ङ) इन्द्रियों को सशक्त बनाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हव्य+अर्क

स जातेभिर्वृत्रहा सेदु हव्यैरुदुस्रिया असृजदिन्द्रो अर्कैः।
उरूच्यस्मै घृतवद्भरन्ती मधु स्वाद्म दुदुहे जेन्या गौः॥ ११॥

(१) **सः**=वह गतमन्त्र का उपासक **जातेभिः**=इन्द्रिय-शक्तियों के विकास द्वारा **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को नष्ट करनेवाला होता है। **सः इत् उ**=यह वासना को विनष्ट करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष ही **हव्यैः**=अग्निहोत्रादि द्वारा तथा **अर्कैः**=उपासना-मन्त्रों द्वारा, अर्थात् यज्ञों व उपासनाओं द्वारा **उस्रियाः**=(brightness, light) ज्ञान-प्रकाशों को **उद् असृजत्**=अपने अन्दर उत्कर्षेण निर्मित करता है। (२) **अस्मै**=इसके लिए **उरूची**=(उरु अञ्चति) व्यापक ज्ञानवाली, **घृतवत् भरन्ती**=मलों के क्षरण व दीप्तिवाले भरण (=पोषण) को करती हुई, अर्थात् इसके जीवन को निर्मल व दीप्त बनाती हुई, **जेन्या**=विजय प्राप्त करानेवाली यह **गौः**=वेदवाणीरूप गौ **स्वाद्म मधु**=अत्यन्त आनन्दप्रद सारभूत ज्ञान को **दुदुहे**=दोहती है। वेदवाणी से इसे वह ज्ञान प्राप्त होता है, जो इसके जीवन को मधुर बनाता है। वेदवाणी व्यापक ज्ञानवाली होने से 'उरूची' है। हमारे जीवनों को निर्मल व दीप्त बनाने के कारण यह 'घृतवद् भरन्ती' है। हमें विजयी बनाने

से यह 'जेन्या' है। इसका ज्ञानदुग्ध 'मधु स्वाद्म' है। इसका स्वादिष्ट व मधुर ज्ञानदुग्ध हमारे जीवन को भी आनन्दयुक्त व मधुर बनाता है।

भावार्थ—वासना को विनष्ट करके हम ज्ञान प्राप्त करें। इससे ही हमारा जीवन मधुर व आनन्दमय बनेगा। यह जीवन यज्ञों (हव्य) व स्तवन (अर्क) से परिपूर्ण होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पितृ-सदन

पित्रे चिच्चक्रुः सद॑नं सम॑स्मै महि॒ त्विषी॑मत्सुकृतो॒ वि हि ख्यन्।
विष्कभ्नन्तः स्कम्भ॑नेना जनि॑त्री आसी॑ना ऊ॒र्ध्वं र॑भसं वि मि॑न्वन्॥ १२॥

(१) **अस्मै**=इस **पित्रे**=सम्पूर्ण संसार के पिता (रक्षक) परमात्मा के लिए **चित्**=निश्चय से **महि**=पूजा की वृत्तिवाले, **त्विषीमत्**=ज्ञान की दीप्तिवाले **सदनम्**=हृदयरूप निवास-स्थान को **संचक्रुः**=सम्यक् बनाते हैं, अर्थात् हृदय को उपासना व ज्ञान से निर्मल व दीप्त करके उसमें प्रभु को आसीन करते हैं। ये **सुकृतः**=पुण्यशाली लोग **हि**=ही **विख्यन्**=विशेषरूप से उस प्रभु का साक्षात्कार करते हैं। (२) ये लोग **जनित्री**=सब शक्तियों के आविर्भाववाले (जनी प्रादुर्भावे) द्यावापृथिवी, मस्तिष्क व शरीर को **स्कम्भनेन**=वीर्यशक्ति के स्कम्भन द्वारा **विष्कभ्नन्तः**=विशेषरूप से धारण करते हुए, **ऊर्ध्वं आसीनाः**=वासनाओं से ऊपर स्थित हुए-हुए, अर्थात् विषय वासनाओं में न फँसे हुए **रभसम्**=(joy, pleasure, delight) आनन्द का **विमिन्वन्**=अपने में विशेषरूप से स्थापन करते हैं (विशेषेणास्थापयन् सा०)।

भावार्थ—हम हृदयों को पवित्र व दीप्त बनाकर वहाँ प्रभु को आसीन करें-प्रभु की उपासना करें। वीर्य के संयम से मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाकर, विषयों में न फँसते हुए, आनन्द में स्थित हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अजय्यता

म॒ही यदि॑ धि॒षणा॑ शि॒श्नथे॒ धात्स॑द्योवृधं॑ वि॒भ्व१॒॑ रोद॑स्योः।
गिरो॒ यस्मि॑न्ननव॒द्याः स॑मी॒चीर्विश्वा॒ इन्द्रा॑य॒ तवि॑षी॒रनु॑त्ताः॥ १३॥

(१) **यदि**=यदि **मही धिषणा**=प्रभुपूजन की वृत्तिवाली बुद्धि **शिश्नथे**=वासनाओं के संहार के लिए (श्नथति हिंसाकर्मा नि० २।१९) उस प्रभु को **धात्**=धारण करती है, जो कि **सद्योवृधम्**=शीघ्र ही उपासक की वृद्धि का कारण बनते हैं, जो **रोदस्योः विभ्वम्**=द्यावापृथिवी में व्याप्त हैं और **यस्मिन्**=जिनमें **अनवद्याः**=अत्यन्त प्रशस्त **गिरः**=ये वेदवाणियाँ **समीचीः**=संगत हैं, तो इस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **विश्वाः**=सब **तविषीः**=बल **अनुत्ताः**=न धकेले जानेवाले, अर्थात् स्थिर होते हैं। (२) प्रभु उपासक को शीघ्र वृद्धि को प्राप्त करानेवाले हैं। वे सर्वत्र व्याप्त हैं। सब प्रशस्त ज्ञानवाणियों के आधार हैं। यदि हम अपनी बुद्धि को परमात्मा में स्थापित करें, अर्थात् बुद्धि द्वारा प्रभु का ही उपासन करें, तो प्रभु हमें वह शक्ति प्राप्त कराएँगे, जिसे कि कोई भी शत्रु धकेल न सकेगा। हम अपनी शक्ति से शत्रुओं के लिए अजय्य होंगे।

भावार्थ—हम बुद्धि द्वारा प्रभु का ही उपासन करें। प्रभु हमें उस शक्ति से सम्पन्न करेंगे जो कि हमें अजय्य बना देगी।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

गौवें व ग्वाला

मह्या ते सख्यं वश्मि शक्तीरा वृत्रघ्ने नियुतो यन्ति पूर्वीः।
महि स्तोत्रमव आगन्म सूरेरस्माकं सु मघवन्बोधि गोपाः॥ १४॥

(१) हे प्रभो! मैं **ते**=आपकी **महि सख्यम्**=महनीय-अत्यन्त प्रशंसनीय मित्रता को **आवश्मि**=सर्वथा चाहता हूँ। इस आपकी मित्रता द्वारा **शक्तीः**=शक्तियों को चाहता हूँ। **वृत्रघ्ने**=मेरी वासना को विनष्ट करनेवाले आपके लिए **पूर्वीः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **नियुतः**=इन्द्रियरूप अश्व **आयन्ति**=सब ओर से आते हैं, अर्थात् मैं अपनी इन्द्रियों को विषय व्यावृत्त करके आपकी ओर लाता हूँ-आपकी कृपा से मेरी वासनाएँ विनष्ट होती हैं। (२) हम **सूरेः**=सर्वज्ञ व (सू प्रेरणे) उत्तम प्रेरणा देनेवाले आपके प्रति **महि स्तोत्रम्**=महनीय स्तोत्र को तथा **अवः**=हविर्लक्षण अन्न को **आगन्म**=प्राप्त कराते हैं। आपका स्तवन करते हैं और यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवान् प्रभो! आप **अस्माकम्**=हमारे **सुगोपाः**=उत्तम रक्षक **बोधि**=होने का ध्यान करिए। हम गौवें हों, आप हमारे गोप। आप से रक्षित होने पर ये वासनारूप हिंस्र पशु हमारे पर आक्रमण न कर सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के मित्र बनें। हम गौवें हों। प्रभु हमारे गोप। तभी वासनाएँ हमारे पर प्रबल न हो पायेंगी।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सर्वप्रद प्रभु

महि क्षेत्रं पुरु श्चन्द्रं विविद्वानादित्सखिभ्यश्चरथं समैरत्।
इन्द्रो नृभिरजनद्दीद्यानः साकं सूर्यमुषसं गातुमग्निम्॥ १५॥

(१) वे प्रभु **महि क्षेत्रम्**=महत्त्वपूर्ण क्षेत्र को-अन्नादि की उत्पत्तिके साधनभूत भूमिभाग को **पुरुश्चन्द्रम्**=पालन व पूरण के लिए पर्याप्त हिरण्य को (चन्द्रं=हिरण्यं) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन को **विविद्वान्**=प्राप्त करानेवाले प्रभु (विद् लाभे) **आद् इत्**=अब निश्चय से **सखिभ्यः**=अपने मित्र जीवों के लिए **चरथम्**=(chariot) गाड़ी को **समैरत्**=प्राप्त कराते हैं। प्रभु कृपा से हमें 'भूमि, धन व रथ' प्राप्त होते हैं। (२) **दीद्यानः**=ज्ञानदीप्त होते हुए वे प्रभु **नृभिः**=मनुष्यों के हेतु से **साकम्**=साथ-साथ ही **सूर्यम्**=सूर्य को **उषसम्**=उषा को **गातुम्**=गमन की साधनभूत पृथिवी को **अग्निम्**=यज्ञादि कर्मों की साधनभूत अग्नि को **अजनत्**=उत्पन्न करते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्य, उषा, पृथिवी, अग्नि आदि की साथ-साथ ही उत्पत्ति हुई। इनके होने पर ही मनुष्यों के सब कार्य सम्पन्न हो सकते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए अन्नोत्पादक भूमिभागों को, धनों को व रथों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ने हमारे लिए 'सूर्य, उषा, पृथिवी व अग्नि' को उत्पन्न किया है।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

जल

अपश्चिदेष विभ्वो३ दमूनाः प्र सध्रीचीरसृजद्विश्वश्चन्द्राः।
मध्वः पुनानाः कविभिः पवित्रैर्द्युभिर्हिन्वन्त्यक्तुभिर्धनुत्रीः॥ १६॥

(१) **एषः**=यह **दमूनाः**=सब का दमन करनेवाला प्रभु **विभ्वः**=संसार में सर्वत्र व्याप्त **सध्रीचीः**=प्रजाओं के साथ विचरण करनेवाले, प्राण आपोमय हैं, अतः ये जल प्राणियों के साथ विचरते ही हैं, **विश्वश्चन्द्राः**=सबको आह्लादित करनेवाले **अपः**=जलों को **प्र असृजत्**=प्रकर्षेण रचता है। प्रभु ने जलों की रचना की है-ये जल सर्वत्र व्याप्त हैं, सब प्राणियों की प्राणशक्ति का कारण होते हैं, आह्लाद को प्राप्त कराते हैं। (२) उत्पन्न हुए-हुए ये जल **पवित्रैः**=पवित्र हृदयवाले **कविभिः**=ज्ञानियों से सम्यग् विनियुक्त हुए-हुए **मध्वः**=शरीरस्थ सोमकणों (वीर्यकणों) को **पुनानाः**=पवित्र करते हुए हैं-शीतलजल से कटि-स्नान वीर्यदोषों को उत्पन्न नहीं होने देता और इस प्रकार **धनुत्रीः**=प्रजाओं को प्रीणित करनेवाले हैं, उनकी कमियों को दूर करके तृप्ति को अनुभव करानेवाले हैं। ये जल **द्युभिः अहुभिः**=दिन-रात **हिन्वन्ति**=गति कर रहे हैं। गति ही इन्हें पवित्र बनाती है। ठहरा हुआ पानी सड़ने लगता है।

भावार्थ—प्रभु ने जलों का निर्माण किया है, ये हमारे जीवनों को आह्लादमय बनाते हैं। हमारे सोमकणों को ये पवित्र करते हैं। इन शक्तियों को पवित्र करके ये हमें प्रीणित करनेवाले हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अहोरात्र व मरुत्

अनु कृष्णे वसुधिती जिहाते उभे सूर्यस्य मंहना यजत्रे।
परि यत्ते महिमानं वृजध्यै सखाय इन्द्र काम्या ऋजिप्याः॥ १७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! **सूर्यस्य**=सम्पूर्ण जगत् के उत्तम प्रेरक आपकी **मंहना**=महिमा से **उभे**=ये दोनों **वसुधिती**=सब वसुओं (धनों) को धारण करनेवाले **कृष्णे**=एक दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले **यजत्रे**=परस्पर संगत दिन व रात **अनुजिहाते**=एक दूसरे के बाद गतिवाले होते हैं। रात्रि के बाद दिन व दिन के बाद रात्रि का क्रम चलता ही है। रात्रि अपनी ओर दिन को आकृष्ट करती है, दिन अपनी ओर रात्रि को। ये दोनों परस्पर पति-पत्नी की तरह संगत हैं, दिन पति है तो रात्रि पत्नी। (२) हे इन्द्र! **यत्**=जब **ते महिमानं (अनु)**=तेरी महिमा के अनुसार **ऋजिप्याः**=ऋजु गतिवाले (ओप्यायी वृद्धौ) व ऋजुता का वर्धन करनेवाले **काम्याः**=कमनीय-सुन्दर **सखायः**=तेरे मित्रभूत ये मरुत् (वायु) **परि**=चारों ओर गतिवाले होते हैं, ये **वृजध्यै**=सब रोगकृमि आदि के वर्जन के लिए होते हैं। प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना के समय शरीर के अन्दर गति करते हुए ये प्राणरूप वायु शरीरस्थ रोगों व वासनाओं को विनष्ट करते हैं। वासनाओं को विनष्ट करके ये हमें प्रभु सामीप्य प्राप्त कराते हैं, अतएव ये हमारे सच्चे सखा हैं। प्राणसाधना द्वारा ये हमारे में ऋजुता का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की महिमा से ही दिन-रात का सुन्दर चक्र चलता है और वायुओं का प्रवाह बहता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः कुशिको वा॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभुप्राप्ति का मार्ग

पतिर्भव वृत्रहन्त्सूनृतानां गिरां विश्वायुर्वृषभो वयोधाः।
आ नो गहि सख्येभिः शिवेभिर्महान्महीभिरूतिभिः सरण्यन्॥ १८॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले! तू **सूनृतानां गिराम्**=प्रिय सत्यवाणियों का **पतिः**=स्वामी **भव**=हो। सदा प्रिय सत्यवाणियों को ही तू बोल। **विश्वायुः**=तू पूर्ण जीवनवाला

हो-शरीर में स्वस्थ, मन में शान्त तथा मस्तिष्क में दीप्त। **वृषभः**=सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला हो। **वयोधाः**=(वयः=अन्नं) उत्कृष्ट अन्न का धारण करनेवाला हो। इस उत्कृष्ट अन्न के सेवन से ही तेरा जीवन उत्तम बनेगा। (२) **शिवेभिः**=कल्याणकर **सख्येभिः**=मित्रताओं से तू **नः**=हमारे प्रति **आगहि**=आनेवाला हो। संसार में सबके प्रति तेरा मित्रता का भाव हो। तेरी मित्रता शिव हो-सबका कल्याण करनेवाली हो। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है। **महान्**=तू विशाल हृदय बन। **महीभिः ऊतिभिः**=महनीय रक्षणों द्वारा **सरण्यन्**=गमन की इच्छावाला हो। तू सदा क्रियामय जीवनवाला हो और तेरी क्रियाएँ सभी का रक्षण करनेवाली हों।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) प्रिय सत्यवाणी को अपनाएँ, (ख) शरीर, मन व बुद्धि तीनों को ठीक रखते हुए जीवन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करें, (ग) सबके साथ मित्रता से चलें, (घ) हमारी प्रवृत्ति रक्षणात्मक हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्रोह से दूर

तमङ्गिरस्वन्नमसा सपर्यन्नव्यं कृणोमि सन्यसे पुराजाम्।
द्रुहो वि याहि बहुला अदेवीः स्वश्च नो मघवन्त्सातये धाः ॥ १९ ॥

(१) हे इन्द्र! **तम्**=उन आपको **अंगिरस्वत्**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले पुरुष की तरह **नमसा**=नमन द्वारा **सपर्यन्**=पूजा करता हुआ मैं **पुराजाम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रादुर्भूत होनेवाली वेदवाणी के **सन्यसे**=सम्भजन के लिए-प्राप्त करने के लिए **नव्यं कृणोमि**=अपने अन्दर फिर से नया करता हूँ-आपकी स्मृति को तरोताजा करता हूँ। प्रतिदिन आपका स्तवन करता हुआ आपको न भूलने का प्रयत्न करता हूँ। प्रभु के स्मरण से पवित्रता व बुद्धि की निर्मलता होकर ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। (२) हे प्रभो! **अदेवीः**=दिव्यता से दूर ले जानेवाली **बहुलाः**=अनेकों **द्रुहः**=द्रोह की भावनाओं को **वियाहि**=हमारे से दूर करिए। **च**=और हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिये **स्वः**=प्रकाश को **धाः**=धारण कीजिए, ताकि **सातये**=हम आपका सम्भजन कर सकें। जब हम प्रकाश को प्राप्त करते हैं और अदिव्य भावनाओं से ऊपर उठते हैं, तभी प्रभुप्राप्ति के पात्र बन पाते हैं।

भावार्थ—सबल अंगोंवाले (अंगिरस्वत्) होते हुए हम प्रतिदिन प्रभु का स्तवन करें ताकि प्रभु को भूल न जाएँ। इसी से हमें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होगा और हम द्रोह आदि अशुभ वृत्तियों से ऊपर उठकर प्रभु को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञानों के पारंगत

मिहः पावकाः प्रतता अभूवन्त्स्वस्ति नः पिपृहि पारमासाम्।
इन्द्र त्वं रथिरः पाहि नो रिषो मक्षूमक्षू कृणुहि गोजितो नः ॥ २० ॥

(१) हे **इन्द्र**=सहस्र सूर्य सम ज्योतिवाले प्रभो! आपके **पावकाः**=पवित्र करनेवाले **मिहः**=ज्ञानजलों के वर्षण **प्रतताः**=प्रकर्षेण विस्तृत **अभूवन्**=हुए हैं। आपने कृपा करके हमारे लिए इन ज्ञानजलों का वर्षण किया है। इन द्वारा **नः स्वस्ति**=हमारा कल्याण हो। आप हमारे में **आसां पारं पिपृहि**=इनके परले सिरे का पूरण करिए, अर्थात् आप हमें इन ज्ञानों से पारंगत करिए। हम इन ज्ञानों को पूर्णतया प्राप्त करनेवाले हों। (२) हे इन्द्र! **त्वम्**=आप ही **रथिरः**=मेरे इस शरीर

रथ के संचालक हैं। आप **नः**=हमें **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=बचाइये। हम वासनाओं से हिंसित न हों। **मक्षूमक्षू**=शीघ्र ही-अत्यन्त शीघ्र **नः**=हमें **गोजितः**=इन इन्द्रियरूप गौवों का विजेता **कृणुहि**=करिए। हम जितेन्द्रिय बनकर, वासनाओं से हिंसित न होते हुए आपको प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये ज्ञानों के हम पारंगत हो। इनद्वारा जीवनों को पवित्र बनाते हुए, जितेन्द्रिय बनकर, प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासना-विनाश

अदेदिष्ट वृत्रहा गोपतिर्गा अन्तः कृष्णाँ अरुषैर्धामभिर्गात्।

प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः ॥ २१ ॥

(१) **वृत्रहा**=हमारी वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **गोपतिः**=सब ज्ञान की वाणियों के स्वामी प्रभु **गाः**=ज्ञानवाणियों को **अदेदिष्ट**=हमारे लिए देते हैं-इन ज्ञानवाणियों का उपदेश हमारे लिए करते हैं। और इस प्रकार इन ज्ञान-वाणियों के **अरुषैः धामभिः**=आरोचमान तेजों से **कृष्णान्**=इन कालिमा को लिए हुए आसुरभावों को **अन्तःगात्**=अन्तर्हित कर देते हैं। प्रभु ज्ञानप्रकाश द्वारा हमारे आसुरभावों को विनष्ट करते हैं। (२) वे प्रभु **ऋतेन**=ऋत के हेतु से, इसलिए कि हमारा जीवन ऋतवाला हो, **सूनृताः**=प्रिय सत्य वेदवाणियों का **प्रदिशमानः**=उपदेश करते हैं **च**=और **विश्वाः**=सब **दुरः**=इन्द्रिय-द्वारों को और **स्वाः**=अपनी उन ज्ञान-वाणियों को (गाः) हमारे लिए **अवृणोत्**=विवृत कर देते हैं-खोल देते हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति को विकसित करते हैं और हमारे लिए ज्ञानवाणियों को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानदेकर हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः कुशिको वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नृतम प्रभु

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।

शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ २२ ॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात का प्रतिपादन कर रहा है कि वासनाओं का विनाश करें, ज्ञान को बढ़ाते हुए परमात्मा को प्राप्त करनेवाले बनें। इसी उद्देश्य से हमें सोम का रक्षण करना है। गृहस्थ में भी इस सोम का अपव्यय नहीं करना। इसी भावना के प्रतिपादन से अगले सूक्त का प्रारम्भ है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

माध्यन्दिन-सवन को सुन्दर बनाना

इन्द्र सोमं सोमपते पिबेमं माध्यंदिनं सवनं चारु यत्ते।

प्रप्रुथ्या शिप्रे मघवन्नृजीषिन्विमुच्या हरी इह मादयस्व ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सोमपते**=सोम का रक्षण करनेवाले! **इमं सोमं पिब**=इस सोम को (=वीर्यशक्ति को) तू अपने अन्दर पीनेवाला बन-सोम को अपने अन्दर सुरक्षित कर।

यत्=जो **ते**=तेरा **माध्यन्दिनं सवनम्**=जीवन का मध्याह्न यज्ञ है-गृहस्थ का समय है, २४ से ६८ तक ४४ वर्ष का मध्य जीवन है वह भी **चारु**=अत्यन्त सुन्दर हो। जीवन के प्रातःसवन में, प्रथम २४ वर्षों में तूने सोम का पान किया था, अब इन ४४ वर्षों में भी सोम का रक्षण करना है। (२) हे **मघवन्**=(मघ=मख) यज्ञमय जीवनवाले, **ऋजीषिन्**=ऋजुमार्ग से गति करनेवाले (ऋजु+इष्) इन्द्र! तू **शिप्रे**=हनू व नासिकाओं का **प्रप्रुथ्या**=(पोथृपर्याप्तौ) पूरण करके-इनकी कमियों को दूर करके **हरी**=अपने इन्द्रियाश्वों को **विमुच्या**=प्रतिक्षण विषयरूप घास चरने से मुक्त करके **इह**=इस जीवन में **मादयस्व**=आनन्द का अनुभव कर। हनुओं (जबड़ों) की न्यूनता को दूर करने का भाव यह है कि हम हितकर भोजन को मात्रा में चबाकर खाएँ। नासिका के पूरण का भाव यह है कि हम प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना करनेवाले बनें। इन्द्रियाश्वों की मुक्ति यही है कि उन्हें विषयों से पृथक् रखें। इस प्रकार सोमरक्षण करते हुए हम जीवन को सुन्दर बनाएँ।

भावार्थ—गृहस्थ जीवन में भी सोमरक्षण का हम पूरा ध्यान करें। परिमित खाएँ, प्राणायाम करें। इन्द्रियों को विषयों में न फँसने देकर जीवन के वास्तविक आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण के लाभ

गवाशिरं मन्थिनमिन्द्र शुक्रं पिबा सोमं ररिमा ते मदाय।
ब्रह्मकृता मारुतेना गणेन सजोषा रुद्रैस्तृपदा वृषस्व॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सोमं पिबा**=तू सोमपान करनेवाला हो। यह सोम **गवाशिरम्**=इन्द्रियों के दोषों को विनष्ट करनेवाला है। (गो=इन्द्रिय, शृ हिंसायाम्) **मन्थिनम्**=विचार (मन्थ्) शक्ति को जन्म देनेवाला है। **शुक्रम्**=यह जीवन को शुक्र (उज्ज्वल) बनानेवाला है। प्रभु कहते हैं कि हम **ते मदाय**=तेरे आनन्द के लिए **ररिमा**=इसे तुझे देते हैं। इसके रक्षण में ही शक्ति का रक्षण है-शक्ति रक्षण में ही आनन्द है। (२) **ब्रह्मकृता**=ज्ञान उत्पन्न करनेवाले **मारुतेन गणेन**=इन प्राणों के समूह से **सजोषाः**=समान प्रीतिवाला होता हुआ तू **रुद्रैः**=रोगों का द्रावण करनेवाले इन प्राणों से **तृपत्**=प्रीणित होता हुआ **आवृषस्व**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाला बन। प्राणसाधना द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है, उससे ज्ञानाग्नि का दीपन होता है-इसीलिए यहाँ इस 'मारुतगण' को 'ब्रह्मकृत्' कहा गया है। ये मरुत् रोगों का द्रावण करने से रुद्र व रुद्रपुत्र कहलाते हैं। इन द्वारा शरीर में शक्ति का रक्षण होता है। यही शरीर में शक्ति का सेचन है।

भावार्थ—सब उन्नतियों का मूल सोम का रक्षण है। प्राणसाधना द्वारा इसका रक्षण होता है। रक्षित हुआ-हुआ सोम इन्द्रियदोषों को शीर्ण करता है, ज्ञान को बढ़ाता है और जीवन को उज्ज्वल बनाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शुष्म-तविषी-ओजस्

ये ते शुष्मं ये तविषीमवर्धन्नर्चन्त इन्द्र मरुतस्त ओजः।
माध्यन्दिने सवने वज्रहस्त पिबा रुद्रेभिः सगणः सुशिप्र॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ये मरुतः**=जो प्राण **अर्चन्तः**=प्रभु का उपासन करते हुए **ते**=तेरे **शुष्मम्**=शत्रुशोषक बल को, मानस बल को तथा **ये**=जो **तविषीम्**=तेरे शारीरिक बल को **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं, ये मरुत् (प्राण) **ते ओजः**=तेरे ओज को भी **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं। इस ओज

से ही तेरे अंग-प्रत्यंगों की शक्ति का वर्धन होता है। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का भी निरोध होता है। निरुद्ध चित्तवृत्ति प्रभु का स्मरण करती है। यही प्राणों का प्रभु अर्चन है। (२) हे **वज्रहस्त**=क्रियाशीलता रूप वज्र को हाथ में लिये हुए जीव! **सुशिप्र**=शोभन हनू व नासिकाओंवाले, अर्थात् भोजन को ठीक रूप में खानेवाले तथा प्राणसाधना करनेवाले जीव! तू **रुद्रेभिः सगणः**=इन प्राणों द्वारा कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों के गण से युक्त हुआ हुआ **माध्यन्दिने सवने**=इस माध्यन्दिन-सवन में-जीवन के मध्याह्न में-गृहस्थ काल में भी **पिबा**=सोम पान करनेवाला बन। सोमरक्षण के लिये प्रथम साधन 'क्रियाशीलता' है-क्रिया में लगे रहने से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता। इस प्रकार यह क्रियाशीलता सोमरक्षण का साधन हो जाती है। सोमरक्षण का दूसरा साधन भोजन का नियम है-सौम्य भोजन ही, समय पर मात्रा में किया जाये तो सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। तीसरा साधन प्राणायाम है, इससे सोमकणों की ऊर्ध्वगति होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से मानसबल बढ़कर वासनाओं का शोषण होता है (शुष्म)। इससे शरीर का बल बढ़कर नीरोगता प्राप्त होती है (तविषी)। इससे ओजस्विता बढ़कर सब इन्द्रियशक्तियाँ ठीक रहती हैं (ओजस्)। सोमरक्षण के लिए 'क्रियाशीलता-सौम्य भोजन व प्राणायाम' साधन हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

इन्द्र के साथी मरुत्

त इन्न्वस्य मधुमद्विविप्र इन्द्रस्य शर्धो मरुतो य आसन्।
येभिर्वृत्रस्येषितो विवेदामर्मणो मन्यमानस्य मर्म ॥ ४॥

(१) **ये**=जो **मरुतः**=प्राण **आसन्**=थे **ते**=वे ही **इत् नु**=निश्चय से **अस्य इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के **मधुमत् शर्धः**=माधुर्य से युक्त बल को **विविप्रे**=(विप् क्षेपणे-प्रेरणे) प्रेरित करते हैं। प्राणों द्वारा ही शरीर में शक्ति का रक्षण होता है और नीरोगता व निर्मलता से जीवन माधुर्य-युक्त होता है, (२) ये बल वे होते हैं **येभिः**=जिनसे **इषितः**=प्रेरित हुआ-हुआ यह इन्द्र **अमर्मणः**=अज्ञात मर्मवाले **मन्यमानस्य**=अतएव अहन्तव्यता के गर्ववाले **वृत्रस्य**=ज्ञान के आवरणभूत कामदेव के **मर्म**=मर्म को **विवेद**=अच्छी प्रकार जान लेता है। इस ज्ञानाग्नि के बल द्वारा ही इस काम का यह विध्वंस कर देता है। यह सब कार्य इन्द्र इन मरुतों के साहाय्य से ही कर पाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होकर वह बल प्राप्त होता है, जिससे कि इन्द्र वृत्र का (काम का) विध्वंस करनेवाला होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

निरन्तर यज्ञशीलता

मनुष्वदिन्द्र सवनं जुषाणः पिबा सोमं शश्वते वीर्याय।
स आ ववृत्स्व हर्यश्व यज्ञैः सरण्युभिरपो अर्णा सिसर्षि॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष तू **मनुष्वत्**=एक समझदार व्यक्ति की तरह **सवनं जुषाणः**=यज्ञों का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **शश्वते वीर्याय**=प्लुतगतिवाले-स्फूर्ति को जन्म देनेवाले वीर्य के लिए **सोमम्**=सोम का **पिबा**=पान कर। यज्ञों में लगे रहने से तू सोमरक्षण करनेवाला हो। इस सोमरक्षण से तुझे वह शक्ति प्राप्त होगी, जिससे कि तेरे में स्फूर्ति बनी रहेगी। (२) इसलिए हे **हर्यश्व**=प्रभु की ओर मुझे ले जानेवाले इन इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तू **सरण्युभिः**=निरन्तर चलनेवाले **यज्ञैः**=यज्ञों से **आववृत्स्व**=जीवन में वर्तनेवाला हो। इन यज्ञों में लगे रहने से तू रक्षित

अपः=रेतःकणों द्वारा **अर्णा**=ज्ञानजलों को **सिसर्षि**=अपने अन्दर प्रेरित करता है। यज्ञों में लगे रहने से वासनाएँ आक्रमण नहीं कर पातीं। वासना-विनाश से रेतःकणों का रक्षण होता है। रेतःकणों के रक्षण से ज्ञानाग्नि का दीपन होकर ज्ञान बढ़ता है।

भावार्थ—'यज्ञों में लगे रहना, उससे वासना विनाश, उससे रेतःरक्षण, उससे ज्ञानाग्नि का दीपन' इस क्रम को समझते हुए पुरुष को चाहिए कि जीवन में यज्ञों को न रुकने दे। निरन्तर यज्ञमय बने।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

शरीरांगण में रेतःकण रूप अश्वों की गति

त्वमपो यद्ध वृत्रं जघन्वाँ अत्याँइव प्रासृजः सर्तवाजौ।
शयानमिन्द्र चरता वधेन वव्रिवांसं परि देवीरदेवम्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **यत्**=जब **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **जघन्वान्**=नष्ट करता है, तब **अपः**=रेतःकणों को **सर्तवः**=शरीर में गति के लिए **प्रासृजः**=उसी प्रकार प्रसृष्ट करता है, **इव**=जैसे कि **आजौ**=संग्राम में **अत्यान्**=घोड़ों को प्रसृष्ट किया जाता है। युद्ध में प्रेरित घोड़े रणांगण में गति करते हुए शत्रुओं का विनाश करते हैं, इसी प्रकार शरीर में प्रेरित रेतःकण रोगकृमिरूप शत्रुओं का विनाश करते हैं। (२) हे इन्द्र! तू **चरता वधेन**=क्रियाशीलतारूप वृत्रवधसाधना आयुध से **देवीः**=दिव्य ज्ञानजलों को **वव्रिवांसम्**=आवृत किये हुए **अदेवम्**=इस कामवासनारूप आसुरभाव को, **शयानम्**=अपने अन्दर ही निवास करते हुए को नष्ट करता है। इस वृत्र विनाश होने पर रेतःकण शरीर में ही व्याप्त होते हैं। शरीर नीरोग बनता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता से वृत्र का विनाश होकर रेतःकणों की शरीर में ही गति होती है। उसी से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'वृद्ध, बृहन्, ऋष्व, अजर व युवा' इन्द्र

यजाम इन्नमसा वृद्धमिन्द्रं बृहन्तमृष्वमजरं युवानम्।
यस्य प्रिये ममतुर्यज्ञियस्य न रोदसी महिमानं ममाते॥ ७॥

(१) हम **नमसा**=नमन द्वारा **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **यजाम**=यजन (पूजन) करते हैं, जो कि **वृद्धम्**=सदा से बढ़े हुए हैं, **बृहन्तम्**=महान् हैं, **ऋष्वम्**=दर्शनीय हैं व स्तोतव्य हैं **अजरम्**=न जीर्ण होनेवाले हैं, **युवानम्**=सदा युवा हैं। अजर होने से नित्यतरुण हैं। अथवा सब बुराइयों का अमिश्रण व अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाले हैं। इन प्रभु का पूजन करता हुआ मैं भी प्रभु की तरह 'वृद्ध, बृहन्, ऋष्व, अजर व युवा' बनता हूँ। (२) ये प्रभु वे हैं **यस्य**=जिन **यज्ञियस्य**=उपास्य की **महिमानम्**=महिमा को ये **प्रिये**=प्राणिमात्र को प्रीणित करनेवाले **रोदसी**=द्यावापृथिवी **न ममतुः**=नहीं मापते **न ममाते**=और नहीं ही माप पाते। अनन्त से विशाल होते हुए भी ये द्यावापृथिवी प्रभु की महिमा को मापने में समर्थ नहीं। वे प्रभु इन दिक् काल आदि से अवच्छिन्न नहीं हैं।

भावार्थ—दिक् कालादि से न सीमित प्रभु का उपासन नमन द्वारा होता है। इसके उपासन से हम वृद्ध व युवा बनते हैं-बढ़ते हुए, नित्यतरुण।

सूचना—यहाँ 'वृद्ध होते हुए युवा' यह वचन विरोधाभास अलंकार का सुन्दर उदाहरण है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की अटल व्यवस्था

इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे।
दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः॥ ८॥

(१) **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **कर्म**=काम **सुकृता**=उत्तमता से किये गये हैं और **पुरूणि**=वे सब जीवों का पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु के बनाये हुए सूर्य-चन्द्र आदि देव हमारे लिए सब आवश्यक पदार्थों को देते हुए हमारा पालन करते हैं। (२) **विश्वे**=ये सब **देवाः**=सूर्य आदि देव **व्रतानि**=प्रभु के नियमों का **न मिनन्ति**=हिंसन नहीं करते हैं। प्रभु की व्यवस्था में चलते हुए ये सूर्यादि देव कभी भी मार्ग का अतिक्रमण नहीं करते। (३) **यः**=जो प्रभु **पृथिवीम्**=अन्तरिक्ष को, **द्याम्**=द्युलोक को **उत**=और **इमा**=इस पृथिवी को **दाधार**=धारण कर रहे हैं, वे **सुदंसाः**=उत्तम कर्मोंवाले प्रभु ही **सूर्यम्**=सूर्य को व **उषसम्**=उषा को **जजान**=जन्म देते हैं-प्रादुर्भूत करते हैं। बाह्य संसार के इन लोकों की तरह वे हमारे जीवनों में भी विस्तृत हृदयान्तरिक्ष को (पृथिवीम्), दीप्त मस्तिष्करूप द्युलोक को, दृढ़ शरीररूप पृथिवी को, ज्ञान के सूर्य को तथा वासनान्धकार का दहन करनेवाली उषा (उष दाहे) को जन्म देते हैं।

भावार्थ—प्रभु के कर्म उत्तमता से किये गये व पालक हैं। सब लोक व देव प्रभु की व्यवस्था को नहीं तोड़ते। प्रभु ही 'अन्तरिक्ष, द्युलोक, पृथिवी, सूर्य व उषा' को जन्म देते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दिक् कालानवच्छिन्न प्रभु

अद्रोघ सत्यं तव तन्महित्वं सद्यो यज्जातो अपिबो ह सोमम्।
न द्याव इन्द्र तवसस्त ओजो नाहा न मासाः शरदो वरन्त॥ ९॥

(१) हे **अद्रोघ**=द्रोहवर्जित प्रभो! सब प्रकार की द्रोह भावनाओं से रहित प्रभो! **तव**=आपकी **तत् महित्वम्**=वह महिमा **सत्यम्**=सत्य है, **यत्**=जो कि **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **ह**=निश्चय से **सोमं अपिबः**=सोमपान करते हो। वस्तुतः जिस समय हम ध्यान द्वारा हृदय में प्रभु को आसीन करते हैं, त्यों ही वासनाओं का विनाश हो जाता है और हम शरीर में सोम का रक्षण कर पाते हैं। यही प्रादुर्भूत हुए-हुए प्रभु का सोमपान है। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **तवसः**=महान् **ते**=आपके **ओजः**=ओज को **द्यावः**=द्युलोक से उपलक्षित सब लोक **न वरन्त**=आवृत नहीं कर पाते। आपका ओज सर्वलोकातीत है। लोकों की तरह आपके ओज को **अहा**=दिन **न वरन्त**=आवृत नहीं करते। **मासाः**=चैत्र आदि मास भी आपके तेज को आवृत नहीं कर पाते। **शरदः**=वर्ष भी आपके उस तेज को परिच्छिन्न करनेवाले नहीं होते। आपका तेज स्थान व समय से सीमित नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु दिक् काल आदि से अनवच्छिन्न व अनन्त हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुस्मरण व सोमरक्षण

त्वं सद्यो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमं परमे व्योमन्।
यद्ध द्यावापृथिवी आविवेशीरथाभवः पूर्व्यः कारुधायाः॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए **परमे व्योमन्**=इस हृदय-देश रूप परम आकाश में **सद्यः**=शीघ्र ही **सोमं अपिबः**=सोम का पान करते हैं और **मदाय**=हर्ष के लिए होते हैं। हृदय में प्रभु का प्रकाश होते ही वासनाओं का विनाश होता है, सोम का (वीर्य का) रक्षण होता है और जीवन में उल्लास का अनुभव होता है। (२) **यत्**=जो **ह**=निश्चय से आप **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **आविवेशीः**=प्रवेश करते हैं-उनमें व्याप्त होते हैं तो **अथा**=तब **पूर्व्यः**=हमारा पालन व पूरण करनेवालों में सर्वोत्तम **अभवः**=होते हैं और **कारुधायाः**=कुशलतापूर्वक सबका निर्माण व धारण करनेवाले होते हैं, हमारे द्यावापृथिवी, अर्थात् मस्तिष्कों व शरीरों का भी पालन व पूरण व धारण प्रभु ही करते हैं।

भावार्थ—हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश होने पर शरीर में सोमरक्षण होकर आनन्द की प्राप्ति होती है। हमारे मस्तिष्क व शरीर का तभी उत्तमता से धारण होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ब्रह्माण्ड को एक कक्ष में धारण करनेवाले प्रभु

अहन्नहिं परिशयानमर्ण ओजायमानं तुविजात तव्यान्।
न ते महित्वमनु भूदध द्यौर्यदन्यया स्फिग्या३ क्षामवस्थाः ॥ ११ ॥

(१) हे **तुविजात**=महान् विकासवाले-अत्यन्त विशाल आकाश आदि लोकों को जन्म देनेवाले प्रभो! **तव्यान्**=अत्यन्त प्रवृद्ध-बलवान्, आप **अर्णः परिशयानम्**=ज्ञानजल को आवृत करके निवास करनेवाले, ज्ञान के आवरणभूत, **ओजायमानम्**=अत्यन्त प्रबल **अहिम्**=इस विनाशक 'काम' को (=वृत्र को) **अहन्**=नष्ट करते हैं। प्रभु का प्रकाश होते ही वासना का विनाश हो जाता है। (२) **अध**=अब **द्यौः**=यह विशाल आकाश **ते महित्वम्**=आपकी महिमा को **न अनुभूत्**=नहीं अनुभव कर पाता-नहीं जान पाता **यत्**=चूँकि आप **अन्यया स्फिग्या**=एक पार्श्व से (कटि प्रदेश से) **क्षाम्**=पृथिवी को **अवस्थः**=आच्छादित करके ठहर रहे हैं। आप एक ओर द्युलोक को व दूसरी ओर पृथिवी कों छू रहे हैं और वास्तव में तो इनको अपने एक देश से व्याप्त करके इनसे महान् हो रहे हैं 'त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः'।

भावार्थ—प्रभु महान् हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में व्याप्त किये हुए हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यज्ञों में व्यापृति

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भूदुत प्रियः सुतसोमो मियेधः।
यज्ञेन यज्ञमव यज्ञियः सन्यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य आवत्॥ १२ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यज्ञः**=यज्ञ **हि**=निश्चय से **ते**=तेरा **वर्धनः**=बढ़ानेवाला **भूत्**=हो। यह तेरी यज्ञ द्वारा तू अपने जीवन को पवित्र बना सके 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'। **उत**=और यह यज्ञ सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करता हुआ तुझे बढ़ाये 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'। तुझे **प्रियः**=प्रिय हो-यज्ञ में तेरी रुचि हो। यज्ञ में लगे रहने से **सुतसोमः**=तू सोम का सम्पादन करनेवाला हो। यज्ञ में व्यापृति तुझे वासनामय दुनिया से दूर रखेगी और तू सोम का रक्षक होगा-शक्ति को शरीर में सुरक्षित कर पाएगा। इस शक्तिरक्षण से **मियेधः**=तू पवित्र होगा। (२) इस प्रकार **यज्ञियः**=यज्ञों में प्रवृत्त रहनेवाला **सन्**=होता हुआ तू **यज्ञेन**=इन यज्ञों द्वारा **यज्ञम्**=उस उपास्य प्रभु को **अव**=प्राप्त होनेवाला हो (अव् गतौ)। **यज्ञः**=यह उपास्य प्रभु **अहिहत्ये**=वासना

को विनष्ट करने के निमित्त **ते वज्रम्**=तेरे क्रियाशीलतारूप इस वज्र को **आवत्**=रक्षित करे। प्रभु की उपासना से तू क्रियाशील बने और इस क्रियाशीलता द्वारा वासना का शिकार होने से बचा रहे।

भावार्थ—हम यज्ञों में सदा लगे रहें। यही प्रभु की उपासना का भी मार्ग है और प्रभु हमें वासनाओं से बचाने के लिये ही इन यज्ञों में प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु को अपने अभिमुख करना

यज्ञेनेन्द्रमवसा चक्रे अर्वागैनं सुम्नाय नव्यसे ववृत्याम्।
यः स्तोमेभिर्वावृधे पूर्व्येभिर्यो मध्यमेभिरुत नूतनेभिः॥ १३॥

(१) **यज्ञेन**=यज्ञ द्वारा **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अवसा**=रक्षण के हेतु से **अर्वाग्**=अपने अभिमुख **आचक्रे**=मैं सर्वथा करता हूँ। **एनम्**=इस प्रभु को **नव्यसे**=अत्यन्त स्तुत्य व उत्कृष्ट **सुम्नाय**=सुख व धन के लिए मैं **आववृत्याम्**=अपनी ओर आवृत्त करता हूँ। यज्ञों द्वारा हम प्रभु को अपने अभिमुख करनेवाले होते हैं। ऐसा करने पर हमें प्रभु से रक्षण प्राप्त होता है तथा प्रभु हमारे लिए अत्यन्त स्तुत्य सुख व धन प्राप्त कराते हैं। (२) उस प्रभु को मैं अपनी ओर आवृत्त करता हूँ, **यः**=जो **पूर्व्येभिः स्तोमेभिः**=दिन के पूर्वभाग में-उषाकाल प्रबुद्ध होने के समय किये जानेवाले स्तोत्रों से **वावृधे**=बढ़ते हैं-इन स्तोमों द्वारा प्रभु की महिमा का प्रतिपादन होता है। **यः**=जो प्रभु **मध्यमेभिः**=दिन के मध्य में होनेवाले स्तोमों से हमारे जीवनों में वृद्धि को प्राप्त होते हैं **उत**=तथा **नूतनेभिः**=इस दिन के अवसान में, अभी होनेवाले, नवीन स्तोमों से भी वे प्रभु वृद्धि को प्राप्त होते हैं। यहाँ हमारे अन्दर प्रभु की भावना के बढ़ने को ही 'प्रभु का बढ़ना' कहा गया है। जितना-जितना हम प्रभु का अपने में वर्धन करते हैं, उतना-उतना ही हम वासनाओं से अपने को बचा पाते हैं और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—प्रातः, सायं व दिन मध्य में भी समय-समय पर हम प्रभु का स्मरण करें। यह स्मरण हमारा रक्षण करेगा और हमें स्तुत्य धन व सुख प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जीवन में प्रभुस्मरण (मृत्यु से पूर्व ही)

विवेष यन्मा धिषणा जजान स्तवै पुरा पार्यादिन्द्रमह्नः।
अंहसो यत्र पीपरद्यथा नो नावेव यान्तमुभये हवन्ते॥ १४॥

(१) **यत्**=जब **मा**=मुझे **धिषणा**=बुद्धि **विवेष**=व्याप्त करती है और **जजान**=मेरे में प्रादुर्भूत व विकसित होती है, तब मैं **पार्यात् अह्नः पुरा**=जीवन के परले पार होनेवाले दिन से पूर्व ही, अर्थात् मृत्युदिवस से पहले ही **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **स्तवै**=स्तवन करता हूँ। समझदार व्यक्ति जीवनकाल में प्रभु का स्मरण करता है ताकि उसकी शक्ति ठीक बनी रहे और वह वैषयिक-पंक में न फँस जाए। (२) इसलिए मैं प्रभु का स्मरण करता हूँ कि **यथा**=जिससे वे प्रभु **यः**=हमें **अंहसः**=पाप से **पीपरत्**=पार करते हैं। पाप से वे प्रभु हमें इस प्रकार पार ले जाते हैं कि **यत्र**=जहाँ पाप से पार हो जाने पर इस उपासक को **उभये**=भौतिक व अध्यात्म वृत्तिवाले दोनों ही पुरुष इस प्रकार **हवन्ते**=पुकारते हैं, **इव**=जैसे कि **नावा**=नौका से **यान्तम्**=जाते हुए को **उभये**=दोनों तटों पर होनेवाले लोग **हवन्ते**=पुकारते हैं। इस पार के लोग यदि भौतिकवृत्ति के हैं, तो उस पार के लोग अध्यात्मवृत्ति के हैं। उपासक ब्रह्मरूप नाव से पार जानेवाला है। उपासक को भौतिकवृत्ति

के लोग उत्कृष्ट होने के कारण आदर देते हैं तथा अध्यात्मवृत्तिवालों के प्रेम का यह पात्र होता है।

भावार्थ—समझदार व्यक्ति मृत्यु से पूर्व ही प्रभु का स्मरण करता है। यह भौतिकवृत्तिवालों के आदर व अध्यात्मवृत्तिवालों के प्रेम का पात्र होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कलश की आपूर्णता

आपूर्णो अस्य कुलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै।
समु प्रिया आववृत्रन्मदाय प्रदक्षिणिदुभि सोमास इन्द्रम्॥ १५॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित यौवन में ही प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होनेवाले **अस्य**=इसका **कलशः**=यह शरीररूप कलश **आपूर्णः**=सोम से पूर्ण होता है। इसके रेतःकण इस शरीर-कलश में ही सुरक्षित रहते हैं। इनके रक्षण से **स्वाहा**=यह व्यक्ति उत्तम त्यागवाला होता है-अपने जीवन को ही यह प्राजापत्य यज्ञ में आहुत कर देता है। **इव**=जैसे एक **सेक्ता**=सेचन करनेवाला भूमि का सेचन करता है, उसी प्रकार मैं **कोशे**=इस शरीरकोष को सुरक्षित रेतःकणों से **सिसिचे**=सिक्त करता हूँ। इस प्रकार यह सोम **पिबध्यै**=मेरे पान के लिए होता है। इसे मैं शरीर में ही पीने का प्रयत्न करता हूँ। (२) **उ**=निश्चय से **प्रियाः**=प्रीणित करनेवाले ये **सोमासः**=सोमकण **इन्द्रं अभि**=इन्द्र की ओर **प्रदक्षिणित्**=प्रकृष्ट दाक्षिण्य (सरलता) के साथ **सं अववृत्तन्**=सम्यक् प्राप्त होते हैं और ये **मदाय**=उस इन्द्र को-जितेन्द्रिय पुरुष को हर्षित करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष अपने शरीर-कलश को सोमकणों से पूर्ण करने का प्रयत्न करता है। वीर्य को शरीर में ही पीने का प्रयत्न करता है। यह सुरक्षित वीर्य उसके आनन्द का कारण बनता है।

सूचना—'कलश' शब्द का अर्थ 'कलाः शेरतेऽस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से १६ कलाओं का आधारभूत यह शरीर है। इसका अर्थ सोम ही किया जाए तो अर्थ इस प्रकार होगा 'अस्य कलशः आपूर्णः' इस जितेन्द्रिय पुरुष का सोम शरीर में ही आपूर्ण होता है-चारों ओर व्याप्त होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुप्राप्ति में रुकावट का न होना

न त्वा गभीरः पुरुहूत सिन्धुर्नाद्रयः परि षन्तो वरन्त।
इत्था सखिभ्य इषितो यदिन्द्रा दृळ्हं चिदरुजो गव्यमूर्वम्॥ १६॥

(१) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **न**=न तो **त्वा**=आपको **गभीरः सिन्धुः**=यह गहरा समुद्र, **च**=और नां ही **परि**=चारों ओर **सन्तः**=होते हुए ये **अद्रयः**=पर्वत **वरन्त**=हमारे समीप प्राप्त होने से रोक सकते हैं। प्रभुप्राप्ति में समुद्र व पर्वतों ने क्या बाधक होना! प्रभु तो हमारे हृदयों के ही अन्दर विद्यमान हैं। (२) **इत्था**=सचमुच हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब आप **सखिभ्यः**=अपने मित्रभूत इन जीवों से **इषितः**=चाहे जाते हैं-प्रार्थना किए जाते हैं तो **दृढं चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी **गव्यम्**=इन्द्रियों के लिए बने हुए **उर्वम्**=विषयों के बाड़े को **अरुजः**=आप विदीर्ण करनेवाले होते हैं। इस विषय-व्रज को विदीर्ण करके आप अपने मित्रभूत उपासक की इन्द्रियरूप गौवों को मुक्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—उपासक के मार्ग में प्रभुप्राप्ति के लिए समुद्र व पर्वत रुकावट नहीं बन पाते। प्रभु

उपासकों से प्रार्थित होने पर उनकी इन्द्रियरूप गौवों को विषयों के बाड़े से मुक्त करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धन विजय

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ १७ ॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त गृहस्थ में भी संयम का महत्त्व स्पष्ट कर रहा है। संयम ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है। इस संयम के लिए ही प्राणसाधना करनेवाला पुरुष इडा, पिंगला व सुषुम्णा आदि नाड़ियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। ये नाड़ियाँ 'नद्यः' कहलाती हैं, रुधिररूप जल के प्रवाहवाली नदियाँ तो ये हैं ही। इन पर प्रभुत्व को पा लेनेवाला इर्ष्या, द्वेष व क्रोध से ऊपर उठा हुआ 'विश्वामित्र' अगले सूक्त का ऋषि है। यह इन नाड़ियों के लिए कहता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

विपाट्+शुतुद्रि

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वेइव विषिते हासमाने ।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट् छुतुद्री पयसा जवेते ॥ १ ॥

(१) 'शुतुद्री' शब्द सुषुम्णा के लिए प्रयुक्त होता है। इसमें ध्यान करने से योगी शीघ्र (शु) ब्रह्मलोक को जाता है (द्रु) सो यह शुतुद्रि है (शुद्रुद्री=शुतुद्री)। इडा 'विपाश्' कहलाती है। इस नाड़ी में अभ्यास करने से योगी के अज्ञानपाश कट जाते हैं–यह अज्ञान का उत्पाटन कंर देती है। ये **विपाट् शुतुद्री**=इडा व सुषुम्णा **पयसा**=ज्ञानजल के साथ **प्रजवेते**=शीघ्र गतिवाली होती हैं। इनमें प्राणों के संयम से ज्ञान की वृद्धि होती है। (२) **पर्वतानाम्**=मेरुदण्ड ही शरीरस्थ मेरुपर्वत है। उन मेरुपर्वतों के **उपस्थात्**=गोद से यह आगे बढ़ती हैं। इनका स्थान इस मेरु पर्वत में है। **उशती**=(कामयमाने) ये साधक के हित–कामनावाली हैं। ये इस प्रकार शीघ्र गतिवाली होती हैं, **इव**=जैसे कि **विषिते अश्वे**=बन्धन से रहित दो घोड़ियाँ हों। **हासमाने**=(हासतिः स्पर्धाकर्मा) घोड़ियाँ भी वे, जो कि परस्पर स्पर्धा करती हुई वेग से आगे बढ़ती हैं। ये विपाट् व शुतुद्री **शुभ्रे गावा इव**=दो शुभ्र गौवों के समान हैं। अथवा **मातरा**=दो धेनु–माताओं के समान हैं, जो कि **रिहाणे**=वत्स को चाटने की कामनावाली आगे बढ़ती है। (३) यहाँ 'शुतुद्रि' का ध्यान करते हुए घोड़ियों की उपमा दी गई है, यह परमात्मप्राप्ति के मार्ग पर हमें शीघ्रता से ले चलती है। 'विपाट्' के लिये 'मातरा गावा' की उपमा दी गई है, यह ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करानेवाली है। ये दोनों ज्ञानजल को लिये हुए, वेग से उस परमात्मा की ओर हमें ले चलती हैं। नदियाँ समुद्र की ओर, ये नाड़ियाँ उस आनन्दमय प्रभु की ओर (स+मुद्)।

भावार्थ—इडा व सुषुम्णा में प्राणों का संयम करने से हम अपना ज्ञान बढ़ाते हुए प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इडा व सुषुम्णा का मेल

इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः।
समाराणे ऊर्मिभिः पिन्वमाने अन्या वामन्यामप्येति शुभ्रे॥ २॥

(१) **इन्द्रेषिते**=जितेन्द्रिय पुरुष से प्रेरित हुई-हुई, **प्रसवं भिक्षमाणे**=अन्तःस्थित प्रभु-प्रेरणा की याचना करती हुई इडा और सुषुम्णा **समुद्रम्**=उस आनन्दमय प्रभु की ओर **याथः**=गति करती हैं। इस प्रकार गति करती हैं, **इव**=जैसे कि **रथ्या**=दो उत्तम रथवाले रथी हों। (२) ये इडा और सुषुम्णा **समाराणे**=परस्पर संगत होकर गति करती हुईं, **ऊर्मिभिः पिन्वमाने**= (ऊर्मि=Light) ज्ञानप्रकाशों से संतृप्त करती हुई, **शुभ्रे**=अत्यन्त शुभ्र हैं। जीवन को ये उज्ज्वल बनानेवाली हैं। **वाम्**=इन दो नाड़ियों में से **अन्या**=एक (इडा), **अन्यां अपि**=दूसरी (सुषुम्णा) की ओर **एति**=आती है।

भावार्थ—एक साधक इडा में प्राणों का संयम प्रारम्भ करके सुषुम्णा की ओर बढ़ता है। अब प्रभु की प्रेरणा सुनाई पड़ने लगती है और साधक प्रभु की ओर गतिवाला होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मातृतमा (सुषुम्णा), सुभगा (इडा)

अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासं विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म।
वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनु संचरन्ती॥ ३॥

(१) मैं विश्वामित्र **मातृतमाम्**=मेरे जीवन के निर्माण में सर्वोत्तम स्थान रखनेवाली, **सिन्धुम्**=उस प्रभु की ओर निरन्तर ले चलनेवाली सुषुम्णा की **अच्छा**=ओर **अयासम्**=आता हूँ। इसमें प्राणों के संयम द्वारा इसके जागरण का प्रयत्न करता हूँ। (२) **उर्वीम्**=अन्धकार दूर करके ज्ञानप्रकाश को फैलानेवाली **सुभगाम्**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली **विपाशम्**=अज्ञान की उत्पाटिका इस इडा को भी **अगन्म**=प्राप्त होता हूँ। इसमें प्राणसंयम द्वारा मस्तिष्क-गगन में ज्ञानसूर्य के उदय का प्रयत्न करता हूँ। (३) **इव मातरा**=जैसे दो गौ माताएँ **वत्सं संरिहाणे**=बछड़े को चाटकर उसे चमका रही होती हैं, इसी प्रकार ये इडा व सुषुम्णा मेरे जीवन को उज्ज्वल बनाती हुई उस **समानं योनिम्**=प्राणिमात्र के समान निवास-स्थान प्रभु की ओर **अनुसञ्चरन्ती**=गति करती हुई हैं। इनमें प्राणों का संयम करनेवाला प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ता चलता है।

भावार्थ—सुषुम्णा की साधना मेरे जीवन का निर्माण करती है तो इडा की साधना मुझे ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—नद्यः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रिवेणी-स्नान

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति॥ ४॥

इडा, पिंगला, सुषुम्णा आदि नाड़ियों की ही पुरुषविधता को करके उनसे कहलाते हैं

(१) कि **वयम्**=हम **एना पयसा**=अपने इस ज्ञानजल से **पिन्वमानाः**=संतृप्त करती हुई **देवकृतं योनिम्**=प्रभु से निश्चित किये गये मार्ग पर **अनुचरन्तीः**=क्रमशः गति कर रही हैं। (२) हमारा

यह **सर्गतक्तः**=गमन में प्रवृत्त **प्रसवः**=उद्योग **वर्तवे न**=रोकने के लिए नहीं होता। एक साधक प्राणसाधना प्रारम्भ करता है, तो उसे इस प्राणसाधना में विच्छेद नहीं करना होता। 'दीर्घकाल-नैरन्तर्य-आदर सेवितो दृढभूमिः' इस योगसूत्र के अनुसार प्राणसाधना का निरन्तर चलना आवश्यक है। **किं-युः**=उस आनन्दमय-अनिरुक्त प्रजापति को प्राप्त करने की कामनावाला **विप्रः**=ज्ञानी पुरुष **वद्यः**=इन नाड़ियों को **जोहवीति**=पुकारता है। इनकी साधना से ही तो वह प्रभु को प्राप्त करेगा। इनमें प्राणों के निरोध से सब अशुभवृत्तियां दग्ध हो जाती हैं, जीवन उज्ज्वल बनता है और प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है।

भावार्थ—इडा, पिंगला व सुषुम्णा में प्राणों का निरोध ही त्रिवेणी में स्नान है। इससे जीवन के नैर्मल्य की सिद्धि होती है और साधक प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

कुशिक सूनु

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः ।

प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥ ५ ॥

(१) मैं **अवस्युः**=रक्षण की कामनावाला **कुशिकस्य सूनुः**=कुशिक का पुत्र-अत्यन्त उत्तम शब्दों का उच्चारण करनेवाला (क्रोशतेः शब्दकर्मणः नि० २।२।५) अथवा उत्तम ज्ञान के प्रकाशवाला (क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयति कर्मणः नि० २।२।५) अथवा (साधु विक्रोशयिता अर्थानाम् नि० २।२।५) अर्थों का उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाला **अह्वे**=मैं इन नाड़ियों को पुकारता हूँ कि **बृहती मनीषः**=दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई बुद्धि से **सिन्धुं अच्छा**=उस ज्ञानसमुद्र प्रभु की ओर **प्र (नयत)**=प्रकर्षेण मुझे ले चलो। इन नाड़ियों में प्राणनिरोध द्वारा मेरा अन्तःप्रकाश विकसित हो और मैं प्रभु का दर्शन करनेवाला बनूँ। (२) हे नाड़ियो! **मे**=मेरे **सोम्याय वचसे**=मेरे इस विनीततापूर्ण वचन के लिए **रमध्वम्**=तुम प्रीतिवाली होओ और **मुहूर्तम्**=कुछ देर के लिए **उप**=उस प्रभु की उपासना में स्थित हुई-हुई तुम **एवैः**=अपनी गतियों द्वारा मेरे लिए **ऋतावरीः**=उत्कृष्ट ज्ञान के जलवाली होओ। इन नाड़ियों में प्राणनिरोध होने पर ज्ञानाग्नि दीप्त होती ही है, यही विवेकख्याति की प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—इडा आदि नाड़ियों में प्राणनिरोध करता हुआ मैं अन्तःप्रकाश को प्राप्त करूँ। इसी उद्देश्य से मैं कुशिक सूनु बनूँ। (क) सदा उत्तम शब्दों का उच्चारण करनेवाला, (ख) उत्तम ज्ञान के प्रकाशवाला, (ग) अर्थों का उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाला।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नाड़ी-चक्र शुद्धि

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।

देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥ ६ ॥

(१) नाड़ियाँ मानो कहती हैं कि **वज्रबाहुः**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लेनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अस्मान्**=हमको **अरदत्**=विलेखित करता है-हमारे में मलों को जमने नहीं देता। यह **नदीनाम्**=हम नाड़ियों को **परिधिम्**=घेरकर वर्तमान **वृत्रम्**=वासनारूप ज्ञान-आवरण को **अपाहन्**=सुदूर विनष्ट करता है। वासना नाड़ियों के अन्दर विकृति को पैदा करने का कारण बनती है। इन्द्र इस वासना का विनाश करता है और नाड़ी संस्थान को विकृत नहीं होने देता।

(२) वस्तुतः सविता सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक **सुपाणिः**=उत्तम हाथोंवाला, अर्थात् प्रत्येक कार्य को बड़ी सुन्दरता से करनेवाला **देवः**=ज्ञान के प्रकाशवाला प्रभु **अनयत्**=सब नाड़ियों को ले चलता है, अर्थात् उस प्रभु की व्यवस्था में ही नाड़ियों का चक्र भी गति करता है। **तस्य**=उस प्रभु के **प्रसवे**=प्रेरण व आज्ञा में ही **वयम्**=हम **उर्वीः**=प्रभूत रुधिर जलवाली नाड़ियाँ **याम**=गति करती हैं। प्रभु ने इस नाड़ी-चक्र को बनाया है। प्रभु की अनुज्ञा में ही यह नाड़ी-चक्र चल रहा है। इसको शुद्ध रखना जितेन्द्रिय पुरुष का कर्त्तव्य है।

भावार्थ—वासना को विनष्ट करके हम नाड़ी-चक्र को शुद्ध रखें-इसमें मल का संचय न होने दें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**नद्यः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वृत्र विनाश व 'अयन'

प्रवाच्यं शश्वधा वीर्यं१ तदिन्द्रस्य कर्म यदहिं विवृश्चत्।
वि वज्रेण परिषदो जघानायन्नापोऽयनमिच्छमानाः॥ ७॥

(१) **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **तत् कर्म**=वह कार्य, **यत्**=जो कि **अहिं विवृश्चत्**=समन्तात् विनाश करनेवाली वासना को इसने छिन्न-भिन्न कर दिया, **शश्वधा**=सदा **प्रवाच्यम्**=प्रशंसनीय है-इस इन्द्र का **वीर्यम्**=यह पराक्रम वस्तुतः प्रशंसनीय है। (२) असुरों का सेनापति यह अहि (=वृत्र) है। इसके विनष्ट होने पर अन्य असुरों का पराजय कठिन नहीं होता। **वज्रेण**=क्रियाशीलता रूप वज्र द्वारा **परिषदः**=चारों ओर आसीन होनेवाले आसुरभावों को भी **विजघान**=इस इन्द्र ने विनष्ट कर दिया। (३) इन आसुरभावों के विनष्ट हो जाने पर **अयनम्**=(नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय) परमात्मप्राप्ति की **इच्छमानाः**=कामना करती हुई **आपः**=प्रजाएँ **आयन्**=सर्वभूतहित के दृष्टिकोण से गतिवाली हुईं। वासना को विनष्ट करके ये ब्रह्मप्राप्ति की कामनावाले लोक प्राजापत्य यज्ञ में अपनी आहुति दे डालते हैं। ये क्रियाशील होते हैं, परन्तु इनकी सब क्रियाएँ लोकहित के लिए होती हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष (क) वासना को विनष्ट करता है, (ख) परमात्म-प्राप्ति की कामनावाला होता है, (ग) लोकहित में सदा प्रवृत्त रहता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**नद्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु-भजन

एतद्वचो जरितर्मापि मृष्ठा आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि।
उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व मा नो नि कः पुरुषत्रा नमस्ते॥ ८॥

(१) हे **जरितः**=स्तोतः! **एतद् वचः**=प्रभु के लिए किये जानेवाले इन स्तुति-वचनों को **मा अपिमृष्ठाः**=तू मत भूल जाना। प्रभु स्तवन तुझे विस्मृत न हो जाए। **यत्**=जो **ते**=तेरे **उत्तरा युगानि**=आनेवाले जीवन के काल हों वे **आघोषान्**=प्रभु के नामों का घोषण करनेवाले हों। उत्तरोत्तर तेरी स्तवन की वृत्ति बढ़ती जाए। (२) हे **कारो**=स्तुति करनेवाले जीव! **उक्थेषु**=इन स्तोत्रों में **नः**=हमें **प्रति जुषस्व**=तू प्रतिदिन प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। **नः**=हमें **मा निकः**=निरादृत न करना। प्रभु को भूल जाना ही प्रभु का निरादर करना है। **पुरुषत्रा**=पुरुषों में **ते नमः**=तेरे लिए आदर का भाव हो। तुझे प्रभु-भक्त जान तुझे वे अपने हृदयों में उचित मान देनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु-भजन करनेवाले हों। उत्तरोत्तर हमारी प्रभु-भक्ति बढ़ती चले। प्रभु-भजन के कारण ही लोगों के हम समादरणीय हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नाड़ियों का वशीकरण

ओ षु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन।

नि षू नमध्वं भवता सुपारा अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः ॥ ९ ॥

(१) यहाँ इडा आदि नाड़ियों को 'स्व-सारः' कहा है। ये जीव को आत्मतत्त्व की ओर ले चलती हैं। इनमें प्राणनिरोध होने पर वह विवेकख्याति उत्पन्न होती है, जिसमें कि शरीर व आत्मा को हम विवित्यरूप में देख रहे होते हैं। हे **स्वसारः**=आत्मतत्त्व की ओर गतिवाली नाड़ियो! **कारवे**=मुझ स्तोता के लिए **सु**=अच्छी प्रकार **अशृणोत उ**=तुम सुननेवाली होओ-तुम मेरी बात को भली प्रकार सुनो। मैं **अनसा**=इस प्राणशक्ति-सम्पन्न **रथेन**=रथ के साथ **वः**=तुम्हें **दूरात् ययौ**=दूर से प्राप्त हुआ हूँ। संसार के विषयों का परित्याग करके मैं तुम्हारी साधना में प्रवृत्त हुआ हूँ। (२) तुम मेरे प्रति **सु**=अच्छी प्रकार **निनमध्वम्**=झुकनेवाली होओ, अर्थात् मेरे वश में होओ। मैं जिस भी नाड़ी में प्राणों का संयम करना चाहूँ, वहीं प्राणों का संयम कर पाऊँ। तुम मुझे **सुपाराः भवता**=विषय-समुद्र से अच्छी प्रकार पार ले जानेवाली होओ। हे **सिन्धवः**=रुधिर के प्रवाहवाली नाड़ियो! तुम **स्रोत्याभिः**=अपने प्रवाहों से **अधो अक्षाः**=इन्द्रियों को मेरे नीचे (अधीन) करनेवाली होओ। प्राणसाधना करता हुआ मैं तुम्हारे में प्राणनिरोध द्वारा इन्द्रियों को अपने वश में करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा मैं नाड़ियों पर पूर्ण प्रभुत्ववाला बनूँ। इनको वश में करके मैं इन्द्रियों को वश में करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

नाड़ियों की अनुकूलता

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।

नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥ १० ॥

(१) नाड़ियाँ साधक को उत्तर देती हैं—हे कारो! स्तुति-वचनों के कर्तः! **ते**=तेरे **वचांसि**=वचनों को **आशृणवाम**=सर्वथा सुनती हैं। तू **अनसा रथेन**=इस प्राणशक्ति-सम्पन्न शरीर-रथ द्वारा **दूरात् ययाथ**=विषय वासनाओं का परित्याग करके दूर से हमारे पास आया है। (२) **इव**=जैसे **पीप्याना**=बच्चे को दूध पिलाती हुई **योषा**=स्त्री दुग्धपायी बालक के लिए झुकती है, इसी प्रकार हम **ते**=तेरे लिए **नंसै**=झुकती हैं-अनुकूल होती हैं। **इव**=उसी प्रकार हम **ते**=तेरे लिए झुकती हैं, **इव**=जैसे कि **कन्या**=एक कन्या **मर्याय**=पिता व भाई आदि के लिए **शश्वचै**=आलिंगन के लिए झुकती है। वस्तुतः प्राणसाधना द्वारा इन नाड़ियों को जब ठीक प्रकार से रुधिर की गतिवाला हम करते हैं, तो इनकी अनुकूलता प्राप्त करते ही हैं। विषय-वासनाओं को छोड़कर इस साधना में लगना ही, सुदूर रथ से इनके समीप प्राप्त होना है। जब एक साधक इस साधना में प्रवृत्त होता है, तो नाड़ियाँ उसके अनुकूल होती हैं-मानो उसकी बात को सुनती हैं।

भावार्थ—हम विषयव्यावृत्त होकर प्राणसाधना द्वारा नाड़ियों में रुधिर की गति को ठीक करें। इस प्रकार नाड़ियों की अनुकूलता से हमें पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भरत

यदङ्ग त्वा भरताः सन्तरेयुर्गव्यन्ग्राम इषित इन्द्रजूतः।
अर्षादह प्रसवः सर्गतक्त आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम्॥ ११ ॥

(१) हे **अंग**=(अगि गतौ) गतिशील नाड़ीचक्र! **त्वा**=तुझे **भरताः**=अपना उचित भरण-पोषण करनेवाले व्यक्ति **संतरेयुः**=तैर जाएँ। नाड़ी-चक्र में उत्पन्न हो जानेवाले दोषों के वे दूर कर सकें। यह भरतों का **ग्रामः**=समूह **गव्यन्**=इन्द्रियों को अपनाने की कामनावाला है-इन्द्रियों का शक्तिवर्धन उसका उद्देश्य है। **इषितः**=यह इसी उद्देश्य से निरन्तर प्रेरित हो रहा है, शक्तिवर्धन के कार्यों में निरन्तर लगा हुआ है। **इन्द्रजूतः**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु से निरन्तर प्रेरित होकर ही यह कार्यों में व्यापृत होता है। (२) इन भरतों का **सर्गतक्तः**=यह गमन में प्रवृत्त **प्रसवः**=उद्योग **अह**=निश्चय से **अर्षात्**=गतिवाला बना रहे, अर्थात् ये अपने इस कार्य में कभी शिथिल न हो जाएँ। ये साधना में लगे ही रहें। मैं भी **वः**=आपके (इन नाड़ियों के) **यज्ञियानाम्**=(यज संगतिकरणे) इन संगतिकरण में उत्तम पुरुषों की **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **आवृणे**=सर्वथा वरता हूँ। जो पुरुष इस नाड़ी-चक्र की शुद्धि की साधना में प्रवृत्त हैं, उन पुरुषों की सुमति का मैं भी वरण करता हूँ, अर्थात् मैं भी उनकी ही तरह साधना में प्रवृत्त होता हूँ।

भावार्थ—हमारा प्राणसाधना द्वारा नाड़ी-चक्र शोधन का कार्य अविरतरूप से सदा चले। इस कार्य में प्रवृत्त होने पर हम युक्ताहार-विहार द्वारा अपना ठीक से भरण करनेवाले 'भरत' बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमति की प्राप्ति

अतारिषुर्भरता गव्यवः समभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्।
प्र पिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम्॥ १२ ॥

(१) **गव्यवः**=इन्द्रियरूप गौवों को चाहते हुए **भरताः**=युक्ताहार-विहार द्वारा अपना ठीक भरण करनेवाले पुरुष **अतारिषुः**=इस नाड़ी-चक्र के सब दोषों को दूर करनेवाले होते हैं। **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला विश्वामित्र **नदीनाम्**='इडा, पिंगला व सुषुम्णा' नामक नाड़ियों की शुद्धि से प्राप्त होनेवाली **सुमतिम्**=शुभ बुद्धि को **समभक्त**=सेवन करनेवाला होता है। (२) **इषयन्तीः**=प्रभुप्रेरणा प्राप्त करानेवाली होती हुई **प्र-पिन्वध्वम्**=हमारा प्रकर्षेण प्रीणन करनेवाली होओ। **सुराधाः**=उत्तम सफलता प्राप्त करानेवाली **वक्षणाः**=उन्नति की कारणभूत (वक्ष्=to grow) नाड़ियो! **आपृणध्वम्**=(सर्वतः पूरयत) सब उत्तमताओं को हमारे में भरनेवाली होओ और **शीभम्**=शीघ्रता से **यात**=गतिवाली होओ। इन नाड़ियों में रुधिर का प्रवाह ठीक से होता रहे और हमारे स्वास्थ्य में किसी प्रकार की कमी न रहे।

भावार्थ—हम नाड़ियों को निर्दोष बनाकर अपनी सब कमियों को दूर करनेवाले हों। इस साधना से हमें सुमति प्राप्त हो और हम सब प्रकार से अपना पूरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**नद्यः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥ स्वरः—**ऋषभः** ॥

उत्साह व निष्पापता

उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत। मादुष्कृतौ व्येनसाघ्न्यौ शूनमारताम्॥ १३ ॥

(१) हे नाड़ियो! **वः**=तुम्हारी **ऊर्मिः**=तरंग-उत्साह, **शम्याः आपः**=शान्त स्वभाववाली प्रजाओं को **हन्तु**=प्राप्त हो। नाड़ी-चक्र को वश में करने पर, शक्ति का संयम होकर, जीवन में उत्साह दिखता है। इस साधना को करनेवाले लोग शान्त तो होते ही हैं। इन शान्त कर्म में व्याप्त रहनेवाले लोगों का जीवन सदा उत्साहमय बना रहे। **योक्त्राणि**=संसार-विषयों के साथ आसक्तियों को **मुञ्चत**=छोड़ो। संसार के विषय हमें बाँधनेवाले न हों। (२) हे विषा व शुतुद्रि=इडा व सुषुम्णा नाड़ियो! आप **अदुष्कृतौ**=सब दुष्कृतों से हमारे जीवन को रहित करनेवाली हो। **वि एनसा**=सब पापों व दोषों से आप रहित हो। अतएव **अघ्न्यौ**=नष्ट न करनेवालों में उत्तम हो। आप **मा**=मुझे **शूनम्**=समृद्धि को **आरताम्**=प्राप्त कराओ। वस्तुतः प्राणसाधना की पूर्ति इन नाड़ियों के वशीकरण में ही है। उस समय हमारा जीवन दुष्कृतों व पापों से दूर होता है-हम वास्तविक समृद्धि को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—नाड़ीचक्र का वशीकरण होने पर हमारा जीवन निष्पाप बनता है-हम विषयों के बन्धन से मुक्त होकर वास्तविक समृद्धि को प्राप्त करते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त 'इडा-सुषुम्णा' आदि नाड़ियों को प्राणसाधना द्वारा वश में करने का निर्देश कर रहा है। यही मोक्ष का मार्ग है। इन्हीं शब्दों से अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'पूर्भित्' इन्द्र

इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उभे॥ १ ॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय धीर **पूर्भित्**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाला होता है। 'काम' ने इन्द्रियों में अपने दुर्ग को बनाया है, 'क्रोध' ने मन में तथा 'लोभ' ने बुद्धि में। इन्द्र इन तीनों दुर्गों का विदारण करके असुरों की पुरियों का ध्वंस कर डालता है। यह **दासम्**=(दसु उपक्षये) हमारा उपक्षय करनेवाली इस वासनावृत्ति को **अर्कैः**=प्रभु की उपासनाओं द्वारा **आतिरत्**=हिंसित करता है। जहाँ प्रभु, वहाँ इस वासना का स्थान नहीं रहता। यह काम का विध्वंस करके **विदद्वसुः**=सब निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करनेवाला बनता है। **शत्रून् विदयमानः**=काम आदि व रोग आदि सब शत्रुओं को यह हिंसित करता है। (२) शत्रुओं को हिंसित करके यह **ब्रह्मजूतः**=उस प्रभु से प्रेरित होता है। अन्धकार के विनाश से यह अन्तःप्रेरणा को सुन पाता है। इस प्रेरणा के अनुसार चलता हुआ यह **तन्वा**=अपने शरीर से **वावृधानः**=निरन्तर बढ़ता हुआ होता है। इसकी सब शक्तियों का ठीक प्रकार से विकास होता है। **भूरिदात्रः**=(दात्रं=लवन साधनं आयुधं) यह अत्यन्त ही शत्रु-संहारक अस्त्रोंवाला होता है। अथवा अत्यन्त (दात्रं=दानं) दान देनेवाला होता है। दान ही वस्तुतः बुराईयों को विध्वस्त करनेवाला आयुध है। (३) सब बुराइयों को दूर करके यह **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **आ अपृणत्**=सर्वतः तृप्त करता है। उनकी कमियों को दूर करके इनका पूरण करता है। शरीर को स्वस्थ, मस्तिष्क को दीप्त बनाता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर, वासनाओं का विध्वंस करते हुए, शरीर व मस्तिष्क को शक्ति व दीप्ति से युक्त करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जूति वाक्

मखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा॥ २॥

(१) **इन्द्र**=हे सर्वशक्तिमन् प्रभो! **मखस्य**=यज्ञरूप **तविषस्य**=शक्ति के पुञ्ज (महान्) **ते**=आपकी **जूतिम्**=मन से प्रेरित **वाचम्**=वाणी को–हृदयदेश में प्रेरणा के रूप में उच्चारण की गयी वाणी को **प्र इयर्मिः**=मैं प्रकर्षेण प्राप्त होता हूँ। इस प्रेरणा को सुनता हुआ मैं **अमृताय भूषन्**=अमृतत्त्व के लिए अपने को अलंकृत करता हूँ। वस्तुतः यह प्रेरणा मुझे भी यज्ञमय जीवनवाला (मखस्य) तथा शक्तिशाली (तविष) बनाती है। ये यज्ञ व शक्ति मुझे नीरोग व अमर बनाते हैं। (२) हे इन्द्र! आप **मानुषीणां क्षितीनाम्**=विचारशील उत्तम निवास व गतिवाले लोगों को (क्षि निवासगत्योः) **पूर्वयावा**=आगे चलनेवाले **असि**=हैं। आप उनके मार्गदर्शक हैं। **उत**=और **दैवीनां विशाम्**=दिव्यगुण सम्पन्न प्रजाओं के (पूर्वयावा असि) पथ प्रदर्शक हैं–आपके पथप्रदर्शन से गति करते हुए ही वस्तुतः ये देव बन पाए हैं।

भावार्थ—हम हृदयदेश में उच्चरित प्रभु की प्रेरणात्मक वाणी को सुनें। उसके अनुसार चलते हुए हम उत्तम मनुष्य व देव बन पाएँगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शर्धनीति-वर्पणीति

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः।
अहन्व्यंसमुशधग्वनेष्वाविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम् ॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-प्रेरणा सुनकर कार्य करनेवाला यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **शर्धनीतिः**=(नीतिः कर्म सा०) शक्तिशाली कर्मोंवाला होता हुआ **वृत्रं अवृणोत्**=ज्ञान के आवरणभूत वासनारूप शत्रु का निरोध करता है तथा **वर्पणीतिः**=शत्रुओं के निवारक कर्मोंवाला यह इन्द्र **मायिनाम्**=अत्यन्त मायावी काम आदि शत्रुओं को **प्र अमिनात्**=प्रकर्षेण हिंसित करता है। (२) यह **उशधक्**=शत्रु-वध की कामनावाला इन्द्र अपने शत्रुओं 'वृत्र' आदि को **व्यंसं अहन्**=(विगतांसं यथा स्यात्तथा) इस प्रकार विनष्ट करता है कि उनके कन्धे छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यह अपने शत्रुओं की शक्ति नष्ट कर देता है। शत्रुओं की शक्ति नष्ट करके यह **वनेषु**=एकान्त देशों में **राम्याणाम्**=रात्रियों की **धेनाः**=वाणियों को **आविः अकृणोत्**=अपने में प्रकट करता है। रात्रि का अभिप्राय यहाँ इतना ही है कि जिस समय संसार की वस्तुएँ आँखों को आकृष्ट करनेवाली न हों, उस समय अन्तर्मुखी वृत्ति के होने पर अन्तःस्थित प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है। जब तक बाहर के शब्द सुनते रहते हैं, तब तक अन्दर के शब्द सुनाई नहीं पड़ते।

भावार्थ—हम वासनाओं को विनष्ट करके, अन्तर्मुखी वृत्तिवाले होकर अन्तःस्थित प्रभु की वाणी सुनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रकाश-प्राप्ति

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ॥ ४॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **अहानि**=दिन के प्रकाशों को **जनयन्**=उत्पन्न करता हुआ **स्वर्षः**=सुख प्राप्त करानेवाला है। वह **अभिष्टिः**=शत्रुओं का अभिभावुक प्रभु **उशिग्भिः**=शत्रु-वध की कामनावाले इन उपासकों के साथ **पृतनाः**=शत्रु-सैन्यों को **जिगाय**=जीतता है। वस्तुतः विजय तो प्रभु ही करते हैं। जीव की यदि विजय की कामना हो, उसके लिये वह यत्न करे, तो प्रभु उसे विजय अवश्य प्राप्त कराते हैं। (२) **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **अह्नां केतुम्**=दिनों के प्रकाश को **प्रारोचयत्**=दीप्त करते हैं। इन विचारशील पुरुषों के अन्दर भी उसी प्रकार प्रकाश होता है, जैसा कि बाहिर। **बृहते रणाय**=इस काम-क्रोध-लोभ के साथ चलनेवाले महान् संग्राम के लिए **ज्योतिः**=प्रकाश को **अविन्दत्**=प्रभु प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—उपासक को प्रभु प्रकाश प्राप्त कराते हैं, जिससे कि वह कामादि शत्रुओं को पराभूत कर सके।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्र द्वारा चेतना प्रदान

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद्दधानो नर्या पुरूणि।
अचेतयद्धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम्॥ ५॥

(१) **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **तुजः**=हमारा हिंसन करनेवाली **बर्हणाः**=उद्बर्हण व विनाश करनेवाली शत्रु-सेनाओं में **आविवेश**=प्रवेश करता है। इन शत्रु-सेनाओं का संहार करके प्रभु हमारा कल्याण करते हैं। **नृवत्**=एक नेता की तरह **पुरूणि**=पालक व पूरक **नर्या**=नरहितकारी बलों व धनों को **दधान**=हमारे लिए धारण करते हैं। एक नायक सैनिकों के अन्दर उत्साह का संचार करता है, इसी प्रकार प्रभु अपने उपासकों में शक्ति का संचार करते हैं। (२) प्रभु **जरित्रे**=उपासक के लिए **इमाः धियः**=इन वेद में प्रतिपादित ज्ञानों को **अचेतयत्**=ज्ञात कराते हैं तथा **आसाम्**=इन बुद्धियों के **इमं शुक्रं वर्णम्**=इस उज्ज्वलरूप को **प्र अतिरत्**=प्रकर्षेण बढ़ाते हैं। प्रभु ज्ञान देते हैं और ज्ञान को अत्यन्त उज्ज्वल कर देते हैं। इस उज्ज्वल ज्ञान द्वारा इस उपासक की वासनाओं का विनाश हो जाता है और इसके कर्मों में पवित्रता का संचार होता है।

भावार्थ—प्रभु उपासक की शत्रुभूत वासनाओं को विनष्ट करते हैं और उसके ज्ञान को उज्ज्वल करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

प्रभुमहिमा का स्तवन

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः ॥ ६॥

(१) उपासक लोग **महः**=तेजस्विता के पुञ्ज **अस्य इन्द्रस्य**=इस सर्वशक्तिमान् प्रभु के **महानि**=अत्यन्त महान् **सुकृता**=उत्तमता से किये जानेवाले **पुरूणि**=पालक व पूरक **कर्म**=कर्मों को **पनयन्ति**=स्तुत करते हैं। प्रभु की एक-एक रचना अद्भुत है। सृष्टि के प्रारम्भ से प्रकाश देता हुआ सूर्य उसी प्रकार दीप्तिवाला है-यह प्रचण्ड सूर्याग्नि जरा भी क्षीण नहीं हो रही। पृथ्वी की उर्वरता उसी प्रकार कायम है। नदियाँ अनन्त काल से समुद्र को भरने में लगी हुई हैं। वस्तुतः एक-एक कण में प्रभु की महिमा का दर्शन होता ही है। (२) ये प्रभु **वृजनेन**=बल व शक्ति द्वारा **वृजिनान्**=सब पापों को **संपिपेष**=पीस डालते हैं। उपासक को प्रभु शक्ति प्राप्त कराते हैं। उस

शक्ति द्वारा उपासक पापवृत्तियों को कुचलने में समर्थ होता है। ये प्रभु **अभिभूत्योजाः**=शत्रुओं के अभिभावक बलवाले हैं, ये प्रभु **मायाभिः**=प्रज्ञानों द्वारा **दस्यून्**=दस्युओं को पीस डालते हैं। उपासक को प्रभु ज्ञान व शक्ति देते हैं। प्रभु के ज्ञान व शक्ति से ज्ञानी व शक्ति-सम्पन्न बनकर यह उपासक सब दस्युओं को समाप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के महान् कर्मों के स्मरण से महान् कर्मों के करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। उससे वह शक्ति मिलती है, जिससे कि हम काम आदि दास्यव-वृत्तियों को समाप्त कर पाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

युद्ध द्वारा

युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति ॥ ७ ॥

(१) **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक **चर्षणिप्राः**=श्रमशील व्यक्तियों का पूरण करनेवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **युधा**=युद्ध द्वारा और **मह्ना**=(मह पूजायाम्) पूजा द्वारा **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **वरिवः चकार**=वरणीय धन प्राप्त कराते हैं। देववृत्तिवालों पुरुषों की दो विशेषताएँ हैं—(क) वे प्रभु का उपासन करते हैं (मह्ना), (ख) वे काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के साथ संग्राम में प्रवृत्त होते हैं (युधा)। यह संग्राम ही वस्तुतः सात्त्विक संग्राम है। इस द्वारा हमारे में सत्त्वगुण का वर्धन होता है। इस संग्राम को करनेवाले व्यक्ति ही 'सत्' कहाते हैं। वे प्रभु से रक्षित होते हैं। प्रभु इनके लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराते ही हैं। (२) **अस्य**=इस प्रभु के **प्रानि**=उन कर्मों को—(क) सज्जनों के रक्षण, (ख) श्रमशील व्यक्तियों की न्यूनताओं को दूर करना तथा (ग) काम आदि से संग्राम में प्रवृत्त उपासकों के लिये वरणीय धनों को प्राप्त कराना आदि कर्मों को **विवस्वतः सदने**=सूर्य के गृह में, अर्थात् ज्ञान से दीप्त गृह में **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले **कवयः**=ज्ञानी लोग **उक्थेभिः**=स्तोत्रों द्वारा **गृणन्ति**=प्रशंसित करते हैं, अर्थात् ये विप्र अपने घरों को ज्ञान से दीप्त करते हैं। उन घरों में प्रभु के कर्मों की ही चर्चा करते हैं। इन कर्मों की चर्चा द्वारा प्रभु का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—उपासना द्वारा तथा काम-क्रोध आदि से युद्ध द्वारा प्रभु की पूजा होती है। प्रभु इन पुजारियों के योगक्षेम का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'सत्राषाट्' प्रभु

सत्रासाहं वरेण्यं सहोदां ससवांसं स्वरपश्च देवीः।
ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः ॥ ८ ॥

(१) **धीरणासः**=(धिया रणन्ति) बुद्धिपूर्वक प्रभु का स्तवन करनेवाले लोग **इन्द्रं अनुमदन्ति**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करते हैं। उपासना द्वारा जितना-जितना प्रभु के समीप होते जाते हैं, उतना-उतना आनन्द का अनुभव करते हैं। (२) उस प्रभु की अनुकूलता में, जो कि **सत्रासाहम्**=सदा शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं-काम-क्रोध आदि महान् शत्रुओं को ये प्रभु ही कुचलते हैं। **वरेण्यम्**=ये प्रभु वरणीय हैं व श्रेष्ठ हैं। **सहोदाम्**=उपासकों के लिए सहस् (बल) को देनेवाले हैं। **स्वः**=प्रकाश को **च**=और **देवीः अपः**=सब रोगों को जीतने की कामना करनेवाले (दिव्=विजिगीषा) रेतःकणों को **ससवांसम्**=(षण् संभक्तौ) सम्भक्त

करनेवाले (देनेवाले) हैं। (३) उस परमात्मा की अनुकूलता में ये हर्ष का अनुभव करते हैं **यः**=जो कि **पृथिवीं ससान**=अन्तरिक्षलोक को हमारे लिए देते हैं, **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को देते हैं तथा **इमाम्**=इस पृथिवी को हमारे लिए देते हैं। बाहर की त्रिलोकी को तो वे प्रभु देते ही हैं, शरीरस्थ त्रिलोकी को भी वे प्रभु प्राप्त कराते हैं। 'दृढ़ शरीर' ही पृथ्वीलोक है, निर्मल हृदय ही अन्तरिक्षलोक है तथा ज्ञानदीप्त मस्तिष्क ही द्युलोक है। इन सबके दाता प्रभु का स्तवन करते हुए स्तोता लोग आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी-भक्त प्रभु का स्तवन करते हुए आनन्दमग्न होते हैं। प्रभु इनके सब शत्रुओं का पराभव करते हैं और इन्हें सबल बनाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दस्युविनाश व आर्यरक्षण

स॒सानात्याँ॑ उ॒त सूर्यं॑ ससा॒नेन्द्रः॑ ससान पुरु॒भोज॑सं॒ गाम्।
हि॒र॒ण्यय॑मु॒त भोगं॑ ससान ह॒त्वी दस्यू॒न्प्रार्यं॒ वर्ण॑मावत्॥ ९॥

(१) वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवाले प्रभु **अत्यान्**=सततगामी अश्वों को **ससान**=हमारे लिए देते हैं। **उत**=और **सूर्यम्**=सब प्रकाश व प्राणशक्ति के देनेवाले सूर्य को **ससान**=देते हैं। ये इन्द्र **पुरुभोजसम्**=बहुतों का पालन करनेवाली अथवा दुग्धरूप पूर्ण भोजन को प्राप्त करानेवाली **गाम्**=गौ को **ससान**=वे हमारे लिए देते हैं। (२) **उत**=और **हिरण्ययं भोगम्**=स्वर्ण के धन को वे हमारे लिए **ससान**=देते हैं। तथा वे प्रभु **दस्यून्**=नाशक-वृत्तिवाले लोगों को **हत्वी**=नष्ट करके **आर्यम्**=अपने आचरण में स्थित (कर्तव्यामाचरन् कर्म, अकर्तव्यमानचरत् तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः) **वर्णम्**=(वर्णयति) प्रभु का स्तवन करनेवाले व्यक्ति को **प्र आवत्**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। (३) प्रभु ने घोड़ों द्वारा, व्यायाम से हमारी शक्ति-वृद्धि की व्यवस्था की है। गौ के पूर्ण भोजनरूप दुग्ध द्वारा हमारे ज्ञान की वृद्धि का प्रबन्ध किया है तथा सूर्य से हमें प्रकाश व प्राणशक्ति को प्राप्त कराया है। जीवनयात्रा के लिये आवश्यक धनों को तो वे प्रभु देते ही हैं। यहाँ धन (=भोग) के लिए 'हिरण्ययं' विशेषण धन के लिए स्वर्ण को ही मापक बनाने का संकेत कर रहा है। ये प्रभु ही हमारी अशुभवृत्तियों को विनष्ट करते हैं। हमें आर्य बनाकर हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु घोड़ों, गौवों व स्वर्ण धनों को हमारे लिए प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही प्राण संचार के लिए सूर्य का उदय करते हैं। हमारी दास्यव वृत्तियों को भी प्रभु ही विनष्ट करते हैं। हम आर्य बनते हैं और प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वल-विभेदन व ज्ञानवाक्-प्रेरण

इन्द्र॒ ओष॑धीरसनो॒दहा॑नि॒ वन॒स्पती॑ँरसनोद॒न्तरि॑क्षम्।
बि॒भेद॑ व॒लं नु॑नुदे विवा॒चोऽथा॑भवद्द॒मि॒ताभिक्र॑तूनाम्॥ १०॥

(१) **इन्द्रः**=वह शक्तिशाली प्रभु **ओषधीः**=ओषधियों को **असनोत्**=हमारे लिए देते हैं। इन ओषधियों का ठीक प्रयोग हमारे जीवनों को नीरोग बनाता है। वे प्रभु ही **अहानि**=कार्यों को पूर्णता तक ले जाने के लिए दिनों को हमारे लिए देते हैं। वे प्रभु ही **वनस्पतीन्**=शरीर की रक्षा के लिए वनस्पतियों को हमारे लिए **असनोत्**=देते हैं। शरीर-रक्षण के लिए इन्हीं का हमें प्रयोग

करना है-माँस-भोजनों का नहीं। वे प्रभु **अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को भी हमारे लिए प्राप्त कराते हैं। दिन के लिए प्रयुक्त 'अ-हन्' शब्द इस बात का संकेत करता है कि हमें इसका एक-एक क्षण उपयुक्त करना है-इसे नष्ट नहीं करना। 'अन्तरिक्ष' शब्द का संकेत यह है कि हमें हृदयान्तरिक्ष में किसी भी भाव की अति नहीं होने देनी। सब बातों में मध्य मार्ग को अपनाना है। (२) ऐसा होने पर वे प्रभु **वलम्**=(Veil) ज्ञान पर परदे के रूप में आ जानेवाले इस वासनारूप वलासुर को **बिभेद**=विदीर्ण करते हैं। **वि-वाचः**=ज्ञान की उत्कृष्ट वाणियों को **नुनुदे**=हमारे में प्रेरित करते हैं। वासना विनष्ट होने पर ज्ञान दीप्त होता ही है। **अथ**=अब वासना-विनाश होकर ज्ञानदीप्ति होने पर **अभिक्रतूनाम्**=(अभि आभिमुख्येन क्रतुः युद्धार्थं कर्म येषां, ते वलीयांसः शत्रवः सा०) यज्ञादि कर्मों में विघ्न करनेवाले प्रबल शत्रुओं के **दमिता**=दमन करनेवाले **अभवत्**=होते हैं। हमारे अन्दर यज्ञादि उत्तम कर्मों के विरोधी विचार उत्पन्न ही नहीं होते। अशुभ विचारों का दमन होता है और शुभ विचारों का उत्त्थान।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे लिए ओषधि, वनस्पतियाँ, दिन व अन्तरिक्ष को प्राप्त कराया है। प्रभु हमारे ज्ञान के आचरण को दूर करके हमारे में ज्ञानवाणियों को प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'शृण्वन्' प्रभु (सुननेवाले)

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ११ ॥

(१) मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का मूलभाव यही है कि हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे लिए अशुभ वृत्तियों का विनाश करेंगे और हमारा रक्षण करेंगे। अशुभ वृत्तियों के विनाश के लिए ही इन्द्रिय-निरोध आवश्यक है। इसी भाव से अगले सूक्त का प्रारम्भ है—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मवश्य इन्द्रियों से कार्यों में प्रवृत्त होना

तिष्ठा हरी रथ आ युज्यमाना याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छ ।
पिबास्यन्धो अभिसृष्टो अस्मे इन्द्र स्वाहा ररिमा ते मदाय ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **रथे**=इस शरीर-रथ में **आयुज्यमाना**=जोते जाते हुए **हरी**=इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **तिष्ठा**=अधिष्ठित कर। इन इन्द्रियाश्वों का तू अधिष्ठाता हो। **न**=जैसे **वायुः**=वायु देवता **नियुतः**=अपने नियुत् नामक घोड़ों पर अधिष्ठित होता है। वायुदेव अपने घोड़ों पर अधिष्ठित हुआ-हुआ निरन्तर चल रहा है। तू भी आत्मवश्य इन्द्रियों से सतत कार्य करनेवाला हो। इन पर अधिष्ठित होकर तू **नः**=हमारी **अच्छ**=ओर **आयाहि**=आ। (२) तू **अन्धः**=सोम का **पिबासि**=पान करता है-सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करता है। **अस्मे**=हमारे लिए **अभिसृष्टः**=अभिसृष्ट होता है-हमारी ओर आनेवाला होता है। इस सोम के रक्षण से उस सोम की प्राप्ति होती ही है। हे इन्द्र! **स्वाहा**=यह उत्तम वाणी कही गई है (सु आह) **ते मदाय ररिमा**=तेरे हर्ष के लिए हमने इस सोम को तेरे लिए दिया है। इसके रक्षण से शरीर, मन व बुद्धि का स्वास्थ्य प्राप्त होता है। इस स्वास्थ्य से मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—हम आत्मवश्य इन्द्रियों से सदा कर्म में प्रवृत्त रहें। सोम (वीर्य) का रक्षण करते हुए प्रभु की ओर गतिवाले हों। सुरक्षित सोम, स्वास्थ्य प्राप्ति द्वारा, आनन्द देनेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में जोतना

उपा॑जि॒रा पु॑रुहू॒ताय॒ सप्ती॒ हरी॒ रथ॑स्य धू॒र्ष्वा यु॑नज्मि ।
द्र॒वद्यथा॒ संभृ॑तं वि॒श्वत॑श्चि॒दुपे॒मं य॒ज्ञमा व॑हात॒ इन्द्र॑म् ॥ २ ॥

(१) मैं **पुरुहूताय**=बहुतों से पुकारे जानेवाले उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए **अजिरा**=गतिशील **हरी**=हमें मार्ग पर आगे ले चलनेवाले **सप्ती**=इन्द्रियाश्वों को **रथस्य धूर्षु**=शरीर रथ की धुराओं में **उपायुनज्मि**=जोतता हूँ। **यथा**=जिससे यह रथ **द्रवत्**=शीघ्रता से प्रभु की ओर गतिवाला होता है। वस्तुतः कर्मों में लगे रहना ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है, कर्मों द्वारा ही प्रभु की अर्चना होती है। (२) हमारे ये इन्द्रियाश्व **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **संभृतं चित्**=सम्यक् भरण किये गये **इमं यज्ञम्**=इस जीवनयज्ञ में **इन्द्रम्**=उस प्रभु को **उप**=समीपता से **आवहातः**=प्राप्त कराते हैं। जिस समय इस जीवनयज्ञ में आवश्यक सब सामग्रियों को उपस्थित किया जाता है, तो हम अवश्य प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं। 'इन्द्रियों की शक्ति, मन की पवित्रता, बुद्धि की तीव्रता' ये बातें ऐसी हैं, जो कि जीवनयज्ञ को पूर्ण बनाती हैं।

भावार्थ—क्रियाशीलता से प्रभु प्राप्त होते हैं। जीवनयज्ञ को हम पूर्ण बनाएँ, तो अवश्य प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विषयासक्ति से बचना मुख्य भोजन 'जौ'

उपो॑ नयस्व॒ वृष॑णा तपु॒ष्पोतेम॑व॒ त्वं वृ॑षभ स्वधावः ।
ग्रसे॑ता॒मश्वा॒ वि मु॑चे॒ह शोणा॑ दि॒वेदि॑वे स॒दृशी॑रद्धि धा॒नाः ॥ ३ ॥

(१) हे **वृषभ**=शक्तिशालिन्! **स्व-धावः**=आत्मधारण शक्तिवाले जीव! तू **वृषणा**=इन शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों को, जो कि **तपुष्पा**=संतापक शत्रुओं से हमारा रक्षण करनेवाले हैं, उन इन्द्रियाश्वों को **उ**=निश्चय से **उपनयस्व**=समीपता से प्राप्त करा। तू शक्तिशाली व शत्रु-संतापक इन्द्रियाश्वोंवाला बन। **उत**=और **ईम्**=निश्चय से **त्वम्**=तू **अव**=इन इन्द्रियाश्वों का रक्षण कर। (२) तेरे ये **अश्वा**=इन्द्रियाश्व **ग्रसेताम्**=अपने भोजनों को करनेवाले हों, परन्तु तू **इह**=इस जीवन में इन **शोणा**=तेजस्वी इन्द्रियाश्वों को **वि-मुचः**=विषयासक्ति से मुक्त कर। तू **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **सदृशीः धानाः अद्धि**=समानरूप से धानों का खानेवाला बन। धान ही तेरे मुख्य भोजन हों। इन से तेरी मनोवृत्ति सात्त्विक बने 'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों में आसक्त न होने दें। सात्त्विक भोजन को अपनाएँ। धान, अर्थात् भृष्टयव (भुने जौ) ही हमारा मुख्य भोजन हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सा काष्ठा, सा परागतिः

ब्रह्म॑णा ते ब्रह्म॒युजा॑ युनज्मि॒ हरी॒ सखा॑या सध॒माद॑ आ॒शू ।
स्थि॒रं रथं॑ सु॒खमि॑न्द्राधि॒तिष्ठ॑न्प्रजा॒नन्वि॒द्वाँ उप॑ याहि॒ सोम॑म् ॥ ४ ॥

(१) **ब्रह्मयुजा**=प्रभु से इस शरीर-रथ में जोते गये **ते**=तेरे **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **ब्रह्मणा युनज्मि**=मैं ज्ञान से युक्त करता हूँ। ये इन्द्रियाश्व **सखाया**=तेरे सखा व मित्र हैं-हित को सिद्ध करनेवाले हैं। **सधमादे**=संग्राम में **आशू**=शीघ्रता से गति करनेवाले हैं। इन्द्रियों को उत्तम बनाकर ही हम अध्यात्म-संग्राम में विजयी होते हैं। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **स्थिरम्**=दृढ़ **सुखम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले (सु+ख) **रथम्**=इस शरीररथ पर **अधितिष्ठन्**=आरूढ़ हुआ-हुआ **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ **विद्वान्**=समझदार बनकर **सोमं . उपयाहि**=उस सोम परमात्मा को प्राप्त होनेवाला हो। यह रथ वस्तुतः उसी यात्रा के लिए दिया गया है, जिसका कि अन्तिम लक्ष्य 'प्रभु' हैं 'सा काष्ठा, सा परागतिः'। उस प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि शरीर ठीक हो और उसमें जुते इन्द्रियाश्व ठीक हों।

भावार्थ—इन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति आदि उत्तम कर्मों में व्यापृत रखना चाहिए। इस शरीर-रथ से हमने जीवनयात्रा के अन्तिम लक्ष्य प्रभु को प्राप्त करना है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सकाम यज्ञों से ऊपर

मा ते हरी वृषणा वीतपृष्ठा नि रीरमन्यजमानासो अन्ये।
अत्यायाहि शश्वतो वयं तेऽरं सुतेभिः कृणवाम सोमैः ॥ ५ ॥

(१) **अन्ये**=प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर न चलकर-स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए **यजमानासः**=यज्ञ करनेवाले इतर लोग **ते**=तेरे **वृष्णा**=शक्तिशाली **वीत पृष्ठा**=कान्त पृष्ठभागवाले-तेजस्विता से चमकते हुए **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **मा निरीरमन्**=मत आनन्दित करनेवाले हों। तू अन्य सकाम यज्ञों में लगे हुए लोगों की तरह, स्वर्गादि की प्राप्ति को ही लक्ष्य न बना ले। (२) **अति आयाहि**=इनको तू लाँघकर आगे बढ़ आ। **वयम्**=हम **ते**=तेरे लिए **शश्वतः**=सदा से **सुतेभिः सोमैः**=उत्पन्न इन सोमों (वीर्यकणों) से **अरं कृणवाम**=शक्ति व सामर्थ्य को पैदा करते हैं। इन सोमों का रक्षण करता हुआ तू प्रभु को प्राप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—हम सकाम यज्ञों में न उलझकर, सोमरक्षण द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमनाः

तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमं सुमना अस्य पाहि।
अस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुमिन्द्र ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **अयं सोमः तव**=यह सोम (वीर्यशक्ति) तेरा है। इसके रक्षण के लिए **त्वम्**=तू **अर्वाङ् एहि**=अन्दर की ओर आनेवाला हो-अन्तर्मुखी वृत्तिवाला हो। **शश्वत्तमम्**=(शश प्लुतगतौ) अत्यन्त प्लुत गति से, अर्थात् सदा स्फूर्ति से कार्यों में लगे रहकर, **सुमनाः**=उत्तम मनवाला होता हुआ तू **अस्य पाहि**=इस सोम का रक्षण कर। सोमरक्षण के लिए आवश्यक है कि हम सदा कर्मों में लगे रहें और मन में वासनात्मक विचारों को न आने दें। (२) **इमं अस्मिन् यज्ञे**=इस यज्ञ में, **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आनिषद्य**=सब प्रकार से बैठकर **इन्दुम्**=इस सोम को **जठरे**=अपने उदर के अन्दर ही **दधिष्व**=धारण कर। 'सोम को शरीर में व्याप्त करना' ही सब उन्नतियों का मूल है। इस को शरीर में व्याप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम यज्ञात्मक कर्मों में व्यापृत रहें-हृदय में से वासनाओं को उखाड़ फेंकें।

भावार्थ—क्रिया में लगे रहकर व मन में वासनाओं को न आने देकर हम सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तदोकस्-पुरुशाक

स्तीर्णं ते बर्हिः सुत इन्द्र सोमः कृता धाना अत्तवे ते हरिभ्याम्।
तदोकसे पुरुशाकाय वृष्णे मरुत्वते तुभ्यं राता हवींषि॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपके लिए **बर्हिः**=यह वासनाशून्य हृदयरूप आसन **स्तीर्णम्**=बिछाया गया है। मैंने हृदय को वासनाशून्य करके निर्मल किया है। इसी हृदय में आपकी स्थिति होती है। आपकी प्राप्ति के लिए ही **सोमः सुतः**=सोम का (वीर्यशक्ति का) सम्पादन हुआ है। इस सोम के रक्षण से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। **ते**=आपके दिये हुए **हरिभ्याम्**=इन इन्द्रियाश्वों के **अत्तवे**=खाने के लिए **धानाः कृताः**=भुने हुए जौ किए गये हैं। इस सात्त्विक भोजन के परिणाम स्वरूप मेरी इन्द्रियाँ व मन सात्त्विक वृत्तिवाले बने हैं। (२) इस जीव से प्रभु कहते हैं कि **तदोकसे**=(तत्=That वह सर्वव्यापक प्रभु) प्रभु को अपना घर बनानेवाले, **पुरुशाकाय**=पालक व पूरक शक्तिवाले, **वृष्णे**=शक्तिशाली **मरुत्वते**=प्रशस्त प्राणोंवाले-प्राणसाधना में प्रवृत्त होनेवाले **तुभ्यम्**=तेरे लिए **हवींषि राता**=हवि दी गई हैं। दानपूर्वक अदन ही 'हवि' है 'हु दानादनयोः'। इस हवि का सेवन करनेवाला ही प्रभु का उपासक होता है। यही 'तदोकस्'=प्रभुरूप गृहवाला बनता है-प्रभु में निवास करता है। यही वासनाओं में न फँसने के कारण 'पुरुशाक'=अत्यन्त शक्तिशाली बनता है। यह अपनी शक्ति द्वारा सब पर सुखों की वर्षा करनेवाला 'वृषा' बनता है। ऐसा बनने के लिए ही यह प्राणसाधना में प्रवृत्त होकर 'मरुत्वान्' होता है।

भावार्थ—हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ, सोम (वीर्य) का रक्षण करें और जौ आदि सात्त्विक भोजनों को ही करें। सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले-यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान-माधुर्य

इमं नरः पर्वतास्तुभ्यमापः समिन्द्र गोभिर्मधुमन्तमक्रन्।
तस्यागत्या सुमना ऋष्व पाहि प्रजानन्विद्वान्पथ्या३ अनु स्वाः॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **पर्वताः**=अपना पूरण करनेवाले-न्यूनताओं को दूर करनेवाले **आपः**=व्यापक, उदार, कर्मों में प्रवृत्त (आप् व्याप्तौ) **नरः**=लोग **इमम्**=इस अपने जीवन को, **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए, **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाला **तं अक्रन्**=सम्यक्तया करते हैं। वस्तुतः प्रभुप्राप्ति के लिए इस जीवन को परिष्कृत बनाना अत्यन्त आवश्यक है। इसका परिष्कार ज्ञान-माधुर्य से होता है। 'मनुष्य ज्ञानी बने, मधुर व्यवहारवाला हो' तभी वह लोकप्रिय भी होता है और प्रभु प्रिय भी। (२) हे **ऋष्व**=महान् व दर्शनीय प्रभो! आप **आगत्य**=आकर **सुमनाः**=हमारे लिए उत्तम मन को देनेवाले होते हुए (शोभनं मनो यस्मात्) **तस्य पाहि**=उस जीवन का रक्षण करिए। इस रक्षण के लिए ही आप **विद्वान्**=हमारे सब कर्मों को जानते हुए **स्वा पथ्याः**=आत्मप्राप्ति के लिए हितकर मार्गों को **अनु**=लक्ष्य करके **प्रजानन्**=हमें प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करानेवाले होइये। हम आत्मज्ञान को प्राप्त करते हुए प्रकृति में फँसने से बचनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन ज्ञान व माधुर्यवाला हो। हम आत्मज्ञान की प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना व सात्त्विक भोजन

याँ आभ॑जो म॒रुत॑ इन्द्र॒ सोमे॒ ये त्वामव॑र्धन्नभ॑वन्ग॒णस्ते॑।
तेभि॑रे॒तं स॒जोषा॑ वावशा॒नो॑३ऽग्नेः पि॑ब जि॒ह्वया॒ सोम॑मिन्द्र॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यान् मरुतः**=जिन प्राणों को तूने **सोमे**=सोमरक्षण के निमित्त **आभजः**=सेवन किया है। प्राणसाधना द्वारा ही तो मनुष्य ऊर्ध्वरेता बनता है। प्राणसाधना ही मनुष्य के लिए सोमरक्षण का साधन बनती है। इस प्रकार सोमरक्षण द्वारा **ये**=जो प्राण **त्वां अवर्धन्**=तेरा वर्धन करते हैं। वस्तुतः **ते**=वे मरुत् (प्राण) **गणः अभवन्**=तेरे गण व सहायक बनते हैं। (२) **तेभिः**=उन मरुतों के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाला होता हुआ तू **वावशानः**=प्रबल इच्छावाला होकर, **अग्नेः जिह्वया**=अग्नि की जिह्वा से **एतं सोमम्**=इस सोम को **पिब**=पीनेवाला हो। सोम-रक्षण के दो मुख्य साधन 'प्राणसाधना व सात्त्विक भोजन' ही हैं। प्राणसाधना का संकेत 'तेभिः सजोषाः' इन शब्दों से हो रहा है और सात्त्विक भोजन का संकेत 'अग्नेः जिह्वया' इन शब्दों से किया गया है। अग्नि में अपवित्र पदार्थों को नहीं डाला जाता। मन्त्र का पूर्वार्ध भी प्राणसाधना का प्रबलरूप में प्रतिपादन कर रहा है, उसके बिना किसी प्रकार की उन्नति का सम्भव नहीं।

भावार्थ—प्राणसाधना व सात्त्विक भोजन द्वारा हम सोम का (वीर्य का) रक्षण करनेवाले बनें। यही उन्नति का मार्ग है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमपान (वीर्यरक्षण) के साधन

इन्द्र॒ पिब॑ स्व॒धया॑ चित्सु॒तस्या॒ग्नेर्वा॑ पाहि जि॒ह्वया॑ यजत्र।
अ॒ध्व॒र्योर्वा॒ प्रय॑तं शक्र॒ हस्ता॒द्धोतु॑र्वा य॒ज्ञं ह॒विषो॑ जुषस्व॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सुतस्य**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम का **स्वधया**=आत्मधारण (स्व-धा) द्वारा **चित्**=निश्चय से **पिब**=पान कर। सोमरक्षण का प्रथम साधन यह है कि हम हृदय में आत्मतत्त्व का चिन्तन करें। यह आत्मतत्त्व का चिन्तन हमें वासनात्मक संसार से दूर करता है और इस प्रकार हमारे सोम का विनाश नहीं होता। (२) हे **यजत्र**=यज्ञों द्वारा अपना त्राण करनेवाले पुरुष! तू **अग्नेः जिह्वया**=अग्नि की जिह्वा से **वा**=निश्चयपूर्वक **पाहि**=इस सोम का रक्षण कर। 'अग्नि की जिह्वा से' का भाव यह है कि जैसे अग्निहोत्र में सात्त्विक पदार्थों का ही प्रयोग होता है, उसी प्रकार तू सात्त्विक पदार्थों का सेवन करता हुआ सोम का रक्षण करनेवाला बन। (३) **वा**=अथवा हे **शक्र**=शक्ति का सम्पादन करनेवाले जीव! **अध्वर्योः हस्तात्**=अध्वर्यु के हाथ से-हिंसारहित कर्मों को करनेवाले के हाथ से **प्रयतम्**=पवित्र कर्मों को **जुषस्व**=तू सेवन करनेवाला हो। इन पवित्र कर्मों के परिणामस्वरूप तू सोम का रक्षण करनेवाला बनेगा। (३) **वा**=अथवा **होतुः यज्ञम्**=होता के यज्ञ का **जुषस्व**=सेवन कर और यज्ञ का सेवन करते हुए **हविषः जुषस्व**=सदा हवि का सेवन करनेवाला हो। यज्ञशेष का सेवन ही हवि का सेवन है। तू यज्ञशेष को खानेवाला बन। यह यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति कभी भी मनुष्य को विलासी नहीं बनने देती। विलास से बचा हुआ मनुष्य ही सोम का रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के साधन ये हैं कि—(क) आत्मतत्त्व का चिन्तन, (ख) सात्त्विक भोजन, (ग) पवित्र कर्मों का सेवन और (घ) यज्ञशेष, अर्थात् हवि का ग्रहण।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुस्मरण व विजय

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ ११ ॥

मन्त्र की व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का मुख्य विषय यही है कि इन्द्रियों को वश में करके सोमरक्षण के लिए यत्नशील होना है। इसी उद्देश्य से 'प्राणसाधना, सात्त्विक भोजन व यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति' को अपनाना है। अगले सूक्त में कहते हैं कि इस सोमरक्षण को करनेवाला पुरुष ही महान् कर्मों द्वारा प्रसिद्धि को पाता है—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

महान् कर्म व कीर्ति लाभ

इमामू षु प्रभृतिं सातये धाः शश्वच्छश्वदूतिभिर्यादमानः।
सुतेसुते वावृधे वर्धनेभिर्यः कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतो भूत्॥ १ ॥

(१) प्रकृष्ट भरण का कारण होने से प्रस्तुत मन्त्र में सोम को 'प्रभृति' कहा गया है। 'अवन्ति रक्षन्ति' इस व्युत्पत्ति से मरुतों (प्राणों) को 'ऊति' कहा गया है। **शश्वत् शश्वत्**=सदा और सदा ही, अर्थात् अवश्य बिना विच्छेद के सदा **ऊतिभिः**=प्राणों के साथ **यादमानः**=(संगतिं याचमानः) संगति को चाहता हुआ, अर्थात् प्राणसाधना करता हुआ तू उ=निश्चय से **इमां प्रभृतिम्**=इस सोम को **सातये**=उत्कृष्ट पद की प्राप्ति के लिए **सुधाः**=अच्छी प्रकार धारण कर। प्राणसाधना द्वारा सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है। सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम उत्कृष्ट पद की प्राप्ति का साधन बनता है। (२) यह इन्द्र **सुते सुते**=जितना-जितना सोम का सम्पादन करता है, उतना-उतना **वर्धनेभिः वावृधे**=शक्तियों के वर्धन से वृद्धि को प्राप्त करता है और हे इन्द्र! तू वह बनता है **यः**=जो कि **महद्भिः कर्मभिः**=महान् कर्मों से **सुश्रुतः भूत**=प्रसिद्ध होता है। सोमरक्षणवाला पुरुष ही महान् कर्मों को कर पाता है और इन महान् कर्मों से कीर्ति प्राप्त करता है।

भावार्थ—सोमरक्षणवाला पुरुष ही महान् कर्मों द्वारा उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त करता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋभु, वृषपर्वा व विहायाः

इन्द्राय सोमाः प्रदिवो विदाना ऋभुर्येभिर्वृषपर्वा विहायाः।
प्रयम्यमानान्प्रति षू गृभायेन्द्र पिब वृषधूतस्य वृष्णः॥ २ ॥

(१) **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **प्रदिवः**=प्रकृष्ट प्रकाशवाले **सोमाः**=सोमकण **विदानाः**=प्राप्त कराए जाते हैं (विद् लाभे)। वे सोमकण प्राप्त कराए जाते हैं, **येभिः**=जिनसे कि वह **ऋभुः**=दीप्त बनता है, **वृषपर्वा**=अंग-प्रत्यंग में-पर्व पर्व में शक्तिशाली बनता है और

विहायाः=महान् होता है। मस्तिष्क में 'ऋभु', शरीर में 'वृषपर्वा' तथा हृदय में 'विहायाः' बनानेवाले ये सोमकण ही होते हैं। (२) इसलिए **प्रयम्यमानान्**=शरीर में ही जिनका संयम किया जा रहा है, उन सोमकणों को **प्रति षू गृभाय**=प्रतिदिन सम्यक् ग्रहण करनेवाला तू हो। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **वृष्णः**=इस शक्तिशाली **वृषधूतस्य**=शक्ति द्वारा रोगकृमिरूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाले (वृषः च असौ धूतः) इस सोम का **पिब**=पान कर।

भावार्थ—सोम के रक्षण से ही मनुष्य दीप्त मस्तिक, विशाल हृदय व सशक्त शरीरवाला दृढांग बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमो रक्षति रक्षितः

पिबा वर्धस्व तव घा सुतास इन्द्र सोमासः प्रथमा उतेमे।
यथापिबः पूर्व्याँ इन्द्र सोमाँ एवा पाहि पन्यो अद्या नवीयान्॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए ये **सोमासः**=सोमकण **घा**=निश्चय से **तव**=तेरे हैं। तू **पिबा**=इनका पान कर और **वर्धस्व**=वृद्धि को प्राप्त हो। **उत**=और **इमे**=ये सोमकण **प्रथमाः**=(प्रथ विस्तारे) तेरी शक्तियों का विस्तार करनेवाले हैं। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यथा**=जिस प्रकार तू **पूर्व्यान्**=इन पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम **सोमान्**=सोमकणों को **अपिबः**=पीता है-अपने अन्दर व्याप्त करता है, **एवा**=इस प्रकार **पन्यः**=स्तुति में उत्तम **नवीयान्**=(नव गतौ) उत्कृष्ट गतिवाला तू **अद्या**=आज **पाहि**=अपना रक्षण करनेवाला हो। सोमरक्षण द्वारा वस्तुतः हम अपना रक्षण करते हैं। सोमरक्षण के लिए आवश्यक है कि हम प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें (पन्य) और सतत क्रियाशील हों (नवीयान्)। अकर्मण्य पुरुष ही वासनाओं का शिकार होता है और सोम का अपव्यय कर बैठता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण द्वारा हम अपना रक्षण करते हैं। रक्षित सोम हमारी शक्तियों का विस्तार करते हैं। इनके रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम प्रभु का स्तवन करनेवाले हों और सदा कर्मों में अपने को व्यापृत रखें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सोमरक्षण-महिमा

महाँ अमत्रो वृजने विरप्श्यु१ग्रं शवः पत्यते धृष्ण्वोजः।
नाह विव्याच पृथिवी चनैनं यत्सोमासो हर्यश्वममन्दन्॥ ४॥

(१) **यत्**=जब **सोमासः**=शरीर में सुरक्षित सोम (वीर्य) कण **हर्यश्वम्**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले इस इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष) को **अमन्दन्**=आनन्दित करते हैं, तो यह **महान्**=बड़ा बनता है-महान् कर्मों को करनेवाला होता है। **वृजने अमत्रः**=(वृजनम्=battle, fight) संग्राम में शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला होता है-उनका पराभव करता है। शरीर में रोगकृमियों को विनष्ट करता है, मन में वासनाओं को। **विरप्शी**=यह प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला बनता है और इस प्रकार **उग्रं शवः**=प्रबल शक्ति का **पत्यते**=स्वामी होता है, इस शक्ति द्वारा यह बाह्य शत्रुओं को जीतनेवाला होता है। **धृष्णु ओजः**=शत्रुओं के धर्षक ओज का यह (पत्यते=) स्वामी बनता है। इस ओज से यह काम-क्रोध-लोभ आदि वासनाओं को विनष्ट करता है। (२) **एनम्**=इस 'उग्र शवस्' व 'धृष्णु ओजस्' वाले पुरुष को **अह**=निश्चय से **पृथिवी चन**=सम्पूर्ण पृथिवी भी

न विव्याच=व्याप्त करने में समर्थ नहीं होती। सारी पृथिवी भी इसका पराभव नहीं कर सकती। सारा संसार एक ओर हो, तो भी यह सोमरक्षक उससे घबराकर रणांगण से भाग खड़ा नहीं होता।

भावार्थ—सोमरक्षण से वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि यह सोमरक्षक सारे संसार का भी सामना कर सकता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सोमरक्षक का उत्तम जीवन

म॒हाँ उ॒ग्रो वा॑वृधे वी॒र्या॑य स॒माच॑क्रे वृष॒भः काव्ये॑न ।

इन्द्रो॒ भगो॑ वाज॒दा अ॑स्य॒ गाव॒: प्र जा॑यन्ते॒ दक्षि॑णा अस्य पू॒र्वीः ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षण करनेवाला यह व्यक्ति **महान्**=बड़ा बनता है-उन्नत होता है, **उग्रः**=तेजस्वी होता है-शत्रुओं के लिये भयङ्कर होता है। **वीर्याय वावृधे**=यह शक्ति के लिए निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करता है-दिन व दिन इसकी शक्ति बढ़ती जाती है। यह **वृषभः**=शक्तिशाली बनकर **काव्येन**=प्रभु के अजरामर काव्य वेद के अनुसार **समाचक्रे**=कार्यों को करता है-इसका जीवन वेदानुकूल होता है। (२) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही इसका **भगः**=ऐश्वर्य होता है-यह भगवान् को ही अपना भग समझता है। **गावः**=गोदुग्ध **अस्य वाजदाः**=इसके लिए शक्ति को देनेवाले होते हैं। गौवें ही दुग्ध द्वारा इसकी शक्ति का कारण बनती हैं, अर्थात् यह सदा गोदुग्ध का ही सेवन करता है और **अस्य**=इसकी **दक्षिणा**=दक्षिणाएँ **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाली **प्रजायन्ते**=होती हैं।

भावार्थ—सोमरक्षक पुरुष 'महान्, तेजस्वी व शक्तिशाली बनकर वेदानुकूल जीवन बिताता है' गोदुग्ध का सेवन करता है तथा दान की प्रवृत्तिवाला होता है। प्रभु को ही यह अपना ऐश्वर्य समझता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नदियाँ जैसे समुद्र की ओर

प्र यत्सिन्ध॑वः प्रस॒वं यथाय॒न्नाप॑: समु॒द्रं र॒थ्ये॑व जग्मुः ।

अत॒श्चिदिन्द्र॒: सद॑सो॒ वरी॑या॒न्यदीं॒ सोम॑: पृणति॒ दु॒ग्धो अं॒शुः ॥ ६ ॥

(१) **यत्**=जो **सिन्धवः**=नदियाँ **यथा**=जैसे **प्रसवम्**=अपने उत्पत्ति-स्थान समुद्र की ओर **प्र आयन्**=प्रकर्षेण गतिवाली होती हैं, उसी प्रकार **आपः**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः, नारा वै नरसूनवः) प्रजाएँ **समुद्रम्**=उस आनन्दस्वरूप (स+मुद्) परमात्मा की ओर **जग्मुः**=जाती हैं। **रथ्या इव**=रथियों की तरह ये प्रजाएँ परमात्मा की ओर गतिवाली होती हैं। जैसे रथी रथारूढ़ होकर इष्ट-स्थान पर पहुंच जाते हैं इसी प्रकार प्रजाएँ इस शरीर रथ पर आरूढ़ होकर परमात्मा को प्राप्त करनेवाली होती हैं। नदियाँ समुद्र को प्राप्त करके समुद्र में मिल जाती हैं, प्रजाएँ प्रभु को प्राप्त करके प्रभु जैसी हो जाती हैं। (२) **अतः**=इसलिए ही कि ये परमात्मा से मिल जाता है, यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **सदसः**=सारी ब्रह्माण्डरूप सभा से **वरीयान्**=श्रेष्ठ होता है। प्रभु के सम्पर्कवाला जीव प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होने के कारण अति-मानव तो प्रतीत होता ही है। यह सब कुछ होता तब है, **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **दुग्धः**=गौ से दोहे गये दूध के समान **अंशु**=प्रकाश की किरणों को प्राप्त करानेवाला यह **सोमः**=सोम (=वीर्य) **पृणति**=इस व्यक्ति को प्रीणित करता है।

भावार्थ—शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर मनुष्य की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। यह मनुष्य परमात्मा की ओर झुकाववाला होता है और प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न व अतिमानव प्रतीत होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भरित्रैः-धारया-पवित्रैः

समुद्रेण सिन्धवो यादमाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तः।
अंशुं दुहन्ति हस्तिनो भरित्रैर्मध्वः पुनन्ति धारया पवित्रैः॥ ७॥

(१) **समुद्रेण**=(स+मुद्) उस आनन्दमय प्रभु के साथ **सिन्धवः**=(स्यन्दन्ते) निरन्तर कर्मप्रवाह में चलनेवाली प्रजाएँ **यादमानाः**=(संगतिं याचमानाः सा०) मेल को चाहती हुईं तथा **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सुषुतं सोमम्**=उत्तम प्रकार से उत्पन्न हुए-हुए सोम को **भरन्तः**=अपने अन्दर धारण करती हुईं **अंशुम्**=प्रकाश की किरणों को **दुहन्ति**=अपने में भरती हैं। सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ज्ञानाग्नि दीप्त होकर प्रभु का दर्शन होता है। (२) **हस्तिनः**=उत्तम हाथोंवाले, अर्थात् हाथों से सदा कर्मों में व्यापृत **शोभनम् भरित्रैः**=अंग-प्रत्यंग में शक्ति के उचित भरण के हेतु से, **धारया**=प्राणशक्ति के धारण के हेतु से **जायते पवित्रैः**=भावनाओं को पवित्र करने के हेतु से **मध्वः पुनन्ति**=सोम को अपने में पवित्र करते हैं। सोम को पवित्र करने का भाव यह है कि सौम्य भोजनों के सेचन से ये इन सोमकणों में उबाल नहीं आने देते। रक्षित हुए-हुए ये सोमकण अंग-प्रत्यंग में शक्ति का भरण करते हैं (भरित्रैः), शरीर में प्राणशक्ति का संचार करके उसका धारण करते हैं (धारया), मन को पवित्र करते हैं (पवित्रैः)।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति का मार्ग यही है कि शरीर में सोम का रक्षण किया जाए। रक्षित सोम ज्ञान-किरणों को दीप्त करता है। ज्ञानदीप्ति से हृदय पवित्र बनते हैं और हम प्रभु का प्रकाश प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोमरक्षण से दीर्घजीवन

हृदाइव कुक्षयः सोमधानाः समीं विव्याच सवना पुरूणि।
अन्ना यदिन्द्रः प्रथमा व्याश वृत्रं जघन्वाँ अवृणीत सोमम्॥ ८॥

(१) **हृदाः इव**=जैसे जलाशय जल के आधार बनते हैं, उसी प्रकार **कुक्षयः**=इस इन्द्र की कुक्षियाँ **सोमधानाः**=सोम का आधार बनती हैं। अपनी कुक्षियों को सोम का आधार बनाकर **ईम्**=निश्चय से **पुरूणि सवना**=जीवन के विशाल तीनों सवनों को **संविव्याच**=सम्यक् व्याप्त करनेवाला होता है, अर्थात् सोम के रक्षण से जीवन के प्रथम २४ वर्षों के प्रातःसवन को, अगले ४४ वर्षों के माध्यन्दिन-सवन को, अन्तिम ४८ वर्षों के सायन्तन-सवन को यह व्याप्त करता है और इस प्रकार ११६ वर्ष तक आयुष्य को स्थिर रखता है। (२) **यत्**=जब **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **प्रथमा अन्ना**=सात्त्विक कोटि के अन्नों का **व्याश**=भक्षण करता है, तो **वृत्रं जघन्वान्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करता है और **सोमं आवृणीत**=सोम का वरण करता है। सोमरक्षण के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन आवश्यक है।

भावार्थ—सोमरक्षण से दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। सात्त्विक अन्न के सेवन से सोमरक्षण होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

महत्वपूर्ण धन की प्राप्ति

आ तू भ॑र॒ माकि॑रे॒तत्परि॑ ष्ठाद्वि॒द्मा हि त्वा॒ वसु॑पतिं॒ वसू॑नाम्।
इन्द्र॒ यत्ते॒ माहि॑नं॒ दत्र॒मस्त्य॒स्मभ्यं॒ तद्ध॑र्यश्व॒ प्र य॑न्धि ॥ ९ ॥

(१) हे परमात्मन्! **आभर तु**=निश्चय से हमारे में धन का भरण करिए। **एतत्**=यह आप से दिया जानेवाला धन **माकिः परिष्ठात्**=हमारे इधर-उधर मत स्थित हो, अर्थात् हमें यह आपसे दिये जानेवाला धन अवश्य प्राप्त हो। **त्वा**=आपको हम **हि**=निश्चय से **वसूनां वसुपतिं विद्म**=धनों का उत्तम स्वामी जानते हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **माहिनं दत्रम्**=महत्त्वपूर्ण दातव्य धन **अस्ति**=है, हे **हर्यश्व**=अत्यन्त कान्त व गतिशील इन्द्रियाश्वों को देनेवाले प्रभो! (हरयः अश्वाः यस्मात्) आप, **तत्**=उस धन को **अस्मभ्यं प्रयन्धि**=हमारे लिए दीजिये।

भावार्थ—हम प्रभु से दिये जानेवाले धनों के पात्र हों। प्रभु हमारे लिए महत्त्वपूर्ण धनों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—घोर आङ्गिरसः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम धन, दीर्घजीवन व वीर सन्तान

अ॒स्मे प्र य॑न्धि मघवन्नृजीषि॒न्निन्द्र॑ रा॒यो वि॒श्ववा॑रस्य॒ भूरेः॑।
अ॒स्मे श॒तं श॒रदो॑ जी॒वसे॑ धा अ॒स्मे वी॒राञ्छश्व॑त इन्द्र शिप्रिन् ॥ १० ॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **ऋजीषिन्**=ऋजुमार्ग की प्रेरणा देनेवाले (ऋजु+इष) **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **विश्ववारस्य**=सब से वरणीय **भूरेः**=हमारा पालन-पोषण करनेवाले **रायः**=धन को **प्रयन्धि**=दीजिये। हमें प्रभु कृपा से वह धन प्राप्त हो, जो कि सदा उत्तम मार्ग से कमाया जाता है-जो पापी लक्ष्मी नहीं है। उतना धन प्राप्त हो, जो कि हमारा पालन व पोषण करने के लिए पर्याप्त हो। (२) **अस्मे**=हमारे लिए **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करने के लिए **शतं शरदः धाः**=सौ वर्षों को धारण करिए। हम प्रभु कृपा से शतायु बनें। (३) हे **शिप्रिन्**=शोभन शिरस्त्राणवाले **इन्द्र**=शक्तिमान् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **शश्वतः**=प्लुतगतिवाले (चुस्त) **वीरान्**=वीर सन्तानों को **धाः**=धारण करिए। हमारे सन्तान प्लुत-गतिवाले व वीर हों। वे भी आपकी कृपा से शोभन-शिरस्त्राण (ज्ञान) वाले हों और शक्तिमान् हों।

भावार्थ—हमें प्रभु उत्तम धन, दीर्घजीवन व वीर सन्तान प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शु॒नं हु॑वेम म॒घवा॑न॒मिन्द्र॑म॒स्मिन्भरे॒ नृत॑मं॒ वाज॑सातौ ।
शृ॒ण्वन्त॑मु॒ग्रमू॒तये॑ स॒मत्सु॒ घ्नन्तं॑ वृ॒त्राणि॑ सं॒जितं॒ धना॑नाम् ॥ ११ ॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त सोमरक्षण द्वारा प्राप्त होनेवाले प्रशस्त जीवन का ही चित्रण कर रहा है। अगले सूक्त में भी वासना-विनाश के लिए ही प्रार्थना है—

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अन्तः व बाह्य शत्रुओं का अभिभव

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च। इन्द्र त्वा वर्तयामसि ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्, सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हम **वार्त्रहत्याय**=वृत्र-हननरूप कार्य के लिए **शवसे**=बल प्राप्ति के लिए **त्वा**=आपको **वर्तयामसि**=प्रवृत्त करते हैं। आपने ही इन ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं का विनाश करना है। हमारे लिए तो इस काम का विनाश असम्भव-सा प्रतीत होता है। आपकी कृपा होगी और हम वासना को जीत पाएँगे। (२) हे प्रभो! **पृतनाषाह्याय च**=परायी सेनाओं के अभिभव के लिए भी हम आपको ही प्रवृत्त करते हैं। इन शत्रु-सैन्यों पर भी आपकी कृपा से ही हमने विजय पानी है। चाहे अन्तः-शत्रु हों, चाहे बाह्य, प्रभु से शक्ति पाकर ही हम इन्हें जीतते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण हमें वह शक्ति देता है, जिससे कि हम अन्तः व बाह्य-शत्रुओं को जीत पाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु की अनुग्रह-बुद्धि व कृपादृष्टि

अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो। इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ॥ २ ॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! **वाघतः**=(वहन्ति यज्ञियां धुरम् सा०) यज्ञिय-कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले स्तोता लोग **ते**=आपके **सु**=हमारे अभिमत फल-सम्पादन में उत्तम **मनः**=मन को **अर्वाचीनम्**=अभिमुख **कृण्वन्तु**=करें। आपकी अनुग्रह-बुद्धि को प्राप्त करनेवाले ये स्तोता लोग हों। (२) **उत**=और हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वाघतः**=ये स्तोता लोग **चक्षुः**=आपकी कृपादृष्टि को अपने अभिमुख करनेवाले हों।

भावार्थ—हम स्तोता बनें और प्रभु की अनुग्रह-बुद्धि व कृपादृष्टि को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

निरभिमानता

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे। इन्द्राभिमातिषाह्ये ॥ ३ ॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! वे **नामानि**=आपके नामों को **विश्वाभिः गीर्भिः**=सब वाणियों से **ईमहे**=चाहते हैं। विविध वाणियों से आपके नामों का उच्चारण करते हैं। आपके नाम का जप करते हैं (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! हम **अभिमातिषाह्ये**=अभिमान को कुचलने के निमित्त आपका स्मरण करते हैं। आपका स्मरण हमें गर्व से बचाता है। आपके विस्मरण में ही हम धनादि की विजय का गर्व करने लगते हैं।

भावार्थ—प्रभु-नाम-स्मरण हमें अभिमान का शिकार नहीं होने देता।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

शत-धाम

पुरुष्टुतस्य धामभिः शतेन महयामसि। इन्द्रस्य चर्षणीधृतः ॥ ४ ॥

(१) हम **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **महयामसि**=स्तोत्र का उच्चारण करते हैं, जो

कि **पुरुष्टुतस्य**=बहुतों से स्तुति किए जाते हैं, अथवा पालक व पूरक स्तुतिवाले हैं। प्रभु का स्तवन स्तोता के शरीर का पालन करता है, तो यह स्तवन उसके मन का पूरण करता है। (२) हम उस प्रभु का स्मरण करते हैं, जो कि **शतेन धामभिः**=सैंकड़ों तेजों से **चर्षणीधृतः**=श्रमशील मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं। इन श्रमशील मनुष्यों को प्रभु शतवर्ष पर्यन्त तेजस्वी बनाए रखते हैं। इन शतवर्ष पर्यन्त चलनेवाले तेजों से ही वस्तुतः उन श्रमशील मनुष्यों का धारण होता है।

भावार्थ—प्रभु स्तोता का पालन व पूरण करते हैं और उन्हें शतवर्ष पर्यन्त तेजस्वी बनाये रखते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

संग्राम में शक्तिलाभ

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुप ब्रुवे। भरेषु वाजसातये॥ ५॥

(१) मैं **इन्द्रम्**=उस शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभु को **उपब्रुवे**=पुकारता हूँ, ताकि **वृत्राय हन्तवे**=वे प्रभु मेरे ज्ञान पर आवरणभूत इस वृत्र का हनन करनेवाले हों-मुझे 'वार्त्रहत्य-शवस्' प्राप्त कराएँ। (२) मैं **पुरुहूतम्**=बहुतों से पुकारे जानेवाले उस प्रभु को **उपब्रुवे**=पुकारता हूँ, ताकि **भरेषु वाजसातये**=इन काम-क्रोध-लोभ आदि के साथ चलनेवाले संग्राम में वे मुझे शक्ति के प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—वृत्र के विनाश व संग्राम में शक्ति की प्राप्ति के लिए मैं प्रभु को पुकारता हूँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

वृत्र-विदारण

वाजेषु सासहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो। इन्द्र वृत्राय हन्तवे॥ ६॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञ व अनन्त शक्तिवाले प्रभो! आप **वाजेषु**=संग्रामों में **सासहिः भव**=हमारे शत्रुओं का मर्षण करनेवाले होइये। (२) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विदारण करनेवाले प्रभो! **वृत्राय हन्तवे**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के लिए **त्वां ईमहे**=आप से प्रार्थना करते हैं। आपने ही हमें वृत्र-विदारण का सामर्थ्य प्राप्त कराना है।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रार्थना करें। प्रभु ही हमें वृत्र के विदारण का सामर्थ्य प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अभिमान-मर्दन

द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सुतूर्षु श्रवःसु च। इन्द्र साक्ष्वाभिमातिषु॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले प्रभो! आप **द्युम्नेषु**=प्राप्तव्य धनों में (सायण) **अभिमातिषु**=अभिमानवाले शत्रुओं का **साक्ष्व**=पराभव करिए, अर्थात् धन को प्राप्त करके जो गर्वीले हो गये हैं, उनके गर्व को आप विनष्ट करिए। (२) इसी प्रकार **पृतनाज्ये**=(पृतनानां अजनं यस्मिन्) संग्राम में, **पृत्सु**=सेनाओं में, **तूर्षु**=(तुर्वी हिंसायाम्) शत्रु-संहारक वीरों में जो अभिमानवाले हुए हैं, जिन्हें संग्रामों-सेनाओं व वीरों का गर्व हुआ है, उन्हें भी आप पराभूत करिए। इनके भी गर्व को दूर करिए।

भावार्थ—हे प्रभो! आप 'धन, संग्राम, सेना व वीर-पुरुषों' विषयक गर्व को समाप्त करिए। इन सब विजयों को हम आपकी ही विजय समझें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'शुष्मिन्तम, द्युम्नी व जागृवि' सोम

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम्। इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ ८ ॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञ! **इन्द्र**=शत्रुविदारक प्रभो! **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिए **सोमम्**=इस सोम शक्ति का (वीर्य का) **पाहि**=रक्षण करिए। आपका स्मरण करते हुए हम वासनाओं से बचकर इस सोम को अपने में सुरक्षित कर पाएँ। (२) यह सोम ही हमें **शुष्मन्तमम्**=अधिक से अधिक शत्रुशोषक बल को प्राप्त करानेवाला है। **द्युम्निनम्**=हमारी ज्ञान-ज्योति को बढ़ानेवाला है तथा **जागृविम्**=हमें सदा जागरित व सावधान रखनेवाला है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम सोम का रक्षण करते हुए बल, ज्ञान व जागरणशीलता (अप्रमत्तता) को प्राप्त करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्रिय (वीर्य सामर्थ्य) वरण

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु। इन्द्र तानि त आ वृणे ॥ ९ ॥

(१) हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्तिवाले प्रभो! **पंचसु जनेषु**=(पचि विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले लोगों में **या**=जो **ते**=आपकी **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ, वीर्य व सामर्थ्य हैं। हे **इन्द्र**=सब इन्द्रियों, वीर्यों व बलोंवाले प्रभो! **ते**=आपकी **तानि**=उन इन्द्रियों का **आवृणे**=मैं वरण करता हूँ। (२) हे प्रभो! आपने ही सब लोगों को ये इन्द्रियों के सामर्थ्य प्राप्त कराए हैं। मैं आपकी कृपा से इन इन्द्रिय-सामर्थ्यों को प्राप्त करूँ। इन्हें आपका ही जानूँ। इनका गर्व न करने लगूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आप से हम सब इन्द्रियों के सामर्थ्यों की याचना करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

श्रवस्-द्युम्न-शुष्म

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद्द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम्। उत्ते शुष्मं तिरामसि ॥ १० ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! आपकी कृपा से हमें **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत **श्रवः**=सौम्य अन्न **अगन्**=प्राप्त हो। हम सोमरक्षण की अनुकूलतावाले ही अन्न का सेवन करें। (२) आप हमारे में इस सात्त्विक अन्न के सेवन के परिणामस्वरूप **दुष्टरम्**=काम आदि शत्रुओं से अभिभूत न करने योग्य **द्युम्नम्**=ज्ञान-ज्योति को **दधिष्व**=धारण करिए। (३) इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करके हम **ते शुष्मम्**=आपसे दिये जानेवाले इस शत्रुशोषक बल को **उत् तिरामसि**=अत्यन्त ही बढ़ानेवाले हों।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के प्रयोग से ज्ञान का वर्धन करते हुए शत्रुशोषक बल को बढ़ाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

प्रभुप्राप्ति की अभिलाषा

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः। उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ११ ॥

(१) हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **अर्वावतः**=समीप देश से **नः**=हमें **आगहि**=प्राप्त होइये। **अथ उ**=और निश्चय से **परावतः**=दूर देश से भी हमें प्राप्त होइये। दूर व निकट जहाँ भी आप

हों, वहाँ से आप हमें प्राप्त होइये। (२) उ=और हे **अद्रिवः**=(अत्तिभक्षयति शत्रून् इति अद्रिः=वज्रम्) हे वज्रहस्त **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **यः ते लोकः**=जो भी आपका लोक हो, **ततः**=वहाँ से **इह आगहि**=यहाँ प्राप्त होइये। संक्षेप में, प्रार्थना यह है कि समीप व दूर अथवा जहाँ कहीं भी आप हों, वहाँ से आप हमें प्राप्त होइये। आप सर्वव्यापक हैं। पर हम आपको ठीक-ठीक जान तो नहीं पाते, अतः यही प्रार्थना करते हैं कि जहाँ कहीं भी आप हों, आप वहाँ से हमें प्राप्त होइये।

भावार्थ—हमारी एक ही प्रबल अभिलाषा हो कि हम प्रभु को प्राप्त कर सकें।

सूक्त का सार यही है कि हम वासना को विनष्ट करके प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें। अगले सूक्त में भी प्रभुदर्शन का ही विषय चलता है—

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रजापतिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

बुद्धि का दीपन

अभि तष्टेव दीधया मनीषामत्यो न वाजी सुधुरो जिहानः।

अभि प्रियाणि मर्मृशत्पराणि कवीँरिच्छामि सन्दृशे सुमेधाः॥ १॥

(१) **तष्टा इव**=बढ़ई की तरह, जैसे बढ़ई एक लकड़ी को रन्दा फेरकर दीप्त करता है, इसी प्रकार **मनीषाम्**=बुद्धि को **अभिदीधयाः**=तू दीप्त करनेवाला हो। **अत्यः**=सततगामी **वाजी**=घोड़े की **न**=तरह **सुधुरः**=तू उत्तमता से धुरा में जुतनेवाला हो-सदा उत्तम कार्यों में लगा हुआ हो। **जिहानः**=सदा कार्यों में प्रवृत्त रहनेवाला तू **पराणि**=उत्कृष्ट **प्रियाणि**=प्रिय कर्मों का **अभिमर्मृशत्**=विचार करता है। (२) उल्लिखित जीवनवाला मैं **सुमेधः**=उत्तम बुद्धिवाला बनकर **कवीन्**=ज्ञानियों को **संदृशे**=देखने के लिए **इच्छामि**=चाहता हूँ। सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहकर मैं भी उन जैसा ही बनने के लिये यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—एक समझदार व्यक्ति (क) बुद्धि को दीप्त करता है, (ख) सदा कार्य में तत्पर रहता है, (ग) उत्कृष्ट सत्कर्मों के करने का विचार करता है और (घ) ज्ञानियों के सम्पर्क में रहने की कामना करता है।

ऋषिः—प्रजापतिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मनोधृतः+सुकृतः

इनोत पृच्छ जनिमा कवीनां मनोधृतः सुकृतस्तक्षत द्याम्।

इमा उ ते प्रण्यो३ वर्धमाना मनोवाता अध नु धर्मणि ग्मन्॥ २॥

(१) **कवीनाम्**=क्रान्तदर्शी लोगों के **जनिमा**=जन्म को **उत**=और **इना**=स्वामित्वों को, इन्द्रियों के अधिष्ठातृत्व को **पृच्छ**=जानने की इच्छा कर। 'ये कवि किस प्रकार कवि बनते हैं, कैसे ये **इन**=स्वामी बनते हैं' इन बातों को जानकर तू भी वैसा बनने का प्रयत्न कर। ये कवि **मनोधृतः**=मनों को धारण करनेवाले होते हैं-मन को वश में करते हैं। मन को वशीभूत करके **सुकृतः**=उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। ये **द्याम्**=प्रकाश को **तक्षत**=बनाते हैं। ये अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का उदय करते हैं। (२) **अथ नु**=अब **धर्मणि**=इस धर्मपूर्वक चलाये जाते हुए जीवनयज्ञ में **उ**=निश्चय से **इमाः**=ये **प्रण्यः**=प्रकर्षेण जीयमान (प्राप्त कराई जाती हुई) **वर्धमानाः**=दिन-प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होती हुई **मनोवाताः**=मन को प्रेरणा देनेवाली स्तुतियाँ **ते अनुग्मन्**=तेरा अनुगमन करती हैं। हम तेरी स्तुति करते हैं। ये स्तुतियाँ हमें उस-उस

प्रकार का बनने के लिए प्रेरणा देती हैं।

भावार्थ—हम मन को वश में करनेवाले व उत्तम कर्मों को करनेवाले बनकर ज्ञानवर्धन करें। प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मस्तिष्क व शरीर का धारण

नि षीमिदत्र गुह्या दधाना उत क्षत्राय रोदसी समञ्जन्।
सं मात्राभिर्ममिरे येमुरुर्वी अन्तर्मही समृते धायसे धुः॥ ३॥

(१) **अत्र**=इस जीवन में **सीं इत्**=निश्चय से **गुह्या**=रहस्यमय ज्ञानों को **निदधानाः**=धारण करते हुए गतमन्त्र में वर्णित कवि लोग **उत**=और **क्षत्राय**=बल के लिए **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **सं अञ्जन्**=सम्यक् अलंकृत करते हैं। मस्तिष्क में (द्यावा में) गुह्य ज्ञानों को धारण करते हैं, तो शरीर (पृथिवी) में बल को धारण करनेवाले होते हैं। 'मस्तिष्क में ब्रह्म, शरीर में क्षत्र' इस प्रकार इनके द्यावापृथिवी सुशोभित हो जाते हैं। (२) ये **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **मात्राभिः संममिरे**=सब कार्यों को माप-तोल से करने द्वारा निर्मित होते हैं। 'मात्रा बलम्'=मात्रा ही वस्तुतः बल है। इन **उर्वी**=विशाल **मही**=महत्त्वपूर्ण **समृते**=परस्पर संगत द्यावापृथिवी का ये लोग **अन्तःयेमुः**=अन्दर स्थित होकर नियमन करते हैं। इनका मस्तिष्क व शरीर इनके वश में होता है। यथासंभव ये अन्तर्मुखी-वृत्तिवाले बनते हैं और इनका धारण कर पाते हैं। ये लोग **धायसे**=अपने धारण के लिए **धुः**=इन द्यावापृथिवी का-मस्तिष्क व शरीर का धारण करते हैं। जो व्यक्ति मस्तिष्क व शरीर का धारण करता है, धारण किये हुए ये मस्तिष्क और शरीर उसका धारण करते हैं।

भावार्थ—मस्तिष्क गुह्य ज्ञानों से परिपूर्ण हो, शरीर शक्ति से। हम अन्तर्मुखी-वृत्तिवाले होकर मस्तिष्क व शरीर का नियमन करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वरोचिः

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत्तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ॥ ४॥

(१) **आतिष्ठन्तम्**=सर्वतः स्थित होते हुए उस प्रभु को **विश्वे**=सब देव **परि अभूषन्**=अपने में अलंकृत करते हैं। वस्तुतः उस प्रभु से ही वे देव देवत्व को प्राप्त करते हैं। **श्रियः वसानः**=सब शोभाओं को धारण करता हुआ वह प्रभु **स्वरोचिः**=स्वयं दीप्तिवाला **चरति**=गति करता है। प्रभु उस-उस पिण्ड में उस-उस शोभा को स्थापित करते हैं, परन्तु स्वयं किसी अन्य से शोभा को नहीं प्राप्त करते। प्रभु की दीप्ति से ही सब दीप्त हैं-प्रभु को कोई अन्य दीप्ति प्राप्त नहीं कराता। (२) **वृष्णः**=उस शक्तिशाली **असुरस्य**=सब में प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु का **तद्**=वह **नाम**=शत्रुओं को नत करने का कर्म **महत्**=महान् है। **विश्वरूपः**=सम्पूर्ण संसार को रूप देनेवाला वह प्रभु **अमृतानि तस्थौ**=अमृतत्त्वों का अधिष्ठाता है। प्रभु ही अमृतत्त्व को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की दीप्ति से ही सब देव दीप्तिवाले हैं। वे प्रभु ही अमृतत्त्व को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्र+वरुण=शक्ति+ज्ञान

असूत पूर्वो वृषभो ज्यायानिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः।
दिवो नपाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाते॥ ५॥

(१) जो व्यक्ति **असूत**=अपने अन्दर सोम का उत्पादन करता है, वह **पूर्वः**=अपना पालन व पूरण करनेवाला होता है। **वृषभः**=शक्तिशाली बनता है, **ज्यायान्**=यह प्रशस्त-जीवनवाला होता है। **इमाः**=ये रेतःकण रूप जल (आपः) **अस्य**=इस सोम का पान करनेवाले पुरुष के **शुरुधः सन्ति**=शोक को रोकनेवाले होते हैं-ये इसकी स्थिति को कभी शोचनीय नहीं होने देते। **पूर्वीः**=ये इसका पालन व पूरण करते हैं। (२) इस सोम का पान करनेवाले के जीवन में इन्द्र और वरुण। इन्द्र शक्ति देवता है 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य', वरुण 'प्रचेताः' होता हुआ प्रकृष्ट ज्ञान को प्राप्त कराता है। शक्ति व पाप-निवारण के देवता **दिवः नपाता**=ज्ञान को नष्ट न होने देनेवाले होते हैं, **राजाना**=ये इसके जीवन को व्यवस्थित (Regvlated) व दीप्त (राज् दीप्तौ) बनाते हैं। ये इसके जीवन में **विदथस्य धीभिः**=ज्ञान प्राप्ति की बुद्धियों द्वारा **दिवः**=ज्ञानों को तथा **क्षत्रम्**=बल को **प्रदधाथे**=प्रकर्षेण धारण करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा इन्द्र हमारे में बल को धारण करता है तो वरुण (प्रचेताः) हमारे में ज्ञान को स्थापित करता है।

ऋषिः—प्रजापतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गन्धर्वों व वायुकेशों का दर्शन

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वाँ अपि वायुकेशान्॥ ६॥

(१) **राजाना**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाले 'इन्द्र और वरुण' **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **त्रीणि**=तीनों **पुरूणि**=पालन व पूरण से युक्त **विश्वानि**=सम्पूर्ण **सदांसि**=अधिष्ठानों को-इन्द्रिय, मन व बुद्धि को **परिभूषथः**=सब तरह से अलंकृत करते हैं। हम यथासम्भव इन्द्रियों, मन व बुद्धि को ज्ञानप्राप्ति के कर्मों में व्यापृत रखें। ऐसा करने पर ये स्वस्थ रहेंगे-इनमें किसी प्रकार की कमी न आएगी, ये 'पुरु' होंगे, 'विश्व' होंगे। 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' यहाँ सदस् कहे गये हैं, चूँकि अच्छी व बुरी सब भावनाओं व वासनाओं के ये ही अधिष्ठान बनते हैं। (२) जब इन्द्र और वरुण, शक्ति व प्रकृष्ट ज्ञान के देवता, इन इन्द्रिय, मन व बुद्धि को अलंकृत करते हैं, तो **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **मनसा**=मन से **जगन्वान्**=प्रभु के प्रति गतिवाला मैं **अपश्यम्**=उस प्रभु का दर्शन करता हूँ और **व्रते**=व्रतों के होने पर-जीवन के व्रतमय होने पर **गन्धर्वान् अपि**=(प्राणो वै गन्धर्वः जै० उ० ३।३६।३) प्राणों को भी देखता हूँ-अपने अन्दर प्राणशक्ति का अनुभव करता हूँ तथा **वायुकेशान्**=गति द्वारा सब बुराइयों को हिंसन करनेवाली (वा गतिगन्धनयोः) ज्ञानरश्मियों को (केश=a rag of Light) देखता हूँ। जब जीवन व्रतमय होता है तो प्राणशक्ति भी बढ़ती है, ज्ञान की रश्मियाँ भी बढ़ती हैं।

भावार्थ—बल व प्रकृष्ट ज्ञान हमारी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अलंकृत करें। हम व्रतमय-जीवनवाले बनकर प्राणशक्ति व ज्ञान का साधन करें। यह ज्ञान हमें गतिमय बनाकर हमारी सब बुराइयों का हिंसन करता है।

ऋषिः—प्रजापतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

नामस्मरण से ज्ञान का प्रकाश

तदिन्न्वस्य वृषभस्य धेनोरा नामभिर्ममिरे सक्म्यं गोः।
अन्यदन्यदसुर्यं१ वसाना नि मायिनो ममिरे रूपमस्मिन्॥ ७॥

(१) **इत् नु**=निश्चय से अब, **अस्य**=इस **वृषभस्य**=शक्तिशाली **धेनोः**=ज्ञानदुग्ध द्वारा प्रीणित करनेवाले प्रभु के **नामभिः**=नामों से-नामों के जप से **गोः**=इस वेदवाणीरूप गौ के **तत्**=उस **सक्म्यम्**=समवाय व सम्बन्ध को **ममिरे**=निर्मित करते हैं। प्रभु-नाम-स्मरण से वासना का विनाश होता है। हृदय की पवित्रता से वहाँ ज्ञान का प्रकाश सम्भव होता है। यही नामों द्वारा वेदवाणी के सम्बन्ध का भाव है। (२) इस वेदवाणी के साथ सम्बन्ध के कारण **अन्यत् अन्यत्**=विलक्षण और अत्यन्त विलक्षण **असुर्यम्**=(असुराय हितं) परमात्म-प्राप्ति के साधनभूत बल को **वसानाः**=धारण करते हुए, **मायिनः**=ये प्रज्ञावान् मनुष्य **अस्मिन्**=इस प्रभु में **रूपम्**=रूप को **निममिरे**=निर्मित करनेवाले होते हैं। प्रभु में ये स्थित होते हैं और ब्रह्मनिष्ठ होते हुए-प्रभु के तेज से तेजस्वी होकर उत्कृष्टरूप को धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-नाम-स्मरण से पवित्र हृदय में ज्ञान के प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। इस ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति को अद्भुत बल व उत्कृष्ट रूप प्राप्त होता है।

ऋषिः—प्रजापतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम मस्तिष्क व शरीर

तदिन्न्वस्य सवितुर्नकिर्मे हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत् ।
आ सुष्टुती रोदसी विश्वमिन्वे अपीव योषा जनिमानि वव्रे॥ ८॥

(१) **इत् नु**=निश्चय से अब **अस्य**=इस **सवितुः**=सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक **मे**=मेरी **हिरण्ययीम्**=अत्यन्त ज्योतिर्मयी **अमतिम्**=दीप्ति को **नकिः**=कोई भी परिच्छिन्न नहीं कर पाता। **तत्**=अतः यह दीप्ति वह है, **याम्**=जिसको **अशिश्रेत्**=यदि एक उपासक सेवित करता है, तो वह **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **आवव्रे**=सर्वथा वृत करनेवाला होता है, **इव**=जैसे **योषा**=एक स्त्री **जनियानि**=उत्पन्न सन्तान का अपि (वव्रे)=वरण करती है। द्यावापृथिवी को वह वृत करनेवाला होता है, इस वाक्य का भाव यही है कि यह प्रभु की ज्योति का सेवन करनेवाला अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा शरीररूप पृथिवीलोक को बड़ा सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। (२) उसके ये मस्तिष्क व शरीर **सुष्टुती**=(शोभना स्तुतिर्ययोः) उत्तम स्तुति के योग्य होते हैं। मस्तिष्क ज्ञान के सूर्य से उज्ज्वल होता है, तो शरीर पृथिवी की तरह दृढ़ होता है। सभी इसके मस्तिष्क व शरीर की प्रशंसा करते हैं। उसके मस्तिष्क व शरीर **विश्वमिन्वे**=सब को संतृप्त करनेवाले होते हैं। इसका मस्तिष्क व शरीर सभी के हितसाधन में प्रवृत्त होता है। यह ज्ञान व शक्ति से औरों का कल्याण ही कल्याण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की दीप्ति को कोई भी परिच्छिन्न नहीं कर सकता। जो भी इसका धारण करता है, वह स्तुत्य-मस्तिष्क व शरीरवाला होता है।

ऋषिः—प्रजापतिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'गोपाजिह्व' प्रभु का उपासन

युवं प्रत्नस्य साधथो महो यद्दैवी स्वस्तिः परि णः स्यातम्।
गोपाजिह्वस्य तस्थुषो विरूपा विश्वे पश्यन्ति मायिनः कृतानि॥ ९॥

(१) हे इन्द्रावरुणौ! **युवम्**=आप दोनों **प्रत्नस्य महः साधथः**=उस सनातन तेज को सिद्ध करते हैं, **यत्**=जो तेज **दैवी स्वस्तिः**=देवों व इन्द्रियों सम्बन्धी कल्याण का कारण बनता है। 'इन्द्र' शक्ति का देवता है और 'वरुण' पाप-निवारण का। जब एक व्यक्ति इन 'इन्द्र-वरुण' का उपासक बनता है, तो वह उस तेज को प्राप्त करता है, जिस तेज से कि वह अपनी सब इन्द्रियों को उत्तम स्थिति में करनेवाला होता है। सो यह प्रार्थना करता है कि हे इन्द्रावरुणौ! आप **नः**=हमारे **परिस्यातम्**=चारों ओर होनेवाले होइये, अर्थात् हमारे रक्षक होइये। (२) ये इन्द्र-वरुण के **विश्वे**=सब उपासक **गोपाजिह्वस्य**=(गोप्त्री जिह्वा यस्य) उस रक्षक जिह्वावाले, अर्थात् जिनकी वेदवाणी सभी का रक्षण करती है, उस **तस्थुषः**=कूटस्थ-अविचल, **मायिनः**=प्रज्ञावान् प्रभु की माया के अधिष्ठाता परमात्मा के **विरूपा कृतानि**=विविधरूपोंवाले वृत्रहनन आदि कर्मों को **पश्यन्ति**=देखते हैं। अपने जीवन में वे अनुभव करते हैं कि किस प्रकार प्रभु उनकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—शक्ति व निष्पापता की उपासना हमें वह तेज प्राप्त कराती है, जो कि हमारी सब इन्द्रियों को उत्तम स्थिति में रखता है। वस्तुतः प्रभु-कृपा से ही वासनाओं का विनाश होता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आनन्दस्वरूप प्रभु का आह्वान

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ १०॥

मन्त्र-व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त उपासना द्वारा 'मस्तिष्क व शरीर' को उज्ज्वल व तेजस्वी बनाने का संकेत करता है। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

चतुर्थोऽनुवाकः

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

हृदय से प्रभुस्तवन

इन्द्रं मतिर्हृद आ वच्यमानाच्छा पतिं स्तोमतष्टा जिगाति।
या जागृविर्विदथे शस्यमानेन्द्र यत्ते जायते विद्धि तस्य॥ १॥

(१) **इन्द्रम्**=इन्द्र के **स्तोमतष्टा**=स्तोत्रसमूहों द्वारा निर्मित, **हृदः आवच्यमाना**=हृदय के अन्तस्तल से उच्चारण की जाती हुई **मतिः**=विचारपूर्वक की गई स्तुति **पतिं अच्छा**=उस संसार-रक्षक प्रभु की ओर **जिगाति**=जाती है। प्रभु को लक्ष्य करके हमारे से स्तवन किया जाता है। (२) यह स्तुति वह है, **या**=जो **जागृविः**=हमारे जागरण का कारण बनती है, इसके द्वारा हमारे सामने लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न हो जाती है। **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **शस्यमाना**=शंसन की जाती हुई, **यत्**=जो हे **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! **ते**=आपकी **जायते**=यह स्तुति होती है **तस्य विद्धि**=उस स्तवन को आप जानिए। यह हमारे से किया जाता हुआ स्तवन आपके लिए प्रिय हो। इस स्तवन द्वारा, अपने जीवन को तदनुरूप बनाते हुए हम आपके प्रिय हों।

भावार्थ—हृदय से प्रभु-स्तवन करते हुए, तदनुरूप अपने जीवन को बनाते हुए हम प्रभु के प्रीति पात्र हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तवन से ज्ञानवाणी का प्रादुर्भाव

दिवश्चिदा पूर्व्या जायमाना वि जागृविर्विदथे शस्यमाना।
भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः॥ २॥

(१) **दिवः चित्**=द्योतमान सूर्य से भी **पूर्व्या आजायमाना**=पहले होनेवाली-उषाकाल में होनेवाली **विदथे शस्यमाना**=ज्ञानयज्ञों में उच्चारण की जाती हुई यह स्तुति **विजागृविः**=हमें विशेषरूप से जगानेवाली है। उषाकाल में हम प्रभु का स्तवन करते हैं, यह स्तवन हमें उस प्रकार का बनने की प्रेरणा देता है। (२) **सा**=वह **इयम्**=यह **सनजा**=सनातनकाल से प्रादुर्भूत होनेवाली **पित्र्या**=सबके पिता उस प्रभु से दी जानेवाली **धीः**=वेदरूप ज्ञानवाणी **अस्मे**=हमारे लिए **भद्रा**=कल्याणकर **अर्जुनाः**=शुभ्र **वस्त्राणि**=वस्त्रों को **वसाना**=धारण कराती है, अर्थात् इस ज्ञानवाणी से हमारा जीवन शुभ कर्मरूप वस्त्रों से आच्छादित होता है-हम सदा शुभ ही कर्म करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमारे लिए ज्ञान की वाणी प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्रह्म व क्षत्र के यम को जन्म देनेवाली वेदवाणी

यमा चिदत्र यमसूरसूत जिह्वाया अग्रं पतदा ह्यस्थात्।
वपूंषि जाता मिथुना सचेते तमोहना तपुषो बुध्न एता॥ ३॥

(१) गतमन्त्र में स्तवन के होने पर वेदवाणी की प्राप्ति का उल्लेख था। यह **यमसूः**=शक्ति व ज्ञान के युग्म को (जोड़े को) पैदा करनेवाली वेदवाणी **अत्र**=यहां हमारे जीवन में **चित्**=निश्चय से **यमा**=शक्ति व ज्ञान की इस जोड़ी को **असूत**=पैदा करती है। वेदवाणी द्वारा हमारे में 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास होता है। यह वेदवाणी हमारी **जिह्वायाः**=जिह्वा के **अग्रम्**=अग्रभाग में **पतत्**=प्राप्त होती हुई **हि**=निश्चय से **आ अस्थात्**=सर्वथा स्थित होती है। हम इसे जिह्वाग्र करने का प्रयत्न करते हैं। (२) **तपुषः**=(तपति अस्मिन् सूर्यः) दिन के **बुध्ने**=मूल में, अर्थात् प्रातःकाल **आर इना**=सर्वथा प्राप्त होनेवाले **तमोहना**=अन्धकार को विनष्ट करनेवाले **जाता**=उत्पन्न हुए-हुए **मिथुना**=ये ज्ञान व शक्ति के युग्म **वपूंषि सचेते**=हमारे शरीरों के साथ समवेत (संगत) होते हैं। हमारा सर्वप्रथम कार्य यही होता है कि प्रभुस्तवन द्वारा हम हृदय को शुद्ध करें। शुद्ध हृदय में ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करें। यह वेदज्ञान हमारे जीवनों में 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास करेगा।

भावार्थ—प्रातः-प्रातः किया गया वेदवाणी का स्वाध्याय हमारे जीवनों में 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास करता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जितेन्द्रियता व प्रशस्त जीवन

नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद् गोत्राणि ससृजे दंसनावान्॥ ४॥

(१) **ये**=जो **अस्माकम्**=हमारे में से कुछ व्यक्ति **गोषु योधाः**=इन्द्रियों के विषय में युद्ध करनेवाले होते हैं, अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में आसक्त होने से बचाते हैं, वे **पितरः**=पिता-रक्षक

कहलाते हैं। ये विषयों के आक्रमण से अपना रक्षण करते हैं। **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **एषाम्**=इनका **निन्दिता नकिः**=निन्दा करनेवाला कोई नहीं होता। सब इनके जीवन की प्रशंसा ही करते हैं। (२) **माहिनावान्**=अनन्त महिमावाला **इन्द्रः**=वह प्रभु **एषाम्**=इनका **दृंहिता**=दृढ़ करनेवाला है। प्रभु इनके जीवन को दृढ़ बनाते हैं। **दंसनावान्**=उत्तम कर्मोंवाले वे प्रभु **गोत्राणि**=इन पितरों के इन्द्रिय समूहों को **उत् ससृजे**=विषयों में फँसने से बचाते हैं। प्रभु का स्मरण व पूजन इन्हें वह शक्ति देता है, जिससे कि ये विषयवासनाओं को पराभूत करनेवाले होते हैं और अपनी इन्द्रियों को विषयासक्ति से मुक्त रखते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों को विषयों में न फँसने देनेवाला व्यक्ति सदा प्रशस्त-जीवनवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ज्ञान-सूर्य का उदय

सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥ ५॥

(१) जीवन के नौवें दशक पर्यन्त जानेवाले अंगिरस् व्यक्ति 'नवग्व' कहलाते हैं। दसवें दशक तक पहुँचनेवाले ये 'दशग्व' नामवाले हैं। **यत्र**=जहाँ **नवग्वैः**=नव्वे वर्ष तक पहुँचनेवाले **अभिज्ञु**='अभिगतजानुकं यथा स्यात्तथा' घुटने टेककर **सत्वभिः**=(सद्) प्रभु की उपासना में बैठनेवाले **सखिभिः**=मित्रों के साथ **सखा**=मित्रभाववाला व्यक्ति **ह**=निश्चय से **गाः अनुग्मन्**=वेदवाणियों का अनुगमन करता हुआ **सूर्यं विवेद**=ज्ञानसूर्य को प्राप्त करता है। (२) **सत्यं तत्**=वह बात सत्य है कि **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **दशग्वैः**=दसवें दशक तक चलनेवाली-ठीक कार्य करनेवाली, **दशभिः**=इन दस इन्द्रियों से **तमसि क्षियन्तम्**=अन्धकार में निवास करते हुए, अर्थात् अस्त हुए-हुए **सूर्यम्**=ज्ञान-सूर्य को **विवेद**=प्राप्त करता है। अजितेन्द्रिय पुरुष के जीवन में ज्ञान सूर्य अस्त हो जाता है। इन्द्रियों को जीतकर यह सूर्य का फिर उदय करनेवाला होता है। यह जितेन्द्रिय पुरुष वेदवाणियों का अनुगमन करता है और ज्ञान के सूर्य को अपने जीवन में उदित करता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय बनकर हम ज्ञान के सूर्य को अपने जीवन में उदित करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

गोदुग्ध के प्रयोग का महत्व

इन्द्रो मधु संभृतमुस्रियायां पद्वद्विवेद शफवन्नमे गोः ।
गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्सु हस्ते दधे दक्षिणे दक्षिणावान्॥ ६॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **उस्रियायाम्**=गौ में **संभृतम्**=सम्यक् धारण किये गये **मधु**=ओषधियों के सारभूत दूध को **विवेद**=प्राप्त करता है। इस मधु तुल्य दुग्ध को प्राप्त करने के लिए **गोः नमे**=गौ के प्रह्वीभूत होने पर-प्राप्त होने पर **पद्वत्**=पाँववाले और **शफवत्**=खुरोंवाले गोरूप धन को **विवेद**=प्राप्त करता है। (२) गोरूप धन से प्राप्त गोदुग्ध के सेवन से सात्त्विक वृत्तिवाला बनकर यह **दक्षिणावान्**=अत्यन्त दान की वृत्तिवाला बनकर **गुहाहितम्**=हृदयरूप गुहा में स्थापित **गुह्यम्**=रहस्यमय **अप्सु**=सब प्रजाओं में **गूढम्**=छिपे हुए इस प्रभु के ज्ञान को **हस्ते दधे**=हाथ में धारण करता है। उसे यह ज्ञान हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट जीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) गोधन को अपनाएँ, (ख)

गोदुग्ध का सेवन करें, (ग) सात्त्विक-वृत्तिवाले बनकर दानशील हों, (घ) रहस्यमय आत्मज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अज्ञानान्धकार व पाप' का विनाश

ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभीके ।
इमा गिरः सोमपाः सोमवृद्ध जुषस्वेन्द्र पुरुतमस्य कारोः ॥ ७ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार गोदुग्ध का सेवन करनेवाला **विजानन्**=समझदार पुरुष **तमसः**=अन्धकार को छोड़कर **ज्योतिः वृणीत**=प्रकाश का वरण करे। इसकी प्रार्थना यही हो कि 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'। इस ज्ञान को प्राप्त करके हम **दुरितात् आरे**=पाप से दूर **अभीके**=भयरहित स्थान में **स्याम**=हों। ज्ञान से हमारे में निष्पापता हो, निष्पापता से हम निर्भयता प्राप्त करें। (२) हे **सोमपाः**=सोम का-वीर्य का रक्षण करनेवाले **सोमवृद्ध**=रक्षित सोम से बढ़ी हुई शक्तियोंवाले **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक जीव! तू **पुरुतमस्य**=(पुरून् तमयति) कितने ही शत्रुओं के विनष्ट करनेवाले, **कारोः**=कुशलता से सब कार्यों को करनेवाले उस प्रभु की **इमाः गिरः**=इन ज्ञान की वाणियों का **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। ये ज्ञानवाणियाँ ही वस्तुतः उसे ज्ञानवृद्धि द्वारा दुरित से ऊपर उठाएँगी।

भावार्थ—हम प्रभु से दी गई ज्ञान की वाणियों का सेवन करें। इन से हमारा अज्ञानान्धकार दूर होगा और हम पाप में न फँसकर निर्भय जीवन बिता सकेंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दान व धनवृद्धि

ज्योतिर्यज्ञाय रोदसी अनु ष्यादारे स्याम दुरितस्य भूरेः ।
भूरि चिद्धि तुजतो मर्त्यस्य सुपारासो वसवो बर्हणावत् ॥ ८ ॥

(१) **यज्ञाय**=यज्ञों के लिए-इसलिए कि हम यज्ञादि उत्तम कर्मों को कर सकें **ज्योतिः रोदसी अनु स्यात्**=ज्ञान द्यावापृथिवी के अनुकूल हो। ज्ञान का सूर्य हमारे मस्तिष्क व शरीर को प्रकाशित करनेवाला हो। इस ज्ञान को प्राप्त करके हम **भूरेः दुरतिस्य**=इन अनेक (बहुत) पापों के **आरे स्याम**=दूर हों। हम ज्ञान को प्राप्त करें, ज्ञान की प्राप्ति हमें पापों से बचानेवाली हो। (२) पापों से बचने के लिए ही हम दान की वृत्ति को भी अपनाएँ और यह सदा स्मरण रखें कि **तुजतः मर्त्यस्य**=इस धनों के दान करनेवाले मनुष्य के **वसवः**=धन **सुपारासः**=उसके सब कार्यों को सम्यक् पार लगानेवाले होते हैं। इस दानी पुरुष का जीवन **चित् हि**=निश्चय से **भूरि**=अत्यन्त ही **बर्हणावत्**=वृद्धिवाला होता है। यह जीवन में निष्पाप होकर आगे और आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—ज्ञान होने पर जीवन निष्पाप बनता है। हम दान की वृत्तिवाले बनते हैं। हमारे धनों की भी वृद्धि होती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धनों के विजेता प्रभु

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ९ ॥

मन्त्र की व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु-स्तवन से पवित्रता व ज्ञानवृद्धि का प्रतिपादन कर रहा है। प्रभु की उपासना द्वारा सोमरक्षण का महत्त्व अगले सूक्त में प्रतिपादित हुआ है—

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'वृषभ' प्रभु का आराधन

इन्द्र॑ त्वा वृष॒भं व॒यं सु॒ते सोमे॑ हवामहे। स पा॑हि॒ मध्वो॒ अन्ध॑सः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=(इन्दौ रयते) सोमरक्षण होने पर हमारे जीवनों में रमण करनेवाले प्रभो! **वृषभम्**=सुखों के वर्षक **त्वा**=आपको **वयम्**=हम **सोमे सुते**=सोम का उत्पादन होने पर **हवामहे**=पुकारते हैं। आपकी आराधना करते हुए हम यही चाहते हैं कि आपकी कृपा से हम इस सोम के रक्षण में समर्थ हों। **सः**=वे आप **मध्वः**=इस मधुर-जीवन को मधुर बनानेवाले, **अन्धसः**=सोम का (आध्यातव्यः भवति) **पाहि**=रक्षण करिए। (२) प्रभु की उपासना में तत्पर व्यक्ति जीवन में व्यर्थ की बातों में-विलासिता में फँसता नहीं। यह विलासिता में न फँसना ही सोमरक्षण का साधन बनता है। इस सोमरक्षक के लिए ही प्रभु सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं। इस प्रकार जब हम सोम का रक्षण कर पाते हैं, तो अपने हृदयों में प्रभु का दर्शन करने की योग्यतावाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना द्वारा उत्पन्न सोम का रक्षण करनेवाले बनें। यही सब सुखों की प्राप्ति का मूल है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'शक्ति व प्रज्ञान' देनेवाला सोम

इन्द्र॑ क्रतु॒विदं॑ सु॒तं सोमं॑ हर्य पुरुष्टुत। पिबा वृ॑षस्व॒ तातृ॑पिम् ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! इस **क्रतुविदम्**=शक्ति व प्रज्ञान के प्रापक (विद् लाभे) **सुतं सोमम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **हर्य**=(पातुं कामयस्व) पीने की कामना करिए। आपके अनुग्रह से यह उत्पन्न हुआ-हुआ सोम हमारे शरीरों में ही सुरक्षित रहे। (२) इस **तातृपिम्**=अत्यन्त प्रीतिजनक सोम को, हे **पुरुष्टुत**=अत्यन्त स्तुति किये जानेवाले प्रभो! **पिब**=शरीर के अन्दर ही व्याप्त करिए और **आवृषस्व**=इसे हमारे शरीर में ही सिक्त करिए। आपके अनुग्रह से यह सोम शरीर का ही अंग बनता हुआ, इस को अत्यन्त शक्तिशाली बनानेवाला हो।

भावार्थ—सोम का रक्षण हमें शक्तिशाली व प्रज्ञावान् बनाए।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञमय जीवन

इन्द्र॑ प्र णो॑ धि॒तावा॑नं य॒ज्ञं विश्वे॑भिर्दे॒वेभिः॑। ति॒रः स्त॑वान विश्पते ॥ ३ ॥

(१) हे **स्तवान**=स्तूयमान **विश्पते**=सब प्रजाओं के रक्षक **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **विश्वेभिः देवेभिः**=सब देवों के साथ **नः**=हमारे **धितावानम्**=(वन्यते संभज्यते इति वानं हविः, धितं हविर्यस्मिन्। संभृत हविष्य) इस हवि के संभरणवाले **यज्ञम्**=यज्ञ को **प्रतिरः**=प्रकर्षेण बढ़ाइये। सूर्यादि सब देवों तथा उपस्थित विद्वान्जनों की अनुकूलता से हमारा यज्ञ अवश्य पूर्ण हो। (२) जीवन ही यज्ञ है। इसमें हमें सदा हवि का सेवन करनेवाला बनना है। ऐसा होने पर हम प्रभु का

सच्चा पूजन कर रहे होते हैं। इस प्रभु-पूजन से हमें सब सूर्यादि देवों की अनुकूलता तो प्राप्त होती ही है। यह जीवन हमें विद्वानों का भी प्रिय बनाता है। इस हवि के स्वीकार-यज्ञशेष के सेवन से हमारे में सभी दिव्यगुणों का विकास होता है। इस प्रकार 'विश्वेभिः देवेभिः' में ये देव आधिदैविक जगत् में सूर्यादि हैं, आधिभौतिक जगत् में विद्वान् हैं और अध्यात्म में सब दिव्यगुण हैं। यह यज्ञमय जीवन हमें इन सब देवों का तथा महादेव प्रभु का प्रिय बनाता है।

भावार्थ—यज्ञमय जीवन द्वारा हम देवों व महादेव के प्रिय बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

चन्द्रासः-इन्दवः (उल्लास व शक्ति)

इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते। क्षयं चन्द्रास इन्दवः ॥ ४ ॥

(१) हे **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक प्रभो! **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **इमे**=ये **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **चन्द्रासः**=आह्लाद के जनक (चदि आह्लादे) **इन्दवः**=(इन्द् to be Powerful) शक्ति को देनेवाले **सोमाः**=सोमकण **तव क्षयम्**=आपके गृह की ओर **प्रयन्ति**=आते हैं, अर्थात् ये हमें आपको प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) सोमकणों के रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र) तथा सदा सत्कार्यों में व्यापृत रहें (सत्पति)। इनके रक्षण से हम जीवन में उल्लास का अनुभव करेंगे (चन्द्रासः) तथा ये सोमकण हमें शक्तिशाली बनाएँगे (इन्दवः) इनके रक्षण का सर्वमहान् लाभ यह है कि ये हमें प्रभु को प्राप्त कराएँगे।

भावार्थ—रक्षित सोम हमें उल्लास व शक्ति प्राप्त कराते हैं, अन्ततः हम इनके रक्षण से ही प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ज्ञान व शक्ति (द्युक्षासः इन्दवः)

दधिष्वा जठरे सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम्। तव द्युक्षास इन्दवः ॥ ५ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **वरेण्यम्**=वरने के योग्य **सुतं सोमम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम को **जठरे**=अपने जठर में ही-अपने अन्दर ही **दधिष्व**=धारण कर। क्षणिक आनन्द की अपेक्षा सोमरक्षण की तपस्या ही श्रेष्ठ है। (२) ये सोमकण धारित होने पर **तव द्युक्षासः**=तेरी ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले हैं-तुझे दीप्त ज्ञानवाला बनानेवाले हैं और **इन्दवः**=ये तुझे शक्तिशाली बनानेवाले हैं। सोम अंग-प्रत्यंग में व्याप्त होकर उन्हें सुपुष्ट करते हैं और ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त करते हैं। इनसे बुद्धि तीव्र होती है।

भावार्थ—रक्षित सोमकण ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं और हमें शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

पवित्र सोम

गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे। इन्द्र त्वादातमिद्यशः ॥ ६ ॥

(१) **गिर्वणः**=हे (गीर्भिः वननीय) ज्ञानवाणियों से उपासना योग्य प्रभो! **नः**=हमारे **सुतम्**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम को **पाहि**=हमारे शरीरों में ही रक्षित करिए। आप इस **मधोः**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम की **धाराभिः**=धारणशक्तियों से ही **अज्यसे**=जाये जाते हैं (अञ्ज् गतौ), अर्थात् जब हम सोम का रक्षण कर पाते हैं, तभी आपको प्राप्त होनेवाले होते हैं। (२) हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यशः**=यश **इत्**=निश्चय से **त्वादातम्**=आपद्वारा

ही शुद्ध किया जाता है (दैप् शोधने)। 'यशो वै सोमः' (श० ४।२।४।९) सोम ही यश है। प्रभु के उपासन से यह शुद्ध बना रहता है-इसमें वासनाओं के कारण उबाल नहीं आता। तभी तो इसका रक्षण सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से सोम पवित्र बना रहता है। यह पवित्र सोम हमें प्रभु की प्राप्ति करानेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षण व सर्वाङ्गीण उन्नति

अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता। पीत्वी सोमस्य वावृधे॥ ७॥

(१) **वनिनः**=उस सम्भजनीय (उपासनीय) प्रभु के **द्युम्नानि**=द्योतमान, अर्थात् ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाले **अक्षिता**=सब क्षयों से बचानेवाले ये सोमकण **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष को **अभिसचन्ते**=प्राप्त होते हैं। प्रभु इसलिए उपासना के योग्य हैं कि प्रभु हमें उन सोमकणों को प्राप्त कराते हैं, जो कि हमारे जीवनों को ज्योतिर्मय बनाते हैं और हमें सब प्रकार के विनाशों से बचाते हैं। (२) यह इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष) **सोमस्य पीत्वी**=सोम का पान करके **वावृधे**=अत्यन्त ही वृद्धि को प्राप्त करता है। सोम उसकी सब प्रकार की उन्नतियों का मूल बनता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से मनुष्य सर्वांगीण उन्नति करनेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु का आगमन

अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन्। इमा जुषस्व नो गिरः॥ ८॥

(१) हे **वृत्रहन्**=हमारी वासनाओं का विनाश करनेवाले प्रभो! गतमन्त्रों के अनुसार सोमरक्षण के होने पर आप **अर्वावतः**=समीप देश से **परावतः च**=और दूरदेश से-जहाँ कहीं भी आप हों, **नः आगहि**=हमें प्राप्त होइये। वस्तुतः प्रभु सर्वव्यापक हैं, उनका समीप व दूर होना हमारे ज्ञान व अज्ञान के कारण से ही है। यह भाषा का प्रयोग ही है कि 'आप जहाँ कहीं भी हों, वहाँ से हमें प्राप्त होइये।' इस प्रकार का प्रयोग प्रभु की अज्ञेयता (अचिन्त्यता) का प्रतिपादन करता है। (२) हे प्रभो! आप **नः**=हमारी **इमाः**=इन **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करिए। हमारी ये वाणियाँ आपके लिए प्रिय हों-हमें ये आपका प्रीतिपात्र बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करते हुए, वासना को विनष्ट करके हम प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

हृदय में प्रभु का आराधन

यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे। इन्द्रेह तत आ गहि॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **परावतम्**=सुदूर देश द्युलोक **च**=व **अर्वावतम्**=समीप देश इस पृथिवीलोक के **अन्तरा**=बीच में, अर्थात् मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवीलोक के मध्य में-हृदयान्तरिक्ष में **हूयसे**=आप पुकारे जाते हैं, तो **इह**=यहाँ हमें **ततः**=तब **आगहि**=अवश्य प्राप्त होइये। (२) हृदय में प्रभु का आराधन करते हुए हम उस प्रभु का दर्शन करनेवाले हों। वस्तुतः प्रभु का दर्शन यहाँ हृदय में ही होता है। हृदय देश में आत्मा व परमात्मा दोनों का ही वास है। इसीलिए यह सर्वोत्तम देश (परम परार्ध) कहलाता है।

भावार्थ—हृदय में प्रभु का आराधन करते हुए हम उस प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

सम्पूर्ण सूक्त उपासना को ही सोमरक्षण का साधन बताता है। इस रक्षित सोम से ही शक्ति व ज्ञान की वृद्धि को प्राप्त करके हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनते हैं। यही भाव अगले सूक्त में भी दर्शनीय है—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—यवमध्यागायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभुस्मरण व सोमरक्षण

आ तू न इन्द्र मद्र्यग्घुवानः सोमपीतये। हरिभ्यां याह्यद्रिवः ॥ १ ॥

(१) हे नः इन्द्र=हमारे सब वासनारूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **अद्रिवः**=(आदृणाति अनेन) वज्रहस्त प्रभो! आप **हुवानः**=प्रार्थना किए जाते हुए **मद्र्यक्**=मेरी ओर **सोमपीतये**=सोम को शरीर में ही व्याप्त करने के लिए **हरिभ्याम्**=इन्द्रियाश्वों के साथ **आयाहि तू**=आइये ही तो, अर्थात् अवश्य आइये। (२) प्रभु को हम पुकारते हैं, तो प्रभु हमें प्राप्त होते हैं। प्रभु की प्राप्ति से हम वासनारूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले होते हैं। वासना का विनाश होने पर सोम का (वीर्य का) शरीर में ही रक्षण होता है। यह रक्षित सोम इन्द्रियों की शक्ति का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से वासनाओं का विनाश होकर सोमरक्षण होता है। और रक्षित सोम इन्द्रियाश्वों को शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभुभक्त का जीवन

सत्तो होता न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक्। अयुज्रन्प्रातरद्रयः ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! यह आपका भक्त **होता न**=होता की तरह **सत्तः**=इस शरीरगृह में स्थित हुआ है। हमें चाहिए कि हम इस मानुष देह को प्राप्त करके होता बनें-सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले बनें। (२) यह आपका भक्त **ऋत्वियः**=प्रत्येक कार्य को ऋतु के अनुसार करनेवाला है-समय पर सब कार्यों को करता है। इस नियमित कार्यक्रमवाले पुरुष से **आनुषक्**=निरन्तर **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय **तिस्तिरे**=आस्तीर्ण किया गया है। इस प्रकार प्रभु भक्त (क) होता बनता है, (ख) समयानुसार कार्य करता है, (ग) हृदय को वासनाशून्य बनाता है। (३) ये **अद्रयः**=those who adore) उपासना करनेवाले लोग **प्रातः**=उषाकाल में ही **अयुज्रन्**=(युजिर् योगे) योग का अभ्यास करते हैं। उषाकाल की उपासना इन्हें वह शक्ति प्राप्त कराती है, जिससे कि वे दिनभर के कार्यक्रम को अनथकरूप से करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—हम (क) दानपूर्वक अदन करनेवाले हों, (ख) समयानुसार कार्य करें, (ग) हृदय को वासनाशून्य बनाएँ, (घ) उषाकाल में प्रतिदिन योगाभ्यास करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

निरन्तर यज्ञ

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद। वीहि शूर पुरोळाशम् ॥ ३ ॥

(१) **ब्रह्मवाहः**=ज्ञानवाणियों को प्राप्त करानेवाले उस प्रभु के **इमा ब्रह्म**=ये ज्ञानपूर्वक किए जानेवाले स्तवन **क्रियन्ते**=किए जाते हैं। हम उस प्रभु से दिए जानेवाले इन ज्ञान के उपदेशों को ग्रहण करें-उन ज्ञानप्रद मन्त्रों द्वारा ही हम उस प्रभु का स्तवन करें। (२) हे प्रभो! आप

बर्हिः=हमारे इस वासनाशून्य हृदय में **आसीद**=आसीन होइये। हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ। ऐसा करने पर हम वहाँ प्रभु का दर्शन करनेवाले होंगे। (३) हे **शूर**=हमारी वासनाओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप हमें **पुरोडाशम्**=('ततिर्वै यज्ञस्य पुरोडाशः' कौ० १०।५) यज्ञ की सन्तति को, अर्थात् निरन्तर यज्ञ-प्रवृत्ति को **वीहि**=(वी गतौ) प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम ज्ञान की वाणियों द्वारा प्रभु का स्तवन करें। प्रभु को वासनाशून्य हृदय में बिठाएँ। वासनाओं से बचने के लिए निरन्तर यज्ञों को करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सवन, स्तोम व उक्थ

रारन्धि सवनेषु ण एषु स्तोमेषु वृत्रहन्। उक्थेष्विन्द्र गिर्वणः ॥ ४ ॥

(१) हे **वृत्रहन्**=हमारी वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **एषु सवनेषु**=इन यज्ञों में **रारन्धि**=रमण करिए। हमारे ये यज्ञ आपके लिए प्रीतिकर हों। इन यज्ञों को करते हुए हम सचमुच वासनाओं से अपने को बचानेवाले हों। (२) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **एषु स्तोमेषु**=इन स्तोत्रों में रमण करिए। हमारे से की जानेवाली ये स्तुतियाँ हमें आपका प्रिय बनाएँ। इन स्तवनों को करते हुए हम आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनें। (३) हे **गिर्वणः**=वेदवाणियों से उपासनीय प्रभो! हमारे इन **उक्थेषु**=उच्चैः उच्चारणीय वेदवचनों में आप रमण करिए। हमारे से उच्चारण की जाती हुई ये वेदवाणियाँ हमें आपका प्रिय बनाएँ। इनके अध्ययन से हम निरन्तर अपना ज्ञान बढ़ानेवाले हों।

भावार्थ—यज्ञों में लगे रहकर हम वासनाओं के शिकार न हों (वृत्रहन्) स्तवन द्वारा शक्ति-वर्धन करनेवाले हों (इन्द्र)। ज्ञानवाणियों के उच्चारण से ज्ञान को बढ़ानेवाले हों (गिर्वणः)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमपा उरु-शवसस्पति

मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम्। इन्द्रं वत्सं न मातरः ॥ ५ ॥

(१) **मतयः**=ज्ञानपूर्वक (मननपूर्वक) स्तवन करनेवाले ज्ञानी उपासक **इन्द्रम्**=उस सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभु को **रिहन्ति**=आस्वादित करते हैं। इस प्रकार आस्वादित करते हैं, **न**=जैसे कि **मातरः**=मातृभूत धेनुएँ **वत्सम्**=बछड़े को स्वाद से चाटती हैं। एक ज्ञानी भक्त प्रभुभक्ति में ही आनन्द का अनुभव करता है। (२) उस प्रभु की भक्ति में आनन्द का अनुभव करता है, जो प्रभु **सोमपाम्**=सोम का रक्षण करते हैं। प्रभुभक्ति से वासना विनष्ट होती है और सोम का रक्षण होता है। **उरुम्**=जो प्रभु विशाल हैं। प्रभु-भक्त सदा विशाल हृदयवाला होता है। **शवसः पतिम्**=जो प्रभु बल के स्वामी हैं। प्रभु-भक्त प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होता है।

भावार्थ—ज्ञानी भक्त (क) सोम का रक्षण कर पाता है, (ख) विशाल हृदयवाला होता है, (ग) शक्ति का स्वामी होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अनिन्दित जीवन

स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे। न स्तोतारं निदे करः ॥ ६ ॥

(१) हे प्रभो! **सः**=वे आप **हि**=निश्चय से **अन्धसः**=इस हमारे द्वारा शरीर में रक्षित किए हुए सोम से **मन्दस्वा**=आनन्दित होइये। हम सोम का रक्षण करते हुए आपको प्रसन्न करनेवाले

हों। एक पुत्र अपने उत्तम कार्यों से पिता को प्रसन्न करनेवाला होता है। हमारा यह सोमरक्षणात्मक कार्य आपको प्रसन्न करनेवाला हो। (२) इस सोमरक्षण के होने पर आप **राधसे**=हमारे कार्यों की सिद्धि के लिए हों। **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार द्वारा **महे**=हमारे महत्त्व के लिये हों तथा हे प्रभो! **स्तोतारम्**=आपका स्तवन करनेवाले मुझको **निदे न करः**=निन्दा के लिए न करिए-हम निन्दा के पात्र न हों।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) आनन्द की प्राप्ति होती है, (ख) कार्यों में सफलता प्राप्त होती है, (ग) शक्तियों के विस्तार से महत्त्व प्राप्त होता है और (घ) हम कभी निन्दा का विषय नहीं बनते।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

हम तुझे, तू हमें

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे। उत त्वमस्मयुर्वसो॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=हमारे सब वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वायवः**=आपको ही अपनाने की कामनावाले हैं (त्वां आत्मन इच्छन्तः), हम त्वत्काम हैं। इसीलिए **हविष्मन्तः**=हविवाले बनकर-त्यागपूर्वक अदनवाले होते हुए **जरामहे**=हम आपका स्तवन करते हैं। (२) हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **उत त्वम्**=और आप भी **अस्मयुः**=हमारी कामनावाले होइये। मेरे लिए आप से यही शब्द कहे जाएँ कि 'ज्ञानी स्वात्मैव मे मतम्' यह ज्ञानीभक्त तो मुझे आत्मतुल्य प्रिय है।

भावार्थ—मैं प्रभु को चाहूँ-प्रभु से चाहा जाऊँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु के समीप

मारे अस्मद्वि मुमुचो हरिप्रियार्वाङ्याहि। इन्द्र स्वधावो मत्स्वेह॥ ८॥

(१) हे **हरिप्रिय**=भक्तों के दुःख हरण करनेवाले (हरि) तथा उन्हें उत्तमोत्तम वसुओं (धनों) से प्रीणित करनेवाले प्रभो! (प्रिय) आप **अर्वाङ् याहि**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होइये। **अस्मद् आरे**=हमारे से दूर ही **मा**=मत **विमुमुचः**=अपने रथ के घोड़ों को खोलिए। वस्तुतः प्रभु तो सर्वत्र हैं ही। उन्हें किसी रथ से आना हो, ऐसी बात नहीं। पर काव्यमय भाषा में ऐसा प्रयोग किया गया है कि प्रभु का रथ हमारे घर पर ही पहुँचे, दूर ही उसके अश्व न खोल दिये जाएँ। (२) हे **स्वधा-वः**=आत्मधारण शक्तिवाले प्रभो! **इह**=यहाँ हमारे हृदय देश में **मत्स्व**=आप आनन्द से स्थित होइये। हम आपका स्मरण करें और आपके आधार में आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—हम प्रभु से दूर न हों। उस सर्वाधार प्रभु के आधार में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सुख रथ

अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना। घृतस्नू बर्हिरासदे॥ ९॥

(१) शरीर रथ है। इसमें सब इन्द्रियाँ ठीक हों तो यह 'सु-ख' (ख=इन्द्रिय) रथ कहलाता है। इसमें इन्द्रियरूप अश्व जुते हुए हैं। कर्मेन्द्रियाँ तो श्रम-जनित-जल (पसीने) के प्रस्रवण से युक्त होने के कारण 'घृत-स्नु' हैं तथा ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाश की रश्मियों के कारण 'केशी' हैं। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **सुखे रथे**=इस शोभन इन्द्रियोंवाले शरीर रथ में

बर्हिः=वासनाशून्य हृदय में **आसदे**=बिठाने के लिए **घृतस्नू**=ये श्रम जनित दीप्तिवाले तथा **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले इन्द्रियाश्व **अर्वाञ्चम्**=हमारी ओर **वहताम्**=प्राप्त करानेवाले हों। हम कर्मेन्द्रियों से सदा कार्यों में व्यापृत रहें तथा ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करनेवाले हों, तो अवश्य उस प्रभु को अपने हृदयों में आसीन कर सकेंगे। यज्ञ और ज्ञान हमारे हृदयों को पवित्र करनेवाले होते हैं और पवित्र हृदय में हम प्रभु को आसीन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम कर्मेन्द्रियों को यज्ञरूप उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रखें और ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में लगाए रखें। इस प्रकार हृदयों को पवित्र बनाकर वहाँ प्रभु को आसीन करें।

सम्पूर्ण सूक्त उपासना द्वारा प्रभु के सान्निध्य का उपदेश कर रहा है। अगले सूक्त में भी इसी सान्निध्य के लिए सोमरक्षण का उपदेश है—

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

गवाशिर् सोम

उप नः सुतमा गहि सोममिन्द्र गवाशिरम्। हरिभ्यां यस्ते अस्मयुः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=हमारे सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **गवाशिरम्**=(गां श्रीणाति=to cook, गो=A ray of Light या सरस्वती) ज्ञानरश्मियों को परिपक्व करनेवाले **सुतं सोमं उप**=उत्पन्न हुए-हुए सोम के समीप **आगहि**=आइये, अर्थात् जब हम इस सोम का (वीर्य का) शरीर में स्थापन करें, तो यह सोम हमारे ज्ञान को परिपक्व करनेवाला हो और हमें आपकी प्राप्ति करानेवाला हो। (२) हे प्रभो! यह सोम वह है **यः**=जो **ते**=आपका होता हुआ **अस्मयुः**=हमारी कामनावाला होता है। सोम आप द्वारा उत्पादित हुआ है, इससे ही हमारा सारा हित सिद्ध होता है। आप **हरिभ्याम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वों के साथ हमें प्राप्त होइये। आपकी कृपा से हमारे इन्द्रियाश्व उत्तम हों।

भावार्थ—रक्षित हुआ-हुआ सोम हमारे ज्ञान को परिपक्व करता है और हमारे इन्द्रियाश्वों को सबल बनाता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

तृप्ति-प्रद सोम

तमिन्द्र मदमा गहि बर्हिःष्ठां ग्रावभिः सुतम्। कुविन्न्वस्य तृप्णवः ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तम्**=उस **ग्रावभिः**=स्तोताओं से **सुतम्**=उत्पन्न किए जानेवाले सोम को **आगहि**=प्राप्त हो, जो कि **मदम्**=सुरक्षित होने पर हर्ष का कारण बनता है तथा **बर्हिःष्ठाम्**=वासनाशून्य हृदय में स्थित होनेवाला है। हृदय के वासनाशून्य होने पर ही सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। (२) **नु**=अब **कुवित्**=अत्यन्त ही **अस्य तृप्णवः**=इसके पान से (=शरीर में ही व्याप्त करने से) तू तृप्ति का अनुभव कर (तृप का लेट् में रूप है)। हमारा सारा प्रयत्न इस सोमरक्षण के लिए हो। इसका रक्षण होने पर ही वास्तविक प्रीति का अनुभव होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही तृप्ति का अनुभव होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आवृते-सोमपीतये

इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छागुरिषिता इतः। आवृते सोमपीतये॥ ३॥

(१) **मम**=मेरी **इत्था**=इस प्रकार सत्य-सत्य **इषिताः**=प्रेरित की हुईं-उच्चारण की गयीं **गिरः**=वाणियाँ **इतः**=यहाँ इस यज्ञभूमि से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अच्छ अगुः**=आभिमुख्येन प्राप्त हों। यज्ञों को करते हुए हम प्रभु की स्तुतिवाणियों का उच्चारण करें। (२) इसलिए इन स्तुति-वाणियों का उच्चारण करें कि **आवृते**=(आवर्तयितुं) इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त कर सकें और इस प्रकार **सोमपीतये**=सोम का शरीर में पान कर सकें-सोम को शरीर में ही सुरक्षित रख पायें।

भावार्थ—हम यज्ञों में प्रभु का स्तवन करें। इससे इन्द्रियाँ विषयों में न फँसेंगी और हम सोम का (वीर्य का) रक्षण कर सकेंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तोम व उक्थ

इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे। उक्थेभिः कुविदागमत्॥ ४॥

(१) **इह**=इस जीवन में **सोमस्य पीतये**=सोम के (वीर्य के) शरीर में ही व्यापन के लिए **इन्द्रम्**=उस शत्रु-विद्रावक प्रभु को **स्तोमैः**=स्तोत्रों द्वारा **हवामहे**=पुकारते हैं। (२) **उक्थेभिः**=ज्ञान-वाणियों के उच्चारण से वह प्रभु **कुवित्**=अत्यन्त ही **आगमत्**=हमें प्राप्त होते हैं। जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता है, उतना-उतना हम प्रभु के समीप होते जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन द्वारा हम सोम का रक्षण करनेवाले हों और ज्ञान-वाणियों के उच्चारण से प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्र, शतक्रतु व वाजिनीवसु

इन्द्र सोमाः सुता इमे तान्दधिष्व शतक्रतो। जठरे वाजिनीवसो॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **इमे**=ये **सोमाः**=सोम (वीर्यकण) **सुत्यः**=उत्पन्न किये गये हैं, हे **शतक्रतो**=शतवर्षपर्यन्त यज्ञों को करनेवाले जीव! **तान् दधिष्व**=उनको तू अपने में धारण कर। यज्ञादि कर्मों में लगे रहना ही सोमरक्षण का साधन है। (२) हे **वाजिनीवसो**=शक्तिप्रद अन्नों से अपने निवास को उत्तम बनानेवाले जीव! तू इन सोमों को **जठरे**=अपने अन्दर ही धारण क्रर। सोम्य अन्नों का सेवन होने पर सोम का रक्षण अधिक सम्भव होता है। आग्नेय भोजन सोमरक्षण के अनुकूल नहीं हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए हम (क) जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र), (ख) यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें (शतक्रतो), (ग) उत्तम सोम्य अन्नों का सेवन करें (वाजिनीवसो)।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

धनों का विजय-शत्रुपराजय

विद्मा हि त्वा धनञ्जयं वाजेषु दधृषं कवे। अधा ते सुम्नमीमहे॥ ६॥

(१) हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन्-सर्वज्ञ प्रभो! **हि**=निश्चय से **त्वा**=आपको ही **धनञ्जयम्**=सब

धनों का विजय करनेवाला **विद्म**=जानते हैं। वस्तुतः आप ही धनों का विजय करते हैं। आपकी शक्ति से ही हम उन-उन धनों को प्राप्त किया करते हैं। (२) **वाजेषु**=संग्रामों में आपको ही **दधृषम्**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला हम समझते हैं। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचलने की शक्ति आप में ही है। हमारी शक्ति से इनका विजय सम्भव नहीं। **अधा**=इसलिए **ते सुम्नम्**=आप से ही सुख की **ईमहे**=याचना करते हैं। आपका स्तवन करते हुए ही हम आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर धनों का विजय करते हैं और शत्रुओं का धर्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन हमें धनों का विजेता व शत्रुओं का पराजेता बनाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'गवाशिर्+यवाशिरं' सोम

इममिन्द्र यवाशिरं च नः पिब। आगत्या वृषभिः सुतम्॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **इमम्**=इस **वृषभिः सुतम्**=शक्तिशाली पुरुषों से सम्पादित **नः**=हमारे सोम को **पिब**=हमारे शरीर में ही व्याप्त करने की कृपा करिए। **आगत्य**=हमारे हृदयदेश में आकर आप इस सोम का पान करिये। आपके यहाँ आने पर वासनाओं का रहना सम्भव नहीं रहता और सोम सुरक्षित रहता है। (२) यह सोम वह है जो कि **गवाशिरम्**=हमारे ज्ञानों को परिपक्व करनेवाला है (गो=ज्ञान, श्रीणाति to prepare) **च**=और **यवाशिरम्**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) भद्र के मिश्रण व अभद्र के अमिश्रण को करनेवाला होता है (श्रीणाति=to cook)।

भावार्थ—प्रभु को हृदयदेश में स्थापित करके हम सोमरक्षण करें। यह हमारे ज्ञान को परिपक्व करेगा और हमारे से अभद्र को दूर करता हुआ भद्र का हमारे साथ मिश्रण करनेवाला होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमजनित हृदयोल्लास

तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्ये३ सोमं चोदामि पीतये। एष रारन्तु ते हृदि॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तुभ्य इत्**=निश्चय से तेरे लिए ही **स्वे ओक्ये**=इस आत्मा के निवास-स्थानभूत शरीर में (ओक्य=गृह) **सोमम्**=सोम को-वीर्य को **पीतये**=अन्दर ही व्याप्त करने के लिए **चोदामि**=प्रेरित करता हूँ। इसके शरीर में व्याप्त होने से नीरोगता आदि द्वारा मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है। (२) **एषः**=ये **ते**=तेरे **हृदि**=हृदय में **रारन्तु**=रमण करनेवाला हो। सुरक्षित हुआ-हुआ सोम हृदय में आनन्द को उत्पन्न करता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमारी उन्नति का कारण होता है और यह हृदय में आनन्द उत्पन्न करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

कुशिकासः-अवस्यवः

त्वां सुतस्य पीतये प्रत्नमिन्द्र हवामहे। कुशिकासो अवस्यवः॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **कुशिकासः**=(स्तुति के शब्दों का क्रोशन करनेवाले) हाथों में हल को लिये हुए (कुशिक=plough) **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले, हम **सुतस्य पीतये**=उत्पन्न सोम को शरीर में ही व्यापन के लिए **प्रत्नं त्वा**=पुराण पुरुष आपको **हवामहे**=हम पुकारते हैं। (२) आपकी आराधना, हमारी वासनाओं को दूर करके हमें इस योग्य बनाती है कि हम सोम का रक्षण कर सकें। इसी भाव को 'कुशिकासः' शब्द व्यक्त कर रहा है। प्रभु का स्तवन

हमें वासनाओं से ऊपर उठाकर सोमरक्षण के योग्य बनाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण द्वारा हम वासनाओं से ऊपर उठकर सोम का रक्षण कर पाएँ।

सम्पूर्ण सूक्त गवाशिर् व यवाशिर् सोम के महत्त्व को ही व्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त में भी प्रभु का उपासन करते हुए कहते हैं कि—

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उत्तम हृदय व उत्तम इन्द्रियाँ

आ याह्यर्वाङुप वन्धुरेष्ठास्तवेदनु प्रदिवः सोमपेयम् ।
प्रिया सखाया वि मुचोप बर्हिस्त्वामिमे हव्यवाहो हवन्ते ॥ १ ॥

(१) हे इन्द्र! **अर्वाङ्**=हमारी ओर **उप आयाहि**=समीपता से प्राप्त होइये। **वन्धुरेष्ठाः**=(वन्धुर=Lovely, Beautiful, Handsome) आप वासना से शून्य-निर्मल अतएव सुन्दर हृदय में आसीन होते हैं। **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **तव**=तेरे **अनु इत्**=अनुसार ही **सोमपेयम्**=सोम का पान होता है, अर्थात् जितना-जितना हम आपको अपने हृदय में स्थापित कर पाते हैं, उतना-उतना ही सोम का रक्षण भी करनेवाले होते हैं। (२) हे प्रभो! आप अपने इन **प्रिया**=प्रीति के कारणभूत-अच्छे लगनेवाले **सखाया**=परस्पर मिलकर कार्य करनेवाले इन्द्रियाश्वों को **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय के **उप**=समीप **विमुच**=खोलिए। आपकी कृपा से हमारा हृदय वासनाशून्य हो और हमें इस प्रकार की इन्द्रियाँ प्राप्त हों कि वे मिलकर कार्य करनेवाली हों-मानो वे परस्पर मित्र ही हों। ज्ञानेन्द्रियों से दिये गये ज्ञान के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ कर्म करें। (३) इस प्रकार उत्तम हृदय व प्रिय इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करने के लिए ही **इमे**=ये **हव्यवाहः**=हव्य पदार्थों का वहन करनेवाले लोग **त्वाम्**=आपको **हवन्ते**=पुकारते हैं। आपने ही वस्तुतः हमें उत्तम हृदय व उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराना है। आप इन वस्तुओं को प्राप्त उन्हें ही कराते हैं, जो कि हव्य का वहन करनेवाले हों-सदा त्यागपूर्वक उपभोग करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम सोम का रक्षण करें। इससे हमारा हृदय भी उत्तम बनेगा और इन्द्रियाँ भी। हम सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

श्रमशीलता द्वारा पालन व पूरण

आ याहि पूर्वीरति चर्षणीराँ अर्य आशिष उप नो हरिभ्याम्।
इमा हि त्वा मतयः स्तोमतष्टा इन्द्र हवन्ते सख्यं जुषाणाः ॥ २ ॥

(१) **पूर्वीः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **चर्षणीः**=श्रमशील मनुष्यों को **अति**=अतिशयेन **आयाहि**=प्राप्त होइये। प्रभु उन्हें ही प्राप्त होते हैं, जो कि शरीर के दृष्टिकोण से अपना पालन करते हैं-शरीरों को रुग्ण नहीं होने देते और मन के दृष्टिकोण से जो अपना पूरण करते हैं, अर्थात् मन में ईर्ष्या-द्वेष आदि दुर्भावों को उत्पन्न नहीं होने देते। इसी दृष्टिकोण से जो सदा कार्यों में लगे रहते हैं, कभी अनाश्रमी होकर स्थित नहीं होते। (२) **नः**=हमारी **आशिषः**=इच्छा के **अर्यः**=आप ही स्वामी हैं। आप **हरिभ्याम्**=इन इन्द्रियाश्वों के साथ **नः उप**=हमारे समीप प्राप्त होइये। हमें आपकी कृपा से उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त हों। (३) **इमाः**=ये **हि**=निश्चय से **स्तोमतष्टाः**=स्तोताओं से की गयी **मतयः**=बुद्धिपूर्वक स्तुतियाँ **त्वा**=तुझे ही प्राप्त होती हैं। हे

इन्द्र=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! ये स्तोता **सख्यं जुषाणाः**=आपकी मित्रता का प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए आपको ही **हवन्ते**=पुकारते हैं।

भावार्थ—अपना पालन व पूरण करते हुए श्रमशील बनकर हम प्रभुप्राप्ति के पात्र बनते हैं। प्रभु हमारी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं, हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

घृत प्र-याः

आ नो॑ य॒ज्ञं न॑मो॒वृधं॑ स॒जोषा॒ इन्द्र॑ देव॒ हरि॑भिर्याहि॒ तूय॑म्।

अ॒हं हि त्वा॑ म॒तिभि॒र्जोह॑वीमि घृ॒तप्र॑याः सध॒मादे॒ मधू॑नाम्॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप **नः**=हमारे **नमोवृधम्**=अन्नों के वर्धक (यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसंभवः) **यज्ञम्**=यज्ञ को **सजोषाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **तूयम्**=शीघ्र **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों के साथ **आयाहि**=आइये। हम यज्ञ करें, यह यज्ञ आपको प्रिय हो, आप हमें इन यज्ञों द्वारा उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराइये। (२) **अहम्**=मैं **हि**=निश्चय से **मतिभिः**=मननपूर्वक किये गये स्तोत्रों से **त्वा जोहवीमि**=तुझे पुकारता हूँ। आपके पुकारनेवाला मैं **मधूनाम्**=ओषधियों के सारभूत सोमकणों के **सधमादे**=साथ हर्ष में **घृतप्रयाः**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति की ओर प्रकृष्ट गतिवाला होता हूँ (प्रया)। मैं सोम का रक्षण करता हूँ—उससे आनन्द व प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ। इस सोमरक्षण द्वारा मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्तिवाला बनता हूँ।

भावार्थ—मैं यज्ञशील बनूँ, प्रभु मुझे उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराएँ। उपासन द्वारा सोमरक्षण करता हुआ मैं निर्मल शरीरवाला व दीप्त मस्तिष्कवाला होऊँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्रियाशीलता व सात्त्विक भोजन

आ च॒ त्वामे॒ता वृष॑णा॒ वहा॑तो॒ हरी॒ सखा॑या सु॒धुरा॒ स्वङ्गा॑।

धा॒नाव॒दिन्द्रः॒ सव॑नं जुषा॒णः सखा॒ सख्युः॑ शृणव॒द्वन्द॑नानि॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वाम्**=तुझे **एता**=ये **वृषणा**=शक्तिशाली **हरी**=इन्द्रियाश्व **आवहातः**=समन्तात् कार्यों में ले चलनेवाले हों। ये इन्द्रियाश्व **सखाया**=परस्पर मित्रभूत हों—मिलकर कार्यों को करनेवाले हों। ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञानानुसार कर्मेन्द्रियाँ कर्मों को करनेवाली हों। **सुधुरा**=कार्य धुरा को ये इन्द्रियाश्व सम्यक् धारण करनेवाले हों। **स्वंगा**=उत्तम अंगोंवाले व उत्तम गतिवाले हों (अगि गतौ)। (२) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **धानावत्**=भुने हुए जौवाले **सवनं जुषाणः**=जीवन-यज्ञ का सेवन करता हुआ जीवनयापन करे। इसका भोजन ये धावा ही हों। इन सात्त्विक भोजनों से जीवन की वृत्ति भी सात्त्विक बनी रहती है। इस सात्त्विक वृत्ति के होने पर वह **सखा**=प्राणिमात्र का मित्र प्रभु **सख्युः**=मुझ सखा के **वन्दनानि**=वन्दनों को **शृणवत्**=सुनता है। यदि मैं इन्द्रियाश्वों को शक्तिशाली बनाकर कार्यों में निरन्तर लगा रहता हूँ और जौ आदि सात्त्विक भोजनों को करता हूँ, तो प्रभु मेरे से की गयी स्तुति को सुनते हैं। जीवन को मैं कुछ बनाने का प्रयत्न न करूँ और वन्दन ही वन्दन करता रहूँ, तो यह वन्दन व्यर्थ है, ऐसा वन्दन प्रभु को प्रिय नहीं।

भावार्थ—जीवन क्रियामय हो और भोजन सात्त्विक हो, तो हमारा वन्दन अवश्य सुना जाएगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मैं कैसा बनूँ!

कुविन्मा॑ गो॒पां कर॑से॒ जन॑स्य कुविद्राजा॑नं मघवन्नृजीषिन्।
कुविन्म॒ ऋषिं॑ पपि॒वांसं॑ सु॒तस्य॒ कुविन्मे॒ वस्वो॑ अ॒मृत॑स्य॒ शिक्षाः॑ ॥ ५ ॥

(१) हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **कुवित्**=अत्यन्त **जनस्य गोपाम्**=लोगों का रक्षक **करसे**=करिये। मैं सब के रक्षण में प्रवृत्त होऊँ। (२) हे मघवन्! (मघ:मख) हे यज्ञशील व ऐश्वर्यशालिन् **ऋजीषिन्**=(ऋजु+इष) सरलता की प्रेरणा देनेवाले प्रभो! आप मुझे **कुवित्**=अत्यन्त ही **राजानम्**=बड़े व्यवस्थित (Regulated) व दीप्त जीवनवाला बनाइये। (३) **कुवित्**=अत्यन्त ही **मा**=मुझे **ऋषिम्**=तत्त्वद्रष्टा बनाइये। और **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का **पपिवांसम्**=पीनेवाला करिए। (४) ये सबकुछ करके **मे**=मेरे लिए **कुवित्**=अत्यन्त ही **अमृतस्य**=नीरोगता को जन्म देनेवाले-अथवा विषयों के पीछे न मरनेवाले **वस्वः**=धन को **शिक्षाः**=दीजिए। हमें यह धन दीजिए जिससे कि हम पापों में तो फँसे नहीं, पर हमारे सब कार्य जिससे सिद्ध हो सकें।

भावार्थ—लोगों का रक्षक, नियमित जीवनवाला तत्त्वद्रष्टा व सोमपान करनेवाला मैं बनूँ। प्रभुकृपा से मुझे कार्यसाधक धन प्राप्त हो, वह धन जिससे मैं विषयों में न फँस जाऊँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कैसे इन्द्रियाश्व!

आ त्वा॑ बृ॒हन्तो॒ हर॑यो यु॒जा॒ना अ॒र्वागि॑न्द्र सध॒मादो॑ वहन्तु।
प्र ये द्वि॒ता दि॒व ऋ॒ञ्जन्त्याताः॒ सुसं॑मृष्टासो वृष॒भस्य॑ मू॒राः ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा**=तुझे **हरयः**=इन्द्रियाश्व **अर्वाग्**=अन्दर की ओर (=प्रभु के समीप) **आ वहन्तु**= ले चलनेवाले हों। कैसे इन्द्रियाश्व जो कि **बृहन्तः**=दिन व दिन बढ़ती हुई शक्तिवाले हैं। **युजानः**=सदा शरीररूप रथ में जुते हुए हैं-योगमार्ग की ओर प्रवृत्तिवाले हैं। **सधमादः**=परस्पर हर्ष के साथ रहनेवाले हैं-'ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञानानुसार कर्म, कर्मेन्द्रियों के कर्म से ज्ञान की वृद्धि' इस प्रकार ये दोनों इन्द्रियाश्व मिलकर चलते हैं-दोनों मिलकर शरीर रथ का वहन करते हैं। (२) **ये**=जो घोड़े **द्विता**=दो प्रकार से-शक्ति व प्रकाश से **दिवः आताः**=इस द्युलोक की सब दिशाओं को **प्र ऋञ्जन्ति**=प्रसाधित करते हैं। सब दिशाओं में ये शक्ति व प्रकाश का प्रसार करते हैं। ये इन्द्रियाश्व **सुसंमृष्टासः**=सम्यक्तया शोधित हैं। ये **वृषभस्य**=शक्तिशाली पुरुष के इन्द्रियाश्व **मूराः**=शत्रुओं के मारक हैं-शत्रुओं का विनाश करके ये यात्रा में आगे और आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—हमारे शरीर रथ के ये इन्द्रियाश्व वृद्धिवाले, सतत कार्यशील, मिलकर चलनेवाले निर्मल व शत्रुओं के मारक होकर सब ओर शक्ति व प्रकाश का प्रसार करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

विषयाकर्षण को दूर करना

इन्द्र॒ पिब॒ वृष॑धूतस्य॒ वृष्ण॒ आ यं ते॑ श्ये॒न उ॑श॒ते ज॒भार॑।
यस्य॒ मदे॑ च्या॒वय॑सि॒ प्र कृ॒ष्टीर्यस्य॒ मदे॒ अप॑ गो॒त्रा व॒वर्थ॑ ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **वृषधूतस्य**=शरीर में सुखों का वर्षण करनेवाले (वृष)

व रोगकृमियों को कम्पित करके दूर करनेवाले (धूत) **वृष्णाः**=शक्तिशाली सोम का **पिब**=पान कर, इसे तू शरीर में ही सुरक्षित कर। उस सोम (वीर्य) का तू पान कर, **यम्**=जिसको **उशते ते**=चाहनेवाले तेरे लिए **श्येनः**=वह शंसनीय गतिवाला प्रभु **आजभार**=प्राप्त कराता है। वस्तुतः सोमपान का उपाय भी 'श्येन' बनना ही है, शंसनीय गतिवाला बनना। सदा क्रिया में लगे रहने से ही सोम का रक्षण होता है। (२) यह सोम वह है, **यस्य**=जिसके **मदे**=मद में-हर्ष में **कृष्टीः**=(कृष्टिः=drawing, attracting) विषयों के आकर्षणों को **प्रच्यावयसि**=तू दूर करता है। सोम का रक्षण करने पर तू विषयों से आकृष्ट नहीं होता और **यस्य मदे**=जिसके मद में तू **गोत्रा**=इन्द्रियसमूह को **अपववर्थ**=सदा वासनात्मक विषयों से विनिवृत्त करता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करने पर मनुष्य विषयों के आकर्षण से ऊपर उठता है और इन्द्रियों को इस विषयपंक में फँसने नहीं देता।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मघवान् प्रभु को पुकारना

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ८ ॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त सोमरक्षण के महत्त्व का ही प्रतिपादन कर रहा है। अगले सूक्त का भी विषय यही है—

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सोमरक्षण से प्रभुप्राप्ति

अयं ते अस्तु हर्यतः सोम आ हरिभिः सुतः ।
जुषाण इन्द्र हरिभिर्न आगह्या तिष्ठ हरितं रथम् ॥ १ ॥

(१) **अयम्**=यह **हर्यतः**=कान्त-चाहने योग्य **सोमः**=सोम (वीर्य) **ते अस्तु**=तेरे लिए हो। यह **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों के हेतु से **आसुतः**=समन्तात् उत्पन्न किया गया है। **जुषाणः**=यह सोम तेरे लिए प्रीति का विषय हो। इसका पान तुझे प्रिय हो। इसको शरीर में सुरक्षित करता हुआ तू प्रीति का अनुभव करे। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! इस सोम का पान करता हुआ तू **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **नः**=हमें (प्रभु को) **आगहि**=प्राप्त हो। ये इन्द्रियाश्व विषयों में न फँसे रहकर सर्वत्र प्रभु की विभूति को देखनेवाले बनें। तू **हरितं रथम्**=न शुष्क-जिसके अंग-प्रत्यंग सूखे काठ की तरह नहीं हो गये, ऐसे शरीर-रथ को **आतिष्ठ**=अधिष्ठित कर। तेरा शरीर रसमय अंगोंवाला बना रहे-तू आंगिरस बन।

भावार्थ—सोमरक्षण से शरीर का अंग-प्रत्यंग रसवाला बनता है और इस शरीर-रथ पर अधिष्ठित होकर यह सोमपान करनेवाला प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सोमरक्षण से 'ज्ञान व श्री' की प्राप्ति

हर्यन्नुषसमर्चयः सूर्यं हर्यन्नरोचयः । विद्वांश्चिकित्वान्हर्यश्व वर्धस इन्द्र विश्वा अभि श्रियः ॥ २ ॥

(१) **हर्यन्**=सोमरक्षण की कामनावाला होता हुआ तू **उषसं अर्चयः**=(अत्यन्त संयोग में द्वितीया है) सम्पूर्ण उषा काल में प्रभु की अर्चना करता है-तू उषाकाल को अर्चना में व्यतीत करता है। यह प्रभु की अर्चना हृदय को पवित्र बनाती है और हमें सोमरक्षण के योग्य करती है। (२) **हर्यन्**=इस सोमरक्षण की कामनावाला होता हुआ तू **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **नः रोचयः**=दीप्त करनेवाला बन। यह रक्षित सोम ही तो तेरी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनेगा। (२) इस प्रकार **विद्वान्**=ज्ञानी व **चिकित्वान्**=(कित निवासे रोगापनयने च) उत्तम निवासवाला व नीरोग बनकर हे **हर्यश्व**=कान्त-चमकते हुए इन्द्रियाश्वोंवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **विश्वाः श्रियः अभि**=सब श्रियों व लक्ष्मियों की ओर **वर्धसे**=तू बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है, सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। यह दीप्त ज्ञानाग्निवाला पुरुष श्री-सम्पन्न बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दीप्त मस्तिष्क व तेजस्वी शरीर

द्यामिन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरिवर्पसम्। अधारयद्धरितोर्भूरि भोजनं ययोरन्तर्हरिश्चरत्॥ ३ ॥

(१) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **हरि-धायसम्**=दुःखों का हरण करनेवाली ज्ञानरश्मियोंवाले (धायसो धारका रश्मयः सा०) **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **अधारयत्**=धारण करता है। इसका मस्तिष्क ज्ञानरश्मियोंवाला होता है। अपने ज्ञान द्वारा यह औरों के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करता है। (२) यह इन्द्र **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **हरिवर्पसम्**= (हरि=like fire) अग्नि के समानरूपवाली बनाकर धारण करता है। इसका शरीर अग्नि के समान तेजस्वी होता है। (३) यह **हरितोः**=इन दीप्त शरीर व मस्तिष्क के **भूरि भोजनम्**=पोषक भोजन को धारण करता है। ऐसा ही भोजन इसके शरीर व मस्तिष्क को पुष्ट रखनेवाला होता है। **ययोः अन्तः**=जिन शरीर व मस्तिष्क के अन्दर-शरीर व मस्तिष्क के मध्य, अर्थात् हृदय में, **हरिः**=सबके दुःखों का हरण करनेवाला यह **चरत्**=गति करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम दीप्त मस्तिष्क व तेजस्वी शरीरवाले बनकर सबके दुःखों को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

जज्ञानः हरितो वृषा

जज्ञानो हरितो वृषा विश्वमा भाति रोचनम्। हर्यश्वो हरितं धत्त आयुधमा वज्रं बाह्वोर्हरिम्॥ ४ ॥

(१) **जज्ञानः**=सोमरक्षण द्वारा शक्तियों का विकास करता हुआ, **हरितः**=दीप्तियुक्त, **वृषा**=शक्तिशाली यह इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष) **विश्वं रोचनं याभाति**=सब दीप्त लोकों को प्रकाशित करता है। सब लोकों से अधिक दीप्तिवाला होता है, जहाँ जाता है, वहाँ दीप्ति को फैलानेवाला होता है। (२) **हर्यश्वः**=यह कान्त (चमकते हुए) इन्द्रियाश्वोंवाला इन्द्र **बाह्वोः**=अपनी भुजाओं में **आवज्रम्**=समन्तात् गतिरूप **हरितम्**=दीप्त **आयुधम्**=आयुध को-अस्त्र को **धत्ते**=धारण करता है। गति ही इसका वह आयुध बनती है, जिससे कि यह वासनारूप शत्रु को विनष्ट करनेवाला बनता है। यही इन्द्र का वज्र द्वारा वृत्र को विनष्ट करना है।

भावार्थ—शक्तियों का विकास करके दीप्त व शक्तिशाली बनकर हम क्रियाशीलतारूप दीप्त वज्र से वासनारूप शत्रु का विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

क्रियाशीलता व उपासना

इन्द्रो हर्यन्तमर्जुनं वज्रं शुक्रैरभीवृतम्। अपावृणोद्धरिभिरद्रिभिः सुतमुद्गा हरिभिराजत ॥ ५ ॥

(१) **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **हर्यन्तम्**=कान्त-चमकते हुए **अर्जुन**=श्वेत, अर्थात् निर्मल **वज्रम्**=वज्र को-क्रियाशीलतारूप आयुध को **शुक्रैः अभीवृतम्**=(शुच दीप्तौ शुक गतौ) निर्मल गतियों से घिरा हुआ व व्याप्त करके **अपावृणोत्**=वासना से अपावृत करता है। यह इन्द्र सदा उत्तम क्रियाओं में लगा रहता है और इस प्रकार अपने पर वासनाओं के आक्रमण को नहीं होने देता। (२) यह अपने जीवन में **अद्रिभिः**=(आ दृङ्=आद्रियते those who adore) उपासना में तत्पर **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों से **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **अपावृणोत्**=वासनाओं से आवृत नहीं होने देता। यह **हरिभिः**=इन गतिशील इन्द्रियाश्वों द्वारा **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **उद् आजत**=अपने में उत्कर्षेण प्रेरित करता है।

भावार्थ—क्रियाओं में लगे रहना व उपासना में प्रवृत्त होना आवश्यक है। इसी प्रकार वासनाओं का विनाश होता है और उत्कृष्ट ज्ञानवाणियों की प्राप्ति होती है।

सम्पूर्ण सूक्त सोमरक्षण की आवश्यकता पर बल दे रहा है। इसी दृष्टिकोण से अगले सूक्त का प्रारम्भ विषयों में न फँसने के उपदेश से होता है—

४५. [पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

विषय-मरुस्थली का उलंघन

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा के चिन्नि यमन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥ १ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **आयाहि**=हमारे समीप आनेवाला हो। उन इन्द्रियाश्वों से जो कि **मन्द्रैः**=(praiseworthy) प्रशंसनीय हैं और **मयूररोमभिः**=(मीनाति हिनस्ति इति मयूरः, 'रोम'=रुशब्दे) वासना-विध्वंसक शब्दों का उच्चारण करनेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व गम्भीर ज्ञानवाले होकर प्रशंसनीय हैं, तो कर्मेन्द्रियरूप अश्व प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए वासनाओं का विनाश करनेवाले हैं। ऐसे इन्द्रियाश्व ही हमें प्रभु की ओर ले चलते हैं। (२) **त्वा**=तुझे इस यात्रा में **केचित्**=कोई भी विषय **मा नियमन्**=मत रोकनेवाले हों। तू विषयों से बीच में ही पकड़ न लिया जाए, **न**=जैसे कि **विम्**=पक्षी को **पाशिनः**=व्याधे पकड़ लेते हैं। विषय व्याध के समान हैं, हम इनके शिकञ्जे में न पड़ जाएँ। **त्वन्**=उन विषयों को **धन्व इव**=मरुस्थल की तरह **अति इहि**=लाँघकर तू हमारे समीप प्राप्त होनेवाला हो। विषय वस्तुतः मरुस्थल हैं, उनमें कोई वास्तविक आनन्द नहीं। उनमें फँसना तो मूढ़ता ही है।

भावार्थ—हम विषयों में न फँसते हुए प्रभु की ओर आगे और आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

असुरों की पुरियों का विध्वंस

वृत्रखादो वलंरुजः पुरां दर्मो अपामजः। स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वर इन्द्रो दृळहा चिदारुजः ॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार विषयों से न जकड़े जानेवाला व्यक्ति **वृत्र-खादः**=वासना को खा जानेवाला, अर्थात् वासना को पूर्णरूपेण विनष्ट करनेवाला। **वलंरुजः**=ज्ञान पर परदे के रूप में आ जानेवाले इस वलासुर को यह भग्न करनेवाला होता है (वल=veil)। इस प्रकार **पुरां दर्मः**=असुर-पुरियों का यह विदारण करता है। काम ने इन्द्रियों में, क्रोध ने मन में तथा लोभ ने बुद्धि में अपना नगर बसाया था। यह इन्द्र इन तीनों का विध्वंस करता है, 'पुरां दर्मः' बनता है। इस दृष्टिकोण से ही यह **अपां अजः**=कर्मों का अपने निरन्तर प्रेरण करनेवाला होता है-सदा क्रियाशील होता हुआ यह वासनाओं का शिकार नहीं होता। (२) इस प्रकार यह **रथस्य स्थाता**=अपने शरीररथ का अधिष्ठाता बनता है, **हर्योः**=अपने इन्द्रियाश्वों का भी यह अधिष्ठाता होता है। **अभिस्वरे**=(सृ शब्दे) प्रातः-सायं प्रभु की स्तुति के शब्दों के उच्चारण होने पर **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **दृढा चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी वासनाओं को **आरुजः**=छिन्न-भिन्न करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से शक्तिशाली बनकर हम असुर-पुरियों का विदारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

सोमकणों का समुद्र

गम्भीराँ उदधीँरिव क्रतुं पुष्यसि गाइव। प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा ह्रदं कुल्याइवाशत॥ ३॥

(१) हे प्रभो! जैसे आप **गम्भीरान् उदधीन्**=गहरे समुद्रों को जल से परिपूर्ण करते हैं, उसी प्रकार **क्रतुम्**=इस यज्ञशील पुरुष को भी आप **पुष्यसि**=शक्ति व धनादि से पुष्ट करते हैं। **इव**=जैसे **सुगोपाः**=उत्तम ग्वाला **गाः**=गौओं को **प्र (पुष्यति)**=रक्षण द्वारा पुष्ट करता है, इसी प्रकार आप इन जीवरूप गौओं का रक्षण करते हैं। (२) **यथा**=जैसे **धेनवः**=गौएँ **यवसम्**=चरी को **आशत**=खाती हैं और **इव**=जैसे **कुल्याः**=छोटी-छोटी नदियाँ **ह्रदम्**=बड़ी भारी झील को **आशत**=व्याप्त करती हैं, उसी प्रकार आपके भक्त इस क्रतु (यज्ञकर्ता) को सोम (=शक्तिकण) प्राप्त होते हैं। यह भक्त सोमकणों का समुद्र बनता है, यह सोम कुल्याओं के लिये ह्रद के समान होता है।

भावार्थ—प्रभु यज्ञकर्ता का पोषण करते हैं। इसे वे शक्तिरूप जल का समुद्र बनाते हैं। इसमें सोमकणों का इस प्रकार निवास होता है, जैसे छोटी-छोटी नदियों का ह्रद में।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सम्पारण वसु

आ नस्तुजं रयिं भराशं न प्रतिजानते। वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूनुहीन्द्र संपारणं वसु॥ ४॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **तुजं रयिम्**=शत्रुओं के बाधक धन को **आभर**=सर्वथा प्राप्त कराइये। हमें वह धन दीजिए, जो कि हमारी सब आवश्यकताओं का पूरण करता हुआ हमें वासनाओं व विषयों का शिकार नहीं होने देता। आप इस प्रकार हमें धन दीजिए **न**=जैसे कि **प्रतिजानते**=ज्ञानी-समझदार-पुत्र के लिए (not minor) पिता **अंशम्**=धनांश को प्राप्त कराता है। हम भी आप से धनांश प्राप्त करके समझदार पुत्र की तरह व्यवहार करनेवाले हों। (२) **इव**=जैसे **अङ्की**=हुक (hook) वाले दण्डवाला पुरुष **पक्वं फलम्**=पके हुए फल को लक्ष्य करके **वृक्षम्**=वृक्ष को कम्पित करता है और उन पके फलों को वृक्ष से नीचे प्राप्त कराता है, इसी प्रकार हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभु आप हमारे लिये उस **वसु**=धन को **धूनुहि**=कम्पित करिए-प्राप्त कराइये जो कि **सम्पारणम्**=हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाला है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें वह धन प्राप्त हो, जो कि हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाला हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

स्वराट्-स्मद्दिष्टिः

स्वयुरिन्द्र स्वराळसि स्मद्दिष्टिः स्वयशस्तरः। स वावृधान ओजसा पुरुष्टुत भवा नः सुश्रवस्तमः॥ ५॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार 'सम्पारण वसु' को प्राप्त करनेवाले **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **स्वयुः**=(स्व=धन) धन को अपने साथ जोड़नेवाला धनवान् बनता है। इस प्रकार तू **स्व-राट् असि**=आत्मदीप्तिवाला होता है। **स्मद्दिष्टिः**=(स्मत्=सुमत्) आत्मदीप्ति के कारण सदा भद्र वाक्योंवाला होता है-सदा शुभ शब्दों का ही उच्चारण करता है। **स्वयशस्तरः**=अपने उत्तम कर्मों के कारण अत्यन्त यशस्वी होता है। धन के साथ आत्मप्रवणता (स्वराट्) व भद्र शब्दों का उच्चारण इसे बड़ा यशस्वी बनाता है। सामान्यतः धन के साथ विषयासक्ति व अभिमान का सम्बन्ध है। इसके जीवन में विषयासक्ति का स्थान आत्मदीप्ति लेती है और अभिमान के स्थान में यह भद्रता व विनीततावाला होता है। (२) **सः**=वह तू **ओजसा**=ओजस्विता से **वावृधानः**=अत्यन्त बढ़ता हुआ हे **पुरुष्टुत**=बहुतों से स्तुत होनेवाला! **नः**=हमारे लिए **सुश्रवस्तमः**=अत्यन्त उत्तम ज्ञानवाला **भव**=हो- हमें सदा उत्तम ज्ञान को देनेवाला बन।

भावार्थ—धनवान् होकर हम आत्मदीप्तिवाले व भद्रवाक्य बोलनेवाले बनें। इस प्रकार यशस्वी जीवनवाले हों। बहुतों से प्रशंसित होते हुए हम ओजस्वी व उत्तम ज्ञानी बनें।

यह सूक्त मुख्यरूप से विषयों में न फँसने का संकेत करता है। अगले सूक्त में भी यही विषय अन्य शब्दों में वर्णित हो रहा है—

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

महान् शक्तिशाली प्रभु

युध्मस्य ते वृषभस्य स्वराज उग्रस्य यूनः स्थविरस्य घृष्वेः।
अजूर्यतो वज्रिणो वीर्या३णीन्द्र श्रुतस्य महतो महानि॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **वीर्याणि**=शक्तिशाली कर्म **महानि**=अत्यन्त महान् हैं। उन आपके कर्म महान् हैं, जो आप **युध्यस्य**=योधनशील हैं-हमारी काम-क्रोध आदि वासनाओं से वस्तुतः आप ही युद्ध करते हैं। **वृषभस्य**=इस युद्ध द्वारा इन शत्रुओं का संहार करके आप हमारे पर सुखों का वर्षण करते हैं। **स्वराजः**=आप अपनी दीप्तिवाले हैं **उग्रस्य**=शत्रुओं के लिए भयङ्कर हैं। **यूनः**=नित्यतरुण होते हुए **स्थविरस्य**=वृद्ध हैं। '**यूनः स्थविरस्य**' यह विरोधाभास है, परन्तु वस्तुतः यूनः का अर्थ है 'दुरितों का अमिश्रण व सुवितों का मिश्रण करनेवाले' तथा स्थविरस्य का अर्थ है 'स्थिर-अविचल'। ये युवा स्थविर प्रभु **घृष्वेः**=शत्रुओं का घर्षण करनेवाले हैं। (२) उन प्रभु के कर्म महान् हैं, जो कि **अजूर्यतः**=कभी जीर्ण नहीं होते-प्रभु की शक्तियाँ कभी क्षीण नहीं होतीं। **वज्रिणः**=वे प्रभु हाथ में वज्र लिये हुए हैं-प्रभु का यह वज्र सब दुष्टों का दलन करता है। **श्रुतस्य**=वे प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं और **महतः महानि**=महान् से महान् हैं। इन प्रभु के कर्म वस्तुतः महान् हैं।

भावार्थ—शक्तिशाली महान् प्रभु के सब कर्म महान् हैं-सब कर्म शक्तिशाली हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

युद्ध द्वारा उत्तम निवास करानेवाले प्रभु

म॒हाँ अ॑सि महिष॒ वृष्ण्ये॑भिर्धन॒स्पृदु॑ग्र॒ सह॑मानो अ॒न्यान्।
एको॒ विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य॒ राजा॒ स योधया॑ च क्ष॒यया॑ च॒ जना॑न्॥ २॥

(१) हे **महिष**=पूज्य प्रभो! आप **वृष्ण्येभिः**=शक्तियों से **अन्यान् सहमानः**=शत्रुओं का पराभव करते हुए **महान् असि**=महान् हैं। **धनस्पृत्**=सब धनों के देनेवाले हैं (स्पृ=to grant) और **उग्रः**=तेजस्वी हैं। (२) आप **एकः**=अकेले ही **विश्वस्य भुवनस्य**=सारे ब्रह्माण्ड के व सब प्राणियों के **राजा**=शासक व व्यवस्थापक हैं। **सः**=वे आप **जनान्**=शक्तियों का विकास करनेवाले इन भक्त लोगों को **योधया**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं से युद्ध कराइये **च**=और शत्रुसंहार कराके **क्षयया**=उत्तम निवासवाला बनाइये (क्षि निवासे)। वस्तुतः प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वह शक्ति प्राप्त कराते हैं, जिससे कि हम काम-क्रोध आदि का विनाश करके उत्तम निवासवाले बनते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अमेय-अचित्य' प्रभु

प्र मात्रा॑भी रिरिचे॒ रोच॑मानः॒ प्र दे॒वेभि॑र्वि॒श्वतो॒ अप्र॑तीतः।
प्र म॒ज्मना॑ दि॒व इन्द्रः॑ पृथि॒व्याः प्रोरोर्म॒हो अ॒न्तरि॑क्षादृजी॒षी॥ ३॥

(१) **सः**=वह प्रभु **मात्राभिः**=मात्राओं से (मात्रा=measure, the material world) मापों से व भौतिक संसार से **प्ररिरिचे**=बहुत बड़ा है-अतिरिक्त है। प्रभु किसी माप से मापे नहीं जा सकते। वे दिक्कालाद्यनवच्छिन्न हैं, न दिशा नां ही काल उन्हें सीमित कर पाता है। इस सारे संसार से ये बड़े हैं 'एतावानस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पूरुषः'। वे अमेय प्रभु **रोचमानः**=अपनी तेजस्विता से दीप्त हो रहे हैं। वे प्रभु **देवेभिः**=बड़े-बड़े ज्ञानियों से भी **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **अ-प्रतीतः**=पूर्णरूप से ज्ञेय नहीं हैं। देव भी उनके विषय में इतना ही जानते हैं कि 'वे हैं'। इस से अधिक देव भी उन्हें नहीं जान पाते। (२) वे **ऋजीषी**=ऋजुता की (सरलता की) प्रेरणा देनेवाले व ऋजुता से पाने योग्य (आर्जवं 'ब्रह्मणः पदम्'=सरलता ही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है) **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **मज्मना**=बल से **दिवः**=सम्पूर्ण द्युलोक से भी **प्र**=अधिक हैं, **पृथिव्याः**=इस सम्पूर्ण पृथिवी से भी अधिक हैं और **उरोः**=इस विशाल **महः अन्तरिक्षात्**=महान् अन्तरिक्ष से भी **प्र**=वे प्रभु अधिक हैं। त्रिलोकी भी प्रभु की तुलना नहीं कर सकती।

भावार्थ—वे प्रभु अमेय हैं, देवों से भी अचित्य हैं, त्रिलोकी से भी महान् हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रम्'

उ॒रुं ग॑भी॒रं ज॒नुषा॒भ्यु१॒॑ग्रं वि॒श्वव्य॑चसमव॒तं म॑ती॒नाम्।
इन्द्रं॒ सोमा॑सः प्र॒दिवि॑ सु॒तास॑ः समु॒द्रं न स्र॒वत॒ आ वि॑शन्ति॥ ४॥

(१) **प्रदिवि**=प्रकृष्ट ज्ञान के निमित्त **सुतासः**=(सुतं अस्य अस्ति इति सुतः) सोम का सम्पादन करनेवाले **सोमासः**=सौम्य स्वभाववाले शान्त पुरुष **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में इस

प्रकार **आविशन्ति**=प्रवेश कर जाते हैं, **न**=जैसे कि **स्रवतः**=बहती हुई नदियाँ **समुद्रम्**=समुद्र में प्रवेश करती हैं। वस्तुतः जलरूप नदियाँ तो समुद्र में प्रविष्ट होने पर रहती ही हैं, उनका नाम रूप नहीं रहता। इसी प्रकार जीव अपने भौतिक सम्पर्क को छोड़कर प्रभु में प्रवेश कर जाता है–ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है। (२) उस परमात्मा में प्रवेश करते हैं, जो कि **उरुम्**=विशाल हैं, **गभीरम्**=अत्यन्त गम्भीर हैं, **जनुषा**=जन्म से ही **अभि उग्रम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर हैं, **विश्वव्यचसम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विस्तारवाले हैं और **मतीनाम्**=मननशील पुरुषों के **अवतम्**=रक्षक हैं।

भावार्थ—सोम का सम्पादन करनेवाला सौम्यपुरुष प्रभु में प्रवेश पाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सोम का शोधन व पान

यं सोम॑मिन्द्र पृथि॒वीद्यावा॒ गर्भं॒ न मा॒ता बि॑भृ॒तस्त्वा॒या।
तं ते॑ हिन्वन्ति॒ तमु॑ ते मृजन्त्यध्व॒र्यवो॑ वृषभ॒ पात॒वा उ॑॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यम् सोमम्**=जिस सोम को **पृथिवी द्यावा**=द्युलोक व पृथिवीलोक **त्वाया**=(त्वत् कामनया) आपको प्राप्त करने की कामना से उसी प्रकार **बिभृतः**=धारण करते हैं, **नः**=जैसे कि **माता गर्भम्**=माता गर्भ को धारण करती है। **तम्**=उस सोम को **ते**=वे **अध्वर्यवः**=यज्ञशील लोग **हिन्वन्ति**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। यहाँ 'माता गर्भं न' इस उपमा से सोमरक्षण में किसी प्रकार के प्रमाद न करने का सुन्दर संकेत है। 'पृथिवी द्यावा बिभृतः' का भाव यह है कि सारा संसार धारण करता है। इन शब्दों का प्रयोग यह भी स्पष्ट संकेत कर रहा है कि सोम का रक्षण 'शरीर रूप पृथिवी को दृढ़ बनाने व मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानोज्ज्वल बनाने' से होता है। सोम का व्यय शरीर को दृढ़ बनाने व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाने में हो जाता है और इस प्रकार सोम का रक्षण हो जाता है। (२) हे **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=उस सोम को **ते**=वे अध्वर्यु लोग **उ**=निश्चय से **मृजन्ति**=शुद्ध करते हैं। इस सोम को वासनाओं से मलिन नहीं होने देते। इसको पवित्र रखकर वे **पातवा उ**=निश्चय से इस सोम का पान करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुप्राप्ति का प्रतिपादन करता हुआ सोमरक्षण के महत्त्व को व्यक्त कर रहा है। अगले सूक्त में प्राणसाधना द्वारा सोमपान का वर्णन करते हैं—

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मरुत्वान् इन्द्र का सोमपान

म॒रुत्वाँ॑ इन्द्र वृष॒भो रणा॑य॒ पिबा॒ सोम॑मनुष्व॒धं मदा॑य।
आ सि॑ञ्चस्व ज॒ठरे॒ मध्व॑ ऊ॒र्मिं त्वं राजा॑सि प्र॒दिवः॑ सु॒ताना॑म्॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **मरुत्वान्**=प्रशस्त प्राणोंवाला–प्राणसाधना द्वारा प्राणों को प्रशस्त करनेवाला **वृषभः**=शक्तिशाली तू **रणाय**=काम-क्रोध आदि से संग्राम के लिए–इनके पराजय द्वारा रमणीयता को उत्पन्न करने के लिए **सोमं पिब**=सोम का पान कर। यह सोम **अनुष्वधम्**=आत्मतत्त्व के धारण के अनुपात में **मदाय**=तेरे लिए हर्ष का साधन बनेगा। सोमरक्षण

से आत्मतत्त्व का दर्शन होगा—उसी अनुपात में आनन्द की प्राप्ति होगी। (२) इस दृष्टिकोण से तू **मध्वः**=इन ओषधियों के सारभूत–जीवन को मधुर बनानेवाले सोम की **ऊर्मिम्**=तरंग को **जठरे**=अपने अन्दर ही **आसिञ्चस्व**=सिक्त करनेवाला बन। **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला तू (प्रदीव्यति इति, दिव्यक) **सुतानाम्**=शरीर में उत्पन्न इन सोमकणों का **राजा असि**=स्वामी है—इनको अपने शरीर में ही व्यवस्थित करनेवाला है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम सोम का शरीर में ही रक्षण करें। यह रक्षित सोम हमारे उल्लास का कारण होगा और अन्ततः प्रभुदर्शन करानेवाला होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अभय' का साधन

सजोषा इन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्।
जहि शत्रूँरप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः॥ २॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सजोषाः**=सब इन्द्रियों से प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन करनेवाला, **सगणः**=पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' के गणों से युक्त हुआ–हुआ **मरुद्भिः**=प्राणों द्वारा–प्राणसाधना द्वारा **सोमं पिब**=सोम को अपने अन्दर पीनेवाला हो—सोम को शरीर में व्याप्त कर। इस प्रकार हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले जीव! तू **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करनेवाला हो और **विद्वान्**=ज्ञानी बन। (२) **शत्रून्**=इन शातन करनेवाले–विनाशक काम–क्रोध आदि को **जहि**=तू नष्ट कर। **मृधः**=इन संहार करनेवाली वृत्तियों को **अपनुदस्व**=दूर धकेलनेवाला हो। **अथ**=इन वासनाओं को विनष्ट करके अब **नः**=हमारी प्राप्ति के लिए–प्रभु की प्राप्ति के लिए, **विश्वतः**=सब ओर से **अभयं कृणुहि**=अपने में निर्भयता को उत्पन्न कर। यह अभय ही दैवी–सम्पत्ति का प्रारम्भ है।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन व प्राणसाधना करते हुए सोम का रक्षण करें। तभी हम सब वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करके अभय पद प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्राणसाधना के तीन लाभ

उत ऋतुभिर्ऋतुपाः पाहि सोममिन्द्र देवेभिः सखिभिः सुतं नः।
याँ आभजो मरुतो ये त्वान्वहन्वृत्रमदधुस्तुभ्यमोजः ॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **उत**=और **ऋतुभिः**=(ऋ गतौ) नियमित गतियों द्वारा सब कार्यों को ठीक रूप में ठीक समय पर करने द्वारा **ऋतुपाः**=(ऋतु light, splendour) ज्ञान के प्रकाश का रक्षण करनेवाला तू **सखिभिः**=अपने मित्रभूत **देवेभिः**=इन मरुतों व प्राणों द्वारा **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पन्न किये हुए **सोमं पाहि**=इस सोम का पान करनेवाला हो। (२) उन मित्रभूत प्राणों के साथ तू सोम का पान करनेवाला हो, **यान् मरुतः**=जिन प्राणों को तू **आभजः**=सर्वथा सेवित करनेवाला होता है—जिन प्राणों की साधना तू निरन्तर करता है। **ये**=जो प्राण **त्वा अनु**=तेरी अनुकूलता में **वृत्रं अहन्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करते हैं (अघ्नन्) और **तुभ्यम्**=तेरे लिए **ओजः**=ओजस्विता को **अदधुः**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) सोम का रक्षण होता है, (ख) वासना का विनाश होता है और (ग) ओजस्विता की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अहि व शम्बर का हनन

ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।
ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमं सगणो मरुद्भिः ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **सगणः**=पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों आदि के गणोंवाला होता हुआ **सोमं पिब**=सोम का पान कर-इसे शरीर में ही व्याप्त कर। (२) उन प्राणों के साथ, **ये**=जो कि **विप्राः**=विशेषरूप से तेरा पूरण करनेवाले प्राण (वि+प्रा), हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले जीव! **अहिहत्ये**=आहनन करनेवाली कामवासना के विनाश में **त्वा**=तेरा **अवर्धन्**=वर्धन करते हैं। (३) उन प्राणों के साथ, **ये**=जो कि **शाम्बरे**=शान्ति पर परदा डाल देनेवाले ईर्ष्यारूप असुर के विनष्ट होने पर तेरा वर्धन करते हैं। **हरिवः**=हे प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले! **ये**=जो प्राण **गविष्टौ**=ज्ञानवाणियों की इष्टि (इच्छा) में तेरा वर्धन करते हैं और **ये**=जो **त्वा**=तुझे **अनुमदन्ति**=(अनुमादयन्ति) अनुकूलता से हर्षित करते हैं। इन प्राणों के साथ तू सोमपान कर।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) वासनाविनाश होता है, (ख) ईर्ष्या दूर होती है, (ग) ज्ञानवाणियों को प्राप्त करने की कामना बढ़ती है, (घ) उल्लास प्राप्त होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सहोदा प्रभु

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम्।
विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह तं हुवेम ॥ ५ ॥

(१) हम **नूतनाय अवसे**=नवतर-अत्यन्त स्तुत्य=रक्षण के लिये **तम्**=उस **विश्वासाहम्**=सब शत्रुओं का मर्षण करनेवाले, **उग्रम्**=तेजस्वी, **सहोदाम्**=बल को देनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **हुवेम**=पुकारते हैं। उस प्रभु ने ही तो हमारे काम आदि शत्रुओं का संहार करना है। (२) उस प्रभु को पुकारते हैं, जो कि **मरुत्वन्तम्**=प्रशस्त प्राणोंवाले हैं-हमारे लिए प्रशस्त प्राणों को देनेवाले हैं। इन प्राणों को प्राप्त कराके **वृषभम्**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **वावृधानम्**=हमारा अत्यन्त ही वर्धन करनेवाले हैं। **अकवारिम्**=(अकुत्सितम् इयर्ति आप्टे) अकुत्सित ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं-प्रभु स्वयं ऐश्वर्य के निधान हैं। **दिव्यम्**=प्रकाश के पुञ्ज हैं और **शासम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में वेदवाणी द्वारा हमारे कर्तव्यों का अनुशासन करनेवाले हैं। इस अनुशासन में चलना हमारी सतत वृद्धि का कारण होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। हमें प्रभु का रक्षण प्राप्त होगा।

सम्पूर्ण सूक्त प्राणसाधना पर बल दे रहा है। यह प्राणसाधना ही सब उन्नतियों का कारण बनती है। इसी से सोम का रक्षण होता है। अगले सूक्त में सब कार्यों के साधक इस सोमपान का ही वर्णन है—

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सर्वकामपूरक' सोम

स॒द्यो ह॑ जा॒तो वृ॑ष॒भः क॒नीनः॒ प्रभ॑र्तुमाव॒दन्ध॑सः सु॒तस्य॑।
सा॒धोः पि॑ब प्रतिका॒मं यथा॑ ते॒ रसा॑शिरः प्रथ॒मं सो॒म्यस्य॑॥ १॥

(१) **सद्यः**=शीघ्र **ह**=निश्चय से **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए प्रभु-जिनका हृदय में ध्यान किया गया है, वे प्रभु **वृषभः**=हमारे पर सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं, **कनीनः**=कमनीय व सुन्दर वे प्रभु हमारे जीवनों को भी सुन्दर बनाते हैं। इसीलिए वे प्रभु **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **अन्धसः**=सोम के **प्रभर्तुम्**=(प्रभर्तारम्) भरण करनेवाले को **आवत्**=रक्षित करते हैं। वस्तुतः प्रभु के ध्यान से ही वासनाओं से बचना सम्भव होता है और तभी सोम का शरीर में रक्षण होता है। (२) इसलिए हे जीव! तू इस **साधोः**=सब कार्यों व शक्तियों को सिद्ध करनेवाले **रसाशिरः**=रस द्वारा परिपक्व हुए-हुए (रस के परिपाक से ही रुधिर आदि के क्रम से वीर्य की उत्पत्ति होती है) **ते**=तेरे **सोम्यस्य**=स्वभाव को सोम (=शान्त) बनाने में उत्तम सोम का **यथा**=जैसे भी हो **प्रतिकामम्**=प्रत्येक कामना की पूर्ति के लिए **पिब**=पान कर।

भावार्थ—प्रभु सोम का भरण करनेवाले का रक्षण करते हैं। सोमरक्षण से सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासना व स्वाध्याय से सोमरक्षण

यज्जाय॑था॒स्तदह॑रस्य॒ कामें॑ऽशोः पी॒यूष॑मपिबो गि॒रि॒ष्ठाम्।
तं ते॑ मा॒ता परि॒ योषा॒ जनि॑त्री म॒हः पि॒तुर्दम॒ आसि॑ञ्च॒दग्रे॑॥ २॥

(१) **यज्जायथाः**=जब आप प्रादुर्भूत होते हो, **तद् अहः**=उसी दिन **अस्य अंशोः**=इस सोम के **पीयूषम्**=अमृत की **कामे**=इच्छा होने पर **अपिबः**=मेरे शरीर में ही व्याप्त करो। मेरे में सोमपान की कामना हो। और आपके प्रादुर्भाव से, वासनाओं से बचकर मैं सोमरक्षण कर सकूँ। उस सोम के अमृत का मैं पान करूँ, जो कि **गिरिष्ठाम्**=वेदवाणी में स्थित है। इस सोमरक्षण से ज्ञानाग्नि की दीप्ति होती है और हम ज्ञानवाणियों को धारण करनेवाले बनते हैं। (२) **तम्**=उस सोम को **ते माता**=तेरे जीवन के निर्माण को करनेवाली, **योषा**=गुणों का मिश्रण व अवगुणों का अमिश्रण करनेवाली, **जनित्री**=सब शक्तियों के विकास की कारणभूत यह वेदमाता उस **महः पितुः दमे**=महान् पिता प्रभु के आश्रय में **अग्रे परि आसिञ्चत्**=सर्वप्रथम चारों ओर आसिक्त करती है। 'वेद सोम को शरीर में आसिक्त करता है' का भाव यह है कि जब मनुष्य वेद का अध्ययन करनेवाला बनता है, तो सोम का शरीर में रक्षण स्वभावतः होता है-यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बन जाता है। 'उस महान् पिता प्रभु के आश्रय में' इन शब्दों का भाव यह है कि उपासना से वासना दूर होती है और सोम का रक्षण होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय व उपासना सोमरक्षण के साधन बनते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वाध्याय के बाद भोजन

उपस्थाय मातरमन्नमैट्ट तिग्ममपश्यदभि सोममूधः ।
प्रयावयन्नचरद् गृत्सो अन्यान्महानि चक्रे पुरुधप्रतीकः ॥ ३ ॥

(१) **मातरं उपस्थाय**=वेदमाता का उपस्थान करके, अर्थात् नैत्यिक स्वाध्याय करके **अन्नं ऐट्ट**=अन्न की यह याचना करता है (इडिः अध्येषणाकर्त्ता)। इस प्रकार यह **तिग्मं सोमं अभि**=तेजस्विता को देनेवाले सोम (=वीर्य) का लक्ष्य करके **ऊधः अपश्यत्**=वेदवाणी रूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार को **अपश्यत्**=देखता है। ज्ञानप्राप्ति में लगे रहने से यह सोम का रक्षण कर पाता है। रक्षित सोम उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। (२) **गृत्सः**=(Wise) मेधावी पुरुष **अन्यान्**=अपने से भिन्न-काम-क्रोधरूप सर्पों को **प्रयावयन्**=अपने से पृथक् करता हुआ **अचरत्**=गति करता है। यह **पुरुधप्रतीकः**=अनेक प्रकार से अपने अंगों का धारण करनेवाला, अर्थात् उनकी शक्ति को न नष्ट होने देनेवाला **महानि चक्रे**=महत्त्वपूर्ण कार्यों को करनेवाला होता है। काम-क्रोध आदि के विनाश से यह अपने अन्दर शक्ति का संचय करता है और इस शक्ति से अंगों का धारण करता हुआ यह महान् कार्यों को कर पाता है।

भावार्थ—हम स्वाध्याय करके ही भोजन करनेवाले हों। सोम का रक्षण करते हुए हम ज्ञानाग्नि को दीप्त करें। वासनाओं से ऊपर उठकर, अंगों को शक्तिशाली बनाकर हम महान् कार्यों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सूर्य का भी अभिभव

उग्रस्तुराषाळभिभूत्योजा यथावशं तन्वं चक्र एषः ।
त्वष्टारमिन्द्रो जनुषाभिभूयामुष्या सोममपिबच्चमूषु ॥ ४ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार सोमरक्षण करनेवाला व्यक्ति **उग्रः**=तेजस्वी बनता है, **तुराषाट्**=त्वरा से शत्रुओं का मर्षण करता है। **अभिभूति ओजाः**=शत्रुओं के अभिभावक बलवाला होता है। **एषः**=यह **तन्वम्**=अपने शरीर को **यथावशम्**=इच्छा के अनुसार **चक्रे**=बनाता है। शक्ति का रक्षण करके शरीर को अधिक से अधिक सुन्दर बना पाता है। (२) **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **जनुषा**=इस प्रकार शक्तियों के विकास से **त्वष्टारम्**=सूर्य को भी **अभिभूय**=तिरस्कृत करके-सूर्य से भी अधिक तेजस्वी बनकर **अमुष्य**=उस प्रभु द्वारा उत्पन्न किये गये इस सोम को **चमूषु**=इन शरीरूप चमसों में-शरीररूप पात्रों में **अपिबत्**=पीता है। सोम का शरीर में ही रक्षण करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हमें शत्रुओं का अभिभव करनेवाला बल प्राप्त होता है। यह सोमपान करनेवाला सूर्य से भी अधिक तेजस्वी बनता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

भरे नृतमम्

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ ५ ॥

(१) मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त सोम का महत्त्व व्यक्त कर रहा है। इसी सोमरक्षण के लिए वासना का विनाश करना है। इसी भाव से अगले सूक्त का प्रारम्भ है—

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुस्तवन व सोमरक्षण

शंसा महामिन्द्रं यस्मिन्विश्वा आ कृष्टयः सोमपाः काममव्यन्।
यं सुक्रतुं धिषणे विभ्वतष्टं घनं वृत्राणां जनयन्त देवाः॥ १॥

(१) उस महान् **इन्द्रम्**=पूजनीय (महान्) सर्वशक्तिमान् प्रभु को **शंसा**=तू शंसित कर-उसकी स्तुति कर, **यस्मिन्**=जिस प्रभु में स्थित हुए-हुए **विश्वाः**=सब **कृष्टयः**=श्रमशील मनुष्य **सोमपाः**=सोम का रक्षण करते हैं और **कामम्**=चाहने योग्य स्वर्ग आदि को **आ अव्यन्**=सर्वथा प्राप्त करते हैं। (२) उस प्रभु का तू उपासन कर **यं सुक्रतुम्**=जिस उत्तम प्रज्ञान व शक्तिवाले **विभ्वतष्टम्**=(विभुः च असौ अतष्टः) व्यापक व कभी भी न बनाए गये, अर्थात् स्वयंभू **वृत्राणां घनम्**=वासनाओं के विनष्ट करनेवाले को **धिषणे**=द्यावापृथिवी तथा **देवाः**=सब सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि देव **जनयन्त**=प्रकट करते हैं। द्यावापृथिवी में तथा तदन्तर्गत सब देवों में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। इस प्रकार ये सब देव उस प्रभु का प्रकाश करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभुस्तवन द्वारा सोमरक्षण करते हुए स्वर्गादि को सिद्ध करें। द्यावापृथिवी में सर्वत्र प्रभु की महिमा देखें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सत्त्वभिः शूषैः

यं नु नकिः पृतनासु स्वराजं द्विता तरति नृतमं हरिष्ठाम्।
इनतमः सत्वभिर्यो ह शूषैः पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः॥ २॥

(१) **यम्**=जिस **पृतनासु**=संग्रामों में **स्वराजम्**=स्वयं देदीप्यमान, **हरि-ष्ठाम्**=इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठाता **नृतमम्**=सर्वोत्तम नेता को **नु**=अब **द्विता**=ज्ञान व शक्ति दोनों के समन्वय के कारण **नकिः तरति**=कोई भी पराभूत नहीं कर सकता, वह प्रभु ही **इनतमः**=सर्वश्रेष्ठ स्वामी हैं। प्रभु को संग्रामों में विजय के लिए किसी अन्य के सहाय की आवश्यकता नहीं है-वे संग्रामों में स्वयं दीप्त हैं। हमारे इन्द्रियाश्वों के वे ही स्वामी हैं। प्रभु ही हमें नेतृत्व देते हैं। ज्ञान व शक्ति की वे चरमसीमा हैं। इन प्रभु को कोई पराभूत नहीं कर सकता। (२) ये प्रभु वे हैं, **यः**=जो **ह**=निश्चय से **सत्वभिः**=ज्ञानों से (wisdom) से व **शूषैः**=शत्रुशोषक शक्तियों से **पृथुज्रया**=अत्यन्त वेगवाले हैं और **दस्योः**=नाशक वृत्तिवाले की **आयुः**=आयु को **अमिनात्**=हिंसित करते हैं। दस्युओं के वे प्रभु विनाशक हैं, आर्यों के (श्रेष्ठों के) वे रक्षक हैं-सत्पति हैं।

भावार्थ—प्रभु शक्ति व ज्ञान की चरमसीमा हैं, उन्हें कोई पराभूत नहीं कर सकता।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सुहवो वयोधाः

सहावा पृत्सु तरणिर्नार्वा व्यानशी रोदसी मेहनावान्।
भगो न कारे हव्यो मतीनां पितेव चारुः सुहवो वयोधाः॥ ३॥

(१) वे प्रभु **सहावा**=बलवान् हैं, **पृत्सु तरणिः**=संग्रामों में शत्रुसागर को तैर जानेवाले हैं। **न अर्वा**=व्यर्थ में संहार करनेवाले नहीं हैं। प्रभुकृत संहार भी जीवहित के लिए हैं। **रोदसी व्यानशीः**=द्यावापृथिवी को व्याप्त किये हुए हैं और **मेहनावान्**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। (२) वे प्रभु **कारे**=यज्ञादि कार्यों में **भगः न**=ऐश्वर्य के समान हैं। **मतीनां हव्यः**=मननशील पुरुषों से पुकारे जाने योग्य हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसे कि पुत्र से **पिता**=पिता पुकारे जाने योग्य होता है। वे प्रभु **चारुः**=सुन्दर हैं, **सुहवः**=सुगमता से पुकारे जाने योग्य हैं, हमारी प्रार्थनाओं को सुनते हैं और **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को हमारे लिए धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें संग्रामों में विजयी बनाते हैं, वे ही हमारे लिए यज्ञों को पूर्ण करने के साधन जुटाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

धारक प्रभु

धर्ता दिवो रजसस्पृष्ट ऊर्ध्वो रथो न वायुर्वसुभिर्नियुत्वान्।
क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य विभक्ता भागं धिषणेव वाजम्॥ ४॥

(१) वे प्रभु **दिवः धर्ता**=द्युलोक व ज्ञान को धारण करनेवाले हैं। **रजसः (धर्ता)**=अन्तरिक्षलोक को भी वे प्रभु धारण करनेवाले हैं। **पृष्टः**=वे प्रभु ही ज्ञानियों से, ज्ञीप्सित होते हैं-प्रत्येक पिण्ड में रचना विशेष को देखकर उसकी ही जिज्ञासा होती है। **ऊर्ध्वः**=इन सब लोक-लोकान्तरों का भरण करते हुए भी वे इनसे ऊपर हैं 'असक्त सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च'। **रथः न**=वे प्रभु हमारे लिए रथ के समान हैं। प्रभु में स्थित हुए-हुए हम सम्यक् यात्रा को पूर्ण कर पाते हैं। **वायुः**=वे गति द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले हैं (वा गति गन्धनयोः)। **वसुभिः**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों के साथ वे प्रभु **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियरूप अश्वोंवाले हैं। वे प्रभु हमें वसुओं को प्राप्त कराते हैं और इन वसुओं के साथ उत्तम इन्द्रियाश्वों को देनेवाले हैं। इन वसुओं व इन्द्रियों के स्वामी तो वे प्रभु ही हैं। (२) **क्षपां वस्ता**=वे प्रभु रात्रियों को आच्छादित करनेवाले हैं। दिन की समाप्ति पर सारे जगत् को रात्रिरूप वस्त्र से आच्छादित कर देते हैं। रात्रि की समाप्ति पर **सूर्यस्य जनिता**=सूर्य का पुनः प्रादुर्भाव करते हैं। इस दिन-रात्रि के चक्र द्वारा वे प्रभु **भागम्**=भजनीय (सेवनीय) धनों को तथा **धिषणा इव**=बुद्धि की तरह (धिषणा=understanding) **वाजम्**=शक्ति को **विभक्ता**=सर्वत्र विभक्त करते हैं। प्रभु धनों को, बुद्धियों को व शक्ति को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही धारण करनेवाले हैं और प्रभु ही धन, ज्ञान व शक्ति को देनेवाले हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भरे नृतमम्

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ ५॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त यही कह रहा है कि प्रभु के शंसन से वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि हम शत्रुओं को जीतनेवाले बनते हैं। अगले सूक्त में भी यही कहते हैं कि प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं का विनाश करके हमें सोमरक्षण के योग्य बनाते हैं—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्यागवृत्ति

इन्द्रः स्वाहा पिबतु यस्य सोम आगत्या तुम्रो वृषभो मरुत्वान्।
ओरुव्यचाः पृणतामेभिरन्नैरास्य हविस्तन्वः कामम्मृध्याः॥ १॥

(१) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष! **स्वाहा**=त्याग-वृत्तिवाला बने। त्यागवृत्तिवाला बनकर, भोगवृत्ति से ऊपर उठे और **पिबतु**=सोम का पान करे-सोम को शरीर में ही सुरक्षित करे। **यस्य सोमः**=जिसका यह सोम होता है, वह **आगत्य**=समन्तात् गतिवाला होता हुआ **तुम्रः**=शत्रुओं का हिंसक होता है, **वृषभः**=शक्तिशाली बनता है और **मरुत्वान्**=प्रशस्त प्राणोंवाला होता है। (२) यह **ओरुव्यचाः**=अत्यन्त विस्तारवाला होता हुआ **एभिः**=इन **अन्नैः**=अन्नों से **आपृणताम्**=अपना पूरण करे। यह अन्नों का ही सेवन करे-अन्नों का सेवन इसकी शक्तियों का विस्तार करे। **हविः**=दानपूर्वक अदन **अस्य**=इसके **तन्वः**=शरीर की **कामम्**=अभिलाषा को **आ ऋध्याः**=समन्तात् समृद्ध करे। हवि ही इसकी तृप्ति का कारण बने। यह कभी केवलादी न बने।

भावार्थ—त्याग की वृत्ति हमें भोगों से दूर करके सोमरक्षण के योग्य बनाए। अन्नों से ही हम अपना तर्पण करें। दानपूर्वक अदन हमें समृद्ध करे-हम केवलादी बनकर पापी न बन जाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व

आ ते सपर्यू जवसे युनज्मि ययोरनु प्रदिवः श्रुष्टिमावः।
इह त्वा धेयुर्हरयः सुशिप्र पिबा त्व१स्य सुषुतस्य चारोः॥ २॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि मैं **ते**=तेरे लिए इन **सपर्यू**=तेरी उत्तम सेवा करनेवाले इन इन्द्रियाश्वों को **जवसे**=वेग के लिए-शीघ्रता से कार्यों को करने के लिए **आयुनज्मि**=शरीर-रथ में जोतता हूँ। **ययोः**=जिनकी **अनु**=अनुकूलता में **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ तू **श्रुष्टिम्**=क्षिप्रता व शीघ्रता को **आवः**=सुरक्षित करता है। इन्द्रियों के ठीक होने पर ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त होता है और कर्मेन्द्रियों से हम शीघ्रता से कार्य करनेवाले बनते हैं। (२) हे **सुशिप्र**=उत्तम हनू व नासिकाओंवाले, अर्थात् जबड़ों से सात्त्विक अन्न का ही सेवन करनेवाले तथा प्राणसाधना को करनेवाले जीव! **हरयः**=ये इन्द्रियाश्व **त्वा**=तुझे **इह**=यहां हमारे समीप **धेयुः**=स्थापित करनेवाले हों। हमारी प्राप्ति के उद्देश्य से ही **तु**=तो **अस्य**=इस **सुषुतस्य**=उत्तमता से सम्पादित **चारोः**=जीवन को सुन्दर बनानेवाले सोम का **पिबा**=पान कर। इसके पान से तेरा जीवन नीरोग, निर्मल व ज्ञानदीप्त बनेगा और तू हमें प्राप्त होनेवाला होगा।

भावार्थ—प्रभु ने हमें इन्द्रियाश्व ज्ञानप्राप्ति व क्रियाशीलता के लिए दिये हैं। इनद्वारा हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। इसी दृष्टिकोण से हम सोम का भी रक्षण करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्यैष्ठ्याय धायसे

गोभिर्मिमिक्षुं दधिरे सुपारमिन्द्रं ज्यैष्ठ्याय धायसे गृणानाः।
मन्दानः सोमं पपिवाँ ऋजीषिन्त्समस्मभ्यं पुरुधा गा इषण्य॥ ३॥

(१) **गृणानाः**=स्तोता लोग **ज्यैष्ठ्याय**=ज्येष्ठता के सम्पादन के लिए तथा **धायसे**=अपने धारण के लिए **इन्द्रम्**=उस ऐश्वर्यवान् प्रभु को **दधिरे**=धारण करते हैं, जो प्रभु **गोभिः मिमिक्षुम्**=हमें ज्ञानवाणियों से सिक्त करने की कामनावाले हैं और **सुराम्**=हमें अच्छी प्रकार वासना-समुद्र से पार ले जानेवाले हैं। (२) ये स्तोता लोग प्रभु से यही प्रार्थना करते हैं कि **मन्दानः**=अत्यन्त आनन्दमय आप **सोमं पपिवान्**=सोम का पान करनेवाले हैं। हम आपका स्तवन करते हैं और आप हमारे लिए इस सोम का रक्षण करते हैं। आपकी उपासना हमें सोमरक्षण के योग्य बनाती है। हे **ऋजीषिन्**=ऋजुता की प्रेरणा देनेवाले प्रभो! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **गाः**=इन ज्ञानवाणियों को **समिषण्य**=सम्यक् प्रेरित करिये। आपकी उपासना करते हुए हम इन ज्ञानवाणियों को प्राप्त करनेवाले बनें। वस्तुतः ये ज्ञानवाणियाँ ही हमारे जीवन को पवित्र बनाती हैं और हम वासनाओं को दग्ध करके सोमरक्षण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमें ज्ञानवाणियाँ प्राप्त होती हैं, जो कि हमें वासनाओं को विनष्ट करके, ज्येष्ठ बनाती हैं और हमारा धारण करती हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्वर्यवः-वाहः-कुशिकासः

इमं कामं मन्दया गोभिरश्वैश्चन्द्रवता राधसा पप्रथश्च।
स्वर्यवो मतिभिस्तुभ्यं विप्रा इन्द्राय वाहः कुशिकासो अक्रन्॥ ४॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२० पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शृण्वन्तम्

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ ५॥

मन्त्र व्याख्या ३.३०.२२ पर द्रष्टव्य है।

यह सूक्त त्यागवृत्ति द्वारा संयमी बनकर सोमरक्षण का प्रतिपादन करता है। अगले सूक्त में भी सोमरक्षण के लिए प्रभुस्तवन का उपदेश है—

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रतिदिन स्तूयमान प्रभु

चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्य१मिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत।
वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाणं दिवेदिवे॥ १॥

(१) **बृहतीः गिरः**=हमारी वृद्धि की कारणभूत ये ज्ञानवाणियाँ **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अभ्यनूषत**=स्तवन करें, जो कि **चर्षणीधृतम्**=मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं, **मघवानम्**=पवित्र ऐश्वर्यवाले हैं **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य हैं। (२) उस प्रभु का हमारी वाणियाँ स्तवन करें, जो कि **वावृधानम्**=अत्यन्त ही बढ़े हुए हैं, **पुरुहूतम्**=जिनकी पुकार-जिनका आराधन आराधक का पालन व पूरण करनेवाली है, **अमर्त्यम्**=जो अमर्त्य हैं-जिनका उपासन हमें भी अमर्त्य बनाता है। और जो प्रभु **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **सुवृक्तिभिः**=अच्छी प्रकार पाप-

वर्जनवाले पुरुषों से **जरमाणम्**=स्तुति किए जाते हैं। वस्तुतः प्रभु के उपासन का सुन्दर प्रकार यही है कि हम आत्मनिरीक्षण द्वारा अपनी कमियों को देखकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करें। स्तुति किए जाते हुए प्रभु हमारा धारण करते हैं और हमारी वृद्धि का कारण बनते हैं।

भावार्थ—ज्ञानवाणियों से व पापों के वर्जन से हम प्रतिदिन प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

निरन्तर प्रभुस्तवन

शतक्रतुमर्णवं शाकिनं नरं गिरो म इन्द्रमुप यन्ति विश्वतः।
वाजसनिं पूर्भिदं तूर्णिमप्तुरं धामसाचमभिषाचं स्वर्विदम्॥ २॥

(१) **मे गिरः**=मेरी स्तुति-वाणियाँ **विश्वतः**=सब ओर से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर **उपयन्ति**=समीपता से प्राप्त होती हैं-मैं सतत उस प्रभु का स्तवन करता हूँ, जो कि **शतक्रतुम्**=सैंकड़ों प्रज्ञानों व शक्तियोंवाले हैं, **अर्णवम्**=ज्ञान के समुद्र हैं, **शाकिनम्**=शक्तिशाली हैं, **नरम्**=उपासकों को उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले हैं (नृ नये)। (२) उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ, जो कि **वाजसनिम्**=मुझे शक्ति देनेवाले हैं, **पूर्भिदम्**=काम-क्रोध-लोभरूप असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाले हैं, **तूर्णिम्**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हैं, **असुरम्**=कर्मों के प्रेरक हैं, **धामसाचम्**=शक्तियों से समवेत (युक्त) हैं, **अभिषाचम्**=शत्रुओं के प्रति जाते हुए उनका अभिभव करनेवाले हैं और **स्वर्विदम्**=सुख व प्रकाश के प्रापक हैं।

भावार्थ—निरन्तर प्रभुस्तवन करता हुआ मैं शतक्रतु व स्वर्वित् बनूँ-अनन्त प्रज्ञानवाला और सुख को प्राप्त करनेवाला।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

निष्पापता=प्रभुस्मरण

आकरे वसोर्जरिता पनस्यतेऽनेहसः स्तुभ इन्द्रो दुवस्यति।
विवस्वतः सदन आ हि पिप्रिये सत्रासाहमभिमातिहनं स्तुहि॥ ३॥

(१) **आकरे**=युद्ध में (आकीर्यन्ते शत्रवः अस्मिन्) **वसोः**=(वसति आभिमुख्येन इति वसुः शत्रुः) शत्रुओं को **जरिता**=जीर्ण करनेवाला वह प्रभु **पनस्यते**=हमारे से स्तुत किया जाता है। प्रभुस्तवन ही हमें शक्ति देता है, जिससे कि हम शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं। (२) इसीलिए **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अनेहसः**=निष्पाप **स्तुभः**=स्तुति द्वारा **दुवस्यति**=उस प्रभु की परिचर्या करता है। वस्तुतः स्तुति वही ठीक है, जो कि निष्पापता के साथ है। सच्चा स्तोता पाप कर ही कैसे सकता है? (३) वे प्रभु **विवस्वतः**=(विशेषेण यज्ञार्थं वसतः हविष्मतो यजमानस्य सा०) यज्ञशील पुरुष के **सदने**=गृह में **हि**=निश्चय से **आपिप्रिये**=प्रीति का अनुभव करते हैं, अर्थात् यज्ञशील मनुष्य ही प्रभु को प्रसन्न कर पाता है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। 'इन यज्ञों का हमें गर्व न हो जाए' इसके लिए कहते हैं कि **सत्रासाहम्**=सदा शत्रुओं का पराभव करनेवाले **अभिमातिहनम्**=अभिमान को विनष्ट करनेवाले प्रभु को **स्तुहि**=तू स्तुत कर। प्रभुस्मरण से हम यज्ञशील तो बनेंगे, पर उन यज्ञों का हमें गर्व न होगा।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से हमारे शत्रु (काम-क्रोध) विनष्ट होते हैं, हम यज्ञशील बनते हैं और उन यज्ञों को निरमानता से करते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अर्चना व वैरि-विनाश

नृणामु त्वा नृतमं गीर्भिरुक्थैरभि प्र वीरमर्चता सबाधः।
सं सहसे पुरुमायो जिहीते नमो अस्य प्रदिव एक ईशे ॥ ४ ॥

(१) **उ**=और **नृणाम्**=नेतृत्व करनेवालों में-मार्गदर्शकों में **नृतमम्**=सर्वाधिक मार्गदर्शक **प्रवीरम्**=प्रकृष्ट वीर **त्वा**=तुझे **गीर्भिः**=ज्ञानवाणियों से व **उक्थैः**=स्तुति-वचनों से **सबाधः**=(बाधनम् इति बाध् भावे क्विप्) शत्रु-बाधन के साथ रहनेवाले लोग **अभि अर्चता**=दिन के प्रारम्भ में व दिन की समाप्ति पर दोनों ओर पूजित करते हैं। **सः**=वह प्रभु का पूजन करनेवाला व्यक्ति **पुरुमायः**=अत्यन्त प्रज्ञावान् बनकर **सहसे**=शत्रु-पराभव के लिए **जिहीते**=गति करता है। प्रभु-पूजन से प्रज्ञा का प्रकर्ष प्राप्त होता है और उस प्रज्ञा-प्रकर्ष से रिपुओं का मर्षण होता है। (२) उस प्रभु के लिए ही **नमः**=हम नमन करते हैं। वह **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला प्रभु **एकः**=अकेला ही **अस्य ईशे**=इस ब्रह्माण्ड का ईशन करता है। वह अकेला ही बिना किसी दूसरे की सहायता के, इस सारे ब्रह्माण्ड का शासन करता है।

भावार्थ—हम प्रभु का अर्चन करें। प्रभु का उपासक प्रज्ञा-प्रकर्ष को प्राप्त करके शत्रुओं का पराभव करता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की निषेधाज्ञाएँ

पूर्वीरस्य निष्षिधो मर्त्येषु पुरू वसूनि पृथिवी बिभर्ति।
इन्द्राय द्याव ओषधीरुतापो रयिं रक्षन्ति जीरयो वनानि ॥ ५ ॥

(१) **अस्य**=इस हृदयस्थ प्रभु की **निष्षिधः**=निषेधाज्ञाएँ-किसी कर्म को न करने की प्रेरणाएँ **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाली हैं। हमें सब अशुभ कर्मों को करने के समय इस हृदयस्थ प्रभु की ओर से 'भय, शंका व लज्जा' उत्पन्न होती है और इस प्रकार हम अशुभ कर्म करने से रुक जाते हैं। (२) यह उस पिता प्रभु की ही कृपा है कि **पृथिवी**=यह पृथिवी माता हमारे लिए **पुरु**=पालक व पूरक **वसूनि**=धनों को **बिभर्ति**=धारण करती है। **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **द्यावः**=ये प्रकाशमय लोक **ओषधीः**=ओषधियाँ **उत**=और **आपः**=जल **रयिम्**=धन को **रक्षन्ति**=रखते हैं-प्राप्त कराते हैं। इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **जीरयः**=जीर्ण होनेवाले वृद्ध मनुष्य **वनानि**=(वन् संभक्तौ) उपासनाओं को रक्षित करते हैं, अर्थात् वृद्ध जन इन्हें उपासना के लिए प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—हम हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें। प्रभु ने हमारे लिए इस पृथिवी में सब वसुओं को रखा है। ओषधियाँ व जल हमें उस रयि (धन) को प्राप्त कराते हैं, जो कि हमारी वृत्ति को प्रभुप्रवण बनाती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुस्तवन से उत्कृष्ट जीवन

तुभ्यं ब्रह्माणि गिर इन्द्र तुभ्यं सत्रा दधिरे हरिवो जुषस्व।
बोध्या३पिरवसो नूतनस्य सखे वसो जरितृभ्यो वयो धाः ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तुभ्यम्**=आपके लिए **ब्रह्माणि**=इन ज्ञानवाणियों का **सत्रा**=सदा **दधिरे**=धारण किया जाता है। इन ज्ञानवाणियों के अध्ययन से आपकी प्राप्ति होती है। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले-उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **गिरः**=इन स्तुतिवाणियों को सदा धारण करते हैं। इन स्तुति-वाणियों से हम आपके समीप प्राप्त होते हैं। हे प्रभो! **जुषस्व**=इन स्तुति-वाणियों को आप प्रीतिपूर्वक सेवन करिए ये आपके लिए प्रिय हों। (२) आप **आपिः**=सर्वत्र व्याप्त हैं। **नूतनस्य अवसः**=अत्यन्त स्तुत्य (नु स्तुतौ) रक्षण को आप **बोधि**=जानिए। आप हमारा सर्वथा रक्षण करनेवाले हों। हे **सखे**=मित्र! **वसो**=हमें वसानेवाले प्रभो! **जरितृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **वयः धाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करिए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारा रक्षण करें और हमारे लिए उत्कृष्ट जीवन को धारण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु के प्रणयन में व शरण में

इन्द्र॑ मरुत्व इ॒ह पा॑हि॒ सोम॑ं॒ यथा॑ शार्या॒ते अपि॑बः सु॒तस्य॑।
तव॒ प्रणी॑ती॒ तव॑ शूर॒ शर्म॒न्ना वि॑वासन्ति क॒वय॑ः सुय॒ज्ञाः ॥ ७ ॥

(१) हे **मरुत्वः**=प्रशस्त प्राणोंवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **इह**=इस जीवन में **सोमं पाहि**=सोम का रक्षण कर-वीर्य का रक्षण कर। **यथा**=जैसे **शार्याते**=(शर्यया-शत्रुहिंसया सह-अतति, शर्यातिः, तस्य भावः शार्यातम्) शत्रु-हिंसा के लिए गति के निमित्त तूने **सुतस्य**=उत्पन्न सोम का **अपिबः**=पान किया। इस सोम के पान से ही रोगकृमिरूप शत्रुओं का संहार होता है। सोमपान के लिए प्राणसाधना आवश्यक है। (२) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **तव**=आपके प्रणयन में, **तव शर्मन्**=आपकी शरण में **कवयः**=ज्ञानी, **सुयज्ञाः**=उत्तम यज्ञोंवाले पुरुष **आविवासन्ति**=आपका उपासन करते हैं। प्रभु का सच्चा उपासन यही है कि हम प्रभु के प्रणयन में चलें-प्रभु की शरण में रहें। प्रभु की शरण में सुरक्षित होकर यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा सोम का रक्षण करें और प्रभु की शरण में यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मरुतों के साथ

स वा॑वशा॒न इ॒ह पा॑हि॒ सोम॑ं म॒रुद्भि॑रिन्द्र॒ सखि॑भिः सु॒तं नः॑।
जा॒तं यत्त्वा॒ परि॑ दे॒वा अभू॑षन्म॒हे भरा॑य पुरुहू॒त विश्वे॑ ॥ ८ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सः**=वह तू **वावशानः**=सोमरक्षण की प्रबल कामनावाला होता हुआ **सखिभिः मरुद्भिः**=अपने मित्रभूत इन प्राणों के साथ **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पन्न किये हुए **सोमं पाहि**=सोम का रक्षण कर। प्रभु ने शरीर में सोम के उत्पादन की व्यवस्था की है। प्राणसाधना द्वारा इस सोम का शरीर में ही रक्षण होता है। (२) इस सोमरक्षण से **जातम्**=आविर्भूत शक्तियोंवाले **त्वा**=तुझे **यत्**=चूँकि **विश्वे देवाः**=सब देव-सब उत्तम गुण, **महे भराय**=महान् संग्राम के लिए **परि अभूषन्**=सर्वतः अलंकृत करते हैं। इसलिए तुझे सोम का रक्षण करना ही

है। इसके रक्षण से ही तू रोगकृमि आदि का संहार कर सकेगा। हे **पुरुहूत**=(पुरु हूतं यस्य) अत्यन्त ही प्रभु का उपासन करनेवाले जीव! महादेव के सान्निध्य में सब देव तो तेरे समीप होंगे ही।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरक्षण होने पर सब देव हमें अलंकृत करते हैं।

ऋषि:—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

कर्मों के प्रेरक प्रभु

अमूर्ये मरुत आपिरेषोऽमन्दन्निन्द्रमनु दातिवाराः ।

तेभिः साकं पिबतु वृत्रखादः सुतं सोमं दाशुषः स्वे सधस्थे ॥ ९ ॥

(१) हे **मरुतः**=मनुष्यो! **अमूर्ये**=कर्मों की प्रेरणा में **एषः**=यह इन्द्र **आपिः**=तुम्हारा बन्धु है। **दातिवाराः**=(वारः वरणीयं धनम्) दत्तधन-धनों का दान करनेवाले लोग **इन्द्रं अनु**=उस प्रभु को प्राप्त करने की कामना के अनुसार **अमन्दन्**=हर्ष का अनुभव करते हैं (अनुवीप्सायाम्, वीप्सा=व्याप्तुमिच्छा)। जितना-जितना हम धन का दान करते हैं, उतना-उतना धनासक्ति से ऊपर उठकर प्रभु के समीप होते हैं और प्रभुप्राप्ति के आनन्द का अनुभव करते हैं। (२) **वृत्रखादः**=वृत्र को समाप्त करनेवाला वह प्रभु **तेभिः साकम्**=उन प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यों के साथ **सुतं सोमं पिबतु**=उत्पन्न किये गये सोम का पान करे। वस्तुतः प्रभुस्मरण ही वासना-विनाश का साधन बनता है और तभी सोमरक्षण संभव होता है, अतः कहते हैं कि प्रभु इस सोम का पान करें। प्रभु इस सोम का रक्षण **दाशुषः**=दाश्वान् पुरुष के-आत्मसमर्पण करनेवाले पुरुष के **स्वे सधस्थे**=अपने सधस्थ में करते हैं। यह शरीर ही सधस्थ है-यह आत्मा व परमात्मा दोनों का साथ मिलकर ठहरने का स्थान है। इस शरीर में सोम का रक्षण होने पर ही शरीर का पूर्ण स्वास्थ्य निर्भर है।

भावार्थ—प्रभु उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाले मित्र हैं। प्रभुस्मरण से ही वासना का विनाश होकर सोम का रक्षण सम्भव होता है। सोमरक्षण से प्रभुप्राप्ति के आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषि:—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**यवमध्यागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षण का साधन व फल

इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते। पिबा त्वस्य गिर्वणः ॥ १० ॥

(१) हे **राधानां पते**=सब सफलताओं के स्वामिन् प्रभो! **इदं**=यह सोम **हि**=निश्चय से **ओजसा**=ओजस्विता के हेतु से **अनुसुतम्**=दिन-प्रतिदिन उत्पन्न किया गया है। हे **गिर्वणः**=स्तुति-वाणियों द्वारा स्तवनीय प्रभो! आप **अस्य पिबातु**=इसका अवश्य पान करिए। (२) 'गिर्वणः' शब्द सोमपान के साधन का संकेत कर रहा है। मैं इन ज्ञान-वाणियों से प्रभु का स्तवन करता हूँ और सोम का रक्षण कर पाता हूँ। 'राधानां पते' यह सम्बोधन सोमपान के फल का संकेत करता है कि सोमरक्षण से सदा सफलता प्राप्त होगी।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन द्वारा मैं सोम का रक्षण करूँ और सोमरक्षण से सब कार्यों में सफलता प्राप्त करूँ।

ऋषि:—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**यवमध्यागायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षण से आनन्द प्राप्ति

यस्ते अनु स्वधामसत्सुते नि यच्छ तन्वम्। स त्वा ममत्तु सोम्यम् ॥ ११ ॥

(१) **यः**=जो सोम **ते स्वधां अनु**=तेरे आत्मधारक अन्न के अनुसार **असत्**=उत्पन्न होता है। आग्नेय भोजनों से उष्णवीर्य उत्पन्न होता है और सोम्य भोजनों से शीतवीर्य। **सुते**=उस सोम

के उत्पन्न होने पर **तन्वं नियच्छ**=तू अपने शरीर का नियमन कर। शरीर के नियमन से सोम का शरीर में रक्षण होगा। (२) **सः**=वह रक्षित सोम **सोम्यम्**=सोमरक्षण में कुशल **त्वा**=तुझे **ममत्तु**=आनन्दित करें। सोमरक्षण के अनुपात में ही नीरोगता, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होती है और हम वास्तविक आनन्द को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक सोम्य भोजन द्वारा शरीर में सोम का उत्पादन व रक्षण करें। यह रक्षित सोम हमारे आनन्द का वर्धन करे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'कुक्षि, शिर व बाहुओं' में सोम का प्रवेश

प्र ते॑ अश्नोतु कु॒क्ष्योः प्रेन्द्र ब्रह्म॑णा॒ शिरः॑। प्र बा॒हू शू॑र॒ राध॑से॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! यह उत्पन्न हुआ-हुआ सोम **ते कुक्ष्योः**=तेरे कुक्षि-प्रदेशों को **प्र अश्नोतु**=प्रकर्षेण व्यापनेवाला हो। उनमें व्याप्त हुआ-हुआ यह गुर्दे आदि में उत्पन्न हो जानेवाले भयंकर विकारों से हमारा रक्षण करे। (२) यह सोम **ब्रह्मणा**=ज्ञानवर्धन के हेतु से **शिरः**=प्र (अश्नोतु) तेरे सिर में व्यापनेवाला हो। मस्तिष्क में प्रज्वलित होनेवाली ज्ञानाग्नि का यही ईंधन होता है। (३) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले जीव! **राधसे**=सब कार्यों में सफलता की प्राप्ति के लिए यह तेरी **बाहू**=भुजाओं में प्र (अश्नोतु) व्यापनेवाला हो।

भावार्थ—कुक्षियों में प्रविष्ट सोम रोगों का विनाशक है। मस्तक में पहुँचा हुआ यह सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और भुजाओं में यह शक्ति का संचार करता है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभुस्तवन व सोमरक्षण द्वारा जीवन को उत्तम बनाने का उपदेश दे रहा है। अगले सूक्त में भी सोमरक्षण पर बल देते हुए कहते हैं कि—

५२. [द्विपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रातःसवन में सोम का रक्षण

धा॒नाव॑न्तं कर॒म्भिण॑मपू॒पव॑न्तमु॒क्थिन॑म्। इन्द्र॑ प्रा॒तर्जु॑षस्व नः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जीव! तू **प्रातः**=जीवन के इस प्रातःसवन में-जीवन के प्रथम चौबीस वर्षों में **नः**=हमारे इस सोम का **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। सोम को तू शरीर में ही सुरक्षित करने का प्रयत्न कर। (२) यह सोम **धानावन्तम्**=प्रशस्त **धान**=अवधान व रक्षणवाला है। इसके रक्षण से तेरी चित्तवृत्ति केन्द्रित होगी और तू अपना रक्षण कर पाएगा। **करम्भिणम्**=यह (क+रम्भ्) आनन्द से आलिंगन करनेवाला है। इसके रक्षण से तेरा जीवन आनन्दयुक्त होगा। **अपूपवन्तम्**=(इन्द्रियमपूपः ऐ० २।२४) यह रक्षित हुआ-हुआ सोम तेरी इन्द्रियों को उत्तम बनाएगा। **उक्थिनम्**=यह तुझे प्रशस्त उक्थों व स्तोत्रोंवाला करेगा। इसके रक्षण से तेरा झुकाव प्रभुस्तवन की ओर होगा।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। इससे हमारे शरीर का रक्षण होगा, आनन्द की प्राप्ति होगी, इन्द्रियाँ प्रशस्त होंगी और हम प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले बनेंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पचत्य पुरोडाश का सेवन

पुरोळाशं पचत्यं जुषस्वेन्द्रा गुरस्व च। तुभ्यं हव्यानि सिस्रते ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **पचत्यम्**=पचने में उत्तम **पुरोडाशम्**=(पुरः दाश्यते यज्ञार्थम्) जिसका पहले यज्ञ के लिए अर्पण किया गया है, उस यज्ञशेष को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला बन। **च**=और **आ गुरस्व**=अत्यन्त उद्यमशील जीवनवाला हो। हम भोजन के लिए यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले बनें और सदा श्रमशील हों। (२) प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार का जीवन बितानेवाले **तुभ्यम्**=तेरे लिए **हव्यानि सिस्रते**=सब हव्य-पदार्थ प्राप्त होते हैं। इसे आवश्यक पदार्थों की किसी प्रकार कमी नहीं रहती।

भावार्थ—हम यज्ञशेष के रूप में सुपच भोजन का ही सेवन करें और क्रियाशील जीवनवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

पुरोडाश का भक्षण+वेदवाणियों का सेवन

पुरोळाशं च नो घसो जोषयासे गिरश्च नः। वधूयुरिव योषणाम् ॥ ३ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे जीव! तू **नः**=हमारे इस **पुरोडाशम्**=(पुरः दाश्यते यज्ञार्थम्) यज्ञशेष का **घसः**=भक्षण कर, **च**=और **नः**=हमारी **गिरः**=इन वेदवाणियों का-ज्ञानवाणियों का **जोषयासे**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। (२) वेदवाणियों का तू इस तरह प्रेम से सेवन करनेवाला हो **इव**=जैसे कि **वधूयुः**=वधू की कामनावाला पुरुष **योषणाम्**=अपनी पत्नी का प्रेमपूर्वक ग्रहण करता है। वेदवाणी हमें पत्नी तुल्य प्रिय हो, वेदवाणी से हमारा परिणय हो।

भावार्थ—हम यज्ञशेष का सेवन करें और वेदवाणी की उपासना करें। सात्त्विक भोजन हमें ज्ञान की रुचिवाला करे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रज्ञान व शक्तिवर्धन

पुरोळाशं सनश्रुत प्रातःसावे जुषस्व नः। इन्द्र क्रतुर्हि ते बृहन् ॥ ४ ॥

(१) (सन=Food) हे **सन-श्रुत**=अपने सात्त्विक भोजन के कारण प्रसिद्ध जीव तू **प्रातःसावे**=जीवन के प्रथम चौबीस वर्षरूप प्रातःसवन में **नः**=हमारे इस **पुरोडाशम्**=(पुरः दाशते यज्ञार्थम्) यज्ञशेषरूप अमृत का ही **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! इस प्रकार यज्ञशेष का सेवन करने से **हि**=निश्चयपूर्वक **ते**=तेरा **क्रतुः**=प्रज्ञान व बल **बृहन्**=महान् होता है। यज्ञशेष का सेवन मस्तिष्क में प्रज्ञान को व शरीर में शक्ति को स्थापित करता है।

भावार्थ—हम यज्ञशेष का सेवन करें। इससे हमारी बुद्धि व बल दोनों बढ़ेंगे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

माध्यन्दिन सवन में

माध्यंन्दिनस्य सवनस्य धानाः पुरोळाशमिन्द्र कृष्वेह चारुम्।
प्र यत्स्तोता जरिता तूर्ण्यर्थो वृषायमाण उप गीर्भिरीट्टे ॥ ५ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **माध्यन्दिनस्य सवनस्य**=जीवन के पच्चीस से अड़सठ वर्ष तक के माध्यन्दिन सवन के **धानाः**=धारण करनेवाले **पुरोडाशम्**=(पुरः दाश्यते यज्ञार्थम्) यज्ञशेष को **इह**=यहाँ **चारुं कृष्व**=(चर भक्षणे) भोजन बना। तू इस गृहस्थ के समय में यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बन। यह यज्ञशेष अमृत है, यह तेरा उत्तमता से धारण करेगा। (२) इस माध्यन्दिन सवन में पुरोडाश का ही-यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला **यत्**=जब होता है, तो यह **स्तोता**=प्रभु का स्तवन करनेवाला, **जरिता**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाला, **तूर्ण्यर्थः**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला, **वृषायमाणः**=शक्तिशाली की तरह आचरण करता हुआ **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों से **प्र उप ईट्टे**=अत्यन्त ही स्तवन करता है।

भावार्थ—गृहस्थ का समय ही जीवन का माध्यन्दिन सवन है। इसमें यज्ञशेष का सेवन ही मुख्य धारणात्मक कर्म है। यज्ञशेष का सेवन करता हुआ गृहस्थ प्रभु का स्तोता बने। यही वासनाओं को जीर्ण करने का मार्ग है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

तृतीय सवन में

तृतीये धानाः सवने पुरुष्टुत पुरोळाशमाहुतं मामहस्व नः।
ऋभुमन्तं वाजवन्तं त्वा कवे प्रयस्वन्त उप शिक्षेम धीतिभिः ॥ ६ ॥

(१) हे **पुरुष्टुत**=(पुरु स्तुतं यस्य) प्रभु का अत्यन्त स्तवन करनेवाले जीव! तू **तृतीये सवने**=उनहत्तर से एक सौ सोलह तक अड़तालीस वर्ष के इस तृतीय सवन में **धानाः**=धारण करनेवाले, **नः**=हमारे लिए (प्रभु के लिए) **आहुतम्**=दिये गये, **पुरोडाशम्**=इस यज्ञशेष को **मामहस्व**=पूजित कर-आदर दे। तू जीवन के तृतीय सवन में भी यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला हो, यह यज्ञशेष तुझे इस सायन्तन सवन में भी धारण करनेवाला होगा। (२) जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **कवे**=कान्तप्रज्ञ प्रभो! **ऋभुमन्तम्**=अत्यन्त दीप्तिवाले, **वाजवन्तम्**=शक्तिशाली **त्वा**=तुझे **प्रयस्वन्तः**=उत्तम अन्नों का सेवन करनेवाले होते हुए हम **धीतिभिः**=ध्यानों द्वारा **उपशिक्षेम**=समीप पूजित करनेवाले हों। वस्तुतः उत्तम अन्नों का सेवन व प्रभु-पूजन हमें भी शक्तिशाली व दीप्तिवाला बनाता है। उत्तम अन्न शक्ति को देते हैं और प्रभु-पूजन दीप्ति को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—जीवन के सन्ध्याकाल में भी हम यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों। उत्तम अन्नों का सेवन करते हुए प्रभु-पूजन की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'करम्भ-धाना-अपूप (पुरोडाश)'

पूषण्वते ते चकृमा करम्भं हरिवते हर्यश्वाय धानाः ।
अपूपमद्धि सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान् ॥ ७ ॥

(१) **पूषण्वते**=शरीर का उत्तम पोषण करनेवाले **ते**=तेरे लिए **करम्भम्**=दधिमिश्रित सत्तुओं को **चकृमा**=करते हैं। ये दधिमिश्रित सत्तु तेरा उत्तम पोषण करनेवाले होंगे। (२) **हरिवते**=दुःखों का हरण करनेवाले प्रभु के उपासक, **हर्यश्वाय**=तेजस्वी इन्द्रियाश्वोंवाले तेरे लिए **धानाः**=भुने हुए जौ को करते हैं। भुने हुए जौ तेरी वृत्ति को इतना सात्त्विक बनाएँ कि तू प्रभु का उपासक बने-प्रभु की ही तरह औरों के दुःखों के हरण में प्रवृत्त हो। ये जौ का भोजन तेरी इन्द्रियों को

भी तेजस्वी बनाए। (३) **सगणः**=कर्मेन्द्रिय-पञ्चक व ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चक रूप गणों से युक्त हुआ-हुआ तू **अपूपम्**=पुरोडाश को-यज्ञशेष रूप अमृत को **अद्धि**=खानेवाला बन। यह अपूप-भक्षण तेरी इन्द्रियों को अपवित्र व निर्बल न होने देगा। इसी दृष्टि से सम्भवतः ऐतरेय में 'इन्द्रियमपूपः' (२।१४) ऐसा उल्लेख हुआ है। इन्द्रियों का नाम ही अपूप रख दिया गया है। (४) हे **वृत्रहा**=वासनारूप वृत्र को विनष्ट करनेवाले, **शूर**=सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष! तू **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **सोमं पिब**=सोम का पान करनेवाला हो। सोमरक्षण से ही वस्तुतः शूरता व विद्वत्ता प्राप्त होती है।

भावार्थ—मनुष्य का उत्तम भोजन दधिमिश्रित सत्तु व भुने जौ हैं। इन्हें भी यज्ञशेष के रूप में ही सेवन करना है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम्य भोजन

प्रति धाना भरत तूयमस्मै पुरोळाशं वीरतमाय नृणाम्।
दिवेदिवे सदृशीरिन्द्र तुभ्यं वर्धन्तु त्वा सोमपेयाय धृष्णो ॥ ८ ॥

(१) **अस्मै**=इस जीव के लिए **तूयम्**=शीघ्र **धानाः**=भुने यवों को **प्रतिभरत**=प्रतिदिन प्राप्त करानेवाले होओ। **नृणां वीरतमाय**=मनुष्यों में अत्यन्त वीर इस उपासक के लिए **पुरोडाशम्**=यज्ञशेषरूप अमृत को प्राप्त कराओ। (२) **दिवे दिवे**=प्रतिदिन हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तुभ्यम्**=तेरे लिए **सदृशीः**=समान रूपवाली ही वे धाना प्राप्त करायी जाती हैं। हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले इन्द्र! ये धाना **त्वा**=तुझे **सोमपेयाय**=सोमपान के लिए **वर्धन्तु**=बढ़ाएँ। इन धानाओं के सेवन से तू सोम का शरीर में रक्षण करनेवाला हो। ये भुने यव अत्यन्त सोम्य भोजन हैं। इनके सेवन से सोम (वीर्य) शरीर में सुरक्षित रहता है।

भावार्थ—हम धानाओं का प्रयोग करते हुए सोम का रक्षण करें। यज्ञशेष का सेवन हमें वीर बनाए।

प्रस्तुत सूक्त का मुख्य विषय जीवन के तीनों सवनों में सोम्य भोजनों द्वारा सोम का रक्षण है। 'भुने जौ व दधिमिश्रित सत्तु' सर्वोत्तम भोजन हैं। इन्हें भी यज्ञशेष के रूप में ही सेवित करना चाहिए। अगले सूक्त का प्रारम्भ भी हव्यपदार्थों के सेवन की प्रेरणा से ही होता है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रापर्वतौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्र और पर्वत का जीवन

इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहतं सुवीराः।
वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिळया मदन्ता ॥ १ ॥

(१) जीव जितेन्द्रिय बनकर 'इन्द्र' कहलाता है तथा अपना पूरण व पालन करता हुआ 'पर्वत' होता है। यह पर्वत शरीर को नीरोग रखता है तथा मन को हीन भावनाओं से बचाकर अपना पूरण करता है। हे **इन्द्रापर्वता**=इन्द्र व पर्वत! आप **बृहता रथेन**=निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए इस शरीर-रथ के हेतु से, अर्थात् शरीर-रथ को उन्नत बनाने के लिए **सुवीराः**=उत्तम वीरत्व को प्राप्त करानेवाले **वामीः**=सुन्दर **इषः**=अन्नों को **आवहतम्**=प्राप्त करो। इन सात्त्विक अन्नों से ही तुम 'इन्द्र व पर्वत' बन पाओगे। (२) हे **देवा**=दिव्यवृत्ति को धारण करनेवाले इन्द्र व पर्वतो!

आप **अध्वरेषु**=यज्ञों में **हव्यानि**=हव्य-पदार्थों को **वीतम्**=प्राप्त करानेवाले बनो (गमयतम्)। यज्ञ करके यज्ञशेष के रूप में हव्य पदार्थों का ही सेवन करो। **इडया**=इस वेदवाणी से **मदन्ता**=हर्ष का अनुभव करते हुए आप **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों से **वर्धेथाम्**=वृद्धि को प्राप्त करो। वस्तुतः हमारे मौलिक कर्त्तव्य तीन हैं—(क) हव्य-पदार्थों का सेवन, (ख) ज्ञान की वाणियों में आनन्द का अनुभव तथा (ग) स्तुतियों द्वारा उत्कृष्ट लक्ष्यदृष्टि को प्राप्त करके आगे बढ़ना।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, अपना पूरण करें। इसके लिए हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करें, यज्ञों में हव्य-पदार्थों की आहुति दें, ज्ञानप्राप्ति में आनन्द लें तथा स्तुति-वचनों का उच्चारण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मैं पुत्र बनूँ और प्रभु मेरे पिता हों

तिष्ठा सु कं मघवन्मा परा गाः सोमस्य नु त्वा सुषुतस्य यक्षि।
पितुर्न पुत्रः सिचमा रभे त इन्द्र स्वादिष्ठया गिरा शचीवः ॥ २ ॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! यहाँ हमारे जीवनयज्ञ में **कम्**=सुख से **सुतिष्ठ**=सम्यक् स्थित होइये। **मा परा गाः**=हमारे जीवन से आप दूर न होइये। **नु**=अब **सुषुतस्य**=उत्तमता से उत्पन्न किये गये **सोमस्य**=इस सोम द्वारा **त्वा यक्षि**=मैं आपका यजन करता हूँ। वस्तुतः प्रभु का सम्पर्क इस सोम के रक्षण से ही प्राप्त होता है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **शचीवः**=शक्तिशालिन् प्रभो! मैं **स्वादिष्ठया गिरा**=अत्यन्त मधुर स्तुति-वाणियों द्वारा **ते सिचम्**=आपके वस्त्र प्रान्त को इस प्रकार **आरभे**=पकड़ता हूँ **न**=जैसे कि **पुत्रः**=पुत्र **पितुः**=पिता के वस्त्र प्रान्त को पकड़ता है, अर्थात् मैं अत्यन्त मधुर स्तुति-वचनों का उच्चारण करता हुआ आपका ही आश्रय करता हूँ। आपका ही तो पुत्र हूँ। पुत्र ने पिता को छोड़कर कहाँ जाना?

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम जीवन-यज्ञ में प्रभु को आमन्त्रित करें। प्रभु का ही हमें आश्रय हो!

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

पत्नी की पति को उपासना के लिए प्रेरणा

शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम्।
एदं बर्हिर्यजमानस्य सीदाथा च भूदुक्थमिन्द्राय शस्तम् ॥ ३ ॥

(१) वैदिक संस्कृति में यज्ञसंयोग के लिए ही पत्नी का स्वीकार होता है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस नियम के अनुसार पत्नी शब्द यज्ञसंयोग में ही बनता है। यज्ञशील पति 'अध्वर्यु' है-अध्वर को (=यज्ञ को) अपने साथ जोड़नेवाला। पत्नी कहती है कि हे **अध्वर्यो**=यज्ञशील मेरे साथी! **शंसाव**=हम मिलकर प्रभु का शंसन करें। आप **मे प्रतिगृणीहि**=(होतुरुत्साहजननः प्रतिगरः) यज्ञविषयक मेरे उत्साहवर्धक शब्दों को कहिए। हम दोनों **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **जुष्टम्**=प्रिय **वाहः**=(स्तोत्रं) स्तोत्र को **कृणवाव**=करें। (२) **इदम्**=इस **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **बर्हिः**=आसन पर **आसीद**=बैठिए। **च**=और **अथा**=अब **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **शस्तम्**=प्रशस्त **उक्थम्**=स्तुतिवचन **भूत्**=(भवतु) हो। हम मिलकर प्रभु के लिए उत्तम स्तुतिवचनों का उच्चारण करें।

भावार्थ—पत्नी पति को, मिलकर प्रभुस्तवन के लिए, प्रेरित करती है। इसी में पत्नी का पत्नीत्व है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गृहिणी गृहमुच्यते

जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु।
यदा कदा च सुनवाम सोममग्निष्ट्वा दूतो धन्वात्यच्छ॥ ४॥

(१) पति प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **जाया इत् अस्तम्**=पत्नी ही घर है 'न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते'। हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सा इत् उ योनिः**=पत्नी ही निश्चय से सब उत्तमताओं के मिश्रण व बुराईयों के अमिश्रण का स्थान है। **युक्ता हरयः**=अपने कार्य में ठीक रूप से लगे हुए इन्द्रियाश्व **इत्**=निश्चय से **त्वा**=आपको **तद् वहन्तु**=उस घर की ओर लेनेवाले हों, अर्थात् जब पत्नी के सुप्रबन्ध से घर में हमारे इन्द्रियाश्व उत्तम कर्मों में व्याप्त हों, तो वहाँ आपकी उपस्थिति को हम अनुभव करें। (२) **च**=और **यदा कदा**=जब भी अवसर प्राप्त हो हम **सोमं सुनवाम**=सोम का सम्पादन करें-शरीर में सोम का रक्षण करें। हमारा कोई भी कार्य सोम का विनाशक न हो। हे प्रभो! **अग्निः**=प्रगतिशील जीव ही **दूतः**=तप की अग्नि में अपने को तपाता हुआ **त्वा अच्छ**=आपकी ओर **धन्वाति**=गतिवाला होता है। अतः हम भोग-प्रधान जीवन को न बिताते हुए तपस्वी हों और आपकी ओर आनेवाले हों।

भावार्थ—सद्गृहस्थों के घर में ही प्रभु की उपस्थिति अनुभव होती है। ये भोग-प्रधान जीवन न बिताते हुए सोम का रक्षण करते हैं और तपस्वी बनकर प्रभु की ओर चलते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

घर में तथा घर से बाहिर

परा याहि मघवन्ना च याहीन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम्।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो रासभस्य॥ ५॥

(१) पर्वत ने घर के पालन के लिए आवश्यक धन कमाना है। अतः यहाँ पति को 'मघवन्' शब्द से सम्बोधित किया है-इस धन को उसने सुपथ से ही कमाना है (मा+अघ)। अजितेन्द्रिय बनकर विलासी जीवनवाला नहीं बनना, अतः उसे 'इन्द्र' कहा गया है। घर का भार उठाने के कारण उसे 'भ्रातः' कहा गया है। सदा घर पर बैठे रहने से कमाया नहीं जा सकता और क्लबों में फिरने से घर बरवाद हो जाता है। सो कहते हैं कि हे **मघवन्**=सुपथ से धनार्जन करनेवाले पति! तू **परा याहि**=घर से बाहर दूर-दूर स्थानों पर जानेवाला हो **च**=और धनार्जन के लिए आवश्यक गति की समाप्ति पर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पति! तू **आयाहि**=सर्वथा घर पर आनेवाला हो। हे **भ्रातः**=घर के बोझ को उठानेवाले पति! **उभयत्रा**=घर के बाहर भी और अन्दर भी **ते अर्थम्**=तेरा प्रयोजन है। बाहर जाकर तूने धनार्जन करना है, अन्दर आकर घर का रक्षण करना है, सन्तानों की शक्तियों के सन्तान के लिए (फैलाव) यत्नशील होना है। (२) इस प्रकार घर के अन्दर व बाहर दोनों स्थानों में ठीक प्रकार कार्य करना ही वह मार्ग है, **यत्रा**=जिसमें **बृहतः**=वृद्धिशील **रथस्य**=शरीर-रथ का **निधानम्**=स्थापन होता है तथा **रासभस्य**=प्रभु के नामों का उच्चरण करनेवाले (रासृ शब्दे) **वाजिनः**=शक्तिशाली इन्द्रियाश्व का **विमोचनम्**=विषयों से छुड़ाना होता है। अन्दर व बाहर के कार्यों को ठीक से करने पर शरीरूप रथ वृद्धिशील व सुन्दर बनता है तथा इन्द्रियाँ विषयासक्त नहीं होतीं।

भावार्थ—पति ने धनार्जन के लिए घर से बाहर जाना है-घर पर ही नहीं बैठे रहना। तदनन्तर

घर पर ही आना है-इधर-उधर सैर नहीं करनी, ताकि घर का समुचित ध्यान किया जा सके। यही वृद्धि व विषय-विमुक्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्लबों में नहीं

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सोमं अपाः**=तूने तो सोम का पान किया है, सो **अस्तं प्रयाहि**=बाह्य प्रयोजन के समाप्त होने पर घर को ही आनेवाला बन। इधर-उधर क्लबों में जाने की न सोच। **जाया**=तेरी पत्नी **कल्याणीः**=अत्यन्त मंगल करनेवाली है। **ते गृहे**=तेरे घर में **सुरणम्**=शुभ ही शुभ शब्द हैं। (२) यह घर में ही वापिस आना वह मार्ग है, **यत्रा**=जहाँ **बृहतः रथस्य**=वृद्धिशील शरीर रथ का **निधानम्**=स्थापन होता है और **वाजिनः**=इन्द्रियाश्वों का **विमोचनम्**=विषयों से मोचन होता है, जो कि **दक्षिणावत्**=(दक्ष् To grow) अतिशयेन वृद्धि का साधन होता है, अर्थात् इधर-उधर न भटकने से शरीर स्वस्थ बना रहेगा और विषयों में अनासक्त इन्द्रियाँ दिन-व-दिन बढ़ती हुई शक्तिवाली होंगी।

भावार्थ—मनुष्य यदि अपनी उन्नति चाहता है, तो उसे एक सद्‌गृहस्थ का ही जीवन बिताना चाहिये, न कि क्लब का।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

भोज बनना व दीर्घजीवी होना

इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः॥ ७॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार एक सद्‌गृहस्थ का जीवन बितानेवाले **इमे**=ये व्यक्ति **भोजाः**=अपना व दूसरों का पालन करनेवाले होते हैं-परिवार का समुचित पालन करते हैं। विषयासक्त न होने से **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले होते हैं। **विरूपाः**=विशिष्टरूपवाले होते हैं-तेजस्वी होते हैं। **दिवः पुत्रासः**=ये ज्ञान के पुतले बनते हैं-अत्यन्त ज्ञानी तथा **असुरस्य**=उस महान् प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभु के **वीराः**=वीरपुत्र होते हैं। (२) ये व्यक्ति **विश्वामित्राय**=सब के मित्र उस प्रभु के लिए **मघानि**=धनों को **ददतः**=देते हुए **सहस्रसावे**=शतशः यज्ञों में प्रवृत्त हुए-हुए **आयुः प्रतिरन्ते**=अपने आयुष्य को बढ़ाते हैं। प्रभु के लिए धन देने का भाव यही है कि लोकहित के लिए धनों को देना। वस्तुतः लोकहित के लिए धनों को देना ही यज्ञ है। इस यज्ञ में प्रवृत्त होने पर जीवन विलासमय नहीं बनता, परिणामतः यह व्यक्ति दीर्घजीवन प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम औरों का पालन करते हुए, लोकहित के लिए धन का विनियोग करते हुए यज्ञशील बनें और दीर्घजीवनवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अनृतुपा, ऋतावा

रूपंरूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं१ परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परि मुहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ ८॥

(१) **मघवा**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **स्वां तन्वं परि**=(परिः पञ्चम्यर्थे) प्रकृतिरूप अपने शरीर से **मायाः कृण्वानः**=(extra ordinary power or wisdom) अनन्त शक्ति व प्रज्ञा को प्रकट करता हुआ **रूपं रूपं बोभवीति**=नानारूपों को उत्पन्न करता है (भावयति)। संसार के ये सब पदार्थ प्रभु की महिमा को प्रकट करते हैं। इनके वैज्ञानिक अध्ययन से हमारे लिए प्रभु की शक्ति व प्रज्ञा का प्रकाश होता है। (२) **यत्**=जब **दिवः त्रिः**=दिन में तीन बार **मुहूर्तं परि अगात्**=कुछ देर के लिए हमें ये प्रभु प्राप्त होते हैं, तो **स्वैः मंत्रैः**=अपनी ज्ञान की प्रेरणाओं से **अनृतुपाः**=हमें असमय के कार्यों से बचाते हैं तथा **ऋतावा**=हमारे जीवन में ऋत का रक्षण करते हैं। उपासक 'प्रातः, मध्याह्न व सायं-प्रारम्भ, मध्य व अन्त' में प्रभु का ध्यान करता है, तो उसे सतत प्रभु की प्रेरणा प्राप्त होती है। इस प्रेरणा से वह असमय के कार्यों से बचता है और समय पर कार्य करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ की रचना में प्रभु की शक्ति व प्रज्ञा का प्रकाश होता है। इस प्रभु के स्मरण से हमें वह प्रेरणा प्राप्त होती है, जो कि हमें असमय के कार्यों से बचाकर ऋत का पालन करनेवाला बनाती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'प्रभुप्रिय' कुशिक

म॒हाँ ऋषि॑र्देव॒जा दे॒वजू॑तोऽस्तभ्ना॒त्सिन्धु॑मर्ण॒वं नृ॒चक्षाः॑।
वि॒श्वामि॑त्रो॒ यदव॑हत्सु॒दास॒मप्रि॑यायत कुशि॒केभि॒रिन्द्रः॑॥ ९॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार **देवजूतः**=उस प्रकाशमय प्रभु से प्रेरित हुआ-हुआ यह **महान्**=बड़ा बनता है, **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा होता है, **देवजाः**=द्योतमान तेजों को अपने में उत्पन्न करनेवाला होता है। यह **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाला होता हुआ **अर्णवं सिन्धुम्**=इस ज्ञान जलवाली ज्ञानसरित् (नदी=सरस्वती) को अपने अन्दर **अस्तभ्नात्**=थामता है। अपने ज्ञान को अत्यन्त बढ़ाता हुआ अधिक से अधिक लोकहित करनेवाला बनता है। (२) **विश्वामित्रः**=सबका मित्र वह प्रभु **यद्**=जब **सुदासम्**=उत्तम दान देनेवाले को अपने समीप प्राप्त कराता है, तो यह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **कुशिकेभिः**=(क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयति कर्मणा साधु विक्रोशयितार्थानाम् नि० २।२५) इन अर्थों का उत्तमता से प्रकाश करनेवाले ज्ञानी पुरुषों से **अप्रियायत**=प्रीति को अनुभव करता है। ये ज्ञानीपुरुष लोकहित के लिए ज्ञान को तो देते ही हैं, आवश्यक होने पर धन देने का भी ध्यान करते हैं। इन सर्वभूतहितरत पुरुषों से प्रभु प्रीणित होते हैं और उन्हें अपने समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करके हम महान् बनें। तत्त्वद्रष्टा बनकर औरों के लिए भी ज्ञान देनेवाले हों। औरों का हितसाधन करते हुए ही हम प्रभु के प्रिय बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विप्र-ऋषि-नृचक्षाः

हं॒साइ॑व कृणुथ॒ श्लोक॒मद्रि॑भि॒र्मद॑न्तो गी॒र्भिर॑ध्व॒रे सु॒ते सचा॑।
दे॒वेभि॑र्विप्रा ऋषयो नृचक्षसो॒ वि पि॑बध्वं कुशिकाः सो॒म्यं मधु॑॥ १०॥

(१) **हंसाः इव**=जैसे हंस **अद्रिभिः**=मेघों सहित **मदन्तः**=प्रसन्न होते हुए **श्लोकं कृणुथ**=शब्द करते हैं। **सोम्यं मधु पिबन्ति**=मीठा सोम पीते हैं वैसे ही **विप्रः**=हे विद्वानों **ऋषयः**=तत्त्व

ज्ञानियों **नृचक्षसः**=निरीक्षकों **कुशिकाः**=ज्ञानियों आप हंस के समान **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **अध्वरे सुते**=हिंसा रहित यज्ञ में सोम ब्रह्मज्ञानरूपी मधु का **देवेभिः सचा**=विद्वानों सहित **पिबध्वम्**=पान करो।

भावार्थ—विद्वान् पुरुषों को हंस के समान सोम ब्रह्म चिन्तन करना चाहिए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अश्व मोचन

उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये प्र मुञ्चता सुदासः।
राजा वृत्रं जङ्घनत्प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्याः ॥ ११ ॥

(१) हे **कुशिकाः**=प्रभु के स्तुति-शब्दों का उच्चारण करनेवाले पुरुषो! **उप प्रेत**=प्रभु के समीप प्राप्त होओ। **चेतयध्वम्**=चेतनावाले बनो, 'हम कौन हैं, क्यों आये हैं?' इन प्रश्नों को उत्पन्न करते हुए सदा सचेत बने रहो। हे **सुदासः**=उत्तम दान देनेवाले पुरुषो! **राये**=वास्तविक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **अश्वम्**=अपने इन्द्रियाश्व को **प्रमुञ्चत**=विषयों से मुक्त करो। विषय-विमुक्ति ही ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति का साधन बनती है। (२) **राजा**=अपने जीवन को व्यवस्थित करनेवाला पुरुष **प्राग् अपाक् उदग्**=अग्रगति करता हुआ (प्र अञ्च्) इन्द्रियों को विषय-व्यावृत्त करता हुआ (अप अञ्च्) और उन्नत होता हुआ (उद् अञ्च्) **वृत्रं जङ्घनत्**=वासना को अत्यन्त ही विनष्ट करता है। **अथा**=और **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **वरे**=श्रेष्ठ स्थान में **आयजाते**=सर्वथा यज्ञशील होता है। घर में अग्निहोत्र का कमरा ही सर्वश्रेष्ठ कमरा है 'अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्'। यह वासना को विनष्ट करनेवाला पुरुष उस उत्कृष्ट स्थान में यज्ञशील होता है।

भावार्थ—हम स्तवन करते हुए प्रभु के समीप हों। दानवृत्तिवाले बनकर इन्द्रियों को विषयों से मुक्त करें। वासना को विनष्ट करके यज्ञशील हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

स्तवन व स्वाध्याय

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्। विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ॥ १२ ॥

(१) **यः**=जो **इमे उभे रोदसी**=इन दोनों द्यावापृथिवी को **रक्षति**=रक्षित करता है, **अहम्**=मैं उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अतुष्टवम्**=स्तुत करता हूँ। वस्तुतः प्रभुस्तवन ही मुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाता है। (२) **विश्वामित्रस्य**=प्राणिमात्र के मित्र उस प्रभु का **इदं ब्रह्म**=यह सृष्टि के प्रारम्भ में दिया गया ज्ञान **भारतं जनम्**=लोक-भरण, लोक-संग्रह में प्रवृत्त मनुष्य को **रक्षति**=सुरक्षित करनेवाला होता है। इस ज्ञान के अध्ययन से उसका जीवन पवित्र बना रहता है 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन करें-प्रभुप्रदत्त ज्ञान की वाणियों का अध्ययन करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वज्री इन्द्र' का स्तवन

विश्वामित्रा अरासत ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे। करदिन्नः सुराधसः ॥ १३ ॥

(१) प्रभु विश्वामित्र हैं। प्रभु की उपासना से उपासक भी विश्वामित्र बनता है। ये **विश्वामित्राः**=सभी के साथ स्नेह करनेवाले पुरुष उस **वज्रिणे इन्द्राय**=वज्रहस्त-सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभु के लिए **ब्रह्म**=स्तोत्र को **अरासत**=उच्चरित करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए

ये भी 'वज्री व इन्द्र' बनते हैं। (२) ये विश्वामित्र **नः**=हमें भी अपने ज्ञानोपदेशों से **इत्**=निश्चयपूर्वक **सुराधसः**=उत्तम सफलतावाला **करत्**=करें।

भावार्थ—हम विश्वामित्र बनकर प्रभुस्तवन करें व औरों को भी ज्ञानोपदेश दें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'कीकट, प्रमगन्द व नीचीशाखों' के धन का अपहरण

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन्रन्धया नः ॥ १४ ॥

(१) 'किं कृतैः यज्ञादिभिः'='यज्ञादि से क्या लाभ है? ये तो व्यर्थ हैं' ऐसा सोचनेवाले लोग जहाँ रहते हैं, उन अनार्यों के निवास-स्थानभूत **कीकटेषु**=देशों में **ते गावः**=हे प्रभो! आपकी ये गौवें **किं कृण्वन्ति**=क्या करती हैं? अर्थात् वहाँ ये व्यर्थ ही हैं। ये कीकट देशों के निवासी **नाशिरम्**=(Milk) न दूध को **दुह्रे**=दुहते हैं और **न**=नां ही **घर्मम्**=घृत को (दुग्ध प्राप्य घृत को) **तपन्ति**=तपाते हैं। वस्तुतः यज्ञादि में प्रवृत्त न होने से उनके लिए दूध व घी का महत्त्व नहीं है। इसलिए उन गौवों को **नः**=हमारे लिए **आभर**=प्राप्त कराइये। हमारे यहाँ यज्ञादि में उनके दूध व घी का प्रयोग होगा। (२) इसी प्रकार **प्रमगन्दस्य**=अत्यन्त कुसीद की वृत्तिवाले अतएव कृपण धनी पुरुष के **वेदः**=धन को भी हमारे लिए प्राप्त कराइये। यहाँ उस धन का भी यज्ञादि उत्तम कार्यों में विनियोग होगा। (३) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **नैचाशाखम्**=संसार वृक्ष की निम्न शाखा बने हुए इन नीचाचरण पुरुषों के धनों को भी **नः**=हमारे लिए **दन्धय**=(साधय) प्राप्त कराइये (नीचाशाखस्य इदं नैचाशाखम्)। (४) इन कीकटों ने गौवों को खा ही तो जाना है, अतः उनके पास इनका न रहना ही ठीक है। प्रमगन्द पुरुष अत्यन्त धनलुब्ध होने से धन का धर्मकार्यों में प्रयोग न करेगा। और ये नीचाशाख पुरुष तो धन का अत्यन्त निकृष्ट विलासों में व्यय करेंगे। सो इनका धन भी इनसे पृथक् किया ही जाना चाहिए। राष्ट्र में भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि राजा इनके धन को छीन ले।

भावार्थ—कीकटों प्रमगन्दों व नीचाशाखों से राजा को धन छीन लेना चाहिए और उसका यज्ञादि उत्तम कार्यों में विनियोग कराना चाहिए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अमति का बाधन

ससर्परीरमतिं बाधमाना बृहन्मिमाय जमदग्निदत्ता।
आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेष्वमृतमजुर्यम् ॥ १५ ॥

(१) **जमदग्निदत्ता**=(जम to eat) जिसकी अग्नि ठीक खाती है, अर्थात् जो पूर्ण स्वस्थ है, ऐसे आचार्य से दी गई **ससर्परीः**=आचार्य से विद्यार्थी की ओर सर्पणशील यह ज्ञान की वाणी **अमतिं बाधमाना**=अज्ञान को विनष्ट करती हुई **बृहत्**=अत्यन्त ही **मिमाय**=ज्ञान के शब्दों का उच्चारण करती है, अर्थात् स्वस्थ जीवनवाला आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान प्राप्त कराता है, यह ज्ञान विद्यार्थी में अमति को-अविचार को बाधित करता है और उसे सुमतिवाला बनाता है। (२) **सूर्यस्य दुहिता**=ज्ञान का पूरण करनेवाली (दुह प्रपूरणे) श्रद्धा (सूर्यस्य दुहिता=श्रद्धा) **देवेषु**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों में उस **श्रवः**=ज्ञान को **आततान**=विस्तृत करती है, जो कि **अमृतम्**=अमृत है और **अजुर्यम्**=कभी जीर्ण नहीं होता 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'। श्रद्धा सत्य ज्ञान के धारण

का कारण बनती ही है।

भावार्थ—स्वस्थ आचार्य ज्ञान देकर हमारी अमति को दूर करते हैं। श्रद्धा उस ज्ञान का हमारे में पूरण करती है, जो कि अजरामर है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

पलस्ति व जमदग्नि

ससर्परीरभरत्तूयमेभ्योऽधि श्रवः पाञ्चजन्यासु कृष्टिषु ।
सा पक्ष्या३ नव्यमायुर्दधाना यां मे पलस्तिजमदग्नयो ददुः ॥ १६ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित **ससर्परीः**=यह आचार्य से विद्यार्थी की ओर सर्पणशील वाणी **एभ्यः**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **श्रवः**=ज्ञान को **तूयम्**=शीघ्र **आधि अभरत्**=आधिक्येन भरनेवाली होती है। (२) वह वेदवाणी **पाञ्चजन्यासु कृष्टिषु**=पाँचों पृथिवी आदि भूतों, पाँचों प्राणों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' इन पाँचों का विकास करनेवाले मनुष्यों में **पक्ष्या**=(पक्ष परिग्रहे) परिग्रह के योग्य होती है। वस्तुतः इसके ग्रहण से ही वे पाँचजन्य बन पाते हैं। ये उनमें **नव्यं आयुः**=स्तुत्य जीवन को **दधाना**=धारण करती है। (३) यह वेदवाणी वह है, **याम्**=जिसे **मे**=मेरे लिए **पलस्ति जमदग्नयः**=(पलस्ति= पलितः=दीर्घायुः) दीर्घायुवाले स्वस्थ जीवनवाले व्यक्ति **ददुः**=देते हैं। वस्तुतः उनका दीर्घस्वस्थ जीवन ही उस ज्ञानवाणी का क्रियात्मक उपदेश दे रहा होता है। उनसे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले अनुभव करते हैं कि हम भी इस ज्ञानवाणी को अपनाते हुए इनकी तरह ही पलस्ति व जमदग्नि बनेंगे।

भावार्थ—ज्ञान का उपदेश दीर्घायु के स्वस्थ व्यक्तियों से दिया गया प्रभावशाली होता है। इस ज्ञान से हम पञ्चजन बन पाते हैं।

सूचना—यहाँ 'पलस्ति' शब्द अध्यापकों के दीर्घायु के होने का संकेत कर रहा है। प्राचीनकाल में वानप्रस्थ ही इस शिक्षण-कार्य को प्रायः करते थे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**रथाङ्गानि** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शरीर-रथ का ठीक होना

स्थिरौ गावौ भवतां वीळुरक्षो मेषा वि वर्हि मा युगं वि शारि ।
इन्द्रः पातल्ये ददतां शरीतोररिष्टनेमे अभि नः सचस्व ॥ १७ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुसार सब व्यवहार करता हुआ पुरुष प्रार्थना करता है कि **गावौ**=शरीर-रथ में जुते हुए इन्द्रियरूप बैल (ज्ञानेन्द्रियाँ एक गौ हैं, कर्मेन्द्रियाँ दूसरा) **स्थिरौ भवताम्**=स्थिर हों। हमारी इन्द्रियशक्ति बड़ी ठीक बनी रहे। **अक्षः**=(axle pole) मनरूप अक्ष-दण्ड **वीडुः**=बड़ा दृढ़ हो। **ईषा**=(the pole of a cart) बुद्धिरूप रथदण्ड **मा विवर्हि**=हिंसित न हो जाए। **युगम्**=ज्ञान व श्रद्धा का युग (yoke) **मा विशारि**=शीर्ण न हो। इस प्रकार यह शरीर-रथ बड़ा ही सुन्दर बना रहे। (२) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **पातल्ये**=पतनशील ग्रन्थिरूप कीलकों में **शरीतोः प्राक्**=शीर्णता से पूर्व ही **ददताम्**=धारण करनेवाले हों। प्रभु कृपा से शरीर में सब glands (ग्रन्थियाँ) ठीक काम करती रहें। हे **अरिष्टनेमे**=अहिंसित परिधियोंवाले रथ! **नः**=हमें **अभिसचस्व**=अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों के दृष्टिकोण से सेवित करनेवाला हो। इस शरीरूप रथ द्वारा हम अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारा शरीररूपी रथ बड़ा सुन्दर बना रहे।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—रथाङ्गानि ॥ छन्दः—निचृद्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

'बलदा' प्रभु

बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानळुत्सु नः ।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि ॥ १८ ॥

(१) हे प्रभो! **नः**=हमारे **तनूषु**=शरीरों में **बलं धेहि**=बल को धारण करिए। हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! **नः**=हमारे **अनुडुत्सु**=इन्द्रियरूप बैलों में **बलम्**=बल को धारण करिए। (२) **तोकाय तनयाय**=हमारे पुत्रों व पौत्रों में **बलम्**=बल को धारण करिए, **जीवसे**=ताकि उनका जीवन उत्तम बने। **त्वं हि**=आप ही **बलदाः**=बल को देनेवाले **असि**=हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें बल दीजिए, ताकि हम उत्तम जीवन को बिता सकें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—रथाङ्गानि ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रथ की दृढ़ता

अभि व्ययस्व खदिरस्य सारमोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम् ।
अक्ष वीळो वीळित वीळयस्व मा यामादस्मादव जीहिपो नः ॥ १९ ॥

(१) खदिर (खैर) वृक्ष की लकड़ी बड़ी पक्की होती है। शरीररूप रथ को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि तू **खदिरस्य**=इस खदिर वृक्ष के **सारम्**=बल व स्थिरांश को **अभि वि अयस्व**=सब ओर विशेषरूप से प्राप्त हो, अर्थात् तेरा अंग-प्रत्यंग दृढ़ हो। **स्पन्दने**=इस शरीररूप रथ की गति में **शिंशपायाम्**=शीशम के समान दृढ़ शरीर-रथ में **ओजो धेहि**=ओज को धारण कर। यह शरीर-रथ गति करता हुआ ओजस्वी प्रतीत हो। (२) हे **वीडो**=दृढ़ **वीडित**=संकल्प आदि से दृढ़ीकृत **अक्ष**=मनरूपी अक्ष (axle pole) तू **वीडयस्व**=अत्यन्त दृढ़ हो। **अस्मात्**=इस **यामात्**=जीवनयात्रा के साधनभूत रथ से **नः**=हमें **मा अवजीहिपः**=गिरा मत दे। हम इस रथ में स्वस्थरूप से स्थित हों और जीवनयात्रा को पूर्ण कर सकें। मनःसंकल्प दृढ़ होगा तो अवश्य हम दीर्घायुष्यवाले बनेंगे ही। तभी हम जीवनयात्रा को पूर्ण भी कर सकेंगे।

भावार्थ—यह शरीर-रथ उस रथ के समान दृढ़ हो, जो कि खैर व शीशम की लकड़ी से बना होता है। इसमें मनरूपी अक्ष भी बड़ा दृढ़ हो। अक्ष के टूटते ही रथ समाप्त-सा हो जाता है। यही स्थिति शरीर में मन की है। उसका दृढ़ होना अत्यन्त आवश्यक है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—रथाङ्गानि ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'वानस्पतिक भोजनों से बना हुआ' शरीर-रथ

अयमस्मान्वनस्पतिर्मा च हा मा च रीरिषत् ।
स्वस्त्या गृहेभ्य आवसा आ विमोचनात् ॥ २० ॥

(१) जैसे बाह्यरथ वनस्पति=लकड़ी का बना होता है, उसी प्रकार यह शरीर-रथ भी वानस्पतिक भोजनों का ही बना हो। **अयम्**=यह **वनस्पतिः**=वानस्पतिक भोजनों से बना हुआ शरीर-रथ **अस्मान्**=हमें **च**=(certainty) निश्चय से **मा हाः**=मत छोड़ जाए, **च**=और **मा रीरिषत्**=हिंसित न हो, अर्थात् हमारा यह शरीररथ ठीकठाक बना रहे-इसमें किसी प्रकार की कमी न आ जाए। (२) यह **आगृहेभ्यः**=जब तक हम अपने ब्रह्मलोकरूप गृह में नहीं पहुँचते, तब

तक **स्वस्ति**=उत्तम स्थिति में बना रहे (सु अस्ति) **आ अवसा**=(अवसै) यात्रा के अवसान (=अन्त) तक यह ठीक रहे। **आ विमोचनात्**=इन्द्रियरूप अश्वों के विमोचन तक (खोलने तक) यह ठीक ही बना रहे। यहाँ अश्वों के विमोचन में 'इन्द्रियाश्वों के विषयों से मुक्त करने' का संकेत बड़ा स्पष्ट है। जब तक हमारी साधना विषय-विमुक्ति तक नहीं पहुँच जाती, तब तक यह शरीर-रथ ठीक-ठाक बना ही रहे।

भावार्थ—शरीर-रथ का निर्माण हम वानस्पतिक भोजनों से ही करें। यह शरीर-रथ हमें ब्रह्मलोकरूप घर में पहुँचाने तक बड़ा ठीक बना रहे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभुरक्षण-प्राप्ति

इन्द्रो॒तिभि॑र्बहु॒लाभि॑र्नो अ॒द्य या॑च्छ्रे॒ष्ठाभि॑र्मघवञ्छूर जिन्व।

यो नो॒ द्वेष्ट्यध॑रः॒ सस्प॑दीष्ट॒ यमु॑ द्वि॒ष्मस्तमु॑ प्रा॒णो ज॑हातु॥ २१॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **अद्य**=आज **यात् श्रेष्ठाभिः**=(यातयति हिनस्ति) शत्रुहिंसन में श्रेष्ठ **बहुलाभिः**=बहुत **ऊतिभिः**=रक्षणों से **जिन्व**=प्रीणित करिए। आपके इन शत्रुनाशक रक्षणों को प्राप्त करके हम प्रसन्नता का अनुभव करें। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **यः**=जो **नः**=हमें **द्वेष्टि**=द्वेष का विषय बनाता है **सः**=वह **अधरः पदीष्ट**=अवनति की ओर जानेवाला हो। **उ**=और **यं द्विष्मः**=सारे समाज का अहित करनेवाला होने के कारण जिसको हम प्रीति से नहीं देख पाते, **तम्**=उसको **उ**=निश्चय से **प्राणः जहातु**=प्राण छोड़ जाए। हमारे उन्नति-पथ में वह विघ्न करनेवाला न हो।

भावार्थ—हम प्रभु के रक्षणों को प्राप्त करके आगे और आगे बढ़ते जाएँ। हमारे मार्ग में विघ्नभूत लोगों को प्रभु दूर करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

परशु से शत्रुछेदन

प॒र॒शुं चि॒द्वि त॑पति शिम्ब॒लं चि॒द्वि वृ॑श्चति।

उ॒खा चि॑दिन्द्र॒ येष॑न्ती॒ प्रय॑स्ता॒ फेन॑मस्यति॥ २२॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से रक्षित हुआ-हुआ व्यक्ति **चित्**=निश्चय से **परशुम्**=शत्रुओं को तनूकृत (Thin) करनेवाले कुल्हाड़े को **वितपति**=दीप्त करता है। मन ही वह परशु है, जो कि आसुरवृत्तिरूप शत्रुओं को काट डालता है। यह उन शत्रुओं को **शिम्बलं चित्**=शाल्मली कुसुम के समान **विवृश्चति**=छिन्न कर देता है। (सेमल के फूल को जैसे सुगमता से काट दिया जाता है, उसी प्रकार यह वासनारूप शत्रुओं को आसानी से काटनेवाला होता है। (२) **उखा चित्**=देगची भी **चित्**=निश्चय से, **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **येषन्ती**=उबलती हुई (to bubble) उबलने के कारण जिसमें बुलबुले उठ रहे हैं, **प्रयस्ता**=पीड़ित हुई-हुई **फेनम्**=झाग को **अस्यति**=फेंकती है। इसी प्रकार यह शरीररूपी देगची भी यदि सदा वासनाओं के उबालवाली होगी, तो इससे शक्ति की झाग गिरेगी ही। इसलिए इसे वासनाओं से सदा उबलने न देना चाहिए। वासनारूप शत्रुओं को तो विनष्ट करना ही ठीक है।

भावार्थ—हम वासनारूप शत्रुओं के लिए परशु के समान हों। वासना का उबाल दूर करके

शक्ति का रक्षण करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सायक' प्रभु का स्मरण

न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः।
नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति॥ २३॥

(१) 'षो अन्तकर्मणि' से 'सायक' शब्द बना है। यहाँ सबका अन्त करनेवाले प्रभु का वाचक यह शब्द है। हे **जनासः**=लोगो! **सायकस्य न चिकिते**=उस अन्त करनेवाले प्रभु का तुम्हें ज्ञान नहीं। उसके उग्ररूप का ज्ञान न होने के कारण ही **मन्यमानाः**='आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया' 'मैं धनी हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान और कोई है ही कौन?' इस प्रकार अभिमान करते हुए लोग **लोधं पशु**=लुब्ध पशु के समान **नयन्ति**=जीवन को बिताते हैं। वस्तुतः आसुरवृत्ति में 'ईश्वरोऽहम्' अपने को ही ईश्वर मानकर चलते हैं। लोभ का वहाँ अन्त नहीं होता। इन्हें ईश्वर का स्मरण होता ही नहीं। ये पाशविक (=भोगप्रधान) ही जीवन बिताते हैं। (२) इनकी आवृत्तचक्षु विषयव्यावृत्त पुरुषों से तुलना हो ही क्या सकती है? **अवाजिनम्**=शक्तिरहित पुरुष को **वाजिना**=शक्तिशाली पुरुष से **न हासयन्ति**=स्पर्धा नहीं कराया करते। तुलना के लिए **गर्दभम्**=गधे को **अश्वात् पुरः**=घोड़े से पहले **न नयन्ति**=नहीं ले चलते। निर्बल की शक्तिशाली से क्या तुलना! और गधे-घोड़े का क्या मुकाबिला! इसी प्रकार अभिमानी आसुरी सम्पत्तिवाले का दैवी संपत्वाले के साथ कोई साम्य नहीं।

भावार्थ—हम प्रभु के रुद्र स्वरूप का स्मरण करते हुए पशुवत् जीवन न बिता कर अभिमानशून्य पवित्र जीवनवाले हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अपपित्व, न कि प्रपित्व

इम इन्द्र भरतस्य पुत्रा अपपित्वं चिकितुर्न प्रपित्वम्।
हिन्वन्त्यश्वमरणं न नित्यं ज्यावाजं परि णयन्त्याजौ॥ २४॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु विद्रावक प्रभो! **इमे**=ये **भरतस्य पुत्राः**=अपना उत्तम भरण करनेवाले (भरत=भरण करनेवाला। उसका पुत्र, अर्थात् अत्यन्त भरण करनेवाला) पुरुष **अपपित्वम्**=(separation) विषयों से पृथक्ता को **चिकितुः**=जानते हैं, **प्रपित्वं न**=मेल को नहीं। ये सदा इस बात का ध्यान करते हैं कि कहीं विषयों में फँस न जाएँ। विषयों से दूर रहना ही इन्हें अभीष्ट होता है। (२) ये लोग **अश्वम्**=इन्द्रियाश्व को **नित्यम्**=सदा **अरणं न**=शत्रु की तरह **हिन्वन्ति**=प्रेरित करते हैं। इन्हें यह भूलता नहीं कि सामान्यतः 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' प्रभु ने इन्द्रियों को बाह्य विषयों के चरने के स्वभाववाला बनाया है। इन्हें काबू रखा जाए तो ये मित्र हैं, वेकाबू हुई-हुई ये भयंकर शत्रु हैं। ये लोग **आजौ**=इन वासनाओं के साथ संग्राम में **ज्यावाजम्**=ज्या (डोरी) के बलवाले धनुष को **परिणयन्ति**=सर्वतः प्राप्त करते हैं। 'प्रणव' ही इनका धनुष होता है। इस द्वारा ये शत्रुओं का संहार करनेवाले होते हैं। प्रभुस्मरण से इन्द्रियों को ये वशीभूत करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—विषयों से व्यावृत्त होते हुए हम अपना उत्तम भरण करें। इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करें।

सूक्त का मुख्य विषय इन्द्रियों का वशीकरण ही है। इस द्वारा ही हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं। प्रभु का स्मरण व स्तवन करनेवाला 'वाच्य' अगले सूक्त का ऋषि है। यह स्तवन करता हुआ कहता है—

पञ्चमोऽनुवाकः

५४. [चतुःपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दम्य अनीक व दिव्य ज्ञान

इमं महे विदथ्याय शूषं शश्वत्कृत्व ईड्याय प्र जभ्रुः।
शृणोतु नो दम्येभिरनीकैः शृणोत्वग्निर्दिव्यैरजस्रः ॥ १ ॥

(१) **इमं शूषम्**=इस सुखकर स्तोत्र को **महे**=महान् **विदथ्याय**=ज्ञानयज्ञ में मन्थन द्वारा प्रादुर्भूत होनेवाले, अर्थात् ज्ञान द्वारा हृदय में प्रकट होनेवाले **ईड्याय**=स्तुत्य प्रभु के लिए **शश्वत् कृत्वः**=बारम्बार **प्रजभ्रुः**=धारण करते हैं। प्रभु महान् हैं, विदथ्य हैं, ईड्य हैं। प्रभु के लिए निरन्तर स्तोत्रों को करना स्तोता के लिए सुख का साधक होता है। (२) वह प्रभु **दम्येभिः अनीकैः**=दमनकुशल बलों से **नः**=हमारी प्रार्थना को **शृणोतु**=सुने, अर्थात् हमें वह शक्ति प्रदान करे, जिससे कि हम इन्द्रियों का दमन कर सकें। **दिव्यैः**=दिव्य ज्ञान से **अजस्रः**=निरन्तर युक्त हुआ-हुआ, इनसे कभी न पृथक् होनेवाला **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **नः**=हमारी प्रार्थना को **शृणोतु**=सुने। हमें भी वह प्रभु दिव्य ज्ञानों को प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम ज्ञानयज्ञों में प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें शत्रुदमन कुशल बलों व दिव्य शक्तियों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्यावापृथिवी का अर्चन

महि महे दिवे अर्चा पृथिव्यै कामो म इच्छञ्चरति प्रजानन्।
ययोर्ह स्तोमे विदथेषु देवाः सपर्यवो मादयन्ते सचायोः ॥ २ ॥

(१) हे स्तोतः! तू **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ **महे दिवे**=इस महान् द्युलोक के लिए तथा **पृथिव्यै**=पृथिवी के लिए **महि अर्च**=अत्यन्त ही अर्चना करनेवाला हो। शरीर में द्युलोक मस्तिष्क है। मस्तिष्क की अर्चना यही है कि हम अत्यन्त स्वाध्यायशील बनें। 'पृथिवी' यह स्थूल शरीर है। इसकी अर्चना यही है कि उचित आहार-विहार द्वारा इसकी शक्ति को स्थिर रखा जाए। **मे कामः**=मेरी अभिलाषा **इच्छन्**=द्युलोक व पृथिवी को **इच्छन्**=चाहती हुई **चरति**=गतिवाली होती है। मैं मस्तिष्क व शरीर दोनों की उन्नति चाहता हूँ, और उसके लिये गतिवाला होता हूँ, अर्थात् पुरुषार्थ करता हूँ। (२) **आयोः**=मनुष्य के **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **ह**=निश्चय से **ययोः स्तोमे**=जिन द्यावापृथिवी का स्तवन होने पर **सपर्यवः देवाः**=उसका पूजन करनेवाले देव **सचा मादयन्ते**=उसके साथ आनन्द का अनुभव करते हैं। जब मनुष्य समझदार होता हुआ मस्तिष्क व शरीर का ध्यान करता है-इन दोनों के विकास के लिए यत्नशील होता है, तो सब उत्तम गुण उसके अन्दर पनपते हैं। यही देवों द्वारा इस मनुष्य का पूजन है।

भावार्थ—हम शरीर व मस्तिष्क के विकास के लिए इच्छापूर्वक यत्नशील हों। इससे हम सब दिव्यगुणों के अधिष्ठान बन पाएँगे।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'ऋत द्वारा पृथिवी का व सत्य द्वारा द्युलोक का' अर्चन

युवोर्ऋतं रोदसी सत्यमस्तु महे षु णः सुविताय प्र भूतम्।
इदं दिवे नमो अग्ने पृथिव्यै सपर्यामि प्रयसा यामि रत्नम्॥ ३॥

(१) हे **रोदसी**=द्यावापृथिवी! **युवोः**=आप दोनों का **ऋतं सत्यम्**=ऋत और सत्य **अस्तु**=मेरे में हो। पृथिवी का ऋत तथा द्युलोक का सत्य मेरे में निवास करे। पृथिवी, अर्थात् शरीर की प्रत्येक क्रिया को मैं ऋतपूर्वक, अर्थात् पूरी नियमितता के साथ करनेवाला होऊँ तथा मेरे मस्तिष्क में सत्यज्ञान हो। इस प्रकार के द्यावापृथिवी **नः**=हमारे **महे सुविताय**=महान् सुवित, सदाचरण के लिए **सु प्रभूतम्**=अच्छी प्रकार हों। नियमित गति द्वारा स्वस्थ शरीरवाले तथा सत्यज्ञान से दीप्त मस्तिष्कवाले बनकर हम सदाचरण में ही प्रवृत्त हों। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **दिवे**=ज्ञानदीप्त मस्तिष्क के लिए तथा **पृथिव्यै**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर के लिए **इदम्**=यह **नमः**=नमन हो। आपका नमन करते हुए हम दीप्तमस्तिष्क व स्वस्थ शरीर को प्राप्त करें। हे प्रभो! मैं **प्रयसा**=(प्रयस्=sacrifice) त्याग द्वारा **सपर्यामि**=पूजन करता हूँ और **रत्नं यामि**=रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करता हूँ। जितना-जितना त्याग, उतना-उतना रमणीय वस्तुओं की प्राप्ति।

भावार्थ—ऋत, अर्थात् नियमित गति द्वारा मैं शरीर (=पृथिवी) का अर्चन करता हूँ और सत्य द्वारा मस्तिष्क (द्युलोक) का। इस प्रकार स्वस्थ शरीर व दीप्त-मस्तिष्कवाला बनकर सदाचरण में प्रवृत्त होता हूँ। त्याग द्वारा प्रभु का उपासन करता हुआ रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वस्थ शरीर व ज्ञानदीप्त-मस्तिष्क का महत्व

उतो हि वां पूर्व्या आविविद्र ऋतावरी रोदसी सत्यवाचः।
नरश्चिद्वां समिथे शूरसातौ ववन्दिरे पृथिवि वेविदानाः॥ ४॥

(१) **उतो**=और हे **ऋतावरी रोदसी**=ऋत व सत्यवाले द्यावापृथिवि! **पूर्व्याः**=अपना पालन व पूरण करने में उत्तम **सत्यवाचः**=सत्यवाणीवाले लोग **हि**=निश्चय से **वां आविविद्रे**=आप से ही उस-उस आपेक्षित अर्थ को प्राप्त करते हैं। सब अपेक्षित लाभ स्वस्थ शरीर व ज्ञानदीप्त मस्तिष्क से ही प्राप्य हैं। ऋत द्वारा-नियमित्त आचरण द्वारा शरीर स्वस्थ होता है तो सत्य द्वारा मस्तिष्क ज्ञानदीप्त बनता है। ऐसा होने पर वस्तुतः हमारी सब सत्य कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। (२) **नरः**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले लोग **चित्**=निश्चय से **वेविदानाः**=द्यावापृथिवी का महत्त्व समझते हुए हे **पृथिवि**=द्यावापृथिवि! **शूरसातौ**=शूरों के लाभ के निमित्तभूत **समिथे**=संग्राम में **वां ववन्दिरे**=आप दोनों की वन्दना करते हैं। द्यावापृथिवी की वन्दना इन्हें स्वाध्याय व युक्ताहार-विहार द्वारा दीप्त व स्वस्थ बनाना ही है। इस जीवनसंग्राम में इनका महत्त्व स्पष्ट है। जीवन-संग्राम में शूरवीर ही विजयी बनते हैं।

भावार्थ—जीवन संग्राम में स्वस्थ शरीर व ज्ञानदीप्त मस्तिष्क का महत्त्व समझते हुए लोग इन्हें ऐसा बनाने का ही प्रयत्न करते हैं।

सूचना—यहाँ उत्तरार्ध में पृथिवि=द्यावापृथिवि के लिए आया है, जैसे सत्यभामा के लिए केवल भामा का प्रयोग हो जाता है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

देवमार्ग की दुर्विज्ञानता

को अद्धा वेद क इह प्र वोचद्देवाँ अच्छा पथ्या३ का समेति।
ददृश्र एषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥ ५॥

(१) **देवाँ अच्छा**=दिव्यगुणों की ओर **का पथ्या**=कौन-सा मार्ग **समेति**=जाता है? इस बात को **कः**=वे आनन्दमय प्रभु ही **अद्धा**=साक्षात्रूपेण **वेद**=जानते हैं और **इह**=यहाँ **कः**=वे आनन्दमय प्रभु ही **प्रवोचत्**=वेदज्ञान द्वारा उस मार्ग का प्रवचन करते हैं। वेद द्वारा ही सत्यमार्ग का ज्ञान होता है। (२) **परेषु**=उत्कृष्ट **गुह्येषु**=रहस्यमय **व्रतेषु**=व्रतों में **या**=जो **अवमा**=(अवम=protector) रक्षक **सदांसि**=स्थितियां हैं वे **एषां ददृश्रे**=इन देवों के जीवनों में दिखती हैं। दिव्यगुणों को धारण करनेवाले पुरुषों के जीवनों में उनके व्यवहारों को देखकर हम अपने कर्त्तव्यों को जान पाते हैं। उनके अनुसार चलते हुए हम भी उन मार्गों पर ही चल रहे होते हैं, जो कि अन्ततः हमें देव बनानेवाले होते हैं। उनका अनुसरण करते हुए हम भी गुह्य व्रतों में पहुँच जाते हैं। ये व्रत हमें सब प्रकार की वासनाओं का शिकार होने से बचाते हैं और अन्ततः प्रभु को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने वेद में देवयान (देवमार्ग) का प्रतिपादन किया है। देववृत्ति के व्यक्तियों के जीवन में हम इन गुह्य व्रतों की झलक देख पाते हैं। एवं श्रुति व सदाचार धर्मज्ञान के उत्तम साधन हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शरीर व मस्तिष्क का संज्ञान

कविर्नृचक्षा अभि षीमचष्ट ऋतस्य योना विघृते मदन्ती।
नाना चक्राते सदनं यथा वेः समानेन क्रतुना संविदाने॥ ६॥

(१) **कविः**=तत्त्वज्ञान को प्राप्त करनेवाला क्रान्तदर्शी **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों को देखनेवाला, सबका ध्यान करनेवाला, केवल अपने हित को न देखनेवाला, **सीम्**=निश्चय से **ऋतस्य योना**=ऋत की योनि में, ऋत के स्थान में, एकदम नियमित (right) आचरण में **विधृते**=विशेषरूप से धारण किये गये, **मदन्ती**=हर्ष से युक्त द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **अभि अचष्ट**=सर्वतः देखता है। कवि व नृचक्षा बनकर हम ऋत का पालन करेंगे तो हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों ही सम्यक् पोषित होते हुए हमारे आनन्द का कारण बनेंगे। (२) **समानेन क्रतुना**=(सम्यक् आनयति-प्राणयति) सम्यक् प्राणित करनेवाले कर्म से **सं विदाने**=परस्पर ऐकमत्य को प्राप्त हुए-हुए ये **नाना**=अलग-अलग होते हुए भी शरीर और मस्तिष्क **वेः**=इस गतिशील भिन्न-भिन्न योनियों में जानेवाले जीव के **यथा**=जैसे चाहिये उस प्रकार **सदनं चक्राते**=गृह को, स्थिति स्थानभूत शरीर को **चक्राते**=बनाते हैं। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है। ये दोनों परस्पर पूरक हैं। शरीर मस्तिष्क का व मस्तिष्क शरीर का पूरण करता है। ये द्यावापृथिवी के समान एक दूसरे को पूरक होते हैं। जब ये एक-दूसरे का पूरण करते हैं, तभी जीव का यह उचित घर बनता है। ऐसे ही घर में यह उत्तम कर्मों को करता हुआ उन्नत हो पाता है।

भावार्थ—शरीर व मस्तिष्क परस्पर एक दूसरे का पूरण करते हुए हमारे लिये उचित निवास स्थान बनते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ध्रुव पद में स्थिति

समान्या वियुते दूरेअन्ते ध्रुवे पदे तस्थतुर्जागरूके ।

उत स्वसारा युवती भवन्ती आदु ब्रुवाते मिथुनानि नाम ॥ ७ ॥

(१) अध्यात्म में द्यावापृथिवी 'मस्तिष्क और शरीर' हैं। ये **समान्या**=मिलकर हमें सम्यक् प्राणित करनेवाले हैं (सं आनयतः प्राणयतः)। **वि-युते**=परस्पर पृथक्-पृथक् होते हुए, **दूरे**=एक दूसरे से दूर होते हुए भी **अन्ते**=समीप ही हैं। शरीर व मस्तिष्क पृथिवी व द्युलोक की तरह अलग-अलग व दूर हैं, पर दूर होते हुए भी मिलकर कार्य करने से समीप ही हैं। **जागरूके**=जब ये दोनों जागरित व सावधान रहते हैं, अर्थात् शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होता और मस्तिष्क दुर्विचारों का शिकार नहीं होता, तो ये **ध्रुवे पदे तस्थतुः**=उस ध्रुव पद प्रभु में स्थित होते हैं। स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क के होने पर हम प्रभु को प्राप्त करते हैं यही प्रभु में स्थित होता है, ब्रह्मनिष्ठ होना है। (२) **उत**=और **युवती भवन्ती**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) दोषों को पृथक् व गुणों को संयुक्त करती हुई ये द्यावापृथिवी (मस्तिष्क व शरीर) **स्व-सारा**=आत्मतत्त्व की ओर गतिवाली होती हैं। ये शरीर व मस्तिष्क दोनों मिलकर ही हमें परमात्मा को प्राप्त कराते हैं। केवल शरीर व केवल मस्तिष्क हमें प्रभु को नहीं प्राप्त करा सकता। **आत्**=इसलिए ही तो **मिथुनानि नाम ब्रुवाते**=छन्दात्मक नामों से कहे जाते हैं, जैसे 'द्यावापृथिवी', 'रोदसी' आदि। ये द्वन्द्वात्मक नाम इसी बात का संकेत करते हैं कि हमें शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही ठीक करना है। दोनों के स्वस्थ होने पर ही हम प्रभु को प्राप्त कर पायेंगे।

भावार्थ—'शरीर को हम नीरोग बनायें, मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनायें' यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्यावापृथिवी का महत्त्व

विश्वेदेते जनिमा सं विविक्तो महो देवान्बिभ्रती न व्यथेते ।

एजद् ध्रुवं पत्यते विश्वमेकं चरत्पतत्रि विषुणं वि जातम् ॥ ८ ॥

(१) **एते**=ये आधिदैविक जगत् के द्यावापृथिवी **विश्वा इत्**=सब ही **जनिमा**=प्राणियों को **संविविक्तः**=पृथक्-पृथक् धारण करते हैं-सभी को संविभागपूर्वक अवकाश प्राप्त कराते हैं। अध्यात्म में ये शरीर और मस्तिष्क सब **जनिमा**=शक्तियों के प्रादुर्भावों-विकासों को अलग-अलग धारण करते हैं। शरीर शक्ति को धारण करता है तो मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति को। (२) ये द्यावापृथिवी **महो देवान्**=अग्नि व सूर्य आदि महान् देवों को **बिभ्रती**=धारण करती हुई **न व्यथेते**=पीड़ित नहीं होतीं। शरीर और मस्तिष्क भी महनीय दिव्यगुणों को धारण करते हुए-शक्ति व ज्ञान को अपनाते हुए व्यथित नहीं होते। (३) यह **एजत्**=गति करता हुआ या **ध्रुवे**=मर्यादा में स्थित लोकसमूह तथा **चरत्**=पृथ्वी पर चलता हुआ या **पतत्रि**=आकाश में उड़ता हुआ **विषुणम्**=यह चारों ओर होनेवाला (विष्वक्) **विजातम्**=नानारूपोंवाला प्राणिसमूह मिलकर **एकं विश्वम्**=एक ही यह संसार **पत्यते**=गतिमय होता है। ये सारे लोक-लोकान्तर व प्राणिसमूह द्यावापृथिवी में ही गतिवाले हो रहे हैं। 'एजत् ध्रुवं' शब्द प्रकृति पिण्डों का निर्देश करते हैं, तथा 'चरत् पतत्रि विषुणं विजातम्' प्राणिसमूह का। यह सब मिलकर एक विश्व है। इस सब की गति इन द्यावापृथिवी में ही होती है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी के महत्त्व को समझते हुए हम अध्यात्म में शरीर व मस्तिष्क के भी सुन्दर विकास का पूरा ध्यान करें।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

कर्मों द्वारा प्रभु का उपासन

सना पुराणमध्येम्यारान्महः पितुर्जनितुर्जामि तन्नः।
देवासो यत्र पनितार एवैरुरौ पथि व्युते तस्थुरन्तः॥ ९॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार द्यावापृथिवी में उस प्रभु की महिमा को देखता हुआ मैं **सना**=उस सनातन **पुराणम्**=पुराण पुरुष परमात्मा को **आशत्**=समीप ही-अपने हृदय देश में **अध्येमि**=स्मरण करता हूँ। उस **महः**=महान् **पितुः**=हम सबके रक्षक **जनितुः**=उत्पादक परमात्मा का **तत्**=वह **नः**=हमारा **आमि**=बन्धुत्व है। उसके हम पुत्र हैं-रक्षणीय हैं, वह हमारा पिता व रक्षक है। (२) **देवासः**=देववृत्ति के लोग **यत्र**=जहाँ **एवैः**=गतियों द्वारा-कर्मों द्वारा **पनितारः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले होते हैं, वहाँ वे **उरौ**=विशाल **व्युते**=(वि उते) कर्म-तन्तुओं से व्याप्त **पथि अन्तः**=मार्ग में ही **तस्थुः**=स्थित होते हैं। वस्तुतः प्रभु का उपासन कर्मों से ही होता है, उन कर्मों से जो कि विशाल हृदय से किये जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु को पिता व जनिता के रूप में हम स्मरण करें। विशाल हृदय से कर्म करते हुए हम उसका उपासन करें।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का उपदेश किनने सुना!

इमं स्तोमं रोदसी प्र ब्रवीम्यृदूदराः शृणवन्नग्निजिह्वाः ।
मित्रः सम्राजो वरुणो युवान आदित्यासः कवयः पप्रथानाः॥ १०॥

(१) हे **रोदसी**=द्यावापृथिवी-द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य रहनेवाले सब लोगो! मैं **इमं स्तोमम्**=इस मन्त्रसमूह को तुम्हारे लिए **प्रब्रवीमि**=कहता हूँ। इन मन्त्रों द्वारा तुम्हारे कर्तव्यों का संकेत करता हूँ। (२) इस को उन्होंने ही **शृणवन्**=सुना जानो जो कि (क) **ऋदूदराः**=कोमल उदरवाले हैं-जिनका पेट मात्रा में भोजन के कारण सदा कोमल रहता है-जो कभी अतिभोजन नहीं करते। (ख) **अग्निजिह्वाः**=जो अग्नि के समान तेजस्वी जिह्वावाले हैं-प्रकाश को प्राप्त करानेवाले ज्ञानोपदेश को करनेवाले हैं, अथवा जो अग्नि को ही जिह्वा स्थानीय बनाते हैं, अर्थात् यज्ञ करके (अग्नि में आहुति देकर) यज्ञशेष का ही सेवन करते हैं। (ग) **मित्रः**=जो सब के साथ स्नेह से वर्तता है अथवा मृत्यु व रोगों से अपना रक्षण करता है (प्रमीतेः त्रायते)। (घ) **सम्राजः**=जो अपने सब कार्यों को सम्यक् व्यवस्थित (regulated) करते हैं। (ङ) **वरुणः**=जो अपने को पाप से रोकता है-किसी से द्वेष नहीं करता, (च) **युवानः**=जो दुरित से अपने को अमिश्रित व सुवित से अपने को मिश्रित करते हैं (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। (छ) **आदित्यासः**=जो सब जगह से गुणों का आदान करते हैं। (ज) **कवयः**=क्रान्तप्रज्ञ बनते हैं तथा (झ) **पप्रथानाः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं अथवा हृदय को विशाल बनाते हैं। (३) ऋदूदर आदि नौ व्यक्तियों ने ही वस्तुतः प्रभु के उपदेश को सुना। जो ऋदूदर आदि नहीं बने उन्होंने इस वेदज्ञान को क्या सुना! वेदज्ञान यदि उनके जीवन में नहीं आया तो सुना भी अनसुना ही हो गया।

भावार्थ—हम प्रभु के उपदेश को सुनें। यह हमें 'ऋदूदर, अग्निजिह्व, मित्र, सम्राट्, वरुण,

युवा, आदित्य, कवि व पप्रथान' बनाएगा। कितना ही सुन्दर वह जीवन होगा।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सर्वताति' के लिये याचना

हिरण्यपाणिः सविता सुजिह्वस्त्रिरा दिवो विदथे पत्यमानः।

देवेषु च सवितः श्लोकमश्रेरादस्मभ्यमा सुव सर्वतातिम्॥ ११॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की वाणी को सुननेवाला वह है, जो कि (क) **हिरण्यपाणिः**=हितरमणीय कर्मों को हाथ में लिये हुए हैं–सदा हितकर कार्यों में प्रवृत्त है। (ख) **सविता**=जो अपने अन्दर सोम का सवन करता है–वीर्यशक्ति को उत्पन्न करने के लिए यत्नशील होता है, (ग) **सुजिह्वः**=सदा शोभन शब्दों को बोलता है–उत्तम जिह्वावाला है। (घ) **दिवः त्रिः**=दिन में तीन बार **विदथे**=ज्ञानयज्ञ में **आपत्यमानः**=सर्वथा गतिवाला होता है। अधिक से अधिक अध्ययन की वृत्तिवाला बनता है। (२) हे **सवितः**=वेदज्ञान द्वारा प्रेरणा देनेवाले प्रभो! आप **च**=निश्चय से **देवेषु**=देववृत्तिवाले पुरुषों में ही **श्लोकम्**=इस यशस्वी ज्ञान को **अश्रेः**=सेवित कराइये–उन्हीं को यह वेदज्ञान दीजिए **आत्**=और अब **अस्मभ्यम्**=हम सबके लिए **सर्वतातिम्**=सब सद्गुणों के विस्तार को **आसुव**=प्रेरित करिए, आपकी कृपा से हम अपने अन्दर सब सद्गुणों का विकास करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु के उपदेश को सुननेवाला 'हिरण्यपाणि, सविता व सुजिह्व' बनता है। प्रातः, मध्याह्न व सायं स्वाध्यायशील होता है। प्रभु देवों को यह ज्ञान दें और हम सबके लिए कल्याण करें।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

यज्ञमय जीवन

सुकृत्सुपाणिः स्ववाँ ऋतावा देवस्त्वष्टावसे तानि नो धात्।

पूषण्वन्त ऋभवो मादयध्वमूर्ध्वग्रावाणो अध्वरमतष्ट ॥ १२॥

(१) **सुकृत्**=सब शोभन कर्मों को करनेवाला, **सुपाणिः**=सब शुभों को हाथ में लिये हुए, **स्ववान्**=सब धनोंवाला, **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाला, **देवः**=प्रकाशमय **त्वष्टा**=सब लोकों का निर्माता प्रभु **अवसे**=रक्षण के लिए **तानि**=उन वेदज्ञानों को **नः**=हमारे लिए **धात्**=धारण करता है। इन ज्ञानों को प्राप्त करके हम भी शोभन कर्मों को करनेवाले (सुकृत्) कल्याणमय हाथोंवाले (सुपाणि) धन-सम्पन्न (स्ववान्) ऋत का पालन करनेवाले (ऋतावा) प्रकाशमय (देव) व निर्माण करनेवाले (त्वष्टा) बनेंगे। (२) हे **पूषण्वन्तः**=उस पोषक प्रभु को अपनानेवाले **ऋभवः**=अत्यन्त देदीप्यमान लोगो! **मादयध्वम्**=तुम हर्ष का अनुभव करो। प्रभुप्राप्ति में ही तुम्हें आनन्द का अनुभव हो। **ऊर्ध्वग्रावाणः**=उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाले स्तोता बनकर **अध्वरम्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को **अतष्ट**=तुम करनेवाले होओ। तुम्हारे से यज्ञों का ही तक्षण (निर्माण) हो। यज्ञों से ही तो तुम प्रभु का पूजन करोगे 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये ज्ञान को सुनते हुए हम यज्ञमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विद्युद्रथ बनना

विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासः।
सरस्वती शृणवन्यज्ञियासो धाता रयिं सहवीरं तुरासः॥ १३॥

(१) **विद्युद्रथाः**=देदीप्यमान शरीररूप रथवाले, **ऋष्टिमन्तः**='इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप' उत्तम आयुधोंवाले, **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले, **दिवः मर्याः**=(दीव्यति इति) ज्ञान से दीप्त और अतएव शत्रुओं को मारनेवाले (शत्रूणां मारयितारः), **ऋतजाताः**=ऋत द्वारा अपना विकास करनेवाले अथवा अपने जीवन में ऋत का विकास करनेवाले, **अयासः**=गतिशील, **सरस्वती**=ज्ञान के पुञ्ज (सरस्वती का रूप धारण करनेवाले) **यज्ञियासः**=यज्ञशील लोग **शृणवन्**=(गतमन्त्र में उल्लिखित) वेदज्ञान को सुनते हैं। वस्तुतः वेदज्ञान को सुननेवाले ऐसे बनते हैं। जो ऐसे बने, उन्होंने ही समझो वेदज्ञान को सुना। (२) प्रभु कहते हैं कि हे वेद ज्ञान को सुननेवाले **तुरासः**=(तुर्वी हिंसायाम्) काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले लोगो! **सहवीरं रयिम्**=वीरसन्तानों से युक्त धन को तुम **धात**=धारण करो।

भावार्थ—वेदज्ञान के अनुकूल जीवन बनाने पर हम 'विद्युद्रथ' आदि विशेषणों से विशिष्ट जीवनवाले बनेंगे। उस समय हम वीरसन्तानों को प्राप्त करेंगे और ऐश्वर्य-सम्पन्न भी होंगे।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का स्तवन व पूजन

विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्ममर्का भगस्येव कारिणो यामनि ग्मन्।
उरुक्रमः ककुहो यस्य पूर्वीर्न मर्धन्ति युवतयो जनित्रीः ॥ १४॥

(१) हमारी **स्तोमासः**=स्तुतियाँ तथा **अर्काः**=पूजाएँ **पुरुदस्मम्**=अत्यन्त ही शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले **विष्णुम्**=उस व्यापक प्रभु को **यामनि**=इस जीवनयात्रा में **ग्मन्**=प्राप्त होती हैं। वे स्तोम व पूजाएँ प्रभु को प्राप्त होती हैं, जो कि **भगस्य कारिणः इव**=ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाली हैं। इन स्तोमों व अर्कों द्वारा हम वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। (२) **उरुक्रमः**=वे प्रभु अत्यन्त विशाल पराक्रम व व्यवस्थावाले हैं **यस्य**=जिनकी आज्ञाओं, क्रमों व व्यवस्थाओं को **पूर्वीः**=ये पालन व पूरण करनेवाली, **युवतयः**=सदा युवति रहनेवाली व परस्पर असंकीर्ण (यु अमिश्रणे) **जनित्रीः**=सब प्राणियों व ओषधि वनस्पतियों को जन्म देनेवाली **ककुहः**=दिशाएँ **न मर्धन्ति**=हिंसित नहीं करतीं। सब दिशाएँ प्रभु की व्यवस्था में ही चलती हैं, उसी प्रभु का हम स्तवन व पूजन करते हैं। यह पूजन हमें भी उस भगवान् की तरह भगवाला बनाता है।

भावार्थ—सब दिशाओं में प्रभु का ही शासन है। इस प्रभु का पूजन हमें ऐश्वर्य प्राप्त कराता है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुस्मरण व वासनाविनाश

इन्द्रो विश्वैर्वीर्यैः३ पत्यमान उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा।
पुरंदरो वृत्रहा धृष्णुषेणः संगृभ्या न आ भरा भूरि पश्वः॥ १५॥

(१) **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **विश्वैः**=सब **वीर्यैः**=पराक्रमों से **पत्यमानः**=गति करता

हुआ **उभे**=दोनों **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **महित्वा**=अपनी महिमा से **आ पप्रौ**=पूरित व व्याप्त करनेवाला है। सर्वत्र द्यावापृथिवी में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। (२) वे प्रभु **पुरन्दरः**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाले हैं-हमारे जीवन में आ जानेवाले काम-क्रोध-लोभ को प्रभु ही विनष्ट करते हैं। इन्द्रियों में कामासुर, मन में क्रोधासुर, बुद्धि में लोभासुर अपना-अपना दुर्ग बनाता है। प्रभु इन्हें विनष्ट कर डालते हैं। **वृत्रहा**=वे प्रभु हमारी वासना को (वृत्र=ज्ञान पर आवरणभूत) नष्ट करते हैं। **धृष्णुषेणः**=प्रभु की सेना शत्रुओं का धर्षण करनेवाली है। प्रभु महादेव हैं, देव ही उनके सैनिक हैं। दिव्य विचारों से वासनारूप शत्रुओं का विनाश होता है। (३) हे प्रभो! आप **नः**=हमें **संगृभ्य**=सम्यक् ग्रहण करके **पश्वः**=इन इन्द्रियाश्वों को **भूरि आभर**=इस प्रकार प्राप्त कराइये कि ये हमारा भरण करनेवाले बनें, न कि विनाश।

भावार्थ—सर्वत्र द्युलोक व पृथ्वीलोक में हम प्रभु की महिमा को देखें। प्रभु का स्मरण हमारी वासनाओं को विनष्ट करे और इससे हमारे इन्द्रियाश्व हमारे वंश में हो।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्राणापान का महत्व

नासत्या मे पितरा बन्धुपृच्छा सजात्यमश्विनोश्चारु नाम।
युवं हि स्थो रयिदौ नो रयीणां दात्रं रक्षेथे अकवैरदब्धा ॥ १६ ॥

(१) नासत्या=(नासायां भवौ) नासिका में गतिवाले ये प्राणापान **मे पितरा**=मेरे रक्षक हैं। **बन्धुपृच्छा**=एक बन्धु की तरह मेरे कुशल को पूछने (ask) वाले हैं। **अश्विनोः**=इन प्राणापान का **सजात्यम्**=समानरूप से विकसित होना **चारु नाम**=सचमुच सुन्दर है ('नाम'='निश्चय से' की भावना दे रहा है) 'प्राण और अपान दोनों समानरूप से प्रादुर्भाव (जनी प्रादुर्भावे) वाले हों' यह वास्तव में बहुत ही सुन्दर होता है। 'प्राण' शक्ति का संचार करता है, तो 'अपान' दोषों को दूर करता है। (२) **युवम्**=तुम दोनों **नः**=हमारे लिए **हि**=निश्चय से **रयीणां रयिदौ**=उत्कृष्ट धनों के देनेवाले हो। वस्तुतः ये ही शरीर में 'सोम' (वीर्य) के रक्षण के साधन बनते हैं और उस सोमरक्षण द्वारा शरीर को स्वस्थ, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र बनाते हैं। **अदब्धा**=अहिंसित हुए-हुए ये प्राणापान **अकवैः**=अकुत्सित कर्मों द्वारा **दात्रम्**=वासनाओं को विदारण करनेवाले (दाप् लवने) मुझको **रक्षेथे**=रक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान हमारे रक्षक हैं-बन्धुवत् हितकर हैं। हमें उत्कृष्ट ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु अपने प्रिय ज्ञानियों द्वारा

महत्तद्वः कवयश्चारु नाम यद्ध देवा भवथ विश्व इन्द्रे।
सख ऋभुभिः पुरुहूत प्रियेभिरिमां धियं सातये तक्षता नः ॥ १७ ॥

(१) हे **कवयः**=क्रान्तदर्शी विद्वानो! **वः**=आपका **तत्**=वह कर्म **नाम**=निश्चय से **महत्** **चारु**=अत्यन्त सुन्दर है, **यत्**=जो **ह**=निश्चय से **विश्वे**=आप सब **इन्द्रे**=उस प्रभु में स्थित होते हुए **देवाः भवथ**=देववृत्ति के होते हो। प्रभु में स्थित होना ही आपको देव बनाता है। (२) हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! हे **सखे**=मित्र प्रभो! आप **प्रियेभिः**=इन प्रिय **ऋभुभिः**=(उरु भान्ति) ज्ञान से दीप्त देवों **सं नः**=हमारे **सातये**=लाभ के लिये **इमां धियम्**=इस

बुद्धि को **तक्षता**=सम्पादित करिए। हम इन देवों के सम्पर्क में आएँ और अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु में स्थित होकर हम देव बनें। देव बनकर औरों के लिए ज्ञान को देनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

एक सद्गृहस्थ

अर्यमा णो अदितिर्यज्ञियासोऽदब्धानि वरुणस्य व्रतानि।
युयोत नो अनपत्यानि गन्तोः प्रजावान्नः पशुमाँ अस्तु गातुः ॥ १८ ॥

(१) (क) **अर्यमा**=(ऋ गतौ, अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) वह गतिशील सर्वदाता प्रभु **नः**=हमारा हो। हम प्रभुप्रवण बनें। प्रकृति की ओर न झुक जाएँ। (ख) **अदितिः**=वह अदीना देवमाता (नः) हमारी हो अथवा **अदितिः**=(अखण्डन) पूर्ण स्वास्थ्य हमारा हो। प्रभुप्रवण होते हुए हम पूर्ण स्वस्थ बनें। (ग) **यज्ञियासः**=सब यज्ञिय पवित्र भावनाएँ हमारी हों। प्रभुप्रवण व स्वस्थ बनकर हम पवित्र भावनाओंवाले हों। (घ) **वरुणस्य**=उस पाप निवारक प्रभु के **व्रतानि**=पुण्यकर्म **अदब्धानि**=हमारे में हिंसित न हों। प्रभु ने जिन पवित्र कर्मों का निर्देश किया है, हम उनका पालन करनेवाले बनें। (२) **नः**=हमारे **गन्तोः**=मार्ग से **अनपत्यानि**=सन्तानराहित्य की स्थितियों को **युयाते**=पृथक् करिए। हम सद्गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तानवाले हों। **नः**=हमारा **गातुः**=गृह व जीवनमार्ग **प्रजावान्**=उत्तम प्रजाओंवाला तथा **पशुमान्**=गौ आदि उत्तम पशुओंवाला हो। हमारे घर में उत्तम गौ आदि पशु हों। उनके दुग्ध आदि पदार्थों से सन्तानों का उत्तम निर्माण हो।

भावार्थ—सद्गृहस्थ होकर हम प्रभुप्रवण-वृत्तिवाले हों, स्वस्थ हों, पवित्र भावनाओं को अपनाएँ और प्रभु निर्दिष्ट व्रतों का हिंसन न करें।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

निष्पाप जीवन

देवानां दूतः पुरुध प्रसूतोऽनागान्नो वोचतु सर्वताता ।
शृणोतु नः पृथिवी द्यौरुतापः सूर्यो नक्षत्रैरुर्वऽन्तरिक्षम् ॥ १९ ॥

(१) **देवानां दूतः**=देवों का सन्देशवाहक वह प्रभु, देवों के लिए सन्देश को प्राप्त करानेवाला वह प्रभु **पुरुध**=अनेक प्रकार से **प्रसूतः**=हृदयों में प्रेरणा देनेवाला (प्रकृतं सूतं यस्य) है। वह **नः**=हमें **सर्वताता**=सब शक्तियों के विस्तार के निमित्त **अनागान् वोचतु**=इस प्रकार उपदेश करें कि हमारा जीवन निष्पाप बने। (२) **पृथिवी**=यह पृथिवी, **द्यौः**=द्युलोक **उत**=और **आपः**=जल, **सूर्यः**=सूर्य, **नक्षत्रैः**=नक्षत्रों के साथ **उरु अन्तरिक्षम्**=यह विशाल अन्तरिक्ष **नः**=हमारी **शृणोतु**=इस प्रार्थना को सुनें। सारा संसार हमारे लिए इस प्रकार अनुकूल हो कि हम प्रभु-प्रेरणा को सुनते हुए जीवन को निष्पाप बना पाएँ। इस निष्पाप जीवन में पृथिवी की तरह हम दृढ़ शरीरवाले बनें, द्युलोक की तरह दीप्त मस्तिष्कवाले हों, जलों की तरह रसमयी वाणीवाले हों, सूर्य की तरह ('पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्') आलस्यशून्य गतिवाले होकर चमकें, नक्षत्रों की तरह अपने मार्ग पर आक्रमण करनेवाले हों और अन्ततः इस विशाल अन्तरिक्ष की तरह अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बनाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु प्रेरणा को सुनते हुए जीवनों को निष्पाप बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्राणसाधना द्वारा 'ध्रुव-क्षेममय जीवन' का निर्माण

शृण्वन्तु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्तः।
आदित्यैर्नो अदितिः शृणोतु यच्छन्तु नो मरुतः शर्म भद्रम्॥ २०॥

(१) **नः**=हमारी प्रार्थना को **वृषणः**=हमारे में शक्ति का सेचन करनेवाले मरुत् (=प्राण) **शृण्वन्तु**=सुनें। प्राणसाधना करते हुए हम अपने में शक्ति का संचार करें। (२) **ध्रुवक्षेमासः**=(क्षिः निवासे) ध्रुव निवासवाले-अपने स्थान से न डिगनेवाले, **इडया**=अन्नों से **मदन्तः**=हर्ष को अनुभव करते हुए हमारे प्रार्थना-शब्दों को सुनें। पर्वतों पर नाना प्रकार की ओषधि वनस्पतियाँ प्रादुर्भूत होती हैं, उनसे पर्वत हराभरा प्रसन्न प्रतीत होता है। हम भी पर्वतों की तरह अपने मार्ग से अडिग हों तथा अन्नों का ही सेवन करते हुए आनन्द का अनुभव करें। (३) **आदित्यैः**='प्रकृति, जीव, परमात्मा' के ज्ञानवाले आदित्य विद्वानों के साथ **अदितिः**=स्वास्थ्य (अ-दिति) **नः शृणोतु**=हमारी प्रार्थना को सुने। हम स्वस्थ हों और सदा आदित्य विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त करें। (४) **मरुतः**=प्राण **नः**=हमारे लिए **भद्रं शर्म**=कल्याणकारक सुख को **यच्छन्तु**=दें। प्राणसाधना करते हुए हम नीरोग व वासनाशून्य सुखी जीवनवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम शक्तिशाली व सुखी जीवनवाले हों। पर्वतों की तरह अपने मार्ग से अडिग बनें। स्वस्थ बनकर ज्ञानियों के संग से ज्ञान को बढ़ाएँ।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ व अन्त प्राणसाधना पर बल दे रहा है। वस्तुतः प्राणसाधना ही जीवन की निर्मात्री है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सात्त्विक भोजन तथा उत्कृष्ट समृद्ध जीवन

सदा सुगः पितुमाँ अस्तु पन्था मध्वा देवा ओषधीः सं पिपृक्त।
भगो मे अग्ने सख्ये न मृध्या उद्रायो अश्यां सदनं पुरुक्षोः॥ २१॥

(१) हे परमात्मन्! **सदा**=हमेशा हमारा **पन्थाः**=मार्ग **सुगः**=शोभनगमनवाला, निष्पाप व **पितुमान्**=प्रशस्त अन्नवाला **अस्तु**=हो। (२) हे **देवाः**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, वायु आदि देवो! **ओषधीः**=ओषधियों को **मध्वा**=मधु से-अत्यन्त माधुर्य से **संपिपृक्त**=संपृक्त करो। हमारे सब अन्न अत्यन्त माधुर्य से युक्त हों। प्रस्तुत मन्त्रभाग का अर्थ यह भी है कि हे **देवाः**=देववृत्तिवाले पुरुषो! तुम **ओषधीः**=ओषधियों को **मध्वा**=मधु से **संपिपृक्त**=जोड़ दो, अर्थात् ओषधियों (=वनस्पतियों) व शहद का ही सेवन करनेवाले बनो। (३) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सख्ये**=आपकी मित्रता में **मे**=मेरा **भगः**=ऐश्वर्य **न मृध्याः**=हिंसित न हो। मैं **रायः**=धन के तथा **पुरुक्षोः**=पालक व पूरक अन्न के **सदनम्**=गृह को **उत् अश्याम्**=उत्कर्षेण प्राप्त होऊँ, अर्थात् मुझे धनों की व अन्नों की कमी न हो।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए उत्कृष्ट मार्ग से चलें। भोजन में ओषधियों व मधु का प्रयोग करें। हमें धन व अन्न की कमी न हो।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सात्त्विक अन्न, ज्ञानवृद्धि व प्रभुदर्शन

स्वदस्व हव्या समिषो दिदीह्यस्मद्र्यक्सं मिमीहि श्रवांसि।

विश्वाँ अग्ने पृत्सु ताञ्जेषि शत्रूनहा विश्वा सुमना दीदिही नः ॥ २२ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **हव्या स्वदस्व**=हव्य पदार्थों का ही तू स्वाद लेनेवाला बन। सात्त्विक पदार्थों का सेवन कर। अपने हृदय में **इषः**=प्रेरणाओं को **संदिदीहि**=दीप्त कर। सात्त्विक भोजन से पवित्र बने हृदय में तुझे उत्तम प्रेरणाएँ सुनाई पड़ेंगी ही। **अस्मद्रयक्**=हमारी ओर (प्रभु की ओर) आनेवाला तू **श्रवांसि संमिमीहि**=अपने अन्दर ज्ञानों का अत्यन्त निर्माण कर। ज्ञानप्राप्ति से ही तू प्रभु को प्राप्त करेगा। (२) इस प्रकार करने पर हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विश्वा उअहा**=सब दिन-सदा **तान् शत्रून्**=उन काम-क्रोध आदि प्रसिद्ध शत्रुओं को **पृत्सु**=इन अध्यात्म संग्रामों में **जेषि**=पराजित करनेवाला होगा। शत्रुओं को परास्त करके **सुमनाः**=प्रसन्न मनवाला तू **नः दीदिहि**=हमें अपने हृदय में दीप्त करनेवाला हो। हृदय के निर्मल होने पर ही प्रभु का प्रकाश दिखेगा।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों के सेवन से सात्त्विक मनवाले बनकर प्रभुप्रेरणा को सुनें। ज्ञान को बढ़ाते हुए प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर बढ़ें। अध्यात्म-संग्राम में शत्रुओं को जीतकर निर्मल हृदय में प्रभु के प्रकाश का अनुभव करें।

सम्पूर्ण सूक्त जीवन को उत्तम बनाकर प्रभु को प्राप्त करने का उपदेश कर रहा है। अगले सूक्त के भी ऋषि देवता ये ही हैं। सो उसमें भी यही विषय प्रस्तुत हुआ है—

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः-उषा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

उषाकालीन स्वाध्याय

उषसः पूर्वा अध यद् व्यूषुर्महद्वि जज्ञे अक्षरं पदे गोः।

व्रता देवानामुप नु प्रभूषन्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १ ॥

(१) **अध**=अब **यद्**=ज्यों ही **पूर्वाः**=सूर्योदय से पूर्व आनेवाली अथवा हमारा पालन व पूरण करनेवाली (पृ पालन पूरणयोः) **उषसः**=उषाएँ **व्यूषुः**=अन्धकार को विवासित करती हैं, तो उस समय देववृत्तिवाले पुरुषों के जीवन में **गोः पदे**=वेदवाणी के शब्दों में **महद् अक्षरं**=(परमं अक्षरं) महान् अविनाशी प्रभु का **विजज्ञे**=प्रादुर्भाव होता है। ये स्वाध्याय करते हैं और ज्ञान की वृद्धि करते हुए प्रभु के उस ब्रह्माण्ड की रचना आदि कार्यों में उस प्रभु की महिमा को देखते हैं। (२) उषाकाल में प्रबुद्ध होकर स्वाध्याय करते हुए जब ये प्रभु की महिमा का चिन्तन करते हैं, तो इनके जीवन को **देवानां व्रता**=सूर्य आदि देवों के व्रत **नु**=निश्चय से **उप प्रभूषन्**=समीपता से अलंकृत करते हैं, अर्थात् सूर्यादि देवों से अपने जीवन में व्रतों को धारण करने का प्रयत्न करते हैं। रामायण में राम के लिए कहते हैं कि 'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव। विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः। कालाग्नि सदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः' (१।१।१८) राम ने समुद्र से गम्भीरता का पाठ पढ़ा, हिमालय से धैर्य को सीखा, विष्णु के पराक्रम को अपनाया और चन्द्रमा के समान प्रियदर्शन बनने का यत्न किया। राजा होने के नाते वे कालाग्नि के समान क्रोध में हुए तो पृथिवी

के समान क्षमाशील बने। (३) इस प्रकार सूर्यादि देवों से व्रतों को धारण करके इनका जीवन अत्यन्त सुन्दर बनता है। वस्तुतः **देवानाम्**=इन सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=हमारे जीवनों में प्राणशक्ति के संचार का कार्य **एकम्**=अद्भुत ही है और **महत्**=महान् है। हम इन देवों के व्रतों को धारण करते हैं। ये देव हमारे में **असुरत्व**=प्राबल्य की स्थापना करते हैं।

भावार्थ—हम उषाकालों में स्वाध्याय द्वारा प्रभु-महिमा को अपने हृदयों में अनुभव करें। सूर्यादि देवों के व्रतों से अपने जीवन को अलंकृत करें। ये सूर्यादि देव हमारे में शक्ति की स्थापना करेंगे।

सूचना—इस सूक्त के सभी मन्त्रों का अन्तिम भाग 'महद् देवानामसुरत्वमेकम्' यही है। उसे अगले मन्त्रों में पुनः पुनः लिखने की आवश्यकता न होगी।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवों व पितरों के सम्पर्क में

मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः।
पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ २॥

(१) **अत्र**=यहाँ **नः**=हमें **देवाः**=सूर्यादि देव **मो**=(मा उ) मत ही **सु जुहुरन्त**=विनष्ट करनेवाले हों। हम इनके सम्पर्क में जीवन बिताते हुए अत्यन्त प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें। 'देवाः' का भाव 'ज्ञानी पुरुष' भी है। वे हमें हिंसित करनेवाले न हों, अर्थात् हमें सदा उनका संग सुलभ रहे। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन् **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **पदज्ञाः**=मार्ग को जाननेवाले **पितरः**=रक्षक लोग **मा**=हमें हिंसित न करें। हमें इनका सम्पर्क सदा प्राप्त रहे। (३) इन देवों व पितरों की कृपा से **पुराण्योः**=इन सनातन **सद्मनोः**=(सीदन्त्यनयोर्देवमनुष्या इति सद्मनी रोदसी सा०) द्यावापृथिवी के **अन्तः**=अन्दर **केतुः**=प्रज्ञान ही प्रज्ञान हो। हम द्यावापृथिवी के अन्तर्गत सभी पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें। तभी हमें यह अनुभव होगा कि इन देवों का प्राणशक्ति संचार का कार्य अद्भुत है व महान् है।

भावार्थ—देवों व पितरों के सम्पर्क में हमें द्यावापृथिवी का उत्तम ज्ञान होगा। तब ये सब सूर्यादि देव हमें प्राणशक्ति देनेवाले होंगे।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

ज्ञानाग्नि को दीप्त करके ऋत का पालन

वि मे पुरुत्रा पतयन्ति कामाः शम्यच्छा दीद्ये पूर्व्याणि।
समिद्धे अग्नावृतमिद्वदेम महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ३॥

(१) **मे**=मेरी **कामाः**=कामनाएँ **पुरुत्रा**=अनेक प्रकार से **विपतयन्ति**=विविध दिशाओं में गतिवाली होती हैं। प्रभुकृपा से मैं **समि अच्छा**=उत्तम कर्मों का लक्ष्य करके **पूर्व्याणि**=पालक व पूरक ज्ञानों को अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में दिये गये इन ज्ञानों को **दीद्ये**=अपने अन्दर दीप्त करता हूँ। इन दीप्त ज्ञानों के होने पर मेरे कर्म उत्तम ही होते हैं। (२) **अग्नौ समिद्धे**=इस ज्ञानाग्नि के समिद्ध होने पर **इत्**=निश्चय से **ऋतं वदेम**=हम अपने जीवन से ऋत का ही प्रतिपादन करें। हम ऋत को ही बोलें। हमारे सब कार्य ऋत के अनुसार हों। 'अनृतात् सत्यमुपैमि' अनृत को छोड़कर ऋत को बोलना ही तो सर्वमहान् व्रत है। यह ऋत का पालन करनेवाला अनुभव करता है कि देवों का प्राणशक्ति संचार का कार्य अद्भुत व महान् है। ऋत का पालन करनेवाले के जीवन को

सूर्यादि देव प्राणशक्ति से परिपूर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—हमारे में विविध कामनाएँ उठती हैं। सर्वोत्तम कामना यही है कि हम ज्ञानदीप्त होकर ऋत के अनुसार कार्यों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'प्रसुप्त व जागरित' प्रभु

समानो राजा विभृतः पुरुत्रा शये शयासु प्रयुतो वनानु।
अन्या वत्सं भरति क्षेति माता महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ४॥

(१) **समानः**=(सम्यक् आनयति) सबको प्राणित करनेवाला, **राजा**=दीप्त, **विभृतः**=(विशिष्टं भृतं यस्य) सबका विशिष्ट रूप से भरण करनेवाला, **पुरुत्रा**=अनेक स्थानों में **शयासु**=निवास करनेवाली प्रजाओं में **शये**=निवास करता है। **वना अनु**=(वन संभक्तौ) उपासनाओं के अनुसार **प्रयुतः**=यह प्रकर्षेण युक्त होता है। सामान्यतः सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सब प्रजाओं में हैं ही। पर मानो वे सुप्त अवस्था में हों। 'शये' शब्द इसी भाव को व्यक्त कर रहा है। पर जो प्रजाएँ जागरित होकर उपासना में प्रवृत्त होती हैं, उनमें यह प्रभु प्रकर्षेण युक्त होते हैं। प्रभु की सत्ता उनमें जागरित हो उठती है। (२) प्रभु के बनाए हुए इन द्यावापृथिवी में **अन्या**=यह एक द्युलोक तो **वत्सम्**=जीवरूप वत्स (सन्तान) को **भरति**=वृष्टि द्वारा अन्न पैदा करके पोषित करता है। **माता**=यह भूमि माता **क्षेति**=इस वत्स को निवास देती है। इस प्रकार प्रभु के बनाए हुए इन सूर्यादि देवों का प्राणशक्ति संचार का कार्य विलक्षण व महान् है।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र वर्तमान हैं-उपासक उसकी सत्ता को अनुभव करते हैं। प्रभु के बनाए ये द्यावापृथिवी जीवरूप सन्तानों का भरण-पोषण करते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'आक्षित्' प्रभु

आक्षित्पूर्वास्वपरा अनूरुत्सद्यो जातासु तरुणीष्वन्तः।
अन्तर्वतीः सुवते अप्रवीता महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ५॥

(१) वह प्रभु **पूर्वासु**=प्रारम्भ में होनेवाली प्रजाओं व वस्तुओं में **आक्षित्**=समन्तात् निवास करता है। आरम्भ की अमैथुनी सृष्टि में होनेवाली प्रजाओं में भी उसका निवास है। **अपराः**=पीछे मैथुनी सृष्टि में होनेवाली प्रजाओं को भी **अनूरुत्**=वह अपने में अनुरुद्ध-आवृत करनेवाला है। **एवः जातासु**=अभी उत्पन्न हुई-हुई प्रजाओं में तो वह है ही, **तरुणीषु अन्तः**=युवतियों में भी उसकी सत्ता है। (२) यह भी प्रभु की अद्भुत ही महिमा है कि **अप्रवीताः**=किसी से भी आहित गर्भवाली न होती हुई भी ओषधियाँ **अन्तर्वतीः**=गर्भिणी होकर **सुवते**=पुष्प-फलों को उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार उत्पन्न हुए-हुए ये सब सूर्यादि देव अद्भुत व महान् प्रकार से प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु 'पूर्वभावी, अपरकालीन, सद्योजात व तरुण' सब में हैं। प्रभु की महिमा से ही अमैथुनी सृष्टि में सब प्रजाएँ, ओषधियाँ व पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'तदु सर्वस्य अस्य बाह्यतः'

शयुः परस्तादध नु द्विमाताबन्धनश्चरति वत्स एकः।
मित्रस्य ता वरुणस्य व्रतानि महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ६॥

(१) वह प्रभु गतमन्त्र के अनुसार 'आक्षित्' हैं, ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थों में हैं, परन्तु **परस्तात्**=इस ब्रह्माण्ड से परे भी **शयुः**=वे निवास करते हैं 'एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पूरुषः' 'अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्'। **अध**=अब **नु**=निश्चय से **द्विमाता**=वे प्रभु द्यावापृथिवी दोनों के निर्माता हैं, अथवा चराचर का निर्माण करनेवाले हैं। वे **एकः**=अद्वितीय **अबन्धनः**=सबका भरण करते हुए भी इसमें न फँसे हुए 'असक्तं सर्वभृच्चैव' **वत्सः**=वेदज्ञान का उच्चारण करनेवाले प्रभु **चरति**=सर्वत्र गति कर रहे हैं। (२) **ता**=वे सब दृश्यमान सूर्यादि पिण्डों के **व्रतानि**=निर्माणरूप कार्य उस **मित्रस्य**=सबके प्रति स्नेह करनेवाले **वरुणस्य**=पाप से रोकनेवाले प्रभु के हैं। प्रभु ने ही इन सबको बनाया है। प्रभु ही वस्तुतः सूर्यादि द्वारा दीप्ति दे रहे हैं। सूर्यादि सब पिण्डों में प्रभु की ही शक्ति काम कर रही है। इन सूर्यादि देवों का प्राणशक्ति संचार का कार्य अद्भुत व महान् है।

भावार्थ—प्रभु ब्रह्माण्ड से परे भी हैं। सबका धारण करते हुए भी असक्त हैं। सूर्यादि द्वारा प्रभु ही दीप्ति दे रहे हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्विमाता-होता

द्विमाता होता विदथेषु सम्राळन्वग्रं चरति क्षेति बुध्नः।
प्र रण्यानि रण्यवाचो भरन्ते महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ७॥

(१) एक प्रभु भक्त **द्विमाता**=मस्तिष्क व शरीर दोनों का निर्माण करनेवाला बनता है। **होता**=यह सदा दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला होता है। **विदथेषु सम्राट्**=ज्ञानयज्ञों में यह दीप्त होता है। **अनु अग्रं चरति**=दिन-प्रतिदिन आगे और आगे चलता है। (बुध्नं=Body, अस्य अस्ति इति) **बुध्नः**=उत्तम शरीरवाला होता हुआ **क्षेति**=यहाँ निवास करता है। (२) ये प्रभु भक्त **रण्यवाचः**=रमणीय-वाणियोंवाले होकर **रण्यानि**=रमणीय स्तुति-वचनों को **प्रभरन्ते**=प्रकर्षेण धारण करते हैं और अनुभव करते हैं कि **देवानाम्**=सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है और **महत्**=महान् है। प्रभुभक्त प्रभु से बनाए गए इन सूर्यादि से अपने अन्दर अद्भुत शक्ति प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु भक्त शरीर व मस्तिष्क दोनों का सुन्दर निर्माण करनेवाला होता है। रमणीय स्तुति-वचनों को धारण करता है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'प्रभुभक्त' एक शूर योद्धा के रूप में

शूरस्येव युध्यतो अन्तमस्य प्रतीचीनं ददृशे विश्वमायत्।
अन्तर्मतिश्चरति निष्षिधं गोर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ८॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित **अन्तमस्य**=प्रभु के अन्तिकतम, अतएव **शूरस्य इव**=एक शूरवीर

के समान **युध्यतः**=वासनाओं से युद्ध करते हुए इस भक्त के प्रति **आयत्**=आक्रमण के लिए **आयत्**=प्राप्त हुआ **विश्वम्**=सब आसुरभाव **प्रतीचीनम्**=पराङ्मुख होकर लौटता हुआ ही **ददृशे**=दिखता है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर यह भक्त सब आसुरभावों के आक्रमणों को विफल कर देता है। वस्तुतः इसके हृदय में स्थित प्रभु ही इसके उन शत्रुओं का संहार करते हैं। (२) यह **मतिः**=मननशील उपासक **गोः**=इस वेदवाणी की **निष्षिधम्**=सब पापों की हिंसिका दीप्ति को **अन्तः चरति**=अपने अन्दर ग्रहण करता है (धारयति सा०) प्रभु की उपासना से वासनाएँ विनष्ट होती हैं और हृदय की पवित्रता होने पर अन्तः प्रकाश दीप्त हो उठता है। उस समय सब सूर्यादि देव इसके अनुकूल होते हैं और यह अनुभव करता है कि इन सूर्यादि देवों का प्राणशक्ति-संचार का कार्य अद्भुत व महान् है।

भावार्थ—प्रभुभक्त शूरवीर योद्धा के समान वासनाओं को पराजित करता है और अन्तर्ज्योति से दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

हृदयस्थ प्रभु का प्रकाश

नि वेवेति पलितो दूत आस्वन्तर्महांश्चरति रोचनेन।
वपूंषि बिभ्रदभि नो वि चष्टे महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ९॥

(१) वे प्रभु ज्ञानसन्देश देनेवाले होने से 'दूत' हैं, अत्यन्त सनातन होने से 'पलित' (पुराण) हैं अथवा पालन करनेवाले होने से 'पलित' हैं। वे **दूतः**=ज्ञानसन्देश देनेवाले और इस ज्ञान-सन्देश द्वारा **पलितः**=पालन करनेवाले प्रभु **आसु**=इन प्रजाओं में **नि वेवेति**=निश्चय से व्याप्त हो रहे हैं। वे **महान्**=महान् प्रभु इन उपासकों के **अन्तः**=अन्दर, इनके हृदयदेश में **रोचनेन चरति**=ज्ञानदीप्ति के साथ विचरण करते हैं। प्रभु इनके हृदयों को प्रकाशमय कर देते हैं। (२) **वपूंषि बिभ्रत्**=हमारे शरीरों को धारण करते हुए वे प्रभु **नः**=हमें **अभिविचष्टे**=पूर्ण अनुग्रह बुद्धि से देखते हैं। हमारे पर अनुग्रह करके ही प्रभु ने सूर्यादि देवों का निर्माण किया है। इन **देवानाम्**=सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का काम **एकम्**=अद्वितीय ही है, अद्भुत है और **महत्**=महान् है।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हमें ज्ञानसन्देश देकर प्रकाशमय जीवनवाला करते हैं। हमारे शरीरों का धारण करते हुए हमारा पूर्णरूप से पालन करते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

धामों व अमृतों का धारण

विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः प्रिया धामान्यमृता दधानः।
अग्निष्टा विश्वा भुवनानि वेद महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ १०॥

(१) **विष्णुः**=वे प्रभु व्यापक हैं। **गोपाः**=गोरूप सब प्राणियों के रक्षक हैं-प्रजाएँ गौवें हैं, तो प्रभु गोपाल। वे प्रभु **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट **पाथः पाति**=मार्ग का रक्षण करते हैं। प्रभुकृपा से हम अपने जीवनों में मार्गभ्रष्ट नहीं होते। इस मार्ग पर चलाने द्वारा वे प्रभु **प्रिया धामानि**=प्रिय तेजों को **दधानः**=धारण करते हैं और **अमृता** (दधानः)= नीरोगता को प्राप्त कराते हैं। (२) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **ता विश्वा भुवनानि**=उन सब प्राणियों को **वेद**=जानते हैं। प्रभु सब प्राणियों का ध्यान करते हैं। इन सब प्राणियों के पालन के लिए ही सूर्यादि दिव्यपिण्डों की रचना उस प्रभु ने की है और इन दिव्यपिण्डों का (देवों का) प्राणशक्ति-संचार का कार्य अद्वितीय है व महान् है।

भावार्थ—वे व्यापक प्रभु हमें मार्ग का ज्ञान देते हैं। मार्ग पर आक्रमण द्वारा तेजस्विता व नीरोगता प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—अहोरात्रौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दिन और रात

नाना चक्राते यम्या३ वपूंषि तयोरन्यद्रोचते कृष्णमन्यत्।
श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ ११॥

(१) प्रभु की व्यवस्था में **यम्या**=नियन्त्रित होनेवाले, अथवा युगल रूप, दिन और रात **नाना**=भिन्न-भिन्न **वपूंषि**=शरीरों को-रूपों को **चक्राते**=बनाते हैं। **तयोः**=उन दोनों में से **अन्यत्**=एक (दिन) **रोचते**=सूर्य के प्रकाश से चमकता है तथा **अन्यत्**=दूसरी (रात्रि) **कृष्णम्**=अन्धकार के कारणवाली प्रतीत होती है। (२) ये **श्यावी च**=कृष्णवर्ण रात्रि और **यत्**=जो **अरुषी**=सूर्य-प्रकाश से आरोचमान दिन है, ये दोनों **स्वसारौ**=परस्पर बहिनों के समान हैं। एक दूसरे के साथ ये सम्बद्ध हैं। दिन के बाद रात्रि होती है, रात्रि के बाद दिन आता है। ठीक प्रकार से विनियुक्त हुए-हुए ये दिन-रात हमें **स्व-सारौ**=उस आत्मतत्त्व की ओर-प्रभु की ओर ले चलनेवाले हैं। इनका ठीक विनियोग यही है कि हम 'अहन्' अर्थात् दिन को 'अ-हन्' न नष्ट करने योग्य समझें-एक-एक मिनिट को कीमती समझते हुए उसे कार्य-विनियुक्त करें। रात्रि को रमयित्री बनाएँ, दिन भर के श्रम के बाद उस समय निद्रा का विश्राम लें। ऐसा करने पर हम अनुभव करेंगे कि **देवानाम्**=सब सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है तथा **महत्**=महान् है।

भावार्थ—प्रभु के बनाए दिन-रात का ठीक विनियोग करते हुए हम पूर्ण स्वस्थ बनें।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—रोदसी ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

माता और दुहिता

माता च यत्र दुहिता च धेनू सबर्दुघे धापयेते समीची।
ऋतस्य ते सदसीळे अन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १२॥

(१) अन्नादि को देनेवाली पृथिवी 'माता' है और सुदूर स्थित होने से (दूरे हिता) अथवा वृष्टि आदि द्वारा पृथिवीलोक का पूरण करने से (दुह प्रपूरणे) द्युलोक 'दुहिता' है। **माता च**=निश्चय से यह मातृतुल्य पृथिवी, **च**=और सुदूरस्थित **दुहिता**=द्युलोक **यत्र**=जिस प्रभु के आधार में **धेनू**=हम सबका प्रीणन करते हैं, **ते**=वे **सबर्दुघे**=(सब शब्दः क्षीरपर्यायः सा०) उत्तम क्षीररूप रस का दोहन करनेवाले हैं और **समीची**=परस्पर संगत हुए-हुए **धापयेते**=वत्सरूप हम जीवों को उस क्षीर का पान कराते हैं। मैं उस प्रभु का **ऋतस्य सदसि अन्तः**=ऋत के स्थानभूत अन्तःकरण में **ईडे**=उपासन करता हूँ। (२) हृदय को मैं अनृत से दूर करके ऋतमय बनाता हूँ। ऋत (सत्य) से मेरा यह हृदय पवित्र होता है। इस पवित्र अन्तःकरण में मैं प्रभु का दर्शन व उपासन करता हूँ। मुझे प्रभु के बनाये द्यावा-पृथिवी माता-पिता सदृश पालें। ऐसा विश्वास साधक को होना चाहिए।

भावार्थ—द्यावा-पृथिवी सब प्राणियों का पालन करते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—रोदसी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अन्यस्यां वत्सं रिहती मिमाय कया भुवा नि दधे धेनुरूधः।
ऋतस्य सा पयसापिन्वतेळा महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ १३॥

(१) **धेनुः**=गौ के समान **द्यौः कया भुवा**=जलमय भूमि के द्वारा **ऊधः**=मेघ को **नि दधे**=धारण करती है। **अन्यस्याः**=दूसरी पृथिवी के **वत्सम्**=बछड़े के समान **रिहती**=मेघ को चाहती हुई **मिमाय**=ध्वनि करती है। तब **सा इडा**=वह भूमि **ऋतस्य पयसा**=सूर्य से उत्पन्न जल से **अपिन्वत**=सींचती है **देवानाम्**=सूर्य देव का **एकं महत असुरत्वम्**=एक बड़ा भारी जीवन दान करने का विशेष धर्म है।

भावार्थ—सूर्य देव हमें जीवन दान देता है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—रोदसी॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा।

ऋतस्य सद्म वि चरामि विद्वान्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ १४॥

पद्या=सूर्य किरणों से प्रकाशित होने योग्य भूमि जो **पुरुरूपा**=प्रभु के बनाए इन द्यावा नानारूपोंवाले **वपूंषि**=शरीरों को **वस्ते**=धारण करती है। यहाँ स्थावर जंगम कितनी ही आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। उधर दूसरी ओर **त्र्यविम्**=तीनों लोकों के रक्षक सूर्य को **रेरिहाणा**=चाटती-सी हुई यह द्यौः **ऊर्ध्वा**=ऊपर **तस्थौ**=स्थित है। (२) मैं इन पृथिवी व द्युलोक को **विद्वान्**=अच्छी प्रकार समझता हुआ **ऋतस्य सद्म**=ऋत के-यज्ञ के गृह में **विचरामि**=विचरण करता हूँ। इस यज्ञ द्वारा पार्थिव पदार्थ द्युलोक में पहुँचते हैं। वहाँ द्युलोक से वर्षा होकर इस पृथ्वी पर अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह यज्ञ पृथ्वीलोक व द्युलोक के परस्पर सम्बन्ध को स्थापित करनेवाला होता है। पृथ्वी इन नानारूपों का धारण, वृष्टि के अभाव में न कर सकती। न अन्न पैदा होता, न इन प्राणियों का धारण होता। पृथ्वी के पदार्थों के यज्ञों में आहुति न पड़ने पर मेघ-निर्माण की क्रिया ही न हो पाती 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'। इस प्रकार यज्ञ से परस्पर सम्बद्ध इन **देवानाम्**=पृथ्वीस्थ व द्युलोकस्थ अग्नि, सूर्य आदि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है और **महत्**=महान् है।

भावार्थ—पृथिवी प्राणियों का धारण करती है, द्युलोक सूर्य का आस्वाद-सा लेता प्रतीत होता है। यज्ञ इन दोनों लोकों के परस्पर सम्बद्ध होने का कारण बनता है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—रोदसी द्युनिशौ वा॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

विराट् पुरुष के दो पाँव

पदेइव निहिते दस्मे अन्तस्तयोरन्यद् गुह्यमाविरन्यत्।

सध्रीचीना पथ्या३ सा विषूची महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ १५॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित द्युलोक व पृथ्वीलोक विराट् पुरुष के **पदे इव**=पाँवों के समान **निहिते**=स्थापित हैं। विराट् पुरुष का एक पाँव पृथ्वीलोक है, तो दूसरा पाँव द्युलोक है। ये दोनों **दस्मे**=अत्यन्त दर्शनीय व प्राणियों के दुःखों का विनाश करनेवाले हैं (दसु उपक्षये)। (२) **तयोः अन्तः**=उन दोनों के अन्दर **अन्यद् गुह्यम्**=एक तो अत्यन्त गुह्य व रहस्यमय है-इस द्युलोक का समझना सुगम नहीं है। **अन्यत्**=दूसरा यह पृथ्वीलोक **आविः**=प्रकट ही है-इस पर तो हम चल फिर ही रहे हैं-यह उतना छिपा हुआ नहीं। यह पृथिवी **सध्रीचीना**=सूर्य के साथ (पतिपरायणा स्त्री के समान) गतिवाली है तथा **पथ्या**=(धर्ममार्ग से विचलित न होनेवाली स्त्री के समान) स्वक्रान्तिपथ से न विचलित होनेवाली है, परन्तु **सा**=वह **द्यौ विषूची**=विविध दिशाओं में गतिवाली व व्यापक है। इन द्युलोक व पृथ्वीलोक में स्थित सब देवों का प्राणशक्ति-संचार का

कार्य अद्वितीय व महान् है।

भावार्थ—पृथिवीलोक व द्युलोक विराट् पुरुष के दो पाँवों के समान हैं, पृथ्वी प्रकट है, द्युलोक गुह्य है। पृथ्वी मार्ग पर चल रही है, द्युलोक व्यापक है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—दिशः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अप्रदुग्ध धेनुएँ

आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १६ ॥

(१) **धेनवः**=वेदवाणीरूप ये धेनुएँ-ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली वेदवाणियाँ हमारे लिए **आधुनयन्ताम्**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करें (आदुहन्तु)। ये ज्ञानवाणियाँ **अशिश्वीः**=(शिशवो न भवन्ति) अत्यन्त सनातन हैं-नवोत्पन्न शिशु की तरह नहीं हैं-प्रत्न हैं (पुरातन), कभी जीर्ण न होनेवाली। **सबर्दुघाः**=ज्ञानदुग्ध का हमारे में पूरण करनेवाली हैं (दुह प्रपूरणे)। **शशयाः**=वस्तुतः हमारी बुद्धिरूप-गुहा में ये शयन करनेवाली हैं-वासनावरण के कारण ही इनका प्रकाश हमें नहीं दिखता। **अप्रदुग्धाः**=ये वेदवाणीरूप धेनुएँ कभी प्रदुग्ध नहीं हो जातीं, ऐसी स्थिति कभी नहीं होती कि 'हम यह कह सकें कि अब इनसे और क्या ज्ञान प्राप्त होना?' 'जो ज्ञान मिलना था मिल गया'। (२) ये वेदवाणियाँ तो **नव्याः नव्याः**=प्रत्येक पारायण में (पाठ में) नवीन और नवीन ही प्रतीत होती हैं। इनके फिर-फिर अध्ययन से उत्तरोत्तर ज्ञान का प्रकर्ष होता चलता है। **युवतयः भवन्तीः**=ये हमारे जीवनों में दोषों का अमिश्रण व गुणों का मिश्रण करनेवाली होती जाती हैं। इनके अध्ययन से ही हम सूर्यादि देवों के ठीक सम्पर्क में आते हुए अनुभव करते हैं कि इन **देवानाम्**=सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है व **महत्**=महान् है।

भावार्थ—वेदवाणीरूप गौवों का ज्ञानदुग्ध हमारे जीवनों को बुराइयों से रहित व अच्छाइयों से युक्त करता है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वे प्रभु ही भग हैं, राजा हैं

यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथे नि दधाति रेतः।
स हि क्षपावान्त्स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १७ ॥

(१) **यत्**=जो **वृषभः**=शक्तिशाली व सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु **अन्यासु**=विलक्षण बुद्धिवाली कई प्रजाओं में **रोरवीति**=ज्ञानशब्दों का अत्यन्त ही उच्चारण करते हैं 'तिस्रो वाच उदीरते, हरिरेति कनिक्रदत्'। **सः**=वही प्रभु **अन्यस्मिन् यूथे**=दूसरे मनुष्यों के समूह में **रेतः निदधाति**=शक्ति का स्थापन करते हैं। इस शक्तिस्थापन द्वारा **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **क्षपावान्**=शत्रुओं का क्षपण व विनाश करनेवाले होते हैं। ब्राह्मणवृत्ति के पुरुषों में प्रभु ज्ञान का स्थापन करते हैं, तो क्षत्रियवृत्तिवालों में वे ही शक्ति को स्थापित करनेवाले हैं। (२) **सः**=वे प्रभु ही **भगः**=ऐश्वर्य हैं। वैश्यों का ऐश्वर्य प्रभु ही हैं 'अहं धनानि संजयामि शश्वतः'। किसी वैश्य को ऐसा नहीं समझना कि ऐश्वर्य का अर्जन वह करता है-वस्तुतः प्रभु ही उसके लिए धनार्जन करनेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु ही **राजा**=सारे समाज का व्यवस्थापन करनेवाले व शासक हैं। उनके शासन का कोई उल्लंघन नहीं कर पाता। इस प्रभु के शासन से शासित **देवानाम्**=सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति

संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है व **महत्**=महान् है।

भावार्थ—प्रभु ही ब्राह्मणों के लिए ज्ञान, क्षत्रियों के लिए बल व वैश्यों के लिए धन देनेवाले हैं। वे प्रभु ही पर्जन्यरूप हैं-सब वस्तुओं का वर्षण वे ही कर रहे हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वीर की स्वश्वता

वीरस्य नु स्वश्व्यं जनासः प्र नु वोचाम विदुरस्य देवाः।
षोळ्हा युक्ताः पञ्चपञ्चा वहन्ति महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १८ ॥

(१) हे **जनासः**=लोगो! हम **नु**=अब **वीरस्य**=वीर व्यक्ति की **स्वश्व्यम्**=स्वश्वता का-इन्द्रियाश्वों के उत्तम होने का **प्रवोचाम**=प्रतिपादन करें-कथन करें। उसकी स्वश्वता का प्रशंसन करते हुए हम भी स्वश्व बनने के लिए यत्नशील हों **अस्य**=इसकी स्वश्वता को **देवाः**=सब देव **विदुः**=जानें अथवा प्राप्त कराएँ। (२) वस्तुतः इस शरीर-रथ में **षोढा**=इस प्रकार से **युक्ताः**=युक्त हुए-हुए 'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा छठा मन' ये ठीक प्रकार से अपने कार्य में लगे हुए, **वहन्ति**=इस शरीर-रथ का वहन करते हैं। इसी प्रकार **पञ्च**=पाँच **पञ्च**=जो पाँच हैं= वे इस शरीर-रथ को चलाते हैं। इस शरीर-रथ में पाँच पंचक हैं। पहला पंचक है—'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश'। दूसरा है—'प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान'। तीसरा—'पाँच कर्मेन्द्रियाँ'। चौथा—'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ'। पाँचवा—'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय'। ये पाँच पंचक शरीर का वहन कर रहे हैं। इन सब की क्रियाओं में उन **देवानाम्**=सूर्यादि का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=विलक्षण है व **महत्**=महान् है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'त्वष्टा' द्वारा निर्माण व पोषण

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ १९ ॥

(१) **देवः**=वे प्रभु (दिवु क्रीडायाम्) इस 'ब्रह्माण्ड के निर्माण, धारण व प्रलय' रूप क्रीडा को करनेवाले हैं। **त्वष्टा**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त हैं (त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः), **सविता** (भू प्रेरणे)=इस ज्ञानप्रेरणा को देनेवाले हैं। **विश्वरूपः**=सारे संसार के पदार्थों का विरूपण करनेवाले हैं। (२) **प्रजाः पुपोष**=सारी प्रज्ञाओं का प्रभु ही पोषण करते हैं, **पुरुधा जजान**=अनेक प्रकार से उनको उत्पन्न करते हैं। प्रजाओं के पोषण के लिए उन्होंने सूर्यादि देवों का भिन्न-भिन्न लोकों में स्थापन किया है। ग्यारह देव पृथिवीलोक में, ग्यारह अन्तरिक्षलोक में तथा ग्यारह देव द्युलोक में उस प्रभु द्वारा स्थापित किये गए हैं। **देवानाम्**=इन सब सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है तथा **महत्**=महान् है।

भावार्थ—प्रभु ही निर्माता व पोषक हैं। प्रजाओं के पोषण के लिए उन्होंने ही सूर्यादि देवों का उस-उस लोक में स्थापन किया है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु के तेज से व्याप्त 'द्यावापृथिवी'

मही समैरच्चम्वा समीची उभे ते अस्य वसुना न्यृष्टे।
शृण्वे वीरो विन्दमानो वसूनि महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ २० ॥

(१) मही=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व महान् **समीची**=परस्पर संगत **चम्वा**=द्यावापृथिवी को वे प्रभु **समैरत्**=प्रजा, पशु आदि से सम्यक् युक्त करते हैं। ये द्यावापृथिवी 'चम्वा' कह गये हैं, चूँकि 'चमन्ति अदन्ति अनयोर्देवमनुष्याः' सब देव व मनुष्य इन्हीं में भोजन प्राप्त करते हैं। सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव हमारे लिए प्राणनीय शक्ति प्राप्त करानेवाले हैं। **ते उभे**=वे दोनों द्यावापृथिवी **अस्य**=इस इन्द्र के **वसुना**=तेज व ऐश्वर्य से **न्यृष्टे**=नितरां व्याप्त हैं। सर्वत्र प्रभु का ही तेज व ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है। (२) **वीरः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु ही **वसूनि**=सब वसुओं को **विन्दमानः**=प्राप्त करते हुए **शृण्वे**=सुने जाते हैं। 'तवेदिदयभिश्वेकिते वसु'। प्रभु ही सूर्यादि को तेज व दीप्ति आदि प्राप्त कराते हैं। सब बुद्धिमान् पुरुषों को बुद्धि देनेवाले भी वे प्रभु ही हैं। बल तेज सब प्रभु ही देते हैं। प्रभु के बनाए **देवानाम्**=इन सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=विलक्षण है व **महत्**=महान् है।

भावार्थ—द्युलोक व पृथ्वीलोक प्रभु के तेज से व्याप्त हैं। ये सब का पालन करते हैं। प्रभु ही सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पुरः सदः+शर्मसदः

इमां च नः पृथिवीं विश्वधाया उप क्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ २१॥

(१) वह **विश्वधायाः**=सब का धारण करनेवाला व प्रीणन (तृप्ति) करनेवाला प्रभु **नः**=हमारी **इमां पृथिवीं च**=इस पृथिवी को निश्चय से **उपक्षेति**=अपना निवास-स्थान बनाता है। इस पृथिवी में निवास करता हुआ वह हम सबका धारण करता है। वह प्रभु **हितमित्रः न**=हित करनेवाले मित्र के समान **राजा**=सब का आश्रय है। **पुरःसदः**=आगे जानेवाले व्यक्ति **शर्मसदः न**=सदा प्रभु की शरण में रहनेवालों के समान **वीराः**=वीर होते हैं। प्रभु के उपासक प्रभु की शरण में निवास करते हैं-वे प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होते हैं। ये अपने जीवन में अनुभव करते हैं कि **देवानाम्**=सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है तथा **महत्**=महान् है। इन्हें सब देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है, सो अपने में ये शक्ति का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही इस पृथिवी के शासक हैं। उनके उपासक प्रभु की शरण में शक्ति का अनुभव करते हैं। सदा आनन्द में बने रहते हैं।

सूचना—'शर्मसदः' का अर्थ 'आनन्द में रहनेवाले' भी है। सदा प्रसन्न रहनेवाला वीर होता है। 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' आदि प्रसन्नता के विरोधी भाव ही शक्ति को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ओषधि व जल

निष्षिध्वरीस्त ओषधीरुतापो रयिं त इन्द्र पृथिवी बिभर्ति।
सखायस्ते वामभाजः स्याम महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥ २२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपका ये **ओषधीः**=ओषधियाँ **उत**=और **आपः**=जल **निःषिध्वरीः**=निश्चय से रोगों का निषेध व निराकरण करनेवाली हैं। हे परमात्मन्! **ते**=आपकी यह **पृथिवी**=भूमि माता **रयिं बिभर्ति**=हमारे लिए सब धनों का व रयि शक्ति का पोषण करती

है। इस पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करते हुए व जलों का प्रयोग करते हुए हम स्वस्थ रहते हैं। यह पृथिवी अन्य भी आवश्यक धनों को हमारे लिए अवश्य प्राप्त कराती है। (२) हे प्रभो! हम **ते सखायः**=आपके मित्र बनें-आपकी ओर हमारा झुकाव हो-हम प्रकृति में आसक्त न हो जाएँ। तथा **वामभाजः**=सब रमणीय वसुओं के भागी बनें। प्रकृति के विषयों में आसक्ति ही हमें निम्न मार्ग की ओर ले जाती है और हमारे कष्टों का कारण बनती है। आपका उपासन करते हुए हम अनुभव करें कि **देवानाम्**=आपके बनाए इन सूर्यादि देवों का **असुरत्वम्**=प्राणशक्ति-संचार का कार्य **एकम्**=अद्वितीय है व **महत्**=महान् है।

भावार्थ—हम ओषधि व जलों का सेवन करते हुए सदा स्वस्थ रहें। पृथिवी हमारे लिए सब आवश्यक धनों को प्राप्त करानेवाली हो। प्रभु के मित्र बनकर हम सदा सुन्दर वसुओं के भागी हों।

सूक्त का विषय ही है कि प्रभु का बनाया संसार सदा हमारा हित करनेवाला है। हम प्रभु के सम्पर्क में रहकर इस संसार के प्रत्येक पदार्थ से कल्याण प्राप्त करें। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मायी धीर पुरुषों की दृढ़ता

न ता मिनन्ति मायिनो न धीरा व्रता देवानां प्रथमा ध्रुवाणि।
न रोदसी अद्रुहा वेद्याभिर्न पर्वता निनमे तस्थिवांसः॥ १॥

(१) **देवानाम्**=देवों के **व्रता**=व्रत **प्रथमा**=सर्वमुख्य हैं और **ध्रुवाणि**=ध्रुव हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, जल तेज आदि सब देव अपने व्रतों में चल रहे हैं-कभी अपने व्रत से ये विचलित नहीं होते। **ता**=इनके उन व्रतों को **न मायिनः**=न तो प्रज्ञावान् पुरुष और **न धीराः**=न धीर-धैर्य वृत्तिवाले पुरुष **मिनन्ति**=हिंसित करते हैं। ये तो सूर्य और चन्द्रमा (आदि) की तरह कल्याण के मार्ग पर चलते रहते हैं। (२) **वेद्याभिः**=ज्ञातव्य बातों के ज्ञान द्वारा **अद्रुहा**=परस्पर द्रोह से वर्जित **रोदसी**=द्यावापृथिवी को-शरीर व मस्तिष्क को ये प्रज्ञावान् धीर पुरुष **न (मिनन्ति)**=हिंसित नहीं करते। 'शरीर को कैसे स्वस्थ रखना तथा मस्तिष्क को कैसे दीप्त बनाना' इन बातों को समझकर ये पुरुष शरीर व मस्तिष्क को हिंसित नहीं होने देते। इनके जीवन में स्वस्थ शरीर मस्तिष्क को दीप्त करता है तथा दीप्त मस्तिष्क शरीर को स्वस्थ बनाता है। (३) ये मायी धीर पुरुष **तस्थिवांसः**=स्थिरवृत्ति के होते हैं, **पर्वताः**=पर्वतों के समान अविचल होते हैं अथवा (पर्व पूरणे) अपना पूरण करनेवाले होते हैं। **न निनमे**=किन्हीं प्रलोभनों व भगों के कारण ये अपने व्रतों से नत नहीं हो जाते-झुक नहीं जाते।

भावार्थ—प्रज्ञावान् धीर पुरुष (क) सूर्य-चन्द्रादि की तरह अपने मार्ग का आक्रमण करते हैं। (ख) शरीर व मस्तिष्क को स्वस्थ व दीप्त बनाते हैं, (ग) स्थिरवृत्ति बनकर व्रतों से विचलित नहीं होते।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

जीव का स्वरूप

षड् भाराँ एको अचरन्बिभर्त्यृतं वर्षिष्ठमुप गाव आगुः।
तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका॥ २॥

(१) **एकः**=एक जीव **अचरन्**=वस्तुतः कूटस्थरूपेण रहता हुआ या न खाता हुआ (चर भक्षणे) **षड्द्वः भारान्**=(भ्रियते ज्ञानादिकं यैः) ज्ञानप्राप्ति के साधनभूत ज्ञानेन्द्रियों व मन (अन्तःकरण) को **बिभर्ति**=धारण करता है। (२) इनके द्वारा इसे **गावः उप आगुः**=ज्ञान-वाणियाँ समीपता से प्राप्त होती हैं। प्राप्त तब होती हैं, जब कि यह **ऋतम्**=ऋत का पालन करता हुआ 'ऋतमय' व ऋत ही बन जाता है, जब यह सब कार्य बड़े नियमित रूप से करता है तथा जब यह **वर्षिष्ठम्**=वृद्धतम बनता है-अपनी शक्तियों को बढ़ाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। (३) इस जीव के इस भौतिक जीवन में **अत्या**=निरन्तर गतिशील **तिस्त्रः**=तीन **महीः**=चित्त की भूमिकाएँ **उपराः**=(उपर्युपरि) एक के ऊपर दूसरी इस प्रकार **तस्थुः**=स्थित हैं। 'जागरित' के बाद 'स्वप्न' की भूमिका आती है, स्वप्न के बाद 'सुषुप्ति'। इस प्रकार इनका क्रम चलता ही रहता है। इनमें **द्वे**=स्वप्न व सुषुप्तिरूप दो भूमिकाएँ तो **गुहा निहिते**=बुद्धिरूप गुहा में ही स्थापित होती हैं। **एका**=एक यह जागरित ही है, जो कि **दर्शि**=इन्द्रियों का विषय बनती है।

भावार्थ—जीव पाँच ज्ञानेन्द्रियों व छठे अन्तःकरण को धारण करता हुआ सब ज्ञानों को प्राप्त करता है। यह प्रतिदिन जागिरत, स्वप्न व सुषुप्ति रूप तीन चित्त की भूमिकाओं में से गुजरता है।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्रिपाजस्य

त्रिपाजस्यो वृषभो विश्वरूप उत त्र्युधा पुरुध प्रजावान्।
त्र्यनीकः पत्यते माहिनावान्त्स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम्॥ ३॥

(१) पाँच ज्ञानेन्द्रियों व मन को धारण करनेवाला जीव **त्रिपाजस्यः**=तीनों शक्तियों में उत्तम होता है। इसके शरीर, मन व बुद्धि तीनों बलवान् होते हैं। **वृषभः**=यह सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला होता है। **विश्वरूपः**=उस सर्वव्यापक प्रभुवत यह निरूपण करनेवाला होता है। प्रभु के गुणों का स्तवन करता है। **उत**=और **त्र्युधा**=(त्रीणि ऊधांसि यस्य) तीन ऊधसोंवाला होता है, जैसे गौ का 'ऊधस्' दुग्ध का आधार होता है, उसी प्रकार इसके ज्ञानदुग्ध के आधारभूत तीन ऊधस् होते हैं। 'ऋचाएँ, यजु व साम' ही वे तीन ऊधस् हैं। इन ज्ञानदुग्ध के ऊधसों के कारण यह **पुरुध प्रजावान्**=अनेक प्रकार से शक्तियों के विकासवाला होता है। (२) **अनीकः**=(अनीकं=बलं) इन्द्रियों, मन व बुद्धि की शक्तिरूप तीन बलोंवाला यह **पत्यते**=ऐश्वर्यवाला होता है-स्वामी बनता है। **माहिनावान्**=महत्त्वपूर्ण जीवनवाला होता हुआ अथवा (मह पूजायाम्) प्रभु-पूजा की वृत्तिवाला होता हुआ **सः**=वह उपासक **वृषभः**=शक्तिशाली बनता है-प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होता है और **शश्वतीनाम्**=सनातन वेदवाणियों के **रेतोधाः**=रेतस् को अपने अन्दर धारण करनेवाला होता है। इनको अपने जीवन में परिणत करना ही इनके रेतस् को धारण करना है।

भावार्थ—हम शरीर, मन व बुद्धि तीनों को उत्तम शक्ति-सम्पन्न बनाएँ। वेदवाणी को अपने जीवन में अनूदित करें।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

आदित्यों की तीन बातें

अभीक आसां पदवीरबोध्यादित्यानामह्वे चारु नाम ।
आपश्चिदस्मा अरमन्त देवीः पृथग्व्रजन्तीः परि षीमवृञ्जन्॥ ४॥

(१) गतमन्त्र में 'त्रिपाजस्य' व्यक्ति सब उत्तमताओं का आदान करते हुए आदित्य बनते हैं। **आसाम्**=इन **आदित्यानाम्**=आदित्य-वृत्तिवाले व्यक्तियों को **पदवीः**=(पदानि वेति प्रजनयति) ज्ञानशब्दों को प्राप्त करानेवाला प्रभु **अभीक**=समीप होता है। ये आदित्य प्रभु का सान्निध्य अनुभव करते हैं। (२) इन आदित्यों द्वारा उस प्रभु का **चारु नाम**=सुन्दर नाम **अह्वे**=पुकारा जाता है-ये प्रभु के नाम का स्मरण करते हैं। (३) **अस्मै**=इस आदित्य-वृत्तिवाले व्यक्ति के लिए **देवीः आपः**=दिव्यगुणोंवाले अथवा रोगकृमियों पर आक्रमण करनेवाले रेतःकणरूप जल **अरमन्त**=रमण करनेवाले होते हैं। वीर्यकण इसके शरीर के अन्दर ही क्रीडा करते हैं। और वे वीर्यकण रूप (आपः) जल **पृथग् व्रजन्तीः**=सामान्य क्रम से भिन्न तरीके से जाते हुए, अर्थात् निम्न गतिवाले न होकर ऊर्ध्वगतिवाले होते हुए **सीम्**=निश्चय से **परि अवृञ्जन्**=शरीर में चारों ओर पवित्रता को करनेवाले होते हैं (वृज्=purify)।

भावार्थ—आदित्य-वृत्ति के व्यक्ति (क) प्रभु के समीप निवास करते हैं, (ख) प्रभु के प्रिय नाम का जप करते हैं, (ग) इनके शरीर में रेतःकण ऊर्ध्वगतिवाले होकर पवित्रता का साधन बनते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रिमाता

त्री षधस्था सिन्धवस्त्रिः कवीनामुत त्रिमाता विदथेषु सम्राट्।
ऋतावरीर्योषणास्तिस्रो अप्यास्त्रिरा दिवो विदथे पत्यमानाः ॥ ५ ॥

(१) **त्री सध-स्था**=तीन लोक हैं, जो कि मिलकर ही स्थित होते हैं। जैसे बाहर आधिदैविक जगत् में पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक का परस्पर सम्बन्ध है, इसी प्रकार अध्यात्म में शरीर, मन व मस्तिष्क का परस्पर सम्बन्ध है। **कवीनाम्**=क्रान्तदर्शी तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के **त्रिः सिन्धवः**=तीन प्रकार से ज्ञान प्रवाह बहते हैं। प्रकृति का विज्ञानरूप सिन्धु 'ऋक्' है, जीव का विज्ञानरूप सिन्धु 'यजुः' है तथा परमात्मा का विज्ञान-सिन्धु 'साम' है। इन ज्ञानीपुरुषों की बुद्धिरूप गुहा में 'ऋग्, यजुः, साम' रूप तीन सिन्धुओं का प्रवाह चलता है। **उत**=और यह कवि **त्रिमाता**=ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों का निर्माण करनेवाला होता है। **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में यह **सम्राट्**=दीप्त होता है। (२) इस कवि की **तिस्रः**=तीन **योषणाः**=पत्नी के रूप में स्थित वेदवाणियाँ ('परीमे गामनेषत०') **ऋतावरीः**=इसके जीवन में ऋत का रक्षण करनेवाली होती हैं और **अप्याः**=कर्मों में उत्तम होती हैं, अर्थात् यह कवि वेदवाणी के अपनाने से ऋतमय जीवनवाला-सब कार्यों को ऋतपूर्वक करनेवाला तथा क्रियाशील होता है। ये कवि लोग **दिवः त्रिः**=दिन में तीन वार **विदथे**=ज्ञानयज्ञ में **पत्यमानाः**=गतिवाले होते हैं। 'प्रातः, मध्यान् व सायं' तीनों समय इनका ज्ञानयज्ञ चलता है-ये तीनों कालों में स्वाध्याय को अपनाते हैं।

भावार्थ—ज्ञानीपुरुष 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करने के लिए यत्नशील होते हैं। प्रातः, मध्याह्न व सायं तीनों कालों में इनका ज्ञानयज्ञ चलता है। 'ज्ञान, कर्म व उपासना' का अपने में समन्वय करता है।

ऋषिः—प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान तथा वसुओं की प्राप्ति

त्रिरा दिवः सवितर्वार्याणि दिवेदिव आ सुव त्रिर्नो अह्नः।
त्रिधातु राय आ सुवा वसूनि भग त्रातर्धिषणे सातये धाः ॥ ६ ॥

(१) हे **सवितः**=हमारे हृदयों में प्रेरणा देनेवाले प्रभो! **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **अह्नः त्रिः**=दिन में तीन वार **नः**=हमें **त्रिः**=तीन प्रकार से विभक्त **दिवः**=ज्ञान के (प्रकृति विज्ञान, जीवज्ञान, प्रभु का ज्ञान) **वार्याणि**=वरणीय धनों को **आसुव**=सर्वथा प्राप्त कराइये। हम प्रातः, मध्याह्न व सायं तीनों कालों में ज्ञानधन प्राप्त करने का प्रयत्न करें। (२) **त्रि धातु रायः**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का धारण करनेवाले धनों को तथा **वसूनि**=विकास के लिए आवश्यक सब पदार्थों को हे **भग**=सर्वैश्वर्य-सम्पन्न प्रभो! **आसुव**=प्राप्त कराइये। हे **त्रातः**=रक्षक प्रभो! **सातये**=सब धनों के लाभ के लिए आप हमें **धिषणे**=बुद्धि में **धाः**=स्थापित करिए। हम ज्ञानी बनकर सब आवश्यक धनों का उपार्जन करनेवाले हों। 'धिषण' शब्द 'घर' का वाचक है। सो **धिषणे**=घर में **धाः**=स्थापित करा, अर्थात् हम विलास की वृत्तिवाले बनकर इधर-उधर भटकनेवाले न हों। विलासवृत्तिवाले हम हुए और धनों का विनाश हुआ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ज्ञानधनों को प्राप्त करके हम सब आवश्यक धनों व वसुओं को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्नेह, निष्पापता व उदारता

त्रिरा दिवः सविता सोषवीति राजाना मित्रावरुणा सुपाणी।
आपश्चिदस्य रोदसी चिदुर्वी रत्नं भिक्षन्त सवितुः सवाय॥ ७॥

(१) वह **सविता**=प्रेरक प्रभु **दिवः त्रिः**=दिन में तीन वार **आसोषवीति**=हमारे लिए धनों को प्रेरित करें, अर्थात् हम सदा आवश्यक धनों को अपने जीवन में प्राप्त करनेवाले हों। जीवन का प्रातःकाल प्रथम २४ वर्ष हैं, मध्याह्न अगले ४४ वर्ष हैं तथा सायं अन्तिम ४८ वर्ष हैं। हमें प्रभु इन सब समयों में आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। **राजाना**=ज्ञान से दीप्त होनेवाले, **सुपाणी**=उत्तम हाथों (कर्मों) वाले **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण, सब के साथ स्नेह करनेवाले व द्वेष का निवारण करनेवाले लोग और **आपः**=(आप्लृ व्याप्तौ) व्यापक (उदार) वृत्तिवाले पुरुष **अस्य सवितुः**=इस प्रेरक प्रभु के यज्ञों के लिए **रत्नम्**=रमणीय धनों की **भिक्षन्त**=याचना करते हैं। प्रभु से रमणीय धनों को प्राप्त करके वे यज्ञों में उनका विनियोग करते हैं। (२) **चित्**=निश्चय से **उर्वी रोदसी**=विशाल द्यावापृथिवी उस परमात्मा से ही रत्नों की याचना करते हैं। इन विशाल द्यावापृथिवी में रहनेवाले सब प्राणी प्रभु से ही धनों को प्राप्त करते हैं। प्रभु से प्राप्त धनों द्वारा ही वे यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें जीवन को यज्ञमय बनाने के लिए धनों को प्राप्त कराते हैं। हम स्नेह की वृत्तिवाले, निष्पाप जीवनवाले व व्यापक (उदार) भावनावाले बनकर यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिर्वैश्वामित्रो वाच्यो वा** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

तीन उत्तम दीप्तियाँ

त्रिरुत्तमा दूणशा रोचनानि त्रयो राजन्त्यसुरस्य वीराः।
ऋतावान इषिरा दूळभासस्त्रिरा दिवो विदथे सन्तु देवाः॥ ८॥

(१) **असुरस्य**=(अस्यति क्षिपति) सब बुराइयों का संहार करनेवाले प्रभु के **त्रिः**=तीन **उत्तमा**=सर्वोत्कृष्ट व **दूणशा**=कठिनता से नष्ट करने योग्य **रोचनानि**=दीप्तियाँ व तेज हैं। ये **त्रयः**=तीनों तेज **वीराः**=(वि ईरयति) शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले होते हुए

राजन्ति=चमकते हैं। शरीर में यह तेज 'अग्नि' के रूप में है। जब तक यह जाठराग्नि ठीक बनी रहती है, तब तक शरीर में रोगों का प्रादुर्भाव नहीं होता। मन में यह तेज 'विद्युत्' के रूप में है 'वैद्युतं मनः'। यह मानस-विद्युत् वासनावृक्षों को दग्ध करने का कारण बनती है। मस्तिष्क में यह तेज 'सूर्य' के रूप में है। मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का उदय होने पर अन्धकार में पनपनेवाले कुविचार विलुप्त हो जाते हैं। (२) ये अग्नि, विद्युत् व सूर्य रूप तीन तेज **ऋतावानः**=ऋत (यज्ञ) का रक्षण करनेवाले, **इषिराः**=सदा कर्म में प्रेरित करनेवाले व **दूडभासः**=न हिंसा करने योग्य हैं। शरीर में अग्नितत्त्व के ठीक होने पर सब क्रियाएँ ऋतपूर्वक (ठीक-ठीक) चलती हैं। मानस-विद्युत् के ठीक होने पर मन सदा उत्तम कार्यों की प्रेरणावाला बना रहता है। मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य के उदय होने पर हम वासनान्धकार से हिंसित नहीं होते। (३) **देवाः**=देव **दिवः त्रिः**=दिन में तीन वार अवश्य प्रातः, मध्याह्न व सायं समय **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **सन्तु**=हों। इन ज्ञानयज्ञों द्वारा ही प्रभु का सच्चा उपासन होता है।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में अग्नितत्त्व, मन में विद्युत्-तत्त्व व मस्तिष्क में सूर्य की (सहस्रार-चक्र) स्थापना की है। इनके कारण हमारा जीवन ऋतवाला, कर्मशील व प्रकाशमय बनता है।

प्रस्तुत सूक्त में मानव जीवन की तीन-तीन के रूप में होनेवाली बातों का बड़ी सुन्दरता से चित्रण है। इस चित्रण की समाप्ति शरीरस्थ 'अग्नि, विद्युत् व सूर्य' के वर्णन से हुई है। अगले सूक्त में प्रभु से दी गई वेदवाणी का उल्लेख है। यह हमारे जीवन में सब देवों का स्थापन करती है—

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'इन्द्र, अग्नि व पनिता' वेदवाणी को प्राप्त करते हैं

प्र मे॑ विवि॒क्वाँ अ॑विदन्मनी॒षां धे॒नुं चर॑न्तीं॒ प्रयु॑ता॒मगो॑पाम्।
स॒द्यश्चि॒द्या दु॑दु॒हे भूरि॑ धा॒सेरिन्द्र॒स्तद॒ग्निः प॑नि॒तारो॑ अस्याः॥ १॥

(१) **विविक्वान्**=विवेकी पुरुष **मे**=मेरी **मनीषाम्**=इस बुद्धि को **प्र अविदत्**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है। जो बुद्धि (प्रज्ञा) **धेनुम्**=इस वेदवाणीरूप धेनु के रूप में प्रकट हुई है, जो **चरन्तीम्**=सब ज्ञानों को व्याप्त करती है (चर गतौ) **प्रयुताम्**=जिसका जीवन के साथ प्रकृष्ट सम्बन्ध है, यह तो उसकी हृदयरूप गुहा में ही स्थित है। **अगोपाम्**=यह धेनु बिना गोप के है। इसके रक्षण के लिए किसी ग्वाले की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः 'अगोपा' होने के कारण ही वासनारूप असुरों से (पणियों) से इसका अपहरण हो जाता है। इसके अपहृत हो जाने पर 'देवशुनी सरमा' इसको पुनः प्राप्त कराती है। यह देवताओं की शुनी 'बुद्धि' ही है, जो कि सब विषयों के तत्त्वान्वेषण में अत्यन्त प्रसृत होती है ('सृ' से सरमा)। इस बुद्धि से ही वेदज्ञान प्राप्त होता है। (२) यह धेनु वह है, **या**=जो कि **सद्यः**=शीघ्र **चित्**=ही **धासेः**=जीवन के धारक ज्ञानदुग्ध का **भूरि दुदुहे**=अत्यन्त ही दोहन करती है **अस्याः**=इस धेनु के **तत्**=उस ज्ञानदुग्ध को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय व्यक्ति, **अग्निः**=(अग्रणी) प्रगतिशील व्यक्ति तथा **पनितारः**=प्रभु के स्तोता लोग सेवित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की ज्ञानवाणी को विवेकी पुरुष प्राप्त करते हैं। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र), प्रगतिशील हों-आगे बढ़ने की भावनावाले हों (अग्नि) तथा प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनकर वासनाओं से आक्रान्त न हों (पनितारः)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदवाणी में सब दिव्यगुणों का विकास

इन्द्रः सु पूषा वृषणा सुहस्ता दिवो न प्रीताः शशयं दुदुह्रे ।
विश्वे यदस्यां रणयन्त देवाः प्र वोऽत्र वसवः सुम्नमश्याम् ॥ २ ॥

(१) **इन्द्रः**=इन्द्रियों का विजेता और अतएव **सु-पूषा**=अपना उत्तम पोषण करनेवाला, **सुहस्ता**=उत्तम हाथोंवाले-सदा उत्तम कार्यों को करनेवाले, **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापान (अश्विना) अर्थात् प्राणापान की साधना करनेवाले पुरुष, **दिवः न**=(दीव्यन्ति इति) ज्ञान से दीप्त होनेवालों के समान **प्रीताः**=मनःप्रसाद का अनुभव करनेवाले लोग **शशयम्**=हृदयगुहा में शयन करनेवाले इस ज्ञानदुग्ध को **दुदुह्रे**=दोहते हैं। वेदवाणी का दोहन इन्द्र आदि ही कर पाते हैं। वेद-ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें 'इन्द्रत्व' आदि को अपने जीवन में उत्पन्न करना है। (२) **यत्**=चूँकि **विश्वेदेवाः**=सब देव **अस्याम्**=इस वेदवाणी में **रणयन्त**=रमण करते हैं, अर्थात् चूँकि इस वेदवाणी के होने पर सब दिव्यगुणों का विकास होता है, इसलिए हे **वसवः**=उत्तम निवासवाले देवो! मैं भी **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **वः**=आपके **सुम्नम्**=सुख को **अश्याम्**=प्राप्त करूँ। वेदवाणी की प्राप्ति से दिव्यगुणों के विकास द्वारा, मेरा जीवन सुखी हो।

भावार्थ—जितेन्द्रिय बनकर मैं वेदज्ञान प्राप्त करूँ। इससे मेरे जीवन में दिव्यगुणों का विकास हो और परिणामतः मेरा जीवन उत्तम व सुखी हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वेदज्ञान से 'शक्ति-विनय व प्रभुदर्शन'

या जामयो वृष्ण इच्छन्ति शक्तिं नमस्यन्तीर्जानते गर्भमस्मिन् ।
अच्छा पुत्रं धेनवो वावशाना महश्चरन्ति बिभ्रतं वपूंषि ॥ ३ ॥

(१) **याः**=जो **जामयः**=सद्गुणों को जना देनेवाली (विश्वे यदस्यां रणयन्त देवाः) वेदवाणियाँ **वृष्णे**=शक्तिशाली पुरुष के लिए **शक्तिं इच्छन्ति**=शक्ति को चाहती हैं, अर्थात् इस वेदज्ञान में रुचिवाले पुरुष की शक्ति को वे नष्ट नहीं होने देती। ये **नमस्यन्तीः**=इसके नमन व विनय को चाहती हुई-इसे विनीत बनाती हुई **अस्मिन्**=इस पुरुष में **गर्भं जानते**=सबके अन्दर रहनेवाले व सबका अपने अन्दर ग्रहण करनेवाले प्रभु को जनाती हैं-इसके लिए उस प्रभु का प्रकाश करती हैं। (२) **वावशानाः**=कामना करती हुईं **धेनवः**=ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली ये वेदवाणीरूप धेनुएँ **पुत्रम्**=(पुनाति त्रायते) अपने को पवित्र करनेवाले व वासनाओं से अपना त्राण करनेवाले पुरुष को **अच्छा**=आभिमुख्येन **चरन्ति**=प्राप्त होती हैं। उस व्यक्ति को प्राप्त होती हैं, जो कि **महः बिभ्रतम्**=तेजस्विता को धारण करता है तथा **वपूंषि बिभ्रतम्**=तेजस्वी शरीरों को धारण करता है, जो अपने 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' सभी शरीरों का उत्तमता से धारण करता है। ऐसे ही पुरुष को तो वेदवाणी प्राप्त होती है।

भावार्थ—वेदज्ञान हमें 'सशक्त, नम्र व प्रभुदर्शन करनेवाला' बनाता है। इससे हमारा जीवन पवित्र व तेजस्वी बनता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान द्वारा यज्ञिय जीवन

अच्छा विवक्मि रोदसी सुमेके ग्राव्णो युजानो अध्वरे मनीषा।
इमा उ ते मनवे भूरिवारा ऊर्ध्वा भवन्ति दर्शता यजत्राः ॥ ४ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि मैं **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाली **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **अच्छा**=लक्ष्य करके **ग्राव्णः**=स्तोताओं को **अध्वरे युजानः**=हिंसारहित कर्मों में युक्त करने के हेतु से (हेतौ शानच्) **मनीषाः**=बुद्धि द्वारा **विवक्मि**=विशेषरूप से उपदिष्ट करता हूँ। द्यावापृथिवी का इन स्तोताओं को ज्ञान देता हूँ। द्यावापृथिवीस्थ सब पदार्थों के ठीक ज्ञान से ही ये स्तोता अपने अध्वरों को ठीक प्रकार से कर सकेंगे। (२) **ते मनवे**=तुझ विचारशील पुरुष के लिए **उ**=निश्चय से **इमाः**=ये ज्ञान की वाणियाँ **भूरिवाराः**=अत्यन्त ही वरणीय पदार्थों को प्राप्त करानेवाली होती हैं तथा **दर्शताः**=काव्यमय रूप में सुन्दर व दर्शनीय ये वाणियाँ **यजत्राः**=संगतिकरण योग्य होती हैं और **ऊर्ध्वाः भवन्ति**=इसके जीवन में सर्वोपरि होती हैं। विचारशील पुरुष ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व देता है। वह नचिकेता की तरह कभी भी सांसारिक वस्तुओं में न फँसकर आत्मज्ञान की ही कामना करता है।

भावार्थ—प्रभु हमें द्यावापृथिवी का ज्ञान देते हैं, ताकि हम उत्तम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हो सकें। ज्ञानीपुरुष अपने जीवन में इस ज्ञान को ही सर्वोपरि स्थान देता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की मधुमती जिह्वा

या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा अग्ने देवेषूच्यत उरूची।
तयेह विश्वाँ अवसे यजत्राना सादय पायया चा मधूनि ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=सृष्टि के अग्रणी प्रभो! **याः**=जो **ते**=आपकी **मधुमती**=अत्यन्त माधुर्यवाली **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धि प्राप्त करानेवाली **उरूची जिह्वा**=अतिशयेन व्यापक ज्ञानवाली वाणी **देवेषु उच्यते**='अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा' आदि देवपुरुषों के हृदयों में उच्चरित होती है। **तथा**=उस वाणी को प्राप्त कराने के हेतु से **इह**=इस जीवन में **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए **विश्वान्**=सब **यजत्रान्**=संगतिकरण योग्य देवों को **आसादय**=प्राप्त कराइये। प्रभु जिस व्यापक ज्ञानवाली वेदवाणी को सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों को प्राप्त कराते हैं, यजनीय विद्वानों द्वारा वह हमें भी प्राप्त हो, ताकि उसके अनुसार आचरण करते हुए हम अपना रक्षण कर सकें। (२) हे प्रभो! आपकी कृपा से हमें संगतिकरण योग्य विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो। **च**=और इन विद्वानों द्वारा आप हमें **मधूनि**=वेद-वाणी रूप गौ के इन मधुर ज्ञानदुग्धों को **पायय**=पिलाइये। इन से ही तो हमारा ठीक पोषण होगा।

भावार्थ—प्रभु जिस वेदवाणी को देवों को प्राप्त कराते हैं, उन देवों के सम्पर्क में आकर हम भी उस वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विश्वजन्या वेदवाणी

या ते अग्ने पर्वतस्येव धारासश्चन्ती पीपयद्देव चित्रा।
तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदो वसो रास्व सुमतिं विश्वजन्याम् ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=सृष्टि के अग्रणी प्रभो! **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **याः**=जो **ते**=आपकी **पर्वतस्य धारा इव**=पर्वत की धारा की तरह **असश्चन्ती**=(सश्च् cling or stick to) कहीं आसक्त न होती हुई **चित्रा**=अद्भुत व ज्ञानप्रदा (चित्+र) वेदज्ञान की धारा है, वह **पीपयत्**=हमारा आप्यायन करती है। (२) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ, **वसो**=ज्ञान द्वारा हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **ताम्**=उस **प्रमतिम्**=प्रकृष्ट ज्ञान को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रास्व**=दीजिए। जो वेदज्ञान **सुमतिम्**=हमें उत्तम मति देनेवाला है तथा **विश्वजन्याम्**=सब लोगों का हित करनेवाला है।

भावार्थ—वेदज्ञान की धारा सतत प्रवाहवाली है। इसमें स्नान करके हम भी सुमति प्राप्त करें तथा सर्वलोकहित में प्रवृत्त हों।

प्रस्तुत सूक्त में वेदवाणी के विषय में सब कुछ कह दिया गया है। क्या तो उसकी प्राप्ति के साधन हैं? और क्या फल है? इसका सम्यक् प्रतिपादन हो गया है। अगले सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि हम प्रातः-प्रातः इसका अध्ययन करें—

५८. [अष्टापञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—गाथिनो विश्वामित्रः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उषाकालीन स्वाध्याय

धेनुः प्रत्नस्य काम्यं दुहानान्तः पुत्रश्चरति दक्षिणायाः।
आ द्योतनिं वहति शुभ्रयामोषसः स्तोमो अश्विनावजीगः ॥ १ ॥

(१) **धेनुः**=ज्ञानदुग्ध द्वारा प्रीणित करनेवाली वेदवाणीरूप गौ **प्रत्नस्य**=उस सनातन पुरुष परमात्मा के **काम्यम्**=कमनीय ज्ञान का **दुहाना**=दोहन करती हैं-हमारे जीवन में वेदवाणी द्वारा ज्ञान का प्रपूरण होता है। इस वेदवाणी द्वारा **पुत्रः**=(पुनाति त्रायते) अपने को पवित्र करनेवाला व अपना त्राण करनेवाला व्यक्ति **दक्षिणायाः अन्तः चरति**=दान के अन्दर विचरण करता है-सदा दान की वृत्तिवाला बनता है। (२) दानप्रवृत्ति द्वारा लोभ से ऊपर उठा हुआ यह व्यक्ति **शुभ्रयामा**=उज्ज्वल जीवन के मार्गवाला **द्योतनिं आवहति**=ज्ञान के प्रकाश को सर्वतः प्राप्त करता है। इसके जीवन में **उषसः स्तोमः**=उषाकाल का यह मन्त्रसमूह **अश्विनौ**=प्राणसाधना करनेवाले स्त्री-पुरुषों को **अजीगः**=जागरित करता है, अर्थात् ये प्राणायाम के अभ्यासी स्त्री-पुरुष प्रातः जागते हैं और प्रातःकालिक क्रियाओं को करके स्वाध्याय में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—हमारे लिए वेदवाणी पवित्र ज्ञान को प्राप्त कराएँ। हम दान की वृत्तिवाले बनें। ज्ञान को सब प्रकार से प्राप्त करें। उषाकाल में अवश्य स्वाध्याय करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मेधा का विकास व कृपणता का विनाश

सुयुग्वहन्ति प्रति वामृतेनोर्ध्वा भवन्ति पितरेव मेधाः।
जरेथामस्मद्वि पणेर्मनीषां युवोरवश्चकृमा यातमर्वाक् ॥ २ ॥

(१) **सुयुक्**=इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में उत्तमता से जोतनेवाले लोग **ऋतेन**=ऋत द्वारा-सब क्रियाओं को ठीक समय पर करने द्वारा **वां प्रति**=हे अश्विनी देवो! प्राणापानो! आपके प्रति **वहन्ति**=अपने को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना में प्रवृत्त होते हैं-प्राणायाम के अभ्यासी बनते हैं। उस समय इनके जीवन में **मेधाः**=बुद्धियाँ **ऊर्ध्वाभवन्ति**=उद्गत होती हैं-उन्नत होती हैं। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **पितरा**=माता-पिता के प्रति पुत्र उठ खड़े होते हैं। माता-पिता

के आदर के लिए पुत्र उठते हैं, इन अभ्यासी पुरुषों के आदर के लिए मानो बुद्धियाँ उठ खड़ी होती हैं। (२) हे प्राणापानो! आप **पणेः मनीषाम्**=कृपण वणिक की बुद्धि को **अस्मद्**=हमारे से **विजरेथाम्**=दूर करके नष्ट करिए। हम कृपणवृत्तिवाले न बने रहें। **युवोः**=आप दोनों के **अवः**=रक्षण व भोजन को हम **चकृमा**=करते हैं। प्राणापानरक्षण के लिए ही भोजन को करते हैं। हमारे भोजन का मापक स्वाद न होकर प्राणापान का रक्षण होता है। आप दोनों हमें **अर्वाक् यातम्**=आभिमुख्येन प्राप्त होओ। हमारी प्राणापानशक्ति दिन व दिन बढ़ती चले।

भावार्थ—इन्द्रियाश्वों को उत्तम कार्यों में प्रेरित करके ऋत के अनुसार क्रियाओं को करते हुए हम प्राणापानशक्ति को बढ़ाएँ। इससे हमारी मेधा का विकास होगा और कृपणता-वृत्ति का विनाश होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शरीर व इन्द्रियों की उत्तमता व दौर्भाग्य का विनाश

सुयुग्भिरश्वैः सुवृता रथेन दस्राविमं शृणुतं श्लोकमद्रेः।
किमङ्ग वां प्रत्यवर्तिं गमिष्ठाहुर्विप्रासो अश्विना पुराजाः॥ ३॥

(१) हे **दस्रौ**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! आप **सुयुग्भिः**=शरीर-रथ में उत्तमता से जोते हुए इन्द्रियाश्वों से तथा **सुवृता रथेन**=उत्तम मार्ग से अच्छी प्रकार चलनेवाले रथ से **अद्रेः इमं श्लोकम्**=(आद्रियते इति अद्रिः one who adores) स्तोता के इस स्तवन को (यशोगान को) **शृणुतम्**=सुनो। आप अपने इस स्तोता को उत्तम इन्द्रियाश्व व उत्तम रथ प्राप्त कराओ। (२) हे **अंग**=प्रिय **अश्विना**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले प्राणापानो! **पुराजाः**=(पुरि आ अजन्ति) शरीररूप नगरी में समन्तात् गतिवाले, अर्थात् अत्यन्त क्रियाशील **विप्रासः**=अपना पूरण करनेवाले ज्ञानीपुरुष **वाम्**=आपको **अवर्तिं प्रति**=(bad fortune) दौर्भाग्य पर **गमिष्ठा**=अतिशयेन आक्रमण करनेवाला **किं आहुः**=क्या यों ही कहते हैं, अर्थात् वे सच ही तो कहते हैं कि प्राणापान से दौर्भाग्य विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व उत्तम होंगे। रथ ठीक होगा। दौर्भाग्य विनष्ट होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रातःकालीन साधना

आ मन्येथामा गतं कच्चिदेवैर्विश्वे जनासो अश्विना हवन्ते।
इमा हि वां गोऋजीका मधूनि प्र मित्रासो न ददुरुस्रो अग्रे॥ ४॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **आमन्येथाम्**=आप हमें अवबोध (ज्ञान) देनेवाले होओ। **कच्चित्**=क्या आप हमें **एवैः**=गतियों द्वारा **आगतम्**=प्राप्त होते हो? अर्थात् आप अवश्य प्राप्त होते हो। हम अपने प्राणापान की शक्ति को बढ़ाकर क्रियाशील बनें। आपको **विश्वे जनासः**=सब लोग **हवन्ते**=पुकारते हैं। सब प्राणापान की साधना करते हैं। सब कुछ इस प्राणापान पर ही निर्भर करता है। हम प्रातः उठकर प्राणसाधना करें, स्वाध्यायशील हों और यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हो जाएँ। (२) अश्विनी देवो! **वाम्**=आपके लिए **इमा**=इन **गोऋजीका मधूनि**=गोदुग्ध मिश्रित मधुओं को-ओषधियों से सारभूत पदार्थों को **ददुः**=देते हैं। इस प्रकार देते हैं, **न**=जैसे कि **मित्रासः**=मित्र मित्रों के लिए उत्तम पदार्थों को देते हैं, अर्थात् प्राणापान-शक्ति का वर्धन करने के लिए गोदुग्ध मिश्रित मधु (मधुर पदार्थों) का ही प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार **उस्रः**=इनकी ज्ञानरश्मियाँ

अग्रे=आगे और आगे बढ़ती हैं-इनका ज्ञान उत्तरोत्तर दीप्त होता जाता है।

भावार्थ—हम प्रातः उठकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों, ज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। यज्ञादि कार्यों में प्रवृत्त हों। गोदुग्ध व मधु आदि सारभूत पदार्थों का ही प्रयोग करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रजोगुण से ऊपर उठना

तिरः पुरू चिदश्विना रजांस्याङ्गूषो वां मघवाना जनेषु।
एह यातं पथिभिर्देवयानैर्दस्राविमे वां निधयो मधूनाम्॥ ५॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापाणो! **पुरूचित्**=बहुत भी **रजांसि**=राजसभावों को **तिरः**=तिरस्कृत करके **इह**=इस जीवन में **देवयानैः पथिभिः**=देवयानमार्गों से **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणापान की साधना करते हुए हम रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में स्थित हों और सदा देवयान मार्गों से गतिवाले हों। (२) हे **मघवानाः**=ज्ञानैश्वर्यवाले प्राणापानो! **जनेषु**=लोगों में **वाम्**=आपका **आंगूषः**=स्तोत्र हो। लोग प्राणापान का स्तवन करते हुए प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। (३) हे **दस्त्रौ**=सब दोषों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **इमे**=ये **मधूनाम्**=सोमों के **निधयः**=कोश **वाम्**=आपके ही हैं, अर्थात् प्राणापान की साधना से ही इनकी शरीर में ऊर्ध्वगति होती है और ये शरीर में सुरक्षित होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से (क) रजोगुण से ऊपर उठकर सत्वगुण में हमारी स्थिति होती है, (ख) सोमकणों की ऊर्ध्वगति होकर शरीर में उनका रक्षण होकर बुद्धि विकास में सहायक होते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्राणापान के साथ मित्रता

पुराणमोकः सख्यं शिवं वां युवोर्नरा द्रविणं जह्नाव्याम्।
पुनः कृण्वानाः सख्या शिवानि मध्वा मदेम सह नू समानाः॥ ६॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **सख्यम्**=मित्रता **पुराणं ओकः**=सनातन गृह के समान है, **शिवम्**=वह कल्याणकर है। जैसे घर में व्यक्ति सदा सुख का अनुभव करता है, उसी प्रकार प्राणापान की मित्रता में सुख ही सुख है। (२) **युवोः**=आपका **द्रविणम्**=धन **जह्नाव्याम्**=त्यागशील पुरुष में होता है, अर्थात् प्राणापान की शक्ति से प्राप्त धन का विनियोग सदा दान आदि उत्तम कर्मों में होता है। अनायास मिला धन सदा मनुष्य को विलासी बना देता है। अन्यायोपार्जित धन चोरी आदि में चला जाता है। (३) हे प्राणापानो! हम **नू**=निश्चय से **पुनः**=फिर प्राणापान की **शिवानि सख्या**=कल्याणकर मित्रताओं को **कृण्वानाः**=करते हुए **मध्वा सह**=प्राणसाधना द्वारा शरीर में ऊर्ध्व स्थितिवाले सोम के साथ **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें और **समानाः**=(सम्यक् अन्=प्राणने) उत्तम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें। प्राणापान के साथ मित्रता का भाव यही है कि प्राणसाधना में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—प्राणसाधना से प्राणापान को विकसित करने द्वारा हम कल्याण के भागी हों। प्राणशक्ति से प्राप्त धन का सात्त्विक कर्मों में विनियोग करें। प्राणायाम हमें ऊर्ध्वरेता बनाए, जिससे हम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्राणायाम के लाभ

अश्विना वायुना युवं सुदक्षा नियुद्भिश्च सजोषसा युवाना।
नासत्या तिरोअह्न्यं जुषाणा सोमं पिबतमस्रिधा सुदानू॥ ७॥

(१) **अश्विना**=हे कर्मों में व्याप्त होनेवाले प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **वायुना**=वायु द्वारा **सुदक्षा**=उत्तम बल को प्राप्त करानेवाले हो। शुद्ध वायु में किया गया प्राणायाम बलवर्धक है। (२) **नियुद्भिः च**=और इन इन्द्रियाश्वों के साथ **सजोषसा**=समानरूप से प्रीतिपूर्वक कार्यों को करते हुए आप **युवाना**=हमें बुराइयों से पृथक् करते हो और अच्छाईयों से मिलाते हो (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। जब हम प्राणायाम करते हैं, तो इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं, परिणामतः हमारे कार्य पवित्र होते हैं, 'दुरितानि परासुव, भद्रं आसुव' यह प्रार्थना हमारे जीवन में क्रियान्वित होती है। (३) हे **नासत्या**=सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **जुषाणा**=प्रीतिपूर्वक कर्मों का सेवन करते हुए आप **सोमम्**=सोम शक्ति को (वीर्य को) **तिरः अह्वाम्**=तिरोहितरूप में शरीर में व्याप्त होनेवाला (अह व्याप्तौ) करते हुए **पिबतम्**=पीते हो। प्राणसाधना से सोम की शरीर में ही ऊर्ध्वगति होती है। यह सोम रुधिर में इस प्रकार व्याप्त हो जाता है, जैसे कि तिलों में तेल व दधि में माखन। इस रुधिर में व्याप्त हुआ-हुआ अलग दिखता नहीं, तिरोहित हुआ-हुआ रहता है। इस प्रकार ये प्राणापान **अस्रिधा**=हमें रोगों से हिंसित न होने देनेवाले तथा **सुदानू**=अत्यन्त अच्छी तरह वासनाओं का (दाप् लवने) विनाश करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—(क) शुद्ध वायु में प्राणायाम से बल बढ़ता है, (ख) इन्द्रियों के दोष दूर होकर ये सदा शुभ कर्मों में व्याप्त रहती हैं, (ग) सोम की ऊर्ध्वगति होकर रोगकृमि विनष्ट होते हैं और वासनाओं का विलय हो जाता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दृढ़ व दीप्त शरीररथ

अश्विना परि वामिषः पुरूचीरीयुर्गीर्भिर्यतमाना अमृध्राः।
रथो ह वामृतजा अद्रिजूतः परि द्यावापृथिवी याति सद्यः॥ ८॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपको **पुरूचीः**=पालक व पूरक ज्ञानों को व्याप्त करनेवाली **इषः**=प्रभु की प्रेरणाएँ **परि ईयुः**=सर्वतः प्राप्त होती हैं। प्राणसाधना से हृदय की वासनाएँ विनष्ट होकर पवित्रता का सम्पादन होता है। पवित्र हृदय में प्रभु की प्रेरणाएँ सुन पड़ती हैं। (२) ये प्रेरणाएँ **गीर्भिः**=वेदवाणियों से **यतमानाः**=कर्मों में लगी होती हैं और इस प्रकार **अमृध्राः**=हमारा हिंसन नहीं करतीं। प्रभु प्रेरणाओं को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति वेदानुकूल कर्मों को करता है और परिणामतः हिंसित नहीं होता। (३) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **रथः**=यह शरीर-रथ **ह**=निश्चय से **ऋतजाः**=ऋत से आविर्भूत शक्तियोंवाला होता है और **अद्रिजूतः**=प्रभु के उपासक से प्रेरित होता है, अर्थात् प्राणसाधना से शरीररूप-रथ निर्दोष बनता है और इस पर आरूढ़ व्यक्ति में उपासना की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह शरीर-रथ **सद्यः**=शीघ्र ही द्यावापृथिवी **परियाति**=द्यावापृथिवी को प्राप्त करता है, (या प्रापणे) अर्थात् उत्तम मस्तिष्क व शरीरवाला होता है। यहाँ द्यावा शब्द मस्तिष्क व ज्ञान का प्रतीक है और पृथिवी शब्द शरीर व बल का सूचक है। प्राणसाधना से ज्ञान व बल दोनों का वर्धन होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से निर्मल हृदय में प्रभु-प्रेरणाएँ सुन पड़ती हैं और इन प्रेरणाओं को सुननेवाले व्यक्ति वेदानुकूल कर्म करते हैं। इस साधना से यह शरीर-रथ दृढ़ व दीप्त (प्रकाशमय) बनता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'मधुषुत्तम युवाकु' सोम

अश्विना मधुषुत्तमो युवाकुः सोमस्तं पातमा गतं दुरोणे।
रथो ह वां भूरि वर्पः करिक्रत्सुतावतो निष्कृतमागमिष्ठः ॥ ९ ॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **सोमः**=सोम (वीर्य) **मधुषुत्तमः**=अत्यन्त माधुर्य को उत्पन्न करनेवाला है, **युवाकुः**=यह सब बुराईयों को दूर करनेवाला अच्छाईयों को मिलानेवाला है। **तम्**=उस सोम को आप **पातम्**=रक्षित करो। प्राणसाधना से इस सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती ही है। हे प्राणापानो! आप **दुरोणे**=हमारे इस शरीरगृह में **आगतम्**=आओ। आपके आने से यह सचमुच दुरोण बनता है-इससे सब बुराईयों का अपनयन हो जाता है। (दुर्+ओण्) **ह**=निश्चय से **वाम्**=आपका यह **रथः**=शरीर-रथ **भूरिवर्पः**=बहुत अधिक तेज को **करिक्रत्**=करता है। आपकी साधना से यह दीप्तरूपवाला बनता है। आपका यह रथ **सुतावतः**=इस सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष के **निष्कृतम्**=संस्कृतगृह में **आगमिष्ठः**=अतिशयेन आनेवाला होता है। जब मनुष्य प्राणायाम का अभ्यासी बनता है, तो यह शरीर-रथ प्राणापान का रथ हो जाता है। यह सुतावान् के संस्कृतगृह में आता है, अर्थात् सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष को ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है और उससे शरीर-रथ दीप्त बनता है। रक्षित सोम जीवन को मधुर व निर्दोष बनाता है।

यह सूक्त प्राणसाधना के महत्त्व का सुन्दरता से प्रतिपादन कर रहा है।

अगले सूक्त का देवता 'मित्र' है—सूर्य। सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार है—

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—मित्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सूर्य की मित्रता

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥ १ ॥

(१) 'मित्र' सूर्य है, यह 'प्रमीति' से हमारा त्राण करता है 'प्रमीतेः त्रायते'। यह **मित्रः**=सूर्य **ब्रुवाणः**=अपनी क्रिया से उपदेश करता हुआ **जनान्**=मनुष्यों को **यातयति**=कृष्यादि कर्मों में यत्नशील करता है। सूर्य अपने किरणरूप हाथों द्वारा हमें जगाता है और कर्म में प्रवृत्त होने के लिए उपदेश करता है। इस प्रकार **मित्रः**=यह सूर्य **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **दाधार**=धारण करता है, सामान्यतः सूर्य ही सर्वत्र प्रकाश व प्राणशक्ति का संचार करता है और इस प्रकार द्यावापृथिवी का धारण करनेवाला है। (२) **मित्रः**=यह सूर्य **कृष्टीः**=श्रमशील मनुष्यों को **अनिमिषा**=बिना पलक मारे, अर्थात् सतत सावधान होकर **अभिचष्टे**=देखता है (Look after) उनका पालन करता है। प्रभु कहते हैं कि इस **मित्राय**=सूर्य के लिए **घृतवत्**=घृत से युक्त **हव्यम्**=हव्य को **जुहोत**=आहुत करो। घृत व सामग्री द्वारा सूर्योदय के समय अवश्य

अग्निहोत्र करो। यह तुम्हारे घरों के वायुमण्डल को शुद्ध करेगा, रोगकृमियों का संहार करेगा। इस प्रकार यह अग्निहोत्र 'सौमनस्य व दीर्घायुष्य' को देनेवाला होगा।

भावार्थ—उदय होता हुआ सूर्य हमें कर्मों में प्रवृत्त करता है। यह सबका धारण करता है। सूर्योदय के समय घरों में अग्निहोत्र करना स्वास्थ्य के लिए अतिशयेन हितकर है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सूर्य का शिष्य बनना

प्र स मि॑त्र मर्तो॑ अस्तु प्रय॑स्वा॒न्यस्त॑ आदित्य॒ शिक्ष॑ति व्र॒तेन॑।

न ह॑न्यते॒ न जी॑यते॒ त्वोतो॒ नैन॒मंहो॑ अश्नो॒त्यन्ति॑तो॒ न दू॒रात्॥ २॥

(१) हे **मित्र**=सूर्य! **स मर्तः**=वह मनुष्य **प्रयस्वान्**=उत्तम श्रमवाला **प्र अस्तु**=प्रकर्षेण हो, **यः**=जो, हे **आदित्य**=अत्यन्त उत्कृष्ट स्वास्थ्य को देनेवाले सूर्य! (अदितेः अपत्यम्) **ते व्रतेन**=तेरे व्रत से **शिक्षति**=शिक्षा को ग्रहण करता है। सूर्य का व्रत निरन्तर सरण (गमन) है। सूर्य से इस क्रियाशीलता का पाठ पढ़नेवाला व्यक्ति भी क्रियाशील बनकर सूर्य की तरह चमकनेवाला होता है। (२) हे सूर्य! **त्वा ऊतः**=तेरे द्वारा रक्षित हुआ-हुआ यह पुरुष **न हन्यते**=मारा नहीं जाता, **न जीयते**=नां ही पराभूत किया जाता है। सूर्य से क्रियाशीलता का व्रत ग्रहण करके यह पुरुष स्वस्थ व पवित्र जीवनवाला बना रहता है। **न**=नां तो **एनम्**=इसे **अन्तितः**=समीप से **अंहः अश्नोति**=पाप व कष्ट व्यापता है और **न**=नां ही **दूरात्**=दूर से। अध्यात्म कष्ट समीप से होनेवाले कष्ट हैं, अधिभूत से होनेवाले कष्ट दूर से होनेवाले कष्ट हैं। सूर्य के शिष्य को ये कष्ट नहीं प्राप्त होते, उसका जीवन निष्पाप होता है। सूर्य उसका मित्र है, वह उसे पाप से मानो निवारित करता है।

भावार्थ—सूर्य से क्रियाशीलता का पाठ पढ़कर मनुष्य निष्पाप जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'अनमीव-मितज्ञु-इडयामदन्'

अ॒न॒मी॒वास॒ इळ॑या॒ मद॑न्तो मि॒तज्ञ॑वो॒ वरि॑म॒न्ना पृ॑थि॒व्याः।

आ॒दि॒त्यस्य॑ व्र॒तमु॑पक्षि॒यन्तो॑ व॒यं मि॒त्रस्य॑ सुम॒तौ स्या॑म॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार सूर्य का शिष्य बननेवाले लोग **अनमीवासः**=नीरोग बनते हैं। **इडया मदन्तः**=ये वेदवाणी से आनन्द का अनुभव करते हैं, अर्थात् इन्हें ज्ञानप्राप्ति में आनन्द आता है। **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के-शरीर के **वरिमन्ना**=विस्तार व उत्कर्ष के निमित्त **मितज्ञवः**=(मितं जानन्ति) परिमितता को-मर्यादा को जाननेवाले होते हैं 'मितभुक्' होते हैं-परिमित बोलनेवाले होते हैं। यह परिमितता-मात्रा ही तो बल है। सब वस्तुओं को मात्रा में करने के कारण ये शरीर की सब शक्तियों का विस्तार कर पाते हैं। (२) **आदित्यस्य**=सूर्य के **व्रतम्**=व्रत को-सब स्थानों से अच्छाई के ही ग्रहण के भाव को **उपक्षियन्तः**=(क्षि निवासगत्योः) प्राप्त होते हुए-अपने जीवन का अंग बनाते हुए **वयम्**=हम **मित्रस्य**=इस सूर्य की **सुमतौ**=कल्याणीमति में **स्याम**=हों। वस्तुतः सूर्य के सम्पर्क में रहने से हमारा मस्तिष्क भी विकसित होता है। सूर्य से केवल शरीर का ही स्वास्थ्य नहीं, अपितु मन व मस्तिष्क का स्वास्थ्य भी प्राप्त होता है।

भावार्थ—सूर्य के सम्पर्क में निवास से व सूर्य के व्रत से शिक्षा लेने से हम शरीर में अनमीव (नीरोग) बनते हैं, मन में **मितज्ञु**=परिमितता को जाननेवाले-मर्यादापालक तथा मस्तिष्क में 'इडया मन्दन्तः'=ज्ञानवाणियों में आनन्द को लेनेवाले होते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—मित्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सुक्षत्र, सुमति व सौमनस

अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ४॥

(१) **अयम्**=यह **मित्रः**=सूर्य **नमस्यः**=नमन के योग्य है। हमें चाहिए कि सूर्योदय होने पर सूर्याभिमुख आसन पर बैठकर प्रभु का ध्यान करें। इस प्रकार करने से यह सूर्य हमारे लिए **सुशेवः**=उत्तम कल्याण करनेवाला होगा। **राजा**=यह सूर्य दीप्त है–हमारे जीवन को regulated (व्यवस्थित) करनेवाला है। **सुक्षत्रः**=हमारे में उत्तम बल को स्थापित करता है। हमारे लिए **वेधाः अजनिष्ट**=यह विधाता के रूप में प्रादुर्भूत होता है। हमारे जीवन का यह निर्माण करनेवाला है। (२) **तस्य**=उस **यज्ञियस्य**=संगतिकरण योग्य सूर्य की **वयम्**=हम **सुमतौ**=कल्याणीमति में तथा **भद्रे सौमनसे**=कल्याणकर शुभ मन में **अपि**=भी **स्याम**=हों। यदि हम सूर्य के सम्पर्क में अधिक से अधिक समय बिताने का ध्यान करेंगे, तो हमारी बुद्धि भी विशद होगी और मन भी प्रसाद गुणयुक्त होगा। सूर्यकिरणें हमारे शरीर को तो नीरोग बनाती ही हैं, ये हमारे मनों व बुद्धि को भी अच्छा बनाती हैं।

भावार्थ—सूर्य शरीर में सुक्षत्र (=उत्तम बल) को स्थापित करता है, मस्तिष्क में सुमति को और मन में भद्रता को।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—मित्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

नमसोपसद्य-यातयज्जन

महाँ आदित्यो नमसोपसद्यो यातयज्जनो गृणते सुशेवः।
तस्मा एतत्पन्यतमाय जुष्टमग्नौ मित्राय हविरा जुहोत॥ ५॥

(१) **आदित्यः**=यह सूर्य **महान्**=प्रभु की सर्व-महती विभूति है। **नमसा उपसद्यः**=नमन द्वारा यह समीप स्थित होने योग्य है। सूर्योदय होने पर हमें सूर्याभिमुख होकर प्रभु का उपासन करना है। **यातयज्जनः**=यह सूर्य सब लोगों को कर्मों में प्रेरित करनेवाला है। **गृणते**=स्तोता के लिए यह **सुशेवः**=उत्तम सुख प्राप्त करानेवाला है। (२) **तस्मा**=उस **पन्यतमाय**=अत्यन्त प्रशंसनीय **मित्राय**=सूर्य के लिए **अग्नौ**=अग्नि में **जुष्टम्**=सेवनीय **हविः**=घृत व हव्य पदार्थों को **जुहोत**=आहुत करो। सूर्योदय होने पर अग्निहोत्र करना प्रत्येक गृहस्थ का परम धर्म है। इसने ही रोगों को नष्ट करना है 'सुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'।

भावार्थ—सूर्योदय होने पर सन्ध्या व अग्निहोत्र करना हमारा मुख्य धर्म है। (नमसोपसद्यः, जुहाते)।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—मित्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शक्तिसम्पन्नता व ज्ञानसम्पन्नता

मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि। द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम्॥ ६॥

(१) **चर्षणीधृतः**=वृष्टि आदि द्वारा मनुष्यों का धारण करनेवाले **मित्रस्य**=सब रोगों से बचानेवाले **देवस्य**=प्रकाशमय सूर्य का **अवः**=रक्षण **सानसि**=सब से सम्भजनीय (=सेवनीय) है। सूर्य द्वारा हमारे में प्राणशक्ति का संचार होता है। इसद्वारा सूर्य हमें रोगों से बचाता है। इस प्रकार यह सूर्य द्वारा किया गया रक्षण सम्भजनीय ही है। (२) सूर्य द्वारा प्राप्त कराई गई **द्युम्नम्**=शक्ति

सम्भजनीय है और सूर्य द्वारा प्राप्त कराया गया **चित्त श्रवस्तमम्**=अतिशयेन अद्भुत ज्ञान अवश्य ही सम्भजनीय है। सूर्यकिरणों का सम्पर्क हमें शरीर में शक्ति-सम्पन्न बनाता है तथा मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न।

भावार्थ—सूर्यकिरणों का सम्पर्क हमें रोगों से बचाकर शरीर में शक्ति-सम्पन्न तथा मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न बनाता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सूर्य की व्यापक महिमा

अभि यो महिना दिवं मित्रो बभूव सप्रथाः। अभि श्रवोभिः पृथिवीम्॥ ७॥

(१) **यः**=जो **मित्रः**=सूर्य **सप्रथाः**=किरणों द्वारा अत्यन्त विस्तारवाला है, वह **दिवम्**=द्युलोक को **महिना**=अपनी महिमा से **अभिबभूव**=अभिभूत करनेवाला है। सूर्योदय होते ही सारा द्युलोक उसके प्रकाश से व्याप्त हो जाता है। (२) यह सूर्य **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को भी **श्रवोभिः**=(praiseworthy actions) वृष्टि द्वारा अन्नोत्पादनादि व प्राणशक्ति-संचाररूप प्रशंसनीय कार्यों से **अभि**=अभिव्याप्त कर लेता है।

भावार्थ—सूर्य द्युलोक को अपने प्रकाश की महिमा से तथा पृथिवी को प्राणशक्ति-संचार रूप प्रशंसनीय कर्म से अभिव्याप्त कर लेता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'अभिष्टिशवस्' सूर्य

मित्राय पञ्च येमिरे जना अभिष्टिशवसे। स देवान्विश्वान्बिभर्ति॥ ८॥

(१) 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' इन पाँच भागों में बटे हुए **पञ्चजनाः**=समाज के ये पाँचों जन **अभिष्टिशवसे**=(शत्रूणामभिगन्तृ- बलयुक्ताय सा०) रोगरूप शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले बल से युक्त **मित्राय**=सूर्य के लिए **येमिरे**=हवियों को उद्यत करते हैं (हवींषि उद्यच्छन्ति सा०), अर्थात् सूर्योदय होने पर पञ्चजन अग्निहोत्र करते हैं। यह अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य तक पहुँचती है। इस प्रकार सूर्य के लिए ये हवियाँ दी जाती हैं। 'उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्ति, निम्लोचन् हन्ति रश्मिभिः'=यह उदय होता हुआ सूर्य क्रिमियों को नष्ट करता है, अस्त होता हुआ भी रश्मियों से इन क्रिमियों को समाप्त करता है। इस प्रकार यह सूर्य 'अभिष्टिशवस्' है। (२) **सः**=वह रोगकृमियों को विनष्ट करनेवाला सूर्य **विश्वान् देवान्**=सब दिव्यगुणों को **बिभर्ति**=हमारे में धारण करता है। सूर्य हमें नीरोग बनाता है, हमारे में प्राणशक्ति के संचार का कार्य करता है। इस प्रकार पूर्ण स्वस्थ बने शरीर में यह स्वस्थ मन को उत्पन्न करता है। मन में आसुरभावों का विनाश होकर दिव्यभाव ही उपजते हैं।

भावार्थ—सूर्योदय होने पर पञ्चजन अग्निहोत्र करते हैं। इस प्रकार रोगकृमियों का विनाश होता है और दिव्यगुणों का विकास।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'वृक्ति बर्हिस्' लोग

मित्रो देवेष्वायुषु जनाय वृक्तबर्हिषे। इषं इष्टव्रता अकः॥ ९॥

(१) **मित्रः**=रोगों से त्राण करनेवाला सूर्य **देवेषु आयुषु**=देववृत्तिवाले मनुष्यों में भी **वृक्तबर्हिषे**=जिसने हृदयस्थली से वासनाओं को उखाड़ दिया है, उस **जनाय**=मनुष्य के लिए

इष्टव्रता=वाञ्छनीय व्रतोंवाली **इषः**=प्रेरणाओं को **अकः**=करता है। (२) देववृत्तिवाले मनुष्य सूर्योदय से पूर्व ही जाग-जाते हैं 'उषर्बुधो हि देवाः'। इन देवों में भी जो व्यक्ति वासनाओं के विनाश से हृदय को पवित्र बनाते हैं वे, 'वृक्तबर्हिस्' हैं। इन वृक्तबर्हिस् लोगों को प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है। यह प्रेरणा उन्हें इष्ट व्रतों की ओर प्रेरित करती है।

भावार्थ—प्रभु का बनाया हुआ सूर्य 'निरन्तर क्रियाशीलता' रूप प्रेरणा देता हुआ वस्तुतः मित्र होता है। यह निरन्तर क्रियाशीलता हमें वासनाशून्य हृदय से युक्त 'वृक्तबर्हिस्' बनाती है-यह व्यक्ति देववृत्तिवाला बनता है।

यह सूक्त सूर्य-किरणों के सम्पर्क से सब रोगों के विनष्ट होने का संकेत करता है। ये नीरोग व्यक्ति ज्ञानप्राप्ति में रुचिवाले होकर ज्ञानदीप्ति से अत्यन्त दीप्त होते हैं, सो 'ऋभवः' कहलाते हैं—उरु भान्ति। अगले सूक्त का देवता 'ऋभवः' ही है—

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

विश्वबन्धुत्व

इहेह वो मनसा बन्धुता नर उशिजो जग्मुरभि तानि वेदसा।
याभिर्मायाभिः प्रतिजूतिवर्पसः सौधन्वना यज्ञियं भागमानश ॥ १ ॥

(१) हे **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोगो! **वः**=तुम्हारे **मनसा**=मन द्वारा **इह इह**=इस-इस स्थान पर **बन्धुता**=बन्धुत्व है। आप मन में उस प्रभु को सबका पिता जानते हुए परस्पर बन्धुत्व का अनुभव करते हो। शारीरिक बन्धुत्व न भी हो, तो भी 'अन्ततः हम सब उस प्रभु के ही तो पुत्र हैं' ऐसा ध्यान करते हुए आप सब में भ्रातृत्व के भाव को धारण करते हो। (२) **उशिजः**=सब के हित की कामना करते हुए **वेदसा**=ज्ञान द्वारा **तानि**=उन बन्धुत्वों को अनुभव करते हुए **अभिजग्मुः**=क्रियाओं को करते हैं। उनके कार्य सभी के हित के लिए होते हैं। (३) **याभिः मायाभिः**=जिन प्रज्ञानों द्वारा ये **प्रतिजूतिवर्पसः**=(प्रति पक्षाभिभवनशीलतेजोयुक्ताः सा०) काम-क्रोध आदि प्रतिपक्षियों के पराभवकारी तेज से युक्त हुए-हुए, ये **सौधन्वनाः**=उत्तम प्रणवरूप धनुषवाले होते हैं 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा'। उन द्वारा ये **यज्ञियं भागम्**=यज्ञिय भाग का **आनश**=सेवन करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रज्ञान को प्राप्त करके (क) मनुष्य काम-क्रोध आदि का संहार तो करता ही है, (ख) यह प्रणव का जप करता हुआ प्रभु से मेल के लिए उत्सुक होता है और (ग) सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाला बनता है।

भावार्थ—चिन्तनशील पुरुष सबके साथ बन्धुत्व को अनुभव करते हुए सर्वहितकारी कर्मों को करते हैं। ज्ञानवृद्धि द्वारा काम-क्रोध को पराभूत करके, प्रणव का जप करते हुए सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

देवत्वप्राप्ति

याभिः शचीभिश्चमसाँ अपिंशत यया धिया गामरिणीत चर्मणः।
येन हरी मनसा निरतक्षत तेन देवत्वमृभवः समानश ॥ २ ॥

(१) **याभिः**=जिन **शचीभिः**=शक्तियों से **चमसान्**=इन शरीरों को (स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीरों को) **अपिंशत**=अलंकृत करते हो (adorn, decorate)। (२) **यया धिया**=जिस बुद्धि

से **गाम्**=वेदवाणी को **चर्मणः**=उपरले आवरण से **अरिणीत**=(to separate) पृथक् करते हो, अर्थात् उपरले आवरण को हटाकर अन्तर्निहित अर्थ को देखनेवाले बनते हो। (३) **येन मनसा**=जिस मन द्वारा **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **निरतक्षत**=(to create) बनाते हो, अर्थात् मनरूपी लगाम द्वारा इन्द्रियों को वश में करके उत्तम कार्यों में व्यापृत करते हो। (४) **तेन**=इन बातों के कारण हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **देवत्वम्**=देवत्व को **समानश**=प्राप्त करते हो। इस प्रकार देवत्व-प्राप्ति के तीन साधन हैं (क) शरीर को शक्तियों से अलंकृत करना, (ख) बुद्धि द्वारा वेद के गूढ़ार्थ को समझना तथा (ग) इन्द्रियों को मन द्वारा निगृहीत करके कार्यों में व्यापृत करना।

भावार्थ—'हम शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाएँ। बुद्धि को तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेवाली करें। इन्द्रियों का संयम करके कार्यों में व्यापृत हों' यही देवत्व-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

इन्द्रसख्यम्

इन्द्रस्य सख्यमृभवः समानशुर्मनोर्नपातो अपसो दधन्विरे।
सौधन्वनासो अमृतत्वमेरिरे विष्ट्वी शमीभिः सुकृतः सुकृत्यया॥ ३॥

(१) **ऋभवः**=(उरु भान्ति) ज्ञानदीप्त पुरुष **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की **सख्यम्**=मित्रता को **समानशुः**=प्राप्त करते हैं। ये **मनोः**=ज्ञान के **नपातः**=न नष्ट होने देनेवाले **अपसः**=कर्मशील पुरुष **दधन्विरे**=अपने अन्दर उस प्रभु का धारण करते हैं। प्रभु का धारण ज्ञानपूर्वक कर्मों के करने से ही होता है। (२) **सौधन्वनासः**='प्रणव' रूप उत्तम धनुषवाले **अमृतत्वम्**=नीरोगता व अमरता को **एरिरे**=अपने में प्रेरित करते हैं। स्वस्थ बनकर ये **शमीभिः**=देवत्व-प्राप्ति के प्रतिबन्ध के निवारक कर्मों से तथा **सुकृत्यया**=उन कर्मों को उत्तमता से करने से **विष्ट्वी**=अपने को व्याप्त करके **सुकृतः**=पुण्यशाली बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता के लिए आवश्यक है कि हम (क) ज्ञान प्राप्त करें, (ख) कर्मशील हों, (ग) प्रणव को-प्रभु-नाम-स्मरण को अपना धनुष बनाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**ऋभवः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

(प्रभु के साथ एक-रथ में) अनुपम शक्ति

इन्द्रेण याथ सरथं सुते सचाँ अथो वशानां भवथा सह श्रिया।
न वः प्रतिमै सुकृतानि वाघतः सौधन्वना ऋभवो वीर्याणि च॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के सौधन्वनों के लिए कहते हैं कि तुम **इन्द्रेण सचा**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु के साथ **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **रथम्**=समान ही शरीररूप रथ में **याथ**=गति करते हो। प्रभु के साथ गति करने का भाव यह है कि तुम प्रभु को भूलते नहीं हो। **अथ उ**=और अब निश्चय से **वशानाम्**=इन्द्रियों को वश में करनेवाले पुरुषों की श्री के साथ होते हो। तुम्हें वह भी प्राप्त होती है, जो कि जितेन्द्रियों को प्राप्त हुआ करती है। (२) हे **वाघतः**=उत्तम यज्ञात्मक कर्मों का वरण करनेवाले! **सौधन्वनाः**=प्रणवरूप उत्तम धनुषवाले, अर्थात् प्रभु का सतत नामस्मरण करनेवाले, **ऋभवः**=ज्ञान से दीप्त पुरुषो! **वः**=तुम्हारे **सुकृतानि**=उत्तम कर्म **च**=और **वीर्याणि**=पराक्रम **प्रतिमै न**=उपमित करने के लिए नहीं होते, अर्थात् तुम्हारे सुकृत और वीर्य अनुपम होते हैं। वस्तुतः प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनकर यह अनुपम शक्तिवाले प्रतीत होते हैं।

भावार्थ—कर्मकाण्ड (वाघत) उपासनाकाण्ड (सौधन्वन) व ज्ञानकाण्ड (ऋभु) में उत्कृष्ट

होकर हम प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होते हैं और हमारी शक्ति अनुपम होती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'वाजवान् ऋभु'=शक्तिशाली ज्ञानदीप्त

इन्द्र ऋभुभिर्वाजवद्भिः समुक्षितं सुतं सोममा वृषस्वा गभस्त्योः।
धियेषितो मघवन्दाशुषो गृहे सौधन्वनेभिः सह मत्स्वा नृभिः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **वाजवद्भिः**=शक्तिवाले **ऋभुभिः**=ज्ञानदीप्त पुरुषों से, शरीर में शक्ति-सम्पन्न, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त पुरुषों से **समुक्षितम्**=शरीर में ही सिक्त किये गये **सुतं सोमम्**=उत्पन्न सोम को **गभस्त्योः**=अपनी भुजाओं में **आवृषस्व**=सींचनेवाला बन। जितेन्द्रिय बनकर सोम को विनष्ट मत होने दें। यह सुरक्षित सोम तेरी भुजाओं को पराक्रमवाला बनाएगा। (२) हे **मघवन्**=(मख=मघ) यज्ञशील जीवनवाले पुरुष! **धिया इषितः**=बुद्धि से प्रेरित हुआ-हुआ-सदा बुद्धिपूर्वक कर्मों को करनेवाला तू **दाशुषः**=दाश्वान्, देने की वृत्तिवाले के **गृहे**=घर में **सौधन्वनेभिः नृभिः**=प्रणवरूप उत्तम धनुषवाले, उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों के **सह**=साथ **मत्स्वा**=आनन्द का अनुभव कर। (३) तू यज्ञशील हो (मघवन्) तेरा घर 'दाश्वान् का घर' हो, अर्थात् तू सदा देने की वृत्तिवाला हो। तेरा साथ प्रभुस्मरण करनेवाले उन्नतिशील पुरुषों के साथ हो।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करके 'वाजवान् ऋभु'='शक्तिशाली ज्ञानदीप्त' पुरुष बनें। बुद्धिपूर्वक कार्यों में लगे रहें। हमारा साथ सौधन्वन ऋभुओं के साथ हो।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

देवव्रत तथा मनुर्धर्म (ऋत तथा सत्य)

इन्द्र ऋभुमान्वाजवान्मत्स्वेह नोऽस्मिन्त्सवने शच्या पुरुष्टुत।
इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे व्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः॥ ६॥

(१) **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **ऋभुमान्**=विशाल ज्ञानदीप्तिवाला तथा **वाजवान्**=शक्तिवाला तू **इह**=यहाँ इस जीवन में **मत्स्व**=आनन्द का अनुभव कर। **शच्या**=प्रज्ञानों व कर्मों के साथ **पुरुष्टुत**=(पुरु स्तुतं यस्य) बहुत स्तुतिवाले जीव! तू **नः**=हमारे **अस्मिन्**=इस **सवने**=जीवनयज्ञ में (मत्स्व) आनन्द का अनुभव कर। जीवन को तू यज्ञमय बना। (२) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे जीव! **तुभ्यम्**=तेरे लिए **इमानि**=ये **स्वसराणि**=आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाले **देवानां व्रता**=देवों के व्रत **मनुषः धर्मभिः च**=मननशील पुरुष के धर्मों के साथ **येमिरे**=दिए जाते हैं। सूर्यादि देवों के व्रतों का पालन करते हुए तू अपने जीवन को ऋतमय बनाता है तथा मननशील पुरुष के धर्मों से तेरा जीवन सत्य से युक्त होता है। जीवन को ऋत व सत्य से युक्त करके ही हम प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—सूर्यादि देवों के व्रतों को धारण करते हुए ऋतमय बनें। मानवधर्मों का पालन करते हुए सत्यमय हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—भुरिग्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

सहस्रणीथ प्रभु

इन्द्र ऋभुभिर्वाजिभिर्वाजयन्निह स्तोमं जरितुरुप याहि यज्ञियम्।
शतं केतेभिरिषिरेभिरायवे सहस्रणीथो अध्वरस्य होमनि॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **वाजिभिः**=शक्तिशाली **ऋभुभिः**=ज्ञानदीप्त पुरुषों के संग से **इह**=इस जीवन में **वाजयन्**=अपने को शक्तिशाली बनाता हुआ, **जरितुः**=स्तोता के **यज्ञियम्**=पूजा में उत्तम व संगतिकरण योग्य **स्तोमम्**=स्तोम को-स्तुति साधनाभूत मन्त्र समूह को **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त हो, अर्थात् ज्ञानदीप्त शक्तिशाली पुरुषों का तू संग कर तथा अपने को शक्तिशाली बनाता हुआ प्रभु के स्तोमों को करनेवाला हो। (२) वे प्रभु **अध्वरस्य होमनि**=इस जीवनयज्ञ के होम में, अर्थात् जीवनयज्ञ को सम्यक् चलाने में **शतम्**=सौ के सौ वर्ष पर्यन्त, अर्थात् आजीवन **इषिरेभिः**=कर्म के अन्दर प्रेरित करनेवाले **केतेभिः**=ज्ञानों से **आयवे**=मनुष्य के लिए **सहस्रणीथः**=हजारों प्रणयनोंवाले हैं-हजारों प्रकार से हमें आगे और आगे ले चलनेवाले हैं। प्रभु के इन प्रणयनों से ही यज्ञ पूर्ण हुआ करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानदीप्त शक्तिशाली पुरुषों का संग करें। प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें ज्ञानों द्वारा मार्गदर्शन करेंगे।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात पर बल दे रहा है कि हम शक्तिशाली व ज्ञानदीप्त बनें। ऐसा बनने के लिए ही अगले सूक्त में उषाकाल में जागरण, स्तवन व स्वाध्याय के महत्त्व पर प्रकाश डाला जा रहा है—

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उषाकाल के व्रत

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे॥ १॥

(१) हे **उषः**=उषे! **वाजेन वाजिनि**=अन्नों से उत्तम अन्नोंवाली, **प्रचेता**=प्रकृष्ट ज्ञानवाली, **मघोनि**=(मघ=मख) यज्ञोंवाली, तू **गृणतः**=स्तोता के **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली हो। हम उषाकाल में शक्तिप्रद सात्त्विक अन्नों के सेवन का विचार करें। स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाएँ। यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों। तथा प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। (२) हे **देवि**=प्रकाशमय उषे! तू **पुराणी**=सदा से चली आ रही है, सदा नवीन है 'पुराणि नवा'। **युवतिः**=हमारे जीवनों में बुराइयों को दूर करनेवाली तथा अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाली है। **पुरन्धिः**=तू पालक व पूरक बुद्धिवाली है, अथवा बहुत बुद्धिवाली है। हे **विश्ववारे**=सब से वरणीय (=चाहने योग्य) अथवा सब वरणीय वस्तुओंवाली उषे! तू **व्रतं अनुचरसि**=व्रतों के अनुकूल होकर गतिवाली होती है। उषाकाल में जागरण से अशुभवृत्तियाँ दूर होकर शुभवृत्तियाँ जागती हैं, बुद्धि का वर्धन होता है और मनुष्य का जीवन 'व्रती जीवन' बनता है। यह उषाजागरण सब नियमों की पूर्ति में सहायक होता है।

भावार्थ—उषाकाल में जागकर हम (क) उत्तम अन्नों के सेवन का ही संकल्प करें, (ख) स्वाध्यायशील हों, (ग) यज्ञ को अपनाएँ, (घ) प्रभु-स्तवन करें। ऐसा करने से (क) हमारी बुराईयाँ दूर होंगी, (ख) बुद्धि बढ़ेगी, (ग) जीवन 'व्रती' बनेगा।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'उषाजागरण' के लाभ

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती ।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये॥ २॥

(१) हे **उषः देवि**=प्रकाशमय उषे! तू **अमर्त्या**=मनुष्यों को मृत्यु से बचानेवाली है। उषाकाल में जागनेवाला व्यक्ति दीर्घजीवन को प्राप्त करता है। तू **चन्द्ररथा**=इस शरीर-रथ को आनन्दमय बनाती हुई **विभाहि**=दीप्त हो। उषाजागरण से स्वास्थ्य ठीक होकर मनुष्य उल्लासमय जीवनवाला बनता है। ये उषा हमारे जीवनों में **सूनृताः**=प्रिय सत्यवाणियों को **ईरयन्ती**=प्रेरित करती है। उषाजागरण से मनोवृत्ति भी उत्तम होती है और मनुष्य प्रिय सत्य-वाणियों को ही बोलनेवाला होता है। (२) हे उषः! **हिरण्यवर्णाम्**=प्रकाश के कारण दीप्त वर्णवाली **त्वा**=तुझ को **सुयमासः**=अच्छी प्रकार जिनका नियन्त्रण किया गया है, **ये**=जो **पृथुपाजसः**=विशाल बलवाले **अश्वाः**=इन्द्रियाश्व हैं, वे **आवहन्तु**=यहाँ हमारे समीप प्राप्त कराएँ, अर्थात् यह उषा हमारे इन्द्रियाश्वों को नियन्त्रित व शक्तिशाली बनानेवाली हो।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध हों। इससे हम 'नीरोग, आह्लादमय, प्रिय सत्यवाणीवाले तथा नियन्त्रित व शक्तिशाली इन्द्रियाश्वोंवाले बनेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'अमृत की केतु' उषा

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व॥ ३॥

(१) हे **उषः**=उषाकाल! **विश्वा भुवनानि प्रतीची**=सब लोकों के प्रति गति करती हुई तू **ऊर्ध्वा तिष्ठसि**=उन्नत होकर स्थित होती है, तू **अमृतस्य केतुः**=अमृतत्त्व की प्रज्ञापिका है। उषा आती है-सब लोगों के लिए प्रकाश को प्राप्त कराती हुई, यह अमृतत्त्व व नीरोगता का संकेत करती है। (२) **नव्यसि**=सदा नवीन उषे! तू **चक्रं इव**=चक्र की तरह **समानं अर्थम्**=समान ही मार्ग पर (अर्थ=मार्ग, अर्थते) **चरणीयमाना**=चलने की कामना करती हुई **आववृत्स्व**=हमारे लिए पुनः-पुनः आवर्तनवाली हो। उषा फिर-फिर आती है-सदा नवीन ही प्रतीत होती है।

भावार्थ—उषा अमृतत्त्व का सन्देश लेकर आती है। समान ही मार्ग पर सदा चल रही है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**उषाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'सुभगा सुदंसाः' उषा

अव स्यूमेव चिन्वती मघोन्युषा याति स्वसरस्य पत्नी।
स्व१र्जनन्ती सुभगा सुदंसा आन्ताद्दिवः पप्रथ आ पृथिव्याः॥ ४॥

(१) रात्रि के लिए फैले हुए **स्यूम इव**=अन्धकाररूप वस्त्र को ही **अवचिन्वती**=अवचित करती हुई, विनष्ट करती हुई, **मघोनी**=प्रकाशरूप ऐश्वर्यवाली **उषा**=उषा **याति**=प्राप्त होती है। यह उषा **स्वसरस्य**=(सु+अस्) अच्छी प्रकार अन्धकार का क्षेपण करनेवाले सूर्य की **पत्नी**=मानो पत्नी ही है। **स्वः जनन्ती**=प्रकाश को प्रादुर्भूत करती हुई, **सुभगा**=यह उत्तम सौभाग्य को देनेवाली है। **सुदंसाः**=इसमें सदा यज्ञादि उत्तम कर्म होते हैं। (२) यह उषा **दिवः आ अन्तात्**=द्युलोक के अन्तिम सिरे से **आपृथिव्याः**=पृथिवी के अन्तिम सिरे तक **पप्रथे**=विस्तृत होती है। उषा का प्रकाश व्यापक है। यह रात्रि के अन्धकार को समाप्त करके सारे लोक को प्रकाशमय बना देता है। इस उषा में सात्त्विक पुरुषों के यज्ञादि उत्तम कर्म-प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—उषा के आते ही अन्धकार समाप्त होता है और इसमें यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रारम्भ होता है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'मधुधा' उषा

अच्छा वो देवीमुषसं विभातीं प्र वो भरध्वं नमसा सुवृक्तिम्।
ऊर्ध्वं मधुधा दिवि पाजो अश्रेत्प्र रोचना रुरुचे रण्वसन्दृक् ॥ ५ ॥

(१) **वः अच्छा विभातीम्**=तुम्हारा लक्ष्य करके प्रकाश को करती हुई **उषसं देवीम्**=प्रकाशमय उषा के प्रति **नमसा**=नमन के साथ **वः सुवृक्तिम्**=अपनी उत्तम पापवर्जनरूप स्तुति को **प्रभरध्वम्**=प्रकर्षेण भरण करनेवाले बनो। उषाकाल में नम्रतापूर्वक प्रभुस्तवन करना आवश्यक है–उस समय प्रभु से पाप–परित्याग की शक्ति की याचना करनी चाहिए। हमारी यही प्रार्थना हो कि हम दिनभर के कार्यों में यथासम्भव पाप से ऊपर ही उठे रहें। (२) यह **मधुधा**=माधुर्य का धारण करनेवाली उषा **दिवि**=द्युलोक में **ऊर्ध्वं पाजः अश्रेत्**=उत्कृष्ट शक्ति का आश्रय करती है। द्युलोक मस्तिष्क है, यह उषा मस्तिष्क में ज्ञान के आधार में उत्कृष्ट शक्ति को स्थापित करती है। यह **रण्वसंदृक्**=रमणीय दर्शनवाली उषा **रोचना**=सब लोकों को **प्ररुरुचे**=अपने तेज से प्रकर्षेण दीप्त करती है।

भावार्थ—उषाकाल में हम नम्रतापूर्वक पापवर्जन के संकल्प द्वारा प्रभु का स्तवन करें। यह उषा हमें ज्ञान व उत्कृष्ट शक्ति प्राप्त कराती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वाम द्रविण-प्रदा' उषा

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः ॥ ६ ॥

(१) **ऋतावरी**=ऋत का रक्षण करनेवाली यह उषा **दिवः अर्कैः**=प्रकाश की किरणों से **अबोधि**=जानी जाती है–इसका प्रकाश सर्वत्र फैलता है। यह **रेवती**=प्रकाशरूप धनवाली उषा **रोदसी**=द्यावापृथिवी में **चित्रं आ अस्थात्**=अद्भुत प्रकाशमयरूप से स्थित होती है, अर्थात् यह सम्पूर्ण द्यावापृथिवी को प्रकाशित करती है। (२) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **आयतीम्**=प्रतिदिन आती हुई **विभातीम्**=प्रकाशमयी **उषसम्**=उषा से **भिक्षमाणः**=याचना करता हुआ **वामं द्रविणं एषि**=सुन्दर धनों को प्राप्त करता है। उषाकाल से जिसने याचना करनी है, वह अवश्य उषा से पूर्व ही उद्बुद्ध हो चुका होगा। यह उषाजागरण ही 'स्वास्थ्य मनःप्रसाद व तीव्रबुद्धि' रूप द्रविणों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—उषा से हम उत्तम द्रविणों की याचना करें।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु की माया

ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन्वृषा मही रोदसी आ विवेश।
मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं वि दधे पुरुत्रा ॥ ७ ॥

(१) **वृषा**=वृष्टि द्वारा सब प्रकार के सुखों का सेचन करनेवाला वह प्रभु **ऋतस्य बुध्ने**=ऋत के मूल में **उषसां इषण्यन्**=उषाओं को प्रेरित करता हुआ **मही रोदसी**=इन महान् द्यावापृथिवी में **आविवेश**=प्रवेश करता है। उषा का आना इसीलिए है कि हम ऋतपालन में प्रवृत्त हो जाएँ।

प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने का निश्चय करें। (२) उस **मित्रस्य**=हमें प्रमीति से-मृत्यु से बचानेवाले **वरुणस्य**=पापों से निवारित करनेवाले प्रभु की **माया मही**=प्रज्ञा महान् है। यह **चन्द्रा इव**=आह्लाद को प्राप्त करानेवाली है। **पुरुत्रा**=सर्वत्र **भानुं विदधे**=प्रकाश को करती है। प्रभु का प्रकाश अद्भुत आनन्द की अनुभूति को देनेवाला है। इसीलिए उसे 'चन्द्रा' कहा है। हमारा जीवन इससे प्रकाशमय बनता है (भानु)।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक हैं। प्रभु का प्रकाश हमारे जीवन को आनन्दमय बनाता है।

सम्पूर्ण सूक्त उषा-जागरण के महत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है। यह हमें 'जितेन्द्रिय, निवृत्त पाप, ज्ञानी, पुष्ट, ऐश्वर्यशाली, शक्ति का पुञ्ज तथा सब के प्रति स्नेहवाला' बनाता है। यही भाव अग्रिम सूक्त में ६ तृचों द्वारा वर्णित हुआ है। प्रथम तृच 'इन्द्र व वरुण' का है, 'जितेन्द्रिय+निवृत्त=पाप' का—

६२. [द्विषष्टिमं सूक्तम्]

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

भृमयो मन्यमानाः=आलस्यशून्य-ज्ञानतत्पर

इमा उ वां भृमयो मन्यमाना युवावते न तुज्या अभूवन्।
क्व१ त्यदिन्द्रावरुणा यशो वां येन स्मा सिनं भरथः सखिभ्यः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र व वरुण देवो! **वाम्**=आप की **इमाः**=ये **भृमयः**=भ्रमणशील-आलस्यशून्य **मन्यमानाः**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाली प्रजाएँ **युवावते**=यौवनवाले, अर्थात् अत्यन्त प्रबल कामरूप शत्रु के लिए **तुज्याः**=हिंसनीय **न अभूवन्**=नहीं होतीं। 'इन्द्र और वरुण की प्रजाओं' का भाव है 'वे व्यक्ति, जो जितेन्द्रिय व निवृत्त-पाप बनने का प्रयत्न करते हैं'। ये 'आलस्यशून्य' व 'ज्ञानतत्पर' होते हुए कामवासना के शिकार नहीं होते। (२) **इन्द्रावरुणा**=हे इन्द्र और वरुण देवो! **वाम्**=आपका **त्यत् यशः**=वह यश **क्व**=कहाँ है, **येन**=जिसके द्वारा **सखिभ्यः**=हम मित्रों के लिए **सिनम्**=शरीर को **भरथः**=निश्चय से पुष्ट करते हो (सिनम्=the Body)। 'जितेन्द्रियता व पापनिवृत्ति' हमारे शरीर की सब शक्तियों का उचित रूप में पोषण करती हैं। हम 'इन्द्र और वरुण' के मित्र बनते हैं और वे हमारे शरीर का पोषण करते हैं।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण की हम प्रजा बनें, अर्थात् जितेन्द्रिय बनकर पाप-भावनाओं से निवृत्त हों। ऐसा होने पर हमारी सब शक्तियों का समुचित पोषण होगा।

ऋषिः—विश्वामित्रः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रयीयन्=वास्तविक ऐश्वर्य की कामनावाला

अयमु वां पुरुतमो रयीयञ्छश्वत्तममवसे जोहवीति।
सजोषाविन्द्रावरुणा मरुद्भिर्दिवा पृथिव्या शृणुतं हवं मे ॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण देवो! **अयम्**=यह **उ**=निश्चय से **वाम्**=आपका **पुरुतमा**=अधिक से अधिक पालन व पूरण करनेवाला, अर्थात् अधिक से अधिक जितेन्द्रिय व निष्पाप बननेवाला व्यक्ति **रयीयन्**=वास्तविक ऐश्वर्य को चाहता हुआ **शश्वत्तमम्**=सदा **अवसे**=रक्षण के लिए **जोहवीति**=पुकारता है। इसकी यही प्रार्थना होती है कि मैं इन्द्रियों को वश में करनेवाला बनूँ और पाप से निवृत्त रहूँ, ताकि वास्तविक ऐश्वर्य का लाभ कर सकूँ। (२) हे इन्द्रावरुणा! **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ **दिवा**=मस्तिष्करूप द्युलोक के साथ **पृथिव्या**=शरीररूप

पृथिवी के साथ **सजोषा**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए आप **मे हवम्**=मेरी प्रार्थना को **शृणुतम्**=सुनिए। प्राणसाधना द्वारा मस्तिष्क व शरीर दोनों ही सुन्दर बनते हैं। यह साधना हमें जितेन्द्रिय व निष्पाप बनाती है। जितेन्द्रियता से शरीर की शक्तियाँ स्थिर बनी रहती हैं—शरीररूप पृथिवी दृढ़ बनी रहती है। निष्पापता से मस्तिष्क ठीक रहता है। मस्तिष्करूप द्युलोक को निष्पापता ही दीप्त रखती है।

भावार्थ—'प्राणसाधना, (मरुत्) स्वाध्याय (दिवा) व इन्द्रिय-विजय हमारे जीवन का उत्तमता से रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सरल व उदार

अस्मे तदिन्द्रावरुणा वसु ष्यादस्मे रयिर्मरुतः सर्ववीरः।
अस्मान्वरूत्रीः शरणैरवन्त्वस्मान्होत्रा भारती दक्षिणाभिः॥ ३॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र व वरुण देवो! **अस्मे**=हमारे लिए **तत्**=वह आपका प्रसिद्ध **वसु**=धन **स्यात्**=हो। हम आपकी कृपा से जितेन्द्रिय बनकर शरीर की शक्ति को तथा निष्पाप बनकर मस्तिष्क का ज्ञान प्राप्त करें। हे **मरुतः**=प्राणो! **अस्मे**=हमारे लिए वह **रयिः**=धन प्राप्त हो, जो कि **सर्ववीरः**=हमारी सब इन्द्रियों को वीर बनानेवाला है। प्राणसाधना से शक्ति की ऊर्ध्वगति होकर हमारी सब इन्द्रियाँ सशक्त बनी रहें। (२) **वरूत्रीः**=पापनिवारक-शक्तियाँ **शरणैः**=अपनी शरणों द्वारा **अस्मान्**=हमें **अवन्तु**=रक्षित करें-हम पापों में न फँसें। **अस्मान्**=हमें **होत्रा**=यह ज्ञानवाणी, जो कि **भारती**=हमारा समुचित भरण करनेवाली है। **दक्षिणाभिः**=(दक्षिणे सरलोदारौ) सरल व उदारवृत्तियों द्वारा रक्षित करे। यह ज्ञानवाणी हमारे जीवन में सरलता व उदारता को लानेवाली हो।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व निष्पापता हमारे जीवन को उत्तम बनाए। प्राणसाधना से हमारा अंग-प्रत्यंग सशक्त हो। वेदज्ञान हमें सरल व उदार वृत्तिवाला बनाए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'विश्वदेव्य बृहस्पति' का आराधन

बृहस्पते जुषस्व नो हव्यानि विश्वदेव्य। रास्व रत्नानि दाशुषे॥ ४॥

(१) **विश्वदेव्य**=यह ज्ञान द्वारा हमारे जीवनों में सब दिव्यगुणों को जन्म देता है, सो 'विश्वदेव्य' है। हे **विश्वदेव्य बृहस्पते**=सब देवों के लिए हितकर ज्ञान के स्वामिन्! आप **नः**=हमारे लिए **हव्यानि**=दानपूर्वक अदनों को **जुषस्व**=(जोषयस्व) प्रीतिपूर्वक सेचन कराइये। हम आपकी कृपा से सदा हव्यों का सेवन करनेवाले बनें। यह हव्य-सेवन ही तो हमें देवी-वृत्तिवाला बनाएगा। इसी से हम ज्ञानवृद्धि कर पाएँगे। (२) हे बृहस्पते! आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए-सदा दान की वृत्तिवाले के लिए **रत्नानि रास्व**=रत्नों को दीजिए। दान की वृत्ति हमारे ऐश्वर्य का वर्धन करती है। बृहस्पति का उपासक, ज्ञान का आराधक, धन का लोभी न होने से अत्यन्त देने की वृत्तिवाला बनता है। इससे इसके ऐश्वर्य की और वृद्धि होती है 'दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्'।

भावार्थ—सब देवों के हितकारी ज्ञान के स्वामी हमें दानशील बनायें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**बृहस्पति** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

अनामि ओजः=(न झुकनेवाला बल)

शुचिमर्कैर्बृहस्पतिमध्वरेषु नमस्यत। अनाम्योज आ चके॥ ५॥

(१) हे मनुष्यो! **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञादि उत्तम कर्मों में **शुचिम्**=उस पूर्ण पवित्र **बृहस्पतिम्**=ब्रह्मणस्पति,-ज्ञान के स्वामी प्रभु का **अर्कैः**=अर्चन साधन मन्त्रों से **नमस्यत**=पूजन करो। 'शुचि बृहस्पति' का पूजन यही है कि 'सदा ज्ञान-प्रधान बनकर, पवित्र जीवनवाला बने रहना-विषयों में न फँसना'। (२) इस प्रकार 'शुचि बृहस्पति' का पूजन करके मैं **अनामि ओजः**=रोग व वासनारूप शत्रुओं से न झुकाए जा सकनेवाले बल को **आचके**=चाहता हूँ। पवित्र ज्ञानस्वरूप प्रभु की उपासना से उपासक भी प्रभु के समान ही पवित्रता व ज्ञान की उस शक्ति को प्राप्त करता है, जिसे काम-क्रोध आदि शत्रु झुका नहीं सकते।

भावार्थ—पवित्र ज्ञानस्वरूप प्रभु की उपासना से हम अदम्य बल प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**बृहस्पति** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'विश्वरूप अदाभ्य' बृहस्पति की उपासना

वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम्। बृहस्पतिं वरेण्यम्॥ ६ ॥

(१) हे मनुष्यो! उस **बृहस्पति**=ज्ञान के पति प्रभु का तुम (नमस्यत) उपासन करो, जो प्रभु **चर्षणीनां बृषभम्**=श्रमशील मनुष्यों के लिए सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **विश्वरूपम्**=इस सम्पूर्ण विश्व को रूप देनेवाले हैं-इसके निर्माता हैं। (२) उस प्रभु का स्तवन करो, जो कि **अदाभ्यम्**=किसी से हिंसित होनेवाले नहीं तथा **वरेण्यम्**=वरण करने योग्य हैं। इन प्रभु के वरण में ही सब दुःखों का अन्त है।

भावार्थ—ज्ञानरूप-प्रभु की उपासना से हम भी मनुष्यों के सुखों का वर्धन करनेवाले, निर्माण के कार्यों को करनेवाले व किसी भी काम-क्रोध आदि शत्रु से हिंसित होनेवाले न होंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'पूषा का आघृणि' बनना

इयं ते पूषन्नाघृणे सुष्टुतिर्देव नव्यसी। अस्माभिस्तुभ्यं शस्यते॥ ७ ॥

(१) प्रभु तो 'पूषा' हैं ही। सूर्य को भी पूषा कहते हैं, यह अपनी किरणों से सर्वत्र प्राण-शक्ति का संचार करता है, यह सर्वतो दीप्यमान होने से 'आघृणि' है। सूर्य अपनी किरणों से (घृणि) चमक रहा है, प्रभु ज्ञान की किरणों से दीप्त हैं। 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'। हे **पूषन्**=सब का पोषण करनेवाले! **आघृणे**=सर्वतः दीप्यमान **देव**=प्रकाशमय व सब व्यवहारों के साधक प्रभो! (दिव्=व्यवहारे) **इयम्**=यह **नव्यसी**=अत्यन्त प्रशस्त **सुष्टुतिः**=उत्तम स्तुति **ते**=आपके लिए है। हम प्रतिदिन आपका स्तवन करते हैं। (२) **अस्माभिः**=हमारे से **तुभ्यम्**=आपके लिए **शस्यते**=सुष्टुति उच्चरित होती है। आपका 'पूषन् आघृणि' रूप में स्मरण करते हुए हम भी 'पूषा व आघृणि' बनने का प्रयत्न करते हैं, शरीर में पुष्ट, मस्तिष्क में दीप्त। वस्तुतः ऐसा बनना ही प्रभु का सच्चा पूजन है।

भावार्थ—प्रभु का पूजन 'पूषा व आघृणि' रूप में करते हुए हम 'शरीर में पुष्ट व मस्तिष्क में दीप्त' बनने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'स्वाध्याय करना' तथा 'बुद्धि का रक्षण'

तां जुषस्व गिरं मम वाजयन्तीमवा धियम्। वधूयुरिव योषणाम्॥ ८ ॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि **मम**=मेरी **ताम्**=उस प्रसिद्ध **गिरम्**=ज्ञानवाणी का **जुषस्व**=तू

प्रीतिपूर्वक सेवन कर। वेदवाणी को प्रेमपूर्वक पढ़नेवाला बन। (२) **वाजयन्तीम्**=तुझे शक्तिशाली बनानेवाली **धियम्**=बुद्धि का **अव**=रक्षण कर। उस बुद्धि को तू धारण कर, जो तुझे शक्ति-सम्पन्न बनाए रखे। इस प्रकार इस बुद्धि का रक्षण कर **इव**=जैसे कि **वधूयुः**=वधू की कामनावाला पुरुष **योषणाम्**=अपनी पत्नी का रक्षण करता है। वस्तुतः यह बुद्धि ही तेरी पत्नी है, इसी में तेरी शक्ति निहित है, यही तुझे बलवान् बनाती है (वाजयन्ती)।

भावार्थ—प्रभु के दो आदेश हैं—(क) वेदवाणी का अध्ययन करना, (ख) बुद्धि का रक्षण करना।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'सर्व पोषक' प्रभु

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पूषाविता भुवत्॥ ९ ॥

(१) **सः**=वे **पूषा**=सब का पोषण करनेवाले प्रभु **नः**=हमारे **अविता**=रक्षण करनेवाले **भुवत्**=हों। वस्तुतः जैसे माता-पिता सन्तानों का रक्षण करते हैं, वैसे ही हम सब के रक्षक प्रभु ही हैं। (२) वे प्रभु हमारा रक्षण करें **यः**=जो **विश्वा भुवना**=सब प्राणियों को **अभिविपश्यति**=आभिमुख्येन देखनेवाले हैं। प्रभु सब का ध्यान करते हैं। **च**=और **संपश्यति**=सम्यक्तया ध्यान करते हैं। प्रभु सबका पालन कर रहे हैं और अत्यन्त अच्छी प्रकार पालन कर रहे हैं। सांसारिक माता-पिता ज्ञान व शक्ति की अल्पता के कारण पालन में कुछ कमी कर जाएँ तो कर जाएँ, पर प्रभु के पालन में कोई कमी नहीं, वे सर्वज्ञ हैं व सर्वशक्तिमान् हैं। सो उनका पालन भी पूर्ण है।

भावार्थ—सर्वपोषक प्रभु के हम पालनीय बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ १० ॥

(१) 'स चासौ सविता तत्सविता' **तत्सवितुः**=उस प्रसिद्ध (व्यापक) प्रेरक व उत्पादक **देवस्य**=सब व्यवहारों के साधक व प्रकाशमय प्रभु के **वरेण्यं भर्गः**=वरणीय तेज को **धीमहि**=हम धारण करें-उस तेज का ही ध्यान करें। प्रकृति के दृष्टिकोण से 'सविता' उत्पादक हैं, जीव के दृष्टिकोण से वे प्रेरक हैं। हृदयस्थरूपेण प्रभु जीव को प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। इसी प्रकार प्रकृति के दृष्टिकोण से 'देव' सब व्यवहारों के साधक व सब क्रीड़ाओं को करनेवाले हैं, जीव के दृष्टिकोण से वे प्रकाशमय हैं-हृदयस्थरूपेण वे ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करा रहे हैं। (२) उस परमेश्वर के तेज को हम धारण करें, **यः**=जो कि **नः धियः**=हमारी बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=प्रकृष्ट प्रेरणा दें। वे प्रभु हमें निरन्तर उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करा रहे हैं। इन प्रेरणाओं के अनुसार चलने से ही हम प्रभु का तेज धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन का लक्ष्य 'प्रभु के तेज का धारण' हो। यह लक्ष्य हमें सदा उत्कृष्ट मार्ग पर चलने की प्रेरणा देगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

बुद्धि के साथ धन

देवस्य सवितुर्वयं वाजयन्तः पुरन्ध्या। भगस्य रातिमीमहे॥ ११ ॥

(१) **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए **वयम्**=हम **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक प्रकाशमय प्रभु की **पुरन्ध्या**=पालक व पूरक बुद्धि के साथ **भगस्य रातिम्**=ऐश्वर्य के दान को

ईमहे=माँगते हैं। (२) प्रभु से जहाँ हम धन की याचना करते हैं, वहाँ पालक बुद्धि की भी प्रार्थना करते हैं। बुद्धि के साथ धन हमारी वृत्तियों की विकृति का कारण नहीं बनता है। अन्यथा यह सम्पत्ति हमें विलास के मार्ग पर ले जाकर हमारी विपत्तियों का कारण बनती है। उस समय हम शक्ति-सम्पन्न बनने के स्थान में क्षीणशक्ति हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें बुद्धि के साथ धन दें। बुद्धि पहले और धन पीछे। इस प्रकार धन ठीक विनियुक्त होकर हमारी शक्ति बढ़ाने का साधन होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'नर, विप्र व धियेषित' बनना

देवं नरः सवितारं विप्रा यज्ञैः सुवृक्तिभिः। नमस्यन्ति धियेषिताः ॥ १२ ॥

(१) **नरः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रणयन करनेवाले, **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले, **धिया इषिताः**=बुद्धि से प्रेरित होनेवाले, अर्थात् सब कार्यों को बुद्धिपूर्वक करनेवाले लोग **सवितारं देवम्**=उस प्रेरक प्रकाशमय प्रभु को **यज्ञैः**=यज्ञों से, लोकहित के लिए किये गये कर्मों से तथा **सुवृक्तिभिः**=उत्तमता से-पापवर्जन द्वारा **नमस्यन्ति**=पूजते हैं। (२) प्रभु के उपासक (क) 'नर' होते हैं-यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रणयन करनेवाले, (ख) ये 'विप्र' होते हैं-अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले-न्यूनताओं को दूर करनेवाले (ग) धियेषिताः=बुद्धि से प्रेरित होनेवाले-बुद्धिपूर्वक कार्यों को करनेवाले। (३) ये प्रभु के उपासक प्रभु की उपासना 'यज्ञों' व 'सुवृक्तियों' द्वारा करते हैं। यज्ञादि उत्तम कर्मों का करना ही प्रभु की उपासना है। 'सुवृक्ति' अर्थात् अच्छी प्रकार पापवर्जन से प्रभु की उपासना होती है।

भावार्थ—हम यज्ञों व पापवर्जन द्वारा प्रभु का उपासन करते हुए आगे बढ़ें, अपनी न्यूनताओं को दूर करें और बुद्धिपूर्वक कर्मों को करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सोम** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षक

सोमो जिगाति गातुविद्देवानामेति निष्कृतम्। ऋतस्य योनिमासदम् ॥ १३ ॥

(१) शरीर में उत्पन्न होनेवाली अन्तिम धातु 'सोम' है। इसका रक्षक पुरुष भी 'सोम' है। यह **सोमः**=सोमरक्षक पुरुष **गातुवित्**=मार्ग को जाननेवाला **जिगाति**=गतिवाला होता है, अर्थात् यह सोम सदा सुमार्ग पर चलता है। यह **देवानाम्**=देवों के **निष्कृतम्**=परिष्कृत स्थान को **प्रति**=प्राप्त करता है, अर्थात् यह अपने घर को देवों का घर बनाता है। (२) इस प्रकार मार्ग पर चलता हुआ व अपने घर को देवगृह बनाता हुआ यह **ऋतस्य योनिम्**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु को **आसदम्**=प्राप्त करने के लिए होता है। प्रभुप्राप्ति का मार्ग यही है कि हम सोमरक्षण द्वारा अपने जीवन को बड़ा परिष्कृत जीवन बनाएँ।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा मार्ग पर चलते हुए-अपना जीवन दिव्य बनाते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सोम** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

आरोग्यप्रद अन्न

सोमो अस्मभ्यं द्विपदे चतुष्पदे च पशवे। अनमीवा इषस्करत् ॥ १४ ॥

(१) **सोमः**=सोम-अत्यन्त शान्त प्रभु **अस्मभ्यं द्विपदे**=हम दो पाँववाले मनुष्यों के लिए

च=और **चतुष्पदे**=चार पाँववाले **पशवे**=पशुओं के लिए **अनमीवाः**=रोगरहित **इषः**=अन्नों को **करत्**=करें। (२) हम प्रभुकृपा से ऐसे अन्नों को प्राप्त करें, जो कि हमारे लिए नीरोगता को देनेवाले हों। हमारे साथ सम्बद्ध इन पशुओं के लिए भी ऐसे ही अन्न हों, ताकि हम उनके नीरोगता को देनेवाले दूध आदि प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—प्रभु हमें नीरोगता के साधक अन्नों को दें। इन अन्नों से ही उत्तम मनवाले बनकर हम सोम प्रभु को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सोम** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

सोमरक्षण के तीन लाभ

अस्माकमायुर्वर्धयन्नभिमातीः सहमानः। सोमः सधस्थमासदत्॥ १५॥

(१) **सोमः**=शरीर में उत्पन्न होनेवाली यह अन्तिम धातु **अस्माकम्**=हमारी **आयुः**=आयु को **वर्धयन्**=बढ़ाता है–रक्षित हुआ–हुआ सोम दीर्घजीवन का कारण बनता है। (२) यह सोम **अभिमातीः**=काम–क्रोध आदि शत्रुओं का **सहमानः**=मर्षण करता है–उन शत्रुओं को कुचलनेवाला होता है। (३) वह **सोमः**=सोम **सधस्थम्**=सब के एक स्थान में स्थित होने के आधारभूत उस प्रभु को **आसदत्**=प्राप्त होता है। प्रभु को 'सध–स्थ' कहते हैं, सारा ब्रह्माण्ड, सारे प्राणी इस प्रभु में एक स्थान में स्थित हैं। सोमरक्षण से ही इस प्रभु की प्राप्ति सम्भव होती है।

भावार्थ—सोमरक्षण से (क) आयु दीर्घ होती है, (ख) काम–क्रोध आदि शत्रु नष्ट होते हैं और (ग) प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

दीप्त ज्ञान+मधुर कर्म

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि सुक्रतू॥ १६॥

(१) 'मित्र' स्नेह का देवता है और 'वरुण' पापनिवारण का। हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण **नः**=हमारी **गव्यूतिम्**=इन्द्रियरूप गौओं के प्रचार क्षेत्र को **घृतैः**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्तियों से **आ उक्षतम्**=समन्तात् सिक्त करिए। हृदय में 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' न हों तथा हृदय पाप की भावना से रहित हो, तो शरीर व मन जहाँ मलों से रहित रहते हैं, वहाँ बुद्धि सूक्ष्म होकर ज्ञान दीप्त हो उठता है। (२) हे **सुक्रतू**=शोभन कर्मोंवाले मित्र वरुणो! आप **रजांसि**=हमारे सब कर्मों को (रजः कर्मणि भारत) **मध्वा**=माधुर्य से सिक्त करिए। हमारे कर्म मधुरता लिए हुए हों। कहीं भी हमारे कर्मों में उग्रता न हो।

भावार्थ—स्नेह व निष्पापता होने पर हमारा ज्ञान दीप्त होता है और हमारे कर्म मधुरता लिये हुए होते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'स्तुति, नम्रता, बल व पवित्रता'

उरुशंसा नमोवृधा मह्ना दक्षस्य राजथः। द्राघिष्ठाभिः शुचिव्रता॥ १७॥

(१) मित्र और वरुण, स्नेह व निष्पापता, **उरुशंसा**=अत्यन्त प्रशंसनीय हैं अथवा बहुत शंसन (प्रभुस्तवन) वाले हैं, **नमोवृधा**=ये नम्रता की भावना बढ़ानेवाले हैं। ये दोनों **दक्षस्य**=बल की **मह्ना**=महिमा से **राजथः**=दीप्त होते हैं, अर्थात् स्नेह व निष्पापता से (क) स्तवन की ओर झुकाव होता है, (ख) नम्रता की भावना बढ़ती है, (ग) बल की वृद्धि होती है। (२) ये मित्र और

वरुण **द्राघिष्ठाभिः**=दीर्घ स्तुति लक्षण वाणियों से युक्त होते हुए **शुचिव्रता**=पवित्र कर्मोंवाले होते हैं।

भावार्थ—स्नेह व निष्पापता का जीवन 'स्तुति, नम्रता, बल व पवित्रता' वाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

ऋत की योनि में

गृणाना जमदग्निना योनावृतस्य सीदतम्। पातं सोममृतावृधा ॥ १८ ॥

(१) हे मित्रावरुणा स्नेह व निष्पापता के देवताओ! आप **जमदग्निना**=दीप्त जाठराग्निवाले से **गृणाना**=स्तुति किये जाते हुए **ऋतस्य यो नौ**=ऋत की योनि में-ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में **सीदतम्**=आसीन होओ। वस्तुतः ईर्ष्या-द्वेष आदि के अभाव में तथा पापवृत्ति के न होने पर शरीर ठीक बना रहता है-जाठराग्नि अपना कार्य ठीक प्रकार से करती है। इस प्रकार यह पूर्ण स्वस्थ पुरुष परमात्मा को पानेवाला बनता है। (२) हे **ऋतावृधा**=ऋत का वर्धन करनेवाले मित्रवरुणो! आप **सोमं पातम्**=सोम का पान करो। मित्रता व निष्पापता मनुष्य को सोमरक्षण के योग्य बनाते हैं। मित्रता व निष्पापता से जीवन में ऋत का वर्धन होता है। यह ऋत (regularity) सोमरक्षण में सहायक होती है।

भावार्थ—मित्रता व निष्पापता सोमरक्षण में सहायक होते हैं और हमें प्रभुप्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

यह सूक्त जितेन्द्रिय बनकर निष्पाप बनने के भाव से प्रारम्भ हुआ था, समाप्ति पर सब के प्रति स्नेहवाला बनकर निष्पाप बनने के लिए प्रेरित कर रहा है। यह निष्पाप व्यक्ति अब चतुर्थ मण्डल के प्रारम्भ में 'अग्नि' नाम से प्रभु का स्मरण करता है।

इति तृतीयं मण्डलम्॥

अथ चतुर्थं मण्डलम्

प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराडतिशक्वरी ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'समन्यु देवों का प्रभु दर्शन'

त्वां ह्यग्ने सदमित्समन्यवो देवासो देवमरतिं न्येरिर इति क्रत्वा न्येरिरे।
अमर्त्यं यजत मर्त्येष्वा देवमादेवं जनत प्रचेतसं विश्वमादेवं जनत प्रचेतसम्॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वां हि**=आप को निश्चय से **सदम् इत्**=सदा ही **समन्यवः**=ज्ञान से युक्त **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **नि एरिरे**=अपने अन्दर प्रेरित करते हैं। **देवम्**=प्रकाशमय **अरतिम्**=संसार में अनासक्त आपको देव अपने अन्दर प्रेरित करते हैं **इति**=इसलिए हम यज्ञशील पुरुष **क्रत्वा**=यज्ञों के द्वारा **न्येरिरे**=आपको अपने अन्दर प्रेरित करने का प्रयत्न करते हैं। (२) हे मनुष्यो! **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **आ-देवम्**=समन्तात् प्रकाश को करनेवाले **अमर्त्यम्**=उस अमरणधर्मा प्रभु को **यजत**=तुम पूजनेवाले बनो। **आदेवम्**=उस समन्तात् दीप्तिवाले **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभु को **जनत**=ध्यान आदि के द्वारा अपने अन्दर आभिर्भूत करो। **विश्वम्**=उस सर्वत्र प्रविष्ट-सर्वव्यापक **आदेवम्**=सर्वतो दीप्तिमान् **प्रचेतसम्**=प्रकर्षेण चेतानेवाले प्रभु को **जनत**=अपने हृदयों में आविर्भूत करो।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रकाश को अपने हृदयों में अनुभव करने का प्रयत्न करें। इसके लिये 'स्वाध्याय की प्रवृत्तिवाले देव' बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निर्वा वरुणश्च ॥ छन्दः—अतिजगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

प्रभुप्राप्ति के पात्र

स भ्रातरं वरुणमग्न आ ववृत्स्व देवाँ अच्छा सुमती यज्ञवनसं ज्येष्ठं यज्ञवनसम्।
ऋतावानमादित्यं चर्षणीधृतं राजानं चर्षणीधृतम् ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सः**=वे आप **आववृत्स्व**=आभिमुख्येन प्राप्त हों। उस व्यक्ति को प्राप्त हों जो कि **भ्रातरम्**=अपने कर्त्तव्यभार को सम्यक् उठाता है (विभर्ति)। **वरुणम्**=जो यथाशक्ति अपने को पाप से बचाता है (पापात् निवारयति)। **सुमती**=कल्याणीमति के द्वारा **देवान् अच्छा**=दिव्यगुणों की ओर चलता है। **यज्ञवनसम्**=जो यज्ञों का सेवन करता है। **ज्येष्ठम्**=जो सर्वोत्तम (the most generous) दाता है, ऊर्ध्वादिक् का अधिमति बृहस्पति बनता है और **यज्ञवनसम्**=यज्ञ का सेवन करनेवाला होता है, देवों का पूजन करनेवाला होता है। (२) हे प्रभो! आप उस व्यक्ति को प्राप्त होते हो जो कि **ऋतावानम्**=जीवन में ऋत का पालन करता है, सब कार्यों को ठीक समय पर करता है। **आदित्यम्**=आदान की वृत्तिवाला होता है, सब स्थानों से अच्छाइयों का ग्रहण करता है। **चर्षणीधृतम्**=मनुष्यों का धारण करता है, अर्थात् सदा धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। **राजानम्**=ज्ञान से दीप्त होता है (राजृ दीप्तौ) अथवा अपना शासक बनता

है, इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अपने अधीन करता है और **चर्षणीधृतम्**=सब का धारण करनेवाला होता है 'सर्वभूतहिते रतः'।

भावार्थ—प्रभु उस व्यक्ति को प्राप्त होते हैं जो कि (क) कर्तव्यभार का वहन करता है, (ख) पाप से अपने को बचाता है, (ग) कल्याणीमति के द्वारा दिव्यगुणों की ओर चलता है, (घ) यज्ञों का सेवन करनेवाला होता है, (ङ) सर्वोत्तम बनने का प्रयत्न करता है, (च) व्यवस्थित जीवनवाला होता है, (छ) अच्छाइयों का ग्रहण करता है, (ज) मनुष्यों का धारण करनेवाला होता है, (झ) ज्ञानदीप्त व अपना शासक बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्वा वरुणश्च॥ छन्दः—अष्टि॥ स्वरः—मध्यमः॥

'वरुण-मरुत् व विश्वभानु' का आनन्द

सखे सखायमभ्या ववृत्स्वाशुं न चक्रं रथ्येव रंह्यास्मभ्यं दस्म रंह्या।
अग्ने मृळीकं वरुणे सचा विदो मरुत्सु विश्वभानुषु।
तोकाय तुजे शुशुचान शं कृध्यस्मभ्यं दस्म शं कृधि॥ ३॥

(१) हे **सखे**=सबके मित्र प्रभो! **न**=जैसे **आशुं चक्रम्**=शीघ्रगामी रथ को **रंह्या**=तीव्र गति में उत्तम अश्व लक्ष्य देश की ओर प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार **सखायं अभि**=मुझ मित्र की ओर **आववृत्स्व**=आवृत्त होइये। हे **दस्म**=सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **रंह्या**=गति में उत्तम इन्द्रियाश्वों को (आववृत्स्व) प्राप्त कराइये। (२) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वरुणे**=पाप से निवारण करनेवाले में **सचा**=समवेत होकर रहनेवाले **मृडीकम्**=सुख को **विदः**=प्राप्त कराइये। मुझे वह सुख प्राप्त कराइये, जो कि निष्पाप व्यक्ति के जीवन में (वरुण में) होता है। जो सुख **मरुत्सु**=प्राणसाधकों में होता है तथा **विश्वभानुषु**=व्यापक ज्ञान दीप्तिवालों में होता है, उस सुख को हमें प्राप्त कराइये। (२) हे **शुशुचान**=अत्यन्त दीप्त व पवित्र प्रभो! **तोकाय**=हमारे सन्तानों के लिये **तुजे**=पौत्रों के लिये **शंकृधि**=शान्ति को करिये। उनके जीवन नीरोगता आदि के कारण सुखी हों, हे **दस्म**=दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्रभो! **अस्यभ्यम्**=हमारे लिये **शं कृधि**=शान्ति को करिये।

भावार्थ—हमें प्रभु की प्राप्ति हो। प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करायें। हमें वह सुख प्राप्त हो जो कि निष्पाप जीवनवाले को, प्राणसाधक को तथा व्यापक ज्ञानदीप्तिवाले को प्राप्त होता है। हमारे सन्तानों व हमारे लिये शान्ति को प्राप्त कराइये।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्वा वरुणश्च॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वरुण देव के निरादर का अपगमन

त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विद्वान्**=सर्वज्ञ आप **वरुणस्य देवस्य**=पाप निवारक देव सम्बन्धी **नः**=हमारे **हेडः**=अनादर के भाव को **अवयासिसीष्ठाः**=पृथक् करिये। हम पापनिवारक देव के पूजन को करते हुए निष्पाप बनने का प्रयत्न करें (२) **यजिष्ठः**=हे प्रभो! आप पूज्यतम हो, **वह्नितमः**=हमारे सब कार्यों का वहन करनेवाले आप ही हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। **शोशुचानः**=आप ज्ञानदीप्त हैं, पवित्र हैं। आप **अस्मत्**=हमारे से भी **विश्वा**=सब **द्वेषांसि**=द्वेष की भावनाओं को **प्रमुमुग्धि**=प्रकर्षेण पृथक् करिये। ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध से ऊपर उठकर हम निष्पाप

जीवनवाले बनें। निष्पाप जीवनवाला बनना ही 'वरुण देव का पूजन' है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम पाप निवारक देव का अनादर न करें। ईर्ष्या-द्वेष से दूर रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु की समीपता

स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ।
अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **स त्वम्**=वह आप **नः**=हमारे **अवमः**=अन्तिकतम **भव**=हों, हमारे अत्यन्त समीप होइये। **ऊती**=रक्षण के द्वारा, **अस्याः उषसः व्युष्टौ**=इस उषा के उदित होने पर **नेदिष्ठः**=अत्यन्त समीप होइये। (२) **नः**=हमारे लिये **वरुणम्**=पापनिवारण को **रराणः**=देते हुए आप **अवयक्ष्व**=सब पापों को हमारे से पृथक् करिये। **मृडीकम्**=सुख को **वीहि**=प्राप्त कराइये। **नः**=हमारे लिये **सुहवः**=सुगमता से पुकारने योग्य **एधि**=होइये। हम सुगमता से आपका आराधन कर सकें, आपके समीप उपस्थित होकर जहाँ सुखों का याचन कर सकें वहाँ आपकी उपासना में निष्पाप भी बने रहें।

भावार्थ—प्रभु के हम समीप हों ताकि सदा निष्पाप व सुखी जीवनवाले बने रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'सुभग देव' की चित्रतमा संदृग्

अस्य श्रेष्ठा सुभगस्य सन्दृग्देवस्य चित्रतमा मर्त्येषु।
शुचि घृतं न तप्तमघ्न्यायाः स्पार्हा देवस्य मंहनेव धेनोः ॥ ६ ॥

(१) **अस्य**=इस **सुभगस्य**=उत्तम ऐश्वर्यवाले **देवस्य**=प्रकाशमय प्रभु की **संदृक्**=दृष्टि **श्रेष्ठा**=सर्वोत्तम है यह **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **चित्रतमा**=अद्भुत ज्ञान को देनेवाली है (चित्+र)। प्रभु की कृपादृष्टि होने पर हमारा जीवन श्रेष्ठ व प्रकाशमय बनता है। (२) इसलिए **देवस्य**=उस प्रकाशमय प्रभु की दृष्टि इस प्रकार **स्पार्हा**=स्पृहणीय (चाहने योग्य) है, **न**=जैसे कि **अध्यायाः**=अहन्तव्या गौ का **तप्तम्**=तपाया हुआ **शुचि**=पवित्र **घृतम्**=घृत स्पृहणीय होता है। अथवा **इव**=जैसे **धेनोः**=गौ के **मंहना**=दुग्ध के दान स्पृहणीय होते हैं वस्तुतः गोघृत व गोदुग्ध अमृत के समान है। उसी प्रकार प्रभु की दृष्टि हमें अमर बनानेवाली है। इस दृष्टि के होने पर हमारा जीवन भी 'सुभग व देवत्ववाला' होता है।

भावार्थ—प्रभु की दृष्टि हमें अद्भुत ज्ञान प्राप्त कराती है। वह तपे हुए परिशुद्ध गोघृत के समान है, धेनु के दुग्ध दान के समान है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रिविध ज्ञान

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः ॥ ७ ॥

(१) **अस्य देवस्य**=इस प्रकाशमय **अग्नेः**=अग्रणी प्रभु के **ता**=वे **परमा**=सर्वोत्कृष्ट या 'परः मीयते यैः' प्रभु का ज्ञान देनेवाले **त्रिः**=तीन 'ऋग्-यजु-साम' रूप **सत्या**=सत्य **स्पार्हा**=स्पृहणीय **जनिमानि**=प्रादुर्भाव हैं। हृदय में स्थित हुए-हुए वे प्रकाशमय प्रभु 'ऋग्-यजु-साम' रूप वाणियों

का प्रकाश करते हैं। ये ज्ञान सत्य हैं, उत्कृष्ट हैं। अन्ततः प्रभु का ज्ञान देनेवाले हैं, प्रभु के साक्षात्कार में सहायक हैं। इन ज्ञानों के देनेवाले प्रभु देव हैं, प्रकाशमय हैं, अग्नि हैं, अग्रणी हैं। हमें भी इन ज्ञानों के द्वारा वे 'देव व अग्नि' बनाते हैं। (२) **अनन्ते अन्तः परिवीतः**=इस अनन्त ज्ञान में संवृत हुआ-हुआ, अर्थात् जिसने इस अनन्त ज्ञान को अपना वस्त्र बनाया है, वह व्यक्ति **आगत्**=समन्तात् क्रियाशील होता है **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला होता है, **शुक्रः**=ज्ञान से दीप्त होता है, **अर्यः**=अपना स्वामी बनता है, **रोरुचानः**=तेजस्विता के कारण खूब दीप्त होता है। प्रभु का दिया हुआ ज्ञान जब हमारा आच्छादन बनता है, तब हम शरीर में तेजस्वी, मन में पवित्र तथा बुद्धि में ज्ञानदीप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का तीन प्रकार का ज्ञान हमें त्रिविध उन्नति को प्राप्त कराके प्रभु के समीप प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

रमणीय जीवन

स दूतो विश्वेदभि वष्टि सद्मा होता हिरण्यरथो रंसुजिह्वः।
रोहिदश्वो वपुष्यो विभावा सदा रण्वः पितुमतीव संसत् ॥ ८ ॥

(१) **सः**=वह **दूतः**=ज्ञान-सन्देश को देनेवाला प्रभु **विश्वा इत्**=सब ही **सद्मा**=गृहों को **अभिवष्टि**=चाहता है, अर्थात् 'प्रभु किसी घर को प्यार करें, किसी को नहीं' ऐसी बात नहीं है। यह ठीक है कि उस प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान को कोई सुनता है और कोई नहीं। (२) जो सुनता है, वह **होता**=दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाला बनता है। **हिरण्यरथः**=ज्योतिर्मय रथवाला होता है। **रंसुजिह्वः**=रमणीय जिह्वावाला होता है, सदा मधुर शब्द बोलता है। यह व्यक्ति **रोहिदश्वः**=प्रवृद्ध शक्तिवाले इन्द्रियाश्वोंवाला होता है। **वपुष्यः**=उत्तम शरीरवाला, **विभावा**=विशिष्ट ज्ञान दीप्तिवाला सदा **रण्वः**=यह सदा रमणीय होता है। इस प्रकार रमणीय जीवनवाला होता है **इव**=जैसे कि **पितुमती**=अन्नवाला **संसत्**=घर। अन्न से परिपूर्ण गृह सदा सुन्दर लगता है। इसी प्रकार इसका जीवन भी सदा सुन्दर होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें प्यार करते हुए वेदज्ञान देते हैं। यदि इस ज्ञान को हम सुनते हैं तो हमारा जीवन अत्यन्त रमणीय बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स-धनित्व

स चेतयन्मनुषो यज्ञबन्धुः प्र तं मह्या रशनया नयन्ति।
स क्षेत्यस्य दुर्यासु साधन्देवो मर्तस्य सधनित्वमाप ॥ ९ ॥

(१) **सः**=वह **मनुषः**=मनुष्यों को **चेतयत्**=चेतना प्राप्त कराता है, ज्ञान देता है। **यज्ञबन्धुः**=वे प्रभु यज्ञों के द्वारा हृदय देश में बद्ध होते हैं, अर्थात् यज्ञशील पुरुष प्रभु को हृदय में देखनेवाले बनते हैं। **तम्**=उस प्रभु को **मह्या**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **रशनया**=मेखला से, कटिबद्धता से, दृढ़-निश्चय से **प्र नयन्ति**=प्राप्त कराते हैं। प्रभुप्राप्ति के लिये तीव्रतम कामनावाला पुरुष ही प्रभु को प्राप्त करता है। (२) **सः देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **साधन्**=इसके प्रयत्नों को सफल करते हुए **अस्य दुर्यासु**=इसके शरीर रूप गृहों में **क्षेति**=निवास करते हैं। वस्तुतः उस अन्तःस्थित प्रभु की कृपा से ही सब पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। ये प्रभु इस **मर्तस्य**=उपासक प्रभु के **सधनित्वम्**=साथ धनित्व

को **आप**=प्राप्त करते हैं, अर्थात् इस उपासक को भी वे ऐश्वर्यशाली बना देते हैं।

भावार्थ—दृढ़ कामना के होने पर प्रभु अवश्य प्राप्त होते हैं। यज्ञों के द्वारा वे उपासित होते हैं और ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। उपासक प्रभु के सधनित्य को प्राप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवों से सेवनीय रत्न

स तू नो अग्निर्नयतु प्रजानन्नच्छा रत्नं देवभक्तं यदस्य।
धिया यद्विश्वे अमृता अकृण्वन्द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन्॥ १०॥

(१) **सः**=वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तु**=निश्चय से **नः**=हमें **प्रजानन्**=प्रकर्षेण जानता हुआ **रत्नं अच्छा**=उस रत्न की ओर **नयतु**=ले चले **यद्**=जो **अस्य**=इसका **देवभक्तम्**=देवों से सम्भजनीय रत्न है। शरीर में सप्त धातुएँ ही 'सप्त रत्न' कहलाती हैं। विशेषकर अन्तिम धातु 'वीर्य' तो मणि नाम से ही प्रसिद्ध है। देव लोग इसे अपने अन्दर सुरक्षित रखते हैं। प्रभु कृपा से हम भी इसे अपने अन्दर सुरक्षित करनेवाले हों। (२) **यद्**=जिस रत्न को **विश्वे**=सब **अमृताः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले लोग **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **अकृण्वन्**=अपने अन्दर सम्पादित करते हैं। ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहना ही उस रत्न के सम्पादन का साधन बनता है। इन कर्मों में प्रवृत्ति मनुष्य को वासनाओं के आक्रमण से बचाती है और उसे इस रत्न (वीर्य) की रक्षा के योग्य करती है। (३) **द्यौः**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त **पिता**=पिता व **जनिता**=माता (जनित्री) **सत्यम्**=इस सत्ता के कारणभूत सोमरूप रत्न को (वीर्य को) **उक्षन्**=शरीर में ही सिक्त करते हैं। माता-पिता जितना इस रत्न का रक्षण करते हैं, उतना ही उनके सन्तानों में भी इस रत्न के रक्षण का सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम देवों से सेवनीय वीर्यरूप रत्न को शरीर में ही सुरक्षित करें। ज्ञानी माता-पिता इस सत्य रत्न का अपने शरीरों में ही सेचन करते हुए सन्तानों को भी इसके रक्षण की प्रवृत्तिवाला बनायें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अनाद्यनन्त प्रभुरूप नीड

स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्तायोयुवानो वृषभस्य नीळे॥ ११॥

(१) **सः**=वे प्रभु **प्रथमः**=अत्यन्त विस्तृत हैं, सर्वव्यापक हैं। **पस्त्यासु जायत**=सब प्रजाओं में उनका प्रादुर्भाव है। वे **महः रजसः**=इस महान् लोक समूह के **बुध्ने**=मूल में हैं, **अस्य**=इस लोक समूह का **योनौ**=योनि (उत्पत्ति-स्थान), प्रकृति में भी वे विद्यमान हैं। चराचर जगत् के अन्दर वे व्यापक हैं। (२) **अपात्**=वे पाँववाले नहीं। पाँव, अर्थात् अन्त, उस प्रभु का कोई अन्त नहीं। **अशीर्षा**=वे सिरवाले नहीं। सिर, अर्थात् आदि, उस प्रभु का कोई आदि नहीं। वे प्रभु अनन्त और अनादि हैं। **अन्ता गुहमानः**=इस संसार के आदि अन्त को अपने में संवृत कर रहे हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के एक देश में ही तो है। वे प्रभु वृषभ हैं, सब पर सुखों का वर्षण करनेवाले व अनन्त शक्ति-सम्पन्न हैं उस **वृषभस्य**=शक्ति सम्पन्न अपने **नीडे**=घोंसले में **आयोयुवानः**=सब लोकों को परस्पर संबद्ध कर रहे हैं। सारे लोक उस प्रभुरूप नीड में ही निवास कर रहे हैं। वे प्रभु ब्रह्माण्ड के एक नीड हैं। हम सब का घर वे प्रभु ही हैं। एवं वे प्रभु हम सब के बन्धु हैं।

प्रभु भक्त इस बन्धुत्व का अनुभव करता है।

भावार्थ—प्रभु सब लोक-लोकान्तरों के मूल हैं। वे अनादि अनन्त प्रभु सब लोकों को अपने में समाये हुए हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वपुष्यः विभावा'

प्र शर्ध आर्त प्रथमं विपन्याँ ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे।
स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्त प्रियासोऽजनयन्त वृष्णे ॥ १२ ॥

(१) **ऋतस्य योना**=ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में, **वृषभस्य नीडे**=उस शक्तिशाली सुखवर्षक प्रभु के घोंसले में उपासक **विपन्या**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा **प्रथमं शर्धः**=उत्कृष्ट बल को **प्र आर्त**=प्रकर्षेण प्राप्त करता है। वस्तुतः जब एक उपासक प्रभु को ऋत के उत्पत्ति-स्थान के रूप में स्मरण करता है, तो वह ऋत के अनुसार ही आचरण करनेवाला बनता है, सब क्रियाओं को बड़ी नियमितता के साथ करता है। प्रभु को 'वृषभ' के रूप में सोचता हुआ स्वयं भी शक्तिशाली व औरों पर सुख वर्षण करनेवाला बनने के लिये यत्नशील होता है। इस प्रकार जीवन की साधना करता हुआ यह प्रकृष्ट बल को प्राप्त करता है। (२) **स्पार्हः युवा**=यह स्पृहणीय युवक बनता है। सब बुराइयों को अपने से दूर करता हुआ और अच्छाइयों को अपने से मिलाता हुआ यह युवा सचमुच स्पृहणीय जीवनवाला होता है। **वपुष्यः**=उत्तम शरीरवाला व **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाला बनता है। देखने योग्य सुन्दर सशक्त शरीरवाला होता है और मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से द्योतित किये हुए होता है। (२) इसके **सप्त**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=सातों कान आदि इन्द्रियरूप होता **वृष्णे**=उस शक्तिशाली सुख वर्षक प्रभु के लिये **अजनयन्त**=स्तोत्रों को प्रादुर्भूत करते हैं। इसके सातों कान आदि उस प्रभु का स्तवन करते हैं। यह सब इन्द्रियों से प्रभु की स्तुति करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करते हुए हम 'सुन्दर सशक्त शरीर' वाले तथा दीप्त मस्तिष्कवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पितरो मनुष्याः

अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभि प्र सेदुर्ऋतमाशुषाणाः।
अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरुदुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥ १३ ॥

(१) **अत्र**=यहाँ संसार में **अस्माकम्**=हमारे में से **पितरः**=पालनात्मक कर्मों को करनेवाले **मनुष्याः**=विचारशील लोग **ऋतं आशुषाणाः**=यज्ञ को व ऋत को अपने में व्याप्त करते हुए **अभिप्रसेदुः**=उस प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं (प्रसद्=moving towards)। प्रभुप्राप्ति का मार्ग यही है कि हम (क) यज्ञात्मक कर्मों को करें, तथा (ख) सब क्रियाओं को ठीक समय व स्थान पर, ऋत के अनुसार, करनेवाले हों। (२) ये 'पितर मनुष्य' **उस्राः**=ज्ञान की रश्मियों को **उद् आजन्**=बाहिर प्रेरित करते हैं, अर्थात् उन ज्ञान रश्मियों का प्रादुर्भाव करते हैं, जो कि **अश्मव्रजाः**=इस पाषाण तुल्य दृढ़ शरीर रूप बाड़ेवाली हैं, **सुदुघाः**=उत्तम ज्ञानदुग्ध का पूरण करनेवाली हैं, तथा **वव्रे अन्तः**=(वृणोति आच्छादयति) आत्मा को अपने में आच्छादित करनेवाले हृदय के अन्दर स्थित हैं। हृदय के अन्दर सब ज्ञानरश्मियाँ वर्तमान हैं। इन ज्ञान रश्मियों को 'गौ'

कहें तो यह पाषाण तुल्य शरीर ही इनका बाड़ा है। यह उत्तम ज्ञानदुग्ध का दोहन करती हैं। ये 'पितर मनुष्य' इन ज्ञान रश्मियों के प्रादुर्भाव के लिये ही **उषसः हुवानाः**=उषाकालों में प्रभु को पुकारनेवाले होते हैं, उषाकालों में प्रभु का स्मरण करते हैं।

भावार्थ—हम ऋत का सेवन करते हुए प्रभु की ओर चलें। प्रातः प्रभु का आह्वान करते हुए ज्ञान रश्मियों को अपने में प्रादुर्भूत करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अद्रिं दद्वांसः

ते मर्मृजत दद्वांसो अद्रिं तदेषामन्ये अभितो वि वोचन्।
पश्वयन्त्रासो अभि कारमर्चन्विदन्त ज्योतिश्चकृपन्त धीभिः॥ १४॥

(१) **ते**=वे गतमन्त्र में वर्णित 'पितर मनुष्य' **अद्रिम्**=अविद्या पर्वत को **दद्वांसः**=विदीर्ण करते हुए **मर्मृजत**=अपने जीवन का शोधन करते हैं। **एषाम्**=इन विद्या के प्रकाश के द्वारा अविद्यान्धकार के पर्वत को छिन्न-भिन्न करनेवाले मनुष्यों के **तद्**=उस अविद्या-पर्वत भेदन व जीवन शोधन के कार्य को **अन्ये**=अन्य लोग **अभितः**=चारों ओर **विवोचन्**=प्रशंसित करते हैं। इनके इस कार्य की सब ओर प्रशंसात्मक शब्दों में चर्चा होती है। (२) 'कामः पशुः, क्रोधः पशुः' इन उपनिषद् शब्दों के अनुसार 'काम-क्रोध' पशु हैं। **पश्वयन्त्रासः**=इन काम-क्रोध से वशीभूत न किये जानेवाले 'पितर मनुष्य' **कारम्**=उस सृष्टिकर्ता प्रभु की **अभि अर्चन्**=दिन के दोनों ओर प्रातः-सायं अर्चना करते हैं। वस्तुतः यह प्रभु स्मरण ही इन्हें काम-क्रोध के वशीभूत नहीं होने देता। (३) इस प्रकार प्रभु स्मरण को करते हुए ये **ज्योतिः विदन्त**=ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करते हैं। **च**=और **धीभिः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **चकृपन्त**=(कृपू सामर्थ्ये) अपने को सामर्थ्य सम्पन्न (शक्तिशाली) बनाते हैं।

भावार्थ—अज्ञान-पर्वत का विदारण करके जीवन का शोधन करनेवाले लोग प्रभु स्मरण करते हुए और काम-क्रोध के वशीभूत न होते हुए, ज्योति को प्राप्त करते हैं और ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा शक्तिशाली बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

गोमान् व्रज का उद्घाटन

ते गव्यता मनसा दृध्रमुब्धं गा येमानं परि षन्तमद्रिम्।
दृळ्हं नरो वचसा दैव्येन व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः॥ १५॥

(१) **ते**=वे गतमन्त्र में वर्णित 'अद्रिं दद्वांसः' अविद्या-पर्वत का विदारण करनेवाले **नरः**=लोग **गव्यता मनसा**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने की कामनावाले मन से तथा **दैव्येन वचसा**=सृष्टि के प्रारम्भ में देव द्वारा दिये गये इन वेदवचनों से, **उशिजः**=ज्ञान प्राप्ति की कामना करते हुए **गोमन्तं व्रजम्**=प्रशस्त ज्ञानवाणी रूप गौवोंवाले बाड़े को **विवव्रुः**=खोल डालते हैं (उद्घाटितवन्तः)। इस बाड़े को खोलकर वे इन ज्ञानवाणी रूप गौवों को प्राप्त करते हैं, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि (क) ज्ञान प्राप्ति की कामना हो, (ख) वेदवाणी की ओर (प्रभु की वाणी की ओर) हमारा झुकाव हो। (२) ज्ञान-वाणीरूप गौओं को आवृत कर लेनेवाला यह बाड़ा **दृध्रम्**=गौवों के निर्गमन द्वार का निरोधक है, **उब्धं**=(सं हतं) बड़ा संहत है (large enclave), **गाः येमानम्**=ज्ञान वाणी रूप गौओं को अन्दर रोके हुए है, **परिषन्तम्**=यह चारों ओर है, सब मनुष्यों

में यह इन गौवों के निरोध के कार्य को कर रहा है, **अद्रिम्**=(अ दृ) इसका विदारण बड़ा कठिन है, **दृढम्**=ये बड़ा मजबूत है (उशिक् इसका विदारण करके उन गौवों को प्राप्त करते हैं। इन्हें ही ज्ञान रश्मियों की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्ति की प्रबल कामना के होने पर ज्ञान रश्मियों के आवरणभूत वासना पर्वत का विदारण करके मेधावी लोग ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रथम नाम (ओ३म्) का मनन

ते मन्वत प्रथमं नाम धेनोस्त्रिः सप्त मातुः परमाणि विन्दन्।
तज्जानतीरभ्यनूषत व्रा आविर्भुवदरुणीर्यशसा गोः॥ १६॥

(१) **ते**=गतमन्त्र में वर्णित अविद्या पर्वत के विदारण करनेवाले लोग, ज्ञानरूपी गौओं के बाड़े को खोलनेवाले लोग, **धेनोः**=इस ज्ञानदुग्ध से प्रीणित करनेवाली वेदवाणी रूप गौ के **प्रथमं नाम**=सर्वमुख्य नाम (=शब्द) 'ओ३म्' का **मन्वत**=अपने हृदयों में मनन करते हैं। वे इस **मातुः**=वेदमाता के **त्रिः सप्त**=इक्कीस **परमाणि**=(परः मीयते यैः) प्रभु का ज्ञान देनेवाले गायत्र्यादि द्वन्द्वों को **विन्दन्**=प्राप्त करते हैं। (२) ऐसा होने पर **तत्**=उस प्रभु को **जानतीः**=जानंती हुईं **व्राः**=प्रभु का वरण व सम्भजन (वृ-वरणे, वृङ् संभक्तौ) करनेवाली प्रजाएँ **अभि अनूषत**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में उसका स्तवन करती हैं। इस स्तवन के परिणामस्वरूप **गोः यशसा**=वेदवाणी रूप गौ की महिमा से **अरुणीः**=ज्ञान प्रकाश रूप उषा **आविर्भुवत्**=प्रादुर्भूत होती है। प्रभु का स्तवन करने से निर्मल हृदय में ज्ञान का प्रकाश चमक उठता है।

भावार्थ—वेदवाणी के सारभूत 'ओ३म्' शब्द का हम जप व अर्थभावन करें। वेद के द्वन्द्वों को समझें। प्रभु स्तवन करते हुए निर्मल हृदय में ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सूर्योदय व पापपलायन

नेशत्तमो दुधितं रोचत द्यौरुद्देव्या उषसो भानुरर्त।
आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठदज्राँ ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्॥ १७॥

(१) उषा से **दुधितम्**=प्रेरित हुआ-हुआ धकेला हुआ **तमः**=रात्रि का अन्धकार **नेशत्**=नष्ट हुआ है। **द्यौः**=द्युलोक **रोचत**=चमक उठा है। **देव्याः**=प्रकाशमयी **उषसः**=उषा का **भानुः**=प्रकाश **अर्त**=उद्गत हुआ है। (२) अब **सूर्यः**=सूर्य **बृहतः**=विशाल **अज्रान्**=(areas) क्षेत्रों में **आतिष्ठत्**=स्थित हुआ है, सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैल गया है। यह सूर्य **मर्तेषु**=मनुष्यों में **ऋजु**=सरलता को **च**=और **वृजिना**=कुटिलताओं व पापों को **पश्यन्**=देख रहा है। रात्रि के अन्धकार में तो पाप छिप सकते हैं। परन्तु सूर्य के प्रकाश में इनके छिपने का सम्भव नहीं। हमारे जीवनों में भी ज्ञान सूर्य का उदय होने पर सब पाप वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं।

भावार्थ—उषा आती है, अन्धकार दूर होता है। सूर्योदय के साथ सर्वत्र प्रकाश हो जाता है, कुटिलताएँ भी रात्रि के अन्धकार के साथ ही चली जाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रत्याहार

आदित्पश्चा बुबुधाना व्यख्यन्नादिद्रत्नं धारयन्त द्युभक्तम्।
विश्वे विश्वासु दुर्यासु देवा मित्र धिये वरुण सत्यमस्तु॥ १८॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जीवन में ज्ञान सूर्य का उदय होने पर **बुबुधानाः**=ये ज्ञानी लोग **आत् इत्**=शीघ्र ही **पश्चा व्यख्यन्**=पीछे की ओर देखते हैं, इन्द्रियों को प्रत्याहृत करके अन्तर्मुखी वृत्तिवाले होते हैं। वस्तुतः यह प्रत्याहार ही इनके जीवनों को उत्तम बनाता है। **आत् इत्**=इस प्रत्याहार के बाद ये ज्ञानी पुरुष **द्युभक्तम्**=दीप्ति से युक्त **रत्नम्**=रत्न को **धारयन्त**=धारण करते हैं। शरीर में सोम-वीर्य ही दीप्तियुक्त रत्न है। इस रत्न के धारण से जहाँ शरीर तेजस्वी बनता है वहाँ मस्तिष्क दीप्तिमय होता है। इसीलिए इस रत्न को 'द्युभक्त' कहा गया है। (२) इनके **विश्वासु**=(सर्वांसु in totality स्वस्थ) सब अंग-प्रत्यंगों की शक्ति से युक्त स्वस्थ **दुर्यासु**=शरीर रूप गृहों में **विश्वे देवाः**=सब देव अपने-अपने स्थान में स्थित होते हैं 'सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते'। हे **मित्र**=रोगों व पापों से बचानेवाले (प्रमीतेः त्रायते) **वरुण**=द्वेषों के निवारक प्रभो! इस **धिये**=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले पुरुष के लिये **सत्यं अस्तु**=सत्य हो। इसका जीवन सत्यमय बने और यह सत्य प्रभु को प्राप्त करनेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रत्याहार की वृत्तिवाले बनकर शरीर में सोम का रक्षण करें। हमारा शरीर सब देवों का अधिष्ठान हो। ज्ञान पूर्वक कर्मों को करते हुए हम 'सत्य' प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अंशोः परिषिक्तम्

अच्छा वोचेय शुशुचानमग्निं होतारं विश्वभरसं यजिष्ठम्।
शुच्यूधो अतृणन्न गवामन्धो न पूतं परिषिक्तमंशोः॥ १९॥

(१) मैं **अच्छा वोचेय**=उस प्रभु का लक्ष्य करके स्तुति-वचनों का उच्चारण करूँ। जो प्रभु **शुशुचनम्**=मेरे जीवन को पवित्र करनेवाले हैं, **अग्निम्**=मुझे आगे ले चलनेवाले हैं, **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले हैं, **विश्वभरसम्**=सारे ब्रह्माण्ड का भरण करनेवाले हैं। **यजिष्ठम्**=पूज्यतम हैं। (२) वे प्रभु **गवाम्**=गौवों के **शुचिः ऊधः**=पवित्र ऊधस् के समान हैं। जैसे यह ऊधस् दूध को देकर हमारा पोषण करता है, उसी प्रकार प्रभु ज्ञानदुग्ध के द्वारा हमारा पोषण करते हैं। **न अतृणत्**=हमारा संहार नहीं करते। **पूतं अन्धः न**=वे प्रभु पवित्र सोम के समान हैं। जिस प्रकार वासना के उबाल से शून्य-पवित्र-सोम शरीर का रक्षण करता है, उसी प्रकार ये प्रभु हमारे शरीरों का रक्षण करनेवाले हैं। वे प्रभु **अंशोः**=ज्ञान किरणों का **परिषिक्तम्**=परितः सेचन ही हैं, अर्थात् जब हम हृदयों में प्रभु का स्मरण करते हैं, तब हमारा अन्तस्तल ज्ञान रश्मियों से प्रकाशित हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु का हम स्मरण करें। हमारा अन्तस्तल ज्ञानरश्मियों से प्रकाशित हो उठता है, और सोमरक्षण द्वारा शरीर नीरोग व सुरक्षित बना रहता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अदितिः-अतिथिः

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृळीको भवतु जातवेदाः ॥ २० ॥

(१) वे प्रभु **विश्वेषाम्**=सब **यज्ञियानाम्**=यज्ञशील पुरुषों के **अदितिः**=न खण्डन होने देनेवाले हैं। **विश्वेषाम्**=सब **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों के **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। (२) ये **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **देवानां अवः**=सब देवों के रक्षण को **आवृणानः**=(वृ संभक्तौ) सम्भक्त करनेवाले, प्राप्त करानेवाले हैं। **जातवेदाः**=ये सर्वज्ञ प्रभु **सुमृडीकः**=उत्तम सुख को देनेवाले **भवतु**=हों।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम स्वस्थ हों। विचारशील बनकर प्रभु को प्राप्त हों। देव बनकर प्रभु से रक्षणीय हों तथा उस प्रभु से सुख को प्राप्त हों।

यह सम्पूर्ण सूक्त प्रभुप्राप्ति के साधनों व फलों का उल्लेख करता हुआ हमें प्रभु प्रवण बनाता है। प्रभु प्रवण होते हुए हम 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाले बनते हैं। यही भाव अगले सूक्त का भी है—

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

मर्त्येषु अमृतः

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै ॥ १ ॥

(१) **यः**=जो **मर्त्येषु अमृतः**=मरणधर्मा प्राणियों में व वस्तुओं में अमर हैं, **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाले हैं, **देवः**=प्रकाशमय हैं, **अरतिः**=(ऋ गतौ) निरन्तर गतिशील हैं व (अ रतिः) कहीं भी सक्त नहीं हैं 'असक्तं सर्वभृद्वैव', वह प्रभु **देवेषु**=देव वृत्ति के पुरुषों मे **निधायि**=निहित होते हैं। (२) **होता**=वे प्रभु सब कुछ देनेवाले हैं, **यजिष्ठः**=पूज्यतम हैं, **मह्ना**=अपनी महिमा से **शुचध्यै**=हमारे जीवनों का शोधन करने के लिये होते हैं। ये **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **हव्यैः**=हव्यों के द्वारा, त्यागपूर्वक अदन के द्वारा **मनुषः**=विचारशील पुरुषों को **ईरयध्यै**=स्वर्ग की ओर प्रेरित करने के लिये होते हैं। जब एक मनुष्य प्रभु की महिमा का चिन्तन करता है तो उसका हृदय पवित्र होता चलता है। हृदय के पवित्र होने पर यह यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है, यह यज्ञ प्रवृत्ति उसके घर को स्वर्ग बनानेवाली होती है।

भावार्थ—हम देववृत्ति के बनकर हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। जितना-जितना प्रभु का स्मरण करते हैं, उतना-उतना पवित्र होते चलते हैं। पवित्र होकर यज्ञों को करते हुए घरों को स्वर्ग बना पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वृषा व शुक्र' इन्द्रियाश्व

इह त्वं सूनो सहसो नो अद्य जातो जाताँ उभयाँ अन्तरग्ने।
दूत ईयसे युयुजान ऋष्व ऋजुमुष्कान्वृषणः शुक्रांश्च ॥ २ ॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र, बल के पुतले शक्ति के पुञ्ज **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **अद्य**=आज **जातान्**=विकसित शक्तिवाले **उभयान् अन्तः**=शरीर व मस्तिष्क दोनों के अन्दर, दोनों के मध्य हृदयान्तरिक्ष में **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए, **दूतः**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले होकर **ईयसे**=गति करते हैं। हम शरीर को तेजस्वी व मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनायें। तब हमारे हृदयों में प्रभु का प्रादुर्भाव होगा। ये प्रभु हमें ज्ञान का सन्देश दे रहे होंगे। (२) हे **ऋष्व**=दर्शनीय प्रभो! आप हमारे शरीर-रथों में उन इन्द्रियाश्वों को **युयुजानः**=जोतनेवाले होते हैं जो कि **ऋजुमुष्कान्**=ऋजु, अर्थात् प्रसाधक-सरलता से अपने मार्ग पर बढ़नेवाले तथा **मांसल**=(बलवान्) हैं, **वृषणः**=हमारे लिये सुखों का सेचन करनेवाले व शक्तिशाली हैं, **च**=तथा **शुक्रान्**=(शुक् गतौ, शुच् दीप्तौ) तीव्र गतिवाले व दीप्त हैं। कर्मेन्द्रियों के दृष्टिकोण से 'वृषणः' और ज्ञानेन्द्रियों के दृष्टिकोण से 'शुक्रान्' शब्द का प्रयोग हुआ है, ये इन्द्रियरूप घोड़े शक्तिशाली व ज्ञानदीप्त हैं।

भावार्थ—हम शरीर व मस्तिष्क को ठीक बनाकर हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। ये प्रभु हमारे शरीर-रथों में कर्मेन्द्रिय रूप सशक्त अश्वों को तथा ज्ञानेन्द्रियरूप ज्ञानदीप्त अश्वों को जोतते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्रियों द्वारा देवों व मर्तों का सम्बन्ध

अत्या वृधस्नू रोहिता घृतस्नू ऋतस्य मन्ये मनसा जविष्ठा।

अन्तरीयसे अरुषा युजानो युष्मांश्च देवान्विश आ च मर्तान्॥ ३॥

(१) **ऋतस्य**=ऋत के, सब कार्यों को बड़ी नियमितता से करनेवाले के **अत्या**=निरन्तर गतिशील इन्द्रियाश्व **वृधस्नू**=वृद्धि के शिखर पर पहुँचनेवाले हैं (स्नु-सानु-शिखर)। ये इन्द्रियाश्व **रोहिता**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाले व तेजस्वी तथा **घृतस्नू**=ज्ञानदीप्ति के शिखर पर पहुँचनेवाले हैं। **मन्ये**=मैं तो ऐसा समझता हूँ कि ये इन्द्रियाश्व **मनसा जविष्ठा**=मन से भी अधिक वेगवान् होते हैं। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अरुषा**=इन आरोचमान इन्द्रियाश्वों के द्वारा **युष्मान्**=(युष्माकं) आपके **देवान्**=इन सूर्य आदि देवों को **च**=तथा **विशः**=संसार में प्रवेश करनेवाले, विविध योनियों में आनेवाले, इन **मर्तान्**=मरणधर्मा प्राणियों को **आ युजानः**=सर्वथा जोड़नेवाले होते हैं। 'सूर्य' चक्षु का रूप धारण करके आँख में रहता है, 'वायु' प्राण बनकर नासिका में 'अग्नि' वाक् बनकर मुख में, 'चन्द्रमा' मन बनकर हृदय में रहने लगता है। इसी प्रकार सब देव इन शरीरों में रहते हैं। इस प्रकार देवों व मर्तों का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

भावार्थ—'देव' ही विविध इन्द्रियों के रूप में शरीर में निवास करते हैं। इस प्रकार प्रभु ने देवों व इन्द्रियों को परस्पर जोड़ दिया है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सर्वदेवमयता

अर्यमणं वरुणं मित्रमेषामिन्द्राविष्णू मरुतो अश्विनोत।

स्वश्वो अग्ने सुरथः सुराधा एदु वह सुहविषे जनाय॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले हैं, **सुरथः**=उत्तम शरीर-रथ को देनेवाले हैं, **सुराधाः**=उत्तम कार्य-साधक (राध् सिद्धौ) धनों के प्रदाता हैं। आप

सु हविषे जनाय=उत्तम हविवाले मनुष्य के लिये, त्यागपूर्वक अदन करनेवाले मनुष्य के लिये इन देवों को **इत्**=निश्चय से **आवह**=प्राप्त कराइये। (२) **अर्यमणम्**=अर्यमा को प्राप्त कराइये। 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' देने के वृत्ति को प्राप्त कराइये। इस दानवृत्ति द्वारा 'वरुण'='पापान्निवारयति' पापवृत्ति को दूर करिये। दानवृत्ति लोभ को समाप्त करके निष्पापता को पैदा करती है। **मित्रम्**=(प्रमीतेः त्रायते) निष्पाप बनाकर इन रोगों से बचाइये। (३) दान, निष्पापता व नीरोगता को प्राप्त करके **एषाम्**=इनके जीवन में **इन्द्राविष्णू**=जितेन्द्रियता व व्यापकता (विष् व्याप्तौ) को स्थापित करिये। इन बातों की सिद्धि के लिये ये **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले हों, **उत**=और **अश्विना**='इममेह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ इमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्' श० ४।१।५।१६ इनको द्यावापृथिवी की प्राप्ति हो, इसका मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से चमके और इनका शरीर पृथिवी की तरह दृढ़ हो।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा जीवन सर्वदेवमय हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुन्दर जीवन-यज्ञ

गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः।
इळावाँ एषो असुर प्रजावान्दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान्॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **एषः यज्ञः**=हमारा यह जीवन-यज्ञ **गोमान्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला हो, **अविमान्**=उत्तम रक्षणतत्त्वोंवाला हो। **अश्वी**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला हो। **नृवत् सखा**=उत्तम नेतृत्व को देनेवाले मनुष्यों के साथ मैत्रीवाला हो। यह जीवन-यज्ञ **सदं इत्**=सदा ही **अप्रमृष्यः**=अप्रधृष्य हो, धर्षण के योग्य न हो। काम-क्रोध आदि शत्रुओं का इस पर आक्रमण न हो सके। (२) हे **असुर**=प्राणशक्ति का संचार करनेवाले प्रभो! यह **इडावान्**=प्रशस्त अन्नोंवाला हो, **प्रजावान्**=उत्तम प्रजाओं (सन्तानों) वाला हो। यह यज्ञ **दीर्घः रयिः**=अविच्छिन्न अनुष्ठान से युक्त दीर्घकाल तक चलनेवाला व ऐश्वर्य-सम्पन्न हो (रयिः=रयिमान्)। **पृथुबुध्नः**=यह विशाल आधारवाला हो **सभावान्**=सभावाला हो। विशाल आधार का भाव यह है कि इसमें 'शरीर स्वस्थ हो, मन निर्मल हो तथा बुद्धि बड़ी परिमार्जित' हो। सभावाले होने का भाव यह है कि हम वैयक्तिक स्वार्थमय जीवन बिताने के स्थान में औरों के साथ मिलकर सर्वहितकर जीवन को बितानेवाले बनें। ऐसा ही जीवन 'यज्ञमय जीवन' कहला सकता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को यज्ञमय बनाते हुए उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला, उत्तम कर्मेन्द्रियाँवाला, उत्तम साथियोंवाला व काम-क्रोध से अनाक्रान्त बनायें। घरों में हम उत्तम अन्नों का सेवन करते हुए उत्तम सन्तानोंवाले हों। धन-सम्पन्न व परार्थसाधन की भावना से सम्पन्न हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देव-यज्ञ-ब्रह्म-यज्ञ

यस्त इध्मं जभरत्सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया।
भुवस्तस्य स्वतवाँ पायुरग्ने विश्वस्मात्सीमघायत उरुष्य॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **ते**=आपके लिये **सिष्विदानः**='स्विद्यद् गात्र' होता हुआ, पसीने को बहाकर कमाता हुआ **इध्मम्**=ईंधन को **जभरत्**=प्राप्त कराता है, अर्थात् प्रभु की प्राप्ति के लिये धनार्जन करके यज्ञादि उत्तम कार्यों में उस धन का विनियोग करता है। **वा**=अथवा **त्वाया**=हे प्रभो! आपकी प्राप्ति की कामना से **मूर्धानम्**=अपने मस्तिष्क को **ततपते**=ज्ञान से दीप्त

करता है, अर्थात् देवयज्ञ को करता है (इध्मं जभरत्) तथा ब्रह्मयज्ञ को करता है (मूर्धानं ततपते), **तस्य**=उस देव-यज्ञ व ब्रह्म-यज्ञ करनेवाले पुरुष के आप **स्वतवान्**=ऐश्वर्य का वर्धन करनेवाले व **पायुः**=रक्षक **भुवः**=होते हैं। आपकी कृपा से इसको यज्ञादि उत्तम कर्मों के लिये धन भी प्राप्त होता है और यह काम-क्रोध आदि शत्रुओं के आक्रमण से भी बचा रहता है। (२) हे प्रभो! आप इस देवयज्ञ व ब्रह्मयज्ञ के करनेवाले को **सीम्**=निश्चयपूर्वक **विश्वस्मात्**=सब **अघायतः**=अघ (=बुरे) की कामनावाले से **उरुष्य**=रक्षित करते हैं। यज्ञशील पुरुष का आप रक्षण करते ही हैं। वस्तुतः आपके रक्षण से ही वे यज्ञ पूर्ण होते हैं। 'विश्वामित्र यज्ञ करता है, राम रक्षण करते हैं'।

भावार्थ—जो धनार्जन करके देवयज्ञ में उस धन का विनियोग करता है तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त करता हुआ ब्रह्मयज्ञ करता है प्रभु उसका रक्षण करते हैं, उसे ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अतिथि-यज्ञ

यस्ते भरादन्नियते चिदन्नं निशिषन्मन्द्रमतिथिमुदीरत्।
आ देवयुरिनधते दुरोणे तस्मिन्रयिर्ध्रुवो अस्तु दास्वान्॥ ७॥

(१) **यः**=जो **अन्नियते**=अन्न की कामनावाले के लिये **चित्**=निश्चय से **ते अन्नम्**=आपके इस अन्न को **भरात्**=प्राप्त कराता है। **मन्द्रम्**=सुखकर वचनों को **निशिषत्**=(शासु अनुशिष्टौ) कहता है, 'आइये, बैठिये' आदि मधुर शब्दों को ही अतिथि के लिये बोलता है तथा **अतिथिं उदीरत्**=उस अतिथि के स्वागत के लिये (उत्=उठकर) घर से बाहर तक आता है। यह **देवयुः**=देवों के सम्पर्क की कामनावाला **दुरोणे**=अपने (दुर्-ओण्-अपनयने) बुराइयों के अपनयनवाले घर में **आ इनधते**=सर्वथा आपको दीप्त करता है, अर्थात् उन विद्वान् अतिथियों का सत्कार करता हुआ, उनसे ज्ञान चर्चा को करता हुआ, प्रभु के प्रकाशवाला बनता है। (२) **तस्मिन्**=उस अतिथियज्ञ करनेवाले पुरुष में **दास्वान्**=देने की वृत्तिवाला **ध्रुवः**=स्थिर **रयिः**=ऐश्वर्य **अस्तु**=हो। इसे धन प्राप्त हो, यह धन दान की वृत्ति से युक्त हो तथा न नष्ट होनेवाला हो।

भावार्थ—हम अतिथियों को अन्न प्राप्त करायें, उनके लिये सुखकर शब्दों को कहें, उनका उठकर स्वागत करें। इन अतिथियों से ज्ञानचर्चा करते हुए हम प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करें और ऐश्वर्य-सम्पन्न बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु-प्रार्थना व दानवृत्ति (बलि वैश्वदेव-यज्ञ)

यस्त्वा दोषा य उषसि प्रशंसात्प्रियं वा त्वा कृणवते हविष्मान्।
अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान्तमंहसः पीपरो दाश्वांसम्॥ ८॥

(१) हे अग्ने! **यः**=जो **त्वा**=आपको **दोषा**=रात्रि के प्रारम्भ में और **यः**=जो **उषसि**=दिन के प्रारम्भ में **प्रशंसात्**=(adoration) प्रशंसित करता है, अर्थात् जो प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करता है। **वा**=तथा **हविष्मान्**=दानपूर्वक अदनवाला होता हुआ, यज्ञशेष का सेवन करता हुआ **त्वा**=आपको अपना **प्रियम्**=प्रिय **कृणवते**=करता है, वह **स्वे दमे**=अपने गृह में **आ हेम्यावान्**=सब प्रकार से सुवर्ण निर्मित कक्ष्यावाले **अश्वः न**=अश्व के समान होता है, अर्थात् यह व्यक्ति खूब धन सम्पत्ति से लद जाता है। इसे खूब ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है। (२) **तम्**=उस आपका स्तवन करनेवाले **दाश्वांसम्**=दान की वृत्तिवाले पुरुष को आप **अंहसः**=सब पापों से **पीपरः**=पार करते

हो। सम्पत्ति से लद जाने पर, दान की वृत्तिवाला प्रभु का उपासक ही पाप में फँसने से बच पाता है। अन्यथा यह सम्पत्ति ही उसकी विपत्ति का कारण हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन व दानवृत्ति हमारी सम्पत्ति को बढ़ाते हैं। उस सम्पत्ति को लोकहित में विनियुक्त करते हुए हम पापों में फँसने से बचे रहते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के प्रति अर्पण

यस्तुभ्यमग्ने अमृताय दाशद्दुवस्त्वे कृणवते यतस्रुक्।
न स राया शशमानो वि योषन्नैनमंहः परि वरदघायोः ॥ ९ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **तुभ्यं अमृताय**=आप अमृत के लिये **दाशत्**=अपने को दे डालता है, अर्थात् आपके प्रति अपना अर्पण करके जीवन में चलता है और **यतस्रुक्**=(वाग्वै स्रुचः श० ६।३।१।८) संयत वाणीवाला होकर **त्वे**=आपके लिये **दुवः कृणवते**=परिचर्या को करता है। **सः**=वह **शशमानः**=प्लुत गतिवाला होता हुआ **राया न वियोषत्**=धन से कभी पृथक् नहीं होता। (क) प्रभु के प्रति अपना अर्पण करना, (ख) संयतवाणीवाला होकर प्रभु की परिचर्या करना, उसके नाम का अर्थभावनपूर्वक जप करना, (ग) श्रमशील होना, आलस्यशून्य। यह मार्ग है ऐश्वर्य-सम्पन्न होने का। (२) **एनम्**=इस व्यक्ति को **अघायोः**=पाप की कामनावाले का **अंहः**=कष्ट **न परिवरत्**=परिवृत नहीं करता, नहीं प्राप्त होता।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अर्पण, प्रभु का पूजन तथा श्रम हमें ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाता है। इसे पाप नहीं छूता।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञों द्वारा प्रभु प्रियता

यस्य त्वमग्ने अध्वरं जुजोषो देवो मर्तस्य सुधितं रराणः।
प्रीतेदसद्धोत्रा सा यविष्ठासाम यस्य विधतो वृधासः ॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **देवः**=प्रकाशमय **रराणः**=सब आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले **त्वम्**=आप **यस्य**=जिस **मर्तस्य**=मनुष्य के **सुधितम्**=उत्तमता से स्थापित किये गये **अध्वरम्**=हिंसा रहित यज्ञात्मक कर्म को **जुजोषः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। उसकी **सा होत्रा**=यज्ञों में उच्चारण की गई वह वाणी **इत्**=निश्चय से **प्रीते असत्**=प्रीति को देनेवाली हो। उस मनुष्य को यज्ञों में उच्चारण की जानेवाली यह वेदवाणी रुचिकर हो। (२) उस मनुष्य को यह वाणी प्रिय हो, **यविष्ठ**=हे सब बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभो! हम सब देव **विधतः यस्य**=पूजा करनेवाले जिसके **वृधासः**=वृद्धि को करनेवाले **असाम**=हों। चतुर्थ मन्त्र में अर्यमा आदि देवों का उल्लेख था। ये देव जिसकी वृद्धि का कारण बनते हैं, उसे सदा ज्ञान की वाणी प्रिय होती है।

भावार्थ—हम यज्ञ करें। ये यज्ञ प्रभु के लिये प्रिय हों। यज्ञों में उच्चरित वाणी प्रिय हो, इस प्रिय वाणीवाले व्यक्ति को सब देव बढ़ानेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

चित्ति-अचित्ति

चित्तिमचित्तिं चिनवद्वि विद्वान्पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य ॥ ११ ॥

(१) **विद्वान्**=वे ज्ञानी प्रभु हमारे लिये **चित्तिम्**=विद्या तथा **अचित्तिम्**=अविद्या को, पराविद्या तथा अपराविद्या को, **चिनवत्**=संचित करें। हमें प्रभु कृपा से प्रकृति का विज्ञान भी प्राप्त हो और आत्मा का ज्ञान भी। **इव**=जैसे **मर्तान्**=रणांगण में योद्धा मनुष्यों को **वीता**=कान्त **च**=और **वृजिना**=(leaning) झुकी हुई **पृष्ठा**=घोड़ों की पीठें (वि चिनवत्) अलग-अलग करके प्राप्त करायी जाती हैं। झुकी हुई पीठवाले घोड़े बोझ आदि के उठाने के लिये प्रयुक्त होते हैं और कान्त पृष्ठवाले योद्धा के लिये। (२) हे **देव**=सर्वप्रद प्रभो! आप **नः**=हमें **राये**=धन के लिये **च**=और **स्वपत्याय**=उत्तम सन्तान के लिये **दितिम्**=दान की वृत्ति को **रास**=दीजिये। दान देते हुए हम अपने धनों का वर्धन भी करें (दक्षिणां दुहते सप्त मातरम्) और उत्तम सन्तान को भी प्राप्त करें (आशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः)। हे प्रभो! आप हमारे **अदितिम्**=स्वास्थ्य (अ+दिति=खण्डन) **उरुष्य**=रक्षित करिये।

भावार्थ—हमें अपरा व परा दोनों विद्याओं की प्राप्ति हो। हमें दानवृत्ति के द्वारा धन तथा उत्तम सन्तान प्राप्त हो। हमारा स्वास्थ्य सुरक्षित रहे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

उपासक का क्रियाशील जीवन

कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः।
अतस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान्पड्भिः पश्येरद्भुताँ अर्य एवैः॥ १२॥

(१) **कवयः**=ज्ञानी पुरुष **अदब्धाः**=वासनाओं से हिंसित न होते हुए, **दुर्यासु**=गृहों में **आयोः**=आनेवाली सन्तान का **निधारयन्तः**=धारण करते हुए पुरुष **कविम्**=सर्वज्ञ प्रभु को **शशासुः**=प्रशंसित करते हैं। प्रभु का ये प्रातः-सायं ध्यान करते हैं। ये प्रभु का उपासन करनेवाले पुरुष स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानवृद्धि को करके 'कवि' बनते हैं। ध्यान के द्वारा वासनाओं से हिंसित नहीं होते। कर्त्तव्य भावना के प्रबल होने से सन्तानों का उत्तम पालन करते हैं। (२) **अतः**=चूँकि ये स्वाध्याय, ध्यान व कर्त्तव्यपालन करनेवाले बनते हैं, इसलिए **एतान्**=इन **दृश्यान्**=दर्शनीय जीवनवाले **अद्भुतान्**=आश्चर्य रूपोपेत उपासकों को **अर्यः**=ब्रह्माण्ड के स्वामी आप, हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **एवैः पड्भिः**=गतिशील पाओं से **पश्येः**=देखते हैं, अर्थात् इन्हें आप गतिशील पाँओं से प्राप्त कराते हैं। प्रभु इन उपासकों को क्रियाशील जीवनवाला बनाते हैं। 'क्रियावानेव ब्रह्मविदां वरिष्ठः'। इस क्रियामयता के कारण ही उनका जीवन दृश्य व अद्भुत बनता है।

भावार्थ—प्रभु का सच्चा उपासन ज्ञान प्राप्ति-वासनाओं से हिंसित न होने व सन्तान को उत्तम बनाने से होता है। प्रभु इन्हें क्रियाशील जीवन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वाघते सुप्रणीतिः

त्वमग्ने वाघते सुप्रणीतिः सुतसोमाय विधते यविष्ठ।
रत्नं भर शशमानाय घृष्वे पृथु श्चन्द्रमवसे चर्षणिप्राः॥ १३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **वाघते**=अपने कर्त्तव्यभार का वहन करनेवाले के लिये **सुप्रणीतिः**=उत्तम प्रणयन करनेवाले हैं। इन कर्त्तव्यपरायण लोगों को आप सदा मार्गदर्शन करते हैं। (२) हे **यविष्ठ**=बुराइयों से हमें पृथक् करनेवाले, अच्छाईयों से हमें मिलानेवाले प्रभो! आप **सुत सोमाय**=जो अपने अन्दर सोम का सम्पादन करता है, उस **विधते**=उपासक के लिये

रत्नं भर=रमणीय वसुओं को प्राप्त कराइये। जीवन के लिये आवश्यक रमणीय तत्त्वों को प्राप्त कराइये। (३) हे **घृष्वे**=शत्रुओं का घर्षण व विनाश करनेवाले प्रभो! आप **शशमानाय**=प्लुत गति से कार्य करनेवाले के लिये **पृथु**=विशाल, खूब अधिक **चन्द्रम्**=आह्लाद आदि धन को **अवसे**=रक्षण के लिये (भर) प्राप्त कराइये। आप ही तो **चर्षणिप्राः**=सब मनुष्यों का पूरण करनेवाले हैं। सब अपेक्षित धनों को प्राप्त कराके आप उनका पूरण करते हैं।

भावार्थ—कर्त्तव्यपालन करनेवाले के लिये प्रभु मार्गदर्शन करते हैं। सोम के सम्पादक उपासक के लिये रमणीय वसुओं को देते हैं। शीघ्र गतिवाले पुरुष के लिये आप विशाल आह्लादकारी धन को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

पड्भिः हस्तेभिः तनूभिः

अधा ह यद्वयमग्ने त्वाया पड्भिर्हस्तेभिश्चकृमा तनूभिः।
रथं न क्रन्तो अपसा भुरिजोर्ऋतं येमुः सुध्य आशुषाणाः॥ १४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अधा**=अब **ह**=निश्चय से **वयम्**=हम **त्वाया**=आप की प्राप्ति की कामना से **पड्भिः**=पाँवों से **हस्तेभिः**=हाथों से तथा **तनूभिः**=शरीरों से **चकृमा**=कर्मों को करते हैं। (२) **न**=जैसे **क्रन्तः**=शिल्पी लोग **रथम्**=रथ को **भुरिजोर् अपसा**=भुजाओं के कर्म से **येमुः**=उद्यत करते हैं, तैयार करते हैं, इसी प्रकार **सुध्यः**=उत्तम बुद्धियोंवाले **आशुषाणाः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले लोग अपनी भुजाओं की क्रियाओं से **ऋतम्**=ऋत को, यज्ञ को **येमुः**=अपने जीवन में उद्यत करनेवाले होते हैं। सदा यज्ञशील जीवन बिताते हुए ये लोग प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं।

भावार्थ—क्रियामय जीवनवाला ही प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दिवस्पुत्रा अंगिरसः

अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः॥ १५॥

(१) **अधा**=अब **उषसः**=(उष दाहे) सब दोषों का दहन करनेवाली **मातुः**=वेदमाता से, **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले, **प्रथमाः**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले, **वेधसः**=बुद्धिमान् लोग **सप्त**=सात **नॄन्**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' कान आदि को **जायेमहि**=(जनयामः) उत्पन्न करते हैं। वेद के अध्ययन में प्रवृत्त होने से सब कान आदि इन्द्रियाँ विषयासक्ति से बचकर हमें उन्नति की ओर ले चलनेवाली बनती हैं। (२) **दिवस्पुत्राः**=हम ज्ञान के पुत्र, ज्ञान के पुतले, ज्ञान के पुञ्ज बनें। **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले **भवेम**=हों। **शुचन्तः**=अपने जीवन को पवित्र करते हुए हम **धनिनम्**=धन में आसक्तिवाले **अद्रिम्**=अविद्या-पर्वत को **रुजेम**=भग्न करनेवाले हों। अविद्या में फँसा हुआ व्यक्ति धन का ही उपासक बन जाता है। इस धनासक्ति से जीवन अपवित्र बन जाता है। हम इस अविद्या-पर्वत का विदारण करके पवित्र बनते हैं।

भावार्थ—वेदाध्ययन से हम सातों कान आदि इन्द्रियों को उन्नतिपथ पर चलनेवाला बनाते हैं। ज्ञान के पुञ्ज शक्तिशाली बनते हुए हम धनासक्ति को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पवित्र ज्ञानदीप्ति की ओर

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्॥ १६॥

(१) **अधा**=अब हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यथा**=जैसे **नः**=हमारे **पितरः**=पालक लोग **परासः**=उत्कृष्ट जीवनवाले व **प्रत्नासः**=बड़ी उमरवाले **ऋतम्**=यज्ञों का **आशुषाणाः**=अपने में व्यापन करते हुए, अर्थात् यज्ञात्मक कर्मों को करते हुए **इत्**=निश्चय से **शुचि**=पवित्र **दीधितिम्**=ज्ञान की दीप्ति को **अयन्**=प्राप्त होते हैं। हम भी उसी प्रकार इस पवित्र ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करें। (२) **उक्थशासः**=प्रभु के स्तोत्रों का शंसन करनेवाले, **क्षामा**=क्षय के कारणभूत तम (अन्धकार) को **भिन्दन्तः**=विदीर्ण करते हुए, **अरुणीः**=अरुण प्रकाशवाली ज्ञान किरणों को **अपव्रन्**=वासना के आवरण से रहित करते हैं। प्रभु के उपासन से अज्ञानान्धकार का ध्वंस होकर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम यज्ञात्मक कर्मों का सेवन करते हुए पवित्र ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करें। प्रभु का उपासन हमारे अज्ञानान्धकार को समाप्त करे और हमारे जीवन में ज्ञान की किरणों को प्रकाशित करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुकर्माण सुरुचः देवयन्तः (देवों का लक्षण)

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽ यो न देवा जनिमा धमन्तः।
शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन्॥ १७॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **सुकर्माणः**=सदा उत्तम कर्मोंवाले होते हैं, ये यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। **सुरुचः**=ये उत्तम ज्ञान की दीप्तिवाले होते हैं। **देवयन्तः**=शुद्ध अन्तःकरण में देववृत्तियों को प्राप्त करने की कामनावाले होते हैं। ये लोग **जनिमा**=अपने जीवनों को **धमन्तः**=तपस्या की अग्नि के संयोग से इस प्रकार निर्मल करते हैं **न**=जैसे कि **अयः**=अग्नि संयोग से धातु को शुद्ध करते हैं। (२) **शुचन्तः**=ज्ञान से दीप्त होते हुए ये व्यक्ति **अग्निम्**=यज्ञाग्नि को **ववृधन्तः**=हवि के द्वारा बढ़ाते हुए, **इन्द्रं परिषदन्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के समीप, सब विषयों के वर्जनपूर्वक (परेर्वर्जने), बैठते हुए, उस प्रभु की उपासना करते हुए **ऊर्वम्**=(sublime) महान् **गव्यम्**=गोसंघ को, वेदवाणियों के समूह को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। अग्निहोत्र करते हैं, प्रभु की उपासना करते हैं, ज्ञान की वाणियों का स्वाध्याय करते हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष हाथों से उत्तम कर्म करते हैं, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्तिवाले होते हैं, हृदय में दिव्य वृत्तियों का धारण करते हैं, तपस्या की अग्नि में अपने जीवन का शोधन करते हुए अग्निहोत्र करते हैं, प्रभु का उपासन व ज्ञानवाणियों का अध्ययन करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासना के लाभ

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद्देवानां यज्जनिमान्त्युग्र।
मर्तानां चिदुर्वशीरकृप्रन्वृधे चिदर्य उपरस्यायोः॥ १८॥

(१) हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! **इव**=जैसे **क्षुमति**=अन्नवाले स्थान में (चारागाह में) एक व्यक्ति **पश्वः यूथा**=पशुओं के झुण्ड को **आ अख्यत्**=देखता है, इसी प्रकार एक उपासक **अन्ति**=उस प्रभु के समीप **देवानां यत् जनिम**=देवों का जो विकास है उसे देखता है। चारागाह में पशुसंघ उपस्थित होता है, इसी प्रकार प्रभु की उपासना में दिव्यगुण उपस्थित होते हैं। (२) उपासना के द्वारा **मर्तानां चित्**=सामान्य मनुष्यों की भी **उर्वशीः**=(उरु वशो यस्याः) अपने पर शासन करनेवाली प्रजाओं को **अकृप्रन्**=शक्तिशाली बनाते हैं। सामान्य मनुष्य, उपासना के द्वारा, अपने पर शासन करनेवाला व शक्तिशाली बन जाता है। **अर्यः**=(स्वामी) यह जितेन्द्रिय पुरुष **उपरस्य**=(उप्तस्य) बीजवपन द्वारा उत्पन्न हुई-हुई अपनी **आयोः**=सन्तान को **वृधे चित्**=निश्चय से वृद्धि के लिये होता है।

भावार्थ—उपासना से (क) दिव्य गुणों का वर्धन होता है, (ख) मनुष्य जितेन्द्रिय बनता है, (ग) सन्तानों को उत्तम बना पाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

यज्ञ और प्रभु स्मरण

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्त्रन्नुषसो विभातीः।
अनूनमग्निं पुरुधा सुश्चन्द्रं देवस्य मर्मृजतश्चारु चक्षुः॥ १९॥

(१) 'वेद ज्ञान' उस देव (प्रभु) की दी हुई सुन्दर चक्षु है, इससे सब कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है। यह सब के लिये मार्गदर्शन कराती है। उस **देवस्य**=प्रकाशमय प्रभु की **चारु चक्षुः**=इस सुन्दर वेदज्ञान रूप आँख को **मर्मृजतः**=खूब ही शुद्ध करते हुए, अर्थात् वेदज्ञान को प्राप्त करते हुए ते **अकर्म**=हे प्रभो! आपका पूजन करते हैं। **स्वपसः अभूम**=उत्तम कर्मोंवाले होते हैं। वस्तुतः उत्तम कर्त्तव्य कर्मों को करना ही प्रभु का सच्चा पूजन है। (२) हमारे लिये **विभातीः**=विशिष्ट प्रकाशवाली **उषसः**=उषाएँ **ऋतम्**=यज्ञ को **अवस्त्रन्**=आच्छादित करती हैं, धारण करती हैं, अर्थात् उषाकालों में ही यज्ञादि उत्तम कर्मों को धारण करनेवाले बनते हैं। ये उषाएँ **अनूनं अग्निम्**=न्यूनता से रहित, पूर्ण अग्नि को, परमात्मा को हमारे लिये धारण करती हैं जो कि **पुरुधा**=अनेक प्रकार से **सुश्चन्द्रम्**=उत्तम आह्लाद को प्राप्त करानेवाले हैं। उषाकाल में हम प्रभु का स्मरण करते हैं और यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के दिये हुए वेदज्ञान का अभ्यास करते हुए हम उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु का अर्चन करें। उषाकाल में प्रभु स्मरण व यज्ञ ही हमारे समय को व्याप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'प्रभु प्रकाश प्रदीप्त' अन्तःकरण

एता ते अग्न उचथानि वेधोऽवोचाम कवये ता जुषस्व।
उच्छोचस्व कृणुहि वस्यसो नो महो रायः पुरुवार प्र यन्धि॥ २०॥

(१) हे **वेधः**=विधातः, सृष्टि के रचनेवाले **अग्ने**=प्रभो! **कवये**=सर्वज्ञ **ते**=आपके लिये **एताः उचथानि**=इन स्तोत्रों को **अवोचाम**=बोलें। **ता जुषस्व**=उन स्तोत्रों को आप प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले होइये, आपके लिये वे स्तोत्र प्रिय हों। (२) **उत् शोचस्व**=आप मेरे हृदयाकाश में दीप्त होइये। **नः**=हमें **वस्यसः**=उत्कृष्ट जीवनवाला **कृणुहि**=करिये। हे **पुरुवार**=पालक व पूरक वरणीय वस्तुओंवाले प्रभो! हमें **महो रायः**=महत्त्वपूर्ण धनों को **प्रयन्धि**=दीजिये।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। हमारा हृदय प्रभु के प्रकाश से दीप्त हो। हमारा जीवन उत्तम बने और प्रभु हमें महत्त्वपूर्ण धनों को प्राप्त करायें।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु स्मरण से जीवन को सुन्दर बनाने का उल्लेख कर रहा है। यही भाव अगले सूक्त में भी द्रष्टव्य है—

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मृत्यु से पूर्व ही

आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥ १॥

(१) **वः**=तुम्हारे **अध्वरस्य**=इस जीवन-यज्ञ के **राजानम्**=दीप्त करनेवाले **रुद्रम्**=(रुत् द्रावयति) सब कष्टों का निवारण करनेवाले प्रभु को **अवसे**=रक्षा के लिये **आकृणुध्वम्**=अपने हृदयों में उपासित करो। उस प्रभु को, जो कि **होतारम्**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं। जो **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी के साथ **सत्य यजम्**=सत्य का मेल करनेवाले हैं, अर्थात् जो प्रभु मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान को तथा शरीररूप पृथिवी में दृढ़ता को स्थापित करनेवाले हैं। **अग्निम्**=जो निरन्तर उन्नति-पथ पर ले चलनेवाले हैं तथा **हिरण्यरूपम्**=ज्योतिर्मय रूपवाले हैं। (२) इस प्रभु का स्मरण **तनयित्नोः**=आकस्मिक पतनवाली अशनि (विद्युत्) के समान न जाने कब आ जानेवाली **अचित्तात्**=अचेतना, अर्थात् मृत्यु से **पुरा**=पहले ही उस प्रभु को अपने हृदयों में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करो। 'इह चेदवेदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'। 'न जाने कब मृत्यु आ जाये', सो हमें सदा उस प्रभु की भावना से हृदय को भावित करने का प्रयत्न करना चाहिये। 'नहि प्रतीक्षते मृत्युः' मृत्यु हमारे प्रभु स्मरण के लिये प्रतीक्षा न करेगी। सदा प्रभु का स्मरण करेंगे तो प्रभु जैसे ही बन पायेंगे।

भावार्थ—हम मृत्यु से पूर्व ही प्रभु स्मरण का प्रयत्न करें। हमारा जीवन संसार की आसक्ति में ही न समाप्त हो जाए। प्रभु स्मरण का अभाव हमें विषयों के आक्रमण से न बचायेगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शरीर को प्रभु का निवास स्थान बनाना

अयं योनिश्चकृमा यं वयं ते जायेव पत्य उशती सुवासाः।
अर्वाचीनः परिवीतो नि षीदेमा उ ते स्वपाक प्रतीचीः॥ २॥

(१) हे प्रभो! **अयम्**=यह मेरा शरीर (हृदय) **योनिः**=आपका गृह है, **यम्**=जिसको **वयम्**=हम **ते**=आपके लिये **चकृमा**=करते हैं। शरीर को बड़ा परिशुद्ध करके, इस नीरोग शरीर में हृदय को बड़ा निर्मल बनाकर, उसमें प्रभु को बिठाना चाहिये। हम इस गृह को इस प्रकार आपके लिये संस्कृत करते हैं **इव**=जिस प्रकार **उशती**=कामयमाना, पति प्राप्ति के लिये कामना करती हुई **सुवासाः**=शोभन वस्त्रोंवाली **जाया**=पत्नी **पत्ये**=पति के लिये स्थान को बनाती है। जीवात्मा पत्नी स्थानापन्न है। उसने प्रभुरूप पति को प्राप्त करने की कामनावाला होना। पति के स्वागत के लिये गृह को स्वच्छ करना। इसी प्रकार जीव प्रभु के स्वागत के लिये हृदय-मन्दिर को बड़ा पवित्र बनाता है। (२) हे प्रभो! **अर्वाचीनः**=हमारे अभिमुख होते हुए **परिवीतः**=(वी परिदेवने) तेजस्विता से चमकते हुए आप **निषीद**=हमारे हृदय में स्थित होइये। हे **स्वपाक**=(सु अपाक) शोभन

कर्मोंवाले प्रभो! उ=निश्चय से ते=आपकी **इमाः**=ये ज्ञानरश्मियाँ **प्रतीचीः**=हमारे प्रति प्राप्त होनेवाली होती हैं।

भावार्थ—हम अपने हृदय को शुद्ध करके उसे प्रभु का गृह बनायें। उस सर्वतः तेजोमय प्रभु की कान्तियाँ हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु का उपासक 'ग्रावा-स्तोता-मधुषुत्'

आशृण्वते अदृपिताय मन्म नृचक्षसे सुमृळीकाय वेधः।
देवाय शस्तिममृताय शंस ग्रावेव सोता मधुषुद्यमीळे॥ ३॥

(१) हे **वेधः**=स्तोत्रों को करनेवाले धीमन्! तू **देवाय**=उस प्रकाशमय प्रभु के लिये **मन्म**=स्तोत्र का **शंस**=शंसन कर। उस देव के लिये जो कि **आशृण्वते**=हमारी पुकार को सदा सुनते हैं, **अदृपिताय**=जो कभी हमारे हित में प्रमाद नहीं करते, **नृचक्षसे**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले हैं और **सुमृडीकाय**=उत्तम सुख प्राप्त करानेवाले हैं। (२) **ग्रावा इव**=ज्ञान के स्तुति-वचनों का उच्चारण करनेवाले के समान तू **अमृताय**=उस अमृत प्रभु के लिये **शस्तिम्**=प्रशंसा के वचनों को **शंस**=उच्चरित कर। उस प्रभु के लिये स्तुति कर **यम्**=जिस प्रभु को **सोता**=सोम का सम्पादन करनेवाला, शरीर में सोम को सुरक्षित रखनेवाला **मधुषुत्**=सदा मधुर शब्दों को उत्पन्न करनेवाला, जीवन को मधुर बनानेवाला, **ईडे**=उपासित करता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन 'ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाला, सोम का सम्पादक, जीवन को मधुर बनानेवाला' करता है। प्रभु की उपासना से हम दिव्य गुणोंवाले व नीरोग (अमृत) बन पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

शरीर-गृह में 'मित्र प्रभु' के साथ निवास

त्वं चिन्नः शम्या अग्ने अस्या ऋतस्य बोध्यृतचित्स्वाधीः।
कदा त उक्था सधमाद्यानि कदा भवन्ति सख्या गृहे ते॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=यथार्थ ज्ञान को **बोधि**=जनाइये। मुझे मेरे कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान दीजिये। आप ही **ऋतचित्**=ऋत को जाननेवाले हैं, आपका ज्ञान यथार्थ है। **स्वाधीः**=आप उत्तम कर्मोंवाले (सुकर्मा सुध्यानोष सा०) हैं, सब प्रजाओं का उत्तमता से ध्यान करनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! **कदा**=वह दिन कब होगा जब कि हम **ते**=आपके **उक्था**=स्तोत्रों को करनेवाले होंगे और **सधमाद्यानि**=आपके सहनिवास के आनन्दों का अनुभव करेंगे। **कदा**=कब **गृहे**=इस शरीर रूप गृह में **ते**=आपकी **सख्या**=मित्रताएँ **भवन्ति**=होती हैं। वह दिन सचमुच सौभाग्य का होगा जब कि इस शरीरगृह में मैं आपकी मित्रता के साथ निवासवाला हूँगा।

भावार्थ—प्रभु हमें कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान देते हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु के सहवास के आनन्द का अनुभव करें। इस शरीरगृह में हमें प्रभु की मित्रता का अनुभव हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु की प्रेरणा से

कथा ह तद्वरुणाय त्वमग्ने कथा दिवे गर्हसे कन्न आगः।
कथा मित्राय मीळ्हुषे पृथिव्यै ब्रवः कदर्यम्णे कद्भगाय॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **कथा**=कैसे **ह**=निश्चयपूर्वक **तत्**=वह बात होगी कि **त्वम्**=आप **वरुणाय**=वरुण के लिये **ब्रवः**=हमें उपदेश देंगे, अर्थात् कब आपकी प्रेरणा से मैं 'वरुण' बनूँगा, पापों से अपना निवारण करनेवाला (पाप निवारयति)। **कथा दिवे**=कैसे आप द्युलोक के लिये, प्रकाशमय लोक के लिये कहेंगे, अर्थात् कब आपकी प्रेरणा से मैं अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक को प्रकाशमय बनाऊँगा। आप **नः गर्हसे**=हमारे से गर्हा करते हैं, **कत् नः आगः**=क्या हमारा अपराध है? हमारी तो यही कामना है कि हम आपके प्रिय बनें। आपके प्रिय बनकर आपसे प्रेरणा को प्राप्त करके 'वरुण व दिव्' बनें, 'निष्पाप-प्रकाशमय'। (२) **कथा**=कैसे आप हमें **मीढुषे**=सुखों का वर्षण करनेवाले **मित्राय**=मित्र के लिये कहते हैं, अर्थात् कब मैं आपकी प्रेरणा से सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला मित्र बनता हूँ? कब आप हमें **पृथिव्यै**=पृथिवी के लिये कहते हैं? कब हम आपकी प्रेरणा से इस शरीर को पृथिवी की तरह दृढ़ बनानेवाले बनते हैं। **कद्**=कब आप हमें **अर्यम्णे**=अर्यमा के लिये कहते हैं? अर्थात् कब हम आपसे प्रेरित होकर दान की वृत्तिवाले बनते हैं? 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'। **कद्**=कब आप मुझे **भगाय**=ऐश्वर्य के लिये कहते हैं, कब मैं आपके निर्देश में चलता हुआ ऐश्वर्य को प्राप्त करता हूँ?

भावार्थ—हम प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु से प्रेरित होकर हम निष्पाप, प्रकाशमय, सबके मित्र, दृढ़ शरीर, दान की वृत्तिवाले व ऐश्वर्यशाली बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्राणसाधक-रुद्र का उपासक

कद्धिष्ण्यासु वृधसानो अग्ने कद्वाताय प्रतवसे शुभंये।
परिज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः कदग्ने रुद्राय नृघ्ने ॥ ६॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **कद्**=कब आप **धिष्ण्यासु**=(strength) शक्तियों में **वृधसानः**=मेरा वर्धन करनेवाले होंगे। कब आपकी कृपा से मैं निरन्तर बढ़ती हुई शक्तिवाला हूँगा? **कद्**=कब आप मुझे **प्रतवसे**=प्रकृष्ट बलवाले, **शुभंये**=शुभ को प्राप्त करानेवाले **वाताय**=वायु के लिये **ब्रवः**=कहेंगे? अर्थात् कब आपसे प्रेरणा को प्राप्त करके मैं 'वा गतौ' निरन्तर गतिशील हूँगा? और इस प्रकार क्रियाशीलता के द्वारा अपने बल को बढ़ानेवाला व शुभ को प्राप्त करनेवाला बनूँगा? (२) कब आप मुझे **परिज्मने**=शरीर में चारों ओर गति करनेवाले **नासत्याय**=प्राणापान के लिये तथा **क्षे**=इस निवास स्थानभूत शरीर रूप पृथिवी के लिये कहेंगे? अर्थात् कब आपकी प्रेरणा से मैं प्राणापान की साधना करनेवाला बनकर शरीर में उत्तम निवासवाला बनूँगा? हे **अग्ने**=परमात्मन्! कब आप मुझे **नृघ्ने**=शत्रु नायकों को विनष्ट करनेवाले **रुद्राय**=(रोदयति) उस रुलानेवाले प्रभु के लिये कहेंगे? अर्थात् कब मैं आपके रुद्र रूप का स्मरण करता हुआ काम-क्रोध आदि शत्रु सेनानियों को समाप्त कर पाऊँगा?

भावार्थ—प्रभु मेरी शक्ति का वर्धन करें। मैं 'गतिशील, प्राणसाधक व रुद्र का उपासक' बनूँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

रेतःकणों के रक्षण के द्वारा

कथा महे पुष्टिंभराय पूष्णे कद्रुद्राय सुमखाय हविर्दे।
कद्विष्णव उरुगायाय रेतो ब्रवः कदग्ने शरवे बृहत्यै॥ ७॥

(१) **कथा**=किस प्रकार **महे**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **पुष्टिम्भराय**=पोषण का धारण करनेवाले

पूष्णे=पूषा के लिये रेतः=शक्ति को हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ब्रवः**=साधनरूप से आप प्रतिपादित करते हैं, अर्थात् 'रेतःकणों के रक्षण के होने पर ही सूर्य के द्वारा हमें पोषण प्राप्त होता है' यह बात आप हमें उपदेश के रूप में कहते हैं। (२) **कद्**=कब **रुद्राय**=सब रोगों को भगानेवाले **हविर्दे**=वायु आदि देवों में हविर्द्रव्य को अग्निरूप मुख से प्राप्त करानेवाले **सुमखाय**=उत्तम यज्ञ के लिये **रेतः**=शक्ति को साधनरूप से आप प्रतिपादित करते हैं। रेतः रक्षण करनेवाला व्यक्ति ही यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। (३) **कद्**=कब **विष्णवे**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक व उदारवृत्तिवाले **उरुगायाय**=व्यापक गतिवाले के लिये **रेतः**=शक्ति को **ब्रवः**=साधनरूप से प्रतिपादित करते हैं, अर्थात् रेतःरक्षण के द्वारा हम उदारवृत्तिवाले व खूब गतिशील बनते हैं। (४) कद्=कब **बृहत्ये**=महान् व वृद्धि की कारणभूत **शरवे**=काम-क्रोध आदि की हिंसा के लिये **रेतः ब्रवः**=शक्ति को साधनरूप से प्रतिपादित करते हैं। सोमरक्षण के द्वारा ही काम-क्रोध आदि पर हम विजय पाते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा (रेतःकणों की ऊर्ध्वगति के द्वारा) हम (क) सूर्यादि के सम्पर्क में अपना पोषण करते हैं, (ख) यज्ञशील बनकर रोगों को दूर भगाते हैं, (ग) व्यापक मनोवृत्तिवाले बनते हैं, (घ) काम-क्रोध आदि का हिंसन कर पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्राणशक्ति-ज्ञान व स्वास्थ्य

कथा शर्धाय मरुतामृताय कथा सूरे बृहते पृच्छ्यमानः।
प्रति ब्रवोऽदितये तुराय साधा दिवो जातवेदश्चिकित्वान्॥ ८॥

(१) हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **चिकित्वान्**=हमारी स्थिति को पूरा-पूरा जानते हुए आप **कथा**=कैसे मुझे **ऋताय**=ऋतभूत जीवन से असत्य को दूर करनेवाले, **मरुतां शर्धाय**=प्राणों के बल के लिये **प्रतिब्रवः**=मुझे कहेंगे? आप से उपदेश को प्राप्त करके मैं प्राणों के बल को प्राप्त करनेवाला बनूँ। यह प्राणशक्ति ही मेरे जीवन को अनृत से शून्य करके ऋतवाला बनाती है। (२) **पृच्छ्यमानः**=हे प्रभो! प्रार्थना किये जाते हुए आप **बृहते**=वृद्धि के कारणभूत **सूरे**=ज्ञानसूर्य के लिये मुझे **कथा**=कैसे **प्रतिब्रवः**=उपदेश करेंगे। आपसे उपदिष्ट हुआ-हुआ मैं ऊँचे से ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। हे प्रभो! आप **तुराय**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले **अदितये**=स्वास्थ्य के लिये **दिवः साध**=ज्ञान को सिद्ध करिये। आप से ज्ञान को प्राप्त करके हम युक्ताहार विहारवाले बनकर स्वस्थ बनें। शरीर में उत्पन्न होनेवाली सब कमियों को हम दूर करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु से प्रेरित होकर हम 'प्राणशक्ति' का वर्धन करें, ज्ञान को तथा स्वास्थ्य को प्राप्त करके सब कमियों को विनष्ट करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदवाणी रूप गौ का ज्ञानदुग्ध

ऋतेन ऋतं नियतमीळ आ गोरामा सचा मधुमत्पक्वमग्ने।
कृष्णा सती रुशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय॥ ९॥

(१) **ऋतेन**=यज्ञ के द्वारा अथवा बड़े नियमित आचरण के द्वारा **गोः**=वेदवाणीरूपी गौ से **ऋतम्**=सत्यज्ञान की **नियतम्**=निश्चय से **आ ईडे**=समन्तात् याचना करता हूँ। नियमित जीवन बिताता हुआ सत्य ज्ञान को प्राप्त करता हूँ। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **आमा**=यह अग्नि पक्व न होती हुई भी वेदवाणी रूप गौ **सचा**=हमारे जीवन में समवेत होती हुई **मधुमत्**=माधुर्यवाले **पक्वम्**=पूर्ण

परिपक्व ज्ञानदुग्ध को **पीपाय**=हमारे लिये बढ़ाती है (प्यायी वृद्धौ) (२) **कृष्णा सती**=(कृष् प्राप्तौ) प्राप्त हुई-हुई **एषा**=यह **रुशता**=देदीप्यमान, **धासिना**=धारण करनेवाले, **जामर्येण**=(जायनेत इति जाः प्रजाः, अमर्येण) प्रजाओं के अमरण हेतुभूत **पयसा**=ज्ञानदुग्ध से **पीपाय**=वेदवाणीरूप गौ हमारा आप्यायन करती है।

भावार्थ—ऋत के पालन से, नियमित जीवन से वेदज्ञान प्राप्त होता है। वेदवाणी रूप गौ का ज्ञानदुग्ध मधुर व पक्व होता है। यह ज्ञानदुग्ध देदीप्यमान-धारक व अमरण हेतुभूत है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अचर होते हुए चर होना (अस्पन्दमानः अचरत्)

ऋतेन हि ष्मा वृषभश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठ्येन।
अस्पन्दमानो अचरद्वयोधा वृषा शुक्रं दुदुहे पृश्निरूधः॥ १०॥

(१) **वृषभः**=अपने को शक्तिशाली बनानेवाला, **पुमान्**=जीवन को पवित्र बनानेवाला (पुनाति), **अग्निः**=अग्रगतिवाला व्यक्ति **हि ष्मा चित्**=निश्चय से **ऋतेन**=सत्य **पृष्ठ्येन**=धारक **पयसा**=ज्ञानदुग्ध से **अक्तः**=संपृक्त होता है (अञ्ज गतौ)। यह इस सत्य-धारक वेदज्ञान को प्राप्त करता है। (२) इस ज्ञान को प्राप्त करने से **अस्पन्दमानः**=विचलित व चंचल न होता हुआ यह **अचरत्**=गति करता है, कर्त्तव्य मार्ग पर दृढ़ता से चलता है इसीलिए **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करता है। **वृषा**=शक्तिशाली होता हुआ **पृश्निः**=(संस्पष्टाभासां) ज्ञानदीप्तियों के स्पर्श करनेवाले **ऊधः**=वेदवाणीरूप गौ के ऊधस् से **शुक्रम्**=देदीप्यमान पवित्र ज्ञानदुग्ध का **दुदुहे**=दोहन करता है।

भावार्थ—सत्य ज्ञान को प्राप्त करके हम अविचल भाव से कर्त्तव्य मार्ग पर आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

ऋत से अविद्यापर्वत का विदारण

ऋतेनाद्रिं व्यसन्भिदन्तः समङ्गिरसो नवन्त गोभिः।
शुनं नरः परि षदन्नुषासमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ॥ ११॥

(१) **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग को रसमय बनानेवाले उपासक **ऋतेन**=व्यवस्थित जीवन के द्वारा **अद्रिम्**=अविद्या-पर्वत को **सं भिदन्तः**=सम्यक् विदीर्ण करते हुए **व्यसन्**=अपने से दूर फेंकते हैं और **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **सं नवन्त**=संगत होते हैं। (२) **नरः**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले लोग **उषासम्**=उषाकाल में **शुनम्**=उस सुखस्वरूप परमात्मा की **परिषदन्**=उपासना करते हैं। **अग्नौ जाते**=उस प्रकाशमय प्रभु के आविर्भूत होने पर **स्वः**=प्रकाश **आविः अभवत्**=प्रकट होता है। प्रभु का आभास होने पर सारा अन्तःकरण प्रकाश से दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—व्यवस्थित जीवन के द्वारा हमारा अज्ञान दूर हो और हमें ज्ञान प्राप्त हो। प्रातः प्रभु के उपासन से हृदय प्रकाशित हो उठे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अमृत-अमृक्त

ऋतेन देवीरमृता अमृक्ता अर्णोभिरापो मधुमद्भिरग्ने।
वाजी न सर्गेषु प्रस्तुभानः प्र सदमित्स्रवितवे दधन्युः॥ १२॥

(१) **ऋतेन**=नियमित जीवन के द्वारा, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मधुमद्भिः अर्णोभिः**=माधुर्यवाले ज्ञानजलों के समुद्रों से (अर्णस्=ocean रायः समुद्राँश्चतुरः) **देवीः**=प्रकाशमय **अमृताः**=मृत्यु से बचानेवाले (न मृतं याभिः) **अमृक्ताः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं से बाधित न होनेवाले **आपः**=ज्ञानजल **सदं इत्**=सदा ही **सवितवे**=गतिशीलता के लिये **प्रदधन्युः**=(प्रगच्छन्ति) प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार प्राप्त होते हैं **इव**=जैसे **वाजी**=शक्तिशाली घोड़ा **सर्गेषु**=(attacks) आक्रमणों में **प्रस्तुभानः**=प्रोत्साहित किया जाता हुआ आगे बढ़ता है। (२) यहाँ 'मधुमान् अर्णस्' वेद हैं। उन वेदों से हमें नियमित जीवन के होने पर, यह ज्ञान प्राप्त होता है जो कि प्रकाशमय है, मृत्यु से हमें बचाता है, काम-क्रोध आदि शत्रुओं से बाधित नहीं होने देता। इस ज्ञान को प्राप्त करके हम सदा क्रियाशील होते हैं (सवितवे)।

भावार्थ—नियमित जीवन के द्वारा वेदज्ञान को प्राप्त करके हम प्रकाशमय जीवनवाले, रोगों मृत्यु से रहित, वासनाओं से अनाक्रान्त जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्मरणीय बातें

मा कस्य॑ य॒क्षं सद॒मिद्धु॒रो गा॒ मा वे॒शस्य॑ प्रमिन॒तो मापेः।

मा भ्रातु॑रग्ने॒ अनृ॑जोर्ऋ॒णं वे॒र्मा सख्यु॒र्दक्षं॑ रि॒पोर्भु॑जेम॥ १३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **कस्य**=किसी भी **हुरः**=हिंसक के **यक्षम्**=सम्पर्क को **सदं इत्**=सदा ही **मा गाः**=मत प्राप्त हो हिंसा की मनोवृत्तिवाले पुरुष के सम्पर्क में मत रह। **प्रमिनतः**=तेरे ह्रास को करनेवाले, तेरी कमी को चाहनेवाले, **वेशस्य**=पड़ोसी के सम्पर्क को **मा**=मत प्राप्त हो। तेरे ह्रास की कामनावाले **आपेः**=मित्र का दम्भ करनेवाले पुरुष के सम्पर्क में भी **मा**=मत हो। (२) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अनृजोः**=कुटिल **भ्रातुः**=भाई के **ऋणम्**=ऋण को **मापेः**=मत भोगनेवाला हो। कुटिल वृत्तिवाले से भी कभी ऋण नहीं लेना। **सख्युः**=मित्र के व **रिपोः**=शत्रु के **दक्षम्**=बल को **मा भुजेम**=भोगनेवाले न हों। इनके बल पर हम निर्भर न करें। सदा स्वाश्रित हों।

भावार्थ—हिंसक मनोवृत्तिवाले तथा हमारी कमी को चाहनेवाले पड़ोसी व मित्र के सम्पर्क से बचें। कुटिल भाई से भी कभी ऋण न लें। शत्रु व मित्र किसी भी अन्य के बल पर निर्भर न करके स्वाश्रित हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पापों व राक्षसीभावों का विनाश

रक्षा॑ णो अग्ने॒ तव॒ रक्ष॑णेभी रारक्षा॒णः सु॑मख प्रीणा॒नः।

प्रति॑ ष्फुर॒ वि रु॑ज वी॒ड्वंहो॑ ज॒हि रक्षो॒ महि॑ चिद्वावृधा॒नम्॥ १४॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **तव रक्षणेभिः**=अपने रक्षणों से **नः रक्ष**=हमारा रक्षण करिये। हे **सुमख**=उत्तम यज्ञोंवाले प्रभो! आप **रारक्षाणः**=हमारा खूब ही रक्षण करते हुए, **प्रीणानः**=हमारे उत्तम कर्मों से प्रीणित होते हुए **प्रतिष्फुर**=दीप्त होइये। (२) हमारे हृदयों में दीप्त होकर आप **वीडु अंहः**=प्रबल पापों को **विरुज**=हमारे से दूर कर दीजिये, उन्हें भग्न कर दीजिये, हमारे से दूर भगा दीजिये। और **महि वावृधानम्**=बहुत अधिक बढ़ते हुए, प्रबल होते हुए, **चित्**=भी **रक्षः**=राक्षसी भाव को **जहि**=नष्ट कर दीजिये।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम प्रबल पापों व राक्षसी भावों को विनष्ट कर सकें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देववाता शस्ति

एभिर्भव सुमना अग्ने अर्कैरिमान्त्स्पृश मन्मभिः शूर वाजान्।

उत ब्रह्माण्यङ्गिरो जुषस्व सं ते शस्तिर्देववाता जरेत॥ १५॥

(१) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **एभिः अर्कैः**=इन स्तुति साधनभूत मन्त्रों से **सुमनाः भव**=उत्तम मनवाला हो। जिस समय हम मन्त्रों द्वारा प्रभु स्तवन करते हैं, उस समय मानसवृत्ति अच्छी बनती ही है। (२) हे **शूर**=काम आदि शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले जीव! तू **इमान् वाजान्**=इन बलों को **मन्मभिः**=ज्ञानों के साथ **स्पृश**=छूनेवाला बन, ज्ञानों और बलों को प्राप्त करनेवाला बन। मस्तिष्क तेरा ज्ञान-सम्पन्न हो, शरीर बल सम्पन्न। (३) **उत**=और हे **अंगिरः**=प्रगतिशील जीव! तू **ब्रह्माणि**=इन ज्ञान की वाणियों को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला हो। **ते**=तेरी **देववाता**=दिव्य गुणों की प्रेरणा को देनेवाली **शस्तिः**=प्रभु की प्रशस्ति **संजरेत**=सम्यक् स्तुत हो। (जरिता=स्तोता) प्रभु का स्तवन जिन दिव्य गुणों के द्वारा किया जाता है, उस-उस दिव्यगुण को प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त होती ही है। एवं यह शस्ति 'देववाता' है। प्रभु को 'दयालु' नाम से स्मरण करता हुआ व्यक्ति दया के गुण को अपना पाता है।

भावार्थ—प्रभु स्तवन करते हुए हम उत्तम दिव्य गुणोंवाले, प्रशस्त मनवाले बनें। शक्ति व ज्ञान का सम्पादन करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वैदिक जीवन

एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचांसि।

निवचना कवये काव्यान्यशंसिषं मतिभिर्विप्र उक्थैः॥ १६॥

(१) हे **वेध**=मेधाविन्! **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **विदुषे**=ज्ञानी **तुभ्यम्**=तेरे लिये **एता**=ये **विश्वा**=सब **निण्या**=अन्तर्निहित गूढ अर्थवाले **वचांसि**=वेदवचन **नीथानि**=मार्ग पर ले चलनेवाले हैं, मार्गदर्शक हैं। इनके भाव को समझकर तदनुसार तूने जीवनयात्रा में मार्ग का आक्रमण करना है। (२) **कवये**=क्रान्तदर्शी पुरुष के लिये **काव्यानि**=प्रभु के ये वेद-वचन रूप काव्य (देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति) **निवचना**=निश्चय से कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाले हैं। हे **विप्र**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले जीव! मैंने **मतिभिः**=बुद्धियों के साथ **उक्थैः**=स्तोत्रों के साथ **अशंसिषम्**=इन वचनों का तेरे लिये शंसन किया है। इन वचनों से अपने कर्त्तव्यों को जानकर तदनुसार से अपना जीवन बिताना है। बुद्धि को परिष्कृत रखते हुए, प्रातः-सायं स्तवन करते हुए, कर्ममय जीवनवाला तूने बनना है।

भावार्थ—प्रभु ने बुद्धि दी है, स्तुति की भावना प्राप्त करायी है। हम बुद्धि व स्तुति को अपनाते हुए वेदानुकूल कर्मों में प्रवृत्त हों।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करें और प्रभु प्रेरणा के अनुसार चलें। अगले सूक्त को भी इन्हीं शब्दों से प्रारम्भ करते हैं कि ये अग्नि प्रभु हमारे राक्षसी भावों को दूर करें। राजा राष्ट्र से राक्षसी वृत्ति के लोगों को दूर करे—

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

राजा के दो मूल कर्त्तव्य

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥ १॥

(१) **पाजः**=शक्ति को **कृणुष्व**=करनेवाला हो। अपने शरीर में शक्ति का सम्पादन कर। **पृथ्वीम्**=विशाल **प्रसितिं न**=सेना की तरह 'प्रकृष्टा सितिः-बन्धनं-यस्याः' (जो क्रम में बद्ध होकर चलती है)। राजा शक्ति का सम्पादन करके अपने अनुभावविशेष से सेना परिवृत-सा प्रतीत हो। **इभेन**=(गतभयेन सा०) भयशून्य तेजस्विता से **अमवान्**=शक्तिशाली होता हुआ तू **राजा इव**=राजा की तरह **याहि**=गतिवाला हो। अपना शासक बनता हुआ कार्यों में व्यापृत हो। (२) **तृष्वीं प्रसितिं अनु**=क्षिप्रगामिनी सेना के साथ **द्रूणानः**=गति करता हुआ **अस्ता असि**=तू शत्रु सैन्य का नष्ट करनेवाला है। तू **रक्षसः**=अपने रमण के लिये औरों का क्षय करनेवाले राक्षसी वृत्ति के लोगों को **तपिष्ठैः**=संतापक अस्त्रों से **विध्य**=बींधनेवाला हो। राजा के राष्ट्र रक्षण के लिये दो महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य होते हैं, (क) शत्रु-सैन्य के आक्रमण को विफल करके शत्रु-सैन्य का विनाश करना तथा (ख) अन्दर के अपराधियों को उचित दण्ड देना। ये दोनों कार्य वही कर सकता है जो कि अपना राजा हो, जितेन्द्रिय हो। ऐसा ही व्यक्ति तेजस्विता के साथ विचरता हुआ प्रजा के लिये प्रभाववाला होता है। निस्तेज विषयासक्त व्यक्ति ने क्या शासन करना?

भावार्थ—राजा तेजस्विता का सम्पादन करे। पहले अपना राजा बने। सेना के साथ गति करता हुआ शत्रु-शैन्य को परास्त करे और राक्षसी वृत्ति के लोगों को दण्डित करे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अभ्रः निरीक्षण तथा शत्रु संहार

तव भ्रमास आशुया पतन्त्यनु स्पृश धृषता शोशुचानः।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसंन्दितो वि सृज विष्वगुल्काः॥ २॥

(१) हे राजन्! **तव भ्रमासः**=तेरी गतियाँ (movements) (सताननुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम्=राजा स्वयं भ्रमण करके अध्यक्षों के कार्यों को देखनेवाला हो) **आशुया**=शीघ्रता से **पतन्ति**=होती हैं, अर्थात् तू राष्ट्र में स्वयं चक्कर लगाता हुआ सब के कार्यों को देखनेवाला होता है। **शोशुचानः**=खूब दीप्त होता हुआ तू **धृषता**=धर्षण सामर्थ्य से **अनुस्पृश**=सब का स्पर्श करनेवाला हो, अर्थात् जहाँ भी तू कमी देखे, उसे तू तत्काल दूर करनेवाला बन। (२) अवसर आने पर हे **अग्ने**=राष्ट्र की प्रगति के कारणभूत राजन्! **जुह्वा**=अपनी शक्ति की अग्नि की ज्वालाओं के कारण (हूयते शत्रवः अस्यां) **असन्दितः**=न खण्डित हुआ-हुआ तू **तपूंषि**=शत्रु-संतापक अस्त्रों को (तलवार आदि) **पतंगान्**=(पतन् गच्छति) आकाश में फेंके जाने पर गति करनेवाले वाण आदि को तथा **उल्काः**=उल्काओं की तरह प्रतीत होनेवाले बम्ब आदि (bombs) को **विष्वग्**=चारों ओर **विसृज**=विसृष्ट करनेवाला हो। इन त्रिविध अस्त्र-शस्त्रों से तू शत्रुओं को सन्तप्त कर।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में भ्रमण करके निरीक्षण करता हुआ बुराइयों को दूर करे। शत्रुओं को त्रिविध शस्त्रास्त्र से विनष्ट करने के लिये यत्नशील हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गुप्तचरों का प्रेषण

प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः।
यो नो दूरे अघशंसो यो अन्त्यग्ने माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत्॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=राष्ट्र की अग्रगति के साधक राजन्! तू **स्पशः**=गुप्तचरों को **प्रति विसृज**=प्रत्येक दिशा में भेज। **तूर्णितमः भव**=कार्यों को शीघ्रता से करनेवाला हो। **अदब्धः**=काम-क्रोध आदि से न हिंसित होता हुआ तू **अस्याः विशः**=इस प्रजा का **पायुः**=रक्षक हो। (२) **यः**=जो **अघशंसः**=बुराई का शंसन करनेवाला **नः दूरे**=हमारे से दूर है अथवा **यः अन्ति**=जो समीप है, वह **व्यथिः**=पीड़ित करनेवाला **ते**=तुझे **माकिः**=मत **आदधर्षीत्**=धर्षित करनेवाला हो। कोई भी अघशंस तुझे पराभूत न कर सके। वह तेरे लिये दण्डनीय हो। उसे दण्ड देकर तू प्रजा का रक्षण करनेवाला बन।

भावार्थ—राजा गुप्तचर रूप आँखों से राष्ट्र को सम्यक् देखता हुआ, उचित व्यवस्थाओं को शीघ्रता से करनेवाला हो। कोई भी अघशंस राजा को अपने वशीभूत न करले। इन अघशंसों को राजा उचित दण्ड दे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सदा उठा हुआ (जागृवि)

उदग्ने तिष्ठ प्रत्या तनुष्व न्य१मित्राँ ओषतात्तिग्महेते।
यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=राजन्! **उत्तिष्ठ**=आलस्य रहित होकर 'जागृवि' होता हुआ उठ खड़ा हो। **प्रति आ तनुष्व**=समन्तात् अपनी शक्ति का विस्तार कर। हे **तिग्महेते**=तीक्ष्ण शस्त्रोंवाले राजन्! **अमित्रान्**=शत्रुओं को **नि ओषतात्**=निश्चय से आप जलाने, भस्म करनेवाले हों। (२) हे **समिधान**=शक्ति व ज्ञान से अपने को दीप्त करनेवाले राजन्! **यः**=जो **नः**=हमारी **अरातिम्**=शत्रुता को **चक्रे**=करता है, **तम्**=उस शत्रुभूत पुरुष को आप **नीचा**=न्यग्भूत करके (to put under) **धक्षि**=ऐसे जला देते हैं, **न**=जैसे कि **शुष्कं अतसम्**=सूखे काठ को जला दिया करते हैं।

भावार्थ—राजा सदा सावधान (जागृवि) होता हुआ राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को भस्म कर डाले। राष्ट्र-रक्षा ही राजा का प्राथमिक कर्त्तव्य है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शत्रु विनाश में लिहाज नहीं

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने।
अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्र मृणीहि शत्रून्॥ ५॥

(१) **ऊर्ध्वः भव**=लेटा न रह, उठ खड़ा हो। **अस्मद् अधि**=हमारे पर गालिब होनेवाले इन राक्षसों को **प्रतिविध्य**=तू विद्ध करनेवाला हो। हे **अग्ने**=राष्ट्रोन्नति साधक राजन्! तू **दैव्यानि आविष्कृणुष्व**=दिव्य शक्तियों को प्रकट करनेवाला हो, तू अलौकिक शक्तिवाला बन। (२) **यातुजूनाम्**=पीड़ा के लिये ही जिनका जव (वेग) है उन यातुधानों, राक्षसों के **स्थिरा**=दृढ़ धनुषों को **अवतनुहि**=अवपतित ज्यावाला, डोरी से रहित कर। **जामिम्**=चाहे रिश्तेदार हो **अजामिम्**=चाहे

रिश्तेदार न हो जो भी **शत्रून्**=शत्रु हैं उनको **प्रमृणीहि**=कुचल दे। राष्ट्र के शत्रुओं को तू विनष्ट करनेवाला हो, वहाँ रिश्तेदारी का भाव तुझे लिहाज के लिये प्रेरित न करे।

भावार्थ—राष्ट्र के अन्तः व बाह्य शत्रुओं को विनष्ट करने के लिये राजा सदा उद्यत हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वेदज्ञान का लाभ

स ते जानाति सुमतिं यविष्ठ य ईवते ब्रह्मणे गातुमैरत्।
विश्वान्यस्मै सुदिनानि रायो द्युम्नान्यर्यो वि दुरो अभि द्यौत्॥ ६॥

(१) हे **यविष्ठ**=हमारे से बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को मिलानेवाले प्रभो! **सः**=वह **ते**=आपकी **सुमतिम्**=कल्याणीमति को **जानाति**=जानता है, **यः**=जो **ईवते**=(गमनवते) इस कर्म का उपदेश देनेवाले **ब्रह्मणे**=वेदज्ञान के लिये **गातुम्**=मार्ग को **ऐरत्**=आक्रान्त करता है (ईर गतौ), अर्थात् जो वेदज्ञान की प्राप्ति के मार्ग पर चलता है, वह शुभ बुद्धि को प्राप्त करता है। इस वेद में प्रभु ने सुमति दी है। इस सुमति को अपनाने में ही कल्याण है। (२) जो इस सुमति को अपनाता है **अस्मै**=इस पुरुष के लिये **विश्वानि सुदिनानि**=सब दिन उत्तम व्यतीत होते हैं। इसके लिये **रायः**=ऐश्वर्य होते हैं, **द्युम्नानि**=इसे ज्ञान-ज्योतियाँ प्राप्त होती हैं। यह **अर्यः**=अपनी इन्द्रियों का स्वामी होता हुआ **दुरः**=सब इन्द्रिय द्वारों को **वि अभिद्यौत्**=विशिष्टरूप से दीप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति सुमति को प्राप्त करके सब दिनों को सुदिन बनाता है, ऐश्वर्यों को प्राप्त करता हैं, ज्ञान-ज्योतिवाला होता है, दीप्त इन्द्रिय द्वारोंवाला बनता हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

कैसा बने?

सेदग्ने अस्तु सुभगः सुदानुर्यस्त्वा नित्येन हविषा य उक्थैः।
पिप्रीषति स्व आयुषि दुरोणे विश्वेदस्मै सुदिना सासदिष्टिः॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सः इत्**=गतमन्त्र के अनुसार वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला वह पुरुष निश्चय से **सुभगः**=उत्तम सौभाग्यवाला **अस्तु**=हो। **सुदानुः**=यह खूब दानवाला हो अथवा वासनाओं का खण्डन करनेवाला हो। **यः**=जो **त्वा**=आपको **नित्येन हविषा**=सदा हवि के द्वारा **पिप्रीषति**=प्रीणित करना चाहता है, वह 'सुभग व सुदानु' हो। (२) **यः**=जो **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा आपको (पिप्रीषति) प्रीणित करता है, वह **स्वे आयुषि**=अपने जीवन में **असत्**=सदा बने रहे, पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करे। वह **दुरोणे**=घर में बना रहे, इसे इधर-उधर भटकना न पड़े। **अस्मै**=इसके लिये **विश्वा इत्**=सब ही **सुदिना**=दिन सुदिन हों। **सा**=वह **इष्टिः**=यज्ञ की **असत्**=फल-साधन से सम्पन्न हो।

भावार्थ—प्रभु भक्त सुभग व सुदानु बनता है। दीर्घ जीवन को प्राप्त करता है, इसे भटकना नहीं पड़ता। इसके दिन सुन्दर व्यतीत होते हैं, इसके यज्ञ सफल होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु की वाणी हमारे हृदयों में उच्चरित हो

अर्चामि ते सुमतिं घोष्यर्वाक्सं ते वावाता जरतामियं गीः।
स्वश्वास्त्वा सुरथा मर्जयेमास्मे क्षत्राणि धारयेरनु द्यून्॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपकी **सुमतिम्**=कल्याणीमति का **अर्चामि**=अर्चन करता हूँ। **ते**=तेरे प्रति **वावाता**=निरन्तर गति करती हुई **इयं गीः**=हमारी यह वाणी **संजरताम्**=स्तवन करनेवाली हो। आपके स्तवन से ही तो हम इस कल्याणीमति को प्राप्त करनेवाले होंगे। यह वेदवाणी **अर्वाक** हमारे अन्दर **घोषि**=उच्चारित हो, हम हृदयों में इस वाणी की प्रेरणा को प्राप्त करें। (२) और इस वाणी के अनुसार चलते हुए **स्वश्वाः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले, **सुरथाः**=उत्तम शरीर रथवाले होते हुए **त्वा**=आपका **मर्जयेम**=अपने हृदयों में शोधन व अलंकरण करें, आपकी ही परिचर्या करें। आप **अस्मे**=हमारे लिये **अनुद्यून्**=प्रतिदिन अधिकाधिक **क्षत्राणि**=बलों को **धारयेः**=धारण करिये। आपकी उपासना से हमारा बल प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होता चले।

भावार्थ—प्रभु पूजन करते हुए हम कल्याणीमति को प्राप्त करें। हृदयों में प्रभु का शोधन करते हुए हम प्रतिदिन प्रवृद्ध बलवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

क्रीडन्तः सुमनसः

इह त्वा भूर्या चरेदुप त्मन्दोषावस्तर्दीदिवांसमनु द्यून्।
क्रीळन्तस्त्वा सुमनसः सपेमाभि द्युम्ना तस्थिवांसो जनानाम्॥ ९ ॥

(१) **इह**=इस जीवन में **त्वा**=हे प्रभो! आपको यह जीव **त्मन्**=अपने अन्दर (आत्मनि) **भूर्या**=खूब ही **अनु द्यून्**=प्रतिदिन **उपाचरेत्**=उपासित करे। जो आप **दोषावस्तः**=दिन-रात **दीदिवांसम्**=ज्ञान-ज्योति से दीप्त हो रहे हैं। यह प्रभु का उपासन ही हमें ज्ञानदीप्त बनाता है। और इस ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करके हम संसार में फँसते नहीं। (२) उस समय **क्रीडन्तः**=संसार में क्रीडा करते हुए, क्रीडक की मनोवृत्ति से चलते हुए, (moving joyfully) **सुमनसः**=उत्तम मनोंवाले होकर **त्वा सपेम**=आपका पूजन करें। हम **जनानाम्**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों के **द्युम्ना**=ज्योतिर्मय धनों को **अभि**=लक्ष्य करके **तस्थिवांसः**=स्थित होनेवाले हों। हमारी (faith) आस्था यह हो कि हमने द्युम्नों को प्राप्त करना है, ज्योतिर्मय धनों को, नकि उन धनों को जो कि हमें अन्धा बनाकर कर्त्तव्य विमुख कर देते हैं।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रभु का उपासन करें। संसार में क्रीडक की मनोवृत्ति से अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ज्योतिर्मय धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

तस्य-त्राता, तस्य सखा (उसका रक्षक, उसका मित्र)

यस्त्वा स्वश्वः सुहिरण्यो अग्न उपयाति वसुमता रथेन।
तस्य त्राता भवसि तस्य सखा यस्त आतिथ्यमानुषग्जुजोषत्॥ १० ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यः**=जो **त्वा**=आपको **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला बनकर तथा **सुहिरण्यः**=उत्तम ज्योतिवाले होकर (हिरण्यं वै ज्योतिः) **वसुमता रथेन**=निवास के लिये सब आवश्यक वस्तुओं से युक्त शरीर-रथ से **उपयाति**=प्राप्त होता है, **तस्य**=उसके आप **त्राता भवसि**=रक्षक होते हैं। **तस्य सखा**=उसके मित्र होते हैं, **यः**=जो कि **ते आतिथ्यम्**=आपके लिये किये जानेवाले आतिथ्य को **आनुषक्**=निरन्तर **जुजोषत्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है, अर्थात् जो प्रतिदिन आपका अतिथिरूपेण स्वागत करने के लिये तैयार होता है। आप प्रतिदिन 'ब्रह्ममुहूर्त में आते हैं। यह उससे पूर्व ही उठकर आपके स्वागत के लिये उद्यत होता है। यही आपकी मित्रता

का अनुभव करता है।

भावार्थ—प्रभु उसके रक्षक होते हैं जो कि प्रभु की क्रियात्मक उपासना करता हुआ अपनी इन्द्रियों व शरीर को ठीक रखता है, ज्ञान को प्राप्त करता है। प्रभु उसके मित्र हैं जो कि प्रतिदिन प्रभु के आतिथ्य के लिये प्रेमपूर्वक उद्यत होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासना से प्रभु के बन्धुत्व की प्राप्ति

महो रुजामि बन्धुता वचोभिस्तन्मा पितुर्गोतमादन्वियाय।
त्वं नो अस्य वचसश्चिकिद्धि होतर्यविष्ठ सुक्रतो दमूनाः ॥ ११ ॥

(१) हे **होतः**=सब कुछ देनेवाले प्रभो! **यविष्ठ**=सब बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभो! **सुक्रतो**=उत्तम प्रज्ञा व शक्तिवाले प्रभो! **वचोभिः**=आपके स्तुति-वचनों के द्वारा होनेवाली **बन्धुता**=बन्धुता से मैं **महः**=शक्तिशाली भी राक्षसीभावों को **रुजामि**=भग्न करता हूँ, छिन्न-भिन्न करता हूँ। **तत्**=वह उपासन का भाव **मा**=मुझे **पितुः**=अपने पिता, जो कि **गोतमात्**=अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियों व ज्ञान की वाणियोंवाले थे, उनसे **अनु इयाय**=अनुक्रम से प्राप्त हुआ है। मैं जन्म से ही उपासना की वृत्ति को पा सका हूँ। वस्तुतः जो पिता 'गोतम' बनते हैं, उनके सन्तान उपासना की वृत्तिवाले होते ही हैं। (२) **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **अस्य वचसः**=इस स्तुति-वचन को **चिकिद्धि**=जानिये। हमारा यह स्तुति-वचन आपको प्राप्त हो। आप **दमूनाः**=(दानमनाः) दान के मनवाले हैं अथवा दान्त मनवाले हैं। आपकी स्तुति करता हुआ मैं दानमनवाला व दान्तमनवाला बनूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आपके स्तुति-वचनों का उच्चारण करता हुआ मैं आपके बन्धुत्व को प्राप्त करके प्रबल भी राक्षसीभावों को विनष्ट करनेवाला बनूँ। यह उपासन मुझे दान्तमनवाला बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु के बन्धुओं का जीवन (दैव-सर्ग)

अस्वप्नजस्तरणयः सुशेवा अतन्द्रासोऽवृका अश्रमिष्ठाः।
ते पायवः सध्र्यञ्चो निषद्याग्ने तव नः पान्त्वमूर ॥ १२ ॥

(१) हे अमूर! (मूङ् बन्धने+रक्) हे अप्रतिहतगते **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तव**=आपके बन्धुभूत **ते**=वे **पायवः**=प्रजाओं के रक्षक लोग **सध्र्यञ्चः**=(सह अञ्चन्ति) प्रजाओं के साथ मिलकर गतिवाले होते हुए **निषद्य**=प्रजाओं में ही स्थित होकर **नः**=हमारा **पान्तु**=रक्षण करें। प्रभु के ये भक्त सर्वभूतहित को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। ये अकेले में समाधि के आनन्द को ही लेते रहना भी ठीक नहीं समझते। (२) ये लोग **अस्वप्नजः**=स्वापशील नहीं होते, **अतन्द्रासः**=इन्हें तन्द्रा व आलस्य नहीं घेरे रहता। ये **तरणयः**=विपत्तियों से तरानेवाले होते हैं, लोगों के कष्टों को दूर करते हैं। **सुशेवाः**=उत्तम कल्याण करनेवाले होते हैं। **अवृकाः**=लोभ से रहित होते हैं, ये अपने सेवाकार्यों के लिये किन्हीं फलों की कामना नहीं करते (वृन्द आदाने) **अश्रमिष्ठाः**=ये थक नहीं जाते। अनथक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु भक्त आलस्यशून्य होकर लोकहित के कार्यों में लगे रहते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मामतेय का रक्षण

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः ॥ १३ ॥

(१) सामान्यतः मनुष्य ममता से ऊपर नहीं उठ पाता। ममता में फँसा हुआ वह तत्त्व को नहीं देख पाता तत्त्वदर्शन के अभाव में, पाप में प्रवृत्त हो जाता है। यह ममता में फँसा व्यक्ति यहाँ ममता का पुत्र 'मामतेय' कहलाया है। तत्त्वदर्शन न करने के कारण यह अन्धा है। गतमन्त्र के ज्ञानी पुरुष इन पुरुषों के लिये ज्ञान को देकर उसे पाप से बचाते हैं। ये **पायवः**=जो रक्षक हैं ते-वे **पश्यन्तः**=ज्ञानी पुरुष, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **मामतेयम्**=ममता में फँसे हुए मुझ ममता के पुत्र 'पुतले' को, **अन्धम्**=तत्त्वदर्शन करने में असमर्थ हुए-हुए को ज्ञान देकर **दुरितात्**=पाप से **अरक्षन्**=बचाते हैं। (२) **विश्ववेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु **तान्**=उन **सुकृतः**=उत्तम कर्म में व्यापृत लोगों को **ररक्ष**=रक्षित करता है। प्रभु से रक्षित हुए-हुए इनको **दिप्सन्तः**=हिंसित करने की कामनावाले **रिपवः**=शत्रु **इत्**=भी **अह**=निश्चय से **न देभुः**=हिंसित नहीं कर पाते। ये प्रभु का कार्य करते हैं, प्रभु इनका रक्षण करते हैं। इन प्रभु स्मरण करनेवालों को वासनाएँ पीड़ित नहीं कर पातीं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ममता ग्रस्त कर्त्तव्यच्युत लोगों को ज्ञानोपदेश देकर पापों से बचाते हैं। इन ज्ञानियों का रक्षण प्रभु करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—स्वराड्बृहती ॥ स्वरः—मध्यमः ॥

अनुष्ठुया

त्वया वयं सधन्य१स्त्वोतास्तव प्रणीत्यश्याम वाजान्।
उभा शंसा सूदय सत्यतातेऽनुष्ठुया कृणुह्यह्रयाण ॥ १४ ॥

(१) हे **अह्रयाण**=अह्रीतगमन, अत्यन्त प्रशस्त कार्योंवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वया**=आपकी कृपा से **सधन्यः**=समान धनवाले हों। वस्तुतः हम आपको ही अपना महान् धन जानें। इस सांसारिक धन को आप से ही प्राप्त हुआ-हुआ समझें। हमारे समाज में भी धन की बहुत विषमता न आ जाये। हम बहुत कुछ समान-धन बने रहें। (२) **त्वा**=आपसे **ऊतासः**=रक्षित हुए-हुए तव **प्रणीती**=आपके प्रणयन से हम **वाजान्**=शक्तियों को **अश्याम**=प्राप्त करें। आपका रक्षण हमें वासनाओं से बचाये। आपका मार्गदर्शन हमें मार्ग पर चलाये और इस प्रकार हम शक्ति का लाभ करें। (२) हे **सत्यताते**=सत्य का विस्तार करनेवाले प्रभो! आप हमारे जीवनों में **उभः शंसा**=दोनों शंसनों को **सूदय**=प्रेरित करिये। हम प्रातः-सायं दोनों समय प्रभु का उपासन करनेवाले बनें। वस्तुतः यह उपासन ही हमारे जीवन में सत्य का विस्तार करता है। **अनुष्ठुया कृणुहि**=हे प्रभो! (O, Almighty!) आप हमारे जीवन में प्रत्येक क्रिया को क्रम में होनेवाला करिये। आप 'उरुक्रम' हैं, हम भी क्रम को महत्त्व देनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु द्वारा हम समान धनवाले हों, प्रभु से प्रणीत होते हुए शक्ति को प्राप्त करें। प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करें और क्रम से कार्यों को करते हुए प्रभु के प्रिय हों। हमारा मार्ग अलज्जाजनक हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—रक्षोहाऽग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'द्रोह-निन्दा व अवद्य' से दूर

अया ते अग्ने समिधा विधेम प्रति स्तोमं शस्यमानं गृभाय।
दहाशसो रक्षसः पाह्यस्मान्द्रुहो निदो मित्रमहो अवद्यात् ॥ १५ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अया समिधा**=इस ज्ञानदीप्ति के द्वारा **ते विधेम**=हम आपका पूजन करते हैं। पृथिवीस्थ पदार्थों का ज्ञान ही प्रथम समिधा है, अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान द्वितीय समिधा तथा द्युलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान ही तृतीय समिधा है। इन समिधाओं के द्वारा हम प्रभु का पूजन करते हैं। (२) हे प्रभो! आप **शस्यमानम्**=हमारे से उच्चारण किये जाते हुए **स्तोमम्**=इस स्तुति समूह को **प्रतिगृभाय**=ग्रहण करिये। हमारे से की जानेवाली स्तुति हमें आपका प्रिय बनाये। (३) **अशसः**=प्रातः-सायं शंसन न करनेवाले और अतएव **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तिवालों को **दह**=आप भस्म कर दीजिये। हमारे जीवन में न शंसन व राक्षसीभाव उत्पन्न हों। हे **मित्रमहः**=मृत्यु व रोगों से बचानेवाले तेजवाले प्रभो (प्रमीतेः त्रायते, महस्=तेजस्) आप **अस्मान्**=हमें **द्रुहः**=द्रोह की भावना से **निदः**=परनिन्दा से तथा **अवद्यात्**=गर्हित कर्मों से **पाहि**=बचाइये। हम द्रोह-निन्दा व पापों से ऊपर उठें।

भावार्थ—प्रभु का पूजन हमें 'द्रोह, निन्दा व गर्हित कर्मों' से दूर करे।

इस सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ था कि राजा राष्ट्र का आन्तरिक व बाह्य शत्रुओं से समुचित रक्षण करे। उस सुरक्षित राष्ट्र में हम प्रभु का उपासन व वेदज्ञान प्राप्त करते हुए सुन्दरतम जीवनवाले बनें। अगले सूक्त में प्रभु का ही आराधन 'वैश्वानर' इस नाम से करते हैं—

[५] पञ्चमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वैश्वानर प्रभु का उपासन

वैश्वानराय मीळ्हुषे सजोषाः कथा दाशेमाग्नये बृहद्भाः।
अनूनेन बृहता वक्षथेनोप स्तभायदुपमिन्न रोधः ॥ १ ॥

(१) **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनरेवाले, **मीढुषे**=सब पर सुखों का सेचन करनेवाले उस **अग्नये**=अग्रगति के साधक प्रभु के लिये **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिपूर्वक उपासना करनेवाले हम **कथा**=स्तुति-कथनों के द्वारा, स्तोत्रों के उच्चारण के द्वारा **दाशेम**=अपना अर्पण करते हैं। वस्तुतः घर में सभी को मिलकर उस प्रभु की उपासना करनी चाहिए। यह प्रभु का उपासन ही हमें सब व्यसनों से बचाता है। (२) वे **बृहद्भाः**=अत्यन्त प्रवृद्ध ज्योतिवाले प्रभु **अनूनेन**=किसी भी प्रकार की न्यूनता से रहित **बृहता**=महान् **वक्षथेन**=(by upliftment) विकास के द्वारा **उपस्तभायत्**=हमें थामते हैं। इस प्रकार हमारा धारण करते हैं, **न**=जैसे कि **उपमित्**=(स्थूणा) स्तम्भ **रोधः**=बड़े-बड़े बाँधों को (stoppage) थामनेवाले होते हैं। हमारे जीवनरूप बाँधों के स्तम्भ वे प्रभु हैं। प्रभु की ज्ञान-ज्योति हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाती है। उस ज्ञान-ज्योति से हमारे जीवनों में मलिनताएँ नहीं आतीं। इस प्रकार वे प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—हम वैश्वानर प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें ज्ञान-ज्योति प्राप्त करायेंगे और इस ज्ञान के द्वारा हमारा धारण करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अमृतो विचेताः

मा निन्दत य इमां मह्यं रातिं देवो ददौ मर्त्याय स्वधावान्।
पाकाय गृत्सो अमृतो विचेता वैश्वानरो नृतमो यह्वो अग्निः ॥ २ ॥

(१) **मा निन्दत**=मत निन्दा करो, उस प्रभु की, **यः**=जो **देवः**=प्रकाशमय **स्वधावान्**=आत्मधारण शक्तिवाला प्रभु **पाकाय**=परिपक्तव्य प्रज्ञावाले **मर्त्याय**=मरणधर्मा **मह्यम्**=मेरे लिये **इमां रतिम्**=इस ज्ञान के दान को **ददौ**=देता है। प्रभु ही वस्तुतः ज्ञान को देकर हमारी बुद्धियों का ठीक परिपाक करते हैं। 'ज्ञान की ओर रुचि न करना' ही प्रभु का निन्दन है। (२) वे प्रभु **गृत्सः**='गृणाति' वेदज्ञान का उपदेश करते हैं। **अमृतः**=अमरणधर्मा हैं। **विचेताः**=विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं। **नृतमः**=सर्वोत्तम नेता हैं। **मह्वः**=महान् हैं। **अग्निः**=गतिशील हैं (अगि गतौ)। वस्तुतः उस प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके हमें भी उस प्रभु जैसा ही बनना है शक्तिशाली दीप्त मस्तिष्क।

भावार्थ—हमें सदा प्रभु का स्तवन करना। वे प्रभु ही ज्ञान देकर हमें परिपक्व प्रज्ञावाला बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मनीषा-साम-वेदवाणी

साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता वृषभस्तुविष्मान्।
पदं न गोरपगूळ्हं विविद्वानग्निर्मह्यं प्रेदु वोचन्मनीषाम् ॥ ३ ॥

(१) वे प्रभु **द्विबर्हाः**=ज्ञान व शक्ति दोनों दृष्टिकोणों से बढ़े हुए हैं। **तिग्मभृष्टिः**=तीव्र तेजवाले हैं। शत्रुओं को भून देनेवाली शक्ति से युक्त हैं। **सहस्ररेताः**=अपना वीर्य व पराक्रमवाले हैं। **वृषभः**=सर्वश्रेष्ठ हैं। **तुविष्मान्**=(बहुधनः सा०) अनन्त ऐश्वर्यवाले हैं। (२) यह **विष्मान्**=विशिष्ट ज्ञानवाले **अग्निः**=प्रकाशमय प्रभु **गोः**=वेदवाणी के **अपगूढम्**=अत्यन्त रहस्यमय **पदं न**=शब्दों की तरह **मनीषाम्**=बुद्धि को तथा **महि साम**=महनीय साम को, शान्ति प्राप्ति के साधन को **मह्यम्**=मेरे लिये **इत् उ**=निश्चय से **प्रवोचत्**=उपदिष्ट करें। ज्ञान की वाणियों को, बुद्धि को शान्ति को प्राप्त कराके ये प्रभु मुझे भी ज्ञान व शक्ति दोनों के दृष्टिकोण से बढ़ा हुआ बनाते हैं। इस प्रकार मैं शक्तिशाली व ऐश्वर्यसम्पन्न बन पाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु मुझे ज्ञानवाणी के गूढ़ पदों को, बुद्धि को व शान्ति को प्राप्त करायें। इससे मेरा ज्ञान, बल व ऐश्वर्य बढ़ेगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'वरुण व मित्र' के प्रिय धामों का अहिंसन

प्र ताँ अग्निर्बभसत्तिग्मजम्भस्तपिष्ठेन शोचिषा यः सुराधाः।
प्र ये मिनन्ति वरुणस्य धाम प्रिया मित्रस्य चेततो ध्रुवाणि ॥ ४ ॥

(१) **यः सुराधाः**=जो उत्तम ऐश्वर्योंवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु है, वह **तिग्मजम्भः**=तीक्ष्ण दष्ट्राओंवाला होता हुआ, न्याय की तीव्र जबड़ोंवाला, **तपिष्ठेन शोचिषा**=संतापक दीप्तियों (ज्वालाओं) से **तान्**=उनको **प्र**=प्रकर्षेण **बभसत्**=भस्म कर देता है, **ये**=जो कि **चेततः**=उस

सर्वज्ञ व चेतानेवाले **वरुणस्य**=पापों से निवारण करनेवाले प्रभु के तथा **मित्रस्य**=स्नेह करनेवाले प्रभु के **प्रिया ध्रुवाणि धाम**=प्रिय ध्रुव (अविनश्वर) तेजों को **प्रमिनन्ति**=हिंसित करते हैं। (२) वरुण व मित्र के प्रिय धामों के हिंसन का अभिप्राय यह है कि वह अपने को पापों से रोकता नहीं और सब के प्रति स्नेहवाला नहीं होता। जो इन प्रिय धामों का हिंसन न करता हुआ अपने को पापों से रोकता है और स्नेह की वृत्ति को अपनाता है वह अवश्य तेजस्वी बनता है। इन धामों का हिंसन करनेवाला प्रभु से दण्डनीय होता है।

भावार्थ—हम पापों का निवारण करते हुए वरुण के प्रिय बनें। सब के साथ स्नेह करते हुए मित्र के प्रिय बनें। निष्पाप व स्नेही बनकर हम प्रभु से दण्ड्य न हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पाप और नरक

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥ ५॥

(१) **अभ्रातरः**=जिनका भरण-पोषण करनेवाला कोई नहीं ऐसी **योषणः नः**=युवतियों के समान **व्यन्तः**=इधर-उधर भटकते हुए तथा **पतिरिपः**=पति से द्वेष करनेवाली **जनयः न**=पत्नियों के समान **दुरेवाः**=बुरे आचरणवाले **पापासः सन्तः**=पापी होते हुए पुरुष **अनृताः**=शरीर-सम्बन्धी क्रियाओं में ऋत का पालन न करते हुए, कामहैतुक क्रियाओं को करते हुए तथा **असत्याः**=असत्य व्यवहारवाले, धनोपार्जन में छलछिद्र से चलनेवाले **इदं गभीरं पदम्**=इस गहरे नरकरूप स्थान को **अजनत**=अपने लिये उत्पन्न करते हैं। इसी गभीर पद को गीता में 'ततो यात्यधमां गतिम्'=इन शब्दों में 'अधम गति' कहा गया है। 'निकृष्ट योनि में जाना या नरक में पड़ना' यही है। (२) जिन युवतियों का कोई रक्षक नहीं होता उनका आचरण विकृत हो ही जाता है। युवावस्था व असहायावस्था उन्हें पाप में धकेल देती है। इसी प्रकार पति द्वेषिणी स्त्री कभी सदाचार सम्पन्न नहीं हो सकती। इनकी तरह इधर-उधर भटकनेवाले व दुराचारी लोग अनृत व असत्य जीवनवाले होते हैं। इन्हें नरक भोगना पड़ता है। ये अधम गति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—अनृत व असत्यमय जीवन के होने पर नरक मिलता है, दुर्गति में जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

विज्ञान-सम्पत्तिमय स्वर्ग

इदं मे अग्ने कियते पावकामिनते गुरुं भारं न मन्म।
बृहद्दधाथ धृषता गभीरं यह्वं पृष्ठं प्रयसा सप्तधातु॥ ६॥

(१) गतमन्त्र में मित्र व वरुण के धाम का हिंसन करनेवाले, अनृत में चलनेवाले व्यक्ति का उल्लेख था। वह नरक व दुर्गति में पड़ता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति वरुण व मित्र के प्रिय धामों का हिंसन नहीं करता वह शुभ मार्ग पर चलता हुआ इतनी सम्पत्ति को प्राप्त करता है कि उसका उठाना भी कठिन-सा होता है। यह कहता है कि हे **पावक**=पवित्र करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अमिनते**=मित्र व वरुण के धाम (तेज) का हिंसन न करनेवाले **मे**=मेरे लिये, **कियते**=जो कि मैं अत्यल्प परिमाणवाला हूँ (मेरा परिमाण है ही कितना?) **इदम्**=इस **गुरुं भारं न**=गुरु भार की तरह **बृहत्**=बहुत अधिक **मन्म**=ज्ञान को **दधाथ**=आप धारण करते हैं। (२) उस ज्ञान को आप मेरे लिये धारण करते हैं, जो ज्ञान **गभीरम्**=अत्यन्त गम्भीर है, तत्त्व का दर्शक है,

यह्वम्=महान् है तथा **पृष्ठम्**=मानव जीवन के लिये पृष्ठ के समान है, धारक है तथा **धृषता प्रयसा**=शत्रुओं के धर्षणशील प्रयत्न के द्वारा **सप्तधातु**=शरीरस्थ सप्त ऋषियों का धारण करनेवाला है। 'सप्तर्षयः प्रतिहिताः शरीरे' शरीरस्थ सात ऋषि 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=दो कान, दो नासिकाछिद्र दो आँखें व मुख हैं। प्रभु से दिया हुआ ज्ञान इनका धारण करता है। ये स्वयं ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में दिये गये हैं। ज्ञान प्राप्ति में लगे रहने से ही इनका रक्षण होता है। इस ज्ञान में विचरना ही स्वर्ग में विचरना है 'स्वः गमयति'।

भावार्थ—यदि हम निष्पाप व स्नेह वृत्तिवाले बनते हैं तो प्रभु से हमें वह ज्ञान मिलता है जिससे हम सदा स्वर्ग में विचरते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पवित्र वेदज्ञान

तमिन्न्वे३व स॑म॒ना स॑मा॒नम॒भि क्रत्वा॑ पु॒नती धी॒तिर॑श्याः।

स॒सस्य॒ चर्म॒न्नधि॒ चारु॒ पृश्ने॒रग्रे॑ रु॒प आरु॑पितं॒ जबा॑रु॥ ७॥

(१) **तं इत् नुरव**=गतमन्त्र के अनुसार मित्र और वरुण के प्रिय तेजों का विनाश न करनेवाले थे, अर्थात् स्नेह व निष्पापता की वृत्तिवाले को, अतएव **समानम्**=(सं अनिति) उत्तम प्राणशक्तिवाले को **क्रत्वा**=कर्मों के द्वारा **समना**=सम्यक् प्राणित करनेवाली **धीतिः**=ज्ञानदुग्ध के पान की क्रिया **अभि क्रश्याः**=आभिमुख्येन प्राप्त होती है। यह स्नेह व निष्पापता की वृत्तिवाला ज्ञान को प्राप्त करता है, उस ज्ञान को जो कि उसकी प्राणशक्ति का वर्धन करनेवाला होता है। (२) यह ज्ञान-ज्योति **सस्य**=सर्वत्र शयान उस प्रभु की है। प्रभु सर्वत्र विद्यमान हैं, परन्तु वे हमारे हृदयों में प्रसुप्त अवस्था में ही है। उपासना आदि के द्वारा, मस्तिष्क व हृदयरूप अरणियों की रगड़ के द्वारा, वह प्रभु की ज्योति हमारे में जागरित होती है। **पृश्नेः**=यह ज्ञान-ज्योति उस प्रभु की है जो कि ज्योतियों के संस्प्रष्टा हैं। **रूपः**=यह ज्ञान-ज्योति उस प्रभु की है जो कि इसका अग्नि आदि ऋषियों के पवित्र हृदयक्षेत्र में आरोपण करनेवाले हैं। (३) यह ज्ञान-ज्योति **चर्मन् अधि**=चर्म के विषय में, हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाने के विषय में **चारु**=सुन्दर हैं 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'=यह ज्ञान तेरा आन्तर कवच बनता है, मेरी ढाल (चर्म) बनता है। इसके द्वारा मैं वासनाओं के आक्रमण को रोक पाता हूँ। यह **अग्रे आरुपितम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि' आदि के हृदयक्षेत्र में आरोपित हुआ है। **जबारु**=यह जबमानरोहि है, तीव्रगति से उन्नति का साधक है।

भावार्थ—हम स्नेह व निष्पापता की वृत्तिवाले बनेंगे तो प्रभु से पवित्र ज्ञान को प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'परम पद-प्रापक' वेदज्ञान

प्र॒वाच्यं॒ वच॑सः किं मे॑ अ॒स्य गुहा॑ हि॒तमुप॑ नि॒णिग्व॑दन्ति।

यदु॒स्रिया॑णा॒मप॒ वारि॑व॒ व्रन्पाति॑ प्रि॒यं रु॒पो अग्रं॑ प॒दं वेः॥ ८॥

(१) **मे**=मेरे लिये दिये गये **अस्य वचसः**=इस वेदज्ञानरूप वाणी का **किं प्रवाच्यम्**=कहना ही क्या है? यह तो एक अद्भुत ज्ञान है जो कि **गुहाहितम्**=बुद्धिरूप गुहा में स्थापित किया गया है। इसे **निणिक्**='नितरां नोक्ति शोणयति' अत्यन्त शोधक क्षीर (ज्ञानदुग्ध) **उपवदन्ति**=कहते हैं। (२) **यत्**=जिसको **उस्रियाणाम्**=क्षीर की उत्स्राविणी गौओं के **वाः इव**=रोगनिवारक

(वारयति इति) दूध की तरह **अपव्रन्**=प्रकट करते हैं। इस ज्ञानदुग्ध को वेदवाणीरूप गौ से प्राप्त करते हैं। यह ज्ञानदुग्ध सब मानस आधियों का निवारक होता है, उसी प्रकार निवारक होता है जैसे कि गौवों का दूध शरीर की व्याधियों का। यह ज्ञान **रुपः**=ज्ञान को अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में आरोपित करनेवाले **वेः**=गतिशील प्रभु के **अग्रं प्रियं पदम्**=सर्वश्रेष्ठ सर्वानन्दमय पद को **पाति**=हमारे लिये रक्षित करता है। यह ज्ञान हमें उस विष्णु के परम पद को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—यह वेदज्ञान अद्भुत है। यह शोधक है और हमें प्रभु के प्रिय परमपद को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'उपासकों का शक्ति भूत' वेदज्ञान

इ॒दमु॒ त्यन्महि॑ म॒हामनी॑कं॒ यदु॒स्रिया॒ सच॑त पू॒र्व्यं गौः।
ऋ॒तस्य॑ प॒दे अधि॒ दीद्या॑नं॒ गुहा॑ रघु॒ष्यद्र॑घु॒यद्वि॑वेद ॥ ९ ॥

(१) **इदम्**=यह गतमन्त्र में वर्णित **त्यत्**=वह वेदज्ञान **उ**=निश्चय से **महित्यन्**=महत्त्वपूर्ण है। यह **महाम्**=(मह पूजायाम्) उपासना की वृत्तिवालों का **अनीकम्**=बल है। यह वह ज्ञान है **यत्**=जिस **पूर्व्यम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले (पूर्वस्मिन् काले भवम्) या पालन व पूरण करने में उत्तम ज्ञान का **उस्त्रिया**=ज्ञानक्षीर का उत्स्रावण करनेवाली यह **गौः**=वेदवाणीरूप गौ **सचत**=अपने में समवेत करती है। (२) **ऋतस्य पदे**=ऋत के मार्ग में, अर्थात् जहाँ भी ऋत का आचरण होता है, अर्थात् जहाँ सब कार्य ऋतपूर्वक होते हैं, वहाँ **अधिदीद्यानम्**=आधिक्येन दीप्त होते हुए, **गुहा**=हृदय रूप गुहा में **रघुष्यद्**=तीव्र गति से प्रवाहित होते हुए इस वेदज्ञान को **रघुयत्**=शीघ्रता से गति करनेवाला, अपने कर्त्तव्य कर्मों को स्फूर्ति से करनेवाला **विवेद**=जानता है। वेदज्ञान को वह प्राप्त करता है जो कि (क) ऋतपूर्वक आचरण करे, (ख) अपने कर्त्तव्य कर्मों को करने में आलस्य न करे। ऐसे व्यक्ति के हृदय में ही यह प्रादुर्भूत होता है।

भावार्थ—वेदज्ञान को 'उपासक-ऋत का आचरण करनेवाले, कर्त्तव्य कर्मों को अप्रमाद से करनेवाले' प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले ऐसे बन जाते हैं। यह ज्ञान ही उनका बल होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शक्तिशाली-ज्ञानदीप्त-पवित्र

अध॑ द्युता॒नः पि॒त्रोः सचा॒साम॑नुत॒ गुह्यं॒ चारु॒ पृश्नेः।
मा॒तुष्प॒दे प॑र॒मे अन्ति॒ षद्गोर्वृष्णः॑ शो॒चिषः॒ प्रय॑तस्य जि॒ह्वा ॥ १० ॥

(१) **अध**=अब **द्युतानः**=ज्ञान-ज्योति का विस्तार करनेवाला **पित्रोः**=माता-पिता के **सचा**=साथ रहनेवाला यह बालक **आसः**=अपने मुख से **पृश्नेः**=ज्योतियों का स्पर्श करनेवाली इस वेदवाणी रूप गौ के **गुह्यम्**=रहस्यमय या बुद्धिरूप गुहा में स्थापन के योग्य **चारु**=सुन्दर ज्ञानदुग्ध को **अमनुत**=पीने का ध्यान करता है। जिस बालक को माता-पिता का ठीक संरक्षण प्राप्त होता है वह वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध को पीनेवाला बनता है। (२) **मातुः**=इस वेदमाता के **परमे पदे अन्ति षद्**=उत्कृष्ट चरणों के समीप होता हुआ, वेदमाता की उपासना करता हुआ, यह **वृष्णः**=शक्तिशाली **शोचिषः**=ज्ञान दीप्त **प्रयतस्य**=पवित्र प्रभु की **गोः**=वेदवाणी के ज्ञानदुग्ध को **जिह्वा**=जिह्वा से (अमनुत) पीने का ध्यान करता है। इस ज्ञानदुग्ध के पान से ही यह भी शक्तिशाली ज्ञानदीप्त

व पवित्र बन पायेगा। ऐसा बनकर यह प्रभु जैसा ही हो जाएगा।

भावार्थ—वेदवाणी के ज्ञानदुग्ध के पान से मैं शरीर में शक्तिशाली, मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त व हृदय में पवित्र बनूँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानम् अगर्वम्

ऋतं वोचे नमसा पृच्छ्यमानस्तवाशसा जातवेदो यदीदम्।
त्वमस्य क्षयसि यद्ध विश्वं दिवि यदु द्रविणं यत्पृथिव्याम्॥ ११ ॥

(१) ज्ञानी पुरुष कहता है कि **पृच्छ्यमानः**=औरों से प्रश्न किया जाता हुआ कि 'यह ज्ञान तुम्हें कहाँ से प्राप्त हुआ?' **नमसा**=नम्रता से **ऋतं वोचे**=सत्य-सत्य यही कहता हूँ यदि **इदम्**=यदि यह ज्ञान मेरे में है तो **तव आशसा**=हे प्रभो! आपकी स्तुति के द्वारा ही है, अर्थात् प्रभु की उपासना से ही यह ज्ञान प्राप्त हुआ है 'ज्ञानं ज्ञानवतामहम्'। (२) वस्तुतः हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **अस्य**=इसका **क्षयसि**=ऐश्वर्य करनेवाले हैं, इस ज्ञान धन के मालिक आप ही हैं। **यद्**=जो **ह**=निश्चय से **विश्वम्**=सम्पूर्ण **दिवि**=द्युलोक में, मस्तिष्क में ज्ञानरूप **द्रविणम्**=धन है और **यत्**=जो **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी में, शरीर में शक्तिरूप धन है उस सब के आप ही ईश्वर हैं 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि' 'बलं बलवतां चाहम्'।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ज्ञान का गर्व न करता हुआ उसे प्रभु का ही ऐश्वर्य मानता है। इसे न ज्ञान का गर्व होता है न शक्ति का। यह दोनों को ईश्वर प्रभु का जानता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्रविण व रत्न

किं नो अस्य द्रविणं कद्ध रत्नं वि नो वोचो जातवेदश्चिकित्वान्।
गुहाध्वनः परमं यन्नो अस्य रेकु पदं न निदाना अगन्म॥ १२ ॥

(१) **नः**=हमारे **अस्य**=इस जीवन का **किं द्रविणम्**=क्या द्रविण है, जीवनयात्रा की पूर्ति का साधनभूत धन क्या है। **कत् ह**=और क्या निश्चय से रत्न है, इसे रमणीय बनानेवाली वस्तु है? यह बात, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **नः विवोचः**=हमारे लिये आप उपदिष्ट करिये। (२) **चिकित्वान्**=ज्ञानी आप **नः**=हमारे लिये **यत्**=जो **अस्य अध्वनः**=इस मार्ग का **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट रूप है, उसे **गुहा**=हमारी बुद्धिरूप गुहा में (विवोचः) प्रतिपादित करिये। आप से मार्ग को जानकर, उस पर चलते हुए, हम यात्रा पूर्ति के साधनभूत 'द्रविणों व रत्नों को प्राप्त करें।' कहीं ऐसा **न**=न होकि अज्ञानवश **रेकु पदम्**=रिक्त मार्ग पर ही हम **अगन्म**=भटकते रहें और **निदानाः**=लोगों से निन्दमग्र हों, लोक निन्दा के पात्र न बन जाएँ। ज्ञान को प्राप्त करके ठीक ही मार्ग पर चलें। द्रविणों व रत्नों को प्राप्त करके यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करें।

भावार्थ—वस्तुतः 'द्रविण व रत्न क्या हैं?' प्रभु इसका हमें ज्ञान दें। उनकी प्राप्ति के साधनभूत मार्ग का भी ज्ञान दें। ताकि हम उस मार्ग पर चलते हुए द्रविणों व रत्नों को प्राप्त करके यात्रा को ठीक से पूरा कर पायें, भटकते ही न रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मर्यादा-प्रज्ञान व सुन्दर दिव्यगुण

का मर्यादा वयुना कद्ध वाममच्छा गमेम रघवो न वाजम्।
कदा नो देवीरमृतस्य पत्नीः सूरो वर्णेन ततनन्नुषासः॥ १३॥

(१) हे प्रभो! आप ही हमें यह बतायेंगे कि **का मर्यादा**=हमारे जीवन में क्या मर्यादाएँ हैं, किन नियमों में हमें चलना है? इसी प्रकार **(का) वयुना**=क्या प्रज्ञान हैं, किन चीजों को हमें जानना है? **कत् ह वाम**=और क्या निश्चय से सुन्दर है? सुन्दर दिव्य गुण कौन-कौन से हैं? ताकि हम **अच्छा गमेम**=उनकी ओर चलनेवाले हों। उसी प्रकार **न**=जैसे कि **रघवः**=शीघ्रगामी घोड़े **वाजम्**=संग्राम की ओर चलते हैं। मर्यादाओं को, प्रज्ञानों को व सुन्दर दिव्य गुणों को जानकर उनको प्राप्त करने के लिये हम यत्नशील हों हमारा जीवन मर्यादित हो, हम प्रज्ञानवाले हों, दिव्यगुण सम्पन्न बनें। (२) **कदा**=कब हमारा यह सौभाग्य होगा कि **वः**=हमारे लिये **देवीः**=प्रकाशमयी **अमृतस्य पत्नीः**=नीरोगता की रक्षिका **सूरः**=शक्तियों को उत्पन्न करनेवाली (प्रसवित्र्यः) **उषासः**=उषाएँ वर्णेन **ततनन्**=प्रभु के गुणवर्णन के साथ हमारी शक्तियों के विस्तार को करेंगी? हम उषाकाल में स्वाध्याय व चिन्तन के द्वारा जीवन को प्रकाशमय बनायें, प्राणायाम व आसनों के द्वारा शरीर व मन को स्वस्थ व नीरोग बनायें। प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए अपने अन्दर उत्तम गुणों को उत्पन्न करें।

भावार्थ—प्रभु हमें मर्यादाओं, प्रज्ञानों व सुन्दर दिव्य गुणों का ज्ञान दें। हमारे लिये उषाकाल प्रकाशमय-नीरोगता को देनेवाले व शक्ति को उत्पन्न करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वैश्वानरः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अनिर वचस् का परिणाम

अनिरेण वचसा फल्वेन प्रतीत्येन कृधुनातृपासः।
अधा ते अग्ने किमिहा वदन्त्यनायुधास आसता सचन्ताम्॥ १४॥

(१) **अनिरेण**=न उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले **वचसा**=वचन से **अतृपासः**=अतृप्ति को अनुभव करनेवाले लोग **असता**=असत् कार्यों से **आसचन्ताम्**= समवेत हों, युक्त हों। जिस समय मनुष्य को उत्कृष्ट ज्ञान नहीं प्राप्त होता, तो वह व्यर्थ समय को नष्ट करनेवाले उत्तेजक साहित्य को पढ़कर क्षणिक आनन्द को प्राप्त करके भी, किसी उत्कृष्ट प्रेरणा के न मिलने से असत् कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए ज्ञान वही ठीक है जो कि उत्कृष्ट प्रेरणा को दे। इसके विपरीत साहित्य 'असत्' है। **फल्वेन**=वह तो व्यर्थ व निःसार है। **प्रतीत्येन**=(प्रति न) विरुद्ध मार्ग पर ले जानेवाला है। **कृधुना**=अल्प है, मनोवृत्ति को व दृष्टिकोण को संकुचित बनानेवाला है। ऐसे ज्ञान से सन्तोष व तृप्ति का अनुभव नहीं हो सकता। (२) ऐसे न उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले, निस्सार, विरुद्ध मार्ग पर ले जानेवाले अल्प ज्ञान से अतृप्त वे लोग **अधा**=अब, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इह**=इस जीवन में, **ते**=आपका **किम्**=क्या **आवदन्ति**=चर्चण करते हैं? वे आपकी चर्चा न कर व्यर्थ की सांसारिक बातों में उलझे रहते हैं। **अनायुधासः**=इस संसार संग्राम में काम-क्रोध आदि से लड़ने के लिये उन्हें उत्तम ज्ञान शस्त्र प्राप्त नहीं होता। वे आयुध रहित होते हुए इनके शिकार हो जाते हैं और असत् कार्यों में प्रवृत्त होते रहते हैं।

भावार्थ—उत्कृष्ट वेदज्ञान न प्राप्त होने पर व्यर्थ के उत्तेजनात्मक साहित्य में उलझे हुए लोग

उत्कृष्ट प्रेरणा न मिलने से भटक जाते हैं। वे असत् मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वैश्वानरः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु के तेज से शोभा की प्राप्ति

अस्य श्रिये संमिधानस्य वृष्णो वसोरनीकं दम आ रुरोच।
रुशद्वसानः सुदृशीकरूपः क्षितिर्न राया पुरुवारो अद्यौत्॥ १५॥

(१) **अस्य**=इस **समिधानस्य**=हृदय देश में दीप्त होते हुए **वृष्णः**=शक्तिशाली **वसोः**=हम सबके निवास के कारणभूत प्रभु का **अनीकम्**=तेज (brightness) दमे=इस शरीर-गृह में **आरुरोच**=समन्तात् दीप्त होता है। यह प्रभु के तेज का दीप्त होना ही **श्रिये**=इस की श्री के लिये होता है। जो श्री है वह उस प्रभु के तेज के अंश से ही तो उत्पन्न हुई है 'यद् यद् विभूतिमंत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंश संभवम्'। (२) वे प्रभु **रुशत्**=देदीप्यमान हैं, **वसानः**=सब को बसानेवाले हैं, **सुदृशीकरूपः**=उत्तम दर्शनीय रूपवाले हैं। वे प्रभु **पुरुवारः**= बहुतों से वरणीय हैं, अर्थात् अनन्तः सभी प्रभु का वरण करते हैं। अथवा अनन्त वरणीय वस्तुओंवाले हैं। **अद्यौत्**=वे प्रभु हमारे अन्दर दीप्त होते हैं। वे प्रभु इस प्रकार हमारे अन्दर दीप्त होते हैं **न**=जैसे कि **राया**=धन से **क्षितिः**=इस पृथिवी पर निवास करनेवाला मनुष्य शोभा वाला होता है। धन से मनुष्य धन्य बनता है, तो सब धनों के ईश्वर उस पुरुवार प्रभु से तो वह कितनी ही अधिक शोभावाला होगा।

भावार्थ—प्रभु का तेज हमारे में दीप्त होता है तो हम शोभा ही शोभावाले हो जाते हैं।

सूक्त का भाव यह है कि हम वैश्वानर प्रभु का उपासन करें। प्रभु से वेदज्ञान को प्राप्त करके तदनुसार आचरण करते हुए हम प्रभु के तेज से अपने जीवन को दीप्त करें। अगले सूक्त में भी प्रभु का ही अग्नि नाम से स्मरण है—

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'यजीयान्' प्रभु

ऊर्ध्व ऊ षु णो अध्वरस्य होतरग्ने तिष्ठ देवताता यजीयान्।
त्वं हि विश्वमभ्यसि मन्म प्र वेधसश्चित्तिरसि मनीषाम्॥ १॥

(१) हे **अध्वरस्व होतः**=हमारे जीवनयज्ञ के होता **अग्ने**=प्रभो! आप नः=हमारे जीवनों में उ=निश्चय से **ऊर्ध्वः सुतिष्ठ**=उन्नत होकर स्थित होइये। हम जीवन में सर्वोपरि स्थान आपको ही दें। आप से प्राप्त शक्ति से ही यह जीवन-यज्ञ पूर्ण होता है। **देवताता**=दिव्यगुणों के विस्तार के निमित्त **यजीयान्**=आप ही उपास्य हैं। आपकी उपासना ही हमारे जीवनों में दिव्यगुणों का वर्धन होता है। (२) **त्वं हि**=आप ही **विश्वं मन्म**=सम्पूर्ण इच्छाओं (मन्म desires) को **अभि असि**=अभिभूत करनेवाले हैं, अर्थात् आपकी प्राप्ति के होने पर संसार के सब पदार्थों की इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'। हे प्रभो! आप अपनी प्राप्ति के द्वारा **वेधसः चित्**=ज्ञानी की भी **मनीषाम्**=बुद्धि को **तिरसि**=बढ़ाते हैं। प्रभु हमारी सांसारिक इच्छाओं को प्रबल नहीं होने देते और हमारी बुद्धि को सूक्ष्म करते हैं।

भावार्थ—हम जीवन-यज्ञ में प्रभु को सर्वोपरि स्थान दें। यही दिव्यगुणों के विस्तार का मार्ग है। प्रभु ही सांसारिक इच्छाओं को अभिभूत करके हमारी बुद्धियों को विकसित करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

द्युलोक में 'धूम' स्तम्भन

अमूरो होता न्यसादि विक्ष्व१ग्निर्मन्द्रो विदथेषु प्रचेताः।
ऊर्ध्वं भानुं सवितेवाश्रेन्मेतेव धूमं स्तभायदुप द्याम्॥ २॥

(१) वे प्रभु **अमूरः**=अमूढ़ व सर्वज्ञ हैं। **होता**=सब पदार्थों के देनेवाले हैं। **विक्षु न्यसादि**=सब प्रजाओं में प्रभु स्थित हैं। सब में स्थित होकर सबके जीवन-यज्ञों को वे प्रभु ही चला रहे हैं। **अग्निः**=वे अग्रणी हैं, **मन्द्रः**=आनन्द को प्राप्त करानेवाले हैं। **विदथेषु**=ज्ञान यज्ञों में **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञान देनेवाले हैं। (२) **सविता इव**=सूर्य की तरह **भानुम्**=दीप्ति को **ऊर्ध्वं अश्रेत्**=उत्कृष्ट रूप में आश्रय करनेवाले हैं। और **मेता इव**=एक स्तम्भ की तरह **उपद्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **धूमम्**=सब वासनाओं को कम्पित करके विनष्ट करनेवाले ज्ञान को **स्तभायत्**=थामनेवाले हैं। प्रभु हमें वह ज्ञान प्राप्त कराते हैं, जो ज्ञान हमारी वासनाओं को विनष्ट करता है।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। ज्ञान द्वारा हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

पशुओं का उत्कृष्ट अञ्जन

यता सुजूर्णी रातिनी घृताची प्रदक्षिणिद्देवतातिमुराणः।
उदु स्वरुर्नवजा नाक्रः पश्वो अनक्ति सुधितः सुमेकः॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से दी जानेवाली ज्ञानदीप्ति **यता**=संयमवाली है, यह हमारे जीवन को संयमवाला बनाती है। **सुजूर्णी**=यह वासनाओं को जीर्ण करनेवाली है। ज्ञान से वासनाएँ दग्ध होती ही हैं। यह **रातिनी**=दान की वृत्तिवाली है। ज्ञान को प्राप्त करके हम दानशील बनते हैं। **घृताची**=यह हमारे लिये मलों का क्षरण करनेवाली है, मलों को हमारे से दूर करनेवाली है और दीप्ति को देनेवाली है। (२) इस वेदवाणी को अपनानेवाला व्यक्ति **प्रदक्षिणित्**=(प्र-दक्षिण-इ 'गतौ') प्रकृष्ट सरल व उदार मार्ग से चलनेवाला है (दक्षिणे सरलो दारौ)। **देवतातिं उराणः**=यह यज्ञों का विस्तार करता है। **उ**=और निश्चय से **स्वरुः**=(स्व शब्दे) प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाला होता है, **नवजाः न**=नव उत्पन्न के समान, एकदम अजीर्ण के समान **अनक्तः**=आक्रमण करनेवाला, मार्ग पर आगे बढ़नेवाला होता है। **सुधितः**=(सुहितः) उत्तम तृप्ति का अनुभव करता हुआ, **सुमेकः**=प्रत्येक कार्य को उत्तमता से करता हुआ **पश्वः**=काम-क्रोध-लोभ आदि पशुओं को **उद् अनक्ति**=उत्कर्षेण प्राप्त करनेवाला होता है। इनको पूर्ण रूप से अपने वश में रखता हुआ इन्हें किसी भी प्रकार हानिकर नहीं होने देता। वशीभूत काम से यह वैदिक कर्मयोग की कामनावाला होता है। वशीभूत क्रोध से यह पापों को अपने से दूर रखता है और वशीभूत लोभ से यह ज्ञान को अधिकाधिक प्राप्त करता हुआ भी तृप्त नहीं हो जाता।

भावार्थ—प्रभु से दी गई वेदवाणी हमारे जीवनों को दिव्य जीवन बना देती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ज्ञान विस्तार व वासना क्षय

स्तीर्णे बर्हिषि समिधाने अग्ना ऊर्ध्वो अध्वर्युर्जुजुषाणो अस्थात्।
पर्यग्निः पशुपा न होता त्रिविष्ट्येति प्रदिव उराणः ॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार वेदवाणी को अपनाने पर जीवन पवित्र बनता है। उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदयरूप आसन के **स्तीर्णे**=बिछाने पर **अग्नौ समिधाने**=उस आसन पर उस अग्रणी प्रभु के दीप्ति के साथ विराजमान होने पर, अर्थात् पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश होने पर यह उपासक **ऊर्ध्वः**=सदा ऊपर स्थित होता है, आलस्य से खाट पर नहीं पड़ा रहता। यह **अध्वर्युः**=यज्ञों को अपने साथ विनियुक्त करनेवाला **जुजुषाणः**=प्रीतिपूर्वक उन यज्ञों का सेवन करता हुआ **अस्थात्**=स्थित होता है। (२) जब इस प्रकार यह अपने कर्त्तव्य कर्मों को करने में प्रवृत्त होता है, तो उस समय **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **पशुपाः न**=ग्वाले के समान **परि**=इसका चारों ओर से रक्षण करते हैं। वस्तुतः हम गौओं के समान होते हैं, प्रभु ग्वाले के रूप में हमारे रक्षक होते हैं। यह प्रभु से रक्षित व्यक्ति **होता**=यज्ञशील होता है। **त्रिविष्टि एति**=शरीर, मन, बुद्धि तीनों का व्यापन करता हुआ गति करता है। **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानों को **उराणः**=विस्तृत करता हुआ होता है। यह ज्ञान का विस्तार ही वासनाओं के लाघव का साधन बनता है जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वासनाएँ समाप्त होती जाती हैं।

भावार्थ—आदर्श जीवन यही है कि ज्ञान का विस्तार करते हुए हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ। उस हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मधुवचा ऋतावा

परि त्मना मितद्रुरेति होताग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा।
द्रवन्त्यस्य वाजिनो न शोका भयन्ते विश्वा भुवना यदभ्राट्॥ ५॥

(१) गतमन्त्र का ज्ञान विस्तार करनेवाला व्यक्ति **त्मना**=उस आत्मा के साथ, अर्थात् प्रभु का विस्मरण न करता हुआ **मितद्रुः**=नपी-तुली गतिवाला होता हुआ **परि एति**=अपने कर्त्तव्य कर्मों में गतिवाला होता है। **होता**=यह दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है। **अग्निः**=प्रगतिशील, **मन्द्रः**=आनन्दमय स्वभाववाला, **मधुवचाः**=मधुर वचनोंवाला व **ऋतावा**=ऋत का पालन करनेवाला होता है। सब कार्यों को यह ठीक समय व ठीक स्थान पर करता है। (२) **अस्य शोकाः**=इसकी ज्ञानदीप्तियाँ (शुच दीप्तौ) **वाजिनः न**=शक्तिशाली अश्वों की तरह **द्रवन्ति**=गतिवाली होती हैं। इसके ज्ञान का प्रकाश चारों ओर फैलता है और उस ज्ञान के अनुसार इसकी सब क्रियाएँ होती हैं। इन ज्ञानपूर्वक क्रियाओं से **यद्**=जब यह **अभ्राट्**=चमकता है तो **विश्वाभुवना**=सब लोक **भयन्ते**=इससे भयभीत होते हैं। इस को कोई भी अभिभूत नहीं कर पाता। यह अपराजित होता है।

भावार्थ—हम नपी तुली गतिवाले बनें। ज्ञानपूर्वक गति करते हुए सदा अपराजित हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

भद्रा संदृक्

भद्रा ते अग्ने स्वनीक सन्दृग्घोरस्य सतो विषुणस्य चारुः।
न यत्ते शोचिस्तमसा वरन्त न ध्वस्मानस्तन्वी३ रेप आ धुः॥ ६॥

(१) गतमन्त्र के 'मितद्रु' के लिये ही कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील **स्वनीक**=उत्तम तेजस्वितावाले (अनीक=extreme brightness) जीव! **घोरस्य सतः**=अपनी तीव्र ज्योति के कारण शत्रुओं के लिये भयंकर होते हुए भी **ते**=तेरी **संदृक्**=दृष्टि **भद्रा**=कल्याणकारिणी है।

विषुणस्य=चारों ओर व्याप्त होनेवाली ज्योतिवाले तेरी दृष्टि **चारुः**=रमणीय है, अर्थात् शत्रु भयंकर ज्ञान-ज्योतिवाला यह पुरुष कल्याणकारिणी रमणीय दृष्टि से ही सबको देखता है। (२) **यत्**=जो **ते**=तेरी **शोचिः**=ज्ञानदीप्ति है, उसे कोई भी **नमसा**=अन्धकार से **न वरन्त**=आच्छादित करनेवाले नहीं होते, अर्थात् इसका ज्ञान वासनान्धकार से आवृत नहीं हो जाता। तथा **ध्वस्मानः**=ध्वंसक वृत्तिवाले राक्षसी भाव **तन्वी**=इसके शरीर में **रेपः न आधुः**=दोषों का आधान नहीं करते, अर्थात् इसका शरीर रोगादि से आक्रान्त नहीं होता और मन वासनाओं से अभिभूत नहीं होता।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष तेजस्वी व शत्रु भयंकर होता हुआ कल्याणकारिणी व रमणीय दृष्टि से सब को देखता है। इसका ज्ञान वासनान्धकार से आवृत नहीं होता और इसका शरीर नीरोग बना रहता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अविहत शक्तिवाले प्रभु

न यस्य सातुर्जनितोरवारि न मातरापितरा नू चिदिष्टौ।
अधा मित्रो न सुधितः पावकोऽग्निर्दीदाय मानुषीषु विक्षु॥ ७॥

(१) **यस्य**=जिस **जनितोः**=सर्वोत्पादक उस प्रभु का **सातुः**=दान **न अवारि**=रोका नहीं जा सकता, **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **मानुषीषु विक्षु**=मानव प्रजाओं में **दीदाय**=दीप्त होते हैं। **नु चित्**=शीघ्र ही **इष्टौ**=(इष प्रेरणे) उस प्रभु के प्रेरण में चलते हुए **मातरा पितरा**=द्यावापृथिवी न (अवारि) किसी से रोके नहीं जा सकते। प्रभु की प्रेरणा में चलते हुए इन द्यावापृथिवी की गति को कोई विहत नहीं कर पाता। (२) **अधा**=अब यह अनिवारित शक्तिवाला प्रभु **मित्रः न**=सबके हित चाहनेवाले के समान **सुधितः**=सब में उत्तमता से स्थापित होता है और **पावकः**=सबको पवित्र करनेवाला है। मित्र का सर्वमहान् कार्य यही है कि वह अपने साथी के जीवन को पवित्र बनाये।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति किसी से विहत नहीं की जाती। वे प्रभु हमारे सच्चे मित्र व हमारे जीवन को पवित्र करनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्राणसाधना-प्रभु दर्शन

द्विर्यं पञ्च जीजनन्त्संवसानाः स्वसारो अग्निं मानुषीषु विक्षु।
उषर्बुधमथर्यो न दन्तं शुक्रं स्वासं परशुं न तिग्मम्॥ ८॥

(१) शरीर में '**द्विः पञ्चः**'=दस प्राण हैं। ये प्राणायाम के द्वारा निरुद्ध होने पर चित्त की एकाग्रता के द्वारा प्रभु का प्रकाश करनेवाले हैं। सो ये '**स्वः-सारः**' आत्मतत्त्व की ओर गतिवाले कहलाते हैं। ये प्राण **संवसानाः**=शरीर में उत्तमता से निवास करते हुए **मानुषीषु विक्षु**=मानव प्रजाओं में **यं अग्निम्**=जिस अग्रणी प्रभु को **जीजनन्**=प्रादुर्भूत करते हैं। (२) इस प्रकार प्रादुर्भूत करते हैं **न**=जैसे कि **अथर्यः**=ज्ञान ज्योतिवाली स्त्रियाँ एक ऐसी सन्तान को जन्म देती हैं जो कि (क) **उषर्बुधम्**=प्रातःकाल प्रबुद्ध होनेवाली है। (ख) **दन्तम्**=(दम्+त) इन्द्रियों का दमन करनेवाली है, (ग) **शुक्रम्**=ज्ञान से दीप्त है, (घ) **स्वासम्**=उत्तम मुखवाली है, सदा शुभ शब्द बोलनेवाली है। (ङ) **परशुं न तिग्मम्**=कुठार की तरह तीव्र है। जैसे एक कुल्हाड़ा वृक्ष को काट डालता है, इसी प्रकार ये वासनावृक्ष को काटनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा प्रभु-दर्शन करनेवाले हों, जैसे कि ज्ञान ज्योतिवाली स्त्रियाँ एक उत्तम सन्तान का दर्शन करती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

(देवताति के लिये प्रार्थना) इन्द्रियाँ

तव त्ये अग्ने हरितो घृतस्ना रोहितास ऋज्वञ्चः स्वञ्चः।
अरुषासो वृषण ऋजुमुष्का आ देवतातिमह्वन्त दस्माः॥ ९॥

(१) हे **अग्ने**=प्रभो! **तव**=आपके **त्ये**=वे **हरितः**=इन्द्रियाश्व **घृतस्नाः**=दीप्ति को टपकानेवाले हैं, बड़े दीप्त हैं। **रोहितासः**=तेजस्विता के कारण रक्तवर्ण के हैं। **ऋज्वञ्चः**=सरल गतिवाले हैं, **स्वञ्चः**=उत्तम गतिवाले हैं। **अरुषासः**=ये आरोचमान है, **वृषणः**=शक्तिशाली हैं। **ऋजुमुष्काः**=सरल व शक्तिशाली (straight and strong) हैं। ये **दस्माः**=दर्शनीय इन्द्रियाश्व **देवतातिम्**=दिव्यगुणों के विस्तार को, व यज्ञ को **आ अह्वन्त**=पुकारते हैं। दिव्यगुणों के विस्तार के लिये व यज्ञों के लिये प्रार्थना करते हैं। (२) जिस समय हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानदीप्त आरोचमान होती हैं और कर्मेन्द्रियाँ तेजस्वी, शक्तिशाली होती हैं, उस समय हमारी वृत्ति दिव्यगुणों के विस्तारवाली होती है, हमारा झुकाव यज्ञात्मक कर्मों की ओर होता है।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ ज्ञानदीप्त व तेजस्वी हों। हम दिव्यगुणों के विस्तारवाले व यज्ञिय वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अर्चयः-ज्ञान-ज्योतियाँ

ये ह त्ये ते सहमाना अयासस्त्वेषासो अग्ने अर्चयश्चरन्ति।
श्येनासो न दुवसनासो अर्थं तुविष्वणसो मारुतं न शर्धः॥ १०॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ये**=जो **ह**=निश्चय से **त्ये**=वे प्रसिद्ध **ते**=आपकी **अर्चयः**=ज्योतियाँ हैं, वे **सहमानाः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का अभिभव करनेवाली हैं। **अयासः**=गतिशील हैं, कर्मों में हमें प्रेरित करनेवाली हैं। **त्वेषासः**=दीप्तिवाली हैं। **दुवसनासः**=परिचरणीय हैं, सेवनीय हैं। इन ज्ञान-ज्योतियों को हमें प्राप्त करना ही चाहिए। (२) **श्येनासः न**=तीव्र गतिवाले बाजों की तरह **अर्थं चरन्ति**=अर्थनीय-वाञ्छनीय-वस्तु की ओर गतिवाली होती हैं। शीघ्रता से अर्थ को प्राप्त करानेवाली होती हैं। ये ज्ञान-ज्योतियाँ **तुविष्वणसः**=महान् स्वनवाली होती हैं, खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करनेवाली होती हैं। ये **मारुतं शर्धः न**=प्राणों के सैन्य के समान होती हैं। जिस प्रकार शरीर में प्राणों की सेना रोगकृमियों का विनाश करती है, उसी प्रकार ये अर्थियाँ वासनाओं को विदग्ध करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रभु की दी हुई ज्ञान-ज्योतियाँ हमें गतिशील बनाती हैं, हमारे आन्तर शत्रुओं का विनाश करती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-स्तवन-यज्ञ

अकारि ब्रह्म समिधान तुभ्यं शंसात्युक्थं यजते व्यू धाः।
होतारमग्निं मनुषो नि षेदुर्नमस्यन्त उशिजः शंसमायोः॥ ११॥

(१) हे **समिधान**=हृदय देश को दीप्त करनेवाले प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिये **ब्रह्म अकारि**=हमारे से ज्ञान प्राप्त किया जाता है। ज्ञान ही तो आपकी प्राप्ति का मुख्य साधन है। आपकी प्राप्ति के लिये ही स्तोता **उक्थम्**=स्तोत्र का **शंसाति**=शंसन करता है। इसी उद्देश्य से यजमान **यजते**=यज्ञ करता है। आप **ऊ**=निश्चय से **विधाः**=इन सबके लिये धनों का धारण करते हैं, इनके योगक्षेम को चलाते हैं। (२) **मनुषः**=विचारशील **उशिजः**=प्रभुप्राप्ति की कामनावाले पुरुष **होतारम्**=सब कुछ देनेवाले **आयोः शंसम्**=मनुष्य के शंसनीय **अग्निम्**=उस प्रभु को **नमस्यन्तः**=पूजित करते हुए **निषेदुः**=उपासना में बैठते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिये (क) ज्ञान, (ख) स्तवन, (ग) यज्ञ साधनरूप हैं। उस प्रभु का प्रतिदिन उपासन करना ही चाहिए।

प्रभु की उपासना से चलनेवाले सुन्दर जीवन का सारे सूक्त में चित्रण है। अगले सूक्त में कहते हैं कि जीवन के सौन्दर्य के लिये प्रभु ही उपास्य है—

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

धाता-अप्नवान्-भृगु

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥ १॥

(१) **अयम्**=यह, **इह**=इस मानव जीवन में, **प्रथमः**=सर्वश्रेष्ठ (=उत्तम) प्रभु **धातृभिः**=अपने अन्दर सोम का धारण करनेवालों से **धायि**=धारण किया जाता है। सोम (वीर्य) का धारण करनेवाला पुरुष ही उस प्रभु का हृदय देश में दर्शन करनेवाला होता है। यह देखता है कि ये प्रभु ही **होता**=इस सृष्टियज्ञ के होता हैं, वे ही सब कुछ देनेवाले हैं (हु दाने)। **यजिष्ठः**=वे ही संगतिकरण योग्य व समर्थनीय हैं, प्रभु के प्रति ही हमें अपना अर्पण कर देना चाहिए। **अध्वरेषु ईड्यः**=वे प्रभु ही हिंसा रहित कर्मों में स्तुति के योग्य हैं। सब अध्वर प्रभु कृपा से ही तो पूर्ण होते हैं। (२) प्रभु वे हैं **ये**=जिनको **अप्नवानः**=कर्मशील-कर्मतन्तु का ताना ताननेवाले लोग **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) तपस्या की अग्नि में अपना परिपाक करनेवाले लोग **विरुरुचुः**=अपने हृदयों में दीप्त करते हैं। उस प्रभु को अपने हृदयों में दीप्त करते हैं, जो कि **वनेषु**=उपासकों में (वन संभक्तौ) **चित्रम्**=(चित्) ज्ञान को देनेवाले हैं तथा **विशे विशे**=प्राणिमात्र के लिये, संसार में प्रविष्ट प्रत्येक प्राणी के लिये **विभ्वम्**=व्याप्तिवाले हैं (pervading) अथवा ध्यान करनेवाले हैं (contemplating)। प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं, पर उपासक ही अन्तःस्थित प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति 'धाता, अप्नवान् व भृगुओं' को होती है, सोम (वीर्य) का धारण करनेवाले, क्रियाशील तपस्वी ही प्रभु को देखते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

प्रभु का निरन्तर स्मरण (आनुषक् चेतन)

अग्ने कदा त आनुषग्भुवद्देवस्य चेतनम्। अधा हि त्वा जगृभ्रिरे मर्तासो विक्ष्वीड्यम्॥ २॥

(१) **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! **कदा**=जब कभी भी **देवस्य ते**=प्रकाशमय आपका **चेतनम्**=(चिती संज्ञाने) संज्ञान **आनुषक्**=निरन्तर **भुवत्**=होता है। **अधा हि**=तब ही **विक्षु**

ईड्वम्=सब प्रजाओं में उपास्य **त्वा**=आपको **मर्तासः**=मनुष्य **जगृभ्रिरे**=ग्रहण करते हैं। (२) प्रभु के निरन्तर संज्ञान का भाव यह है कि हम जब अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनकर विषयासक्ति से ऊपर उठ जाते हैं तभी प्रभु का ग्रहण होता है। आपत्ति के समय स्वल्पकाल के लिये प्रभु का स्मरण हुआ और फिर उसे भूल गये तो इस प्रकार प्रभु का ग्रहण नहीं होता। यह आर्तभक्त (दुःखी भक्त) प्रभु का अनन्य भक्त नहीं बनता, यह प्रभु का दर्शन भी नहीं कर पाता। ज्ञानी भक्त ही अनन्य भक्ति को करता हुआ प्रभु का ग्रहण करता है। वह प्राणिमात्र में उस 'सम' प्रभु का प्रकाश देखता है 'विद्या विनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'।

भावार्थ—प्रभु का निरन्तर स्मरण ही हमें प्रभु ग्रहण के योग्य बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

प्रभु ग्रहण किस रूप में ?

ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः। विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे॥ ३॥

(१) गतमन्त्र में कहा था कि जब प्रभु का निरन्तर संज्ञान होता है तब ये ज्ञानी भक्त प्रभु का दर्शन करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि वे उसे किस रूप में देखते हैं? **ऋतावानम्**=ऋत का रक्षण करनेवाले के रूप में **पश्यन्तः**=देखते हुए होते हैं। प्रभु के निर्मित संसार में प्रत्येक पिण्ड 'ऋत' पूर्वक गति कर रहा है। नाम मात्र भी वहाँ गलती नहीं, सब पिण्ड ठीक समय व ठीक स्थान पर गति में हैं। **विचेतसम्**=हृदयस्थरूपेण वे सभी को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करा रहे हैं। पवित्र हृदय लोग उस ज्ञान का ग्रहण करते हैं, दूसरे नहीं। उस प्रभु को ये इस प्रकार देखते हैं, **इव**=जैसे कि **द्याम्**=द्युलोक को **स्तृभिः**=नक्षत्रों से। नक्षत्र जहाँ दीप्त हो रहे हैं वही द्युलोक है। इसी प्रकार ये सूर्य-चन्द्र-तारे जिसके द्वारा दीप्त किये जा रहे हैं, वे ही प्रभु हैं। इस प्रकार इन पिण्डों में प्रभु की महिमा को देखते हुए वे प्रभु का दर्शन करते हैं। (२) उस प्रभु का दर्शन करते हैं, जो कि **दमे दमे**=प्रत्येक गृह में **विश्वेषां अध्वराणाम्**=सब यज्ञों के **हस्कर्तारम्**=प्रभासक (प्रकाशक) हैं। प्रभु ही सब यज्ञों का ज्ञान देते हैं, वे ही इन यज्ञों के रक्षक (भोक्ता) व स्वामी (प्रभु) हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभु देव च'।

भावार्थ—प्रभु प्राकृतिक जगत् में ऋत का रक्षण करते हैं, चेतन जगत् में हृदयस्थरूपेण ज्ञान प्राप्त कराते हैं। पिण्ड-पिण्ड में प्रभु की महिमा दिखती है। वे ही सब यज्ञों के भोक्ता व प्रभु हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

विवस्वान् का दूत

आशुं दूतं विवस्वतो विश्वा यश्चर्षणीरभि। आ जभ्रुः केतुमायवो भृगवाणं विशेविशे॥ ४॥

(१) **आयवः**=गतिशील पुरुष उस प्रभु को **आजभ्रुः**=ग्रहण करते हैं **यः**=जो कि **विश्वाः** **चर्षणीः अभि**=सब मनुष्यों का लक्ष्य करके **केतुम्**=प्रज्ञान को देनेवाले हैं। **आशुम्**=सब में व्याप्त हैं (अशू व्याप्तौ), इसी से **विवस्वतः**=(विवासन वतः) अज्ञान का विवासन (निराकरण) करनेवाले पुरुष के लिये **दूतम्**=ज्ञान का सन्देश देनेवाले हैं। जो भी व्यक्ति वासनाओं के आवरण को हटाने का प्रयत्न करता है प्रभु उसके लिये ज्ञान को प्राप्त कराते हैं। (२) वे प्रभु तो **विशे** **विशे**=प्रत्येक प्रजा के लिये **भृगवाणम्**=भृगु की तरह आचरण कर रहे हैं। जैसे आचार्य शिष्य को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करता है, इसी प्रकार वे प्रभु सभी के लिये ज्ञान दे रहे हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु सभी के लिये ज्ञान का सन्देश दे रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

सप्त धामभिः

तमीं होतारमानुषक्चिकित्वांसं नि षेदिरे। रण्वं पावकशोचिषं यजिष्ठं सप्त धामभिः ॥ ५ ॥

(१) **ईम्**=निश्चय से **तम्**=उस प्रभु को **आनुषक् निषेदिरे**=निरन्तर उपासित करते हैं। जो कि **होतारम्**=इस सृष्टि यज्ञ के होता हैं, सब कुछ देनेवाले हैं तथा **चिकित्वांसम्**=ज्ञानी हैं। वे प्रभु ही सब जीवों को कर्त्तव्य का ज्ञान देते हैं। (२) **रण्वम्**=वे रमणीय हैं अथवा हृदयस्थरूपेण (रण शब्दे) इस ज्ञान का उच्चारण करनेवाले हैं। **पावक शोचिषम्**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा हमें पवित्र करनेवाले हैं। वे प्रभु **सप्त धामभिः**=योग के सात धामों के द्वारा, 'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान' को तप करने के द्वारा समाधि में **यजिष्ठम्**=संगतिकरण योग्य हैं।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रभु का उपासन करें। यम, नियम आदि का पालन करते हुए प्रभु को पानेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

क्रियाशीलता उपासना

तं शश्वतीषु मातृषु वन आ वीतमश्रितम्। चित्रं सन्तं गुहा हितं सुवेदं कूचिदर्थिनम् ॥ ६ ॥

(१) **तम्**=उस प्रभु को (निषेदिरे)=उपासित करते हैं, जो कि **शश्वतीषु**=प्लुत गतिवाले, स्फूर्ति से कार्य करनेवाले **मातृषु**=निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त लोगों में बने (वननं वनः) उपासना के होने पर **आवीतम्**=प्राप्त हुए-हुए को। प्रभु उन लोगों को प्राप्त होते हैं, जो कि (क) स्फूर्ति से क्रियाओं में प्रवृत्त हैं, आलस्यशून्य हैं। (ख) निर्माण के कार्यों में लगे हुए हैं। (ग) उपासना में प्रवृत्त हैं। (२) उस प्रभु को उपासित करते हैं, जो कि **अश्रितम्**=किसी के आधार से रहनेवाले नहीं, निराधार होते हुए सर्वाधार हैं। **चित्रम्**=ज्ञान को देनेवाले हैं। **सन्तम्**=सत्यस्वरूप हैं। **गुहाहितम्**=बुद्धिरूप गुहा में स्थित हैं। **सुवेदम्**=सब उत्तम वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं (विद् लाभे) **कूचिद् अर्थिनम्**=किसी भी पदार्थ के लिये अभ्यर्थना के योग्य हैं, 'ज्ञान-शक्ति-धन' जो कुछ भी हो सब प्रभु से भोगा जा सकता है।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति उनको होती है जो कि (क) क्रियाशील हों, (ख) निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त हों, (ग) उपासनामय जीवनवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

विषय निद्रा त्याग

ससस्य यद्वियुता सस्मिन्नूधन्नृतस्य धामन्रणयन्त देवाः।
महाँ अग्निर्नमसा रातहव्यो वेरध्वराय सदमिदृतावा ॥ ७ ॥

(१) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **ससस्य यद् वियुता**=निद्रा के जब समाप्त होने पर, नींद से उठ बैठने पर **सस्मिन् ऊधन्**=(सर्वस्मिन्) सम्पूर्ण ज्ञानदुग्ध के आधार के होने पर, वेदवाणी रूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार को प्राप्त करने पर, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करने पर, **ऋतस्य धामन्**=यज्ञ के स्थान में, यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होने पर **रणयन्त**=उस प्रभु का स्तवन करते हैं (रण शब्दे)। (क) संसार के विषयों में फँसे रहना ही सोये रहना है। इस नींद से जागकर ही हम प्रभु का स्तवन करते हैं। (ख) ज्ञान के अभाव में भी स्तवन सम्भव नहीं। (ग) यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होने से ही प्रभु का स्तवन होता है। (२) वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **महान्**=महान् हैं, पूजनीय

हैं। **नमसा**=नमन के द्वारा **रातहव्यः**=सब हव्य पदार्थों के देनेवाले हैं। हम प्रभु का नमन करते हैं, प्रभु हमारे लिये सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। **अध्वराय वेः**=यज्ञों के लिये वे जानेवाले होते हैं (वेः=गन्ता)। जहाँ भी यज्ञ होते हैं, वहाँ प्रभु का निवास होता है। **सदं इत्**=सदा ही वे प्रभु **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्त होते हैं, जब हम (क) विषयनिद्रा से उठ बैठें, (ख) ज्ञानदुग्ध का पान करें, (ग) यज्ञादि में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ के सन्देशवाहक प्रभु

वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वानुभे अन्ता रोदसी संचिकित्वान्।
दूत ईयसे प्रदिव उराणो विदुष्टरो दिव आरोधनानि॥ ८॥

(१) वह **विद्वान्**=ज्ञानी प्रभु **अध्वरस्य**=यज्ञ के **दूत्यानि**=दूत कर्मों को **वेः**=(गन्ता) करनेवाला होता है, अर्थात् वे प्रभु सब प्रजाओं के लिये यज्ञों का सन्देश प्राप्त कराते हैं 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः, अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्'। वे प्रभु **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी के **अन्तः**=बीच में, अन्तरिक्ष में मस्तिष्क व शरीर के मध्य हृदयान्तरिक्ष में **संचिकित्वान्**=सम्यक् निवास करनेवाले होते हैं (कित निवासे) हृदय देश ही प्रभु का 'परम परार्ध' है। इस हृदय देश में, हे प्रभो! आप **दूतः ईयसे**=ज्ञान का सन्देश देते हुए गति करते हैं। (२) **दिवः**=स्वर्गलोक के, प्रकाशमय लोक के **आरोधनानि**=आरोहणों को (सीढ़ियों को) **विदुष्टरः**=(विद्वत्तरः) खूब जानते हुए आप **प्रदिवः**=हमारे प्रकृष्ट ज्ञानों को **उराणः**=विशाल करनेवाले हैं। हमारे ज्ञानों को बढ़ाकर आप हमें स्वर्गलोक को प्राप्त करानेवाले हैं। 'प्रदिवः' का भाव 'सनातन काल से' यह भी है। तब वाक्य योजना इस प्रकार होगी कि आप प्राचीनकाल से हमारे हृदयों को विशाल बना रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें हृदयान्तरिक्ष में स्थित होकर यज्ञ का व ज्ञान का सन्देश देते हैं। यह ज्ञान ही हमारे लिये प्रकाशमय लोक का आरोहण बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यत्तदग्रे विषमिव

कृष्णं त एम रुशतः पुरो भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **रुशतः**=देदीप्यमान **ते**=आपका **एम**=गमनमार्ग **कृष्णम्**=प्रारम्भ में कृष्ण है, शुरू में इस पर चलना बड़ा नीरस व कठिन प्रतीत होता है। परन्तु **पुरः भाः**=आगे प्रकाश है 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' **वपुषाम्**=शरीर धारियों के लिये **चरिष्णु अर्चिः**=यह गतिमय ज्ञानदीप्ति **इत्**=निश्चय से **एकम्**=मुख्य है। आपसे दी जानेवाली ज्ञान-ज्योति कर्मों में प्रेरित करती है, यह अर्चि (ज्ञानदीप्ति) चरिष्णु है। (२) **यत्**=जिन आपको **अप्रवीताः**=(seeds of knowledge not sown) 'जिनमें ज्ञान बीज का वपन नहीं हुआ' वे लोग **ह**=निश्चय से **गर्भं दधते**=अन्दर ही अन्दर धारण करते हैं, वे आप **सद्यः चित्**=शीघ्र ही **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए **इत् उ**=निश्चय से **दूतः**=ज्ञान के सन्देशवाहक **भवसि**=होते हैं। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं। परन्तु जब प्रभु का हमारे में प्रादुर्भाव होता है तभी वे हमारे लिये ज्ञान-सन्देश को देते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति का मार्ग प्रथम नीरस, पर पीछे अनुपम रसवाला है। प्रादुर्भूत हुए-हुए प्रभु हमारे लिये ज्ञान सन्देश को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सात्विक आहार

स॒द्यो जा॒तस्य॒ ददृ॑शान॒मोजो॒ यद॑स्य॒ वातो॑ अनु॒वाति॑ शो॒चिः।

वृ॒णक्ति॑ ति॒ग्माम॑त॒सेषु॑ जि॒ह्वां स्थि॒रा चि॒दन्ना॑ दयते॒ वि जम्भैः॑॥ १०॥

(१) **सद्यः जातस्य**=अभी अभी प्रादुर्भूत हुए-हुए प्रभु का **ओजः**=ओज (=तेज) **ददृशानम्**=दर्शनीय होता है। हृदय में प्रभु का आभास होते ही भक्त ओजस्विता का अनुभव करता है। **अस्य शोचिः अनु**=इसकी दीप्ति के अनुसार **यत्**=जब **वातः वाति**=प्राण गति करता है तो **अतसेषु**=(souls) आत्माओं में **तिग्मां जिह्वाम्**=शत्रुओं के लिये अत्यन्त तीक्ष्ण इस ज्ञानाग्नि की ज्वाला रूप जिह्वा को **वृणक्ति**=(gives) देता है। प्रभु अपने उपासक को वह ज्ञान-ज्वाला प्राप्त कराते हैं, जिसमें वह सब शत्रुओं का दहन कर पाता है। (२) उस समय यह उपासक **जम्भैः**=अपने दाँतों से **स्थिरा चित् अन्ना**=स्थिर ही अन्नों को, सात्विक अन्नों को 'रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृषाः आहाराः सात्विक प्रियाः' **विदयेत**=(accept) ग्रहण करता है। इस सात्विक अन्न के सेवन से उसकी सत्व शुद्धि होकर, उसका ज्ञान बढ़ता है। इस ज्ञानाग्नि में उनके सब शत्रुओं का दहन् हो जाता है। 'काम-क्रोध-लोभ' के विनाश का यही मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु का आभास होते ही तीव्र ज्ञान-ज्योति प्राप्त होती है। इसमें उसके सब शत्रुओं का दहन हो जाता है। इसके लिये वह सात्विक ही अन्नों का सेवन करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

धीमे-धीमे चबाकर-मात्रा में

तृषु यदन्ना॑ तृषुणा॑ व॒वक्ष॑ तृषुं दू॒तं कृ॑णुते य॒ह्वो अ॒ग्निः।

वात॑स्य मे॒ळिं स॑चते नि॒जूर्व॑न्ना॒शुं न वा॑जयते हि॒न्वे अर्वा॑॥ ११॥

(१) **यत्**=जब **तृषु**=शीघ्रता के साथ (speedily) **अन्ना**=अन्नों को **तृषुणा**=(by temptation) लालच से **ववक्ष**=अपने अन्दर (वहति) ले जाता है, तो वह **यह्वः**=महान् **अग्नि**=प्रभु **तृषुं दूतम्**=शीघ्र सन्तापयुक्त को **कृणुते**=करता है, अर्थात् भोजन धीमे-धीमे चबाकर खाना चाहिए, और लालच से अधिक न खा जाना चाहिए। धीमे-धीमे चबाकर मात्रा में खाया हुआ अन्न ही सन्तापक नहीं होता। अन्यथा प्रभु व्यवस्था से शरीर में रोग आते ही हैं। (२) यदि वह अन्नों का ठीक सेवन करता है तो **निजूर्वन्**=सब रोगों व वासनाओं को विनष्ट करता हुआ **वातस्य**=निरन्तर गतिवाले उस प्रभु के **मेडिम्**=(संगमक्त दः) मेल को **सचते**=प्राप्त होता है। यह **अर्वा**=सब वासनाओं का हिंसन करनेवाला होता हुआ **आशुं न**=शीघ्रगामी अश्व के समान **वाजयते**=अपने को शक्तिशाली बनाता है, **च**=और **हिन्वे**=उत्तम मार्ग पर अपने को प्रेरित करता है।

भावार्थ—भोजन को चबाकर मात्रा में खाते हुए हम रोग सन्तापों से अपने को बचाएँ। सब वासनाओं को विनष्ट करते हुए प्रभु से मेलवाले हों। अपने को शक्तिशाली बनाकर आगे बढ़ें।

सूक्त में प्रभु को धारण करने के साधनों का उल्लेख हुआ है। इसी भाव को अगले भी सूक्त में कहते हैं—

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सम्पत्ति व विपत्ति की परीक्षा

दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम्। यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥ १ ॥

(१) **वः**=तुम उपासकों के **दूतम्**=तपस्या की अग्नि में सन्तप्त करनेवाले, धृति की परीक्षा के लिये सन्ताप को प्राप्त करानेवाले उस प्रभु को **गिरा**=ज्ञान की वाणियों से **ऋञ्जसे**=प्रसाधित करता हूँ। प्रभु अपने भक्तों पर आपत्ति को भेजते हैं, ताकि वे धैर्य के अभ्यास में दृढ़ हो सकें। इस प्रभु को पाने का मार्ग यही है कि हम ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें। ज्ञान से ही हमें प्रभु का दर्शन होगा। (२) उस प्रभु का, जो कि **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनोंवाले हैं। आपत्ति की परीक्षाओं में उतीर्ण होने के बाद प्रभु हमें सम्पत्ति की परीक्षा में बैठने का अवसर देते हैं। प्रभु हमें खूब ही सम्पत्ति प्राप्त कराते हैं। और यदि हम उस सम्पत्ति को विषयोपभोग का साधन न बनाकर यज्ञों व लोकहित के कार्यों में विनियुक्त करते हैं तो हम उस परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो जाते हैं। (२) सम्पत्ति को परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवाले व्यक्ति 'हव्य' हैं, जिन्होंने लोकहित के कार्यों में अपनी आहुति दी है। प्रभु **हव्य-वाहम्**=इन हव्यों को अपने समीप प्राप्त करानेवाले हैं। और **अमर्त्यम्**=हमें जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठानेवाले हैं। अतएव वे प्रभु **यजिष्ठम्**=अधिक से अधिक उपासनीय हैं, संगतिकरण योग्य हैं व समर्थनीय हैं। 'यज्ञ देव पूजा-संगतिकरण-दानेषु'।

भावार्थ—प्रभु हमें विपत्ति व सम्पत्ति की परीक्षाओं में बिठा के उन्नत करते हैं, अन्ततः हमें जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठाते हैं। इन प्रभु को ज्ञानवाणियों से मैं प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वसु-ज्ञान-दिव्यगुण

स हि वेदा वसुधितिं महाँ आरोधनं दिवः। स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥

(१) **सः**=वे प्रभु **हि**=ही **वसुधितिम्**=सब धनों के धारण को **वेद**=जानते हैं। वे प्रभु हमें सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं। वे **महान्**=पूजनीय प्रभु ही **दिवः आरोधनम्**=(आरोहणं) प्रकाशमय लोक के आरोहण को (सीढ़ी को) प्राप्त कराते हैं, अर्थात् उस मार्ग का ज्ञान देते हैं, जिस पर चलकर हम उत्तरोत्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाने बनते हैं और अन्ततः प्रकाशमय लोक में हमारा निवास होता है। (२) **सः**=वे प्रभु ही सब वसुओं को प्राप्त कराके तथा प्रकाशमय लोक पहुँचने के मार्ग का ज्ञान देकर **इह**=इस ज़ीवन में **देवान्**=सब दिव्य गुणों को **आवक्षति**=प्राप्त कराते हैं। 'निर्धनता व अज्ञान' ये दोनों ही बातें दिव्यगुणों के विकास की विरोधिनी हैं। दिव्य गुणों के विकास के लिये वसुओं की प्राप्ति व ज्ञान आवश्यक हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये वसुओं को प्राप्त कराते हैं, ज्ञान के मार्ग को दिखाते हैं और इस प्रकार हमें दिव्यगुणों के विकास के लिये तैयार कर देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

नम्रता (देवों का मुख्य गुण)

स वेद देव आनमं देवाँ ऋतायते दमे। दाति प्रियाणि चिद्वसु ॥ ३ ॥

(१) **सः देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **देवान्**=दिव्य गुणोंवाले इन पुरुषों को **आनमं वेद**=झुकाना

जानते हैं (आनमयितुं), अर्थात् प्रभु इनमें नम्रता की भावना का संचार करते हैं। दैवी सम्पत्ति की चरम सीमा 'नातिमानिता' ही तो है। अभिमान दैवी सम्पत्ति को आसुरी सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित कर देता है। (२) **ऋतायते**=ऋत को अपनाने की कामनावाले पुरुष के लिये वे प्रभु **दमे**=घर में **चित्**=निश्चय से **प्रियाणि वसु**=प्रिय वसुओं को **दाति**=देते हैं, प्राप्त कराते हैं। ऋत के आचरणवाला पुरुष सब इष्ट वसुओं को प्राप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—देवों की दो मुख्य विशेषताएँ हैं—(क) वे नम्र होते हैं, (ख) उनका आचरण ऋतवाला होता है, सब कार्यों को ठीक समय व ठीक स्थान पर करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान-सन्देश की प्राप्ति

स होता सेदु दूत्यं चिकित्वाँ अन्तरीयते। विद्वाँ आरोधनं दिवः ॥ ४ ॥

(१) **सः**=वे प्रभु **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। **सः इत् उ**=और वे प्रभु ही **दूत्यम्**=दूत कर्म को **चिकित्वान्**=जानते हुए, ज्ञान-सन्देश को प्राप्त कराने का ध्यान करते हुए **अन्तः ईयते**=हृदय देशों में गति करते हैं। द्यावापृथिवी के मध्य में अन्तरिक्ष में गति का भाव यही है मस्तिष्क व शरीर के मध्य में हृदय देश में गति करना। यहाँ हृदय में गति करते हुए ही वे प्रभु ज्ञान का उपदेश करते हैं। (२) वे प्रभु **दिवः**=प्रकाशमय लोक के **आरोधनम्**=आरोहण को (सीढ़ी का) **विद्वान्**=जानते हैं। प्रभु से इस आरोहण के ज्ञान को प्राप्त करके हम भी स्वर्गलोक में आक्रमणवाले होते हैं।

भावार्थ—वे सब कुछ देनेवाले प्रभु हृदयस्थरूपेण ज्ञान का सन्देश देते हैं, प्रकाशमय लोक में पहुँचने के मार्ग को बतलाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञ व प्रभु की प्राप्ति

ते स्याम ये अग्नये ददाशुर्हव्यदातिभिः। य ईं पुष्यन्त इन्धते ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से ज्ञान के सन्देश को सुनकर हम **ते**=वे **स्याम**=हों, **ये**=जो **अग्नये**=अग्नि के लिये **हव्यदातिभिः**=हव्य पदार्थों के देने के द्वारा **ददाशुः**=अपना अर्पण करनेवाले होते हैं। यज्ञों में हव्य पदार्थों की आहुति देते हुए ये लोग यज्ञमय जीवनवाले बन जाते हैं। (२) हम वे बनें **ये**=जो **ईम्**=निश्चय से **पुष्यन्तः**=इन यज्ञों से अपना पोषण करते हुए (अपने प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्) **इन्धते**=अपने हृदयों में उस प्रभु को समिद्ध करते हैं। यज्ञों से स्वार्थ वृत्ति विनष्ट होती है और हमें प्रभु का दर्शन होता है। स्वार्थ ही एक ऐसा आवरण है, जो हमें प्रभु दर्शन से वञ्चित करता है।

भावार्थ—यज्ञमय जीवनवाले बनकर हम अपना पोषण करें और हृदयदेश में प्रभु को समिद्ध करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

राया-सुवीर्यैः

ते राया ते सुवीर्यैः ससवांसो वि शृण्विरे। ये अग्ना दधिरे दुवः ॥ ६ ॥

(१) **ये**=जो पुरुष **अग्ना**=उस परमात्मरूप अग्नि में **दुवः दधिरे**=परिचर्या को करते हैं, अर्थात् जो प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करते हैं **ते राया**=वे धनों से **ससवांसः**=(संभजमानाः)

लोक सेवा के कार्यों में प्रवृत्त हुए **विश्रृण्विरे**=सुने जाते हैं। ते=वे **सुवीर्यैः**=उत्तम पराक्रमों से (ससवांसः विश्रृण्विरे) लोक सेवा करते हुए सब प्राणियों के हित में लगे हुए सुन पड़ते हैं। (२) प्रभु का उपासक धनों व सुवीर्यों को प्राप्त करता है। पर वह इनका विनियोग दान व रक्षण में करता हुआ सभी का हित करता है। यह अधिक से अधिक प्राणियों का हित करना ही प्रभु का सच्चा सम्भजन है, यही सत्य है, यही धर्म है।

भावार्थ—प्रभु उपासना से धनों व सुवीर्यों को प्राप्त करके हम उनसे लोक सेवा में प्रवृत्त हों और इस प्रकार यशस्वी बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

रायः-वाजासः

अस्मे रायो दिवेदिवे सं चरन्तु पुरुस्पृहः। अस्मे वाजास ईरताम्॥ ७॥

(१) **दिवे दिवे**=प्रतिदिन-दिन दूने रात चौगुने, **रायः**=धन **अस्मे संचरन्तु**=हमें सम्यंक् प्राप्त हों, उत्तम मार्ग से प्राप्त हों। ये धन **पुरुस्पृहः**=पालक और पूरक व स्पृहणीय हों, अर्थात् भोगविलास में व्ययित होते हुए ये नाशक व न्यूनताओं की ओर ले जानेवाले न हों, तथा अवाञ्छनीय न बन जायें। 'दिवे दिवे' का भाव यही है कि मुझे धन प्रतिदिन प्राप्त हों 'getting prosperity continuously' की तरह मुझे प्रतिदिन आवश्यक धन प्राप्त होती रहे, अनावश्यक धन के रक्षण का मुझे बोझ उठाना ही न पड़े। मैं 'उप-मुक्त-धन' ही बनूँ। मुझे 'मुक्त-धन' न बनना हो। (२) हे प्रभो! इन धनों के ठीक प्रयोग से **अस्मे**=हमारे लिये **वाजासः**=शक्तियाँ, **ईरताम्**=प्राप्त हों। हमारा अंग-प्रत्यंग शक्ति सम्पन्न बने।

भावार्थ—हमें पुरुस्पृह धन प्राप्त हों और उनके ठीक विनियोग से हम सर्वाङ्ग सुन्दर सबल शरीरवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्राजापत्य यज्ञ में आहुति

स विप्रश्चर्षणीनां शवसा मानुषाणाम्। अति क्षिप्रेव विध्यति॥ ८॥

(१) **सः**=वह प्रभु भक्त **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों में **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला (वि+प्रा) होता हुआ **शवसा**=अपने बल व बल सम्पादित कर्मों से **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के सब कष्टों को **क्षिप्रा इव**=क्षेप्य वस्तुओं की तरह, विनष्ट करने योग्य वस्तुओं की तरह **अति विध्यति**=खूब ही दूर करता है। (२) एक प्रभु भक्त पहले अपना पूरण करता है, अपनी कमियों को दूर करता है। और अपना ठीक परिपाक करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—हम अपना ठीक परिपाक करके प्राजापत्य यज्ञ (लोक रक्षण) में अपनी आहुति देनेवाले बनें।

सूक्त भाव यही है कि मनुष्य अपने जीवन को उत्कृष्ट बना के प्राजापत्य यज्ञ में आहुति देनेवाला बने। अगले सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि प्रभु इन देववृत्ति के व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं—

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

देवयु को प्रभु की प्राप्ति

अग्ने मृळ महाँ असि य ईमा देवयुं जनम्। इयेथ बर्हिरासदम्॥ १ ॥

(१) **अग्ने**=हे प्रभो! **मृड**=आप हमारे जीवन को सुखी करिये। **महान् असि**=आप ही महान् हैं, पूजा के योग्य हैं। आपके पूजन से ही मेरा जीवन व्यर्थ की बातों से बचा रहकर सुखी बना रहता है। (२) आप वे हैं **यः**=जो **ईम्**=निश्चय से **देवयुं जनम्**=दिव्य गुणों की प्राप्ति की कामनावाले मनुष्य को **बर्हिः आसदम्**=वासनाशून्य हृदय में बैठने के लिये **इयेथ**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् आपकी प्राप्ति देवयु पुरुष को ही होती है। दिव्य गुणों की प्राप्ति की कामना मुझे देव बनाकर महादेव के समीप प्राप्त कराती है।

भावार्थ—प्रभु पूजन के द्वारा मैं अशुभ वृत्तियों से बचता हूँ। दिव्य वृत्तिवाला बनकर मैं प्रभु को अपने हृदयासन पर बिठाता हूँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'दूडभ' प्रभु

स मानुषीषु दूळभो विक्षु प्रावीरमर्त्यः। दूतो विश्वेषां भुवत्॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु पूजन करता हुआ देवयु बनकर मैं प्रभु को अपने हृदयासन पर बिठाता हूँ। उस समय **सः**=वे प्रभु **मानुषीषु विक्षु**=इन मानव प्रजाओं में **दूडभः**=हिंसित होनेवाला नहीं होता। काम-क्रोध आदि राक्षसीभाव प्रभु पर आक्रमण नहीं कर पाते। जब हम प्रभु को अपने हृदय में निवास कराते हैं तो प्रभु की ज्ञानाग्नि में भस्म होने के भय से 'काम' वहाँ आता ही नहीं। इस प्रकार वे प्रभु प्रजाओं में **प्रावीः**=प्रकर्षेण प्राप्त होनेवाले होते हैं, **अमर्त्यः**=उनको मृत्यु व पापों से बचाते हैं, उनको विषयों के पीछे मरनेवाला नहीं होने देते। (२) ये प्रभु **विश्वेषाम्**=सब उपासकों के **दूतः**=ज्ञान-सन्देश को प्राप्त करानेवाले होते हैं। प्रभु से ज्ञान को प्राप्त करके ये अपने जीवन को उत्तम बना पाते हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हमें काम-क्रोध आदि का शिकार नहीं होने देते। हमें ज्ञान का सन्देश देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

होता-पोता

स सद्म परि णीयते होता मन्द्रो दिविष्टिषु। उत पोता नि षीदति ॥ ३ ॥

(१) **सः**=वे प्रभु **सद्म**=शरीरूपी गृह में **परिणीयते**=प्राप्त कराये जाते हैं। उपासक प्रभु को अपने हृदयासन पर बिठाने का प्रयत्न करते हैं। वे प्रभु **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। **मन्द्रः**=आनन्दमय हैं। (२) **उत**=और **दिविष्टिषु**=(दिव्+इष्) ज्ञान की प्रेरणाओं के होने पर **पोता**=हमारे जीवनों को पवित्र करते हुए **निषीदति**=वे प्रभु हमारे में आसीन होते हैं।

भावार्थ—उपासक का कार्य यह है कि प्रभु को शरीरगृह में प्राप्त कराये। प्रभु का हृदय में ध्यान करे। प्रभु इसे ज्ञान की प्रेरणा देकर पवित्र जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु किस-किस रूप में ?

उत ग्रा अग्निरध्वर उतो गृहपतिर्दमे। उत ब्रह्मा नि षीदति ॥ ४ ॥

(१) **उत**=और **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **अध्वरे**=इस जीवनयज्ञ में **ग्राः**='द्वन्द्वांसि वै ग्राः, छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति' (श० ५।५।४।७) छन्दों के रूप में होते हैं। इन छन्दों के रूप में प्रेरणा को देकर वे हमें पापों से बचाते हैं। (२) **उत उ**=और निश्चय से वे प्रभु **दमे**=इस शरीर गृह में **गृहपतिः**=गृहपति हैं। प्रभु द्वारा ही सब क्रियाओं की व्यवस्था हो रही है। प्रभु ही 'वैश्वानर' अग्नि के रूप में पाचनादि क्रियाओं को भी कर रहे हैं। (३) **उत**=और **ब्रह्मा**=सब वेदों का, ज्ञानवाणियों का ज्ञान देनेवाले होकर **निषीदति**=हमारे हृदयों में निषण्ण होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें पापों से बचाकर जीवन-यज्ञ को चलाते हैं। प्रभु ही हमारे रक्षक हैं। वे ही ज्ञान देनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के प्रिय कौन ?

वेषि ह्यध्वरीयतामुपवक्ता जनानाम्। हव्या च मानुषाणाम् ॥ ५ ॥

(१) हे प्रभो! आप **अध्वरीयताम्**=यज्ञों की कामनावाले पुरुषों की **वेषि**=कामना करते हैं। ये पुरुष ही आपको प्रिय होते हैं। आप **जनानाम्**=(जनी प्रादुर्भावे) अपनी शक्तियों के विकास में लगे हुए पुरुषों के **उपवक्ता**=हृदयस्थ होकर समीप से ज्ञानोपदेश करनेवाले हैं, मार्ग दिखानेवाले हैं। (२) **च**=और आप ही **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों के **हव्या**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। हे प्रभो! आप से प्राप्त हव्य पदार्थों का ही सेवन करते हुए ये अपने मानव जीवन को सफल कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे हृदयस्थ होकर ज्ञानोपदेश देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

यज्ञशीलता

वेषीद्वस्य दूत्यं१ यस्य जुजोषो अध्वरम्। हव्यं मर्तस्य वोळ्हवे ॥ ६ ॥

(१) हे प्रभो! आप **इत् उ**=निश्चय से **अस्य**=इस पुरुष के **दूत्यम्**=ज्ञान-सन्देश के प्राप्त कराने के काम को **वेषि**=चाहते हैं (कामयसे), अर्थात् उसे ज्ञान प्राप्त कराते हैं, **यस्य**=जिसके **अध्वरम्**=यज्ञ का **जुजोषः**=आप प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष को ही आप ज्ञान प्राप्त कराते हैं। (२) आप इस **मर्तस्य**=यज्ञशील पुरुष के **हव्यं वोढवे**=हव्य पदार्थों के प्राप्त करानेवाले होते हैं। हम यज्ञशील बनें, प्रभु हमें सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करायेंगे। इन हव्य पदार्थों के सेवन से हमारा जीवन अधिकाधिक पवित्र होता जाएगा।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त करायेंगे और हव्य पदार्थों को हमारे लिये देनेवाले होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अध्वर-यज्ञ-प्रार्थना

अस्माकं जोष्यध्वरमस्माकं यज्ञमङ्गिरः। अस्माकं शृणुधी हवम् ॥ ७ ॥

(१) हे **अंगिरः**=हमारे अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले प्रभो! **अस्माकम्**=हमारे **अध्वरम्**=हिंसारिहत कर्मों को **जोषि**=प्रीतिपूर्वक सेवन करिये। हमारे ये अध्वर हमें आपका प्रिय बनायें। **अस्माकम्**=हमारे **यज्ञम्**=यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करिये, हमारे ये यज्ञ (=लोकसंग्रहात्मक कार्य) हमें आपका प्रिय बनायें। (२) **अस्माकम्**=हमारी **हवम्**=पुकार को **शृणुधी**=सुनिये। हमारी प्रार्थना आपसे स्वीकृत हो। हम आपके प्रिय बनें और प्रार्थनीय वस्तु को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—अध्वरों व यज्ञों को अपनाते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें। हमारी प्रार्थना अवश्य पूर्ण हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अहिंसित शरीर-रथ

परि॑ ते दू॒ळभो॒ रथो॒ऽस्माँ अ॑श्नोतु वि॒श्वतः॑। येन॒ रक्ष॑सि दा॒शुषः॑ ॥ ८ ॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपका वह **दूडभः**=हिंसित न होनेवाला **रथः**=शरीर-रथ **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परि अश्नोतु**=व्याप्त करनेवाला हो। हमें वह शरीर-रथ प्राप्त हो जो कि रोगों व वासनाओं से हिंसित नहीं होता। (२) यह शरीर-रथ वह है **येन**=जिससे **दाशुषः रक्षसि**=हे प्रभो! आप दाश्वान् का रक्षण करते हैं, जो भी प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, प्रभु से वह उत्तम शरीर-रथ प्राप्त कराते हुआ अपना रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—उपासक को प्रभु रोगों व वासनाओं से हिंसित न होनेवाला शरीर-रथ प्राप्त कराते हैं।

अगले सूक्त में भी 'अग्नि' नाम से प्रभु का आराधन करते हैं—

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्तवन द्वारा प्रभु का सान्निध्य

अग्ने॒ तम॒द्याश्वं॒ न स्तोमैः॒ क्रतुं॒ न भ॒द्रं हृ॑दि॒स्पृश॑म्। ऋ॒ध्यामा॑ त॒ ओहैः॑ ॥ १ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते**=आपके **ओहैः**=प्राप्त करानेवाले **स्तोमैः**=स्तोमों से **अद्य**=आज **तम्**=उन प्रसिद्ध आपको **ऋध्याम**=हम अपने अन्दर समृद्ध करें। हम आपको अपने हृदयों में स्तोमों के द्वारा बढ़ानेवाले हों। आप की स्तुति करते हुए, उन स्तुति-वाचक शब्दों से प्रेरणा को लेकर वैसे ही बनते हुए, आपको अपने में दीप्त करनेवाले हों। (२) उन आपको हम अपने में समृद्ध करें, जो आप **अश्वं न**=घोड़े के समान हैं। जैसे घोड़ा हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाता है, उसी प्रकार आप हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं। **क्रतुं न**=यज्ञ के समान **भद्रम्**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं। यज्ञ से जीवन नीरोग बनता है, प्रभु की उपासना से भी नीरोगता व निर्मलता प्राप्त होती है। हे प्रभो! आप **हृदिस्पृशम्**=हमारे हृदयों में सम्पर्कवाले हैं। हम हृदयों में ही आपका दर्शन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम स्तवन के द्वारा प्रभु की समीपता को प्राप्त करें। प्रभु हमारा कल्याण करनेवाले हैं। हृदयों में हम उस प्रभु का दर्शन करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'क्रतु व ऋत के नेता प्रभु'

अधा॒ ह्य॑ग्ने॒ क्रतो॑र्भ॒द्रस्य॒ दक्ष॑स्य सा॒धोः। र॒थीर्ऋ॒तस्य॑ बृह॒तो ब॒भूथ॑ ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अधा हि**=अब निश्चय से **क्रतोः**=हमारे जीवन में यज्ञ के **रथीः**=नेता **बभूथ**=आप होते हैं। आपकी कृपा से हमारा जीवन यज्ञमय बनता है। इस हमारे जीवन में उस यज्ञ के आप नेता होते हैं, जो कि **भद्रस्य**=हमारा कल्याण करनेवाला है। **दक्षस्य**=हमारी betterment (वृद्धि) का कारण है तथा **साधोः**=हमारे सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। (२) इस यज्ञ के साथ आप **बृहतः**=महान् व वृद्धि के कारणभूत **ऋतस्य**=ऋत के आप रथी (नेता) होते हैं। आपके स्तवन से हमारा जीवन ऋतमय बनता है, हम सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करनेवाले बनते हैं। यह ऋत हमारी वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु स्तवन के होने पर हमारा जीवन क्रतु व ऋतवाला होता है। हम जीवन में यज्ञमय बनते हैं और सब कार्यों को ठीक समय पर करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ज्योति-तेज व शोभन मन की प्राप्ति

एभिर्नो अर्कैर्भवा नो अर्वाङ्स्व१र्ण ज्योतिः। अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **एभिः नः अर्कैः**=इन हमारे अर्चना के साधनभूत मन्त्रों से **नः अर्वाङ् भव**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होनेवाले होइये। आप हमारे लिये **स्वः न ज्योतिः**=सूर्य के समान देदीप्यमान प्रकाश हैं। आपकी उपासना में चलते हुए हम सूर्यसम ज्ञान की ज्योति को प्राप्त करते हैं। (२) आप **विश्वेभिः अनीकैः**=सब बलों व तेजस्विताओं के द्वारा **सुमनाः**=हमें उत्तम मन को प्राप्त कराते हैं। आपकी उपासना हमें तेजस्विता प्राप्त कराती है। इस तेजस्विता से हम 'सुमना'=उत्तम मनवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु उपासना से हमें ज्ञान, तेजस्विता व उत्तम मन प्राप्त होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दिवः-शुष्माः

आभिष्टे अद्य गीर्भिर्गृणन्तोऽग्ने दाशेम। प्र ते दिवो न स्तनयन्ति शुष्माः॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अद्य**=आज **आभिः**=इन **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से **गृणन्तः**=आपका स्तवन करते हुए **ते दाशेम**=आपके प्रति हम अपना अर्पण करें। वस्तुतः जब एक व्यक्ति अपने जीवन को ज्ञान में लगाता है तो सांसारिक वासनाओं से बचता हुआ वह प्रभु के प्रति झुकाववाला होता है। (२) उस समय **ते**=आपके **शुष्माः**=शत्रु-शोषक बल **स्तनयन्ति**=हमारे अन्दर गर्जना करनेवाले होते हैं, अर्थात् आपसे शक्तियों को प्राप्त करके हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को युद्ध में ललकारनेवाले बनते हैं। ये आपकी शक्तियाँ हमारे जीवनों में इस प्रकार गर्जती हैं **न**=जैसे कि **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश हमारे अन्दर स्तनित हों उठते हैं। विद्युद् गर्जना प्रकाश को लिये हुए होती है, इसी प्रकार ये **शुष्मः**=ज्ञान को लिये हुए होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान की वाणियों से प्रभु का स्तवन करते हुए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं तो प्रभु हमें प्रकाश व बल प्राप्त कराते हैं (दिवः-शुष्माः)।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराडुष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

स्वादिष्ठा संदृष्टि

तव स्वादिष्ठाग्ने संदृष्टिरिदा चिदह्न इदा चिदक्तोः। श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **तव**=आपकी **संदृष्टिः**=यह कल्याणकारिणी दृष्टि

स्वादिष्ठा=हमारे जीवनों को अत्यन्त मधुर बनानेवाली है। यह आपकी संदृष्टि **इदा चित् अह्नः**=इस समय दिन में, **इदा चित् अक्तोः**=और इस समय रात्रि में **श्रिये**=हमारी शोभा के लिये होती है। आपकी संदृष्टि दिन-रात हमारी श्री का वर्धन करती है। (२) आपकी यह संदृष्टि **उपाके**=हमारे समीप, हमारे हृदयों में **रुक्मः न**=स्वर्ण के समान **रोचते**=दीप्त होती है। हमारा हृदय आपकी इस संदृष्टि से जगमगा उठता है।

भावार्थ—प्रभु की कल्याणी दृष्टि से (क) हमारा जीवन मधुर बनता है, (ख) दिन दूनी रात चौगुनी श्री का वर्धन होता है, (ग) हमारा हृदय स्वर्ण के समान ज्ञान-ज्योति से जगमगा उठता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

निर्दोष शरीर

घृतं न पूतं तनूररेपाः शुचि हिरण्यम्। तत्ते रुक्मो न रोचत स्वधावः ॥ ६ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की 'स्वादिष्ठा संदृष्टि' के प्राप्त होने पर हमारा **तनूः**=शरीर **अरेपाः**=इस प्रकार दोषरहित हो जाता है **न**=जैसे कि **पूतं घृतम्**=शुद्ध किया हुआ घी। उस समय हमारी **हिरण्यम्**=ज्ञान-ज्योति **शुचि**=अत्यन्त शुद्ध होती है। (२) हे **स्वधावः**=(स्व-धाव्) हमारी आत्माओं का शोधन करनेवाले प्रभो! **ते तत्**=आपकी वह ज्ञान-ज्योति **रुक्म न**=स्वर्ण के समान **रोचते**=दीप्त होती है। हमारे जीवनों के सब मलों का हरण करती हुई वह ज्योति सचमुच चमक उठती है।

भावार्थ—प्रभु से प्राप्त करायी गई ज्ञान-ज्योति से हमारा शरीर निर्दोष होकर चमक उठता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दृढ़मूल द्वेष का भी दूरीकरण

कृतं चिद्धि ष्मा सनेमि द्वेषोऽग्न इनोषि मर्तात्। इत्था यजमानादृतावः ॥ ७ ॥

(१) हे **अग्ने**=सब दोषों को दग्ध करनेवाले प्रभो! आप **मर्तात्**=मनुष्य से **कृतं चित्**=किये हुए भी **सनेमि**=पुराने **द्वेषः**=द्वेष को **हिष्मा**=निश्चय से **इनोषि**=प्रेरित करते हो, दूर भगाते हो (नाशयसि सा०)। कितनी भी द्वेष की भावना पुरानी व दृढ़मूल हो जाये, प्रभु उपासना से वह नष्ट हो जाती है। (२) हे **ऋतावः**=ऋत का रक्षण करनेवाले, अथवा ऋतवाले प्रभो! **इत्था**=सचमुच **यजमानात्**=यज्ञशील पुरुष से आप द्वेष आदि को दूर भगाते हो।

भावार्थ—प्रभु उपासना से दृढ़मूल भी द्वेष नष्ट हो जाते हैं। हम यज्ञशील बनते हैं और जीवन को पवित्र करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—स्वराडुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

देव सम्पर्क

शिवाः नः सख्या सन्तु भ्रात्राग्ने देवेषु युष्मे। सा नो नाभिः सदने सस्मिन्नूधन् ॥ ८ ॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **युष्मे**=आपके **देवेषु**=देववृत्ति के पुरुषों में **नः**=हमारी **सख्या**=मित्रताएँ **शिवा**=कल्याणकर **सन्तु**=हों। इसी प्रकार इन आपके देवों में **भ्रात्रा**=हमारे भ्रातृत्व कल्याण कर हों। हम प्रभु कृपा से देववृत्ति के व्यक्तियों के ही बन्धु व भाई बनें। (२) **सा**=वह **नः**=हमारा **नाभिः**=देवों के साथ सम्बन्ध (णह बन्धने) **सदने**=(उपसदने) उपासना के निमित्त हो अथवा

प्रभुरूप सवन की प्राप्ति का साधन हो। प्रभु ही तो हमारे घर हैं, यहाँ तो जीवनयात्रा पर आये हुए हैं। देवों के सम्पर्क में आने से हम यात्रा को पूर्ण करके प्रभु को पानेवाले बनते हैं तथा **सस्मिन् ऊधन्**=सम्पूर्ण ज्ञानदुग्ध के आधार के निमित्त हो, अर्थात् उस देव सम्बन्ध के द्वारा हम आपकी (प्रभु की) उपासनावाले बनें तथा वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार के ही स्वामी बन जाएँ, अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क में रहते हुए हम उपासना व ज्ञानवाले बनें। उपासनामय हमारा जीवन हो, सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हम बनें।

इसी अग्नि से अगले सूक्त में भी प्रार्थना करते हैं—

द्वितीयोऽनुवाकः

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

भद्रं 'अनीकम्'

भद्रं ते अग्ने सहसिन्ननीकमुपाक आ रोचते सूर्यस्य।
रुशद् दृशे ददृशे नक्तया चिदरूक्षितं दृश आ रूपे अन्नम् ॥ १ ॥

(१) हे **सहसिन्**=बलवन्! **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **ते अनीकम्**=आपका तेज **भद्रम्**=कल्याणकर है। **सूर्यस्य उपाके**=सूर्य की समीपता में **आ रोचते**=आपका ही तेज चमकता है, अर्थात् आपके तेज से ही दीप्त होकर यह सूर्य चारों ओर प्रकाश कर रहा है। (२) सूर्य दिन में ही प्रकाश करता है, पर (क) आपका **रुशत्**=चमकीला **दृशे**=दर्शनीय यह तेज **नक्तया चित्**=रात्रि में भी **ददृशे**=प्रकाश को करनेवाला होता है। (ख) **अरूक्षितम्**=आपका यह तेज रूक्ष नहीं। अन्य तेज स्निग्धता को नष्ट करके रूक्षता को पैदा करते हैं। आपका यह तेज अरूक्षित व स्निग्ध है, स्निग्धता का यह तेज वर्धन करनेवाला है। (२) **दृशे**=यह दर्शनीय तेज **आरूपे**=समन्तात् रूप के निमित्त शोभा के निमित्त **अन्नम्**=अन्न होता है। जैसे अन्न से शरीर रूपवान् होता है, स्वाध्याय से मस्तिष्क श्री सम्पन्न बनता है, उसी प्रकार उपासना से वह दर्शनीय तेज प्राप्त होता है जो कि हृदय को उत्तम रूपवाला (=श्री सम्पन्न) बना देता है।

भावार्थ—उपासना के द्वारा हम प्रभु के उस तेज को प्राप्त करते हैं जो कि हमें सदा 'प्रकाशमय स्निग्ध व श्री सम्पन्न' बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमहः, भूरि मन्म

वि षाह्यग्ने गृणते मनीषां खं वेपसा तुविजात स्तवानः।
विश्वेभिर्यद्वावनः शुक्र देवैस्तन्नो रास्व सुमहो भूरि मन्म ॥ २ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **गृणते**=स्तवन करनेवाले के लिये **मनीषाम्**=बुद्धि को **विषाहि**=(विष्य-विमुञ्च, षोऽन्तकर्मणि) खोलिये, इसके लिये बुद्धि को दीजिये। हे **सुविजात**=महान् विकासवाले प्रभो! आप **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **वेपसा**=शत्रुओं को कम्पित करने के द्वारा (वेपृ कम्पने) **खम्**=इन्द्रियों को **विपाहि**=(निष्य विमुञ्च) विषयों से पृथक् करिये। स्तुति करनेवाला उत्तम बुद्धि को प्राप्त करे तथा विषयों में अनासक्त इन्द्रियोंवाला हो। (२)

हे **शुक्रः**=दीप्त प्रभो! **विश्वेभिः देवैः**=सब देवों से **यद् वावनः**=जिस धन के लिये काम याचना किये जाते हैं, **नः**=हमारे लिये **तत्**=उस **सुमहः**=शोभन तेज को तथा **भूरि मन्म**=पालन व पोषण करनेवाले मननीय ज्ञान को **रास्व**=दीजिये। तेजस्विता व ज्ञान ही वे धन हैं, जो देवों से प्रार्थनीय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तवन से हमें बुद्धि व विषयों में अनासक्त इन्द्रियां प्राप्त हों। प्रभु हमें उत्तम तेज व पालन व पोषण करनेवाला ज्ञान दें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—स्वराड्बृहती॥ स्वरः—मध्यमः॥

तत्त्वज्ञान, बुद्धि, स्तोत्र, धन

त्वदग्ने काव्या त्वन्मनीषास्त्वदुक्था जायन्ते राध्यानि।
त्वदेति द्रविणं वीरपेशा इत्थाधिये दाशुषे मर्त्याय॥ ३॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वद्**=आपसे ही **काव्या**=सब तत्त्वज्ञान **जायन्ते**=प्रादुर्भूत होते हैं। **त्वत्**=आप से ही **मनीषाः**=सब बुद्धि प्रादुर्भूत होती हैं। **त्वत्**=आप से ही **राध्यानि**=सिद्धि प्राप्ति में उत्तम **उक्था**=स्तोत्र उत्पन्न होते हैं। प्रभु ही तत्व ज्ञान प्राप्त कराते हैं, वही बुद्धि देते हैं और उन स्तोत्रों को प्राप्त कराते हैं जो कि हमें संसार में उत्तम सफलता प्राप्त कराते हैं, इन स्तोत्रों के द्वारा ही तो हम वासनाओं पर विजय पाते हैं। (२) हे प्रभो! **त्वद्**=आप से ही **इत्थाधिये**=सत्य कर्मोंवाले, **दाशुषे**=दाश्वान्, आत्मसमर्पण करनेवाले **मर्त्याय**=मनुष्य के लिये वह **द्रविणम्**=धन **एति**=प्राप्त होता है जो कि **वीरपेशाः**=वीर रूपवाला है (इदं विक्रान्तरूपं द्रविणम्), अर्थात् प्रभु से हमें वह धन प्राप्त होता है जो कि हमें वीर बनानेवाला है। यह धन हमें वासनासक्त करके निर्बल बनानेवाला नहीं।

भावार्थ—प्रभु हमें तत्त्वज्ञान, बुद्धि, स्तोत्र व वीरतायुक्त धन प्राप्त करायें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

कैसा सन्तानरूप धन?

त्वद्वाजी वाजंभरो विहाया अभिष्टिकृज्जायते सत्यशुष्मः।
त्वद्रयिर्देवजूतो मयोभुस्त्वदाशुर्जूजुवाँ अग्ने अर्वा ॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वद्**=आप से वह सन्तानरूप **रयिः**=धन **जायते**=प्राप्त होता है जो कि **वाजी**=शक्तिशाली होता है, **वाजम्भरः**=शक्ति के द्वारा सबका भरण करनेवाला होता है, **विहायाः**=महान्, उदार, विशाल हृदय होता है, **अभिष्टिकृत्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला होता है (अभिष्टि worth desiring), **सत्यशुष्मः**=सत्य के बलवाला होता है। (२) हे प्रभो! **त्वद्**=आपकी गृह से वह सज्ञानरूप धन प्राप्त होता है जो **देवजूतः**=सूर्यादि देवों से प्रेरणा को प्राप्त करता है, सूर्य की तरह निरन्तर गतिशील होकर चमकता है। इसी प्रकार पृथिवी से दृढ़ता का पाठ पढ़ता है, अन्यान्य देवों से विविध प्रेरणाओं को प्राप्त करता है। **मयोभुः**=कल्याण को करनेवाला होता है। **त्वद्**=आपसे वह सन्तान धन प्राप्त होता है जो कि **आशुः**=सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला, **जजुवान्**=वेगवाला, स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाला तथा **अर्वा**=कामादि शत्रुओं का संहार करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हमें सर्वगुण सम्पन्न संतति की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अमृत अग्नि का उपासन

त्वामग्ने प्रथमं देवयन्तो देवं मर्ता अमृत मन्द्रजिह्वम्।
द्वेषोयुतमा विवासन्ति धीभिर्दमूनसं गृहपतिममूरम् ॥ ५ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रणी, **अमृत**=अमर प्रभो! **देवयन्तः**=दिव्य गुणों की कामनावाले **मर्ताः**=मनुष्य **धीभिः**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **त्वाम्**=आपको **आविवासन्ति**=पूजित करते हैं। आपकी पूजा करते हुए वे भी 'अग्नि व अमृत' बनने का प्रयत्न करते हैं। (२) उन आपकी वे पूजा करते हैं, जो आप **प्रथमम्**=सर्वश्रेष्ठ हैं, अत्यन्त विस्तृत हैं (प्रथ विस्तारे) उ **देवं**=प्रकाशमय हैं। **मन्द्र जिह्वम्**=देवों के लिये आनन्दप्रद जिह्वावाले हैं, अर्थात् हृदयस्थ प्रभु की वाणी देवों को आनन्द के देनेवाली हैं, **द्वेषोयुतम्**=द्वेष को वे प्रभु हमारे से पृथक् करनेवाले हैं, प्रभु स्मरण से सर्वत्र बन्धुत्व की प्रतीति होती है और द्वेष के लिये कोई स्थान नहीं रहता। **दमूनसम्**=दान के मनवाले हैं, प्रभु हमारे लिये सब उन्नति के स्तवनभूत पदार्थों के देनेवाले हैं। **गृहपतिम्**=हमारे इस शरीररूप गृह के वे पति हैं, वस्तुतः यह शरीररूप गृह प्रभु का ही है, मुझे उपयोग के लिये यह प्राप्त हुआ है, मकान मालिक तो प्रभु ही है। **अमूरम्**=वे सर्वज्ञ हैं। (३) उस 'प्रथम-देव-मन्द्रजिह्व-द्वेषोयुत-दमूनस-गृहपति-अमूर' प्रभु का उपासन करता हुआ मैं भी ऐसा ही बनने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—हमें ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा प्रभु का उपासन करते हुए प्रभु जैसा बनने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'अमति व दुर्मति' का दूरीकरण

आरे अस्मदमतिमारे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपासि।
दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आ चित्सचसे स्वस्ति ॥ ६ ॥

(१) हे **सहसः सूनो**=बल के पुत्र, शक्ति के पुञ्ज **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यंचित्**=जिसको भी **आसचसे**=आप प्राप्त होते हैं, उसके लिये आप **शिवः**=कल्याणकर होते हैं। **दोषा**=रात्रि में भी **देवः**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले होते हैं। **स्वस्ति**=वह पुरुष सदा उत्तम स्थिति में होता है। (२) हे प्रभो! **यत्**=जब **निपासि**=आप हमारा निश्चय से रक्षण करते हैं तो **अस्मत्**=हमारे से **अमतिम्**='अशनाया वै पाया मति' अपनाया रूप पापमति को **आरे**=दूर करिये। हमारे से महाशन, कभी भी न तृप्त होनेवाले, काम को पृथक् करिये। उस धनादि विषयों की इच्छा को दूर करिये जो कि कभी तृप्त नहीं होती। **अंहः**=कुटिलता को **आरे**=हमारे से पृथक् करिये। और **विश्वां दुर्मतिम्**=सब अशुभ विचारों को **आरे**=दूर कीजिये। इस दुर्मति के दूर होने पर ही हमारे जीवन से सब अशुभ कर्म दूर होते हैं।

भावार्थ—प्रकाशमय प्रभु के प्राप्त होने से हमारी 'अमति, अंहस् व दुर्मति' दूर हो जाती है। यही कल्याण का मार्ग है।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु उपासन से ज्ञान प्राप्ति तथा दुर्मति के विनाश का प्रतिपादन कर रहा है। अगले सूक्त का प्रारम्भ भी इन्हीं शब्दों से है कि प्रभु के उपासन से ज्ञान-ज्योति प्राप्त होती है—

[१२] द्वादशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

संयतवान् का प्रभु उपासन

यस्त्वामग्न इनधते यतस्रुक्त्रिस्ते अन्नं कृणवत्सस्मिन्नहन्।

स सु द्युम्नैरभ्यस्तु प्रसक्षत्तव क्रत्वा जातवेदश्चिकित्वान्॥ १॥

(१) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः**=जो **यत स्रुक्**=(वाग्वै स्रुचः श० ६।३।१।८) संयत वाणीवाला होकर **त्वाम्**=आपको **इनधते**=अपने हृदय में दीप्त करता है, वह **ते**=आपके लिये **सस्मिन् अहन्**=सम्पूर्ण दिनों में **त्रिः**=तीन बार **अन्नम्**=अन्न को **कृणवत्**=करता है। मौन होकर अन्तःस्तल में प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करना ही यतस्रुक् होकर प्रभु को समिद्ध करना है। इस (दीर्घ) जीवन रूप दिन में प्रथम २४ वर्षों के प्रातःसवन में अगले ४४ वर्षों के मध्यन्दिन सवन में और अन्तिम ४८ वर्षों के सायन्तन सवन में, तीनों समयों पर प्रभु के अन्न को करना, अर्थात् ध्यान के द्वारा प्रभु की भावना का पोषण करना ही प्रभु के तेज से तेजस्वी बनने का मार्ग है। (२) **सः**=इस ध्यानरूप अन्न द्वारा आत्मचिन्तन में दृढ़ होनेवाला व्यक्ति **सुद्युम्नैः**=उत्तम ज्ञान-ज्योतियों से **अभ्यस्तु**=काम-क्रोध आदि सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाला हो। हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! वह आपका उपासक **चिकित्वान्**=ज्ञानी होता हुआ **तव क्रत्वा**=आपकी शक्ति से **प्रसक्षत्**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का ध्यान करें। संयतवाक् होकर प्रभु को अपने में दीप्त करें। प्रभु की ज्योति से ज्योतिर्मय बनें। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर काम-क्रोध आदि शत्रुओं का मर्षण करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अमित्रों का हिंसन

इध्मं यस्ते जभरच्छश्रमाणो महो अग्ने अनीकमा सपर्यन्।

स इधानः प्रति दोषामुषासं पुष्यन्रयिं सचते घ्नन्नमित्रान्॥ २॥

(१) **यः**=जो **शश्रमाणः**=श्रम करता हुआ, बड़ा (hard working) मेहनती होता हुआ, **ते**=आपकी प्राप्ति के लिये **इध्मम्**=पृथिवीस्थ, अन्तरिक्षस्थ व द्युलोकस्थ पदार्थों के ज्ञानरूप समिधाओं को **जभरत्**=प्राप्त कराता है। तथा हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! जो आपके **महः अनीकम्**=महान् तेज को **आ सपर्यन्**=सर्वथा पूजित करनेवाला बनता है **सः**=वह **प्रति दोषां उषासम्**=प्रतिदिन रात्रि व प्रातःकाल **इधानः**=आपकी भावना को दीप्त करता हुआ और इस प्रकार **पुष्यन्**=अपना वास्तविक पोषण करता हुआ **रयिं सचते**=ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करता है। (२) इस ज्ञानैश्वर्य के द्वारा यह **अमित्रान् घ्नन्**=अमित्रों का हिंसन करता है। वस्तुतः इस ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करने पर वह हृदय में प्रभु को आसीन करता है। ये प्रभु ही इसके सब आन्तर शत्रुओं का विनाश करते हैं।

भावार्थ—लोकत्रयी के पदार्थों का ज्ञान होने पर उन पदार्थों में प्रभु की महिमा का दर्शन होता है। इससे प्रभु का तेज प्राप्त होता है। प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु का उपासन हमारे में उस ज्ञानैश्वर्य का पोषण करता है, जिससे कि सब काम-क्रोध आदि अमित्र भावनाओं का हम हिंसन कर पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

क्षत्रिय-वाज-परमधन-रत्न

अग्निरीशे बृहतः क्षत्रियस्याग्निर्वाजस्य परमस्य रायः।
दधाति रत्नं विधते यविष्ठो व्यानुषङ्मर्त्याय स्वधावान्॥ ३॥

(१) **अग्निः**=वे प्रभु **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **क्षत्रियस्य**=बल के **ईशे**=ईश हैं। **अग्निः**=वे प्रभु ही **वाजस्य**=(वज गतौ) सब गतिशीलता के व **परमस्य रायः**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानैश्वर्य के ईश हैं। उपासक को भी क्षतों से त्राण करनेवाला बल, गतिशीलता व उत्कृष्ट ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराते हैं। (२) वे **यविष्ठः**=बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभु **स्वधावान्**=आत्मधारण शक्तिवाले हैं। वे **विधते मर्त्याय**=पूजा करनेवाले मनुष्य के लिये **आनुषक्**=निरन्तर **रत्नम्**=रमणीय पदार्थों को **विदधाति**=विशेषरूप से धारण करते हैं। इन रत्नों को प्राप्त करके यह उपासक भी 'स्व-धावान्' बनता है, अपना धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के उपासक को 'क्षतों से बचानेवाला बल, गतिशीलता, उत्कृष्ट ज्ञानैश्वर्य व रमणीय वस्तुएँ' प्राप्त होती हैं। इनके द्वारा वह आत्मधारण करनेवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

पाप-विश्रन्थन

यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठाचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः।
कृधी ष्वश्स्माँ अदितेरनागान्व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने॥ ४॥

(१) हे **यविष्ठ**=पापों से हमें पृथक् करनेवाले प्रभो! **यत् चित् हि**=जो कुछ भी **ते**=आपके विषय में अथवा **पुरुषत्रा**=पुरुषों के विषय में **अचित्तिभिः**=अज्ञानों, नासमझियों के कारण **कच्चित्**=कोई **आगः चकृम**=पाप कर बैठें तो **अदितेः**=(वाङ् नाम नि० १।११) इस वेदवाणी के द्वारा **अस्मान्**=हमें **सु**=अच्छी प्रकार **अनागान्**=निष्पाप **कृधि**=कीजिये। हम अज्ञानवश पाप तो कर ही बैठते हैं। प्रभु हमें ज्ञान प्राप्त कराके इन पापवृत्तियों से दूर करें। (२) हे **अग्ने**=परमात्मन्! **विष्वक्**=चारों ओर से इन **एनांसि**=पापों को **विशिश्रथः**=हमारे से पृथक् करिये। आपकी कृपा से ज्ञान को प्राप्त करके हम उस ज्ञानाग्नि में सब पापों को भस्म करनेवाले हों। सब ओर से इन पापों का हमारे पर आक्रमण होता है। ज्ञानाग्नि ही इन पाप रूप हिंस्र पशुओं को हमारे से दूर रखती है। नियमों का उल्लंघन करके शरीरादि को अस्वस्थ कर लेना प्रभु के विषय में पाप करना है, उस गृहपति (मकान मालिक) के मकान को ठीक रखना हमारा कर्त्तव्य है। यमों का पालन न करते हुए असत्य व्यवहार से समाज को दूषित करना मनुष्यों के विषय में पाप है। प्रभु ज्ञान द्वारा इन दोनों पापों से हमें बचाएँ। यमनियमों का पालन करते हुए हम प्रभु के प्रिय हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से ज्ञान को प्राप्त करके हम पापों का विश्रन्थन करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शान्त व निर्भीक जीवन

महश्चिदग्न एनसो अभीक ऊर्वाद्देवानामुत मर्त्यानाम्।
मा ते सखायः सदमिद्रिषाम यच्छा तोकाय तनयाय शं योः॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=पापों को भस्म करनेवाले प्रभो! **देवानाम्**=देवों के **उत**=और **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों

के **अभीके**=समीप हमारे से अज्ञानवश हो जानेवाले **महः चित्**=महान् भी **ऊर्वात्**=अत्यन्त विशाल **एनसः**=पाप से, **ते सखायः**=आपके मित्र होते हुए हम **सदं इत्**=सदा ही **मा रिषाम** मत हिंसित हों। स्वास्थ्य के नियमों का अपालन ही देवों के विषय में होनेवाला पाप है, सत्य आदि यमों का न पालना मनुष्यों के विषय में पाप है। प्रभु की मित्रता में रहते हुए हम इन पापों से बचे रहें। (२) इन पापों से दूर रहनेवाले हमारे **तोकाय**=पुत्रों के लिये व **तनयाय**=पौत्रों के लिये **शं योः**=शान्ति व भयों के यावन को **यच्छा**=प्राप्त कराइये। हमारी निष्पापता हमारे वंशजों के कल्याण के लिये हो। प्रभु का स्मरण करते हुए हम देव विषयक व मर्त्य विषयक पापों को न करें। इन पापों से ऊपर उठने पर हमारे जीवन शान्त व निर्भय हों। यही शान्ति व निर्भयता हमारे सन्तानों में प्रवाहित हो।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम पापों से बचे रहें। पापों से बचकर शान्त व निर्भीक बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वसवः यजत्राः

यथा ह त्यद्वसवो गौर्यं चित्पदि षितामर्मुञ्चता यजत्राः।
एवो ष्व१स्मन्मुञ्चता व्यंहः प्र तार्यग्ने प्रतरं न आयुः ॥ ६ ॥

(१) **यथा**=जैसे **यजत्राः**=यज्ञों के द्वारा अपना त्राण करनेवाले **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोग **ह**=निश्चय से **पदि षिताम्**=पाँव में बन्धी हुई **गौर्यं चित्**=गौ को निश्चय से **अमुञ्चत**=मुक्त करते हैं। 'गौ' यहाँ इन्द्रिय है। यह विषयरूप बन्धन से बद्ध हो जाती है। यजत्र वसु लोग इस इन्द्रियरूप गौ को विषयों के बन्धन से मुक्त करते हैं। (२) **एवो**=इस प्रकार ही, अर्थात् इन्द्रियरूप गौ को विषय-बन्धन से मुक्त करके ही **अस्मान्**=हमें **अंहः विमुञ्चत**=पापों से छुड़ाओ, पाप को हमारे से पृथक् करो। हे **अग्ने**=परमात्मन्! निष्पाप बनाकर **नः**=हमारी **प्रतरम्**=इस प्रवृद्ध **आयुः**=आयु को **प्रतारि**=और अधिक प्रवृद्ध करिये, हम खूब ही दीर्घजीवनवाले हों। पाप आयुष्य को नष्ट करता है। आप पाप को नष्ट करके हमारे आयुष्य का वर्धन करिये।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों के बन्धन से मुक्त करके, जीवन को निष्पाप बनायें। निष्पापता से दीर्घ आयुष्य को प्राप्त करें।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु का उपासन करके हम निष्पाप व दीर्घ जीवन को प्राप्त करें। अगले सूक्त का प्रारम्भ प्रभु उपासन से ही प्रारम्भ होता है—

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उषा द्वारा रत्नों का आधान

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यद्विभातीनां सुमना रत्नधेयम्।
यातमश्विना सुकृतो दुरोणमुत्सूर्यो ज्योतिषा देव एति ॥ १ ॥

(१) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **सुमनाः**=उत्तम मनों को देनेवाले हैं (शोभनं मनो यस्मात्)। वे **विभातीनाम्**=दीप्त होती हुई **उषसाम्**=उषाओं के **अग्रम्**=प्रारम्भ में **रत्नधेयम्**=रत्नों के आधान को **प्रति अख्यत्**=प्रतिदिन देखते हैं। प्रभु इस बात का ध्यान करते हैं कि हम प्रतिदिन उषाओं में प्रभु का ध्यान करते हुए उत्तम मनोंवाले बनें और रमणीय वस्तुओं को प्राप्त करें। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **सुकृतः**=पुण्यशाली के **दुरोणम्**=गृह को **यातम्**=प्राप्त करो। हमारे

शरीररूप गृह में प्राणापान की स्थिति हो। प्राणसाधना करते हुए हम प्राण और अपान की शक्ति को बढ़ानेवाले बनें। ऐसा होने पर **देवः सूर्यः**=प्रकाशमय ज्ञान का सूर्य **ज्योतिषा**=ज्योति के साथ **उद् एति**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में उदित होता है। हमारे ज्ञान की दीप्ति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई हमें उस प्रभु का दर्शन कराती है।

भावार्थ—उषा का जागरण हमें उत्तम मन व रमणीय वसुओं को प्राप्त कराये। हम प्राणसाधना करते हुए ज्ञानदीप्ति को बढ़ानेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान सूर्य का उदय

ऊर्ध्वं भानुं सविता देवो अश्रेद् द्रप्सं दविध्वद्गविषो न सत्वा।
अनु व्रतं वरुणो यन्ति मित्रो यत्सूर्यं दिव्यारोहयन्ति॥ २॥

(१) **सविता देवः**=वह प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **ऊर्ध्वं भानुम्**=उत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति को **अश्रेत्**=आश्रय करते हैं, उत्कृष्ट ज्ञानदीप्ति के वे प्रभु आधार हैं, उपासकों के लिये इस ज्ञान-ज्योति को वे प्राप्त कराते हैं। इस ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करने पर **द्रप्सं दविध्वत्**=(द्रप्स=worshipper) यह उपासक सोम के नष्ट होने की वृत्ति को **दविध्वत्**=कम्पित करके दूर कर देता है, सोम का रक्षण करनेवाला होता है। **गविषः न**=यह गौओं को ज्ञान की वाणियों को धारनेवाला होता है। **सत्वा**=शक्तिशाली होता है। (२) **वरुणः**=द्वेष निवारण करनेवाले **मित्रः**=सब के प्रति स्नेहवाले व्यक्ति **व्रतं अनुयन्ति**=व्रत के अनुकूल गतिवाले होते हैं, **यत्**=जब कि ये **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **दिवि आरोहयन्ति**=मस्तिष्करूप द्युलोक में आरूढ़ करते हैं। वरुण और मित्र बनकर, व्रती जीवन बिताने से ज्ञान की आवरणभूत वासना के होने से ज्ञान का सूर्य दीप्त हो उठता है। अब इस ज्ञानसूर्य के दीप्त होने पर वासनाओं का मल पूर्णरूप से विनष्ट हो जात। ह। परिणामतः सोम का, वीर्य का शरीर में रक्षण होता है और ज्ञानाग्नि की और अधिक दीप्ति से ज्ञान की रुचि बढ़ती है, और शरीर भी शक्ति सम्पन्न बनता है।

भावार्थ—ज्ञानसूर्य के उदय होने पर वासनान्धकार विनष्ट हो जाता है, ज्ञान की रुचि बढ़ती है और शरीर शक्ति सम्पन्न बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु दर्शन व अन्धकार विनाश

यं सीमकृण्वन्तमसे विपृचे ध्रुवक्षेमा अनवस्यन्तो अर्थम्।
तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति॥ ३॥

(१) **ध्रुवक्षेमाः**=निश्चय से कल्याण के मार्ग पर चलनेवाले, **अर्थम्**='धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' रूप पुरुषार्थों को **अनवस्यन्तः**=न समाप्त करते हुए, अर्थात् सदा इनका साधन करते हुए लोग **यम्**=जिसको **सीम्**=निश्चय से **तमसे विपृचे**=अन्धकार के पृथक् करने के लिये **अकृण्वन्**=उपासित करते हैं। **तम्**=उस **सूर्यम्**=प्रकाशमय प्रभु को **सप्त**=सात **यह्वीः**=महान्, अर्थ के गौरववाली, **हरितः**=अन्धकार का हरण करनेवाली छन्दोरूप वाणियाँ **वहन्ति**=उपासक के लिये प्राप्त कराती हैं। ध्रुवक्षेम पुरुष प्रभु का उपासन करते हैं। इसलिए उपासन करते हैं कि अज्ञानान्धकार दूर हो जाए। इस उपासक के लिये ये वेद की सात छन्दों में बद्ध ज्ञान की वाणियाँ प्रभु का ज्ञान देती हैं 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति'। (२) ये प्रभु ही **विश्वस्य जगतः**=सम्पूर्ण जगत् के **स्पशम्**=द्रष्टा

हैं, सम्पूर्ण संसार का ध्यान करनेवाले वे प्रभु ही हैं। इस प्रभु को वेदवाणियों के द्वारा वे ही लोग देखते हैं, जो कि 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' रूप चारों पुरुषार्थों के सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यह चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करना ही 'चतुर्भुज' बनना है।

भावार्थ—कल्याण के मार्ग पर चलते हुए, चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करते हुए हम प्रभु का पूजन करें, यही अन्धकार को दूर करने का उपाय है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान सूर्योदय

वहिष्ठेभिर्विहरन्यासि तन्तुमवव्ययन्नसितं देव वस्म।
दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमो अप्स्व१न्तः ॥ ४ ॥

(१) हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप **वहिष्ठेभिः**=लक्ष्य-स्थान को प्राप्त कराने में सर्वोत्तम ज्ञान किरणों से **तन्तुम्**=(तन् विस्तारे) इस फैले हुए अन्धकार को **वि-हरन्**=विशेषरूप से हरते हुए और **असितम्**=इस कृष्ण वर्ण के **वस्म**=आच्छादन करनेवाले अज्ञान वस्त्र को **अवव्ययन्**=अवाचीन करते हुए, तिरस्कृत करते हुए **यासि**=गति करते हैं। प्रभु ज्ञान के द्वारा हमारे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं। (२) **सूर्यस्य**=उस ज्ञानसूर्य प्रभु की **दविध्वतः**=अज्ञानान्धकार को कम्पित करती हुई (धुन्वाभाः सा०) **रश्मयः**=ज्ञानरश्मियाँ **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं के अन्दर **चर्म इव**=त्वचा की तरह आच्छादन करनेवाला होकर विद्यमान इस **तमः**=अन्धकार को **अव अधुः**=नीचे स्थापित करती है। प्रभुरूप सूर्य के उदय होते ही सब अज्ञान का आवरण विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु सूर्य हैं। प्रभु के प्रकाश में अज्ञानान्धकार विनष्ट हो जाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

न अवपद्यते

अनायतो अनिबद्धः कथायं न्यङ्ङुत्तानोऽव पद्यते न।
कया याति स्वधया को ददर्श दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम् ॥ ५ ॥

(१) **अनायतः**=चारों ओर से विषयों से न जकड़ा हुआ, **अनिबद्धः**=वासनाओं के बन्धन में न बँधा हुआ, **उत्तानः**=ऊर्ध्वमुख होकर स्थित हुआ-हुआ **अयम्**=यह **कथा**=किस प्रकार **न्यङ् न अवपद्यते**=नीचे की ओर गतिवाला नहीं होता, अर्थात् अवनति के मार्ग पर नहीं चल पड़ता और **कया स्वधया याति**=किस आत्मधारण शक्ति के साथ इस संसार में गतिवाला होता है? इस बात को **कः**=वह आनन्दस्वरूप प्रभु **ददर्श**=देखते हैं। जैसे एक पिता सन्तान के लिये इस बात का ध्यान करता है कि वह अवनतिपथ पर न चला जाये और अपने पाँव पर खड़ा हो सके इसी प्रकार प्रभु हम जीवों का ध्यान करते हैं। प्रभु ही तो हमारे पिता हैं। (२) वे प्रभु इसीलिए **दिवः स्कम्भः**=ज्ञान के प्रकाश का हमारे में धारण करनेवाले हैं। **समृतः**=हमें सम्यक् प्राप्त हैं। सदा हमारे साथ विद्यमान हैं। वे प्रभु ही हमारे लिये **नाकम्**=मोक्ष सुख का **पाति**=रक्षण करते हैं। प्रभु हमें ज्ञान को देकर निष्पाप बनाते हैं और मोक्ष सुख को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे पिता हैं। वे इस बात के लिये हमें प्रेरित करते हैं कि हम विषयबद्ध होकर निम्न गतिवाले न हो जाएँ तथा आत्मधारण शक्ति का विकास करें।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु को ज्ञानसूर्य के रूप में चित्रित करता है। ये प्रभु हमें ज्ञान देकर अवनत होने से बचाते हैं।

यही भाव अगले सूक्त में भी पुष्ट हुआ है—

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

दीप्त उषाएँ

प्रत्यग्निरुषसो जातवेदा अख्यद्देवो रोचमाना महोभिः।
आ नासत्योरुगाया रथेनेमं यज्ञमुप नो यातमच्छ ॥ १ ॥

(१) **जातवेदाः**=सर्वज्ञ **अग्निः**=अग्रणी **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **महोभिः**=तेजस्विताओं से **रोचमानाः**=देदीप्यमान **उषसः**=उषाओं को **प्रति अख्यत्**=प्रतिदिन प्रकाशित करते हैं। हमारे लिये प्रभु कृपा से उन उषाओं का प्रादुर्भाव होता है जो कि हमें तेजस्विता व दीप्ति प्राप्त करानेवाली होती हैं। इन उषाओं में प्राणायाम से हम ऊर्ध्वरेता बनकर तेजस्विता को सिद्ध करते हैं, तथा स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानदीप्ति को बढ़ाते हैं। (२) हे **नासत्या**=असत्य को विनष्ट करनेवाले प्राणापानो! आप **उरुगाया**=अत्यन्त गायन के योग्य, प्रशंसनीय हो। अथवा प्रभूतगमन वाले हो, हमारे शरीरों में स्फूर्ति के बढ़ानेवाले हो। आप **इमं नः यज्ञं अच्छ**=हमारे इस जीवनयज्ञ की ओर **रथेन**=इस उत्तम शरीर-रथ के साथ **उपयातम्**=समीपता से प्राप्त होवो। आपकी साधना से हमें उत्तम शरीर-रथ प्राप्त हो।

भावार्थ—हमारे लिये उषाकाल तेजस्विता व दीप्ति को देनेवाला हो। प्राणसाधना से हमारा यह शरीर-रथ निर्दोष बने।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ऊर्ध्व केतु

ऊर्ध्वं केतुं सविता देवो अश्रेज्ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वन्।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वि सूर्यो रश्मिभिश्चेकितानः॥ २ ॥

(१) **सविता देवः**=वह प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **ऊर्ध्वं केतुम्**=उत्कृष्ट ज्ञान का **अश्रेत्**=आश्रय करते हैं। उपासक को इस उत्कृष्ट ज्ञान को प्रभु प्राप्त कराते हैं। **विश्वस्मै भुवनाय**=सब लोकों के लिये **ज्योतिः कृण्वन्**=प्रकाश को वे प्रभु करते हैं। यह ठीक है कि सब कोई उस ज्योति का लाभ उठाते नहीं 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्'=कोई विरल ही उस ज्योति को देखनेवाला होता है। (२) वे प्रभु द्यावापृथिवी, द्युलोक तथा पृथिवीलोक को और **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **आप्राः**=पूरण किये हुए हैं, त्रिलोकी में वे व्याप्त हो रहे हैं। और **सूर्यः**='ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' सूर्यसम ज्योति वे प्रभु **रश्मिभिः**=ज्ञानरश्मियों से **विचेकितानः**=विशिष्टरूप से मार्ग का ज्ञान दे रहे हैं। प्रेरणा के रूप में दिये जानेवाले इस ज्ञान को हम सुनेंगे तो मार्ग पर चलते हुए इहलोक में सुख को प्राप्त कर परम मोक्ष को प्राप्त करनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाश कर रहे हैं। हम उस प्रकाश को देखें। तदनुसार मार्ग पर चलते हुए कल्याण को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'तीव्र बुद्धि' 'स्वस्थ शरीर'

आवहन्त्यरुणीर्ज्योतिषागान्मही चित्रा रश्मिभिश्चेकिताना।
प्रबोधयन्ती सुविताय देव्युषा ईयते सुयुजा रथेन॥ ३ ॥

(१) **अरुणीः**=अरुण वर्णवाली प्रकाश की किरणों को **आवहन्ती**=धारण करती हुई **देवी**=प्रकाशमयी **उषा**=उषा **ज्योतिषा आगात्**=ज्योति के साथ आती है। यह हमारे लिये प्रकाश को करनेवाली होती है। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानवर्धन का साधन बनती हुई यह उषा **मही**=हमारे लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है, **चित्रा**=अद्भुत व (चित्+र) ज्ञान को देनेवाली है। यह **रश्मिभिः**=अपनी रश्मियों के द्वारा **चेकिताना**=हमारे निवास को उत्तम बनाती है व रोगों का अपनयन करती है (कित निवासे रोगापनयेन च)। (२) यह हमें **सुविताय**=उत्तम आचरण के लिये **प्रबोधयन्ती**=जगानेवाली है। यह **सुयुजा**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वों के योगवाले **रथेन**=शरीर-रथ से **ईयते**=प्राप्त होती है। उषाकाल का जागरण बुद्धि के वर्धन का भी साधन है (प्रबोधयन्ती) शरीर की स्वस्थता का भी (सुयुजा रथेन)।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण हमें स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वहिष्ठ 'रथ व अश्व'

आ वां वहिष्ठा इह ते वहन्तु रथा अश्वास उषसो व्युष्टौ।
इमे हि वां मधुपेयाय सोमा अस्मिन्यज्ञे वृषणा मादयेथाम्॥ ४॥

(१) हे अश्विनी देवो, प्राणापानो! **इह**=इस जीवन में **वहिष्ठाः**=लभ्य स्थान की ओर ले जाने में उत्तम **ते रथाः**=वे शरीरस्थ तथा **अश्वासः**=इन्द्रियाश्व **उषसः व्युष्टौ**=उषा के उदित होते ही **वाम्**=आपको **आवहन्तु**=प्राप्त करानेवाले हों। हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर, स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों से निवृत्त होकर, प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। यह प्राणसाधना ही हमें जीवनयात्रा में सफल बनायेगी। (२) हे **वृषणा**=शक्तिशाली प्राणापानो! **इमे**=ये **सोमाः**=सोम **वाम्**=आपके हैं। ये **हि**=निश्चय से **मधुपेयाय**=माधुर्य के पान के लिये हैं। प्राणसाधना के द्वारा शरीर में ही ऊर्ध्वगतिवाले ये सोम जीवन को मधुर बनाते हैं। इसलिए हे प्राणापानो! आप **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **मादयेथाम्**=हर्ष का अनुभव करानेवाले होवो। प्राणसाधना से 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी का स्वास्थ्य प्राप्त होता है, परिणामतः एक अद्भुत आनन्द का भी अनुभव होता है।

भावार्थ—प्राणायाम के द्वारा शक्ति की ऊर्ध्वगति से त्रिविध स्वास्थ्य को प्राप्त करके (शरीर, मन व बुद्धि में) हम आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निर्लिङ्गोक्ता वा॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अनायत अनिबद्ध

अनायतो अनिबद्धः कथायं न्यङ्ङुत्तानोऽव पद्यते न।
कया याति स्वधया को ददर्श दिवः स्कम्भः समृतः पाति नाकम्॥ ५॥

मन्त्र व्याख्या १३.५ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त ज्ञान प्राप्ति द्वारा मार्ग पर चलते हुए शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य को प्राप्त करने का प्रतिपादन कर रहा है। अगले सूक्त में भी अग्नि नाम से प्रभु का शंसन है—

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

देवो देवेषु यज्ञियः

अग्निर्होता नो अध्वरे वाजी सन्परि णीयते। देवो देवेषु यज्ञियः॥ १॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु ही **नः अध्वरे**=हमारे इस जीवनरूप यज्ञ में **होता**=होता होते हैं। प्रभु की शक्ति से ही जीवन-यज्ञ की सब क्रियाएँ चलती हैं। **वाजी सन्**=सब गतियों के स्वामी होते हुए **परिणीयते**=समन्तात् कार्यों में प्राप्त कराये जाते हैं, प्रभु की शक्ति से ही सब गति का सम्भव है। (२) **देवः**=वे प्रभु प्रकाशमय हैं। **देवेषु यज्ञियः**=सूर्य आदि देवों में वे प्रभु ही उपास्य हैं। सूर्य में प्रभु की शक्ति ही तो काम कर रही है, सूर्यादि सब देवों में प्रभु की दीप्ति ही तो दीप्त हो रही है 'तस्य भासा सर्व मिदं विभाति'। सब देव वस्तुतः उस प्रभु से ही देवत्व को प्राप्त करते हैं 'तेन देवा देवतामग्र आयन्'।

भावार्थ—प्रभु ही होता हैं, वे ही वाजी=सब गति के स्रोत हैं, वे ही सब देवों को देवत्व प्राप्त करा रहे हैं। ये सब उस प्रभु की दीप्ति से ही दीप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

देवेषु प्रयः दधत्

परि त्रिविष्ट्यध्वरं यात्यग्नी रथीरिव। आ देवेषु प्रयो दधत्॥ २॥

(१) **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **त्रिविष्टि**=तीनों लोकों में व्याप्ति के द्वारा **अध्वरम्**=इस सृष्टि यज्ञ में **परियाति**=सब ओर गति कर रहे हैं। सारी गति के आदि स्रोत प्रभु ही हैं। **रथीः इव**=वे रथी के समान हैं। रथवाला व्यक्ति जिस प्रकार शीघ्रता से गतिवाला होता है, उसी प्रकार वे प्रभु शीघ्रता से गतिवाले हैं। (२) वे प्रभु **देवेषु**=इन सब सूर्यादि देवों में **प्रयः**=(प्रयस्=strength to work) कार्य करने की शक्ति को **दधत्**=स्थापित करते हैं। सूर्यादि सब पिण्ड प्रभु की शक्ति से ही उस-उस कार्य को कर रहे हैं।

भावार्थ—सृष्टि यज्ञ के संचालक प्रभु ही हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'वाजपतिः कविः'

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे॥ ३॥

(१) वे प्रभु **वाजपतिः**=सब शक्तियों के स्वामी हैं। **कविः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञ हैं। **अग्निः**=सम्पूर्ण सृष्टि को गति देनेवाले हैं prime mover प्रथम संचालक हैं। (२) ये प्रभु **दाशुषे**=आत्मार्पण करनेवाले के लिये **रत्नानि**='शक्ति ज्ञान' आदि रमणीय वस्तुओं को धारण करते हुए **हव्यानि**=हव-आहव में उत्तम, अर्थात् काम-क्रोध आदि शत्रुओं से लड़ाई करने में उत्तम उपासकों को **परि अक्रमीत्**=प्राप्त होते हैं। वस्तुतः प्रभु ही वह शक्ति व ज्ञान देते हैं जिसके द्वारा यह उपासक इन शत्रुओं को जीत पाता है।

भावार्थ—प्रभु ही शक्ति के स्वामी हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। अग्रणी होते हुए हमें शक्ति व ज्ञान आदि रमणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'सृञ्जय व दैववात' में प्रभु का प्रकाश

अयं यः सृञ्जये पुरो दैववाते समिध्यते। द्युमाँ अमित्रदम्भनः॥ ४॥

(१) **अयम्**=यह **यः**=जो प्रभु हैं वे **द्युमान्**=ज्योतिर्मय हैं, सम्पूर्ण ज्ञान के आधार हैं। **अमित्रदम्भनः**=अमित्रों का हिंसन करनेवाले हैं। वस्तुतः ज्ञान को प्राप्त कराके ही प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार किया करते हैं। इस ज्ञानाग्नि में वासनाओं के सब मल भस्म हो जाते

हैं। (२) ये प्रभु **पुरः**=सब से प्रथम **सृञ्जये**=(प्राप्तान् शत्रून् जयति इति सृञ्जयः द०) हमारे में प्रविष्ट हो जानेवाले काम-क्रोध-लोभ रूप शत्रुओं को पराजित करनेवाले पुरुष में **समिध्यते**=दीप्त होते हैं। **दैववाते**=(देववातस्य अपत्यम्) उस व्यक्ति में दीप्त होते हैं, जो कि सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि देवों से प्रेरणा को प्राप्त करता है (देवेभ्यः वातं अस्ति अस्य)। सूर्य से यह गति द्वारा दीप्ति को प्राप्त करने का पाठ पढ़ता है। चन्द्रमा से सदा शान्त सौम्य बनने की शिक्षा लेता है तथा विद्युत् से वासना-वृक्षों को भस्म करने का पाठ पढ़ता है। इसी प्रकार सब देवों से प्रेरणा को लेता हुआ यह अपने में प्रभु को दीप्त कर पाता है।

भावार्थ—हम प्राप्त शत्रुओं का नाश करनेवाले 'सञ्जय' बनें, सूर्यादि देवों से प्रेरणा को प्राप्त करनेवाले 'दैववात' हों। ताकि हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'तिग्मजम्भ मीढवान्' प्रभु

अस्य घा वीर ईवतोऽग्नेरीशीत मर्त्यः। तिग्मजम्भस्य मीळ्हुषः॥ ५॥

(१) **वीरः**=गतमन्त्र के अनुसार शत्रुओं का संहार करनेवाला वीर **मर्त्यः**=मनुष्य **घा**=ही **अस्य**=इस **ईवतः**=सर्वत्र गमनवाले **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु के **ईशीत**=ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला होता है। प्रभु के ऐश्वर्य से यह अपने को ऐश्वर्य सम्पन्न बना पाता है। (२) उस प्रभु के ऐश्वर्य से जो कि **तिग्मजम्भस्य**=तीक्षण दाढ़ोंवाले हैं, अर्थात् काम-क्रोध आदि शत्रुओं को चीर-फाड़ डालनेवाले हैं तथा **मीढुषः**=शत्रु विनाश द्वारा हमारे पर सुखों का सेचन करनेवाले हैं। वस्तुतः प्रभु का उपासक भी कामादि शत्रुओं के लिये तिग्म दाढ़ोंवाला बनता है और अपने जीवन का ठीक परिपाक करके सब पर सुखों का सेचन करने का प्रयत्न करता है। यह समाजहित के कार्यों में प्रवृत्त होता है। लोकहित के कार्यों में सदा गतिशील बना रहता है।

भावार्थ—वीर पुरुष उपास्य प्रभु की तरह ही गतिशील, कामादि शत्रुओं का विनाशक तथा सुखों का सेचक बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अर्वन्तम्-अरुषम्

तमर्वन्तं न सानसिमरुषं न दिवः शिशुम्। मर्मृज्यन्ते दिवेदिवे॥ ६॥

(१) **तम्**=उस **अर्वन्तं न**=(अर्व killing enemies) शत्रुओं का संहार करनेवाले की तरह **सानसिम्**=सम्भजनीय, **दिवः शिशुं न**=द्युलोक के पुत्र सूर्य की तरह **अरुषम्**=आरोचमान उस प्रभु को उपासक लोग **दिवे दिवे**=प्रतिदिन **मर्मृज्यन्ते**=अपने हृदयों में शुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। (२) उस प्रभु को शुद्ध करने का भाव यह है कि हृदय में उत्पन्न हुई-हुई वासनाओं को दूर करते हैं। ये वासनाएँ ही तो वह मलिन आवरण हैं जो कि हमें प्रभु का दर्शन नहीं होने देते। इस प्रभु का दर्शन होने पर सब वासनाओं का संहार हो जाता है और ज्ञान की दीप्ति चमक उठती है।

भावार्थ—ध्यान द्वारा हृदय को परिमार्जित करते हुए हम प्रतिदिन उस प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारे सब वासनारूप शत्रुओं का संहार करके हमें दीप्त जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सोमकः साहदेव्यः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

कुमार साहदेव्य

बोधद्यन्मा हरिभ्यां कुमारः साहदेव्यः। अच्छा न हूत उदरम्॥ ७॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के उपासन से वासनाओं को विनष्ट करनेवाला व्यक्ति 'कुमार' है, 'कु', अर्थात् बुराई को 'मार' समाप्त करनेवाला। यह 'साहदेव्य' है, दिव्य गुणों के साथ होनेवालों में उत्तम। यह **कुमारः साहदेव्यः**=कुमार साहदेव्य **यत्**=जब **मा**=मुझे (प्रभु को) **हरिभ्याम्**=अपने इन्द्रियाश्वों के द्वारा **बोधत्**=जानता है। इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करके यह कुमार प्रभु को देखने का प्रयत्न करता है 'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्'। उस समय **अच्छा हूतः**=अपने अभिमुख उस कुमार से पुकारा गया मैं **न उत् अरम्**=बाहर नहीं ज़ाता। प्रभु इस कुमार के हृदय में निवास करते हैं। (२) हम (क) कुमार बनें, बुराइयों को मारनेवाले। (ख) साहदेव्य बनें=दिव्यगुणों के साथ अपने जीवन को बनानेवाले। (ग) आवृत्तचक्षु होकर प्रभु को देखने का प्रयत्न करें। (घ) प्रभु को अपने अभिमुख पुकारनेवाले हों, प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले हों। ऐसा होने पर अवश्य हमारे हृदयों में प्रभु का निवास होगा।

भावार्थ—बुराइयों को नष्ट करनेवाले, दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले बनकर हम प्रभु के दर्शन कर पायें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सोमकः साहदेव्यः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'पयजता प्रयता' हरी

उत त्या यजता हरी कुमारात्साहदेव्यात्। प्रयता सद्य आ ददे॥ ८॥

(१) प्रभु कहते हैं कि मैं इस **कुमारात्**=बुराइयों को समाप्त करनेवाले **साहदेव्यात्**=दिव्य गुणों से युक्त उपासक के हेतु से **त्वा**=उन **यजता**=यज्ञों के करनेवाले **प्रयता**=पवित्र **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **उत**=निश्चय से **सद्यः**=शीघ्र ही **आददे**=प्राप्त करता हूँ। (२) प्रभु इस कुमार साहदेव्य को उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं जो कि यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं तथा ज्ञानाग्नि में तपकर सदा पवित्र बने रहते हैं। कर्मेन्द्रियाँ यज्ञों में लगी रहती हैं तो ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति का साधन बनी रहकर पवित्र बनी रहती हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें वे इन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं जो कि यज्ञादि कर्मों में व ज्ञान प्राप्ति में लगी रहती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोमक

एष वां देवावश्विना कुमारः साहदेव्यः। दीर्घायुरस्तु सोमकः॥ ९॥

(१) हे **देवौ**=प्रकाशमय **अश्विनौ**=प्राणापानो! **एषः**=यह उपासक **वाम्**=आपकी साधना करनेवाला **अस्तु**=हो। प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास करता हुआ यह प्राणापान की शक्ति को बढ़ानेवाला हो। (२) इस शक्ति के बढ़ाने से यह (क) **कुमारः**=सब बुराइयों को विनष्ट करनेवाला हो, (ख) **साहदेव्यः**=दिव्यगुणों से युक्त जीवनवालों में उत्तम हो। (३) **दीर्घायुः**=दीर्घ जीवन को प्राप्त करे और (घ) **सोमकः**=अत्यन्त सोम्य व विनीत स्वभाववाला हो अथवा अपने अन्दर सोम का रक्षण करनेवाला बने।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम 'कुमार, साहदेव्य, दीर्घायु व सोमक' बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दीर्घ जीवन

तं युवं दे॑वावश्विना कुमा॒रं सा॑हदे॒व्यम्। दी॒र्घायु॑षं कृणोतन ॥ १० ॥

(१) हे **देवौ**=प्रकाशमय व ज्ञानवृद्धि के कारणभूत अथवा रोगों को जीतने की कामनावाले (दिव्=विजिगीषा) **अश्विनौ**=प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **तम्**=उस **कुमारम्**=बुराइयों को समाप्त करनेवाले **साहदेव्यम्**=दिव्य गुणों से युक्त उपासक को **दीर्घायुषं कृणोतन**=दीर्घजीवनवाला करो। (२) प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है। इस सोमरक्षण से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से बुराइयाँ नष्ट होती हैं, अच्छाइयाँ प्राप्त होती हैं और दीर्घ जीवनवाले हम बनते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि हम प्रभु का उपासन करते हैं, तो उत्तम व दीर्घ जीवनवाले बनते हैं। प्रभु का उपासन अब 'इन्द्र' नाम से करते हैं—

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमपान करनेवाला इन्द्र

आ स॒त्यो या॑तु म॒घवाँ॑ ऋजी॒षी द्रव॑न्त्वस्य॒ हर॑य॒ उप॑ नः।
तस्मा॒ इदन्धः॑ सुषुमा सु॒दक्ष॑मि॒हाभि॑पि॒त्वं क॑रते गृणा॒नः ॥ १ ॥

(१) **सत्यः**=सत्यस्वरूप, **मघवान्**=ऐश्वर्यशाली व (मघ=मख) यज्ञोंवाला **ऋजीषी**=ऋजुता की प्रेरणा देनेवाला (ऋजु+इष्)-कुटिलता को दूर करनेवाला प्रभु **आयातु**=हमें प्राप्त हो। **अस्य**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **हरयः**=इन्द्रियाश्व **नः उपद्रवन्तु**=हमें समीपता से प्राप्त हों। 'प्रभु के इन्द्रियाश्व' का भाव यह है कि वे इन्द्रियाँ, जो कि प्रभु की ओर जानेवाली हैं। (२) **तस्मा**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **इत्**=ही **अन्धः**=सोम को **सुषुम**=हम उत्पन्न करते हैं। यह सोम **सुदक्षम्**=उत्तम बल को प्राप्त करानेवाला है। हमें बलसम्पन्न बनाकर ही यह सोम प्रभुप्राप्ति का पात्र बनाता है। **इह**=इस जीवन में यह प्रभु **गृणानः**=स्तुति किया जाता हुआ **अभिपित्वम्**=हमारे अभिमत की प्राप्ति को **करते**=करता है। प्रभु का सच्चा स्तवन यही है कि हम उस प्रभु से उत्पादित इस सोम का रक्षण करनेवाले हों। सोम का पान करते हुए हम भी शक्तिशाली व 'इन्द्र' बनते हैं। इन्द्र बनकर ही तो इन्द्र का उपासन होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को वश में करते हुए प्रभु की ओर चलनेवाले बनें। सोमरक्षण द्वारा शक्तिशाली बनकर उस सर्वशक्तिमान् के सच्चे उपासक हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

इन्द्रियाश्वों को विषय-बन्धन से छुड़ाना

अव॑ स्य शू॒राध्व॑नो॒ नान्ते॒ऽस्मिन्नो॑ अ॒द्य सव॑ने म॒न्दध्यै॑।
शंसा॑त्यु॒क्थमु॒शने॑व वे॒धाश्चि॑कि॒तुषे॑ असु॒र्या॑य॒ मन्म॑ ॥ २ ॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **अध्वनः अन्ते न**=जिस प्रकार मार्ग की समाप्ति पर अश्वों को खोलते हैं, उसी प्रकार आप **नः**=हमारे **अस्मिन् सवने**=इस जीवनयज्ञ में **अद्य**=आज **मन्दध्यै**=आनन्दप्राप्ति के लिए **अव स्य**=(षोऽन्तकर्मणि) इन्द्रियाश्वों को विषयों के

बन्धन से मुक्त करिए। (२) **उशनाः इव**=सर्वहित की कामना करते हुए उपासक के समान यह भक्त **उक्थम्**=स्तोत्रों का शंसन करता है। इस प्रभुभक्ति से ही इसकी उदार लोकहितात्मक वृत्ति बनी रहती है। **वेधाः**=यह ज्ञानी बनकर **चिकितुषे**=उस सर्वज्ञ **असुर्याय**=प्राणशक्ति का संचार करनेवालों में उत्तम प्रभु के लिए **मन्म**=मननीय ज्ञान को प्राप्त करता है। जितना-जितना ज्ञान प्राप्त करता चलता है, उतना-उतना प्रभु के समीप होता जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारी इन्द्रियों को विषयबन्धन से मुक्त करें, ताकि हम जीवनयात्रा ठीक से पूर्ण कर सकें। हम ज्ञानवर्धन करते हुए प्रभु के स्तोता बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान के सात दीपक

क॒विर्न नि॒ण्यं वि॒दथा॑नि॒ साध॒न्वृषा॒ यत्सेकं॑ विपिपा॒नो अर्चा॑त्।
दि॒व इ॒त्था जी॑जनत्स॒प्त का॒रूनह्ना॑ चिच्चक्रुर्व॒युना॑ गृ॒णन्तः॑॥ ३॥

(१) **कविः न निण्यम्**=जैसे एक क्रान्तदर्शी पुरुष (piercing sight वाला) अन्तर्हित-गूढ़-तत्त्वार्थ को जान लेता है, इसी प्रकार **विदथानि**=ज्ञानों को **साधन्**=सिद्ध करता हुआ, **वृषा**=शक्तिशाली पुरुष **यत्**=जब **सेकम्**=शरीर में सेचनीय सोम को **विपिपानः**=विशेषरूप से पीता हुआ-शरीर में ही वीर्य को सुरक्षित करता हुआ **अर्चात्**=उस प्रभु की उपासना करता है। वस्तुतः वीर्य का रक्षण ही प्रभु का महान् अर्चन है। प्रभु ने यही हमें सर्वोत्तम धातु प्राप्त कराई है। इसे हम शरीर में धारण करते हैं, तो प्रभु का समादर कर रहे होते हैं। (२) **इत्था**=इस प्रकार वीर्यरक्षण द्वारा **सप्त**='दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व जिह्वा' इन सातों को **दिवः कारून्**=प्रकाश (ज्ञान) उत्पन्न करनेवाला **जीजनत्**=बनाता है और **अह्ना चित्**=एक ही दिन में, अर्थात् अतिशीघ्र, **गृणन्तः**=स्तुति करते हुए ये लोग **वयुना चक्रुः**=प्रज्ञानों को करते हैं - अपने अन्दर प्रज्ञानों का सम्पादन करते हैं। सुरक्षित वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाता है। ज्ञानाग्नि की दीप्ति से इनके प्रज्ञान चमक उठते हैं।

भावार्थ—स्वाध्याय में लगने से वीर्यरक्षण सम्भव होता है। वीर्य-रक्षण ही प्रभु का सच्चा आदर है। यह सुरक्षित वीर्य सब ज्ञानेन्द्रियों को शक्तिशाली बनाता है और शीघ्र ही हमारी ज्ञानाग्नि की दीप्ति का कारण बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञान का प्रकाश व वासना विलय

स्व॒१॒॑र्यद्वेदि॑ सु॒दृशी॑कम॒र्कैर्महि॒ ज्योती॑ रुरुचु॒र्यद्ध॒ वस्तोः॑।
अ॒न्धा तमां॑सि॒ दुधि॑ता वि॒चक्षे॒ नृभ्य॑श्चकार॒ नृत॑मो अ॒भिष्टौ॑॥ ४॥

(१) **अर्कैः**=अर्चना के साधनभूत मन्त्रों द्वारा **यत्**=जब **सुदृशीकम्**=उत्तम दर्शनीय **स्वः**=प्रकाश **वेदि**=जाना जाता है, या प्राप्त किया जाता है। **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **वस्तोः**=निवास को उत्तम बनाने के उद्देश्य से **महि ज्योतिः**=महनीय व महान् ज्योति में ही **रुरुचुः**=रुचिवाले होते हैं। उस समय **नृतमः**=वह सर्वोत्तम नेता प्रभु **नृभ्यः**=इन उन्नतिपथ पर बढ़नेवाले लोगों के लिए **अभिष्टौ**=वासनाओं पर आक्रमण के निमित्त **अन्धा तमांसि**=घने अन्धकारों को **दुधिता चकार**=(नाशितानि सा०) नष्ट करते हैं और **विचक्षे**=उन लोगों के लिए विशेषरूप से मार्गदर्शन के लिए होते हैं। (२) प्रभु की उपासना से प्रकाश प्राप्त होता है। इसी से हमारी रुचि ज्ञानप्राप्ति की ओर होती है।

उस समय प्रभु हमारे घने अज्ञानान्धकारों को नष्ट करते हैं। ज्ञान के प्रकाश में वासनान्धकार का विलय हो जाता है।

भावार्थ—उपासक को प्रभु वह ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराते हैं, जिसमें वासनाएँ विलीन हो जाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अनन्त प्रभु

व॒व॒क्ष इन्द्रो॒ अमि॑तमृजी॒ष्यु१॒॑भे आ प॑प्रौ॒ रोद॑सी महि॒त्वा।
अत॑श्चिदस्य महि॒मा वि रे॑च्य॒भि यो विश्वा॒ भुव॑ना ब॒भूव॑॥ ५॥

(१) **ऋजीषी**=ऋजुता (सरलता) की प्रेरणा देनेवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अमितं ववक्षे**=असीम वृद्धिवाले होते हैं (वक्ष् to grow)। इतनी वृद्धिवाले कि **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **महित्वा**=अपनी महिमा से **आपप्रौ**=पूरित कर लेते हैं। (२) वस्तुतः **अतः चित्**=इन द्यावापृथिवी से भी **अस्य**=इन प्रभु की **महिमा**=महिमा **विरेचि**=अतिरिक्त होती है। ये द्यावापृथिवी उसकी महिमा को अपने अन्दर समा लेने में समर्थ नहीं होते। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' ये सब भूत तो उस प्रभु के चतुर्थांश में ही समा जाते हैं। प्रभु तो वे हैं, **यः**=जो कि **विश्वा भुवना**=सब भुवनों को **अभिबभूव**=अभिभूत किये हुए हैं। 'एतावान् अस्य महिमा' ये सब भुवन प्रभु की महिमा हैं, 'अतो ज्यायाँश्च पूरुषः' प्रभु इससे बहुत अधिक हैं। प्रभु इस सारे ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में लिये हुए हैं। अनन्त हैं वे प्रभु।

भावार्थ—द्यावापृथिवी उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। प्रभु इनसे महान् हैं, ये तो प्रभु के एक देश में ही स्थित हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु द्वारा शक्तिकणों का हमारे साथ मेल

विश्वा॑नि श॒क्रो नर्या॑णि वि॒द्वान॒पो रि॑रेच॒ सखि॑भि॒र्निका॑मैः।
अश्मा॑नं चि॒द्ये बि॑भि॒दुर्वचो॑भिर्व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ वि व॑व्रुः॥ ६॥

(१) **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **विश्वानि**=सब **नर्याणि विद्वान्**=नरहित साधनभूत बातों को जानता हुआ **निकामैः**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले **सखिभिः**=मित्रभूत जीवों के साथ **अपः रिरेच**=वीर्यकणों को (आप रेतोभूत्वा) मिलाता है (to join, mix रिच्)। वस्तुतः इन वीर्यकणों से ही सब हित सिद्ध होते हैं। जीवन-भवन की नीव ये वीर्यकण ही हैं। (२) **ये**=जो उपासक **वचोभिः**=स्तुति-वचनों द्वारा **अश्मानं चित्**=पत्थर के समान दृढ़ भी वासना को **बिभिदुः**=विदीर्ण करते हैं, वे **उशिजः**=मेधावी प्रभुप्राप्ति की कामनावाले पुरुष **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले **व्रजम्**=वाड़े को **विवव्रुः**=वासना के आच्छादन से रहित करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों को वासनाओं से मुक्त करते हैं। अपने को वासनाओं से मुक्त करके ही तो वे वीर्यरक्षण कर पाते हैं। इस वासना को विनष्ट करने का सर्वोत्तम साधन ज्ञानवाणियों द्वारा प्रभु का उपासन है।

भावार्थ—हमारे जीवनों को मंगलमय बनाने के लिए प्रभु हमारे साथ वीर्यकणों को जोड़ते हैं। इन वीर्यकणों के रक्षण के लिए प्रभु की उपासना नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-जलों का प्रेरण

अपो वृत्रं वव्रिवांसं पराहन्प्रावत्ते वज्रं पृथिवी सचेताः।
प्रार्णांसि समुद्रियाण्यैनोः पतिर्भवञ्छवसा शूर धृष्णो ॥ ७ ॥

(१) **अपः**=रेतःकणों को **वव्रिवांसम्**=आवृत्त कर लेनेवाले **वृत्रम्**=कामरूप इस शत्रु को **परा अहन्**=आप सुदूर विनष्ट करते हो। **सचेताः**=चेतनावाला-समझदार **पृथिवी**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला मनुष्य **ते**=आपके दिये हुए **वज्रम्**=इस क्रियाशीलतारूप वज्र को **प्रावत्**=प्रकर्षेण रक्षित करता है। यह इस बात का पूरा ध्यान करता है कि कहीं यह अकर्मण्य न हो जाए। अकर्मण्य होते ही तो वृत्र का आक्रमण होता है और तब वीर्यरक्षण संभव नहीं रहता। (२) हे **शूर**=हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **धृष्णो**=धर्षकशक्ति से युक्त प्रभो! आप **शवसा**=अपने बल द्वारा **पतिः भवन्**=हमारे रक्षक होते हुए **समुद्रियाणि**=ज्ञानैश्वर्य के अधारभूत वेदरूप समुद्रों के **अर्णांसि**=ज्ञान-जलों को **प्र ऐनो**=प्रकर्षेण प्रेरित करते हैं। आप हमें शक्ति देते हैं व ज्ञान देते हैं। इसी प्रकार आप हमारा रक्षण करते हैं। इस शक्ति व ज्ञान द्वारा ही वृत्र का विनाश सम्भव होता है।

भावार्थ—समझदार पुरुष क्रियाशील बनकर वासना से बचा रहता है। वासना-विनाश से शक्ति व ज्ञान का वर्धन करके यह ज्ञानसमुद्र के रत्नों को पानेवाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अविद्यापर्वत का विदारण

अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत्सरमा पूर्व्यं ते।
स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥ ८ ॥

(१) हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी-जिसकी प्रार्थना हमारा पालन व पूरण करती है, ऐसे प्रभो! आप **यद्**=जब **अपः**=हमारे वीर्यकणों का लक्ष्य करके **अद्रिम्**=अविद्या-पर्वत को **दर्दः**=विदीर्ण करते हैं, तो **पूर्व्यम्**=सर्वप्रथम **ते**=आपकी **सरमा**=सब विषयों में चलनेवाली-उनका अवगाहन करनेवाली बुद्धि **आविर्भुवत्**=प्रकट होती है। अविद्या-विनाश से वीर्य का रक्षण होता है। इससे हमारे में सूक्ष्मबुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। (२) **सः**=वे **नः**=हमारे **नेता**=प्रणयन करनेवाले आप **भूरिम्**=पालने व पोषण करनेवाले **वाजम्**=बल व अन्न को **आदर्षि**=प्राप्त कराते हैं। **अंगिरोभिः**=अपने अंगों को रसमय बनानेवाले पुरुषों से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **गोत्रा**=अविद्यापर्वतों का **रुजन्**=विदारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमारे अविद्यापर्वत का विदारण करते हैं और पोषक अन्नों व बलों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मायावान् 'अब्रह्मा व दस्यु' का विनाश

अच्छा कविं नृमणो गा अभिष्टौ स्वर्षाता मघवन्नाधमानम्।
ऊतिभिस्तमिषणो द्युम्नहूतौ नि मायावानब्रह्मा दस्युरर्त ॥ ९ ॥

(१) हे **नृमणः**=(नृभिः मन्यते) उन्नतिपथ पर चलनेवालों से मननीय **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **अभिष्टौ**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का आक्रमण होने पर **स्वः सातौ**=प्रकाश की

प्राप्ति के निमित्त **नाधमानम्**=याचना करते हुए **कविं अच्छा गाः**=ज्ञानीपुरुष की ओर प्राप्त होते हैं और **तम्**=उसको **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा **इषणः**=उन्नतिपथ पर प्रेरित करते हैं। (२) इन **द्युम्नहूतौ**=(द्युम्नस्य धनस्य हूतिः यस्यां) धन की पुकारवाले युद्ध में **मायावान्**=छल-कपटवाला, **अब्रह्मा**=अज्ञानी **दस्युः**=विनाश की वृत्तिवाला पुरुष **नि अर्त**=विनष्ट होता है (=नीचे जाता है, is trampled upon)।

भावार्थ—संसार-संग्राम में कवि (ज्ञानी) अन्ततः विजयी होता है। छली, अज्ञानी व विध्वंस की वृत्तिवाला विनष्ट होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

कुत्स की प्रभुमित्रता

आ दस्युघ्ना मनसा याह्यस्तं भुवत्ते कुत्सः सख्ये निकामः।
स्वे योनौ नि षदतं सरूपा वि वां चिकित्सदृतचिद्ध नारी॥ १०॥

(१) **दस्युघ्ना**=दस्युओं को-दास्यव-वृत्तियों को हनन करने की कामनावाले **मनसा**=मन से **अस्तम्**=मेरे इस शरीररूप गृह में आप **आयाहि**=आइये। **कुत्सः**=यह वासनाओं का संहार करनेवाला व्यक्ति **ते**=आपकी **सख्ये**=मित्रता में **निकामः**=नितरां कामनावाला **भुवत्**=हो। वस्तुतः जीवन का मुख्य उद्देश्य कामनाओं को विनष्ट करना हो। इस कामनावाला पुरुष प्रभु की मित्रता चाहता है। प्रभु की मित्रता से ही यह वासनाओं का संहार कर पाता है। (२) गृह में निवास करनेवाले पति-पत्नी के लिए कहते हैं कि तुम दोनों प्रभु की उपासना से **सरूपा**=प्रभु के समान रूपवाले होते हुए **स्वे योनौ निषदतम्**=अपने गृह में आसीन होओ। यह **ऋतचित्**=सत्य ज्ञान का जीवनों में संचय करनेवाली **नारी**=उन्नतिपथ पर ले चलनेवाली यह वेदवाणी (नृ नये)। **वाम्**=आप दोनों को **ह**=निश्चय से **विचिकित्सत्**=उत्तम निवासवाला करे व आपके रोगों का अपनयन करे। वेदवाणी के अनुसार चलते हुए पति-पत्नी नीरोग व मंगलमय निवासवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त हों। वेदवाणी के अनुसार चलते हुए हम उत्तम निवासवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वातस्य तोदः

यासि कुत्सेन सरथमवस्युस्तोदो वातस्य हर्योरीशानः।
ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन्कविर्यदहन्पार्याय भूषात्॥ ११॥

(१) हे प्रभो! आप **कुत्सेन**=वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष के साथ **सरथं यासि**=समान रथ में गतिवाले होते हैं, अर्थात् इसके शरीर-रथ में स्थित होते हुए आप इसके सारथि होते हैं। **अवस्युः**=इस कुत्स के रक्षण की आप कामनावाले होते हैं, जो भी वासनाओं का संहार करनेवाला होता है, उसके आप रक्षक होते ही हैं। **वातस्य**=इस गति द्वारा बुराइयों का गन्धन (हिंसन) करनेवाले के आप **तोदः**=(guiding, urging, driving) प्रेरक हैं। **हर्योः**=इसकी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंरूप अश्वों के आप **ईशा**=स्वामी होते हैं। इसकी इन्द्रियों को आप ही ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। (२) इस कुत्स के साथ **गध्यं वाजं न**=ग्रहण के योग्य बल की तरह **ऋज्रा**=ऋजुगामी इन्द्रियाश्वों को आप **युयूषन्**=जोड़ने की कामनावाले होते हैं-इसे उत्तम इन्द्रियाश्व व ग्रहणीय बल आप प्राप्त कराते हैं। इनको प्राप्त करके **यद् अहन्**=जिस दिन यह कुत्स **कविः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानी बनता है, तो यह उस समय **पार्याय**=इस भवसागर को पार करने के लिए **भूषात्**=(प्रभवति)

समर्थ होता है।

भावार्थ—हम वासनाओं के संहार की वृत्तिवाले बनें। प्रभु हमें उत्तम प्रेरणा देंगे-इन्द्रियों को ऐश्वर्य युक्त करेंगे। ऋजुगामी इन्द्रियों को व ग्रहणीय बल को प्राप्त करके हम ज्ञानी बनेंगे और भवसागर को पार कर सकेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अशुषशुष्ण का निवर्हण

कुत्साय शुष्णमशुषं नि बर्हीः प्रपित्वे अह्नः कुयवं सहस्रा।
सद्यो दस्यून्प्र मृण कुत्स्येन प्र सूरश्चक्रं वृहतादभीके ॥ १२ ॥

(१) हे प्रभो! **कुत्साय**=वासनासंहार की वृत्तिवाले इस उपासक के लिए **अशुषम्**=(अशूषं) जिस से किसी भी सुख का सम्भव नहीं, उस **शुष्णम्**=शोषण करनेवाले कामासुर को आप **नि बर्हीः**=विनष्ट करते हैं। **अह्नः प्रपित्वे**=दिन के प्रक्रम में-प्रारम्भ में ही **कुयवम्**=कुयव नामक असुर को भी नष्ट करते हैं। 'कुयव' अर्थात् बुराई को हमारे साथ मिलानेवाला। इस बुराई का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाली वृत्ति को आप विनष्ट करते हैं। (२) हे प्रभो! आप **कुत्स्येन**=वासना विनाश में उत्तम क्रियाशीलता रूप वज्र द्वारा **सद्यः**=शीघ्र ही **सहस्रा**=हजारों **दस्यून्**=दास्यव-वृत्तियों को **प्रमृणः**=नष्ट करते हैं। **सूरः**=यह ज्ञानीपुरुष **अभीके**=आपकी समीपता में **चक्रम्**=शत्रु सैन्य को **प्रवृहतात्**=छिन्न करनेवाला हो। ज्ञानीपुरुष प्रभु का आत्मतुल्य प्रिय भक्त होता हुआ प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनता है और काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को विनष्ट कर पाता है।

भावार्थ—हम वासनासंहार के लिए सदा उद्यत रहें। प्रभु के उपासक बनकर प्रभु की शक्ति द्वारा शत्रुसंहार करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'पिप्रु, मृगय और शूशुवान्' का संहार

त्वं पिप्रुं मृगयं शूशुवांसमृजिश्वने वैदथिनाय रन्धीः।
पञ्चाशत्कृष्णा नि वपः सहस्रात्कं न पुरो जरिमा वि दर्दः ॥ १३ ॥

(१) हे प्रभो! **त्वम्**=आप **वैदथिनाय**=ज्ञानयज्ञ का विस्तार करनेवाले तथा **ऋजिश्वने**=(ऋजुश्वि) सरलता के मार्ग से गति करनेवाले के लिए **पिप्रुम्**=(प्रा पूरणे) अपना ही पूरण करनेवाले आत्मम्भरि (=अत्यन्त स्वार्थी) को, **मृगयम्**=(मृग अन्वेषणे) औरों के घरों में ढूँढ़ ढूँढ़ कर सम्पत्ति-हरण करनेवाले को तथा **शूशुवांसम्**=अन्याय्य मार्गों से धनाहरण करके फूले हुए धनाभिमानी को **रंधीः**=विनष्ट करते हैं। इनके विनाश का भाव यही है कि इस 'ऋजिश्वा वैदथिन' में आप स्वार्थ, चोरी व धनाभिमान की भावना उत्पन्न नहीं होने देते। (२) इसी प्रकार **पंचाशत्**=पचासों **सहस्रा**=हजार प्रकार की **कृष्णा**=कालिमा ली हुई पाप-भावनाओं को **निवपः**=आप विनष्ट करते हैं। **न**=जैसे **जरिमा**=बुढ़ापा **अत्कम्**=रूप को विनष्ट करता है, इसी प्रकार आप **पुरः**=असुर पुरियों को **विदर्दः**=विदीर्ण कर देते हैं। इस उपासक के शरीर में काम, क्रोध व लोभ आदि आसुरभाव नहीं पनप पाते। ये इसके जीवन को नरक नहीं बना देते।

भावार्थ—उपासक स्वार्थ, चोरी व धनाभिमान से ऊपर उठता है और असुरों को अपने अन्दर निवासस्थान नहीं बनाने देता।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उपासक की शक्ति

सूर उपाके तन्वं१ दधानो वि यत्ते चेत्यमृतस्य वर्पः।
मृगो न हस्ती तविषीमुषाणः सिंहो न भीम आयुधानि बिभ्रत्॥ १४॥

(१) **सूरः**=ज्ञानीपुरुष **यत्**=जब **ते**=हे प्रभो! आपके **उपाके**=समीप **तन्वं दधानः**=शक्तियों के विस्तार को (तन् विस्तारे) **दधानः**=धारण करता हुआ होता है, उस समय उस ज्ञानीपुरुष से **अमृतस्य**=अमृत आपका **वर्पः**=रूप **विचेति**=विशेषरूप से जाना जाता है। उपासना द्वारा यह बहुत कुछ आप जैसा ही बन जाता है। (२) **मृगः न**=यह जैसे आत्मान्वेषण करनेवाला होता है (मृग अन्वेषणे), उसी प्रकार **हस्ती**=प्रशस्त हाथोंवाला होता है-सदा उत्तम कर्मों में लगा रहता है। इस प्रकार यह शत्रुओं के **तविषीम्**=बल को **उषाणः**=नष्ट करनेवाला होता है। यह प्रभु का उपासक **आयुधानि बिभ्रत्**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों को धारण करता हुआ **सिंहः न**=शेर के समान **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता है।

भावार्थ—एक उपासक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बन करके काम-क्रोध आदि शत्रुओं के बल को विनष्ट करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुरूप धन

इन्द्रं कामा वसूयन्तो अग्मन्त्स्वर्मीळ्हे न सवने चकानाः।
श्रवस्यवः शशमानास उक्थैरोको न रण्वा सुदृशीव पुष्टिः॥ १५॥

(१) **कामाः**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले **वसूयन्तः**=सब वसुओं को अपनाने की कामना करते हुए उपासक **इन्द्रं अग्मन्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को प्राप्त होते हैं। ये लोग **न**=जैसे **स्वर्मीढे**=संग्राम में-काम-क्रोध आदि शत्रुओं के साथ अध्यात्म संग्राम में उसी प्रकार **सवने**=यज्ञों में **चकानाः**=(कन् दीप्तौ) उस प्रभु की याचना करते हैं। (२) **श्रवस्यवः**=ज्ञान-प्राप्ति की कामनावाले होते हैं। **उक्थैः**=स्तोत्रों से **शशमानासः**=प्रभु का शंसन करनेवाले होते हैं। वे प्रभु इनके लिए **ओकः न**=निवास-स्थान की तरह **रण्वा**=रमणीय होते हैं। प्रभु-निवास में ही ये आनन्द का अनुभव करते हैं और **सुदृशी इव पुष्टिः**=शोभन-दर्शना लक्ष्मी के समान होते हैं-प्रभु ही इनके धन होते हैं। ये प्रभुभक्त प्रवास व भटकने व भूखे मरने आदि कष्टों को नहीं प्राप्त होते।

भावार्थ—हम अध्यात्म-संग्रामों व यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमारे रमणीय गृह व शोभनदर्शना लक्ष्मी होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति व स्पृहणीय धन

तमिद्व इन्द्रं सुहवं हुवेम यस्ता चकार नर्या पुरूणि।
यो मावते जरित्रे गध्यं चिन्मक्षू वाजं भरति स्पार्हराधाः॥ १६॥

(१) **तम्**=उस **इत्**=निश्चय से **वः**=आप सब के **इन्द्रम्**=शत्रुओं के विद्रावण करनेवाले **सुहवम्**=(शोभन् हवो यस्य) शोभन आह्वानवाले-जिनकी प्रार्थना सदा उत्तम है, उन प्रभु को

हुवेम=पुकारते हैं। उन प्रभु को, **यः**=जो **ता**=उन **पुरूणि**=पालक व पूरक **नर्या**=नरहित के कर्मों को **चकार**=करते हैं। (२) उन प्रभु को हम पुकारते हैं, **यः**=जो कि **मा-वते जरित्रे**=लक्ष्मी-सम्पन्न स्तोता के लिए **गध्यं चित्**=निश्चय से ग्रहण के योग्य **वाजम्**=बल को **मक्षु**=शीघ्र ही **भरति**=प्राप्त कराते हैं। और जो प्रभु **स्पार्हराधाः**=स्पृहणीय धनवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का आराधक प्रभु से शक्ति व स्पृहणीय धन प्राप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

संग्राम विजय

तिग्मा यदन्तरशनिः पताति कस्मिञ्चिच्छूर मुहुके जनानाम्।
घोरा यदर्य समृतिर्भवात्यध स्मा नस्तन्वो बोधि गोपाः॥ १७॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! **यद्**=जब **कस्मिञ्चित् मुहुके अन्तः**=किसी संग्राम में **तिग्मा अशनिः**=तीव्र विद्युत् **पताति**=हमारे पर गिरती है। और **अर्य**=हे स्वामिन्! **यद्**=जब **जनानां घोरा समृतिः**=लोगों का भयंकर संग्राम (सं ऋत) होता है। **अध**=उस समय **स्मा**=निश्चय से **नः तन्वः बोधि**=हमारे शरीरों का आप ध्यान करिए। **गोपाः**=आप ही तो रक्षक हैं। (२) भयंकर से भयंकर संग्रामों में प्रभुस्मरण ही हमें शक्ति देता है और उसी से प्रेरित होकर हम विजयी बनते हैं।

भावार्थ—संग्रामों में प्रभुस्मरण ही हमें शक्ति व उत्साह प्राप्त कराके विजयी बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः॥ **स्वरः**—पञ्चमः॥

अवृकः सखा (निरीह मित्र)

भुवोऽविता वामदेवस्य धीनां भुवः सखावृको वाजसातौ।
त्वामनु प्रमतिमा जगन्मोरुशंसो जरित्रे विश्वध स्याः॥ १८॥

(१) हे प्रभो! आप **वामदेवस्य**=सुन्दर दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाले पुरुष के **धीनाम्**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के **अविता भुवः**=रक्षक होते हैं। वस्तुतः प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न होकर ही ये अपने कार्यों को कर पाते हैं। आप **वाजसातौ**=इस जीवन-संग्राम में हमारे **अवृकः**=किसी भी प्रकार के लोभ से रहित **सखा भुवः**=मित्र होते हैं। आपकी मित्रता ही हमें इस संग्राम में विजयी बनाती है। (२) **त्वाम् अनु**=आपकी उपासना के अनुपात में ही **प्रमतिम्**=प्रकृष्ट बुद्धि को **आजगन्म**=प्राप्त हों। इस बुद्धि के अनुसार कार्य करते हुए ही हम विजयी होंगे। हे प्रभो! आप **जरित्रे**=स्तोता के लिए **विश्वध**=सदा **उरु शंसः स्याः**=अत्यन्त कर्त्तव्यों का शंसनवाले होइये। आप से ही कर्त्तव्य ज्ञान को प्राप्त करके हम भटकने से बच पायेंगे।

भावार्थ—प्रभु हमारी बुद्धियों के रक्षक हैं। संग्राम में हमारे सच्चे साथी हैं। प्रभु की उपासना से ही शुद्धबुद्धि प्राप्त होती है और प्रभु ही उपासक के लिए कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृत्त्रिष्टुप्॥ **स्वरः**—धैवतः॥

सदा प्रभुस्तवन

एभिर्नृभिरिन्द्र त्वायुभिष्ट्वा मघवद्भिर्मघवन्विश्व आजौ।
द्यावो न द्युम्नैरभि सन्तो अर्यः क्षपो मदेम शरदश्च पूर्वीः॥ १९॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **मघवन्**=सब ऐश्वर्योंवाले प्रभो!

त्वायुभिः=तेरी प्राप्ति की कामनावाले, अतएव **मघवद्भिः**=(मघ=ऐश्वर्य, यज्ञ 'मख') ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवाले **एभिः नृभिः**=इन मनुष्यों के साथ, अर्थात् सदा ऐसे पुरुषों के संग में रहते हुए, **विश्वे आजौ**=सब युद्धों में **अर्यः**=शत्रुओं को **अभिसन्तः**=अभिभूत करते हुए **क्षपः**=रात्रियों में **च**=तथा **पूर्वीः शरदः**=इन (वह्वीः सा०) जीवन के बहुत वर्षों में **त्वा मदेम**=आपको स्तुतियों से प्रीणित करें, अर्थात् हम सदा आपका स्तवन करनेवाले बनें। आपका सच्चा स्तवन यही है कि हम संयोग से उत्तम वृत्तिवाले होते हुए इस जीवन-संग्राम में वासनाओं से अभिभूत न हों। (२) वासनाओं को अभिभूत करते हुए हम इस प्रकार दीप्त हों **न**=जैसे कि **द्यावः**=द्युलोक **द्युम्नैः**=ज्योतियों से दीप्त होते हैं। सत्संग ही हमारी इस ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—हम प्रभुप्रवण यज्ञशील लोगों के सम्पर्क में अपने ज्ञान को बढ़ाते हुए वासनाओं को विनष्ट करें। प्रभुस्मरण करते हुए जीवनयात्रा में आगे बढ़ें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु से रक्षणीय

एवेदिन्द्राय वृषभाय वृष्णे ब्रह्माकर्म भृगवो न रथम्।

नू चिद्यथा नः सख्या वियोषदसन्न उग्रोऽविता तनूपाः॥ २०॥

(१) **भृगवः**=ज्ञानदीप्त शिल्पी **न**=जैसे **रथम्**=रथ को बनाते हैं, **एवा**=इसी प्रकार **इत्**=निश्चय से **वृषभाय**=शक्तिशाली **वृष्णे**=सुखों का वर्षण करनेवाले **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **ब्रह्म अकर्म**=स्तुति को करते हैं। यह प्रभुस्तवन ही हमारी जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए रथ बन जाता है। (२) हम ब्रह्म (स्तुति व ज्ञान) को इसलिए करते हैं कि वे प्रभु **नः**=हमारी **सख्या**=मित्रताओं को **नू चित् वियोषत्**=पृथक् नहीं कर देते, अर्थात् इस ज्ञान से ही हमारी प्रभु के साथ मित्रता बनी रहती है। इस ज्ञान से ही वे **उग्रः**=तेजस्वी प्रभु **नः**=हमारे **अविता**=रक्षक व **तनूपाः**=शरीरों का पालन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान व स्तुति द्वारा प्रभु की मित्रता पाकर प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

रथ्यः सदासाः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।

अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ २१॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नु**=अब **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप **नु**=निश्चय से **गृणानः**=ज्ञान का उपदेश करते हुए, **जरित्रे**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले स्तोता के लिए **इषम्**=प्रेरणा को **न**=इस प्रकार **पीपेः**=आप्यायित करते हैं, जैसे कि **नद्यः**=नदियों को जल से। हम प्रभुस्तवन करते हैं और प्रभु द्वारा प्रेरणाओं से आप्यायित (वृद्ध) होते हैं। (२) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **नव्यम्**=अतिशयेन स्तुत्य **ब्रह्म**=ज्ञान **अकारि**=हमारे से किया जाता है। प्रशस्तज्ञान को प्राप्त करके ही हम आपकी प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। हम **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा **रथ्यः**=उत्तम शरीररूप रथवाले तथा **सदासाः**=(सदा+सा 'सन् संभक्तौ') सदा सम्भजनशील व (स+दासाः) अपने को आपके प्रति अर्पण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें ज्ञानोपदेश करते हुए सत्कर्मों की प्रेरणा देंगे।

परिणामतः उत्तम शरीर-रथवाले व प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनेंगे।

सूक्त का संक्षेप में भाव यही है कि 'इन्द्र' का स्तवन करते हुए हम भी आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले 'इन्द्र' ही बनेंगे। इसी इन्द्र का स्तवन अगले सूक्त में भी है—

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वासना विनाश व ज्ञान प्रवाह

त्वं म॒हाँ इ॑न्द्र॒ तुभ्यं॑ ह॒ क्षा अनु॑ क्ष॒त्रं मं॒हना॑ मन्यत॒ द्यौः।

त्वं वृ॒त्रं शव॑सा जघ॒न्वान्त्सृ॒जः सिन्धूँ॒रहि॑ना जग्रसा॒नान्॥ १॥

(१) हे इन्द्र=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **महान्**=पूज्य हैं। **तुभ्यम्**=आपके लिए **ह**=निश्चय से **क्षाः**=पृथिवी **मंहना**=नानाविध पदार्थों के दान द्वारा **क्षत्रम्**=आपके बल को **अनु मन्यत**=अनुमत करती है। पृथिवी से प्राप्त इन सब पदार्थों में परमात्मा की ही विभूति दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार **द्यौः**=द्युलोक आपके बल को अनुमत करता है। (२) हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **शवसा**=शक्ति द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **जघन्वान्**=नष्ट करते हैं। इस **अहिना**=(आहन्ति) हमारा हनन करनेवाली वासना से **जग्रसानान्**=निगले जाते हुए-विनष्ट किये जाते हुए, **सिन्धून्**=ज्ञानप्रवाहों को **सृजः**=आप उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवी लोक के सब पदार्थों में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। प्रभु हमारी वासना को विनष्ट करते हैं और हमारे ज्ञान-प्रवाहों को उत्पन्न करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

चराचर के शासक प्रभु

तव॑ त्वि॒षो जनि॑मन्रेजत॒ द्यौ रेज॒द्भूमि॑र्भि॒यसा॒ स्वस्य॑ म॒न्योः।

ऋ॒घा॒यन्त॑ सु॒भ्व१॒ः पर्व॑तास॒ आर्द॒न्धन्वा॑नि स॒रय॑न्त॒ आपः॑॥ २॥

(१) हे इन्द्र! **तव**=आपकी **त्विषः**=दीप्ति के **जनिमन्**=प्रादुर्भूत होने पर **द्यौः**=मस्तिष्क-रूप द्युलोक **रेजत**=चमक उठता है। प्रभु की दीप्ति के प्रादुर्भूत होने पर **भूमिः**=यह शरीररूप पृथिवी भी **रेजद्**=तेजस्विता से दीप्त हो उठती है। (२) इस **स्वस्य**=आत्मा के **मन्योः**=क्रोध के **भियसा**=भय से **सुभ्वः**=महान् **पर्वतासः**=पर्वत **ऋघायन्त**=काँप उठते हैं। 'पर्वत' शब्द मेघ के लिए भी प्रयुक्त होता है। ये पर्वतरूप मेघ काँप उठते हैं और **धन्वानि**=मरुस्थलों में भी **आपः सरयन्ते**=जलों को प्राप्त कराते हैं और **आर्दन्**=उन मरुस्थलों की प्यास बुझाते हैं (पिपासाह अपीडयन् सा०)।

भावार्थ—चेतन जगत् में प्रभु की दीप्ति के प्रादुर्भाव होने पर मस्तिष्क व शरीर दोनों ही दीप्त होते हैं। अचेतन जगत् भी मानो प्रभु के क्रोध के भय से काँप उठता है। मेघ मरुस्थल पर भी वर्षा को करके उस मरुस्थल की प्यास बुझा देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञानप्रवाह

भि॒नद्गि॒रिं शव॑सा॒ वज्र॑मि॒ष्णन्ना॑विष्कृण्वा॒नः स॑हसा॒न ओजः॑।

वधी॑द् वृ॒त्रं वज्रे॑ण मन्दसा॒नः सर॒न्नापो॒ जव॑सा ह॒तवृ॑ष्णीः॥ ३॥

(१) प्रभु का उपासक **वज्रम्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **इष्णन्**=अपने में प्रेरित करता हुआ **शवसा**=शक्ति द्वारा **गिरिम्**=अविद्यापर्वत को **भिनद्**=विदीर्ण करता है और **सहसानः**=शत्रुओं का मर्षण करता हुआ **ओजः**=ओज को **आविष्कृण्वानः**=प्रकट करता है (२) और जब यह **मन्दसानः**=(मन्दतेः स्तुतिकर्मणः) प्रभु का स्तवन करता हुआ **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **वधीद्**=विनष्ट करता है, तो **हतवृष्णीः**=(हतो वृषा आसां) नष्ट हो गया है वृत्तरूप प्रबल शत्रु जिनका ऐसे **अपः**=ज्ञानजल **जवसा**=वेग से **सरन्**=गतिवाले हो उठते हैं। ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश हुआ और ज्ञानजलों का प्रवाह चला। सरस्वती नदी के जलप्रवाह को इस वृत्र ने ही तो रोका हुआ था। वृत्र के हटते ही वह प्रवाह प्रवाहित हो उठता है।

भावार्थ—क्रियाशीलतारूप वज्र से अविद्यापर्वत का विदारण होकर ज्ञान का प्रवाह प्रवाहित होने लगता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुवीर-स्वपस्तम्

सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौरिन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत्।
य ईं जजान स्वर्यं सुवज्रमनपच्युतं सदसो न भूम ॥ ४॥

(१) हे परमात्मन्! **तेजनिता**=आपका प्रादुर्भाव करनेवाला व्यक्ति **सुवीरः**=उत्तम वीर होता है। **द्यौः मन्यत**=यह प्रकाशमय जीवनवाला होता हुआ सदा मननशील होता है। **इन्द्रस्य कर्ता**=परमैश्वर्यवाले प्रभु का अपने हृदयों में प्रकाश करनेवाला व्यक्ति **स्वपस्तमः**=अत्यन्त उत्तम कर्मों का करनेवाला **भूत्**=होता है। (२) यह उपासक वह बनता है, **यः**=जो कि **ईम्**=निश्चय से **स्वर्यम्**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले **सुवज्रम्**=उत्तम वज्र को-क्रियाशीलतारूप वज्र को **जजान**=उत्पन्न करता है। यह क्रियाशीलतारूप वज्र **अनपच्युतम्**=मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता, अर्थात् यह सदा मार्ग पर चलनेवाला होता है और इसका यह क्रियाशीलतारूप वज्र **सदसः न**=इस ब्रह्माण्डरूप सभा के समान **भूम**=व्यापकतावाला होता है, अर्थात् इसकी क्रियाएँ विश्वहित के दृष्टिकोण से की जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला वीर होता है, ज्ञानी बनता है, उत्तम कर्मों में लगा रहता है और इसकी क्रियाएँ विश्वहित के दृष्टिकोण से होती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'देव, गृणन् व मघवा'

य एक इच्च्यावयति प्र भूमा राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः।
सत्यमेनमनु विश्वे मदन्ति रातिं देवस्य गृणतो मघोनः ॥ ५॥

(१) **यः**=जो **एकः इत्**=अकेला ही **भूम**=इस सम्पूर्ण उत्पन्न ब्रह्माण्ड को **प्रच्यावयति**=प्रलयकाल में विनष्ट करता है, जो **कृष्टीनाम्**=सब श्रमशील मनुष्यों का **राजा**=दीप्त करनेवाला है, **पुरुहूतः**=जिसकी पुकार पालन व पूरण करनेवाली है। **इन्द्रः**=जो परमैश्वर्यशाली है। **एनं सत्यं अनु**=इस सत्यस्वरूप प्रभु की अनुकूलता में **विश्वे**=सब **मदन्ति**=हर्ष का अनुभव करते हैं। (२) उस प्रभु की अनुकूलता में सब हर्ष का अनुभव करते हैं, जो कि **देवस्य**=दिव्यवृत्तिवाले **गृणतः**=स्तुति करते हुए **मघोनः**=(मघ=मख) यज्ञशील पुरुष के **रातिम्**=बन्धु हैं (अ-राति=शत्रु

रातिं=मित्र)-इसके लिए सब कुछ प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु भी 'देव, गृणन् व मघवा' हैं-दिव्यगुणों के पुञ्ज, ज्ञानोपदेश करनेवाले व सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। जो भी उपासक इस प्रभु जैसा बनने का प्रयत्न करता है, वही आनन्दित होता है।

भावार्थ—प्रभु की अनुकूलता में ही आनन्द है। उतना ही हमारा जीवन आनन्दमय होता है, जितना कि हम दिव्यगुणोंवाले बनते हैं (देव), ज्ञानी स्तोता बनते हैं (गृणन्) और यज्ञशील होते हैं (मघवा)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वसुपतिर्वसूनाम्

स॒त्रा सोमा॑ अभवन्न॒स्य विश्वे॑ स॒त्रा मदा॑सो बृह॒तो मदि॑ष्ठाः।
स॒त्राभ॑वो॒ वसु॑पति॒र्वसू॑नां॒ दत्रे॒ विश्वा॑ अधिथा इन्द्र कृ॒ष्टीः॥ ६॥

(१) **विश्वे सोमाः**=सब सोम **सत्रा**=सचमुच सदा **अस्य अभवन्**=इसके होते हैं। प्रभु ही सब सोमों के स्वामी हैं। उपासक को भी इन सोमों की प्राप्ति होती है। **बृहतः**=इस सब दृष्टिकोणों से बढ़े हुए प्रभु के **मदासः**=हर्ष **सत्रा**=सदा **मदिष्ठाः**=अत्यन्त आनन्दकर होते हैं। प्रभु का उपासक-भी इन आनन्दों को अनुभव करता हुआ सदा प्रसन्न रहता है। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **सत्रा**=सचमुच **वसूनां वसुपतिः**=वसुओं के सर्वश्रेष्ठ स्वामी हैं-सब धनों के आप मालिक हैं। आप **विश्वाः कृष्टीः**=सब श्रमशील प्रजाओं को **दत्रे**=धन में **अधिथाः**=धारण करते हैं। श्रम करने पर प्रभु से ही हमें धन प्राप्त कराया जाता है।

भावार्थ—प्रभु श्रमशीलों को धन प्राप्त करा कर आनन्दित करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अहि-व्रश्चन

त्वमध॑ प्रथ॒मं जाय॑मा॒नोऽमे॒ विश्वा॑ अधिथा इन्द्र कृ॒ष्टीः।
त्वं प्रति॑ प्र॒वत॑ आ॒शया॑न॒महिं॒ वज्रे॑ण मघव॒न्वि वृ॑श्चः॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **जायमानः**=प्रादुर्भूत होते हुए **प्रथमम्**=सर्वप्रथम **विश्वाः कृष्टीः**=इन श्रमशील प्रजाओं को **अमे**=(vital air, life-wind) प्राणशक्ति में **अधिथाः**=स्थापित करते हैं। श्रमशील पुरुष ही प्रभु के उपासक हैं। इन्हें प्रभु प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं। (२) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रवतः प्रति**=निम्न मार्गों में **आशयानम्**=निवास करनेवाले **अहिम्**=इस वासनारूप सर्प को **वज्रेण विवृश्चः**=क्रियाशीलतारूप वज्र द्वारा छिन्न-भिन्न कर देते हैं। प्रभु उपासक को क्रियाशील बनाते हैं-क्रियाशीलता द्वारा उसकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं। वासना ही 'अहि' है (आहन्ति) विनष्ट करनेवाली है। यह निम्न मार्गों में निवास करती है, अर्थात् जब हम उन्नतिपथ पर चलने का निश्चय करते हैं, तो ये सब वासनाएँ स्वयं विलीन हो जाती हैं। इनके विनष्ट करने के लिए क्रियाशीलता ही वज्र बनती है।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश होते ही उपासक शक्ति का अनुभव करता है। क्रियाशील बनकर वासना को विनष्ट कर डालता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रु विनाश व सफलता की प्राप्ति

सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं सुवज्रम्।
हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधाः॥ ८॥

(१) हम उस प्रभु का स्तवन करते हैं, जो कि **सत्राहणम्**=सदा शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, **दाधृषिम्**=सब शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं, **तुम्रम्**=शक्तिशाली हैं, **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले व परमैश्वर्यशाली हैं। **महान्**=महान् हैं, **अपारम्**=आदि अन्त रहित हैं–उन प्रभु का कोई ओर-छोर नहीं। **वृषभम्**=सब सुखों का वेर्षण करनोले व **सुवज्रम्**=उत्तम क्रियाशीलतारूप वज्रवाले हैं। (२) ये प्रभु वे हैं, **यः**=जो कि **वृत्रं हन्ता**=वासना को विनष्ट करनेवाले हैं। **उत**=और **वाजम्**=शक्ति को **सनिता**=देनेवाले हैं। वासनाविनाश का परिणाम शक्तिप्राप्ति है ही। वे प्रभु **मघानि दाता**=सब ऐश्वर्यों के देनेवाले हैं। **मघवा**=ऐश्वर्यशाली हैं। **सुराधाः**=इन ऐश्वर्यों के द्वारा उत्तम सफलताओं को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें शत्रुओं के विनाश द्वारा वास्तविक शक्ति प्राप्त कराते हैं। उत्तम ऐश्वर्यों को देकर हमें सफल बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

संग्राम विजय

अयं वृतश्चातयते समीचीर्य आजिषु मघवा शृण्व एकः।
अयं वाजं भरति यं सनोत्यस्य प्रियासः सख्ये स्याम॥ ९॥

(१) **अयम्**=ये प्रभु **वृतः**=(आवृण्वन्ति) आच्छादित करनेवाली–ढक-सा लेनेवाली अपार **समीचीः**=संगत हुई-हुई शत्रु-सेनाओं को **चातयते**=विनष्ट करते हैं। ये **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु वे हैं, **यः**=जो कि **आजिषु**=संग्रामों में **एकः शृण्वे**=अद्वितीय सुने जाते हैं। प्रभुस्मरण होने पर किसी भी शत्रु का बचे रहना सम्भव नहीं। (२) **यम्**=जिस को प्रभु **सनोति**=देते हैं **अयम्**=वह व्यक्ति **वाजं भरति**=शक्ति को अपने में भरनेवाला होता है। इसलिए हम भी **अस्य सख्ये**=इसकी मित्रता में **प्रियासः स्याम**=प्रिय हों। प्रभु के मित्र होंगे तो अवश्य ही शक्ति प्राप्त करनेवाले होंगे। शक्ति प्राप्त करके शत्रुओं का संहार करनेवाले होंगे।

भावार्थ—प्रभु के हम मित्र बनें। प्रभु हमें शक्ति देंगे और हमारे शत्रुओं का संहार कर देंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

'राजस व तामस' भावों का विनाश

अयं शृण्वे अध जयन्नुत घ्नन्नयमुत प्र कृणुते युधा गाः।
यदा सत्यं कृणुते मन्युमिन्द्रो विश्वं दृळ्हं भयत एजदस्मात्॥ १०॥

(१) **अयम्**=यह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **अध**=अब **जयन्**=विजय करता हुआ **शृण्वे**=सुना जाता है, **उत**=और यह **घ्नन्**=शत्रुओं को मारता हुआ सुन पड़ता है। **उत**=और **अयम्**=यह इन्द्र **युधा**=युद्ध द्वारा, काम-क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित करने द्वारा **गाः प्रकृणुते**=ज्ञानवाणियों को हमारे में प्रकाशित करता है। काम-क्रोध आदि के पराजय से, आवरण के हट जाने से ज्ञानवाणियों का प्रकाश हो जाता है। (२) इस प्रकार **यदा**=जब यह इन्द्र **सत्यं**

मन्युम्=इस सत्यज्ञान को **कृणुते**=हमारे हृदयों में स्थापित करते हैं, तो **विश्वम्**=सब **दृढम्**=अपने स्थान पर स्थित, अचर और **एजत्**=चर संसार **अस्मात्**=इससे **भयते**=भयभीत हो उठता है। इस सत्यज्ञान के सामने राजस भाव जो अत्यन्त 'एजत्'-गतिवाले हैं तथा तामस भाव जो अत्यन्त निश्चल व 'दृढ़' हैं, वे सब के सब विनष्ट हो जाते हैं और मनुष्य सात्विक स्थिति में हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिये शत्रुओं का पराजय करते हैं। वे हमें वह सत्यज्ञान देते हैं, जिससे सब राजस व तामस भाव नष्ट होकर हमारी सब गुण में स्थिति होती है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उन्नति के साधनों का संग्रह

समिन्द्रो गा अजयत्सं हिरण्या समश्विया मघवा यो ह पूर्वीः।
एभिर्नृभिर्नृतमो अस्य शाकै रायो विभक्ता संभरश्च वस्वः॥ ११॥

(१) **इन्द्रः**=वे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु! **गाः**=ज्ञानेन्द्रियों को **समजयत्**=हमारे लिए विजय करते हैं, **हिरण्या**=हितरमणीय ज्ञान-ज्योतियों को **सम्**=(अजयत्) हमारे लिए जीतते हैं **अश्विया**=कर्मेन्द्रियों के समूह को **सम्**=(अजयत्) हमारे लिए विजय करते हैं। वे प्रभु हमारे लिए इनका विजय करते हैं, **यः**=जो **ह**=निश्चय से **पूर्वीः**=इन बहुत-सी शत्रु-सेनाओं का पराजय करनेवाले हैं। (२) **शाकैः**=सामर्थ्यों के साथ **नृतमः**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले वे प्रभु **एभिः नृभिः**=इन उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों के दृष्टिकोण से **अस्य**=इस **रायः**=धन का **विभक्ता**=देनेवाले होते हैं **च**=और **वस्वः**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों के **सम्भरः**=भरण करनेवाले हैं। इन धनों व वसुओं के द्वारा वे प्रभु हमें सब साधनों को प्राप्त कराते हैं। इन साधनों का ठीक प्रयोग करते हुए हम आगे बढ़ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, ज्ञानों, धनों व वसुओं को प्राप्त कराते हैं। इनके द्वारा वे हमें उन्नतिपथ पर बढ़ने के योग्य बना देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

माता 'वेद' तथा पिता 'प्रभु' का स्मरण

कियत्स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत्पितुर्जनितुर्यो जजान।
यो अस्य शुष्मं मुहुकैरियर्ति वातो न जूतः स्तनयद्भिरभ्रैः॥ १२॥

(१) जीव के 'प्रभु' पिता हैं तो यह 'वेद' जीव की माता के समान हैं 'स्तुतामया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्'। **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **कियत् स्वित्**=भला कितना **मातुः अध्येति**=अपनी इस वेदमाता का स्मरण करता है? वेदमाता के स्मरण का भाव उसका अध्ययन करना है। सामान्यतः मनुष्य वेद का अध्ययन न कर अन्य बातों में ही लगा रहता है। पर यह इन्द्र वेदमाता को न भूलकर उसके अध्ययन का व्रत लेता है। (२) यह इन्द्र **कियत्**=कितना **पितुः**=उस रक्षक **जनितुः**=उत्पादक प्रभु का स्मरण करता है, **यः जजान**=जिस प्रभु ने इसे उत्पन्न किया है। जो प्रभु **अस्य**=इसके **शुष्मम्**=बल को **मुहुकैः**=बारम्बार **इयर्ति**=प्रेरित करते हैं। **स्तनयद्भिः अभ्रैः**=गर्जते हुए मेघों से **जूतः**=प्रेरित **वातः न**=वायु के समान उसको वे प्रभु बलसम्पन्न कर देते हैं। यह व्यक्ति शक्तिशाली होता है और 'पर्जन्यनिनदोपम' बादल के समान गर्जती हुई इसकी वाणी होती है। यह इन्द्र अपने पिता 'महेन्द्र' से ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। परन्तु सामान्य मनुष्य प्रभु को प्रायः भूला ही रहता है।

भावार्थ—वेदमाता व पिता प्रभु का अध्ययन व स्मरण करना ही मनुष्य के लिए हितकर है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'दुरितानि परासुव'-'भद्रं आसुव'

क्षियन्तं त्वमक्षियन्तं कृणोतीयर्ति रेणुं मघवा समोहम्।
विभञ्जनुरशनिमाँइव द्यौरुत स्तोतारं मघवा वसौ धात्॥ १३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जो प्रभु का स्मरण करता है उस **त्वम्**=(एकम् 'त्व' शब्दः एकवाची) **क्षियन्तम्**=क्षीण होते हुए को **अक्षियन्तम्**=न क्षीण होता हुआ **कृणोति**=कर देते हैं। और **मघवा**=वे ऐश्वर्यशाली प्रभु **समोहम्**=मोह की भावना के साथ **रेणुम्**=अधोगति के कारणभूत पाप को-राजसी वृत्ति को **इयर्ति**=इस स्तोता से दूर कर देते हैं। (२) **अशनिमान् द्यौः इव**=विद्युत्वाले आकाश की तरह ये प्रभु **विभञ्जनुः**=स्तोता के सब पापों का भञ्जन करनेवाले हैं। **उत**=और **मघवा**=वे ऐश्वर्यशाली प्रभु **स्तोतारम्**=स्तोता को **वसौ**=सब वसुओं में **धात्**=स्थापित करते हैं। सब अशुभों का विनाश करके निवास के लिए आवश्यक शुभ वस्तुओं को उसे प्राप्त करते हैं। 'दुरितानि परासुव, भद्रं आसुव'।

भावार्थ—प्रभु स्तोता के पापों को दूर करके उसे सब वसुओं में स्थापित करते हैं। इस प्रकार वे उसे क्षीण नहीं होने देते।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

सूर्य-चक्र अवर्तक प्रभु

अयं चक्रमिषणत्सूर्यस्य न्येतशं रीरमत्ससृमाणम् ।
आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति त्वचो बुध्ने रजसो अस्य योनौ॥ १४॥

(१) **अयम्**=ये प्रभु **सूर्यस्य चक्रम्**=सूर्य के चक्र को **इषणत्**=प्रेरित करते हैं, अर्थात् सूर्य को गति देनेवाले ये प्रभु ही हैं। **ससृमाणम्**=अत्यन्त गति करते हुए **एतशम्**=इस अश्व को (सूर्य के अश्व को) **निरीरमत्**=ये प्रभु ही नितरां रमण कराते हैं। सूर्य अपनी सात किरणों के कारण 'सप्ताश्व' कहलाता है। उन अश्वों को इस ब्रह्माण्ड में प्रभु ही विविध क्रियाएँ करने में समर्थ करते हैं। (२) यह **कृष्णः**=आकर्षण से आकृष्ट हुआ-हुआ, **जुहुराणः**=(The moon सा०) चन्द्र **ईम्**=निश्चय से **आजिघर्ति**=(आ ईषदर्थे) कुछ दीप्तिवाला होता है। **त्वचः**=(त्वच्=स्पर्श, वायु का यह गुण है) स्पर्श गुणवाले वायु के **बुध्ने**=आधारभूत और **अस्य रजसः**=इस उदक के **योनौ**=उत्पत्ति-स्थान इस अन्तरिक्ष में वे प्रभु सूर्य-चक्र को चलाते हैं और इन गति करते हुए सूर्याश्वों को नितरां रमण कराते हैं। वस्तुतः इन सूर्यकिरणों के कारण ही वायु का प्रवाह व जल का मेघरूप से वर्षण सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु ही सूर्य-चक्र को चलाते हैं। इस सूर्य से ही चन्द्रमा को प्रकाश मिलता है। सूर्यकिरणें ही वायुप्रवाह व जलवर्षण का कारण बनती हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—याजुषीपङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

दिन-रात चलनेवाला यज्ञ

असिक्न्यां यजमानो न होता॥ १५॥

(१) **असिक्न्याम्**=रात्रि में भी **यजमानः न**=यज्ञशील की तरह **होता**=वे प्रभु आहुति देनेवाले हैं। उस प्रभु का यह सृष्टियज्ञ दिन-रात चलता है। 'दिन में प्रभु कार्य करते हों और रात्रि में सो जाते हों' ऐसी बात नहीं है। प्रभु का यह सृष्टियज्ञ दिन-रात चलता है। दिन में प्रभु सूर्य द्वारा ब्रह्माण्ड को प्रकाश प्राप्त कराते हैं, तो रात्रि में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को करनेवाले हैं। (२) प्रभु का यह सृष्टियज्ञ दिन-रात चलता है।

भावार्थ—प्रभु इस सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

गव्यन्ताः अश्वायन्तः

गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः।
जनीयन्तो जनिदामक्षितोतिमा च्यावयामोऽवते न कोशम्॥ १६॥

(१) **विप्राः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले, **गव्यन्तः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामनावाले, **अश्वायन्तः**=उत्तम कर्मेन्द्रियरूप अश्वों की कामनावाले हम उस **इन्द्रम्**=सब इन्द्रियों के अधिष्ठाता प्रभु को **सख्याय**=मित्रता के लिए **आच्यावयामः**=अपने में प्राप्त कराते हैं। **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए हम उस **वृषणम्**=शक्तिशाली प्रभु को अपने में प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) **जनीयन्तः**=सब प्रकार के विकासों की कामनावाले हम **जनिदाम्**=विकास को देनेवाले **अक्षित ऊतिम्**=अक्षीण रक्षणवाले उस प्रभु को अपने में आगत करते हैं। उसी प्रकार प्रभु को हम अपने में उतारते हैं, **न**=जैसे कि **अवते**=कूप में **कोशम्**=जलोद्धरण पात्र को। दिव्यता को अपने अन्दर अवतीर्ण करके हम भी प्रभु जैसा बनने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—प्रभु को अपने में धारण करके हम उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, शक्तियों व विकासों को प्राप्त करते हैं। कूएँ में पात्र की तरह हम अपने में दिव्यता के अवतरण के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्राता-आपिः

त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्।
सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः॥ १७॥

(१) **ददृशानः**=पालक के नाते सब को देखते हुए आप **नः त्राता बोधि**=हमारे रक्षक होइये। **आपिः**=आप मित्र हैं, **अभिख्याता**='प्रकृति व आत्मा' दोनों का ज्ञान देनेवाले हैं। **सोम्यानाम्**=सोम्य पुरुषों के **मर्डिता**=सुखी करनेवाले हैं। (२) **सखा**=सब के मित्र, **पिता**=पालक हैं। **पितॄणां पितृतमः**=पालकों में पालकतम हैं। **ईम्**=निश्चय से **लोकं कर्ता**=प्रकाश को (आलोक को) करनेवाले हैं, **उ**=तथा **उशते**=आपकी प्राप्ति की कामनावाले पुरुष के लिए **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले हैं। प्रकाश प्राप्त कराके आप ही उत्कृष्ट दीर्घजीवन देते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही रक्षक हैं। प्रकाश को प्राप्त कराके उत्कृष्ट जीवन देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सखा वयोधाः

सखीयतामविता बोधि सखा गृणान इन्द्र स्तुवते वयो धाः ।

वयं ह्या ते चकृमा सबाध आभिः शमीभिर्महयन्त इन्द्र ॥ १८ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सखीयताम्**=मित्रता की कामनावालों के **अविता बोधि**=रक्षक होइये। **सखा**=आप मित्र हैं, वे मित्र जो कि **गृणानः**=उपदेश देनेवाले हैं (गृणति उपदिशति) कर्तव्य मार्ग का ज्ञान देनेवाले हैं। **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले के लिए **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन का धारण करते हैं। (२) **वयम्**=हम **हि**=निश्चय से **सबाधः**=शत्रुओं के बाधन के साथ होते हुए-शत्रुओं का बाधन करते हुए **ते आचकृमा**=आपका उपासन करते हैं-आपका आह्वान करते हैं। हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **आभिः शमीभिः**=इन शान्तभाव से किये जानेवाले कर्मों द्वारा हम **महयन्तः**=आपका पूजन करनेवाले हों। आपका कर्मों द्वारा पूजन करते हुए हम आपको पुकारें। आपके द्वारा ही तो हम शत्रुओं का बाधन कर सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु हमें ज्ञान देते हुए हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

भक्तप्रिय प्रभु

स्तुत इन्द्रो मघवा यद्ध वृत्रा भूरीण्येको अप्रतीनि हन्ति।

अस्य प्रियो जरिता यस्य शर्मन्नकिर्देवा वारयन्ते न मर्ताः ॥ १९ ॥

(१) **मघवा**=परमैश्वर्यवाला **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक प्रभु **यद्**=जब **ह**=निश्चय से **स्तुतः**=स्तुति किया जाता है, तो **एकः**=अकेला ही **भूरीणि**=अनेक **अप्रतीनि**=अत्यधिक शक्तिशाली **वृत्रा**=वासनारूप शत्रुओं को **हन्ति**=विनष्ट करता है। **जरिता**=स्तोता **अस्य प्रियः**=इस प्रभु का प्रिय होता है, (२) **यस्य शर्मन्**=जिस प्रभु की शरण में वर्तमान स्तोता को **न किः देवाः**=न तो देव और **न मर्ताः**=नां ही मनुष्य **वारयन्ते**=रोक पाते हैं। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बना हुआ यह स्तोता उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता चलता है। इसकी उन्नति को कोई भी रोकनेवाले नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनते हैं। प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। प्रभु को भक्त प्रिय होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मघवा-विरप्शी

एवा न इन्द्रो मघवा विरप्शी करत्सत्या चर्षणीधृदनर्वा।

त्वं राजा जनुषां धेह्यस्मे अधि श्रवो माहिनं यज्जरित्रे ॥ २० ॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक, **मघवा**=ऐश्वर्यशाली, **विरप्शी**=विशिष्ट ज्ञानों का देनेवाला प्रभु **नः**=हमारे लिए **सत्या करत्**=सत्यज्ञानों को करते हैं। प्रभु वेदवाणी द्वारा सब सत्य ज्ञानों को देते हैं। इस ज्ञान द्वारा ही वे **चर्षणीधृत्**=सब मनुष्यों का धारण करनेवाले हैं। और **अनर्वा**=हमें न हिंसित होने देनेवाले हैं। ज्ञान ही हमारा रक्षक बनता है 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'। (२) हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **जनुषाम्**=सब उत्पन्न प्राणियों के **राजा**=नियामक-शासक हैं। **अस्मे**=हमारे लिए **श्रवः**=उस ज्ञान को **अधि धेहि**=आधिक्येन धारण करिए। उस

ज्ञान को, **यत्**=जिस **माहिनम्**=महनीय ज्ञान को **जरित्रे**=स्तोता के लिए आप धारण करते हैं। वस्तुतः ज्ञान द्वारा ही प्रभु हमारे शत्रुओं का संहार करके हमें उत्कृष्ट जीवनवाला बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। ज्ञान द्वारा शत्रुसंहार के योग्य बनाते हैं। ज्ञान ही प्रभु का सर्वमहान् धन है। भक्त के लिए प्रभु इसे प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

नव्यं ब्रह्म

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ २१॥

मन्त्र व्याख्या १६.२१ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त यही भाव व्यक्त कर रहा है कि प्रभु ज्ञान देकर हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं। अगले सूक्त में इसी ज्ञान को देनेवाली 'अदिति' (अदीना देवमाता, वेद) का उल्लेख है—

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पुराण धर्ममार्ग

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे।
अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः॥ १॥

(१) **अयम्**=यह **पन्थाः**=धर्म का मार्ग **अनु-वित्तः**=गुरु-शिष्य परम्परया अनुक्रमेण जाना जाता है। **पुराणः**=यह सनातन है-सदा से चला आ रहा है-सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु ने इसका ज्ञान 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' इन चार ऋषियों को दिया। उनसे अगले ऋषियों ने प्राप्त किया और यह क्रम से चला आया। यह वह मार्ग है, **यतः**=जिससे **विश्वे देवाः**=सब देव **उद् अजायन्त**=उत्कर्षेण प्रादुर्भूत होते हैं। इस मार्ग पर चलने से दिव्य गुणों का विकास होता है। (२) **अतः**=इसी से **चित्**=निश्चयपूर्वक **आजनिषीष्ट**=मनुष्य विकास को प्राप्त हुआ और **प्रवृद्धः**=प्रकृष्ट बुद्धिवाला हुआ। **अमुया**=इस मार्ग पर चलने द्वारा **मातरम्**=इस वेदमाता को **पत्तवे मा कः**=पतन के लिए मत कर, अर्थात् वेदमाता द्वारा कहे हुए मार्ग का आक्रमण करता हुआ तू पतन से अपने को बचानेवाला हो। तेरे उत्कर्ष में ही वेदमाता का भी उत्कर्ष है। तेरे आचरण में हीनता के आने से वेद की भी निन्दा होगी कि 'वेद पढ़े हुए ऐसे ही होते हैं?'

भावार्थ—प्रभु ने वेद द्वारा मार्ग का उपदेश दिया है। उस पर चलकर ही हम अपने विकास व उत्कर्ष को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वासना संग्राम-तत्त्वज्ञान

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै॥ २॥

(१) **अहम्**=मैं **अतः**=गतमन्त्र में वर्णित पुराण धर्ममार्ग से **न**=नहीं **निः अया**=(अयानि) बाहर जाता हूँ। उस पुराण धर्ममार्ग से ही चलता हूँ। **एतत्**=यह पुराणधर्म **दुर्गहः**=कष्टों का नाश करनेवाला है (दुर्ग-हा) अथा 'दुर् गहा'=कठिनता से ग्रहण करने योग्य है 'क्षुरस्य धारा निशिता

दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'। **तिरश्चता**=टेढ़ी गतिवाले (तिरः अञ्च्) **पार्श्वात्**=पासों से-सीमाओं से **निरगमाणि**=बाहर होता हूँ। सीमाओं व पासों में न जाकर मध्यमार्ग से चलता हूँ। पक्ष में न गिरते हुए आचरण करना ही तो न्याय है। (२) **मे**=मेरे द्वारा **बहूनि**=बहुत से **कर्त्वानि**=कर्त्तव्य **अकृता**=नहीं किये गये हैं। कितने ही मेरे कर्त्तव्य-कर्म बचे हुए हैं। **त्वेन**=एक कर्त्तव्य-कर्म के द्वारा तो मैं **युध्यै**=वासनाओं के साथ संग्राम करता हूँ। **त्वेन**=तथा एक के द्वारा **संपृच्छै**=(प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) ज्ञानवाणियों को परिप्रश्नों द्वारा जानने का प्रयत्न करता हूँ। मुख्य कर्त्तव्य दो ही हैं—(क) वासनाओं के साथ संग्राम, (ख) ज्ञानवाणियों के तत्त्व का दर्शन।

भावार्थ—मैं अति में न जाकर मध्यमार्ग से चलता हूँ। वासनाओं के साथ संग्राम करता हुआ तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वेदमाता का अनुसरण (follower बनना)

प॒रा॒य॒तीं मा॒तर॒मन्व॑चष्ट॒ न नानु॑ गा॒न्यनु॒ नू ग॑मानि।
त्वष्टु॑र्गृ॒हे अ॑पिब॒त्सोम॒मिन्द्रः॑ शतध॒न्यं॑ च॒म्वोः॑ सु॒तस्य॑॥ ३॥

(१) आत्मालोचन करनेवाला पुरुष **परायतीम्**=दूर जाती हुई **मातरम्**=इस वेदमाता को **अन्वचष्ट**=देखता है। देखता है कि यह वेदमाता मेरे से दूर और दूर होती जाती है-मैं इसका स्वाध्याय ठीक रूप में नहीं कर रहा। ऐसा देखकर वह निश्चय करता है कि **न न अनुगानि**='मैं इसके पीछे नहीं जाता' ऐसी बात नहीं। **नू**=निश्चय से **अनुगमानि**=इसके पीछे जाता ही हूँ। मैं इसका अनुसरण अवश्य करता हूँ। (२) इसी उद्देश्य से **त्वष्टुः**=उस निर्माता प्रभु के **गृहे**=बनाए हुए इस शरीररूप गृह में **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **सोमं अपिबत्**=सोम का पान करता है। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करता है। इस सुरक्षित सोम से ही सूक्ष्म बुद्धिवाला बनकर वह वेदमाता को समझनेवाला बनता है। उस सोम का इन्द्र पान करता है, जो कि **सुतस्य**=सोम का उत्पादन करनेवाले उस निर्माता प्रभु के **चम्वोः**=इन द्यावापृथिवी में-मस्तिष्क व शरीर में **शतधन्यम्**=शतवर्ष पर्यन्त उत्तम धन को स्थापित करनेवाला है। यह सोम मस्तिष्क में ज्ञानधन की स्थापना करता है, तो शरीर में शक्तिधन की।

भावार्थ—वेदमाता का हमें अनुगमन करना चाहिए। इसके अनुगमन कर सकने के लिए शरीर में सोमरक्षण द्वारा बुद्धि को सूक्ष्म बनाना चाहिए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अलौकिक शक्ति (प्रतिमान का अभाव)

किं स ऋध॑क्कृणव॒द्यं स॒हस्रं॑ मा॒सो ज॒भार॑ श॒रद॑श्च पू॒र्वीः।
न॒ही न्व॑स्य प्रति॒मान॒मस्त्य॒न्तर्जा॒तेषू॒त ये जनि॑त्वाः॥ ४॥

(१) **किम्**=क्या ही अद्भुत कार्य **सः**=वह व्यक्ति **ऋधक्**=सचमुच (truely) **कृणवत्**=करता है, **यम्**=जिसको वे प्रभु **सहस्रं मासः**=हजारों महीनों **च**=और **पूर्वीः**=(बह्वीः) बहुत से वर्षों तक **जभार**=धारण करते हैं। प्रभु से धारित यह व्यक्ति प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर अद्भुत कार्यों को कर पाता है। सामान्य मनुष्य के लिए उस प्रकार कार्य को कर सकना सम्भव नहीं होता। (२) **अस्य**=इस प्रभु की शक्ति से शक्ति सम्पन्न बने हुए व्यक्ति का **नु**=निश्चय से **जातेषु अन्तः**=उत्पन्न हुए हुओं के अन्दर **उत**=और **ये जनित्वाः**=जो भविष्य में होनेवाले हैं, उनमें

प्रतिमानम्=मुकाबिले का **नहि अस्ति**=नहीं होता है। अलौकिक ही इसकी शक्ति होती है, उसकी, जिसे कि प्रभु धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु से धारित व्यक्ति अद्भुत शक्तिसम्पन्न होता है और सचमुच अलौकिक कार्य कर पाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वेदमाता की गोद में

अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम्।
अथोदस्थात्स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमानः॥ ५॥

(१) 'वेद' माता है। वह अपने सन्तान 'इन्द्र' का भला चाहती हुई उसे सुरक्षित करती है। **अवद्यम्**=पाप को **इव मन्यमाना**=समझती हुई, 'कहीं यह मेरा सन्तान अमंगल से अभिभूत न हो जाए' ऐसा सोचती हुई यह वेदमाता **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **गुहा अकः**=अपनी गोद रूप गुफा में सुरक्षित करती है-अपने संवरण में (गुह संवरणे) रखती है। उस इन्द्र को, जो कि **वीर्येण न्यृष्टम्**=वीर्य से निश्चय पूर्वक संगत है। (२) **अथ**=अब, वेदमाता से सुरक्षित हुआ-हुआ यह इन्द्र **उद् अस्थात्**=ऊपर उठता है-संसार के विषयों में फँसता नहीं। यह संसार के विषयों में न फँसने से **स्वयम्**=अपने **अत्कम्**=सब को **वसानः**=धारण किये हुए होता है। संसार के विषयों से लिप्त न होने से अपने तेजस्वी रूपवाला होता है। यह **जायमानः**=शक्तियों का विकास करता हुआ **रोदसी**=द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर दोनों को **आ अपृणात्**=समन्तात् पूरित करता है। मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से भरता है, तो शरीर को शक्ति से पूर्ण करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदमाता की गोद में सुरक्षित हुआ-हुआ व्यक्ति विषयाश्रान्त न होकर अपने तेजस्वी रूप को धारण करता है-दीप्त मस्तिष्क व तेजस्वी शरीरवाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रादिती॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

माता की बात सुनना

एता अर्षन्त्यललाभवन्तीर्ऋतावरीरिव संक्रोशमानाः।
एता वि पृच्छ किमिदं भनन्ति कमापो अद्रिं परिधिं रुजन्ति॥ ६॥

(१) **एताः**=ये गतमन्त्र में वर्णित वेदवाणियाँ-वेदमाता की वाणियाँ **अर्षन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। ये हमारे लिए **अलला भवन्तीः**=(अलं वारणं लान्ति) पाप से निवारण की शक्ति प्राप्त कराती हुई होती हैं। **ऋतावरीः इव**=ये हमारे लिए ऋत का-सत्य का रक्षण करनेवाली होती हैं। **संक्रोशमानाः**=ये हमें पुकार-पुकार कर अवध (पाप) से बचा रही हैं। (२)हे इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष)! तू **एताः विपृच्छ**=इन से पूछ-इन से यह जानने की कामनावाला हो कि **किं इदं भनन्ति**=क्या यह कह रही हैं। उनके अनुसार ही तू जीवन को बिताने का प्रयत्न कर। ये **आपः**=व्यापक ज्ञानवाली वाणियाँ (आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु), वेदवाणी रूप माताएँ, **परिधिम्**=हमें चारों ओर से घेर लेनेवाले **कं अद्रिम्**=किसी अविद्या-पर्वत को **रुजन्ति**=भग्न करती हैं। अविद्या को नष्ट करके ये हमारा कल्याण करती हैं। इन की वाणी को तू सुन। यही तुझे अवध से बचाएगी।

भावार्थ—वेदमाता की बात को हम सुनें। यह सुनना ही हमें पाप में फँसने से बचाएगा। हमारे घेर लेनेवाले अविद्या-पर्वत को विनष्ट करेगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पाप-पुण्य का ज्ञान

किमु ष्विदस्मै निविदो भनन्तेन्द्रस्यावद्यं दिधिषन्त आपः ।
ममैतान्पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिन्धून् ॥ ७ ॥

(१) **अस्मै**=इस वेदमाता के पुत्र के लिए-वेदानुकूल जीवन बितानेवाले के लिए **निविदः**=ये निश्चयात्मक ज्ञान देनेवाली वेदवाणियाँ **किं उ अवद्यम्**='क्या निश्चय से पाप है' इस बात को **स्वित्**=निश्चयपूर्वक **भनन्त**=वह देती हैं-प्रतिपादित कर देती हैं। इस प्रकार पाप का ज्ञान देकर उसे पाप से बचाती हुईं ये **आपः**=व्यापक ज्ञानवाली वेदवाणियाँ **इन्द्रस्य**=इन्द्र का **दिधिषन्ते**=धारण करती हैं। पाप-पुण्य का ज्ञान देनेवाली ये वेदवाणियाँ वस्तुतः पापों से बचाकर हमारा कल्याण करती हैं-हमें विनाश से बचाती हैं। (२) वेदमाता कहती है कि **मम पुत्रः**=मेरा यह सन्तान, मेरे द्वारा अपना पवित्रीकरण (पुनाति) व त्राण (त्रायते) रक्षण करनेवाला यह मेरा पुत्र **महता वधेन**=इस महतीय (महान्) ज्ञानरूप वज्र से **वृत्रं जघन्वान्**=वासना को विनष्ट करनेवाला होकर **एतान् सिन्धून्**=इन ज्ञानप्रवाहों को **वि असृजत्**=विशेषरूप से अपने अन्दर उत्पन्न करता है। वासना ही ज्ञानप्रवाह की प्रतिबन्धिका है। इस वासना के विनाश से ज्ञानप्रवाह फिर से ठीक रूप में होने लगता है। यह ज्ञानप्रवाह सब मलों को क्षरित कर देता है।

भावार्थ—वेदज्ञान हमें पाप-पुण्य का ज्ञान देकर पापों से बचाता हुआ हमारा धारण करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

युवति+कुषवा (स्त्री+शराब)

ममच्चन त्वा युवतिः परास ममच्चन त्वा कुषवा जगार ।
ममच्चिदापः शिशवे ममृड्युर्ममच्चिदिन्द्रः सहसोदतिष्ठत् ॥ ८ ॥

(१) गतमन्त्र में कहा था कि 'क्या पाप है'? इस बात का वेद ज्ञान देता है। सो प्रस्तुत मन्त्र में सर्वमहान् पापों को उल्लेख करते हैं। हे जीव! **ममच्चन**=मदमस्त अवस्था का अनुभव करती हुई **युवतिः**=एक युवा स्त्री **त्वा**=तुझे **परा आस**=धर्म के मार्ग से परे फेंक देती है। उसके सौन्दर्य से मुग्ध हुआ-हुआ तू धर्म से गिर जाता है। इस प्रकार **ममच्चन**=निश्चय से मद (नशे) वाली-मद को पैदा करनेवाली '**कुषवा**'=(कुत्सितः सवो यस्याः) अत्यन्त अशुभ सव (=उत्पत्ति) वाली यह शराब (शर+आब) **त्वा**=तुझे **जगार**=निगल ही जाती है। व्यभिचार व सुरापान ही वे दो महान् पाप हैं, जो तुझे नरक के गड्ढे में गिरा देते हैं। (२) चाहिए तो यह कि **ममच्चित्**=हर्ष को देनेवाले **आपः**=ये जल **शिशवे**=बुद्धि को तीव्र करनेवाले तेरे लिए **ममृड्युः**=सुख को करनेवाले हों। इन सर्वोषध सम्पन्न जलों का प्रयोग करता हुआ (अप्सु मे सोमो अवीदन्तर्विश्वानि भेषजा) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **ममच्चित्**=हर्ष को अनुभव करता हुआ **सहसा**=तुरन्त **उदतिष्ठत्**=उठ खड़ा होता है। वह इन विषयों के बन्धन से निकल भागता है। सुरापानादि व्यसनों को तुरन्त छोड़ देता है। वेदमाता की प्रेरणा का यह लाभ होना ही चाहिए।

भावार्थ—स्त्री व शराब हमारे पतन का कारण बनते हैं। हम शराब आदि को छोड़कर जलों का प्रयोग करते हुए अपनी बुद्धि को तीव्र करें और कल्याणभाक् हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

व्यंस (अतिप्रबल काम)

ममच्चन तें मघवन्व्यंसो निविविध्वाँ अप हनूं जघान।
अधा निविद्ध उत्तरो बभूवाच्छिरो दासस्य सं पिणग्वधेन॥ ९॥

(१) हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् इन्द्र! **ममच्चन**=अत्यन्त मदवाला होता हुआ **व्यंसः**=यह अतिप्रबल 'काम' **ते**=तेरे पर **निविविध्वान्**=आक्रमण करता हुआ (प्रविध्यन् सा०) तुझे बाणों से पीड़ित करता हुआ, **हनू**=तेरे हनुओं को **अपजघान**=आहत करके नष्ट कर डालता है, अर्थात् तुझे खाने के चस्के में डाल देता है। यह जिह्वा का आस्वाद हमारे सब पतनों का कारण बनता है। (२) **अधा**=अब **निविद्धः**=इस विषयानुराग से निश्चयेन विद्ध हुआ-हुआ **उत्तरः बभूवान्**=इन विषयों से ऊपर उठने का प्रयत्न करता हुआ तू हे इन्द्र! **दासस्य**=इस विनष्ट करनेवाले 'काम' नामक असुर के **शिरः**=सिर को **वधेन**=वज्र से **संपिणक्**=पीस डाल। काम के सिर को कुचल करके ही यह उत्तर बनता है-आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—अत्यन्त प्रबल इस 'काम' का विध्वंस करके हम 'उत्तर' बनें, उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदमाता का आदर्श पुत्र

गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागामनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम्।
अरीळ्हं वत्सं चरथाय माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम्॥ १०॥

(१) **गृष्टिः**=(गृणाति) ज्ञानोपदेश करनेवाली यह वेदवाणी रूप गौ, **माता**=हमारे जीवनों का निर्माण करनेवाली **वत्सम्**=सन्तान रूप बछड़े को **ससूव**=जन्म देती है, जो **वत्स स्थविरम्**=स्थिर वृत्ति का होता है-चञ्चल स्वभाव का नहीं होता। **तवागाम्**=प्रवृद्ध बलवाला, **अनाधृष्यम्**=शत्रुओं से न धर्षण करने योग्य, **वृषभम्**=सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला, **तुम्रम्**=शत्रुओं का हिंसक, **अरीढम्**=(रिह-आस्वादने) स्वादों से ऊपर उठा हुआ, **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय होता है। (२) यह वेदमाता ऐसे वत्स को जन्म देती है, जो कि **चरथाय**=सदा गति के लिए होता है-क्रियाशील होता है और **तन्वे**=शक्तियों के विस्तार के लिए **स्वयं गातुम्**=अन्य निरपेक्ष गमन को **इच्छमानम्**=चाहता है। यह औरों पर आश्रित होकर जीने की कामना नहीं करता। यह परवशता का अभाव ही इसे उन्नत करनेवाला बनता है।

भावार्थ—वेद के अनुसार जीवन बनानेवाला व्यक्ति स्थिरवृत्ति तथा अपराजित गतिवाला बनने की कामना करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदमाता का पुत्र को उपदेश

उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्र देवाः।
अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व॥ ११॥

(१) **उत**=और **माता**=यह वेदमाता अपने सन्तान को **महिषम्**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाला **अन्ववेनत्**=चाहती है। वेद इसे प्रभुप्रवण बनाता है। वेदमाता अपने इस पुत्र को समझाती

हुई कहती है कि हे **पुत्र**=अपने को पवित्र बनाकर अपना रक्षण करनेवाले वत्स! **अमी**=वे **देवाः**=देव **त्वा**=तुझे **जहति**=छोड़े चले जा रहे हैं। जितना-जितना तू प्रभु से दूर हो रहा है उतना-उतना ही इन देवों से परित्याग हो रहा है। उपासक को ही दिव्यगुण प्राप्त होते हैं। (२) माता के इस उपदेश को सुनकर **अथ**=अब **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वृत्रं हनिष्यन्**=वासना को नष्ट करने की कामनावाला होता हुआ **अब्रवीत्**=प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सखे**=मित्र **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **वितरं विक्रमस्व**=आप अत्यन्त इन वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले होइये। आपने ही तो इन वासनाओं को विनष्ट करना है।

भावार्थ—वेदमाता अपने सन्तान को यही उपदेश देती है कि तू प्रभु का उपासक बन। तभी तू दिव्य गुणों का अधिष्ठान बनेगा तथा वासनाओं को विनष्ट कर पाएगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुविस्मरण का परिणाम

कस्ते मातरं विधवामचक्रच्छयुं कस्त्वामजिघांसच्चरन्तम्।
कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद्यत्प्राक्षिणाः पितरं पादगृह्य ॥ १२ ॥

(१) हे जीव! **यत्**=जब तू **पितरम्**=अपने पिता को **पादगृह्य**=पाँव से पकड़कर **प्राक्षिणाः**=नष्ट कर देता है, अर्थात् जब तू अपने पिता प्रभु को बिलकुल भुला देता है, तो **कः ते**=वे प्रजापति प्रभु तेरी **मातरम्**=माता को **विधवाम्**=विधवा **अचक्रत्**=कर देते हैं, अर्थात् अवैदिक जीवनवाले सन्तान के पिता पुत्र के कार्यों से शोकातुर होकर शीघ्र ही चले जाते हैं। (२) वे **कः**=प्रजापति **शयुं चरन्तम्**=अजगर की भान्ति कुटिल मार्ग से गति करते हुए **त्वाम्**=तुझे **अजिघांसत्**=समाप्त करना चाहते हैं। प्रतिक्षण की कुटिलता कभी दीर्घ-जीवन को नहीं होने देती। (३) हे जीव! तुझे यह बिलकुल भूल ही गया कि वे **कः देवः**=प्रकाशमय प्रजापति **ते**=तेरे लिए **अधि मार्डीक**=अतिशयित सुख के निमित्त **आसीत्**=थे। प्रभु के सम्पर्क में तो तुझे आनन्द ही आनन्द था। प्रभु-विमुख होकर तूने कितना अपना अकल्याण कर लिया। अपने पिताजी की भी मृत्यु का तू कारण बना। अपने जीवन को भी कुटिल बनाकर तूने असमय में ही समाप्त कर लिया। यही मंगल का मार्ग है कि तू प्रभुस्मरणपूर्वक अपने कर्त्तव्य-कर्मों के करने में प्रवृत्त रहे।

भावार्थ—प्रभु का विस्मरण पतन व अमंगल का मूल है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रादिती ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दुर्गति

अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्।
अपश्यं जायाममहीयमानामधा मे श्येनो मध्वा जभार ॥ १३ ॥

(१) गतमन्त्र के प्रकरण में ही कहते हैं कि प्रभु को भूल जाने पर मैं **अवर्त्या**=जीवनोपाय के अभाव में-गरीबी में **शुनः आन्त्राणि**=कुत्ते की आंतों को **पेचे**=पकानेवाला बना। कुत्ते की आंतों को ही पकाकर मुझे अपनी भूख मिटानी पड़ी। कितनी भयंकर दरित्रता में मैं पड़ा! (२) **देवेषु**=सूर्य आदि देवों में किसी भी देव को **मर्डितारम्**=सुख देनेवाला **न विविदे**=मैंने नहीं पाया। पाप के परिणामस्वरूप देवों की भी प्रतिकूलता हो जाती है। पापी पर आधिदैविक आपत्तियाँ भी आ पड़ती हैं। (३) मैंने इस पापवृत्ति के परिणामस्वरूप **जायाम्**=अपनी पत्नी को भी **अमहीयमानाम्**=निरादृत होती हुई को तथा मेरा ही निरादर करती हुई को **अपश्यम्**=देखा। इससे अधिक दुर्गति

क्या हो सकती है? (४) इस स्थिति से घबराकर व भयभीत होकर जब मैंने प्रभु का स्मरण किया, तो **अधा**=तब उस **श्येनः**=गतिशील प्रभु ने **मे**=मेरे लिए **मधु आजभार**=मधु को प्राप्त कराया। प्रभुकृपा से मेरा जीवन अतिशयेन मधुर बना गया। अवर्ति समाप्त हो गई। सब देव अनुकूल हो गए। पत्नी भी उचित सम्मान को प्राप्त करती हुई मुझे उचित आदर देनेवाली हुई। इस प्रकार जीवन की सब कटुता कट गयी और माधुर्य का अनुभव हुआ।

भावार्थ—प्रभुविस्मरण से उत्पन्न दुर्गति प्रभुस्मरण से ही दूर होती है और जीवन मधुर बन जाता है।

सारे सूक्त में जीवन को वैदिक बनाने पर बल दिया गया है। प्रभुस्मरण जीवन को वैदिक-जीवन बनाने में बड़ा सहायक है। प्रभु ने ही तो वासनाओं का विनाश करना है—

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवों द्वारा प्रभु का संभजन

एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र विश्वे देवासः सुहवास ऊमाः।

महामुभे रोदसी वृद्धमृष्वं निरेकमिद् वृणते वृत्रहत्ये॥ १॥

(१) हे **वज्रिन् इन्द्र**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले शत्रु विद्रावक प्रभो! **अत्र**=इस जीवन में **सुहवासः**=सदा उत्तम पुकारवाले-आपको पुकारनेवाले **ऊमाः**=वासनाओं से अपना बचाव करनेवाले **विश्वे देवासः**=सब देव **त्वाम्**=आपको ही **वृणते**=संभक्त करते हैं। आपका ही भजन करते हुए वस्तुतः वे देव बन पाते हैं। (२) **एवा**=इसी प्रकार **उभे रोदसी**=ये दोनों द्यावापृथिवी-ब्रह्माण्डवासिनी सब प्रजाएँ, **महाम्**=महान्, **वृद्धम्**=सब गुणों के दृष्टिकोण से बढ़े हुए **ऋष्वम्**=दर्शनीय **एकम्**=अद्वितीय आपको **इत्**=ही **वृत्रहत्ये**=वासनाविनाश के निमित्त **निःवृणते**=पूर्ण रूप से भजती हैं। वस्तुतः प्रभु भजन ही हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें वासनाओं के विनाश के लिए समर्थ करता है। सारा ब्रह्माण्ड इस प्रभु को ही रक्षा के लिए पुकारता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु द्वारा देवों को सत्यमार्ग पर ले चलना

अवासृजन्त जिव्रयो न देवा भुवः सम्राळिन्द्र सत्ययोनिः।

अहन्नहिं परिशयानमर्णः प्र वर्तनीररदो विश्वधेनाः ॥ २॥

(१) हे प्रभो! गतमन्त्र के अनुसार जब देव आपका सम्भजन करते हैं, तो वे **जिव्रयः न**=जिस प्रकार आयुष्य में बड़े हैं, उसी प्रकार **देवाः**=देववृत्तिवाले ये पुरुष **अवासृजन्त**=विषयों से पृथक् किये जाते हैं। प्रभु इन बड़ी उमरवाले दिव्यवृत्तिवाले पुरुषों को विषयों के आक्रमण से बचाते हैं। आचार्य (दयानन्द) ने यहाँ 'जिव्रय' का अर्थ 'दृढ़ जीवनाः' दृढ़ जीवनवाले ऐसा किया है। प्रभु इन दृढ़ जीवनवाले देवपुरुषों को विषयवासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देते। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप ही **सम्राट् भुवः**=इन 'जिव्रि देवों' के सम्राट् होते हैं, आप ही इनके जीवन को दीप्त करते हैं। **सत्ययोनिः**=आप ही सत्य के उत्पत्ति-स्थान हैं। आप ही के द्वारा इनके जीवन में सत्य की उत्पत्ति होती है। (२) आप ही **अर्णः**=ज्ञान-जल के **परिशयानम्**= चारों ओर रहनेवाले ज्ञानजल को आवृत कर लेनेवाले इस **अहिम्**=वासनारूप वृत्त को **अहन्**=नष्ट करते हैं और आप

ही **विश्वधेना:**=सब के प्रीणित करनेवाले **वर्तनी:**=मार्गों को **प्र अरद:**= विलेखित करते हैं (chalk out)। वासनाओं को विनष्ट करके आप ही इन्हें उत्तम मार्गों पर ले चलते हैं।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष प्रभु का उपासन करते हैं। प्रभु इन्हें विषयों से पृथक् करते हैं। इनके अन्दर सत्य को उत्पन्न करते हैं। वासना को विनष्ट करके इन्हें सर्वभूतहित के मार्ग पर चलाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

काम का संहार

अतृ॑प्णुवन्तं॒ विय॑तमबु॒ध्यमबु॑ध्यमानं सुषु॒पाणमि॑न्द्र।
स॒प्त प्रति॑ प्र॒वत॑ आ॒शया॑न॒महिं॒ वज्रे॑ण॒ वि रि॑णा अप॒र्वन्॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **सप्त**=सात **प्रवतः प्रति**=निम्नमार्गों में **आशयानम्**=निवास करनेवाले **अहिम्**=इस वासनात्मक वृत्त को **वज्रेण**=क्रियाशीलता रूप वज्र द्वारा **अपर्वन्**=अपर्व रूप में (Without a joint) **विरिणा:**=नष्ट कर देते हैं। इस वासना को इस रूप में नष्ट कर देते हैं कि इसका एक भी पर्व (जोड़) बचता नहीं। यह वासना ही तो सातों मर्यादाओं को तोड़कर हमें निम्नमार्ग की ओर ले जानेवाली है। 'सप्त मर्यादा: कवयस्ततक्षुः'। शरीर में प्रतितित (स्थापित) सात ऋषि इन मर्यादाओं का पालन करते हैं। आहि-वृत्र=वासना इनका विनाश करती है। प्रभुकृपा से क्रियाशील बनकर हम इन वासनाओं को विनष्ट करते हैं। (२) यह **अहि अतृप्णुवन्तम्**=कभी न तृप्त होनेवाला है 'न जातु कामः कामानापभोगेन शाम्यति'। **वियतम्**=सब संयमों का तोड़नेवाला-उच्छृङ्खल है। **अबुध्यम्**=इसको समझना बड़ा कठिन है, 'मनसि-ज' है न जाने कब इसका आक्रमण हो जाता है। **अबुध्यमानम्**=ज्ञान को विनष्ट करनेवाला है 'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'। **सुषुपाणम्**=सुला-सा देनेवाला है-चेतना को विनष्ट करनेवाला है। इसको नष्ट करके प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—अत्यन्त प्रबल इस काम को प्रभु ही हमें क्रियाशीलता रूप वज्र देकर विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

पर्वत ककुभ् भेदन

अक्षो॑दय॒च्छव॑सा॒ क्षाम॑ बु॒ध्नं वार्ण॒ वात॒स्तवि॑षीभि॒रिन्द्रः।
दृ॒ळ्हान्यौ॑भ्नादु॒शमा॑न॒ ओजोऽवा॑भिनत्क॒कुभः॒ पर्व॑तानाम्॥ ४॥

(१) **न**=जिस प्रकार **वातः**=वायु **वाः**=जल को **तविषीभिः**=बलों के द्वारा क्षुब्ध कर देता है, इसी प्रकार **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **शवसा**=बल के द्वारा **क्षाम बुध्नम्**=(क्षामान्य बुध्नं च) पृथिवी व इस आकाश (अवकाश-अन्तरिक्ष) को **अक्षोदयत्**=संपिष्ट कर देते हैं। सारे ब्रह्माण्ड को प्रभु अपने वश में किये हुए हैं। प्रभु इस ब्रह्माण्ड के प्रभव हैं, तो वे अप्यय भी हैं-इसे उत्पन्न करते हैं, तो इसे विनष्ट भी करते हैं। (२) इसी प्रकार हम सब जीवों के लिए **ओजः**=शक्ति को **उशमानः**=चाहते हुए वे प्रभु **दृढा**=आसुरभावों के दृढ़ किलों को भी **न्यौभ्नात्**=नष्ट करनेवाले हैं। 'काम-क्रोध-लोभ' के शरीर, मन व बुद्धि में बने हुए दुर्गों को प्रभु नष्ट कर डालते हैं। वे प्रभु **पर्वतानाम्**=अविद्या-पर्वतों के **ककुभः**=शिखरों को **अवाभिनत्**=विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—जड़ जगत् में प्रभु पृथिवी व अन्तरिक्ष को हिला डालनेवाले हैं। चेतन जगत् में वे प्रभु काम-क्रोध-लोभ के किलों को विनष्ट करते हैं और अविद्यापर्वतों का विदारण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ऊर्मिवध

अभि प्र दद्रुर्जनयो न गर्भं रथाइव प्र ययुः साकमद्रयः।
अतर्पयो विसृत उब्ज ऊर्मीन्त्वं वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून्॥ ५॥

(१) **जनयः**=माताएँ **न**=जैसे **गर्भम्**=अपने गर्भोत्पन्न बालक की **अभि**=ओर **प्रदद्रुः**=प्रकर्षेण जाती हैं, **इव**=जैसे **रथाः**=रथ लक्ष्य स्थान की ओर जाते हैं, इसी प्रकार **अद्रयः**=उपासक लोग **साकम्**=प्रभु के साथ गतिवाले होते हैं। (२) इन **विसृतः**=(विशेषेण सरन्ति) विशिष्ट गतिवाले पुरुषों को **अतर्पयः**=हे प्रभो! आप प्रीणित करते हैं। इनकी **ऊर्मीन्**=(शुष्टित्पपासे शोकमोहे जरामृत्यू सुदुर्मयः) भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मत्यु रूप ऊर्मियों को-लहरों को **उब्जः**=विनष्ट करते हैं (अवधीः सा०) हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **त्वम्**=आप इन **वृतान्**=वासना से आवृत हुए-हुए **सिन्धून्**=ज्ञानजलों को **अरिणाः**=फिर से प्रवाहित करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर जाते हैं तो (क) प्रभु स्व-उत्तमताओं को प्राप्त कराके हमें प्रीणित करते हैं, (ख) हमारी भूख-प्यास आदि भौतिक वृत्तियों को नष्ट करते हैं-हमें साँसारिक विषयों की भूख नहीं लगी रहती-हम तृष्णा से ऊपर उठ जाते हैं। (ग) हमारे ज्ञानजलों का प्रवाह ठीक रूप में होने लगता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

तुर्वीति व वय्य के लिए

त्वं महीमवनिं विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम्।
अरमयो नमसैजदर्णः सुतरणाँ अकृणोरिन्द्र सिन्धून्॥ ६॥

(१) **त्वम्**=हे प्रभो! आप इस **महीम्**=अतिशयेन महत्त्वपूर्ण **अवनिम्**=रक्षा करनेवाली **विश्वधेनाम्**=सब का प्रीणन करनेवाली वेदवाणी को **नमसा**=नमन के साथ **अरमयः**=रमणयुक्त करते हैं। उस वेदवाणी को, जो कि **तुर्वीतये**=त्वरा से शत्रुओं का असन (क्षेपण) करनेवालों के लिए तथा **वय्याय**=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले के लिए **एजत् अर्णः क्षरन्तीम्**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले ज्ञानजल को क्षरित करती है। वस्तुतः इस तुर्वीति और वय्य को प्रभुकृपा से ही ज्ञान का यह जल प्राप्त होता है। (२) हे इन्द्र! आप इस तुर्वीति और वय्य के लिए **सिन्धून्**=ज्ञानसमुद्रों को **सुतरणान्**=खूब तैरने योग्य अगाध ज्ञान-बल युक्त **कृधि**=करते हैं।

भावार्थ—हम त्वरा से वासनाओं को परे फेंकनेवाले तुर्वीति बनें। निरन्तर कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले वय्य बनें। प्रभु हमें वेदवाणी द्वारा ज्ञान-जल प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

शत्रुहिंसिका सेनाओं के समान 'वेदवाणियाँ'

प्राग्रुवो नभन्वो३न वक्वा ध्वस्रा अपिन्वद्युवतीर्ऋतज्ञाः।
धन्वान्यज्राँ अपृणक्तृषाणाँ अधोगिन्द्रः स्तर्यो३ दंसुपत्नीः॥ ७॥

(१) **नभन्वः**=शत्रुओं का संहार करनेवाली **वक्वाः न**=सेनाओं के समान **ध्वस्राः**=सब

बुराइयों का ध्वंस करनेवाली, **युवतीः**=अच्छाइयों का हमारे साथ मिश्रण करनेवाली, **ऋतज्ञाः**=ऋत के ज्ञानवाली या ऋत को प्रादुर्भूत करनेवाली (जन्) **अग्रुवः**=इन ज्ञाननदियों को **इन्द्रः**=वे प्रभु **प्र अपिन्वत्**=प्रपूरित करते हैं। (२) इन ज्ञाननदियों के प्रवाहों द्वारा **धन्वानि**=मरुस्थलों को, **तृषाणान् अज्रान्**=प्यासे खेतों को, **अपृणक्**=(अ पूरयत्) पूरित करते हैं। हमारे वे जीवन, जो कि उत्तम सद्गुणों के बीजों के प्रादुर्भाव से रहित थे, उन्हें सद्गुणों के अंकुरित करने के द्वारा शोभायमान कर देते हैं। इन **दंसुपत्नीः**=दमनशील पुरुष की उत्तम रक्षिका **स्तर्यः**=निवृत्त प्रसवा गौ के समान हुई-हुई वेदवाणीरूप गौओं को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष ही **अधोक्**=दोहता है। जितेन्द्रिय पुरुष ही इन ज्ञानवाणियों को समझ पाता है।

भावार्थ—ये वेदवाणियाँ शत्रुहिंसिका सेनाओं के समान हैं। ये हमारे निर्गुण जीवनों को सगुण बना देती हैं। इन वेदवाणी रूप गौओं का दोहन जितेन्द्रिय पुरुष ही कर पाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वासनाविनाश व ज्ञानप्रवाह

पूर्वीरुषसः शरदश्च गूर्ता वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिन्धून्।
परिष्ठिता अतृणद्बद्बधानाः सीरा इन्द्रः स्त्रवितवे पृथिव्या॥ ८॥

(१) **पूर्वीः उषसः**=बहुत उषाकालों तक **शरदः च**=और वर्षों तक **गूर्ताः**=वासनाओं से निगीर्ण की गई (निगली गयी) **सिन्धून्**=ज्ञाननदियों को, **इन्द्रः**=वे प्रभु, **वृत्रं जघन्वान्**=वासना को विनष्ट करके **वि असृजत्**=विशेषेण सृष्ट कर देते हैं-उनके प्रवाहों को फिर से चला देते हैं। (२) **परिष्ठिताः**=वासना जिनके चारों ओर स्थित हुई है, **बद्बधानाः**=जो वासना से बध्यमान हुए हैं, ऐसे **सीराः**=ज्ञानप्रवाहों को **इन्द्रः**=वे प्रभु **पृथिव्या**=इस शरीररूप पृथ्वी के हेतु से **स्त्रवितवे**=प्रवाहित होने के लिए **अतृणत्**=विद्ध करता है (अविध्यत्)। आवरणभूत वासनाओं को विद्ध करके यह ज्ञानप्रवाहों को प्रवाहित करता है।

भावार्थ—प्रभु वासना को विनष्ट करके ज्ञान को प्रवाहित करते हैं। यह ज्ञान ही इस शरीर रूप पृथिवी को सत्य, शिव व सुन्दर बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

उखच्छित्

वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानं निवेशनाद्धरिव आ जभर्थ।
व्यर्न्धो अख्यदहिमाददानो निर्भूदुखच्छित्समरन्त पर्व॥ ९॥

(१) हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! आप **वम्रीभिः**=विषयवासनारूप चींटियों से **अदानम्**=खाये जाते हुए **अग्रुवः पुत्रम्**=इस वेदवाणी रूप नदी के पुत्र-वेदवाणी के अपनानेवाले-वेदवाणी द्वारा अपना पवित्रीकरण व त्राण (पुनाति त्रायते) करनेवाले को **निवेशनात्**=विषयों के अभिनिवेश से-विषयों के प्रति वासना से **आजभर्थ**=बाहर खींच लाते हैं। (२) आपकी कृपा से **अंधः**=तत्त्व को न देखनेवाला भी यह **अहिम्**=इस वासनारूप सर्प को **वि अख्यत्**=विशेषरूप से देखने लगता है। **आददानः**=वेदवाणी द्वारा ज्ञान प्राप्त करता हुआ यह **निर्भूत्**=वासनाओं से बाहर हो जाता है। **उखच्छित्**=यह इस पेट रूप ऊखा का छेदन करनेवाला बनता है-पेटू न बनकर बड़ा मितभुक् होता है, परिणामतः इसके **पर्व समरन्त**=सब जोड़ संगत हो जाते हैं। वासनाओं के कारण शरीर में आ गयी सब शिथिलताएँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—मनुष्य को वासनाएँ खा जाती हैं। ज्ञान द्वारा इनका विनाश होता है। मनुष्य मितभुक् बनता है और दृढ़ अंगों (पर्वों) वाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

करणों व कर्मों का ज्ञान

प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्राविद्वाँ आह विदुषे करांसि।
यथायथा वृष्ण्यानि स्वगूर्तापांसि राजन्नर्याविवेषीः ॥ १० ॥

(१) हे **विप्र**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **पूर्वाणि**=पालन व पूरण करनेवाले **करणानि**=करणों को **आविद्वान्**=सम्यग् जानता हुआ यह पुरुष **विदुषे**=एक समझदार व्यक्ति के लिए **करांसि**=करने योग्य कर्मों को **प्र आह**=प्रकर्षेण कहता है। एक ज्ञानी-पुरुष (आचार्य) समझदार शिष्य के लिए बतलाता है कि प्रभु ने किस प्रकार 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' रूप सुन्दर करण (साधन) दिये हैं। इनका ठीक प्रयोग करते हुए इन यज्ञादि व ज्ञानप्राप्ति के कर्मों को करना चाहिए। (२) वह आचार्य विद्यार्थी को बतलाता है कि **यथा यथा**=जिस-जिस प्रकार, **राजन्**=सम्पूर्ण संसार के शासक प्रभो! आप **वृष्ण्यानि**=सुखों के वर्षण करने में उत्तम **स्वगूर्ता**=आत्मतत्त्व को उद्गूर्ण करनेवाले-आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाले **नर्या**=नरहितकारी **अपांसि**=कर्मों को **अविवेषीः**=व्याप्त करते हैं। उन कर्मों का उपदेश करके आचार्य विद्यार्थी को वैसे ही कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को प्रभु से प्राप्त कराए गये करणों का संकेत करते हुए कर्तव्य-कर्मों का ज्ञान दे। सामान्यतः वे कर्म सुखवर्धक, आत्मतत्त्व की ओर ले जानेवाले तथा नरहितकारी हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

स्तुतः गृणानः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

मन्त्र-व्याख्या १६.२१ पर अर्थ द्रष्टव्य है।

अगले सूक्त का भी यही विषय है—

[२०] विंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

संग्राम में विजय करानेवाले प्रभु

आ न इन्द्रो दूरादा न आसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून्॥ १ ॥

(१) **इन्द्रः**=शत्रु विद्रावक प्रभु **नः**=हमें **दूरात्**=दूर से **आयासत्**=प्राप्त हों। और **नः**=हमें **आसात्**=समीप से भी (आ-यासत्) प्राप्त हों। **अभिष्टिकृत्**=ये प्रभु हमारे शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हैं। **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए होते हैं। **उग्रः**=तेजस्वी हैं। (२) ये **नृपतिः**=मनुष्यों के रक्षक **वज्रबाहुः**=बाहुओं में वज्र को लिये हुए प्रभु-निरन्तर गतिशील प्रभु (वज् गतौ) **समत्सु**=संग्रामों में **संगे**=शत्रुओं के साथ टक्कर होने पर **पृतन्यून्**=उन आक्रान्ता शत्रुओं को

तुर्वणिः=त्वरा से पराजित करनेवाले हैं (तुद् वन्) अथवा हिंसित करनेवाले हैं (तुर्व हिंसायाम्)। वस्तुतः प्रभु ही हमारे शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—वे तेजस्वी प्रभु हमें प्राप्त हों। वे ही शत्रुओं का विनाश करके हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अवसे राधसे च

आ न इन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे राधसे च।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ॥ २॥

(१) **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **नः**=हमें **हरिभिः**=उत्तम इन्द्रियाश्वों के साथ **अर्वाचीनः**=अभिमुख प्राप्त होनेवाले होकर **आयातु**=आएँ। वे प्रभु हमारे **अवसे**=रक्षण के लिए हों **च**=और **राधसे**=कार्यों में सफलता के लिए हों। प्रभु द्वारा प्राप्त इन उत्तम इन्द्रियाश्वों से ही तो हम जीवनयात्रा को पूर्ण कर पाएँगे। (२) वे **वज्री**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले, **मघवा**=ऐश्वर्यशाली, **विरप्शी**=महान् व सब विज्ञानों का उपदेश देनेवाले वे प्रभु **वाजसातौ**=शक्ति को प्राप्त कराने के निमित्त **नः**=हमारे **इमं यज्ञं अनु**=इस जीवनयज्ञ को लक्ष्य करके **तिष्ठाति**=स्थित होते हैं। प्रभु के रक्षण से ही यह यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होता है। प्रभुकृपा के बिना यज्ञ की पूर्ति सम्भव नहीं है।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्वों के साथ प्राप्त हों। वे ही हमारा रक्षण करते हैं, वे ही हमें सफल बनाते हैं। वे ही इस जीवनयज्ञ को पूर्ण कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यज्ञों के पूरक प्रभु

इमं यज्ञं त्वमस्माकमिन्द्र पुरो दधत्सनिष्यसि क्रतुं नः।
श्वघ्नीव वज्रिन्त्सनये धनानां त्वया वयमर्य आजिं जयेम॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यसम्पन्न प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्माकम्**=हमारे **इमं यज्ञम्**=इस जीवन-यज्ञ को **पुरः**=आगे और आगे **दधत्**=धारण करने के हेतु से **नः**=हमारे लिए **क्रतुम्**=शक्ति को **सनिष्यसि**=अवश्य देंगे ही। आपसे दी हुई इस शक्ति द्वारा ही हम जीवन-यज्ञ को पूर्ण कर पाते हैं। (२) हे **वज्रिन्**=क्रियाशीलता रूप वज्रवाले प्रभो! **श्वघ्नी इव**=एक कितव (जुआरी) की तरह **वयम्**=हम **त्वया**=आपके साहाय्य से **अर्यः**=आपके स्तोता होते हुए **आजिम्**=स्पर्धा के लक्ष्य को (युद्ध को) **जयेम**=जीत जाएँ और **धनानां सनये**=धनों की प्राप्ति के लिए हों। 'श्वघ्नी इव' यह हीनोपमा है। जैसे एक कितव विजयी होकर धनों को प्राप्त करता है, हम आपके स्तवन से क्रियाशील होते हुए धनों का विजय करनेवाले बनें। इस जीवन-संघर्ष में स्पर्धा करते हुए हम आगे बढ़ें, विजयी बनें और धनों को प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके हम यज्ञों को पूर्ण कर पाते हैं। आपका स्तवन करते हुए हम संग्राम में विजयी हों और धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सोम का पान

उशन्नु षु णः सुमना उपाके सोमस्य नु सुषुतस्य स्वधावः।
पा इन्द्र प्रतिभृतस्य मध्वः समन्धसा ममदः पृष्ठ्येन॥ ४॥

(१) हे **स्वधावः**=आत्मधारण शक्तिवाले प्रभो! **उ नः** उ=निश्चय से हमारे **उशन्**=हित की कामना करते हुए आप **सुमनाः**=हमें (शोभनं मनो यस्मात्) शोभन मन को प्राप्त कराते हुए **उपाके**=सदा हमारे समीप होते हुए **नु**=अब **सुषुतस्य**=उत्तमता से उत्पन्न किये गये **प्रतिभृतस्य**=आपके अंग में प्राप्त कराए गये **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **सोमस्य**=सोम का **पाः**=पान करते हैं। इस सोमशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करते हैं। इस रक्षित वीर्य से ही हमारे सब अंग पुष्ट होते हैं। इसी से नीरोगता प्राप्त होकर जीवन मधुर बनता है। (२) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप इस **पृष्ठ्येन**=जीवन के आधारों में उत्तम आधारभूत (पृष्ठ=back bone) **अन्धसा**=इस सोम द्वारा **संममदः**=हमारे जीवनों को आनन्दित करते हैं। यह सुरक्षित सोम ही जीवन का सर्वोत्तम आधार है। यही हमें 'नीरोग, निर्मल व दीप्त' जीवनवाला बनाता है। इस सोम को हम प्रभुस्मरण द्वारा ही, वासनाओं से बचकर, शरीर में सुरक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से सोम शरीर में सुरक्षित होता है। सुरक्षित सोम जीवन का उत्तम आधार बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वृक्षा न पक्वः

वि यो र॒रप्श ऋषि॑भि॒र्नवे॑भिर्वृ॒क्षो न प॒क्वः सृण्यो॒ न जेता॑।
मर्यो॒ न योषा॑म॒भि मन्य॑मा॒नोऽच्छा॑ विवक्मि पुरुहू॒तमिन्द्र॑म् ॥ ५ ॥

(१) मैं **पुरुहूतम्**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी-जिसकी आराधना हमारा पालन व पूरण करती है, उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अच्छा**=लक्ष्य करके **विवक्मि**=स्तुति शब्दों का उच्चारण करता हूँ। **यः**=जो प्रभु **नवेभिः**=(नव् गतौ) गतिशील-क्रियाशील **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों से **विररप्शे**=विविध रूपों में स्तुति किया जाता है। वस्तुतः प्रभु का उपासन इसी में है कि हम क्रियाशील बनें और तत्त्वदर्शन के लिए यत्नशील हों। (२) वे प्रभु (क) **वृक्षः न पक्वः**=पके हुए फलोंवाले वृक्ष के समान हैं। जिस प्रकार परिपक्व वृक्ष मधुरतम फलों को देनेवाला है, इसी प्रकार वे प्रभु हमारे लिए हितकर मधुर फलों को प्राप्त कराते हैं। (ख) **सृण्यः न जेता**=आयुध (सृणि=अंकुश) कुशल पुरुष की तरह वे विजेता हैं। जैसे अंकुश-प्रहार-प्रवीण आधोरण (=महावत) मदमत्त हाथी को भी वशीभूत करनेवाला है, उसी प्रकार वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड के वशीभूत करनेवाले हैं। प्रभु का स्मरण हमारी प्रबल वासनाओं को भी कुचल देनेवाला है। (२) वे प्रभु **मर्यः न योषां अभिमन्यमानः**=एक मनुष्य जिस प्रकार पत्नी का आदर करता है, इसी प्रकार हम जीवों का आदर करनेवाले हैं। हमारी उत्तम इच्छाओं को पूर्ण करना ही हमारा आदर है-प्रभु हमारी सब हितकर इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। प्रभु पति हैं, हम पत्नी के रूप में।

भावार्थ—प्रभु परिपक्व वृक्ष की तरह हमारे लिए मधुर फलों को देनेवाले हैं। आयुध-कुशल पुरुष की तरह हमारी वासनाओं को पराजित करनेवाले हैं। प्रभु पति हैं, हम पत्नी के रूप में।

सूचना—यहाँ हम अन्तिम उपमाएँ में रहस्यवादी कविताओं के बीज को पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वतवान् ऋष्वः

गि॒रिर्न यः स्वत॑वाँ ऋ॒ष्व इन्द्रः॑ स॒नादे॒व सह॑से जा॒त उ॒ग्रः।
आद॑र्ता॒ वज्रं॒ स्थवि॑रं॒ न भी॒म उ॒द्नेव॒ कोशं॒ वसु॑ना॒ न्यृ॑ष्टम् ॥ ६ ॥

(१) **गिरिः न**=पर्वत के समान **यः**=जो **स्व-तवान्**=प्रवृद्ध आत्मशक्तिवाला है, **ऋष्वः**=दर्शनीय व महान् है, वह **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **सनात् एव**=सदा से ही **उग्रः**=तेजस्वी **सहसे**=शत्रुओं के मर्षण के लिये **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ है। हृदयों में प्रभु का प्रकाश होने पर सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश हो जाता है। (२) वे प्रभु **स्थविरम्**=अति स्थूल (=विशाल) **वज्रम्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **आदर्ता**=आदृत करते हैं। उस क्रियाशीलता रूप वज्र को, जो कि **उद्ना**=पानी से **कोशं इव**=कोश की तरह **वसुना**=सब वसुओं से **न्यृष्टम्**=नितरां संगत है। जब इस प्रकार क्रियाशीलता को हम अपनाते हैं, तो प्रभु के प्रिय बनते हैं। वे प्रभु **न भीमः**= हमारे लिए भयंकर नहीं होते। प्रभु हमारे शत्रुओं के लिए ही भयंकर होते हैं। वस्तुतः प्रभु को हृदयों में प्रादुर्भूत करके ही हम शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं। तब हमारी आत्मशक्ति बढ़ती है, हम दर्शनीय जीवनवाले तेजस्वी बनते हैं और शत्रुओं का मर्षण करते हैं।

भावार्थ—हृदयों में प्रभु को प्रादुर्भूत करके हम शत्रु का विनाश कर पाते हैं। क्रियाशील बनकर हम प्रभु के प्रिय बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

न वर्ता-न आमरीता

न यस्य॑ व॒र्ता ज॒नुषा॒ न्वस्ति॒ न राध॑स आमरी॒ता म॒घस्य॑।
उ॒द्वा॒वृ॒षा॒णस्त॑विषीव उग्रा॒स्मभ्यं॑ दद्धि पुरुहूत रा॒यः ॥ ७॥

(१) हे प्रभो! **यस्य**=जिन आपका **वर्ता**=निवारण करनेवाला-आपको अपने कार्यों से रोकनेवाला **जनुषा**=जन्म से-स्वभाव से ही **नु**=निश्चयपूर्वक **न अस्ति**=नहीं है। हे प्रभो! आपके **राधसः**=कार्यों को सिद्ध करनेवाले **मघस्य**=ऐश्वर्य का **आमरीता न**=विनाश करनेवाला कोई नहीं। आपकी शक्ति अप्रतिहत है-आपका ऐश्वर्य अनन्त है। (२) हे **तविषीवः**=बलवन् प्रभो! **उग्र**=तेजस्विन् **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **उद्वावृषाणः**=अत्यन्त धनों का वर्षण करते हुए आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रायः**=इन दान देने योग्य धनों को **दद्धि**=दीजिए। इन धनों को दान में विनियुक्त करते हुए तपस्वी जीवनवाले हम भी हे प्रभो! आपके ही समान तेजस्वी बनने का यत्न करें।

भावार्थ—प्रभु अनन्तशक्ति व अनन्त-ऐश्वर्यवाले हैं। प्रभु हमें कार्यसाधक धनों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

समिथेषु प्रहावान्

ईक्षे॑ रा॒यः क्षय॑स्य चर्षणी॒नामु॒त व्र॒जम॑पव॒र्तासि॒ गोना॑म्।
शि॒क्षा॒न॒रः स॑मि॒थेषु॑ प्र॒हावा॒न्वस्वो॑ रा॒शिम॑भिने॒तासि॒ भूरि॑म् ॥ ८॥

(१) हे प्रभो! आप **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **रायः**=धनों के तथा **क्षयस्य**=गृहों के **ईक्षे**=देखनेवाले हैं। आप इस बात का ध्यान करते हैं कि श्रमशील मनुष्य को आवश्यक धन व गृह की कमी न रहे 'उसका योगक्षेमं ठीक से चलता जाये' इस बात का ध्यान प्रभु करते हैं। **उत**=और आप इन श्रमशील मनुष्यों के **गोवां व्रजम्**=इन्द्रियों के समूह को **अपवर्ता असि**=विषयों से अपावृत्त करनेवाले हैं। इन की इन्द्रियों को आप विषय-वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देते। (२) हे प्रभो! आप **शिक्षानरः**=शिक्षा द्वारा-ज्ञान द्वारा प्रजाओं को आगे ले चलनेवाले हैं (नृ

नये)। **समिथेषु**=काम-क्रोध आदि से संग्राम होने पर आप ही **प्रहावान्**=इन शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले अस्त्रोंवाले हैं। इस प्रकार हमारा ज्ञान बढ़ाकर तथा काम-क्रोध आदि को विनष्ट करके आप **भूरिम्**=बहुत अधिक अथवा भरण-पोषण के लिए पर्याप्त **वस्वः राशिम्**=धनराशि को **अभिनेता असि**=प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु श्रमशील मनुष्य को योगक्षेम से वञ्चित नहीं करते। इनकी इन्द्रियों को विषयों से आक्रान्त नहीं होने देते। भरण-पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

पापविनाशक प्रभु

कया तच्छृण्वे शच्या शचिष्ठो यया कृणोति मुहु का चिदृष्वः।
पुरु दाशुषे विचयिष्ठो अंहोऽथा दधाति द्रविणं जरित्रे॥ ९॥

(१) **तत्**=वे प्रभु **कया**=किसी अद्भुत (अनिर्वचनीय) अथवा आनन्दमय **शच्या**=प्रज्ञान व कर्म से **शृण्वे**=सुने जाते हैं-प्रसिद्ध हैं। **शचिष्ठः**=अत्यन्त शक्तिशाली व प्रज्ञानवाले हैं। वह **ऋष्वः**=महान् प्रभु **यया**=जिस शक्ति द्वारा **मुहु**=फिर-फिर **काचित्**=(कानिचित्) किन्हीं कर्मों को **कृणोति**=करते हैं। सृष्टि के उत्पत्ति, धारण व प्रलय रूप कर्म प्रभु अपनी इसी शची (शक्ति व प्रज्ञान) द्वारा करते हैं। (२) ये प्रभु **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए **अंहः**=पाप को **पुरु**=अत्यन्त **विचयिष्ठः**=विनष्ट करनेवाले हैं। **अथा**=और अब, पाप को विनष्ट करके, ये प्रभु **जरित्रे**=स्तोता के लिए **द्रविणम्**=धन को **दधाति**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु अद्भुत शक्ति व प्रज्ञानवाले हैं। वे महान् प्रभु स्तोता के पापों को विनष्ट करके उसके लिए आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'न हिंसित होने देनेवाले' प्रभु

मा नो मर्धीरा भरा दद्धि तन्नः प्र दाशुषे दातवे भूरि यत्ते।
नव्ये देष्णे शस्ते अस्मिन्त उक्थे प्र ब्रवाम वयमिन्द्र स्तुवन्तः॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **नः**=हमें **मा मर्धीः**=काम-क्रोध आदि से नष्ट मत होने दीजिए। **आभरा**=हमारा सब प्रकार से भरण करिए। **नः**=हमारे लिए **तत्**=उस धन को **भूरि**=बहुत **प्रदद्धि**=दीजिए, **यत्**=जो **ते**=आपका धन **दाशुषे**=आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए **दातवे**=देने के लिए है। जो धन आप दाश्वान् पुरुष को देते हैं, वह धन हमें दीजिए। (२) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नव्ये**=अत्यन्त स्तुत्य, **देष्णे**=दान में प्रेरित करनेवाले **शस्ते**=प्रशस्त **अस्मिन्**=इस **ते**=आपके **उक्थे**=स्तोत्र में **वयम्**=हम **प्रब्रवाम**=आपके नामों व गुणों का उच्चारण करें। यह प्रभु के नामों का उच्चारण हमें प्रशस्त जीवनवाला बनाता है। इस से हमारे अन्दर धन को देने की वृत्ति बनती है। प्रभु हमें देते हैं और इसीलिए देते हैं कि हम धन को देनेवाले बनें। वस्तुतः देनेवाले बनकर ही हम प्रभु का **स्तुवन्तः**=स्तवन करनेवाले होते हैं। कोई भी व्यक्ति धन को न देनेवाला प्रभु का स्तोता नहीं बन पाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें सब धन देते हैं और इस प्रकार हमें हिंसित नहीं होने देते।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

रथ्यः सदासाः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

मन्त्र व्याख्या १९.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु हमें हिंसित नहीं होने देते। अगले सूक्त का प्रारम्भ इन्हीं शब्दों से होता है कि प्रभु हमें रक्षा के लिए प्राप्त हों—

[२१] एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'सधमाद्' प्रभु

आ यात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ १ ॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **इह**=यहाँ **नः**=हमें **उप आयातु**=समीपता से प्राप्त हों। **अवसे**=वे हमारे रक्षण के लिए हों। **स्तुतः**=स्तुति किये गये वे प्रभु **सधमाद् अस्तु**=हमें अपने साथ आनन्द को प्राप्त करानेवाले हों। **शूरः**=हमारे सब शत्रुओं को वे शीर्ण करें। (२) **वावृधानः**=वे प्रभु हमें अत्यन्त बढ़ानेवाले हों। **यस्य**=जिन प्रभु के **तविषीः**=बल **पूर्वीः**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं, वे प्रभु **द्यौः न**=प्रकाशमय ज्ञान की तरह **अभिभूति क्षत्रम्**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बल को **पुष्यात्**=हमारे में पुष्ट करें। इन ज्ञानों व बलों को देकर ही वे प्रभु हमारा वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त होते हैं। वे प्रभु ही हमारा रक्षण करते हैं। रक्षण के लिए वे हमें ज्ञान तथा शक्ति देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'तुविद्युम्न तुविराधस्' प्रभु का सम्पर्क

तस्येदिह स्तवथ वृष्ण्यानि तुविद्युम्नस्य तुविराधसो नॄन्।
यस्य क्रतुर्विदथ्यो३ न सम्राट् साह्वान्तरुत्रो अभ्यस्ति कृष्टीः ॥ २ ॥

(१) **तस्य**=उस **तुविद्युम्नस्य**=महान् ज्ञानवाले **तुविराधसः**=महान् सम्पत्ति व ऐश्वर्यवाले प्रभु के **वृष्ण्यानि**=बलों को **नॄन्**=प्राप्त करानेवाले (=ले चलनेवाले) मरुतों (प्राणों) को **इत्**=निश्चय से **इह**=इस जीवन में **स्तवथ**=स्तुत करो। **यस्य क्रतुः**=जिस प्रभु का कर्म **विदथ्यः सम्राट् न**=ज्ञान में उत्तम शासक के समान है। ज्ञानी शासक जैसे प्रजाओं का नियन्त्रण करता है, इसी प्रकार वे प्रभु सब प्रजाओं का नियन्त्रण कर रहे हैं। उस प्रभु का कर्म **साह्वान्**=सब शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। **तरुत्रः**=हमें भवसागर से तरानेवाला है। **कृष्टीः**=सब प्रजाओं को **अभि अस्ति**=अभिभूत करनेवाला है। कोई भी उस प्रभु के शासन का उल्लंघन नहीं कर पाता। (२) इस प्रभु के बलों को अपने में धारण करने के लिए आवश्यक है कि हम प्राणों की साधना करें। ये **मरुत्**=प्राण ही हमें प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले हैं। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध होकर इस चित्त का प्रभु में स्थापन होता है। इस निरुद्ध मन से ही प्रभु का साक्षात्कार व सम्पर्क प्राप्त

होता है 'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु'। प्रभु के साथ सम्पर्क होने पर हम भी 'तुविद्युम्न तुविराधस्' बनेंगे। उसी समय शत्रुओं का पराभव करके हम भवसागर को तैरनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम निरुद्ध चित्तवृत्तिवाले बनकर प्रभुसम्पर्क को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'व्यापक विभूतियोंवाले' प्रभु

आ यात्विन्द्रो दिव आ पृथिव्या मक्षू समुद्रादुत वा पुरीषात्।
स्वर्णरादवसे नो मरुत्वान्परावतो वा सदनादृतस्य ॥ ३ ॥

(१) **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **दिवः**=द्युलोक से **आयातु**=हमें प्राप्त हों। जब हम शरत् की अमावस्या के दिन द्युलोक को अनन्त नक्षत्रों से जगमगाता देखते हैं, तो उस रचयिता का स्मरण हो उठना स्वाभाविक है। यही द्युलोक से प्रभु की प्राप्ति का भाव है। ये प्रभु **पृथिव्याः आ (यातु)**=पृथिवी से हमें प्राप्त हों। विविध वनस्पतियों को जन्म देनेवाली यह पृथिवी सचमुच प्रभु का स्मरण कराती है। अनन्त प्रकार के फूलों की गन्ध उस प्रभु की गन्ध क्यों न देगी! **मक्षू**=शीघ्र ही वे प्रभु **समुद्रात्**=इस अन्तरिक्ष से हमें प्राप्त हों **उत वा**=और अथवा वे प्रभु **पुरीषात्**=अन्तरिक्षस्थ मेघों के जल से हमें प्राप्त हों। अन्तरिक्ष में गति करते हुए मेघ एक सहृदय पुरुष को प्रभु का स्मरण कराते ही हैं। इन से बरसनेवाला जल सारी पृथिवी को आप्लावित करता हुआ हृदय में प्रभु के भाव को जागरित करता है। (२) वह **मरुत्वान्**=मरुतों (प्राणों) वाले प्रभु, प्राणसाधना द्वारा साक्षात्कार करने योग्य प्रभु, **अवसे**=हमारे रक्षण के लिए हमें **स्वर्णराद्**='स्वः' प्रकाशमान सूर्य है 'नर' नेता जिसका, उस द्युलोक से प्राप्त हों। **वा**=अथवा **परावतः**=अत्यन्त सुदूर **ऋतस्य सदनात्**=ऋत के सदन से-उदक के स्थान अन्तरिक्ष से हमें प्राप्त हों। द्युलोकस्य सूर्य अपनी किरणों द्वारा हमारे में प्राणशक्ति का संचार करता हुआ हमारा रक्षण करता है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष से प्राप्त होनेवाले ये मेघजल हमारे लिए अमृतत्व (नीरोगता) को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार प्रभु सूर्य व वृष्टिजलों द्वारा हमारा रक्षण करते हैं। इस सारी प्रक्रिया का विचार करते हुए उस प्रभु की अद्भुत महिमा का ध्यान आता है, यही प्रभु की प्राप्ति है।

भावार्थ—'द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी व मेघस्थ जल' ये सब हमें प्रभुमहिमा का स्मरण कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्ति व वृद्धि का साधनभूत 'धन'

स्थूरस्य रायो बृहतो य ईशे तमु ष्टवाम विदथेष्विन्द्रम्।
यो वायुना जयति गोमतीषु प्र धृष्णुया नयति वस्यो अच्छ ॥ ४ ॥

(१) हम **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **उ**=ही **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **स्तवाम्**=स्तुत करते हैं, **यः**=जो **स्थूरस्य**=(huge) बहुत अधिक अथवा शक्तिसम्पन्न **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **रायः**=ऐश्वर्य के **ईशे**=स्वामी हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं, तो प्रभु हमें उस ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं, जो कि हमारी शक्ति व वृद्धि का कारण बनता है। (२) उस प्रभु का हम स्तवन करते हैं **यः**=जो कि **वायुना**=प्राणों द्वारा **गोमतीषु**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले संग्रामों में **जयति**=विजय प्राप्त करता है। काम-क्रोध-लोभ के साथ चलनेवाले अध्यात्मसंग्राम में प्रभु ही हमें इस प्राणसाधना द्वारा विजय प्राप्त कराते हैं। इस विजय के परिणामस्वरूप सब इन्द्रियाँ प्रशस्त बनती हैं। इसलिए इन

संग्रामों को 'गोमती' नाम दिया गया है। **धृष्णुया**=शत्रुधर्षक बल द्वारा वे प्रभु **वस्यः अच्छ**=उत्कृष्ट वसुओं (धनों) की ओर **प्र नयति**=हमें ले चलते हैं। काम-क्रोध आदि शत्रुओं का धर्षण करके ही हम वास्तविक धन (वसु) को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें शक्ति व वृद्धि के साधनभूत धन को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमें आध्यात्मिक-संग्राम में विजयी बनाकर वसुमान् बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासना के लाभ

उप यो नमो नमसि स्तभायन्नियर्ति वाचं जनयन्यजध्यै।
ऋञ्जसानः पुरुवार उक्थैरेन्द्रं कृण्वीत सदनेषु होता ॥ ५ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु **नमसि**=हमारे नमन करने पर-नम्रतापूर्वक उपासना करने पर **नमः**=हमारी नम्रता की भावना को **उप स्तभावन्**=थामते हैं, अर्थात् हम प्रभु का उपासन करते हैं, तो प्रभु हमें नम्र बनाए रखते हैं। जो प्रभु **यजध्यै**=यज्ञ करने के लिए **इयर्ति**=हमें प्रेरित करते हैं, **वाचं जनयन्**=वेदवाणी को हमारे में प्रादुर्भूत करते हैं। वस्तुतः वेदवाणी द्वारा ही प्रभु हमें यज्ञों की प्रेरणा देते हैं। (२) वे प्रभु **ऋञ्जसानः**=हमारे जीवनों को सद्गुणों से अलंकृत करते हैं (ऋञ्ज् to decorate)। **उक्थैः**=स्तोत्रों द्वारा **पुरुवारः**=अत्यन्त वरण के योग्य हैं। इस प्रभु को **होता**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाला व्यक्ति **सदनेषु**=यज्ञगृहों में **आकृण्वीत**=उपासित करे। इस प्रभु की उपासना ने ही तो हमारे जीवन को सुभूषित करना है।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें। प्रभु हमें नम्र बनाएँगे, वेदवाणी द्वारा यज्ञों की प्रेरणा देंगे और हमारे जीवनों को सद्गुणों से मण्डित करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

संवरणेषु वह्निः

धिषा यदि धिषण्यन्तः सरण्यान्त्सदन्तो अद्रिमौशिजस्य गोहे।
आ दुरोषाः पास्त्यस्य होता यो नो महान्त्संवरणेषु वह्निः ॥ ६ ॥

(१) **धिषण्यन्तः**=बुद्धि की प्राप्ति की कामना करते हुए **यदि**=यदि **धिषा**=(Hymn) स्तोत्रों द्वारा **सरण्यान्**=उस प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं और **औशिजस्य**=(Devoted to) प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले के **गोहे**=घर में **अद्रिम्**=उस उपासनीय प्रभु का **सदन्तः**=उपासन करते हैं-उसकी उपासना में बैठते हैं, तो ये प्रभु **आ (यातु)**=अवश्य हमें प्राप्त होते हैं। (२) वे प्रभु हमें प्राप्त होते हैं, जो कि **दुरोषाः**=(दुर-उष्=दाहे) सब बुराइयों को दग्ध करनेवाले हैं। **पास्त्यस्य**=शरीरगृह को उत्तम बनानेवाले के **होता**=सब कुछ देनेवाले हैं। **यः**=जो **नः**=हमारे लिए **महान्**=पूजनीय हैं। **संवरणेषु**=शत्रु सम्बन्धी निरोधों में-काम-क्रोध आदि के आक्रमणों में **वह्निः**=हमें पार पहुँचानेवाले हैं। प्रभु ही हमारे लिए इन शत्रुओं का पराजय करते हैं।

भावार्थ—बुद्धिप्राप्ति की कामना से हम प्रभुस्तवन करते हुए प्रभु की ओर चलें-सदा प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले होकर प्रभु की उपासना करें। प्रभु हमारी सब बुराइयों को दग्ध कर देंगे और हमें शत्रुओं से पार ले जानेवाले होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु से प्राप्त शक्ति के जीवन में परिणाम

सत्रा यदीं भार्वरस्य वृष्णः सिषक्ति शुष्मः स्तुवते भराय।
गुहा यदीमौशिजस्य गोहे प्र यद्धिये प्रायसे मदाय ॥ ७॥

(१) **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **भार्वरस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का भरण करनेवाले **वृष्णः**=शक्तिशाली प्रभु का **शुष्मः**=बल **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले के लिए **सिषक्ति**=सेवन करता है, अर्थात् जब स्तोता को प्रभु का बल प्राप्त होता है, तो **सत्रा**=सचमुच **भराय**=यह उसके भरण के लिए होता है। (२) **यद्**=जब **ईम्**=निश्चय से **औशिजस्य**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले के **गोहे**=इस शरीरगृह में **गुहा**=हृदयरूप गुहा में प्रभु का निवास होता है, तो प्रभु इस औशिज के (भराय=) भरण के लिए होते हैं। **यत्**=जो **प्रधिये**=प्रकृष्ट बुद्धि के लिए होते हैं। 'प्र अयसे' प्रकृष्ट गमन के लिए होते हैं और **मदाय**=हर्ष के लिए होते हैं।

भावार्थ—स्तवन से प्राप्त बल हमारा भरण करता है-यह हमारी बुद्धि, गति व हर्ष के लिए होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अविद्या का विनाश

वि यद्वरांसि पर्वतस्य वृण्वे पयोभिर्जिन्वे अपां जवांसि।
विदद्गौरस्य गवयस्य गोहे यदी वाजाय सुध्यो३ वहन्ति ॥ ८॥

(१) **यद् ई**=जब निश्चय से **सुध्यः**=उत्तम ध्यानशील पुरुष **वाजाय**=शक्तिप्राप्ति के लिए **वहन्ति**=उस प्रभु को धारण करते हैं, तो वे प्रभु (क) **यत्**=जो **पर्वतस्य**=अविद्यापर्वत के **वरांसि**=आवरणों को **विवृण्वे**=खोल डालते हैं-अविद्या के आवरणों को हटा देते हैं। (ख) **पयोभिः**=वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्धों से **अपाम्**=कर्मों के **जवांसि**=वेगों को **जिन्वे**=प्रीणित करते हैं-ज्ञान देकर हमारे कर्मों के वेग को बढ़ा देते हैं। (ग) और हमें **गौरस्य**=शुद्ध हृदयवाले **गवयस्य**=(गौः=इन्द्रियाँ) उत्तम इन्द्रियोंवाले के **गोहे**=घर में **विदत्**=प्राप्त कराते हैं, अर्थात् वे प्रभु हमें शुद्ध हृदय व प्रशंस्तेन्द्रिय बनाते हैं। यह सब सत्य है (सत्रा) (२) उपासना के तीन लाभ हैं, (क) अविद्या-पर्वत का विदारण होता है, (ख) ज्ञान के अनुसार कर्मशीलता की वृद्धि होती है और (ग) हम शुद्धहृदय प्रशस्तेन्द्रिय बनते हैं।

भावार्थ—समझदार पुरुष शक्तिप्राप्ति के लिए प्रभु की उपासना करते हैं। इससे अज्ञान नष्ट होता है, ज्ञानपूर्वक कर्म की वृत्ति बढ़ती है और हम शुद्धहृदय प्रशस्तेन्द्रिय बनते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सब धनों के दाता प्रभु

भद्रा ते हस्ता सुकृतोत पाणी प्रयन्तारा स्तुवते राध इन्द्र।
का ते निषत्तिः किमु नो ममत्सि किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ ॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते हस्ता**=आपके हाथ **भद्रा**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं **उत**=और **सुकृता**=हमारे लिए शुभ ही शुभ करनेवाले हैं। आपके **पाणी**=ये रक्षक हाथ **स्तुवते**=स्तोता के लिए **राधः प्रयन्तारा**=कार्यसाधक धनों के देनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! ते

निषन्तिः=आपकी उपासना **का**=अद्भुत आनन्द देनेवाली है। आप **नः**=हमें **उ**=निश्चय से **किं ममत्सि**=क्या ही अद्भुत आनन्द देते हैं। **उत् उत् उ**=और निश्चय से **नः**=हमारे लिए **दातवा उ**=देने के लिए ही **किं हर्षसे**=आप क्या ही आनन्दित होते हैं? पिता पुत्र के लिए आवश्यक धनों प्राप्त कराता हुआ आनन्दित होता ही है।

भावार्थ—प्रभु हमारा कल्याण करते हैं। हमारे लिए आवश्यक धनों को देते हैं। प्रभु को उपासना हमारे लिए आनन्द का कारण बनती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

दिव्यरक्षण की प्राप्ति

एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राड्ढन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायो भक्षीय तेऽवसो दैव्यस्य ॥ १० ॥

(१) **एवा**=इस प्रकार **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **वस्वः**=सब वसुओं के **सम्राट्**=सम्राट् हैं। **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। **वृत्रं हन्ता**=उपासक की वासना को विनष्ट करनेवाले हैं। **पूरवे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले के लिए **वरिवः**=सब वरणीय धनों को **कः**=करनेवाले हैं। (२) हे **पुरुष्टुत**=जिन आपकी स्तुति पालन व पूरण करनेवाली है, वे आप **नः**=हमारे लिए **क्रत्वा**=(क्रतुना) यज्ञों के हेतु से **रायः शग्धि**=धनों को दीजिए। **ते**=आपके **दैव्यस्य**=अलौकिक–सब सूर्य, चन्द्र, तारे आदि देवों से प्राप्त होनेवाले **अवसः**=रक्षण का **भक्षीय**=मैं सेवन करनेवाला बनूँ। आपके दिव्यरक्षण का पात्र बनूँ।

भावार्थ—प्रभु ही सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। वे हमें यज्ञों के लिए धनों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमारी वासनाओं को विनष्ट करते हैं और हमें दिव्यरक्षण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तोता के लिए प्रेरणा देनेवाले प्रभु

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

मन्त्र की व्याख्या २०.११ पर द्रष्टव्य है।

सम्पूर्ण सूक्त इस बात का प्रतिपादन करता है कि प्रभु उन्नति के लिए आवश्यक धन देते हैं। इसी उन्नति के उद्देश्य से प्रभु हमें शक्तियों को प्राप्त कराते हैं—

तृतीयोऽनुवाकः

[२२] द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञान-स्तुतिवृत्ति-दृढ़ शरीर

यन्न इन्द्रो जुजुषे यच्च वष्टि तन्नो महान्करति शुष्म्या चित्।
ब्रह्म स्तोमं मघवा सोममुक्था यो अश्मानं शवसा बिभ्रदेति ॥ १ ॥

(१) **यत्**=जब **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे प्रति **जुजुषे**=प्रीतिवाला होता है, अर्थात् जब हम उसके निर्देशों के अनुसार चलते हुए उसे प्रसन्न कर पाते हैं, **यत् च वष्टि**=और

जब वे प्रभु चाहते हैं, **तत्**=तब वे **शुष्मी**=बलवान् **महान्**=पूज्य प्रभु **नः**=हमारे लिए **चित्**=निश्चय से **ब्रह्म**=ज्ञान को तथा **स्तोमम्**=इन स्तुतिमन्त्रों को **आकरति**=सर्वथा करते हैं। हमें इनका ज्ञान देते हैं। इनके अनुसार आचरण करते हुए हम निरन्तर आगे बढ़ते हैं। (२) **मघवा**=वे सर्वैश्वर्योंवाले प्रभु **सोमम्**=सोम को-वीर्यशक्ति को तथा इसके रक्षण के साधनभूत **उक्था**=स्तुति-वचनों को हमारे लिए करते हैं। इन स्तुति-वचनों से हम वासनाओं से बचे रहकर सोम का रक्षण करनेवाले होते हैं। हम उस प्रभु का स्मरण करते हैं, जो कि **अश्मानम्**=इस वज्रतुल्य दृढ़ शरीर को **शवसा**=बल के साथ **बिभ्रत्**=धारण करते हुए **रति**=हमें प्राप्त होते हैं। हम प्रभु का स्मरण करेंगे तो हमारा शरीर वज्रतुल्य दृढ़ शक्तिशाली बनेगा।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु हमें ज्ञान, स्तुति की वृत्ति व दृढ़शरीर प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

चतुरश्रि वज्र (ऋग्-यजु-साम-अथर्व रूप ज्ञानवज्र)

वृषा वृषन्धिं चतुरश्रिमस्यन्नुग्रो बाहुभ्यां नृतमः शचीवान्।
श्रिये परुष्णीमुषमाण ऊर्णां यस्याः पर्वाणि सख्याय विव्ये॥ २॥

(१) वे प्रभु **वृषा**=शक्तिशाली हैं। '**चतुर् अश्रिम्**'=ऋग्-यजु-साम-अथर्व रूप चार धाराओंवाले **वृषन्धिम्**=शक्ति का आधान करनेवाले वज्र को **अस्यन्**=शत्रुओं पर फेंकते हुए वे प्रभु **उग्रः**=अत्यन्त तेजस्वी हैं। प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं पर इस ज्ञानरूप वज्र को प्रहृत करते हैं। यह ज्ञानरूप वज्र 'ऋग्-यजु-साम-अथर्व' रूप चार धाराओंवाला है। इससे चारों दिशाओं से आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का विनाश होता है। ये प्रभु **बाहुभ्याम्**=अभ्युदय व निःश्रेयस के लिए किये गये प्रयत्नों द्वारा (वाह प्रयत्ने) **नृतमः**=हमें अत्यन्त आगे ले चलनेवाले हैं। **शचीवान्**=ये शक्ति व प्रज्ञानवाले हैं। हमें शक्ति प्राप्त कराते हैं और हमारे प्रज्ञान को सिद्ध करते हैं। (२) ये प्रभु **श्रिये**=हमारे जीवन की शोभा के लिए **परुष्णीम्**=पञ्चपर्वोंवाली अविद्या को **उषमाणः**=दग्ध करनेवाले हैं। उस परुष्णी को प्रभु दग्ध करते हैं, जो कि **ऊर्णाम्**=हमारे ज्ञान पर परदे के रूप में आ जाती है-हमारे ज्ञान को ढक देती है। उस परुष्णी को प्रभु दग्ध करते हैं, **यस्याः**=जिसके **पर्वाणि**=पर्वों को-जोड़ों को **सख्याय**=जीव की प्रभु के साथ मित्रता की सिद्धि के लिए **विव्ये**=सीं डालते हैं (Sew)। इस प्रकार प्रभु अविद्या को संवृत करके हमारे लिए ज्ञानप्रकाश को विवृत करते हैं। इस ज्ञानप्रकाश को प्राप्त जीव ही प्रभु का मित्र बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे अविद्यापर्वत को विदग्ध करके हमें उन्नतिपथ पर ले चलते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवतमः देवः (देवाधिदेव)

यो देवो देवतमो जायमानो महो वाजेभिर्महद्भिश्च शुष्मैः।
दधानो वज्रं बाह्वोरुशन्तं द्याममेन रेजयत्प्र भूम॥ ३॥

(१) **यः**=जो प्रभु **देवः**=प्रकाशमय हैं, **देवतमः**=सर्वाधिक प्रकाशमय हैं। जो **वाजेभिः**=अपनी गतियों द्वारा **जायमानः**=सर्वत्र प्रादुर्भूत हो रहे हैं-सभी जगह प्रभु की रचना का महत्त्व प्रकट हो रहा है। **च**=और जो प्रभु **महद्भिः शुष्मैः**=महान् बलों से **महः**=महान् व पूज्य हैं। (२) ये प्रभु **बाह्वोः**=भुजाओं में **उशन्तम्**=चमकते हुए **वज्रम्**=वज्र को **दधानः**=धारण किये हुए हैं। ये वज्रधारी प्रभु **अमेन**=बल से **द्याम्**=द्युलोक को तथा **भूम**=इस पृथिवीलोक को **प्र रेजयत्**=अत्यन्त

दीप्त करनेवाले होते हैं। ये सारा द्युलोक तथा पृथ्वीलोक प्रभु की शक्ति से ही शक्ति-सम्पन्न हो रहा है उसी से दीप्त हो रहा है 'तस्य भासा सर्वमिदं बिभाति'।

भावार्थ—प्रभु ही महान् देव हैं। प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड का शासन कर रहे हैं। वे ही सम्पूर्ण लोकों को दीप्त करनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सर्वशासक प्रभु

विश्वा रोधांसि प्रवतश्च पूर्वीर्द्यौर्ऋष्वाज्जनिमन्रेजत क्षाः।
आ मातरा भरति शुष्म्या गोर्नृवत्परिज्मन्नोनुवन्त वाताः॥ ४॥

(१) **विश्वा रोधांसि**=सब उन्नत प्रदेश, अर्थात् पर्वत आदि **च**=तथा **पूर्वीः**=ये अनेक **प्रवतः**=निम्न प्रदेश, अर्थात् समुद्र आदि **द्यौः**=द्युलोक **क्षाः**=यह पृथिवीलोक **ऋष्वात् जनिमन्**=उस महान् प्रभु से प्रादुर्भूत होने पर **रेजत**=दीप्त हो उठते हैं। प्रभु की दीप्ति से ये सब दीप्त हो रहे हैं। क्या पर्वतों में, क्या समुद्र में, क्या द्युलोक में और क्या पृथिवीलोक में सर्वत्र उस प्रभु की महिमा का प्रकाश है। (२) शुष्मी वह बलवान् प्रभु ही **आ गोः**=इस समन्तात् गमनशील सूर्य के **मातरा**=माता पितृभूत इन द्यावापृथिवी को **आभरति**=सब प्रकार से धारित व पोषित करते हैं। **नृवत्**=मनुष्यों की तरह **वाताः**=ये वायुएँ भी उस प्रभु से ही प्रेरित हुई-हुई **परिज्मन्**=अन्तरिक्ष में **नोनुवन्त**=शब्दायमान हो रही हैं। मानो उस प्रभु का ही गायन कर रही हों। प्रभु मनुष्यों को भी प्रेरित कर रहे हैं 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। वायु आदि सब देव भी उस प्रभु से प्रेरित हो रहे हैं। इन सब में प्रभुमहिमा का ही प्रकाश हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु ही सब लोकों को गति दे रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु के महान् कर्म

ता तू ते इन्द्र महतो महानि विश्वेष्वित्सवनेषु प्रवाच्या।
यच्छूर धृष्णो धृषता दधृष्वानहिं वज्रेण शवसाविवेषीः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=सब बल के कर्मों को करनेवाले प्रभो! **महतः**=महान् **ते**=आपके **ता**=वे कर्म **तु**=तो **महानि**=महान् हैं। **इत्**=निश्चय से आपके वे महान् कर्म **विश्वेषु सवनेषु**=सब यज्ञों में **प्रवाच्या**=प्रकर्षेण शंसनीय होते हैं। (२) हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले इन्द्र! **दधृष्वान्**=सब लोकों का धारण करनेवाले आप **धृषता वज्रेण**=इस धर्षण करनेवाले वज्र द्वारा **शवसा**=अपने बल से **अहिम्**=इस आहन्ता वृत्र को इस विनाशक वासना को **अविवेषीः**=(वधकर्मा) समाप्त कर देते हैं। प्रभु की शक्ति से ही वासना का विध्वंस होता है। इस वासना के विध्वंस द्वारा ही प्रभु सब लोकों का धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के कर्म महान् व स्तुत्य हैं। प्रभु ही हमारे धारण के लिए वासना का विध्वंस करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

गौवें व नदियाँ

ता तू ते सत्या तुविनृम्ण विश्वा प्र धेनवः सिस्रते वृष्ण ऊध्नः।
अधा ह त्वद् वृषमणो भियानाः प्र सिन्धवो जवसा चक्रमन्त॥ ६॥

(१) हे **तुविनृम्ण**=अनन्त बलवाले प्रभो! **ते**=आपके **तु**=तो **ता**=वे **विश्वा**=सब कर्म **सत्या**=सत्य हैं। **वृष्णः**=शक्तिशाली आप से **भियानाः**=भयभीत हुई हुई ही **धेनवः**=गायें **ऊध्नः**=अपने ऊधसों से **प्रसिस्रते**=दूध को प्रकर्षेण स्तुत करती हैं। प्रभु की व्यवस्था से ही ये गौवें दूध दे रही हैं। (२) **अथा ह**=और निश्चय से **वृषमणः**=सब काम्य पदार्थों के वर्षणपरक मनवाले **त्वद्**=आप से **भियानाः**=भयभीत होते हुए ही **सिन्धवः**=ये समुद्र **जवसा**=वेग से **प्रचक्रमन्त**=प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। प्रजापालन के हेतु से होनेवाले ये सब कार्य प्रभु के शासन से ही हो रहे हैं। हमारे पीने के लिए गायें दूध दे रही हैं, नदियाँ जलों को प्राप्त करा रही हैं। इन दूध व जलों के सेवन से ही हमें महान् बल प्राप्त होता है-हम भी 'तुविनृम्ण' बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे पान के लिये दूध व जल की व्यवस्था की है। यही हमारी शक्ति के वर्धन का कारण बनती है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्ञाननदी का पुनः प्रवाह

अत्राह ते हरिवस्ता उ देवीरवोभिरिन्द्र स्तवन्त स्वसारः।
यत्सीमनु प्र मुचो बद्बधाना दीर्घामनु प्रसितिं स्यन्दयध्यै॥ ७॥

(१) हमारे जीवन में ज्ञाननदियों का प्रवाह वृत्र (=वासना) से बद्ध हो जाता है। प्रभुकृपा से ही वह वृत्रबन्धन टूटता है और ज्ञाननदियों का प्रवाह फिर से बहने लगता है। इस प्रवाह के चलने पर हम प्रभु का स्तवन करनेवाले बनते हैं। हे **इन्द्र**=वृत्र (वासना) का विनाश करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **सीम्**=निश्चय से **बद्बधानाः**=वासना से बद्ध की जाती हुई इन ज्ञाननदियों को **अनुप्रमुचः**=आप अनुक्रमेण मुक्त करते हैं, **दीर्घां प्रसितिं अनु**=एक लम्बे बन्धन (रोक) के बाद इन्हें फिर **स्यन्दयध्यै**=प्रवाहित करनेवाले होते हैं। **अत्र अह**=इस समय निश्चय से हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले-इन अश्वों को हमें प्राप्त करानेवाले प्रभो! **ताः देवीः**=वे दिव्य ज्ञानजलोंवाली **स्वसारः**=आत्मतत्त्व की ओर ले चलनेवाली (स्व+सृ) ज्ञाननदियाँ **अवोभिः**=रक्षणों के हेतु से **ते उ स्तवन्त**=आपका ही स्तवन कराती हैं। (२) वासना का परदा पड़ जाने पर ज्ञान आवृत हो जाता है-हम प्रभु को भूल जाते हैं। प्रभुकृपा से जब यह आवरण हटता है, तभी ज्ञान का प्रवाह ठीक से फिर बहने लगता है। इस ज्ञानप्रवाह में हमारा जीवन शुद्ध हो जाता है और हम प्रभु का दर्शन करने योग्य बनते हैं। हमारी चित्तवृत्ति संसार के विषयों में न फँसकर फिर से प्रभुप्रवण हो उठती है।

भावार्थ—वासना के बन्धन से बद्ध हो गई ज्ञाननदी को प्रभु ही, वासना-विनाश द्वारा, फिर से प्रवाहित करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

शशमान की शमी-शुशुमान की शक्ति

पिपीळे अंशुर्मद्यो न सिन्धुरा त्वा शमी शशमानस्य शक्तिः।
अस्मद्र्यक्शुशुचानस्य यम्या आशुर्न रश्मिं तुव्योजसं गोः॥ ८॥

(१) हे प्रभो! **अंशुः**=ज्ञान रश्मियों को प्राप्त करानेवाला यह सोम **पिपीडे**=(Cover, wrap) हमारे से शरीर में ही संवृत (सुरक्षित) किया गया है। सोम को हमने शरीर में व्याप्त करने का प्रयत्न किया है। यह शरीर में ही सोम का प्रवाह **मद्यः**=हर्षजनक **सिन्धुः न**=नदी के

प्रवाह के समान है। (२) हे प्रभो! इस प्रकार सोम को शरीर में सुरक्षित करने पर **शशमानस्य**=आपका स्तवन करनेवाले का **शमी**=कर्म तथा **शुशुचानस्य**=अपने को पवित्र करने वाले की **शक्तिः**=शक्ति **त्वा**=आपको **अस्मद्र्यक् आयम्याः**=हमारी ओर बाँधनेवाली हो। सोमरक्षण से मैं सदा आपका स्तवन करता हुआ कर्म करूँ तथा अपने को पवित्र बनाता हुआ शक्तिसम्पन्न बनूँ। ऐसा बनकर ही मैं आपको प्राप्त करनेवाला हो सकूँगा। इस प्रकार मैं आपको अपने में बाँधनेवाला बनूँ, **न**=जैसे कि **आशुः**=एक स्फूर्तिसम्पन्न नियन्ता **गोः**=शीघ्रगामी अश्व के **तुव्योजसम्**=बड़े बलवाली-बहुत दृढ़, **रश्मिम्**=लगाम को संयत करता है। प्रभु का सदा स्मरण बनाये रखने के लिए सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। जरा प्रमत्त हुए और प्रभु से दूर हुए। उसी प्रकार जैसे कि सारथि जरा प्रमत्त हुआ और लगाम की पकड़ ढ़ीली हुई।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। इससे हम ज्ञान प्राप्त करके प्रभुस्मरणपूर्वक कर्म करेंगे तथा पवित्र जीवनवाले होकर शक्तिशाली होंगे। ऐसे बनकर ही हम प्रभुप्राप्ति के पात्र होंगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

वासनाविनाशक बल

अस्मे वर्षिष्ठा कृणुहि ज्येष्ठा नृम्णानि सत्रा सहुरे सहांसि।
अस्मभ्यं वृत्रा सुहनानि रन्धि जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्य॥ ९॥

(१) हे **सहुरे**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **वर्षिष्ठा**=प्रवृद्ध **ज्येष्ठा**=प्रशस्त **सहांसि**=शत्रुओं को कुचलनेवाले **नृम्णानि**=बलों को **सत्रा**=सदा **कृणुहि**=करिए। प्रभु हमें अत्यन्त प्रशस्त बलों को प्राप्त कराएँ, उन बलों को जिनसे कि हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचल सकें। (२) हे प्रभो! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वृत्रा**=इन ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **सुहनानि**=सुगमता से नष्ट करने योग्य रूप में **रन्धि**=(वशं नय) वशीभूत करिए। हम इन वासनाओं को इस प्रकार वश में करें कि वे हमारे से सुगमता से नष्ट की जा सकें। हे प्रभो! आप **वनुषः मर्त्यस्य**=हिंसक मनुष्य के **वधः**=आयुध को **जहि**=नष्ट करिए। हम हिंसक मनुष्य के आयुध का शिकार न हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें वह बल दें, जिससे कि हम वासना को विनष्ट कर सकें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

चित्र वाज=ज्ञानयुक्त बल

अस्माकमित्सु शृणुहि त्वमिन्द्रास्मभ्यं चित्राँ उप माहि वाजान्।
अस्मभ्यं विश्वा इषणः पुरन्धीरस्माकं सु मघवन्बोधि गोदाः॥ १०॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **इत्**=निश्चय से **अस्माकम्**=हमारी प्रार्थना को **सुशृणुहि**=अच्छी प्रकार सुनिए। हम इस योग्य हों कि हमारी प्रार्थना आप से सुनी जाये। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **चित्रान्**=अद्भुत **वाजान्**=बलों को **उपमाहि**=दीजिये। 'चित्रान्' का भाव 'चित्+र'='ज्ञान को देनेवाले' यह भी है। हमारे बल ज्ञान से युक्त हों। (२) आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **विश्वाः**=सब **पुरन्धीः**=पालक व पूरक बुद्धियों को **इषणः**=प्रेरित करिए। हमें वह बुद्धि प्राप्त हो, जो कि हमें पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में लगाये रखे। हे **मघवन्**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप **अस्माकम्**=हमारे **गोदाः**=उत्तम इन्द्रियों व ज्ञान की वाणियों को देनेवाले **सु बोधि**=अच्छी प्रकार (भव) होइये। आपकी कृपा से हमें उत्तम इन्द्रियाँ व ज्ञान

की वाणियाँ प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान व शक्ति दें, उत्तम बुद्धि दें-उत्तम इन्द्रियाँ व ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ज्ञानरूप वज्र

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

मन्त्र की व्याख्या १९.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु हमें ज्ञानरूप चार धाराओंवाला वज्र प्राप्त कराते हैं। यह वज्र चतुर्दिक् आक्रमणों से हमारा रक्षण करता है। अगले सूक्त में भी ज्ञानधन की प्राप्ति का उल्लेख है—

[२३] त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पवित्र-अन्न, पवित्र धन

कथा महामवृधत्कस्य होतुर्यज्ञं जुषाणो अभि सोममूधः।
पिबन्नुशानो जुषमाणो अन्धो ववक्ष ऋष्वः शुचते धनाय ॥ १ ॥

(१) **कस्य होतुः**=किस होता के **यज्ञं जुषाणः**=यज्ञ से प्रीणित होते हुए **कथा**=किस अद्भुत प्रकार से **महाम्**=(मह पूजायाम्) इस पूजा की वृत्तिवाले होता को **अवृधत्**=वे प्रभु बढ़ाते हैं। यह उपासक **सोममभि**=सोमशक्ति का लक्ष्य करके-शरीर में सोमोत्पादन के निमित्त **ऊधः**=गौ के ऊधस् से प्राप्य दूध को **पिबन्**=पीता है और **उशानः**=चाहता हुआ **अन्धः**=सोम्य अन्न का **जुषमाणः**=सेवन करता है। यहाँ दूध के स्थान पर ऊधस् शब्द का प्रयोग इस बात का संकेत करता है कि यह ताजा ही दूध-धारोष्ण दूध पीता है तथा 'उशानः' शब्द का प्रयोग इस बात का संकेत कर रहा है कि भोजन को यह प्रसन्नतापूर्वक ही खाता है। इससे इसके अन्दर उत्तम सोम आदि धातुओं का निर्माण होता है। प्रभु इस दूध व उत्तम अन्न द्वारा ही इस उपासक का वर्धन करते हैं। (२) **ऋष्वः**=वे महान् प्रभु इस उपासक को **शुचते**=पवित्र मार्गों से कमाये जानेवाले **धनाय**=धन के लिए ही **ववक्षे**=(वहति=प्रापयति) ले चलते हैं। इस पवित्र धन द्वारा इसका जीवन पवित्र ही बनता है। जीवन में अवनति का कारण अपवित्र आहार व अपवित्र धन ही होता है। आहार व धन की पवित्रता उसके उत्त्थान का साधन बनती है। यह व्यक्ति यज्ञ आदि उत्तम कर्मों से प्रभु को प्रीणित करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम धारोष्ण दूध का प्रयोग करें और सात्त्विक अन्न का प्रसन्नतापूर्वक सेवन करें। पवित्र साधनों से धनार्जन करते हुए यज्ञादि उत्तम कर्म करें। यही प्रभु की प्राप्ति करने का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमति की प्राप्ति

को अस्य वीरः सधमादमाप समानंश सुमतिभिः को अस्य।
कदस्य चित्रं चिकिते कदूती वृधे भुवच्छशमानस्य यज्योः ॥ २ ॥

(१) **कः**=कोई एक **वीरः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाशक व्यक्ति ही **अस्य**=इस प्रभु के **सधमादम्**=सम्पर्क के आनन्द को **आप**=प्राप्त होता है। प्रभुप्राप्ति का आनन्द वीरपुरुष ही प्राप्त करता है। (२) **कः**=कोई वीर ही **अस्य**=इस प्रभु की **सुमतिभिः**=कल्याणी मतियों से **समानंश**=(संगच्छते सा०) संगत होता है। उस प्रभु की उपासना करता हुआ उस अन्तःस्थित प्रभुप्रेरणा को सुनता हुआ विरल पुरुष ही सद्बुद्धिवाला बनता है। (३) **कत्**=कभी ही **अस्य**=इस प्रभु का **चित्रम्**=वह अद्भुत ज्ञानैश्वर्य **चिकिते**=जाना जाता है। **कद्**=कभी ही **ऊती**=वे प्रभु रक्षण द्वारा **शशमानस्य**=स्तवन करनेवाले **यज्योः**=यज्ञशील पुरुष की **वृधे भुवत्**=वृद्धि के लिए होते हैं। प्रभु ज्ञान देकर ही हमारा रक्षण करते हैं। इस को प्राप्त करने के लिए हमें ध्यान द्वारा प्रभु के सम्पर्क को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—हम वीर बनें। ध्यान द्वारा प्रभु के सम्पर्क के आनन्द का अनुभव करें। हमें प्रभु से कल्याणी मति व ज्ञान प्राप्त होगा। यह ज्ञान हमारा रक्षक होगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभु के अद्भुत दान व रक्षण

कथा शृणोति हूयमानमिन्द्रः कथा शृण्वन्नवसामस्य वेद।
का अस्य पूर्वीरुपमातयो ह कथैनमाहुः पपुरिं जरित्रे॥ ३॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **हूयमानम्**=(आह्वयमानम्) प्रार्थना करते हुए को **कथा**=किस अद्भुत प्रकार से **शृणोति**=सुनता है। उपासक की प्रार्थनाओं को पूर्ण करने का प्रभु का प्रकार अद्भुत ही है। **कथा**=किस प्रकार **शृण्वन्**=इसकी प्रार्थना को सुनता हुआ **अस्य**=इस उपासक के **अवसाम्**=रक्षणों को **वेद**=जानता है, प्रभु के रक्षण का प्रकार भी अद्भुत ही होता है। (२) **काः**=क्या ही अद्भुत **ह**=निश्चय से **अस्य**=इस परमात्मा के **पूर्वीः**=पालन व पूरण करनेवाले **उपमातयः**=दान हैं। **कथा**=किस प्रकार **एनम्**=इस परमात्मा को **जरित्रे**=स्तोता के लिए **पपुरि**=पालन व पूरण करनेवाला **आहुः**=कहते हैं?

भावार्थ—प्रभु आराधक की प्रार्थना को सुनते हैं। उसका रक्षण करते हैं। उस प्रभु के दान अद्भुत हैं। स्तोता के प्रभु पालक होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

द्रविण की प्राप्ति

कथा सबाधः शशमानो अस्य नशदभि द्रविणं दीध्यानः।
देवो भुवन्नवेदा म ऋतानां नमो जगृभ्वाँ अभि यज्जुजोषत्॥ ४॥

(१) **सबाधः**=(स-बाध) काम-क्रोध आदि शत्रुओं का बाधन करनेवाला, **शशमानः**=प्रभु का शंसन करनेवाला **दीध्यानः**=ज्ञान से दीप्त होनेवाला व्यक्ति **कथा**=किस अद्भुत प्रकार से **अस्य**=इस प्रभु के **द्रविणम्**=धन को **अभिनशत्**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है। (२) **देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **मे**=मेरे लिए **ऋतानाम्**=ऋतों के-यज्ञों के व ठीक मार्ग के **नवेदाः**=('न' अतिशादवाश्वी सा०) अतिशयेन ज्ञापक **भुवत्**=होते हैं। उस समय ज्ञापक होते हैं, **यत्**=जब कि वे हमारे **नमः**=नमन को (नमस्कार को) **जगृभ्वान्**=ग्रहण करनेवाले वे प्रभु **अभि जुजोषत्**=हमारे प्रति प्रीति वाले होते हैं। अतिशयेन प्रसन्न हुए-हुए वे प्रभु हमारे लिए ऋत का ज्ञान देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का शंसन करते हुए प्रभु के धन को प्राप्त करते हैं। हम प्रभु के प्रति नमनवाले होते हैं, प्रभु हमारे लिए ऋत का ज्ञान देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु की मित्रता में काम की पवित्रता

कथा कदस्या उषसो व्युष्टौ देवो मर्तस्य सख्यं जुजोष।

कथा कदस्य सख्यं सखिभ्यो ये अस्मिन्कामं सुयुजं ततस्रे ॥ ५ ॥

(१) **कथा**=किस अद्भुत प्रकार से **कत्**=कब **अस्याः उषसः व्युष्टौ**=इस उषा के उदय होते ही-उषा के निकलते ही **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **मर्तस्य**=मनुष्य की **सख्यं जुजोष**=मित्रता को प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं? **कथा**=किस प्रकार **कत्**=कब **सखिभ्यः**=हम मित्रों के लिए **अस्य सख्यम्**=इसकी मित्रता होती है? (२) **ये**=जो हम लोग **अस्मिन्**=इस प्रभु में **सुयुजम्**=सदा उत्तम कर्मों में लगनेवाली **कामम्**=इच्छा को **ततस्रे**=विस्तृत करते हैं (वितेनिरे सा०) जब हम प्रभु की मित्रता को प्राप्त करते हैं, तो हमारे अन्दर सदा 'धर्माविरुद्ध काम' का विस्तार होता है। धर्म के प्रतिकूल सब कामनाएँ विनष्ट हो जाती हैं।

भावार्थ—उषा का उदय होते ही हम प्रभु का स्मरण करें। इससे हमारी इच्छाएँ पवित्र बनेंगी।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु की मित्रता में

किमादमत्रं सख्यं सखिभ्यः कदा नु ते भ्रात्रं प्र ब्रवाम।

श्रिये सुदृशो वपुरस्य सर्गाः स्वर्ण चित्रतममिष आ गोः ॥ ६ ॥

(१) **किं आत्**=क्या ही **सखिभ्यः**=हम मित्रों के लिए **सख्यम्**=आपकी मित्रता **अमत्रम्**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाली होती है (शत्रूनभिभावुकम् सा०)। **कदा नु**=कब निश्चय से **ते**=आपके **भ्रात्रम्**=भ्रातृत्व को **प्रब्रवाम**=हम कह सकेंगे? (२) **अस्य सुदृशः**=इस उत्तम दर्शनीय प्रभु के **सर्गाः**=उद्योग **श्रिये**=हमारी शोभा की वृद्धि के लिए होते हैं। इस **गोः**=सदा गतिशील प्रभु का **स्वः न**=सूर्य के समान **चित्रतमः**=अत्यन्त अद्भुत दीप्तिवाला **वपुः**=शरीर **आ इमे**=समन्तात्, सब से चाहने योग्य होता है। हम जितना-जितना प्रभु की प्रेरणा में चलेंगे, उतना-उतना ही अधिक और अधिक शोभावाले बन पाएँगे। हम अपने इस शरीर को प्रभु का शरीर बनाएँ। ऐसा करने से यह सूर्य के समान दीप्तिवाला बनेगा। हृदय में प्रभु को आसीन करते ही यह शरीर प्रभु का शरीर बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाले होंगे। हमारा शरीर सूर्य के समान दीप्तिवाला बनेगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

द्रोहवृत्ति का विनाश

द्रुहं जिघांसन्ध्वरसमनिन्द्रां तेतिक्ते तिग्मा तुजसे अनीका।

ऋणा चिद्यत्र ऋणया न उग्रो दूरे अज्ञाता उषसो बबाधे ॥ ७ ॥

(१) **ध्वरसम्**=हिंसिका **अनिन्द्राम्**=इन्द्र (प्रभु) के स्मरण से रहित **द्रुहम्**=द्रोहवृत्ति को **जिघांसन्**=नष्ट करना चाहता हुआ उपासक **तुजसे**=इस द्रोहवृत्ति के विनाश के लिए **तिग्मा**

अनीका=अपने पहले से तीव्र आयुधों को **तेतिक्ते**=अत्यन्त तीव्र करता है। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि ही आयुध हैं। इनको तीव्र बनाने से हम अशुभ वृत्तियों का विध्वंस कर पाते हैं। इन द्रोह आदि वृत्तियों के प्रबल होने पर हम प्रभुस्मरण से दूर हो जाते हैं। ये वृत्तियाँ 'अनिन्द्रा' हैं। (२) **यत्र**=जिन उषाओं में **ऋणा चित्**=निश्चय से ऋण होते हैं-जिन उषाओं में हम ऋणों के बोझ से दबे होते हैं, **ऋणया:**=ऋण का नष्ट करनेवाला (यातिर्वधकर्मा सा०) **उग्र:**=वह तेजस्वी प्रभु **न:**=हमारी **उषस:**=उन उषाओं को **अज्ञाता:**=हमारे से अननुभूत रूप में ही **दूरे बबाधे**=सुदूर रोक देते हैं। हम ऋण के बोझवाली उषाओं का अनुभव करनेवाले नहीं होते, अर्थात् हम सब ऋणों को (पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण, देव-ऋण व मानव-ऋण) उतारनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण हमें इस योग्य बनाता है कि हम द्रोह की वृत्ति से ऊपर उठते हैं और अपने सब ऋणों को उतारनेवाले बनते हैं।

ऋषि:—वामदेव:॥ देवता—इन्द्र ऋतदेवो वा॥ छन्द:—त्रिष्टुप्॥ स्वर:—धैवत:॥

बोध व पवित्रता देनेवाला वेदज्ञान

ऋतस्य हि शुरुध: सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधान: शुचमान आयो:॥ ८॥

(१) **ऋतस्य**=सत्य वेदज्ञान की **पूर्वी:**=पालन व पूरण करनेवाली सनातन वाणियाँ **हि**=निश्चय से **शुरुध:**=(शुग् रुध:) हमारे सब शोकों को दूर करनेवाली **सन्ति**=हैं। हमारे जीवनों को उत्तम बनाकर ये हमारे शोकों को दूर करती हैं। **ऋतस्य धीति:**=सत्य वेदज्ञान का धारण **वृजिनानि**=हमारे सब पापों को **हन्ति**=नष्ट करता है। यह ज्ञान हमें पवित्र बनाता है। (२) **ऋतस्य श्लोक:**=इस सत्य वेदज्ञान की स्तुतिरूप वाणी **बधिरा कर्णा**=बहिरे कानों को भी **ततर्द**=छेद डालती है-यह सब पर उत्तम प्रभाव पैदा करती है। यह **आयो:**=मनुष्य का **बुधान:**=ज्ञान बढ़ानेवाली व **शुचमान:**=उसे शुचि जीवनवाला बनानेवाली है।

भावार्थ—सत्य वेदज्ञान सृष्टि के आरम्भ में दिया गया है। यह हमारे जीवन को बोधमय व पवित्र बनाता है।

ऋषि:—वामदेव:॥ देवता—इन्द्र ऋतदेवो वा॥ छन्द:—त्रिष्टुप्॥ स्वर:—धैवत:॥

वेदज्ञान का जीवन पर यह पूर्ण प्रभाव

ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशु:॥ ९॥

(१) **ऋतस्य**=सत्य वेदज्ञान के **धरुणानि**=धारण **दृढा सन्ति**=बहुत दृढ़ हैं। वेदज्ञान से हमारा दृढ़ धारण होता है। इस वेदज्ञान द्वारा हम वासनाओं से अपने को बचा पाते हैं। ये वेदज्ञान के धरुण **पुरूणि**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। **चन्द्रा**=ये धरुण हमारे लिए आह्लादजनक होते हैं। **वपुषे**=(वप् to sow) अपने अन्दर इस सत्य वेदज्ञान के बीज को बोनेवाले के लिए ये वपूंषि (वप् to beget) सब अच्छाइयों को जन्म देनेवाले हैं। (२) **ऋतेन**=इस सत्य वेदज्ञान द्वारा **दीर्घं पृक्ष:**=सब अन्धकार का विदारण करनेवाले (पृच् संपर्के) प्रभु-सम्पर्क को **इषणन्त**=चाहते हैं। वेदज्ञान से प्रभु-सम्पर्क प्राप्त होता है, जो प्रभु-सम्पर्क सब अन्धकार का विदारण करनेवाला होता है। **ऋतेन**=इस सत्य वेदज्ञान से **गाव:**=इन्द्रियाँ **ऋतम्**=उस सत्यस्वरूप प्रभु में **आविवेशु:**=प्रवेश करती हैं। इन्द्रियाँ विषय-प्रवणता को छोड़कर प्रभु-चर्चा व ध्यान में लगती हैं।

भावार्थ—वेदज्ञान हमारा धारण करता है-हमारे में उत्तमताओं को विकसित करता है। इस वेदज्ञान से इन्द्रियाँ प्रभु में प्रवेश करती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र ऋतदेवो वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वेदज्ञान द्वारा प्रभु का संभजन

ऋतं येमान ऋतमिद्वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते॥ १०॥

(१) **ऋतं येमानः**=सत्य वेदज्ञान को अपने अन्दर धारण करता हुआ (नियच्छन्) **इत्**=निश्चय से **ऋतम्**=उस सत्यस्वरूप प्रभु को **वनोति**=भजता है। इस **ऋतस्य**=सत्यस्वरूप प्रभु का **शुष्मः**=शत्रुशोषक बल **उ**=निश्चय से **तुरया**=शीघ्र ही **गव्युः**=हमारे साथ प्रशस्त इन्द्रियों को जोड़नेवाला है। वेदज्ञान से हम प्रभु का सम्पर्क प्राप्त करते हैं। प्रभुसम्पर्क से प्राप्त शक्ति हमारी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाती है। (२) **ऋताय**=इस सत्य वेदज्ञान के लिए **पृथ्वी**=द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **बहुले**=बहुत उत्तम वसुओं को लानेवाले तथा **गभीरे**=गम्भीर ज्ञानवाले होते हैं। सत्य वेदज्ञान का शरीर पर यह परिणाम होता है कि यह सब वसुओं से परिपूर्ण होता है तथा मस्तिष्क गम्भीर ज्ञानवाला बनता है। **ऋताय**=सत्य वेदज्ञान के लिए ही **धेनू**=ज्ञान व शक्ति से प्रीणित करनेवाले **परमे**=उत्कृष्ट द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **दुहाते**=प्रपूरण करनेवाले होते हैं। वेदज्ञान को अपनाने से मस्तिष्क व शरीर ज्ञान व शक्ति से परिपूर्ण होकर हमारा प्रीणन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—वेदज्ञान हमें प्रभु को प्राप्त कराता है। इससे मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण होता है, तो शरीर शक्ति से।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तुतः गृणानः

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ ११॥

मन्त्र की व्याख्या २२.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का भाव यही है कि वेदज्ञान हमारे जीवन को सुन्दर बनाता है। 'स्तुति किये प्रभु सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं' इस भाव से अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

[२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्रियों के रक्षक प्रभु

का सुष्टुतिः शवसः सूनुमिन्द्रमर्वाचीनं राधस आ ववर्तत्।
ददिर्हि वीरो गृणते वसूनि स गोपतिर्निष्षिधां नो जनासः॥ १॥

(१) **का**=क्या अद्भुत **सुष्टुतिः**=यह उत्तम स्तुति है, जो कि **शवसः सूनुम्**=बल के पुत्र-बल के पुतले-बल के पुञ्ज सर्वशक्तिमान् उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अर्वाचीनम्**=हमारे अभिमुख **राधसे**=सम्पत्ति के लिए **आववर्तत्**=आवृत्त करती है। हम प्रभु का स्तवन करते हैं-स्तुति द्वारा प्रभु को अपने अभिमुख करते हैं, अभिमुखीभूत प्रभु हमारे लिए कार्यसाधक धनों को प्राप्त कराते हैं। (२) **वीरः**=सब शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले प्रभु **गृणते**=स्तोता के

लिए हि=निश्चयपूर्वक **वसूनि ददिः**=वसुओं को देते हैं। सब धनों को प्राप्त करानेवाले प्रभु हैं। (३) हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे में से **निष्षिधाम्**=वासनाओं के निषेध करनेवालों के **गोपतिः**=इन्द्रियों के रक्षक हैं। प्रभुस्मरण द्वारा हम वासनाओं का निषेध करते हैं। ऐसा करने पर प्रभु हमारी इन्द्रियों का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—स्तुति द्वारा प्रभु को हम अपने अभिमुख करें। वे प्रभु हमें आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। हमारी इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। प्रभुस्मरण से इन्द्रियवृत्तियाँ ठीक बनी रहती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ब्रह्मण्यते-सुष्वये

स वृ॒त्रह॒त्ये॒ हव्यः॒ स ईड्यः॒ स सुष्टु॑त इन्द्रः॒ स॒त्यरा॑धाः।
स याम॒न्ना म॒घवा॒ मर्त्या॑य ब्रह्मण्य॒ते सुष्व॑ये॒ वरि॑वो धात्॥ २॥

(१) **सः**=वे प्रभु **वृत्रहत्ये**=वासनारूप वृत्र के विनाश के निमित्त **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं। **सः**=वे प्रभु ही **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं। **सुष्टुतः**=उत्तम स्तुति किये गये **सः**=वे **इन्द्रः**=प्रभु **सत्यराधाः**=सत्य धनवाले हैं-वास्तविक ऐश्वर्यवाले हैं। (२) **सः**=वे **मघवा**=परमैश्वर्यवाले प्रभु **यामन्**=जीवनयात्रा में उस **मर्त्याय**=मनुष्य के लिए **वरिवः**=धन को **आधात्**=धारण करते हैं, जो कि **ब्रह्मण्यते**=ज्ञानवाणियों की कामनावाला होता है और **सुष्वये**=सोम का सम्पादन करता है-सोम को अपने अन्दर उत्पन्न करता है। इस सोमरक्षण द्वारा ही वस्तुतः वह अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त कर पाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करते हैं-प्रभु हमारी वासना का विनाश करते हैं। प्रभु ही जीवनयात्रा की पूर्ति के लिए सत्यधन को प्राप्त कराते हैं। हम ज्ञानप्राप्ति की कामनावाले बनें और सोम का सम्पादन करें-प्रभु हमारे लिए धन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

परस्पर त्याग से उत्तम सन्तान की प्राप्ति

तमिन्नरो॒ वि ह्व॑यन्ते स॒मीके रि॑रि॒क्वांस॑स्त॒न्वः कृण्वत॒ त्राम्।
मि॒थो यत्त्या॒गमु॒भया॑सो॒ अग्म॒न्नर॑स्तो॒कस्य॒ तन॑यस्य सा॒तौ॥ ३॥

(१) **नरः**=युद्ध में शत्रु के प्रति आगे बढ़नेवाले लोग **समीके**=संग्राम में **तं इत्**=उस प्रभु को ही **विह्वयन्ते**=विशेषरूप से पुकारते हैं। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर ही वे विजयी बनते हैं। (२) **रिरिक्वांसः**=तप द्वारा सब मलों का विरेचन करनेवाले पुरुष प्रभु को ही **तन्वः**=शरीर का **त्राम्**=रक्षक **कृण्वत**=करते हैं। प्रभुस्मरण के साथ जीवन को तपस्वी बनाते हुए हम प्रभु को ही अपना शरीर-रक्षक बनाते हैं। (२) एक घर में **यत्**=जब **उभयासः नरः**=दोनों लोग, अर्थात् पति-पत्नी **मिथः**=परस्पर **त्यागं अग्मन्**=त्याग को प्राप्त होते हैं, जब 'पति' पत्नी के लिए तथा 'पत्नी' पति के लिए अधिक से अधिक त्याग करने को तैयार होता है तो वे **तोकस्य**=पुत्रों के तथा **तनयस्य**=पौत्रों के **सातौ**=लाभ को प्राप्त करते हैं। इनके उत्तम सन्तान होते हैं।

भावार्थ—जीवनसंग्राम में प्रभुस्मरण द्वारा प्रभु को अपना रक्षक बनाएँ। परस्पर त्यागवृत्ति से चलते हुए हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुस्मरण व वासनासंग्राम में विजय

क्रतूयन्ति क्षितयो योग उग्राशुषाणासो मिथो अर्णसातौ।
सं यद्विशोऽववृत्रन्त युध्मा आदिन्नेम इन्द्रयन्ते अभीके ॥ ४ ॥

(१) हे उग्र=तेजस्विन् प्रभो! **आशुषाणासः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले **क्षितयः**=मनुष्य **योगे**=आपकी प्राप्ति के निमित्त **क्रतूयन्ति**=यज्ञादि कर्मों की कामनावाले होते हैं। **मिथः**=परस्पर **अर्णसातौ**=ज्ञानजल की प्राप्ति के निमित्त भी ये **क्रतूयन्ति**=यज्ञादि कर्मों की कामना करते हैं। (२) **यद्**=जब **विशः**=प्रजाएँ **सं अववृत्रन्त**=शत्रुओं से समन्तात् घिर जाती हैं तो **युध्माः**=उन वासनारूप शत्रुओं से युद्ध करनेवाले ये **नेमे**=कई सौभाग्यशाली लोग **आत् इत्**=शीघ्र ही **अभीके**=संग्राम में **इन्द्रयन्ते**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की कामनावाले होते हैं। प्रभु द्वारा ही तो वे संग्रामों में विजयी होते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के निमित्त तथा ज्ञानप्राप्ति के निमित्त यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होना आवश्यक है। वासनासंग्राम में प्रभुस्मरण ही हमें विजयी बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उपासना से सम्पर्क तक

आदिद्ध नेम इन्द्रियं यजन्त आदित्पक्तिः पुरोळाशं रिरिच्यात्।
आदित्सोमो वि पपृच्यादसुष्वीनादिज्जुजोष वृषभं यजध्यै ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार जब वासनाओं के साथ संग्राम प्रारम्भ होता है **आत् इत् इ**=तभी निश्चय से **नेमे**=कई सौभाग्यशाली लोग **इन्द्रियं यजन्ते**=उस शक्ति के पुञ्ज (इन्द्रियं वीर्यं बलम्) प्रभु का उपासन करते हैं। **आत् इत्**=तभी **पक्तिः**=अपना ठीक परिपाक करनेवाला यह साधक **पुरोडाशम्**=(मस्तिष्को वै पुरोडाशः तै० ३।२८।७) मस्तिष्क को **रिरिच्यात्**=सब अशुभ विचारों से रिक्त करके पवित्र करता है। प्रभु की उपासना के समान जीवन को पवित्र करनेवाली अन्य वस्तु नहीं है। (२) **आत् इत्**=अब मस्तिष्क के पवित्र होने पर यह **सोमः**=सौम्य स्वभाव का पुरुष **असुष्वीन्**=यज्ञ आदि न करने की भावनाओं को **विपपृच्यात्**=अपने से पृथक् करता है। **आत् इत्**=इन अयज्ञिय भावनाओं को दूर करने के बाद यह **वृषभं यजध्यै**=उस शक्तिशाली प्रभु का यजन करने के लिए **जुजोष**=प्रीतिवाला होता है। उस प्रभु के साथ सम्पर्क को प्राप्त करता है।

भावार्थ—कुछ ही लोग शक्तिशाली प्रभु का उपासन करते हैं। वे मस्तिष्क को कुविचारों से शून्य कर पाते हैं। अयज्ञिय भावों को अपने से पृथक् करते हैं और उस शक्तिशाली प्रभु का सम्पर्क प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुप्राप्ति के सोम का सवन

कृणोत्यस्मै वरिवो य इत्थेन्द्राय सोममुशते सुनोति।
सध्रीचीनेन मनसाविवेनन् तमित्सखायं कृणुते समत्सु ॥ ६ ॥

(१) **यः**=जो **अस्मै इन्द्राय**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **इत्था**=सचमुच **वरिवः**=पूजा

को **कृणोति**=करता है। वह **उशते**=सदा हमारे हित की कामनावाले प्रभु के लिए **सोमम्**=सोम को **सुनोति**=अपने अन्दर उत्पन्न करता है—इस सोम (वीर्य) के रक्षण से ही तो ज्ञानदीप्ति होकर प्रभु की प्राप्ति होती है। (२) यह **सध्रीचीनेन मनसा (सह अञ्चति)**=प्रभु के साथ विचरनेवाले मन से **अविवेनन्**=हमारे हित की कामना से कभी पृथक् न होनेवाले **तं इत्**=उस प्रभु को ही **समत्सु**=इन जीवन संग्रामों में **सखायम्**=मित्र **कृणुते**=करता है। इस प्रभु की मित्रता द्वारा ही तो सब संग्रामों में विजय प्राप्त होती है। हम अपने मन को प्राणायाम आदि द्वारा विषयों से विनिवृत्त करके प्रभु के साथ मिलाएँगे तभी इस प्रभु की मित्रता को पा सकेंगे। समीचीन मन ही हमें प्रभु का सम्पर्क प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना करें। उसकी प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करें। विषयव्यावृत्त मन द्वारा प्रभु को मित्र बनाकर वासनासंग्राम में विजयी बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शत्रुशोषक बल की प्राप्ति

य इन्द्राय सुनवत्सोममद्य पचात्पक्तीरुत भृज्जाति धानाः।
प्रति मनायोरुचथानि हर्यन्तस्मिन्दधद् वृषणं शुष्ममिन्द्रः॥ ७॥

(१) **यः**=जो **इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **अद्य**=आज **सोमं सुनवत्**=सोम का सवन करता है-इस सोम से ज्ञानाग्नि को दीप्त करके प्रभु का दर्शन करता है। **पक्तीः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों से होनेवाले पाँच ज्ञान के ओदनों को **पचात्**=पकाता है (पञ्चौदनः पञ्चधा विक्रमताम्)। **उत**=और इन ज्ञानौदनों के परिपाक के साथ **धानाः**=धारणशक्तियों को **भृज्जातिः**=परिपक्व करता है। (२) इस **मनायोः**=विचारशील पुरुष के (मन्, इ)-विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाले के **उचथानि**=स्तोत्रों को **प्रतिहर्यन्**=चाहता हुआ व प्राप्त होता हुआ **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **तस्मिन्**=उस उपासक में **वृषणम्**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **शुष्मम्**=शत्रुशोषक बल को **दधत्**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए हम (क) सोम का सवन करें, (ख) ज्ञानौदनों का परिपाक करें और (ग) धारणात्मक कर्मों को करनेवाले हों। प्रभु हमें शत्रुशोषक बल प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

दीर्घ संग्राम

यदा समर्यं व्यचेदृघावा दीर्घं यदाजिमभ्यख्यदर्यः।
अचिक्रदद् वृषणं पत्न्यच्छा दुरोण आ निशितं सोमसुद्भिः॥ ८॥

(१) **यदा**=जब **ऋघावा**=शत्रुओं का हिंसक पुरुष **समर्यम्**=(सह मर्तव्यं शत्रुम्) जिसके साथ हमारी मृत्यु का हो जाना सम्भव है, उस 'काम-क्रोध' रूप शत्रु को **व्यचेत्**=(व्यज्ञासीत्) जान लेता है। **यद्**=जब **अर्यः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **दीर्घं आजिम्**=इस लम्बे संग्राम को **अभि आख्यत्**=देख लेता है-जब वह यह देख लेता है कि यह जीवन तो एक दीर्घ संग्राम है। तब वह उस **वृषणम्**=शक्तिशाली प्रभु को **अचिक्रदत्**=पुकारता है। प्रभु की सहायता के बिना इस लम्बे जीवनसंग्राम में जीतना सम्भव नहीं है। (२) यह 'अर्य' उसी प्रकार प्रभु को पुकारता है जैसे **दुरोणे**=गृह में **पत्नी**=पत्नी **वृषणं अच्छा**=शक्तिशाली पति को लक्ष्य करके पुकारती है। यह 'अर्य' उस प्रभु को पुकारता है, जो कि **सोमसुद्भिः**=अपने अन्दर सोम का सवन करनेवालों

से **आनिशितम्**=तीक्ष्ण किया जाता है, अर्थात् अपने अन्दर सोमरक्षण करने द्वारा हम प्रभु का प्रकाश देख पाते हैं। इन प्रभु को हम शत्रुओं के साथ संग्राम में पुकारते हैं। इन्हीं की सहायता से हम संग्राम में विजयी होते हैं।

भावार्थ—हम संग्राम में प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु की सहायता से ही हम संग्राम में विजयी होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अविक्रीत

भूयसा वस्नमचरत्कनीयोऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्।
स भूयसा कनीयो नारिरेचीद्दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम्॥ ९॥

(१) गतमन्त्र में जीवन को एक दीर्घ संग्राम के रूप में चित्रित किया था। एक मार्ग विषय-प्रवृत्ति का है, दूसरा विषयों से निवृत्ति का। विषयों का सुख क्षणिक होता है और उसके लिए बहुत अधिक मूल्य देना पड़ जाता है। मन्त्र में कहते हैं कि **भूयसा**=बहुत अधिक हानि से-बहुत अधिक अपने द्रव्य को देकर **कनीयः वस्नमचरत्**=अत्यल्प मूल्य को पाता है। स्वास्थ्य व शक्ति को विनष्ट करके क्षणिक सुख को लेना ऐसा ही तो है। **पुनः**=फिर, इसके विपरीत **अविक्रीतः**=(न विक्रीतं येन) 'जिसने विषयों के लिए अपने को नहीं बेचा' ऐसा मैं **यन्**=मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ **अकानिषम्**=(कन् दीसौ) चमक उठता हूँ। प्रभु के समीप पहुँचता हुआ अधिकाधिक तेजस्वी होता जाता हूँ। (२) **सः**=वह उपर्युक्त प्रकार से सोचनेवाला व्यक्ति **भूयसा**=बहुत अधिक द्रव्य देकर **कनीयः**=अत्यल्प मूल्य को **न अरिरेचीत्**=नहीं प्राप्त करता (न लभते सा०), अर्थात् यह वैषयिक सुख के लिए वीर्य को विनष्ट नहीं करता। ये **दीनाः**=हृदय में नम्रता को धारण करनेवाले (humble, meek) **दक्षाः**=कार्यकुशल पुरुष **प्रवाणम्**=प्रभु से दी गई इस प्रकृष्ट वेदवाणी को **विदुहन्ति**=विशेषरूप से दोहते हैं। दीन शब्द लोक में 'दुःखी' इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेद में 'दी' का अर्थ to shine=चमकना अथवा to appear good=अच्छा प्रतीत होना है। इस प्रकार 'दीन' शब्द ज्ञान से दीस होनेवाला अथवा नम्रता से उत्तम प्रतीत होनेवाला है। ये व्यक्ति वीर्य को विनष्ट करके वैषयिक सुख की ओर नहीं झुकते।

भावार्थ—हम अपने को विषय सुख के लिए न बेच डालें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

दस धेनुओं से इन्द्र का क्रयण

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः। यदा वृत्राणि जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत्॥ १०॥

(१) **कः**=कौन **दशभिः धेनुभिः**=(धेनु=gift, Present) दस इन्द्रियों के दस विषयरूप भेंटों से **इमं मम इन्द्रम्**=इस मेरे परमैश्वर्यशाली प्रभु को **क्रीणाति**=खरीदता है, अर्थात् न जाने यह मुझे विषयों की ओर प्रेरित करनेवाला 'काम' मुझे दस विषयों की भेंटें देकर किस प्रकार प्रभु का विस्मरण करा देता है। (२) **यदा**=जब कभी **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत इन वासनाओं को **जङ्घनत्**=नष्ट करता है, तो **अथ**=उस समय **एनम्**=इस प्रभु को **मे**=मेरे लिए **पुनः**=फिर **ददत्**=देता है। जब कभी वासना का विनाश होता है, तब ही प्रभु का स्मरण होता है। तभी वास्तविक शान्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—दस विषय हमें प्रभु का विस्मरण करा देते हैं। वासना का विनाश होने पर प्रभु

का स्मरण होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्तोता के लिए प्रेरणा

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणान इषं जरित्रे नद्यो३ न पीपेः।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः ॥ ११ ॥

मन्त्र की व्याख्या २३.११ पर द्रष्टव्य है।

सूक्त का विषय यही है कि प्रभु ही हमारी इन्द्रियों का रक्षण करते हैं। इसलिए प्रभु की मित्रता ही चाहने योग्य है—

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

नर्यः देवकामः

को अद्य नर्यो देवकाम उशन्निन्द्रस्य सख्यं जुजोष।
को वा महेऽवसे पार्याय समिद्धे अग्नौ सुतसोम ईट्टे ॥ १ ॥

(१) **कः**=कोई विरल व्यक्ति ही **अद्य**=आज **नर्यः**=नरहितकारी कर्मों में लगा हुआ **देवकामः**=दिव्यगुणों की कामनावाला व देव (प्रभु)-प्राप्ति की कामनावाला **उशन्**=चाहता हुआ, अर्थात् इच्छापूर्वक **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **सख्यम्**=मित्रता को **जुजोष**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। कोई विरल व्यक्ति ही प्रभु की ओर झुकता है। (२) **कः वा**=या कौन **सुतसोमः**=सोम का सम्पादन करनेवाला **अग्नौ समिद्धे**=ज्ञानाग्नि के समिद्ध होने पर **महे**=महान् **पार्याय**=भवसागर को पार करने में उत्तम **अवसे**=रक्षण के लिये **ईट्टे**=प्रभु का उपासन करता है। प्रभु के उपासन का प्रकार यही है कि, (क) हम शरीर में सोम का रक्षण करें, (ख) इससे ज्ञानाग्नि समिद्ध होगी, (ग) हम विषयों में न फँसेंगे। इस प्रकार हम प्रभु का वास्तविक पूजन कर रहे होंगे।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम नरहितकारी कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। विषयों में न फँसकर भवसागर से पार हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

युज्य-सखा-भाव

को नानाम वचसा सोम्याय मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥ २ ॥

(१) **कः**=कोई विरल व्यक्ति ही **सोम्याय**=अत्यन्त शान्त प्रभु के लिए **वचसा**=स्तुतिवाणियों द्वारा **नानाम**=नमन करता है। **वा**=अथवा कोई विरल व्यक्ति ही **मनायुः भवति**=विचारपूर्वक क्रियाओं को करनेवाला होता है (मन्-ई गतौ)। यह मनायु ही **उस्राः**=ज्ञानरश्मियों को **वस्ते**=धारण करता है। प्रभु के प्रति नमन 'उपासना काण्ड' है, ज्ञानपूर्वक कर्मों को करना 'कर्मकाण्ड' है, ज्ञानरश्मियों का धारण 'ज्ञानकाण्ड' है। इस प्रकार यह व्यक्ति तीनों काण्डों का अपने जीवन में समन्वय करता है। (२) **कः**=कोई विरल व्यक्ति ही **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **युज्यम्**=मेल को **वष्टि**=चाहता है। **कः**=कोई व्यक्ति ही **सखित्वम्**=प्रभु का सखा बनने की कामनावाला होता है। **कः**=कोई विरल पुरुष ही **भ्रात्रम्**=उस प्रभु के साथ भ्रातृत्व की कामना

करता है। **कः**=कोई ही **कवये**=उस क्रान्तदर्शी प्रभु के लिए **ऊती**=अपने कर्मों द्वारा तर्पणवाला होता है। उसकी सदा यही कामना होती है कि मैं इस प्रकार से कर्म करूँ कि प्रभु का प्रिय बन पाऊँ।

भावार्थ—हम अपने जीवन में 'उपासना, कर्म व ज्ञान' का समन्वय करें। हम प्रभु को ही अपना 'मेलवाला, साथी व भाई' जानें। उत्तम कर्मों द्वारा प्रभु को प्रीणित करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आदित्य, अदिति व ज्योति की उपासना

को देवानामवो अद्या वृणीते क आदित्याँ अदितिं ज्योतिरीट्टे।

कस्याश्विनाविन्द्रो अग्निः सुतस्यांशोः पिबन्ति मनसाविवेनम्॥ ३॥

(१) **कः**=कोई विरल व्यक्ति ही **अद्य**=आज इस जीवन में **देवानां अवः**=देवों के-दिव्यगुणों के रक्षण का **वृणीते**=वरण करता है। सामान्यतः मनुष्य संसार के भोगों में फँस जाता है दिव्यगुणों के रक्षण का उसे ध्यान नहीं रहता। **कः**=कोई विरल पुरुष ही **आदित्यान्**=सब स्थानों से अच्छाई ग्रहण (आदान) की भावना को, **अदितम्**=स्वास्थ्य (अखण्डन) को और **ज्योतिः**=प्रकाश को **ईट्टे**=उपासित करता है। सामान्यतः मनुष्य बुराई को ही देखता है-अच्छाई को देखने का प्रयत्न ही नहीं करता। स्वाद आदि में फँसकर स्वास्थ्य को खो बैठता है और ज्ञानप्राप्ति की ओर झुकाववाला नहीं होता। (२) **कस्य**=किसी ही यज्ञशील पुरुष के **सुतस्य अंशोः**=उत्पन्न किये गये सोम का **अश्विनौ**=प्राणापान **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता तथा **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **मनसा**=मन से **अ-वि-वेनम्**=चाहते हुए **पिबन्ति**=पान करते हैं, अर्थात् कोई विरल व्यक्ति ही प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है (अश्विना), कोई ही इन्द्रियों के वश करने में यत्नशील होता है (इन्द्र), कोई पुरुष ही सदा आगे बढ़ने की मनोवृत्तिवाला बनता है (अग्नि)। 'प्राणायाम, जितेन्द्रियता व अग्रगति की भावना' ये तीनों बातें सोमरक्षण की साधन बनती हैं।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम दिव्य गुणों के रक्षण की कामनावाले हों, सब जगह से अच्छाई का आदान करें, स्वास्थ्य का ध्यान करें और ज्योति प्राप्ति के लिए यत्नशील हों। प्राणायाम, जितेन्द्रियता व अग्रगति की भावना हमें सोमरक्षण के योग्य बनाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु प्रवणता व दीर्घ जीवन

तस्मा अग्निर्भारतः शर्म यंसज्ज्योक्पश्यात्सूर्यमुच्चरन्तम्।

य इन्द्राय सुनवामेत्याह नरे नर्याय नृतमाय नृणाम्॥ ४॥

(१) **यः**=जो पुरुष **इन्द्राय**=प्रभुप्राप्ति के लिए **सुनवाम**=हम सोम का सवन करें इति **आह**=ऐसा कहता है। 'शरीर में सोमरक्षण से बुद्धि की तीव्रता होकर प्रभु का दर्शन होता है', इस प्रकार सोचकर जो सोम का रक्षण करता है-उसे भोग-विलास में व्ययित नहीं करता। **तस्मै**=उस पुरुष के लिए **भारतः**=सब का भरण करनेवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **शर्म**=सुख को **यंसत्**=देता है। यह पुरुष **उच्चरन्तं सूर्यम्**=उदय होते हुए सूर्य को **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **पश्यात्**=देखता है, अर्थात् यह अत्यन्त दीर्घ जीवनवाला बनता है। (२) इसलिए यही ठीक है कि हम उस प्रभुप्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करें, जो कि **नरे**=हमें आगे ले चलनेवाले हैं, **नर्याय**=सदा नरहित करनेवाले हैं और **नृणां नृतमाय**=नेताओं में सर्वोत्तम नेता हैं। सोमरक्षण से

इस प्रभु की प्राप्ति होती है। प्रभु हमें आगे ले चलते हैं। प्रभु नेता होते हैं और हम उनके अनुयायी। इस प्रकार पवित्र जीवन बिताते हुए हम दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम प्रभु के समीप होते हैं। इससे हम पवित्र होकर सुखी व दीर्घ जीवनवाले बन पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का प्रिय कौन ?

न तं जिनन्ति बहवो न दभ्रा उर्वस्मा अदितिः शर्म यंसत्।
प्रियः सुकृत्प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी ॥ ५ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभुप्राप्ति के लिए सोम का सवन करनेवाले **तम्**=उस पुरुष को न **दभ्राः**=न कम और न **बहवः**=नां ही बहुत शत्रु **जिनन्ति**=हिंसित करनेवाले होते हैं। **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **अदितिः**=स्वास्थ्य **उरु शर्म**=विशाल कल्याण को **यंसत्**=देता है। पूर्ण स्वस्थ होने से यह पुरुष अत्यन्त सुखी होता है। (२) **सुकृत्**=शोभन कर्मों को करनेवाला पुरुष **प्रियः**=इसे प्रिय होता है। **इन्द्रे**=उस प्रभु में **मनायुः**=विचारपूर्वक गति करनेवाला पुरुष **प्रियः**=मित्र होता है। **सुप्रावीः**=उत्तमता से प्रकर्षेण अपना रक्षण करनेवाला **प्रियः**=इस प्रभु को प्रिय होता है और **सोमी**=सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष प्रभु को **प्रियः**=प्रिय होता है।

भावार्थ—हम 'सुकृत्, मनायु, सुप्रावी व सोमी' बनकर प्रभु के प्रिय बनें।

सूचना—ब्रह्मचर्याश्रम हमें सोमरक्षण करनेवाला सोमी बनाए। गृहस्थ में हम 'सुप्रावी' बनें, सन्तानों का उत्तम रक्षण करनेवाले हों। वानप्रस्थ में सदा प्रभु का मनन करनेवाले 'मनायु' बनें। संन्यस्त होकर हम सदा शोभन लोकहित के कर्म करनेवाले 'सुकृत्' बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सुष्वि व अशुष्वि

सुप्राव्यः प्राशुषाळेष वीरः सुष्वेः पक्तिं कृणुते केवलेन्द्रः।
नासुष्वेरापिर्न सखा न जामिर्दुष्प्राव्योऽवहन्तेदवाचः ॥ ६ ॥

(१) **प्राशु-षाड्**=प्रकर्षेण शीघ्र ही शत्रुओं का अभिभव करनेवाला **एषः**=यह **वीरः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **सुप्राव्यः**=उत्तमता से प्रकर्षेण गतिवाले **सुष्वेः**=उत्तम सोम का सवन करनेवाले पुरुष की **केवला**=असाधारण अवस्था (के) आनन्द में (बल) संचरण करानेवाले **पक्तिम्**=ज्ञान के परिपाक को **कृणुते**=करता है। प्रभु हमारे ज्ञान को परिपक्व करते हैं। वस्तुतः इस ज्ञान के परिपाक से ही हम प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं और सोम का सवन करनेवाले बनते हैं। (२) **असुष्वेः**=सोम का सवन न करनेवाले का वे प्रभु **आपिः न**=मित्र नहीं होते। न **सखा**=इस अयजमान के वे प्रभु सखा नहीं होते। **न जामिः**=इसके प्रभु बन्धु नहीं होते। **दुष्प्राव्यः**=अशुभ तीव्र गतिवाले-दुरुपगमनवाले **अवाचः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले के प्रभु **अवहन्ता इत्**=नाश ही करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—उपासक के प्रभु मित्र हैं। न उपासक के विनष्ट करनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सुष्वि व पक्ति' नकि 'देवान् पणि'

न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते।
आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं वि सुष्वये पक्तये केवलो भूत् ॥ ७ ॥

(१) **सुतपाः**=अभियुत सोम का रक्षण करनेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **रेवता**=धनवान् **असुन्वता**=अयज्ञशील **पणिना**=लुब्ध वणिक् वृत्तिवाले पुरुष के साथ **सख्यम्**=मित्रता को **न संगृणीते**=नहीं स्वीकार करता (गृ=agrce)-इसकी मित्रता को प्रभु अच्छा नहीं समझते। (२) **अस्य**=इस असुन्वन् वणिक् के **वेदः**=धन को **आखिदति**=नष्ट कर देते हैं। **नग्नं हन्ति**=(न+ग्रा) स्तुतिवाणी से रहित पुरुष को प्रभु विनष्ट करते हैं। वे प्रभु **सुष्वये**=सोम का सम्पादन करनेवाले यज्ञशील **पक्तये**=ज्ञान का परिपाक करनेवाले पुरुष के लिए **केवलः**=आनन्द में संचरित करनेवाले **विभूत्**=विशेष रूप से होते हैं।

भावार्थ—हम सुष्वि व पक्ति बनें। केवल धनार्जन में फँसे हुए अयज्ञशील न बन जाएँ। यही प्रभु की मित्रता की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'पर-अवर-मध्यम' सभी उसे पुकारते हैं

इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम्।
इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते ॥ ८ ॥

(१) **परे**=उत्कृष्ट सात्त्विक वृत्तिवाले लोग, **अवरे**=निकृष्ट तमोगुणी पुरुष तथा **मध्यमासः**=मध्यम रजोगुण में विचरनेवाले व्यक्ति अन्ततः **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **हवन्ते**=पुकारते हैं। (२) **यान्तः**=अपने-अपने कार्य के लिए जाते हुए पुरुष **इन्द्रम्**=उस प्रभु को ही पुकारते हैं और **अवसितासः**=कार्य की समाप्ति पर पहुँचनेवाले दृढनिश्चयी पुरुष भी **इन्द्रम्**=प्रभु को ही पुकारते हैं। (३) **क्षियन्तः**=घर में निवास करते हुए, **उत्**=और इसके विपरीत **युध्यमानः**=रणांगण में युद्ध करते हुए लोग **इन्द्रम्**=उस प्रभु को ही पुकारते हैं। (४) **वाजयन्तः**=शक्तिप्राप्ति की कामनावाले पुरुष उस **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को ही **हवन्ते**=पुकारते हैं। वस्तुतः प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं, सब उन्नति प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके ही होती है।

भावार्थ—सभी अनन्तः प्रभु को ही पुकारते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं। अन्ततः वे ही सहायक होते हैं। प्रभु कहते हैं कि—

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'मनु व सूर्य' बनना

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥ १ ॥

(१) **अहम्**=मैं ही **मनुः अभवम्**=मनु हूँ। ज्ञानशील पुरुष को 'मनु' कहते हैं-ज्ञानियों का ज्ञान प्रभु ही हैं। प्रभु ही सब ज्ञानों का स्रोत हैं। **च**=और **अहम्**=मैं ही **सूर्यः**=सूर्य हूँ। सूर्य को

दीप्ति देनेवाले प्रभु ही हैं। प्रभु की दीप्ति से ही यह सूर्य दीप्त हो रहा है 'प्रभास्मि शशि-सूर्ययोः'। मैं **कक्षीवान्**=बद्ध कक्ष्यावाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **अस्मि**=हूँ। बद्ध कक्ष्यावाला, कटिबद्ध, अर्थात् दृढ़निश्चयी। प्रभु ही एक व्यक्ति को दृढ़निश्चयी तत्त्वद्रष्टा बनाते हैं। मैं ही **विप्रः**=विप्र हूँ। 'वि+प्रा'=विशेषरूप से किसी भी व्यक्ति का पूरण करनेवाला मैं ही हूँ। (२) **अहम्**=मैं ही **कुत्सम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले **आर्जुनेयम्**=अर्जुनी के पुत्र (अर्जुन=श्वेत) अत्यन्त शुद्ध जीवनवाले को **न्यृञ्जे**=निश्चय से प्रसाधित करता हूँ। इसके जीवन को मैं ही सद्गुणों से सुभूषित करता हूँ। मैं ही इसे वासनाओं के संहार के योग्य बनाता हूँ। **अहम्**=मैं ही **कविः**=क्रान्तदर्शी **उशना**=सबका हित चाहनेवाला हूँ। हे मनुष्यो! **मा पश्यत**=मुझे देखो, मुझे देखने के लिए यत्नशील होओ। वस्तुतः प्रभु के स्वरूप का चिन्तन करते हुए हमें प्रभु जैसा ही बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही हम 'ज्ञानी (मन), सूर्यवत् तेजस्वी, दृढ़निश्चयी तत्त्वद्रष्टा, विप्र, वासनाओं का संहार करनेवाले (कुत्स) कवि (तत्त्वद्रष्टा)' बन पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'संसार का संचालक' प्रभु

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्॥ २॥

(१) **अहम्**=मैं **आर्याय**=श्रेष्ठ श्रमशील मनुष्य के लिए **भूमिम्**=भूमि को **अददाम्**=देता हूँ। यह भूमि उसके लिए सब अन्नों को प्राप्त कराती हुई उसका पालन करती है। **अहम्**=मैं **दाशुषे मर्त्याय**=दाश्वान् मनुष्य के लिए, यज्ञों में त्याग करनेवाले पुरुष के लिए, **वृष्टिम्**=वृष्टि को देता हूँ। दाश्वान् पुरुष यज्ञ करता है और इन यज्ञों के परिणामस्वरूप वृष्टि होती है 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'। (२) मैं ही मेघों को उत्पन्न करके **वावशानाः**=शब्द करते हुए **अपः**=जलों को **अनयम्**=लाता हूँ। 'शंनः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु'। प्रभु की व्यवस्था से ही गर्जना करते हुए मेघ बरसते हैं और सर्वत्र जलों को प्राप्त कराते हैं। **देवासः**='अग्नि, वायु, सूर्य' आदि सब देव **मम केतं अनु**=मेरे संकेत व निर्देश के अनुसार **आयन्**=गति कर रहे हैं 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'। प्रभु के संकेत के अनुसार चलते हुए ये सब देव जीवहित के लिए अपने-अपने कार्य कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे लिए अन्नदात्री इस भूमि को बनाते हैं, वृष्टि की व्यवस्था करते हैं और सूर्यादि सब देवों को गतिमय करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

शंवर की पुरियों का विध्वंस

अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम्॥ ३॥

(१) हमारे जीवन में 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध' के कारण मानस-शान्ति का विनाश हो जाता है। यह ईर्ष्या ही 'शंबर' है-शान्ति पर परदा डाल देनेवाली है। यह नाना रूपों में हमें परेशान करती है। मानो इसकी निन्यानवे नगरियाँ ही हमारे अन्दर बन जाती हों। प्रभु ही इन्हें नष्ट करते हैं। **अहम्**=मैं **मन्दसानः**=उपासक को आनन्दमय जीवनवाला बनाता हुआ **नव नवतीः**=निन्यानवे

शंबरस्य पुरः=शंबरासुर की नगरियों को **साकम्**=साथ-साथ ही **व्यैरम्**=विनष्ट कर डालता हूँ। ईर्ष्या आदि आसुरभावों को मैं समाप्त कर देता हूँ (२) यह मैं तब करता हूँ, **यदा**=जब कि **सर्वताता**=सब शक्तियों के विस्तार के निमित्त **शततमम्**=सब आसुरभावों से ऊपर उठे हुए सौंवे **वेश्यम्**=प्रवेश के योग्य शरीरगृह को **दिवोदासम्**=ज्ञान के दास, अर्थात् ज्ञान की आराधना करनेवाले **अतिथिग्वम्**=प्रभुरूप अतिथि की ओर चलनेवाले इस उपासक को **आवम्**=(अगमयं अव् गतौ) प्राप्त कराता हूँ। ज्ञानप्रवण प्रभु के उपासक को प्रभुं वासनाशून्य पवित्र शरीरगृह प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ईर्ष्या आदि सैंकड़ों आसुरभावों को विनष्ट करके ज्ञानप्रवण भक्त के लिये पवित्र शरीरगृह प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

महान् वि-महान् श्येन

प्र सु ष विभ्यो मरुतो विरस्तु प्र श्येनः श्येनेभ्य आशुपत्वा।
अचक्रया यत्स्वधया सुपर्णो हव्यं भरन्मनवे देवजुष्टम्॥ ४॥

(१) 'जीव व परमात्मा' दोनों को वैदिक साहित्य में सुपर्ण (पक्षी) के रूप में चित्रित किया गया है। ये दोनों ही इस संसार-वृक्ष पर निवास कर रहे हैं। हे **मरुतः**=मनुष्यो! **सः विः**=वह प्रसिद्ध प्रभुरूप पक्षी **विभ्यः**=जीवरूप पक्षियों से **प्र सु अस्तु**=बल के दृष्टिकोण से प्रकृष्ट है। सारे जीव मिलकर भी बल में प्रभु के समान नहीं हो सकते। वह **प्र श्येनः**=प्रकृष्ट श्येन (=गतिशील प्रभु) **श्येनेभ्यः**=इन गतिशील जीवों से **आशुपत्वा**=अत्यन्त शीघ्र गतिवाला है। गति में कोई भी इसको पराजित नहीं कर सकता 'तद्धावतो ऽन्यानत्येति'। (२) **सुपर्णः**=उत्तम पालन करनेवाले ये प्रभु **अचक्रया**=बिना ही चक्रोंवाली-बिना ही किन्हीं उपकरणोंवाली **स्वधया**=आत्मधारणशक्ति से **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **यत्**=जो **देवजुष्टम्**=विद्वानों से प्रीतिपूर्वक सेवन किया गया **हव्यम्**=पुकारने योग्य (चाहने योग्य) ज्ञान है, उसे **भरत्**=प्राप्त कराते हैं। इस ज्ञान द्वारा ही वस्तुतः प्रभु जीव का भरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वाधिक बलवाले व सर्वाधिक गतिवाले हैं। प्रभु अपनी आत्मधारण शक्ति से हमारे लिए वह ज्ञान प्राप्त कराते हैं, जो कि हमारा उत्तम पालन करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मधुरता व ज्ञान

भरद्यदि विरतो वेविजानः पथोरुणा मनोजवा असर्जि।
तूयं ययौ मधुना सोम्येनोत श्रवो विवदे श्येनो अत्र॥ ५॥

(१) गतमन्त्र में जीव को भी 'वि' कहा है। यदि यह प्रकृष्ट बलवाले प्रभु से भयभीत होता हुआ वासनाओं से बचता है और सोम का रक्षण करता है, तो यह अपने अन्दर प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला बनता है। **यदि**=यदि **विः**=जीव **अतः**=इस सर्वाधिक बलवाले प्रभु से **वेविजानः**=भय करता हुआ **भरत्**=अपने अन्दर सोम का रक्षण करता है, तो **उरुणा पथा**=विशाल मार्ग से गति द्वारा **मनोजवाः**=मन से भी अधिक वेगवान् वे प्रभु **असर्जि**=इसके साथ संसृष्ट होते हैं। सोमरक्षण द्वारा पवित्र मनवाला बनकर यह विशाल मार्ग से चलता है। इस उदार मार्ग का आक्रमण करता हुआ यह प्रभु को देखनेवाला बनता है। (२) यह **सोम्येन**=सोमरक्षण से उत्पन्न

मधुना=माधुर्य के साथ **तूयं ययौ**=शीघ्रता से गतिवाला होता है। **उत**=और **श्येनः**=यह गतिशील जीव **अत्र**=इस जीवन में **श्रवः**=ज्ञान को **विविदे**=प्राप्त करता है। 'सोम' सुरक्षित होने पर, इसके जीवन को मधुर बनाता है और इसे गतिमय जीवनवाला बनाता हुआ ज्ञान-सम्पन्न करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही प्रभु के साथ मेल होता है। इसी प्रकार जीवन मधुर व ज्ञान-सम्पन्न होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

दादृहाणो देवावान्

ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुं परावतः शकुनो मन्द्रं मदम्।
सोमं भरद्दादृहाणो देवावान्दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय॥ ६॥

(१) **ऋजीपी**=(ऋजु, प्यायी वृद्धौ) ऋजुता से मार्ग पर आगे बढ़नेवाला **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला जीव **परावतः**=उस दूर से दूर वर्तमान 'सर्वोत्कृष्ट' प्रभु से **अंशुम्**=प्रकाश की किरण को **ददमानः**=ग्रहण करता हुआ (धारयन् सा०) **शकुनः**=शक्तिशाली बनता है और **मन्द्रम्**=स्तुत्य **मदम्**=हर्ष के जनक **सोमम्**=सोम को **भरत्**=अपने में धारण करता है। प्रभु से प्राप्त ज्ञान हमें वासनाओं से बचाता है। वासनाओं से बचकर हम शक्तिशाली बनते हैं और सोम के महत्त्व को समझते हुए उसे सुरक्षित रखते हैं। (२) यह सोम का भरण करनेवाला पुरुष **अमुष्माद्**=उस **उत्तरात्**=उत्कृष्ट **दिवः**=प्रकाशमय प्रभु से **आदाय**=ज्ञान को (=प्रकाश को) प्राप्त करके **दादृहाणः**=खूब ही दृढ़ शरीरवाला तथा **देवावान्**=दिव्य गुणोंवाला बनता है। प्रभुप्रदत्त ज्ञान इसे दृढ़ शरीरवाला व दिव्यवृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—सोम को धारण करनेवाला व्यक्ति दृढ़ शरीरवाला तथा दिव्य गुणोंवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

सोमरक्षण व यज्ञ-प्रवणता

आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः॥ ७॥

(१) **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला यह जीव **सोमं आदाय**=सोमशक्ति का ग्रहण करके **सहस्रम्**=हजारों **च**=व **अयुतम्**=लाखों **सवान्**=यज्ञों को **साकम्**=साथ-साथ **अभरत्**=अपने में धारण करता है। यह अपने जीवन को यज्ञशील बनाता है। (२) **अत्रा**=यहाँ **सोमस्य मदे**=सोम के मद में-हर्ष में **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धिवाला यह **अमूरः**=संसार के विषयों में अमूढ़ बना हुआ यह श्येन **मूराः**=मूढ़ता के कारणभूत **अरातीः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **अजहात्**=छोड़नेवाला होता है। सोमरक्षण से बुद्धि का वर्धन होता है, शक्ति के कारण गतिशीलता प्राप्त होती है। यह ज्ञानपूर्वक यज्ञों में प्रवृत्त होता हुआ पुरुष काम-क्रोध आदि को विनष्ट करता है।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम यज्ञप्रवण बन पाते हैं। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर हम अमूढ़ बनते हैं।

'प्रभु उपासन से किसी ऊँची स्थिति को प्राप्त करते हैं' इस बात का इस सूक्त में सुन्दर चित्रण है। इस उपासना के द्वारा अन्ततः हम इस जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जाते हैं। यही वर्णन अगले सूक्त में है—

[२७] सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के गर्भ में

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्॥ १ ॥

(१) **गर्भे नु सन्**=उस प्रभु के गर्भ में अब होता हुआ **अहम्**=मैं **एषाम्**=इन **देवानाम्**=देवों के **विश्वा**=सब **जनिमानि**=जन्मों को **अवेदम्**=जानता हूँ। 'प्रभु की उपासना में स्थित होना' ही 'प्रभु के गर्भ में स्थित होना' है। इससे जीवन में दिव्य गुणों का विकास होता है। (२) आज तक **मा**=मुझे **शतम्**=सैकड़ों **आयसी**=लोहमयी-बड़ी दृढ़ **पुरः**=शरीररूप नगरियों ने **अर क्षन्**=अपने अन्दर कैद करके रखा। **अध**=अब प्रभु की उपासना से **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला होकर मैं **जवसा**=बड़े वेग से **निरदीम्**=इन से बाहर निकल गया हूँ, अर्थात् जन्म-मरणचक्र से ऊपर उठ गया हूँ।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से दिव्यगुणों का विकास होता है और हम इन शरीर नगरियों में प्रवेश से बच जाते हैं-मुक्त हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

ईर्मा पुरन्धि

न घा स मामप जोषं जभाराभीमास त्वक्षसा वीर्येण।
ईर्मा पुरन्धिरजहादरातीरुत वाताँ अतरच्छूशुवानः ॥ २ ॥

(१) प्रभु के गर्भ में रहनेवाले **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक प्रभु की उपासना करनेवाले **माम्**=मुझ को **घा**=निश्चय से **सः**=यह चमकीला संसार **न अपजभार**=हर ले जाने में समर्थ नहीं हुआ। मैं **त्वक्षसा**=ज्ञानदीप्त (त्विषेर्वा दीप्ति कर्मणः) **वीर्येण**=सामर्थ्य से **ईम्**=निश्चयपूर्वक **अभि आस**=इस संसार का अभिभव करनेवाला हुआ हूँ। (२) **ईर्मा**=गतिशील **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धिवाला पुरुष **अरातीः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **अजहात्**=छोड़नेवाला होता है। गतिशील बुद्धिमान् पुरुष को वासनाएँ नहीं सता पातीं। **उत**=और यह **शूशुवानः**=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गति द्वारा निरन्तर बढ़नेवाला पुरुष **वातान्**=संसार की हवाओं को **अतरत्**=तैर जाता है। यह शूशुवान पुरुष चटक-मटक का गुलाम नहीं बन जाता।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम विषयों में नहीं फँसते।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानाग्नि में वासना का भस्मीकरण

अव यच्छ्येनो अस्वनीदध द्योर्वि यद्यदि वात ऊहुः पुरन्धिम्।
सृजद्यदस्मा अव ह क्षिपज्ज्यां कृशानुरस्ता मनसा भुरण्यन्॥ ३ ॥

(१) **अध**=अब **यत्**=जो **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला पुरुष **द्योः**=ज्ञानवाणियों का अब **अस्वनीत्**=नम्रता से उच्चारण करता है, अर्थात् जब आचार्य स्वयं उत्तम आचरणवाला होता हुआ-स्वयं नम्र होता हुआ विद्यार्थियों के लिए ज्ञान देता है और **यदि**=यदि **ते**=वे विद्यार्थी **यद्**=जब उस आचार्य से **पुरन्धिम्**=पालक व पूरक बुद्धि को **व्यूहुः**=विशेषरूप से धारण करते हैं।

(२) इस प्रकार **यद्**=जब **अस्मै**=इस विद्यार्थी के लिए आचार्य **सृजत्**=ज्ञान का सर्जन करता है, तो **ह**=निश्चय से यह विद्यार्थी **ज्याम्**=कामदेव (वासना) के धनुष् की डोरी को **अवक्षिपत्**=सुदूर फेंकनेवाला होता है-वासनाओं को अपने से परे फैंकता है। **कृशानुः**=अग्नि के समान तेजस्वी होता हुआ यह **मनसा भुरण्यन्**=मन से उस प्रभु का अपने में भरण करता हुआ **अस्ता**=अब बुराइयों को दूर क्षिप्त करता है। ज्ञान द्वारा अपने जीवन को निर्मल कर लेता है।

भावार्थ—आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके, उस ज्ञानजल में अपने को शुद्ध करता हुआ विद्यार्थी दीप्त जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानदीप्त अन्तर्वृत्ति मन

ऋजिप्य ईमिन्द्रावतो न भुज्युं श्येनो जभार बृहतो अधि ष्णोः।
अन्तः पतत्पतत्र्यस्य पर्णमध यामनि प्रसितस्य तद्वेः ॥ ४ ॥

(१) **ऋजिप्यः**=(ऋजु+प्या) ऋजुमार्ग से आगे बढ़नेवाला **श्येनः**=शंसनीय गतिवाला (पुरुष) **इन्द्रावतः**=जितेन्द्रिय पुरुष से रक्षण किये जाते हुए (इन्द्र=अव) **बृहतः**=वृद्धि के कारणभूत **ष्णोः**=सुखवर्षक ज्ञान द्वारा **न भुज्युम्**=भोगों में न फँसे हुए शिष्य को **अधिजभार**=विषयों से ऊपर ले जाता है-उत्कृष्ट मार्ग की ओर ले जाता है। अत्यन्त विषयप्रवण वृत्तिवाले शिष्य को ज्ञान देना भी कठिन होता है। विद्यार्थी के लिए 'न भुज्यु' होना आवश्यक है। (२) अब ज्ञान प्राप्त करने पर **अस्य**=इसका **पतत्रि**=उड़नेवाला-निरन्तर इधर-उधर भटकनेवाला **पर्णम्**=पंख-पालक मनरूप पंख, **अन्तः**=अन्दर **पतत्**=गतिवाला होता है-अब इसका मन बाहर विषयों में नहीं भटकता। **अध**=अब **यामनि**=मार्ग में **प्रसितस्य**=बन्धे हुए-निरन्तर मार्ग में चलते हुए इसका **तद्**=वह मनरूप **पर्ण वेः**=कान्तिमान् होता है (वी=कान्ति)। अब यह चमकते हुए जीवनवाला बन जाता है।

भावार्थ—ज्ञान द्वारा निर्मल मन अन्तर्मुखी वृत्तिवाला होता हुआ सदा मार्ग पर आगे बढ़ता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृच्छक्वरी ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'श्वेत कलश', जो कि सोम का आधार बनता है

अध श्वेतं कलशं गोभिरक्तमापिप्यानं मघवा शुक्रमन्धः ।
अध्वर्युभिः प्रयतं मध्वो अग्रमिन्द्रो मदाय प्रति धत्पिबध्यै शूरो मदाय प्रति धत्पिबध्यै ॥ ५ ॥

(१) **अध**=गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान से मन निर्मल होने पर **श्वेतम्**=शुभ्र **कलशम्**=शरीर घर को **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **प्रतिधत्**=धारण करता है। यह श्वेत कलश **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों से **अक्तम्**=कान्त बना हुआ है, **आपिप्यानम्**=समन्तात् सब शक्तियों से बढ़ा हुआ है। (२) **मघवा**=यह ज्ञानैश्वर्यवाला जीव **शुक्रम्**=निर्मल **अन्धः**=सोम को **मदाय**=हर्ष की प्राप्ति के लिए **पिबध्यै**=अन्दर ही पीने के लिए **प्रतिधत्**=धारण करता है। यह सोम **अध्वर्युभिः**=शरीरस्थ सात यज्ञप्रणेताओं से-यज्ञों में लगी हुई इन्द्रियों से, **प्रयतम्**=पवित्र किया गया है तथा **मध्वः अग्रम्**=मधुओं में सर्वश्रेष्ठ है। इन्द्रियाँ यज्ञों में लगी रहें, तो यह सोम शरीर में संयत रहता है तथा जीवन को अत्यन्त मधुर बनाता है। इसलिए **शूरः**=वासनाओं को शीर्ण करनेवाला व्यक्ति **मदाय**=हर्ष प्राप्ति के लिए **पिबध्यै**=इसे अन्दर पीने के लिए **प्रतिधत्**=धारण करता है।

भावार्थ—जब इस शरीर को हम ज्ञान द्वारा निर्मल बनाते हैं, तो यह 'श्वेत कलश' कहलाता है। यह सोम (वीर्यशक्ति) का आधार बनता है 'इन्द्र' वासनाओं को शीर्ण करके इस सोम को शरीर में सुररिक्षत करता है। इस का शरीर में पान करके हम आनन्दानुभव करते हैं।

सम्पूर्ण सूक्त 'उपासना द्वारा जीवन को निर्मल बनाने का वर्णन कर रहा है। अगले सूक्त का भी यही विषय है—

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रासोमौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभुप्राप्ति के लिए निरन्तर कर्मशीलता

त्वा युजा तव तत्सोम सख्य इन्द्रो अपो मनवे सस्रुतस्कः।
अहन्नहिमरिणात्सप्त सिन्धूनपावृणोदपिहितेव खानि ॥ १॥

(१) हे सोम! **त्वा युजा**=तुझ साथी के साथ, **तव**=तेरी **तत्**=उस **सख्ये**=मित्रता में **इन्द्रः** एक जितेन्द्रिय पुरुष **मनवे**=उस सर्वज्ञ प्रभुप्राप्ति के लिए **अपः**=कर्मों को **सस्रुतः**=समानरूप से बहनेवाला **कः**=करता है। जिस समय हम सोमरक्षण कर पाते हैं, तो शक्ति प्राप्त करके निरन्तर उत्तम कर्मों में लगे हुए हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। (२) **अहिं अहन्**=वासनारूप वृत्र का विनाश करते हैं। 'निरन्तर कर्म में लगे रहना' वासनाविनाश का सर्वोत्तम साधन है। वासना को विनष्ट करके यह **सप्त सिन्धून्**=शरीरस्थ सात ऋषियों के सात ज्ञानप्रवाहों को **अरिणात्**=गतिमय करता है और **अपिहिता इव**=वासनाओं से ढकी हुई-सी **खानि**=इन इन्द्रियों को **अपावृणोत्**=अज्ञान का आवरण हटाकर खोल देता है। वासनाओं के परदे को दूर करके इन इन्द्रियों को स्वकार्य करने में सशक्त करता है।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए निरन्तर कर्मशील बनना आवश्यक है। यही वासनाविनाश का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रासोमौ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

सूर्यचक्र का पराभव

त्वा युजा नि खिदत्सूर्यस्येन्द्रश्चक्रं सहसा सद्य इन्दो।
अधि ष्णुना बृहता वर्तमानं महो द्रुहो अप विश्वायु धायि॥ २॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **त्वा युजा**=तुझ साथी के साथ **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **सद्यः**=शीघ्र ही **सहसा**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बल से **सूर्यस्य**=सूर्य के **चक्रम्**=चक्र को **निखिदत्**=(overpower) पराभूत कर देता है। इस इन्द्र की तेजस्विता के सामने सूर्य की तेजस्विता भी हीन प्रतीत होने लगती है। सूर्य के उस चक्र को यह पराभूत कर देता है, जो कि **बृहता**=बड़े **ष्णुना**=शिखर के साथ (स्नु=top) **अधिवर्तमानम्**=वर्तमान है, अर्थात् जो अत्युच्च स्थान में स्थित है, उस सूर्य-चक्र को भी यह पराभूत कर देता है। (२) इस प्रकार सूर्य-चक्र को पराभूत करनेवाले तेज से युक्त हुआ-हुआ यह पुरुष **विश्वायु**=सम्पूर्ण जीवन में **महः द्रुहः**=महान् द्रोह से **अपधायि**=दूर रखा जाता है। तेजस्वी बनकर यह किसी के प्रति द्रोहवृत्तिवाला नहीं होता।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम तेजस्वी बनते हैं। अपने तेज से सूर्य-मण्डल को भी पराभूत करनेवाले होते हैं। यह तेजस्विता हमें द्रोहवृत्तियों से पृथक् रखती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पुरा मध्यन्दिनात्

अहन्निन्द्रो अदहदग्निरिन्दो पुरा दस्यून्मध्यन्दिनादभीके।
दुर्गे दुरोणे क्रत्वा न यातां पुरू सहस्रा शर्वा नि बर्हीत्॥ ३॥

(१) हे **इन्दो**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले सोम! **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अभीके**=संग्राम में **मध्यन्दिनात् पुरा**=जीवन के मध्याह्न से पूर्व-जीवन के पूर्वाह्न में ही, **दस्यून्**=दास्यववृत्तियों को **अहन्**=नष्ट करता है। **अग्निः**=यह प्रगतिशील जीव इन शत्रुओं को **अदहत्**=जला देता है। जीवन के अपराह्न में तो वासनाएँ स्वयं भी कुछ शान्त ही हो जाती हैं। जीवन के पूर्वाह्न में ही इन वासनाओं को नष्ट करना व दग्ध करना आवश्यक है 'प्रथमे वयसि यः शान्तः स शान्त इति कथ्यते। धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते'। (२) **न**=और (न इति चार्थे) **दुरोणे**=(दुरवने-रक्षितुमशक्ये) जिस में रक्षण बड़ा कठिन है, ऐसे **दुर्गे**=कठिन संसारमार्ग में **क्रत्वा**=पुरुषार्थ के साथ व यज्ञों के साथ **याताम्**=जाते हुओं के **पुरूसहस्रा**=बहुत हजारों शत्रुओं को **शर्वा**=वह शत्रुओं का संहार करनेवाला प्रभु **निबर्हीत्**=विनष्ट करता है। हम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, तो प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—हम 'इन्द्र' बनें-जितेन्द्रिय बनें। 'अग्नि' बनें-प्रगतिशील बनें, तभी हम यौवन में वासनाओं को जीत पाएँगे। इस कठिन जीवनमार्ग में यदि हम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, तो प्रभु हमारी वासनाओं का संहार करते हैं। सोमरक्षण हमें वासना-विजय के लिए समर्थ करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शत्रुसंहार

विश्वस्मात्सीमधमाँ इन्द्र दस्यून्विशो दासीरकृणोरप्रशस्ताः।
अबाधेथाममृणतं नि शत्रूनविन्देथामपचितिं वधत्रैः ॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **सीम्**=निश्चय से **दस्यून्**=इन दास्यववृत्तिवाले लोगों को **विश्वस्मात्**=सब से **अधमान्**=हीन **अकृणोः**=करते हैं। **दासीः**=(अकर्मा दस्युः) कर्महीन **विशः**=प्रजाओं को **अप्रशस्ताः**=अप्रशस्त जीवनवाला **अकृणोः**=कर देते हैं। क्रियाशील पुरुष ही उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है। (२) हे इन्द्र और सोम! आप दोनों मिलकर **शत्रून्**=शत्रुओं को, काम-क्रोध आदि अप्रशस्तवृत्तियों को **अबाधेथाम्**=बाधित करते हैं, **निआमृणतम्**=इन्हें निश्चय से कुचल डालते हैं। इन **वधत्रैः**=शत्रुओं पर किये गये प्रहारों से आप **अपचितिम्**=पूजा को **अविन्देथाम्**=प्राप्त करते हैं। वस्तुतः काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतना ही इस जीवन की सर्वमहान् साधना है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर दास्यव वृत्तियों से ऊपर उठें। क्रियाशील बनकर प्रशस्त जीवनवाले हों। जितेन्द्रियता व सोमरक्षण द्वारा सब शत्रुओं को पराजित करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रासोमौ ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

इन्द्रियों का समादर

एवा सत्यं मघवाना युवं तदिन्द्रश्च सोमोर्वमश्व्यं गोः।
आदर्दृतमपिहितान्यश्ना रिरिचथुः क्षाश्चित्ततृदाना॥ ५॥

(१) हे **सोम**=सोम! तू **च**=और **इन्द्रः**=वह शत्रु-विनाशक प्रभु **युवम्**=आप दोनों **एवा**=इस प्रकार **सत्यम्**=सचमुच ही **तत्**=उस **अश्व्यम्**=कर्मेन्द्रियों के समूह को और **गोः ऊर्वम्**=ज्ञानेन्द्रियों के समूह को **आदर्दृतम्**=(आदरयतम्) आदृत करो। इनको काम-क्रोध आदि से आक्रान्त न होने देकर इनको पवित्र बनाए रखो। इन्द्रियों की पवित्रता के लिए आवश्यक है कि हम इन्हें विषयों में फँसने से बचाएँ। हमारे जीवन का लक्ष्य सोम का रक्षण हो तथा हम उस शत्रु-विद्रावक प्रभु का स्मरण करें। (२) **अश्ना**=नाना प्रकार के विषयों के खाने की वृत्ति से **अपिहितानि**=आच्छादित हुई-हुई इन इन्द्रियों को इन्द्र और सोम **रिरिचथुः**=रिक्त करते हैं-इन्हें इन विषयों में नहीं फँसने देते। **ततृदाना**=शत्रुओं के हिंसक सोम और इन्द्र **क्षाः चित्**=इन शरीर-भूमियों को भी रोग आदि से रिक्त करते हैं।

भावार्थ—सोमरक्षण को जीवन का लक्ष्य बनाकर इन्द्र का स्मरण करते हुए हम इन्द्रियों को विषयों से मुक्त करते हैं। शरीरों को नीरोग बनाते हैं।

सूक्त का भाव यही है कि हम वासनारूप शत्रुओं को जीतकर सूर्यसम तेजस्वी बनें और प्रभु को प्राप्त करें। उपासना से शक्तिप्राप्ति के भाव से ही अगले सूक्त का प्रारम्भ है—

[२९] एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सत्यराधाः' प्रभु

आ नः स्तुत उप वाजेभिरूती इन्द्र याहि हरिभिर्मन्दसानः।
तिरश्चिदर्यः सवना पुरूण्याङ्गूषेभिर्गृणानः सत्यराधाः॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप **नः**=हमारे **उप**=समीप **ऊती**=रक्षा करने के लिए **वाजेभिः**=शक्तियों के साथ **आयाहि**=आइये। शक्तियों को प्राप्त कराके आप हमें आत्मरक्षण के योग्य बनाते हैं **मन्दसानः**=आनन्दित करते हुए आप **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों के साथ हमें प्राप्त होते हैं। उत्तम इन्द्रियाश्वों द्वारा आप हमारे आनन्द का कारण बनते हैं। (२) **अर्यः**=स्वामी आप **तिरः चित्**=तिरोहित होते हुए भी-हमें न दिखते हुए भी आप **पुरूणि**=पालक व पूरक **सवना**=यज्ञों के प्रति रक्षणार्थ प्राप्त होते हैं-सर्व यज्ञों के रक्षक आप ही तो हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। आप **आंगूषेभिः**=हमारे से किये जानेवाले स्तोत्रों से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हैं और **सत्यराधाः**=सत्यधनवाले हैं। स्तुत होने पर आप सत्यधन हमें प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। स्तुत-प्रभु हमारा रक्षण करते हैं, हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराते हैं और यज्ञों की प्रेरणा देते हैं। वे सत्यधन देनेवाले हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

'स्वश्व-अभीरु मन्यमान'

आ हि ष्मा याति नर्यश्चिकित्वान्हूयमानः सोतृभिरुप यज्ञम्।
स्वश्वो यो अभीरुर्मन्यमानः सुष्वाणेभिर्मदति सं ह वीरैः॥ २॥

(१) **नर्यः**=सब नरों का हित करनेवाले-उन्नतिपथ पर चलनेवालों का कल्याण करनेवाले **चिकित्वान्**=सर्वज्ञ प्रभु **सोतृभिः**=सोम का सवन करनेवालों से **हूयमानः**=पुकारे जाते हुए **उपयज्ञम्**=उनके यज्ञों में **हि**=निश्चय से **आयातिस्म**=आते ही हैं। हम सोम का अपने में सम्पादन करें। यज्ञशील बनने पर उन यज्ञों के रक्षक के रूप में हम प्रभु को अनुभव करेंगे। (२)

स्वश्वः=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले, **यः**=जो **अभीरुः**=सब भयों से रहित हैं, **मन्यमानः**=सर्वज्ञ हैं, वे प्रभु **सुष्वाणेभिः**=सोम का सवन करनेवाले **वीरैः**=वीर पुरुषों के साथ **ह**=निश्चयपूर्वक **संमदति**=आनन्द का अनुभव करते हैं, अर्थात् इन सोम को शरीर में उत्पन्न करनेवाले वीरपुरुषों से प्रभु प्रसन्न होते हैं। ये व्यक्ति प्रभुकृपा से ही उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करते हैं, निर्भय होते हैं और उत्तरोत्तर ज्ञान बढ़ानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम सोम का शरीर में रक्षण करें-वीर बनें। ऐसा करने पर हम प्रभु के प्रिय होंगे। प्रभु हमें 'स्वश्व-अभीरु-मन्यमान' बनाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुतीर्थ व अभय

श्रावयेदस्य कर्णा वाजयध्यै जुष्टामनु प्र दिशं मन्दयध्यै।
उद्वावृषाणो राधसे तुविष्मान्करन्न इन्द्रः सुतीर्थाभयं च॥ ३॥

(१) हे जीव! तू **वाजयध्यै**=शक्ति प्राप्त करने के लिए **कर्णा**=अपने कानों को **अस्य प्रदिशम्**=इस प्रभु के प्रकृष्ट निर्देशों को **इत्**=निश्चय से **श्रावय**=सुन। यदि तेरे कान प्रभु के निर्देशों को सुनेंगे, तो तू अवश्य शक्ति-सम्पन्न बनेगा। उस निर्देश को तू अपने को सुनानेवाला बन, जो कि **जुष्टां अनु**=सेवित होने के अनुपात में **मन्दयध्यै**=हर्षप्राप्ति के लिए होता है। जितना-जितना हम प्रभु के निर्देशों को सुनते हैं और पालते हैं (जुष्टां) उतना-उतना हमारा जीवन आनन्दमय बनता है। (२) **उद्वावृषाणः**=अत्यन्त सुखों का हमारे पर वर्षण करता हुआ प्रभु **नः**=हमें **राधसे करत्**=सफलता के लिए करते हैं। **तुविष्मान्**=वे बलवान् (शक्तिशाली) **इन्द्रः**=प्रभु हमारे लिए **सुतीर्था**='उत्तम माता-पिता-आचार्य' रूप तीर्थों को प्राप्त कराते हैं **च**=और इनके द्वारा **अभयम्**=निर्भयता को प्राप्त कराते हैं। माता हमारे चरित्र का निर्माण करती है, पिता आचार का तथा आचार्य ज्ञान का निर्माण करता है। इस प्रकार सच्चरित्रता, सदाचार व ज्ञान हमारे जीवन को निर्भय बनाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के निर्देशों को सुनें, उन्हें पालें। प्रभु हमें उत्तम माता-पिता-आचार्य रूप तीर्थों द्वारा सच्चरित्र, सदाचारी व ज्ञानी बनाकर निर्भयता प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्वों की प्राप्ति

अच्छा यो गन्ता नाधमानमूती इत्था विप्रं हवमानं गृणन्तम्।
उप त्मनि दधानो धुर्या३शून्त्सहस्राणि शतानि वज्रबाहुः॥ ४॥

(१) **यः**=जो प्रभु **ऊती**=रक्षण के साथ **इत्था**=ठीक-ठीक **नाधमानम्**=प्रार्थना करते हुए की **अच्छा**=ओर **गन्ता**=जानेवाले हैं। आराधक की रक्षा करने के लिए प्रभु प्राप्त होते ही हैं। उसको प्राप्त होते हैं, जो कि **विप्रम्**=विशेषरूप से अपना पूरण करने का प्रयत्न करता है, **हवमानम्**=प्रभु को पुकारता है, **गृणन्तम्**=प्रभु का स्तवन करता है। (२) **वज्रबाहुः**=वे वज्रहस्त प्रभु सतत क्रियावाले प्रभु **धुरि**=हमारे शरीररूप रथों के धुराओं में **सहस्राणि**=आनन्द के देनेवाले-जिन की गति हमारे आनन्द का कारण बनती है, **शतानि**=सौ वर्ष तक चलनेवाले-जीवन के अन्त तक सशक्त बने रहनेवाले **आशून्**=शीघ्रगामी इन्द्रियाश्वों को **त्मनि**=आत्मा में, अर्थात् आत्मवश्यता में **उपदधानः**=स्थापित करते हैं। प्रभु हमें ऐसे इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं, जो कि (क) आनन्द-

वृद्धि का कारण बनते हैं (सहस्राणि), (ख) जीवनभर-शतवर्ष पर्यन्त सशक्त रहते हैं और (ग) आत्मवश्य होते हैं (त्मनि)।

भावार्थ—आराधक को प्रभु प्राप्त होते हैं और उसके लिए उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—स्वराट् पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'बृहद्दिव, आकाय्य व पुरुक्षु'

त्वोतासो मघवन्निन्द्र विप्रा वयं ते स्याम सूरयो गृणन्तः।
भेजानासो बृहद्दिवस्य राय आकाय्यस्य दावने पुरुक्षोः॥ ५॥

(१) हे **मघवन्**=परमैश्वर्यवाले! **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **त्वा**=आपसे **ऊतासः**=रक्षित हुए-हुए **विप्राः**=अपना पूरण करनेवाले **वयम्**=हम **ते स्याम**=आपके हों। **सूरयः**=हम ज्ञानी बनें और **गृणन्तः**=सदा स्तवन करनेवाले हों। प्रभु से रक्षित हुए-हुए हम मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ज्ञानी तथा मन के दृष्टिकोण से स्तवन की वृत्तिवाले हों। (२) हे प्रभो! हम **बृहद्दिवस्य**=महान् ज्ञानवाले, **आकाय्यस्य**=समन्तात् स्तुत्य **पुरुक्षोः**=बहुत कीर्तिवाले आपके **रायः दावने**=धन के दान में **भेजानासः**=भागीदार हों। आप से दिये जानेवाले ऐश्वर्य के हम भी पात्र हों। वह धन हमारे ज्ञान की वृद्धि में सहायक हो-हमें भी 'बृहद्दिव' बनाए। यह धन हमारे जीवन को स्तुत्य बनानेवाला हो-इस धन के द्वारा हम 'आकाय्य' बनें। यह धन दान में विनियुक्त होकर हमारी कीर्ति बढ़ानेवाला हो-हम 'पुरुक्षु' बनें।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित होकर हम ज्ञानी व स्तवन की वृत्तिवाले बनें। प्रभु हमें वह धन दें, जो कि हमें 'ज्ञानी, प्रशस्त जीवनवाला व कीर्ति-सम्पन्न' बनाए।

सूक्त का भाव यही है कि प्रभु हमारे जीवन को 'स्वश्व, अभीरु, मन्यमान, बृहद्दिव, आकाय्य व पुरुक्षु' बनाएँ। ऐसा बनने के लिए ही आराधक प्रभु की उपासना करता हुआ कहता है कि—

[३०] त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'अनुपम' प्रभु

नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्। नकिरेवा यथा त्वम्॥ १॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शक्ति के कर्मों को करनेवाले परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य, इदि परमैश्वर्ये) **त्वद्**=आप से **उत्तरः**=उत्कृष्टतर **नकिः**=कोई भी नहीं है। आपकी शक्ति व ऐश्वर्य को कोई भी अभिभूत नहीं कर सकता। (२) हे **वृत्रहन्**=सब ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप से **ज्यायान्**=अधिक प्रशस्यतर **न**=कोई भी नहीं है। आप ही उपासक को वासना शून्य जीवनवाला बनाकर उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कराते हैं। परन्तु एक उपासक कितना भी उत्कृष्टतर व प्रशस्यतर जीवनवाला बनता जाए, तो भी वह **यथा त्वम्**=जैसे आप हैं, वैसा **नकिः एव**=नहीं ही बन सकता 'न मुक्तानामपि हरेः साम्यम्'। प्रभु अनुपम हैं 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'।

भावार्थ—प्रभु से न कोई उत्कृष्टतर है, न प्रशस्यतर। प्रभुं जैसा भी कोई नहीं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भ्रामयन् सर्वभूतानि

सत्रा ते अनु कृष्टयो विश्वा चक्रेव वावृतुः। सत्रा महाँ असि श्रुतः ॥ २ ॥

(१) हे इन्द्र! **सत्रा**=सचमुच **विश्वा चक्रा इव**=जैसे सब चक्र आपकी शक्ति से ही चल रहे हैं-क्या दिन-रात का चक्र, सप्ताह का चक्र, शुक्ल-कृष्ण पक्षों का चक्र, मासों का चक्र, ऋतुओं का चक्र, वर्षों व युगों का चक्र और क्या सूर्यादि पिण्डों के चक्र सब आपकी शक्ति से ही चल रहे हैं, इसी प्रकार **कृष्टयः**=सब मनुष्य **ते अनु वावृतुः**=आपके शासन के अनुसार चल रहे हैं। 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। (२) हे प्रभो! आप **सत्रा**=सचमुच ही **महान् श्रुतः**=महान् प्रसिद्ध **असि**=हैं। सर्वत्र आपकी कीर्ति विद्यमान है। कण-कण में आपकी महिमा दृष्टिगोचर हो रही है। आप ही पूज्य हैं, ज्ञानी हैं।

भावार्थ—सब प्रजाएँ प्रभु की शक्ति से ही गतिवाली हो रही हैं। वे प्रभु ही महान् हैं, प्रसिद्ध हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दिन-रात शत्रु-विनाश

विश्वे चनेदना त्वा देवास इन्द्र युयुधुः। यदहा नक्तमातिरः ॥ ३ ॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **विश्वे चन देवासः**=सब ही देववृत्ति के व्यक्ति-असुरों को पराजित करने की कामनावाले (दिव् विजिगीषा) व्यक्ति **इत्**=निश्चय से **अना**=प्राणशक्तिरूप **त्वा**=आप से मेल को प्राप्त करके **युयुधुः**=युद्ध करते हैं। आपकी सहायता के बिना उनके लिए काम-क्रोध आदि शत्रुओं से युद्ध करना सम्भव नहीं होता। (२) **यत्**=क्योंकि आप ही **अहानक्तम्**=दिन-रात **आ अतिरः**=समन्तात् शत्रुओं का वध करते हैं। प्रभु की शक्ति से ही इन शत्रुओं का संहार होता है।

भावार्थ—देववृत्ति के लोग प्रभु को हृदयस्थ करके काम-क्रोध आदि शत्रुओं से युद्ध करते हैं। प्रभु ही इनके शत्रुओं का संहार करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सहस्रार-चक्र का उद्बोधन

यत्रोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते। मुषाय इन्द्र सूर्यम् ॥ ४ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार **यत्र**=जिस, आसुरभावों के साथ होनेवाले युद्ध में **उत**=और **बाधितेभ्यः**=(बाधा संजाता अस्य) काम-क्रोध आदि पीड़ित करनेवाले आसुरभावों के लिए, अर्थात् इन आसुरभावों के विनाश के लिए **युध्यते कुत्साय**=आसुरभावों से युद्ध करनेवाले वासनाओं के हिंसिक कुत्स के लिए हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! आप **सूर्यं चक्रम्**=सूर्य सम्बन्धी चक्र को **मुषायः**=पराभूत करते हैं, अर्थात् कुत्स को आप सूर्य-चक्र से भी अधिक तेजस्वी चक्र प्राप्त कराते हैं। (२) शरीर में मेरुदण्ड के मूल में मूलाधार-चक्र है और शिखर पर 'सहस्रार-चक्र' है। यह सहस्रार-चक्र सूर्य से भी अधिक तेजस्वी है। इस चक्र के विकसित होने पर सब अन्धकार समाप्त हो जाता है। अन्धकार के विलय के साथ सब वासनाओं का विलय हो जाता है। वासनाविलय करनेवाला यह सचमुच 'कुत्स' बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सहस्रार-चक्र विकसित होने पर सब पीड़ाकर आसुरभाव विनष्ट

हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

हिंसकों की हिंसा

यत्र देवाँ ऋघायतो विश्वाँ अयुध्य एक इत्। त्वमिन्द्र वनूँरहन्॥ ५॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **यत्र**=जब **देवान्**=दिव्य गुणों को **ऋघायतः**=हिंसित करनेवाले **विश्वान्**=सब आसुरभावों को **एकः इत्**=आप अकेले ही **अयुध्यः**=युद्ध द्वारा परास्त करते हैं। बिना आपके इनका पराभव सम्भव नहीं होता। (२) हे इन्द्र! **त्वम्**=आप ही **वनून्**=इन हिंसक शत्रुओं को **अहन्**=विनष्ट करते हैं। इनका विनाश होने पर ही दिव्यगुणों का विकास होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हिंसक भावों का विनाश होकर दिव्यगुणों का विकास होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

एतश

यत्रोत मर्त्याय कमरिणा इन्द्र सूर्यम्। प्रावः शचीभिरेतशम्॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रु-विनाशक प्रभो! **उत यत्र**=और जब **मर्त्याय**=वासनाओं से निरन्तर आक्रान्त होनेवाले इस पुरुष के लिये आप के **सूर्यम्**=सुखप्रद सूर्य को **अरिणाः**=(रिणाति give grant) देते हैं, अर्थात् जब आप सब अज्ञानान्धकार को विनष्ट करने के लिए इसमें 'सहस्रार-चक्र' का विकास करते हैं, तो उस समय **शचीभिः**=शक्तियों व प्रज्ञानों के साथ **एतशम्**=(Shining) इस दीप्त ज्ञानवाले को **प्रावः**=सुरक्षित करते हैं। (२) सहस्रार-चक्र के उद्बोधन से पूर्व काम-क्रोध के आक्रमण की आशंका बनी ही रहती है। इस चक्र का उद्बोधन होने पर इन शत्रुओं का दहन हो जाता है और मनुष्य 'मर्त्य' न रहकर 'अमर' हो जाता है। इसे प्रभुकृपा से शक्ति व प्रज्ञान प्राप्त होता है। यह दीप्त जीवनवाला 'एतश' (Shining) इस यथार्थ नामवाला होता है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से सहस्रार-चक्र का उद्बोधन होने पर शक्ति व प्रज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दानवी वृत्तियों का दहन

किमादुतासि वृत्रहन्मघवन्मन्युमत्तमः। अत्राह दानुमातिरः॥ ७॥

(१) हे **वृत्रहन्**=वासना को विनष्ट करनेवाले और **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले प्रभो! आप **किम्**=क्या ही **मन्युमत्तमः**=अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानवाले हैं? अनन्त है आपका ज्ञान। (२) **उत**=और **आत्**=शीघ्र ही आप **अत्र अह**=इस जीवन में ही **दानुम्**=हमारी दानवी वृत्ति को **आतिरः**=विनष्ट कर देते हैं। मैं आपकी उपासना करता हूँ। इस उपासना से ही आपकी उस ज्ञान की ज्वाला में मेरी सब वासनाएँ भस्म हो जाती हैं। सचमुच आश्चर्य होता है कि किस प्रकार मैं वासनाओं से परेशान हो रहा था। आपकी उपासना करते ही वे सब वासनाएँ अत्यन्त निर्बल पड़ जाती हैं, निर्बल क्या, विनष्ट ही हो जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की प्रचण्ड ज्वालावाले हैं, उसमें उपासक की सब दानवी वृत्तियाँ दग्ध हो जाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

उषा का वध

एतद्घेदुत वीर्य१मिन्द्र चकर्थ पौंस्यम्। स्त्रियं यद्दुर्हणायुवं वधीर्दुहितरं दिवः ॥ ८ ॥

(१) जीवन में रात्रि का समय स्वप्रावस्था में बीतता है-अचेतन-सी अवस्था में। इसलिए उस समय पाप की सम्भवाना नहीं रहती। दिन में जागरित हो जाने से पुरुष पापों से अपना बचाव कर लेता है। उषाकाल ऐसा है, जो कि न स्वप्न का और नां ही पूर्ण जागरण का है। इस समय ही पापों का होने सम्भव है। उन पापों से बचने का उपाय यही है कि हम पूर्ण जागरण की स्थिति में होने का प्रयत्न करें। इसी को काव्यमय भाषा में इस प्रकार कहेंगे कि उषा के रथ का विदारण करके आगे बढ़ें। उषा तो मानो 'उष दाहे' हमें 'काम' आदि वासनाओं से संतप्त करती है। इसका वध आवश्यक है। (२) सो मन्त्र में कहते हैं कि, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **उत**=और **एतत्**=यह **घा इत्**=निश्चय से तू **पौंस्यम्**='पुंसः योग्यम्' (पू+मसुन्) जीवन को पवित्र करनेवाले **वीर्यम्**=शक्तिशाली कर्म को **चकर्थ**=करता है **यत्**=कि **दुर्हणायुवम्**=(दुष्टं हननमिच्छन्तीम्) हमारे भयंकर नाश को चाहती हुई इस **दिवः दुहितरम्**=(दिव्=स्वप्न) स्वप्न की दुहिता को-स्वप्न की पूरिका को स्वप्न की समाप्ति पर आनेवाली **स्त्रियम्**=हमारे संघात की कारणभूत (स्त्यै संघाते) इस उषा को **वधाः**=तुम नष्ट करते हो। उषा को नष्ट करके जीवन में ज्ञान सूर्य का उदय करके पापवृत्ति से ऊपर उठते हो।

भावार्थ—हम स्वप्न की समाप्ति पर उषा की अर्धजागरित स्थिति को शीघ्र समाप्त करके, जागरित स्थिति में आने का प्रयत्न करें, ताकि पापवासनाओं से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र उषाश्च ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

अर्ध चेतनावस्था का विनाश

दिवश्चिद्घा दुहितरं महान्महीयमानाम्। उषासमिन्द्र सं पिणक् ॥ ९ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **महान्**='मह पूजायाम्' प्रभुपूजा की वृत्तिवाला बन। प्रभु का उपासक बन करके **इत्**=ही **चित् घा**=निश्चय से तू **उषासम्**=उषा को **संपिणक्**=संपिष्ट करनेवाला होता है। इस अर्ध जागरित स्थिति को समाप्त करके तू जागरित स्थिति में आ जाता है। (२) यह उषा **दिवः दुहितरम्**=(दिव् स्वप्ने) स्वप्न की पुत्री है। स्वप्नावस्था से इसकी उत्पत्ति होती है। स्वप्न के अनन्तर आनेवाली यह पूर्ण जागरित न होने से हमारे पापों के उदय का कारण बनती है। सो इसका विनाश आवश्यक है। **महीयमानाम्**=यह पूर्ण जागरण के अभाव में बड़े-बड़े स्वप्न देखती है-गर्व का अनुभव करती है-वास्तविक स्थिति से सदा ओझल रहती है।

भावार्थ—एक जितेन्द्रिय पुरुष को चाहिए कि रात्रि समाप्त होने पर पूर्ण जागरित स्थिति में आने का प्रयत्न करे। अर्धचेतन अवस्था में व्यर्थ के गर्व को न अनुभव करता रहे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्र उषाश्च ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उषा के रथ का संपेषण

अपोषा अनसः सरत्संपिष्टादह बिभ्युषी। नि यत्सीं शिश्नथद्वृषा ॥ १० ॥

(१) **यत्**=जब **सीम्**=निश्चय से **वृषा**=शक्ति का अपने अन्दर सेचन करनेवाला इन्द्र **निशिश्नथद्**=उषा के शकट को हिंसित करता है, अर्थात् शीघ्रता से पूर्ण जागरित स्थिति में आने का यत्न करता है तो **अह**=निश्चय से **उषा**=यह वासनाओं से संतप्त करनेवाला कालक्षण **बिभ्युषी**=मानो

भयभीत हुए-हुए **संपिष्टाद् अनसः**=पिसे हुए शकट से **अप असरत्**=दूर भाग जाता है। (२) अर्धचेतनावस्था को परे फेंककर जाग उठना ही ठीक है। इसी से हम वासनाओं से संतप्त होने से बच पाएँगे। इस प्रकार अर्ध चेतनावस्था को परे फेंकना ही उषा के रथ का संपेषण है।

भावार्थ—उषा के रथ का संपेषण करके हम पूर्ण चेतनावस्था में आने का प्रयत्न करें। यही वासनाओं से असंतप्त होने का मार्ग है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्र उषाश्च॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

आत्मप्रेरणा

एतद॑स्या॒ अन॑: शये॒ सुसं॑पिष्टं॒ विपा॒श्या। स॒सार॒ सीं॑ परा॒वत॑:॥ ११॥

(१) हम प्रातः जागें तो अपने को निम्न प्रकार से आत्मप्रेरणा देते हुए पूर्णतया जाग उठें कि—**अस्याः**=इस उषा का **एतत्**=यह **अनः**=शकट **विपाशि**=एक-एक पाश के छिन्न-भिन्न कर देने पर **सुसम्पिष्टम्**=सम्यक् चूर्णित हुआ-हुआ **आशये**=इधर-उधर (चारों ओर) तितर-बितर हुआ पड़ा है। (२) यह उषा **सीम्**=निश्चय से **परावतः ससार**=सुदूर देश में निकल गई है। अब मैं जाग उठा हूँ। अपूर्ण जागृति में उत्पन्न होनेवाली वासनाएँ अब मुझे सन्तप्त नहीं कर सकतीं।

भावार्थ—हम उषा के शकट को तोड़कर सूर्य के रथ पर आरूढ़ हों, ताकि उसके प्रचण्ड प्रकाश में वासनान्धकार विलीन हो जाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विबाल्य सिन्धु

उ॒त सिन्धुं॑ विबा॒ल्यं॑ वितस्था॒नामधि॒ क्षमि॑। परि॑ ष्ठा इन्द्र मा॒यया॑॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप काम आदि शत्रुओं का संहार करते हैं, **उत**=और **विबाल्यम्**=बाल्यावस्था से ऊपर उठे हुए अथवा मूर्खता से शून्य **वितस्थानाम्**=(वितिष्ठमानां) विशेषरूप से स्थित **सिन्धुम्**=इस ज्ञाननदी को **अधिक्षमि**=इस पृथिवी रूप शरीर में **मायया**=प्रज्ञान द्वारा **परिष्ठाः**=सर्वतः स्थापित करते हैं। (२) हे प्रभो! आप हमारी वासना को विनष्ट करते हैं और आपकी कृपा से हमारे जीवन में ज्ञान का प्रवाह प्रवाहित होने लगता है। यह ज्ञान-नदी ज्ञानजल से भरपूर होती है। हमारे इस शरीर में इस ज्ञान का विशिष्ट स्थान होता है। शरीररूप पृथिवी की यह विशिष्ट नदी होती है।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से मेरी ज्ञाननदी का प्रवाह भरपूर रूप से बहनेवाला हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शुष्णासुर का विध्वंस

उ॒त शुष्ण॑स्य धृष्णु॒या प्र मृ॑क्षो अ॒भि वेद॑नम्। पुरो॒ यद॑स्य संपि॒णक्॥ १३॥

(१) **उत**=और हे प्रभो! आप गतमन्त्र के अनुसार मेरे जीवन में ज्ञाननदी के प्रवाह को चलाते हैं और **धृष्णुया**=इस ज्ञान की शत्रुधर्षक शक्ति द्वारा **शुष्णस्य**=हमारा शोषण करनेवाले कामदेव के **वेदनम्**=धन को **अभि प्रमृक्षः**=बाधित करनेवाले होते हैं। शुष्ण के वेदन का आप सफाया कर देते हैं। कामदेव की सम्पत्ति को विनष्ट करके आप हमें ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले होते हैं। (२) यह सब तब होता है, **यद्**=जब कि आप **अस्य पुरः**=इस कामदेव की नगरियों को **सम्पिणक्**=सम्यक् पीस डालते हैं। कामदेव की नगरियों के भस्मावशेष पर ही सरस्वती के भवन का निर्माण होता है।

भावार्थ—कामभावना समाप्त होने पर ही ज्ञानैश्वर्य प्राप्त होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

शम्बर-हनन

उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि। अवाहन्निन्द्र शम्बरम् ॥ १४ ॥

(१) हे इन्द्र=शत्रु-विनाशक प्रभो! आप गतमन्त्र के अनुसार शुष्ण को तो समाप्त करते ही हो। **उत**=और **दासम्**=हमारा उपक्षय करनेवाले **कौलितरम्**=(कुलिः Hand, तेन प्रतारयति) हाथों से धोखा देनेवाले—छलछिद्र में चलनेवाले, **शम्बरम्**=शान्ति को आवृत कर लेनेवाले 'ईर्ष्या-द्वेष' रूप इस शम्बरासुर को **बृहतः**=दिन व दिन वृद्धि को प्राप्त होते हुए **पर्वतात्**=(ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादिना वा द०) ज्ञान से **अधि अवाहन्**=नीचे नष्ट करते हैं। (२) जब मनुष्य ईर्ष्या से आक्रान्त हो जाता है, तब छलछिद्र का अवलम्बन करता ही है। टेढ़े-मेढ़े साधनों से शत्रु को विनष्ट करता है। ईर्ष्या में सरलता समाप्त हो जाती है। इसलिए यहाँ 'शम्बर' को 'कौलितर' कहा गया है। हमारे स्वास्थ्य का भी विनाश करने से इसे 'दास' कहा गया है ज्ञान की वृद्धि होने पर ही ईर्ष्या समाप्त होती है। इसी बात को इस रूप में कहा गया है कि इसे बृहत् पर्वत से गिराकर चकनाचूर कर दिया जाए।

भावार्थ—ज्ञान की वृद्धि से ईर्ष्या का विनाश होता है। ईर्ष्या के कारण हम छलछिद्र को अपनाते हैं, यह हमारे स्वास्थ्य को भी विनष्ट कर देती है। सो इसका विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'वर्ची' के शतशः दुर्गों का संहार

उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शतावधीः। अधि पञ्च प्रधीँरिव ॥ १५ ॥

(१) 'वर्चस्' शब्द शक्ति के लिये प्रयुक्त होता है। इस शक्ति का प्रयोग उत्तम मार्ग से करनेवाला 'वर्चस्वी' कहलाता है। इस शक्ति का दुरुपयोग करनेवाला 'वर्ची' हो जाता है। **उत**=और **दासस्य**=औरों का उपक्षय करनेवाली **वर्चिनः**=दुष्ट शक्तिवाली आसुर-भावना के **पञ्चशता**=पाँच सौ अथवा **सहस्राणि**=हजारों रूपों को हे प्रभो! आप **अधि अवधीः**=आधिक्येन नष्ट करते हैं। (२) इस प्रकार इन्हें नष्ट करते हैं, **इव**=जैसे कि **प्रधीन्**=चक्र के चारों ओर स्थित शंकुओं को नष्ट करते हैं। आसुरभावनाएँ हमें ऐसे ही घेरे रखती हैं, जैसे कि चक्र को शंकु घेरे हुए होते हैं। ये आसुर-भावनाएँ अत्यन्त प्रबल होती हैं। ये हमारे विनाश का कारण बनती हैं। प्रभुकृपा से ही इनका विनाश होता है।

भावार्थ—हम वर्चस्वी बनें, नकि वर्ची। हमारी शक्ति परपीड़न में विनियुक्त होती हुई आसुर न बन जाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु उपासना से 'परावृक्त' बनना

उत त्यं पुत्रमग्रुवः परावृक्तं शतक्रतुः। उक्थेष्विन्द्र आभजत् ॥ १६ ॥

(१) जैसे भिक्षु आदि शब्दों में 'उ' प्रत्यय है, इसी प्रकार 'अग्रु' में भी यही प्रत्यय है। स्त्रीलिंग में 'ऊङ्' प्रत्यय आकर 'अग्रू' हो जाता है। निरन्तर प्रगतिशील व्यक्ति 'अग्रु' है। इसका पुत्र, अर्थात् अत्यन्त प्रगतिशील यहाँ 'अग्रुवः पुत्रम्' कहा गया है। **शतक्रतुः**=अनन्त प्रज्ञानों व कर्मोंवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **उत**=निश्चय से **त्यम्**=उस **अग्रुवः पुत्रम्**=अत्यन्त प्रगतिशील

परावृक्तम्=व्यसनों से रहित (वृजी वर्जने) व्यक्ति को **उक्थेषु**=स्तोत्रों में **आभजत्**=भागी करते हैं। इसे स्तोत्रों की ओर झुकाववाला बनाते हैं। (२) वस्तुतः प्रभु-स्तवन की ओर झुकाव ही इसे प्रगतिशील व व्यसनों में न फँसा हुआ बनाता है। शतक्रतु प्रभु की उपासना से हमारा जीवन भी यज्ञमय बनता है, स्वभावतः हम व्यसनों से बच जाते हैं। व्यसनों से बचना हमारी प्रगति का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम व्यसनों से बचकर निरन्तर प्रगतिपथ पर आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'शचीपति इन्द्र विद्वान्' आचार्य

उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः। इन्द्रो विद्वाँ अपारयत्॥ १७॥

(१) **शचीपतिः**=कर्म व प्रज्ञान का स्वामी **इन्द्रः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **उत**=निश्चय से **त्या**=उन **तुर्वशायदू**=शीघ्रता से शत्रुओं को वश में करनेवाले तथा यत्नशील पुरुषों को, **अस्नातारा**=जो ज्ञान समुद्र में स्वयं स्नान नहीं कर सके, **अपारयत्**=इस समुद्र में स्नान कराके पार लगाता है। (२) आचार्य की विशेषताएँ 'शचीपति, इन्द्र व विद्वान्' शब्दों से व्यक्त की गई हैं। आचार्य को (क) कर्म व प्रज्ञान का स्वामी होना चाहिए, (ख) यह जितेन्द्रिय हो, (ग) अत्यन्त ज्ञानी हो। विद्यार्थी को तुर्वश व यदु बनना है। (क) यह शीघ्रता से काम-क्रोध आदि को वशीभूत करनेवाला हो, (ख) यत्नशील हो-आलस्य शून्य। ऐसे ही विद्यार्थी को आचार्य ज्ञानसमुद्र के पार लगाने में समर्थ होता है। अस्नात को स्नात बनाता है। उस समय इसका नाम 'स्नातक' हो जाता है।

भावार्थ—'शचीपति-इन्द्र-विद्वान्' आचार्य 'तुर्वश यदु' विद्यार्थी को ज्ञान समुद्र में स्नान कराके स्नातक बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अर्णाचित्ररथा' का सरयू के पार पहुँचना

उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः। अर्णाचित्ररथावधीः॥ १८॥

(१) **उत**=और हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **सद्यः**=शीघ्र ही **त्या**=उन **आर्या**=श्रेष्ठ **अर्णाचित्ररथा**=(अर्ण=Being in motion) गतिशील और गतिशीलता के कारण ही (चित्र) अद्भुत, ज्ञानसम्पन्न, शरीर-रथवाले उपासकों को **सरयोः पारतः**=इस ज्ञाननदी के पार **अवधाः**=(हन् गतौ) ले जाते हैं। (२) उल्लिखित मन्त्र के 'अपारयत्' का भाव यहाँ 'सरयोः पारतः अवधीः' इन शब्दों से कहा गया है। 'तुर्वशायदू' के स्थान में यहाँ 'अर्णाचित्ररथा' है। सरस्वती नदी यहाँ सरयू है। इसके पार जाना ही ज्ञानी बनना व स्नातक बनना है। आचार्य का मुख्य गुण 'इन्द्र' होना-जितेन्द्रिय होना है। विद्यार्थी को 'आर्य'=नियमित गतिवाला बनना है disciplined।

भावार्थ—गतिशील व ज्ञानरुचि विद्यार्थी को आचार्य ज्ञाननदी के पार ले जाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अन्ध व श्रोण' का नीरोग होना

अनु द्वा जहिता नयोऽन्धं श्रोणं च वृत्रहन्। न तत्ते सुम्नमष्टवे॥ १९॥

(१) हे **वृत्रहन्**=सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **अन्धम्**=जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक काम नहीं करतीं और अतएव जो मार्ग को नहीं देख पाता **च**=तथा **श्रोणम्**=लंगड़े को जिसकी

कर्मेन्द्रियाँ ठीक काम नहीं करतीं और अतएव जो मार्ग पर नहीं चल पाता, उन **द्वा**=दोनों को ही **जहिता**=जो धर्ममार्ग से त्यक्त हो गये हैं, उन्हें आप **अनुनयः**=ज्ञान और शक्ति देकर अनुकूलता से मार्ग पर आगे ले चलते हैं। प्रभु अन्धे को मानो आँखें दे देते हैं, लंगड़े को चलने की शक्ति प्राप्त करा देते हैं। (२) **ते**=आपका **तत्**=वह **सुम्नम्**=आनन्द (happiness) व रक्षण (protection) **अष्टवे न**=व्याप्त करने के लिए नहीं होता। आपके अतिरिक्त इस आनन्द व रक्षण को कोई और नहीं प्राप्त करा सकता।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त कराके अनुकूलता से धर्ममार्ग पर ले चलते हुए अद्भुत सुख प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'दिवोदास-दाश्वान्' के लिये पुरों का विदारण

शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्। दिवोदासाय दाशुषे॥ २०॥

(१) **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभु **अश्मन्मयीनाम्**=पत्थरों से बनी हुई, अत्यन्त दृढ़ **पुराम्**=शत्रुनगरियों के **शतम्**=सैकड़े को **व्यास्यत्**=परे फेंकते हैं-नष्ट करते हैं। प्रभुकृपा से ही इन 'काम-क्रोध-लोभ' की नगरियों का विध्वंस होता है। (२) पर प्रभु यह शत्रुनगरियों का विध्वंस **'दिवोदासाय'**=ज्ञान के दास (भक्त) के लिए करते हैं, उसके लिए करते हैं, जो कि **दाशुषे**=दाश्वान् है-देने की वृत्तिवाला है। हम ज्ञानी बनने का प्रयत्न करें, त्याग की वृत्तिवाले हों, तभी प्रभु हमारे शत्रुओं का विध्वंस करेंगे।

भावार्थ—हम ज्ञानप्रवण व दानशील बनें। प्रभु हमारे शत्रुओं का विध्वंस करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'दभीति' के शत्रुओं का सो जाना

अस्वापयद्दभीतये सहस्रा त्रिंशतं हथैः। दासानामिन्द्रो मायया॥ २१॥

(१) **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु **मायया**=अपने अद्भुत ज्ञान व सामर्थ्य से (extraordinary power, wisdom) अथवा दया से (pity, compassion) **दासानाम्**=हमारा उपक्षय करनेवाली **त्रिंशतं सहस्रा**=तीसों हजार आसुर वृत्तियों को **हथैः**=हननसाधन आयुधों से **अस्वापयत्**=सुला देते हैं। प्रभु की शक्ति से आसुरभावों का विनाश होता है। (२) प्रभु यह आसुरभावों का विनाश **दभीतये**=दभीति के लिए करते हैं। उस व्यक्ति के लिए करते हैं, जो कि आसुरभावों के हिंसन के लिए यत्नशील होते हैं। प्रभु हमारे लिए साधन प्राप्त कराते हैं, उन साधनों को क्रिया में परिणत करने के लिए शक्ति देते हैं। इन साधनों का ठीक प्रयोग करने की प्रेरणा देते हुए वे प्रभु इस 'दभीति' के लिए सहायक होते हैं।

भावार्थ—हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं के हिंसन में प्रवृत्त हों। प्रभु के साहाय्य से हम अवश्य सफल होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'समान+गो पति' इन्द्र

स घेदुतासि वृत्रहन्त्समान इन्द्र गोपतिः। यस्ता विश्वानि चिच्युषे॥ २२॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का प्रच्यावन करनेवाले प्रभो! **उत**=और **सः**=वे आप **घा इत्**=निश्चय से **समानः**=(सम् आनयति) हमें सम्यक् प्राणित करनेवाले हैं। हे **वृत्रहन्**=हमारी सब

वासनाओं के विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप ही **गो पतिः**=हमारी सब इन्द्रियों के रक्षक हो। वासना के विनाश से ही तो इन्द्रियों की शक्ति का रक्षण होता है। (२) आप वे हैं, **यः**=जो **ता विश्वानि**=उन सब शत्रुओं को **चिच्युषे**=प्रच्यावित करते हैं। आपकी शक्ति व प्रेरणा से ही इन शत्रुओं का विनाश हुआ करता है।

भावार्थ—प्रभु ही हमें प्राणित करके काम आदि शत्रुओं का पराजय कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पौंस्यं इन्द्रियम्

उत नूनं यदिन्द्रियं करिष्या इन्द्र पौंस्यम्। अद्या नकिष्टदा मिनत्॥ २३॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **उत**=और **नूनम्**=निश्चय से **यत्**=जो **पौंस्यम्**=(पू) सब पवित्रताओं के करनेवाले **इन्द्रियम्**=(वीर्यं) बल को आप **करिष्याः**=हमारे लिए करते हैं। **तत्**=उस आपके बल को **अद्या**=अब **नकिः आमिनत्**=कोई भी हिंसित नहीं कर पाता। (२) प्रभु से हमें शक्ति प्राप्त होती है तो हम काम आदि शत्रुओं से फिर पराजित नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें वह पवित्र बल प्राप्त कराएँगे, जो कि हमें शत्रुओं से पराजित न होने देगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

वामम्

वामंवामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा। वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती॥ २४॥

(१) हे **आदुरे**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विदारण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष! **ते**=तेरे लिए **अर्यमा**=शत्रुओं का नियमन करनेवाला (अरीणां नियमयिता) **देवः**=शत्रुओं का विजेता (दिव्-विजिगीषा) प्रभु **वामं वामं ददातु**=सब सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं को दे। काम-क्रोध आदि के संहार द्वारा यह अर्यमा देव हमें सुन्दर दिव्य गुणों को प्राप्त कराएँ। (२) **पूषा**=सब का पोषण करनेवाला **देव वामम्**=सुन्दर स्वस्थ शरीर को प्राप्त करानेवाला हो। **भगः**=सेवनीय धन का अधिष्टातृदेव हमारे लिए **वाम्**=सुन्दर सुपथार्जित धन को दे। **करूडती**=(कृत्तदन्तः) जिसने दान्तों को काट दिया है, अर्थात् जो खान-पान में ही फँसा हुआ नहीं है, वह **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **वामम्**=हमारे लिए भोगों में अनासक्त सुन्दर जीवन को प्राप्त कराए। (३) 'अर्यमा' नाम से प्रभु का स्मरण करता हुआ स्तोता काम-क्रोध आदि अरियों का नियमन करता है और अपने जीवन को सुन्दर दिव्य गुणों से युक्त करता है। 'पूषा' नाम से प्रभु का स्मरण उसे उचित पोषण के लिए युक्ताहार-विहार बनाता है, इससे वह स्वस्थ सुन्दर शरीरवाला होता है। 'भग' नाम से प्रभु का स्मरण उसे सेवनीय धन के ही अर्जन के लिए प्रेरित करता है। प्रभु बिलकुल नहीं खाते, सो वे 'कृत्तदन्त' हैं। हम भी भोगों में अनासक्त बने हुए कृत्तदन्त ही होते हैं। उस समय हम अनासक्तिवाला सुन्दर जीवन प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम शत्रुओं का नियमन करें। शरीर के पोषण के लिए युक्ताहार-विहार करें। सुपथ से धनार्जन करें। भोगों में अनासक्त जीवनवाले हों।

सूक्त का सार यही है कि हम उस अनुपम प्रभु का स्मरण करते हुए अधिक से अधिक सुन्दर जीवनवाले बनने का यत्न करें। प्रभु की तरह ही 'अर्यमा, पूषा, भग व कृत्तदन्त देव' बनें। इस प्रभु से रक्षण के लिए प्रार्थना के साथ अगले सूक्त का प्रारम्भ होता है—

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु का कल्याणकारक रक्षण

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥

(१) **चित्रः**=वे चायनीय-पूजनीय, **सदावृधः**=सदा से बढ़े हुए **सखा**=हमारे मित्र प्रभु **कया ऊती**=कल्याणकारक रक्षण द्वारा **नः आभुवत्**=हमारे अभिमुख होते हैं-प्रभु हमें आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं। (२) वे प्रभु **कया**=कल्याणकारक **शचिष्ठया**=प्रज्ञावत्तम-अधिक से अधिक बुद्धि से युक्त, **वृता**=आवर्तन द्वारा हमें आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं। प्रातः से सायं तक समस्त दैनिक कार्यक्रम 'वृत्' कहलाता है। इस समस्त कार्यक्रम को बुद्धिमता से करें, तो यह वृत् 'शचिष्ठा' होता है। प्रभु उपासक को इस 'शचिष्ठ वृत्' में चलाते हैं। इस 'शचिष्ठवृत्' द्वारा ही प्रभु उपासक का कल्याण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का कल्याणकारक रक्षण हमें प्राप्त हो। प्रभुकृपा से हम प्रज्ञापूर्वक दैनिक कार्यचक्र को करनेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'आनन्दमय सत्यनिष्ठ' जीवन

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृळ्हा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥

(१) **कः**=आनन्दमय **सत्यः**=सत्यस्वरूप **मदानां मंहिष्ठः**=आनन्दों का सर्वाधिक देनेवाला वह प्रभु **त्वा**=तुझ उपासक को **अन्धसः**=सोम द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करे। वस्तुतः सोम द्वारा हमारा जीवन भी आनन्दमय व सत्यनिष्ठ बनता है। (२) इस सोम के मद में यह उपासक **दृढा चित्**=अत्यन्त दृढ़ भी **वसु**=काम-क्रोध-लोभ के निवास स्थानों को **आरुजे**=तोड़ने के लिए समर्थ होता है। इन्द्रियों में बने हुए 'काम' के किले को, मन में बने हुए क्रोध के दुर्ग को तथा बुद्धि में बने हुए लोभ के निवास-स्थान को यह सुरक्षित सोम नष्ट कर देता है। इन आसुर-दुर्गों के विदारण से ही वस्तुतः इस उपासक का जीवन आनन्दमय व सत्यनिष्ठ होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम सोमरक्षण करते हुए आनन्दमय सत्यनिष्ठ जीवनवाले बनते हैं। प्रभु हमारे शत्रुभूत काम-क्रोध-लोभ के दुर्गों का विदारण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के सखा-प्रभु के जरिता

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतिभिः ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! आप **नः**=हम **सखीनाम्**=सखाओं के-मित्रों के **जरितॄणाम्**=स्तोताओं के **शतं ऊतिभिः**=शतवर्ष पर्यन्त-जीवनभर रक्षणों से **सु अविता**=उत्तमता से रक्षण करनेवाले **अभिभवासि**=आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं। (२) प्रभु का स्तवन करनेवाला व्यक्ति वासनाओं द्वारा आक्रान्त नहीं होता। प्रभु ही मानो उसका रक्षण कर रहे होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता-प्रभु के मित्र बनने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्वों की प्राप्ति

अभी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः। नियुद्भिश्चर्षणीनाम्॥ ४॥

(१) हे प्रभो! **अर्वतः**=वासनाओं का संहार करनेवाले (अर्व् to kill) **नः**=हमें **अभि आववृत्स्व**=आप आभिमुख्येन प्राप्त होइये। वासनाओं का संहार करके हम अपने को आपकी प्राप्ति के योग्य बनाएँ। (२) **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **नियुद्भिः**=शरीर-रथ में जुतनेवाले इन इन्द्रियाश्वों के साथ आप हमें उसी प्रकार प्राप्त होइये, **न**=जैसे कि **वृत्तं चक्रम्**=एक वृत्ताकार चक्र को घोड़े प्राप्त होते हैं। प्रभुकृपा से हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त हों।

भावार्थ—हम वासनाओं के संहार की वृत्तिवाले बनें। हम प्रभुप्राप्ति के लिए यत्नशील हों। प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'यज्ञ, नम्रता व ज्ञान'

प्रवता हि क्रतूनामा हा पदेव गच्छसि। अभक्षि सूर्ये सचा॥ ५॥

(१) हे प्रभो! आप **क्रतूनाम्**=यज्ञमय जीवनवाले पुरुषों के **प्रवता**=निम्न मार्ग से **हि**=निश्चयपूर्वक **आगच्छसि**=हमें प्राप्त हों, **इव**=उसी प्रकार, जैसे कि **ह**=निश्चयपूर्वक **पदा**=(पदानि) कोई अपने स्थानों को प्राप्त होता है। वस्तुतः यज्ञमय जीवनवाले बनकर जब हम नम्रता की वृत्तिवाले बनते हैं, अर्थात् उन यज्ञों का गर्व नहीं करते, तो हम प्रभु के प्राप्ति स्थान बनते हैं। प्रभु का निवास अहंकार शून्य यज्ञशील पुरुषों में ही होता है। (२) हे प्रभो! मैं **सूर्ये**=ज्ञानसूर्य में **सचा**=सम्पर्कवाला होकर **अभक्षि**=आपका भजन करता हूँ। आपका ज्ञानीभक्त बनने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि—(क) हम यज्ञमय जीवनवाले बनें, (ख) नम्र हों और (ग) सदा ज्ञान के साथ सम्पर्कवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभुचिन्तन व कर्त्तव्यकर्मों का करना

सं यत्त इन्द्र मन्यवः सं चक्राणि दधन्विरे। अध त्वे अध सूर्ये॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब हम **ते**=आपके **संमन्यवः**=सम्यक् मनन व चिन्तन करनेवाले बनते हैं, **अध**=तो तब **त्वे**=(त्वयि) आप में निवास करनेवाले होते हैं। सदा प्रभु का स्मरण हमें प्रभुनिष्ठ बनाता है। (२) इसी प्रकार जब **चक्राणि**=दिनभर के कर्त्तव्य कर्म-चक्र **संदधन्विरे**=हमारे से सम्यक् धारण किये जाते हैं, तो **अध**=अब **सूर्ये**=ज्ञान के सूर्य में-प्रकाश में हमारा निवास होता है। कर्त्तव्यकर्मों का क्रमिक पालन हमारी बुद्धि के विकास का कारण बनता है और हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का चिन्तन व कर्त्तव्यकर्मों का करना हमें प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर ले चलता है और हमारे जीवन में ज्ञानसूर्योदय का कारण बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

मघवा, दाता व दीधयु

उत स्मा हि त्वामाहुरिन्मघवानं शचीपते। दातारमविदीधयुम्॥ ७॥

(१) हे **शचीपते**=सब कर्मों व प्रज्ञानों के स्वामिन् प्रभो! **उत**=और **त्वां हि**=आपको ही **इत्**=निश्चय से **आहु स्म**=कहते हैं कि **मघवानम्**=आप ज्ञानैश्वर्यवाले हैं। सब ऐश्वर्यों के स्वामी आप ही हैं। **दातारम्**=सब धनों व वसुओं के आप ही देनेवाले हैं। **अविदीधयुम्**=आप कभी न दीप्यमान हों, सो नहीं है, अर्थात् आप सदा दीप्यमान हैं। (२) आपकी उपासना करता हुआ मैं भी ऐश्वर्यशाली बनूँ, दाता बनूँ और सदा दीप्त जीवनवाला होऊँ। ऐश्वर्यशाली होकर अकस्मात् उस ऐश्वर्य का संग्रही (न कि दाता) बनकर मैं ज्ञान दीप्ति को विनष्ट कर बैठता हूँ।

भावार्थ—मैं प्रभु को 'मघवा, दाता व दीधयु' शब्दों से स्मरण करता हुआ ऐश्वर्यशाली (वैश्य) बनूँ, देनेवाला (क्षत्रिय) होऊँ और इस प्रकार ज्ञानदीप्त (ब्राह्मण) बन पाऊँ। यह धन मेरे ज्ञान पर परदे के रूप में न हो जाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

शशमान+सुन्वन्

उत स्मा सद्य इत्परि शशमानाय सुन्वते। पुरू चिन्मंहसे वसु॥ ८॥

(१) **उत**=और हे प्रभो! आप **सद्यः इत्**=शीघ्र ही **पुरूचित्**=अत्यन्त **वसु**=धन **परि मंहसे स्म**=सब ओर से देते ही हैं। प्रभु सब वसुओं के स्वामी हैं, 'वसूनां वसुपति' वे प्रभु हैं। उनसे दिये जानेवाले वसुओं में किसी प्रकार की कमी सम्भव ही नहीं। (२) हम उन वसुओं की प्राप्ति का अपने को पात्र बनाएँ। **शशमानाय**=(शंसमानाय) स्तवन करनेवाले के लिए प्रभु इन वसुओं को प्राप्त कराते हैं। **सुन्वते**=सोम का अभिषव करनेवाले के लिए प्रभु के ये वसु प्राप्त होते हैं। हम 'शशमान व सुन्वन्' बनकर प्रभु से सब वसुओं को प्राप्त करें। सदा प्रभु का शंसन करें और शरीर में सोम का संपादन करें। सोम का रक्षण करते हुए ही तो हम अपने अन्दर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—'शशमान व सुन्वन्' बनकर हम प्रभु से दिये जानेवाले वसुओं के पात्र हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

राधः+च्यौत्नानि

नहि ष्मा ते शतं चन राधो वरन्त आमुरः। न च्यौत्नानि करिष्यतः॥ ९॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपके **राधः**=कार्यसाधक धनों को **शतं चन**=सैंकड़ों भी **आमुरः**=समन्तात् हिंसन करनेवाले शत्रु **हि**=निश्चय से **न वरन्ते स्म**=नहीं रोक सकते। प्रभु उपासक को कार्यसाधक ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। कितने भी शत्रु मिलकर भी इसमें विघातक नहीं बन पाते। (२) उस **करिष्यतः**=(हिंसायां कृणाति=kills) शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभु के **च्यौत्नानि**=शत्रुनाशक बलों को कोई भी रोक नहीं सकता।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनते हैं। प्रभु हमें कार्यसाधक धनों को प्राप्त कराते हैं और शत्रुविनाशक बल को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

ऊतयः-अभिष्टयः

अस्माँ अवन्तु ते शतमस्मान्त्सहस्रमूतयः। अस्मान्विश्वा अभिष्टयः॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपके **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त-जीवनभर चलनेवाले **ऊतयः**=रक्षण **अस्मान् अवन्तु**=हमारा रक्षण करें। आपके **सहस्रम्**=हजारों प्रकार से होनेवाले **ऊतयः**=रक्षण हमारा रक्षण

करें। (२) आपके द्वारा होनेवाले **विश्वाः**=सब **अभिष्टयः**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं पर होनेवाले आक्रमण **अस्मान्**=हमारा रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमें आजीवन प्रभु के सहस्रशः रक्षण प्राप्त हों। प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को आक्रान्त करके विनष्ट करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु को मित्रता में कल्याण व दीप्तियुक्त ऐश्वर्य

अस्माँ इहा वृणीष्व सख्याय स्वस्तये। महो राये दिवित्मते॥ ११॥

(१) हे प्रभो! **इह**=इस जीवन में **अस्मान्**=हमें **आवृणीष्व**=आप चुनिए, स्वीकार करिए। एक तो **सखाय**=अपनी मित्रता के लिए और मित्रता के द्वारा **स्वस्तये**=कल्याण के लिए, उत्तम स्थिति के लिए। प्रभु प्राणियों के दो विभाग करते हैं, एक तो वे, जो कि प्रकृति की ओर झुके हुए हैं और दूसरे वे जो कि प्राकृतिक भोगों में न फँसकर प्रभु-प्रवण हैं। उस समय हम पिछले विभाग में आकर प्रभु के ही मित्र बनें और परिणामतः प्राकृतिक भोगों से न कुचले जाकर उत्तम स्थिति को प्राप्त करें। (२) हे प्रभो! आप हमें इसलिए भी चुनिए कि हम **दिवित्मते**=दीप्तिवाले **महः राये**=महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले हों। प्रभु की शरण में जाने पर धन की कमी तो रहती ही नहीं, इस धन के साथ ज्ञानदीप्ति का भी निवास होता है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में कल्याण है, इसी में दीप्ति से युक्त महान् ऐश्वर्य का लाभ है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

योगक्षेम के दाता प्रभु

अस्मां अविड्ढि विश्वहेन्द्र राया परीणसा। अस्मान्विश्वाभिरूतिभिः॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मान्**=हमें **विश्वहा**=सदा **परीणसा**=(महता) बहुत पालन व पोषण के लिए पर्याप्त **राया**=धन से **अविड्ढि**=रक्षित करिए। वस्तुतः यदि हम अपने कर्त्तव्यपथ का आक्रमण करते हैं, तो प्रभु हमें पालन व पोषण के लिए पर्याप्त धन देते ही हैं 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमावहो हरिः'। (२) हे प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **विश्वाभिः**=सब **ऊतिभिः**=रक्षणों द्वारा सुरक्षित करिए। हमें सदा आपका रक्षण प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु हमें पर्याप्त धन व रक्षण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

विषयव्रज से मुक्ति

अस्मभ्यं ताँ अपा वृधि व्रजाँ अस्तेव गोमतः। नवाभिरिन्द्रोतिभिः॥ १३॥

(१) 'गो' शब्द इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त होता है। ये इन्द्रियाँ विषयों के बाड़े में कैद ही हो जाती हैं। मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **अस्ता इव**=अस्त्रों को शत्रु-सैन्य पर फेंकनेवाले एक योद्धा के समान **नवाभिः ऊतिभिः**=अपने अत्यन्त प्रशंसनीय रक्षणों द्वारा अथवा नौ संख्यावाले रक्षणों द्वारा **तान्**=उन **गोमतः व्रजान्**=इन्द्रियरूप गौवों से युक्त बाड़ों को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अपावृधि**=खोल डालिए। हमारी इन्द्रियों को विषयों के बाड़े से मुक्त करने की कृपा कीजिए। (२) इन्द्रियाँ सामान्यतः 'पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियाँ' मिलकर दस हैं। इनमें 'जिह्वा' बोलने का काम करती हुई कर्मेन्द्रियों में हैं, तो रस को चखती हुई ज्ञानेन्द्रियों में। इस प्रकार वस्तुतः इन्द्रियाँ नौ ही हो जाती हैं। इनके रक्षण भी इसी

कारण यहाँ **नव**=नौ कह गये हैं। प्रभु ही इन इन्द्रियों को विषयों के बाड़े से मुक्त करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, ताकि इन्द्रियाँ विषयव्रज में अवरुद्ध न हो जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उत्तम शरीर-रथ

अस्माकं धृष्णुया रथो द्युमाँ इन्द्रानपच्युतः। गव्युरश्वयुरीयते ॥ १४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप ऐसी कृपा करिए कि **अस्माकम्**=हमारा **रथः**=यह शरीररूप रथ **धृष्णुया**=शत्रुधर्षण शक्ति द्वारा **द्युमान्**=ज्योतिर्मय हो तथा **अनपच्युतः**= शत्रुओं द्वारा मार्गभ्रष्ट न किया जा सके, अर्थात् अत्यन्त सुदृढ़ शक्तिशाली हो। मस्तिष्क में ज्योति हो, मन व शरीर में शक्ति। (२) हे प्रभो! बस, ऐसी कृपा करिए कि यह **गव्युः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला तथा **अश्वयुः**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला **ईयते**=सदा गतिमय हो। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान को बढ़ाते हुए और कर्मेन्द्रियों से यज्ञादि कर्मों को करते हुए हम आगे बढ़ते चलें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा शरीर-रथ बुद्धि में 'द्युमान्', मन में 'अनपच्युत' तथा प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला 'गव्यु' तथा प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला 'अश्वयु' हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञान से सर्वाधिक हों

अस्माकमुत्तमं कृधि श्रवो देवेषु सूर्य। वर्षिष्ठं द्यामिवोपरि ॥ १५ ॥

(१) हे **सूर्य**=सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाश व गति देनेवाले प्रभो! आप **देवेषु**=सब ज्ञानियों में **अस्माकम्**=हमारे **श्रवः**=ज्ञान को **उत्तमं कृधि**=सर्वोत्तम करिए। (२) आप हमारे ज्ञान को इस प्रकार सर्वोपरि करिए **इव**=जैसे कि **वर्षिष्ठम्**=अत्यन्त प्रवृद्ध **द्याम्**=द्युलोक को **उपरि**=सब लोकों में ऊपर करते हैं। जैसे यह द्युलोक सूर्य से दीप्त है, इसी प्रकार हमारा मस्तिष्क ज्ञान सूर्य से दीप्त हो।

भावार्थ—हम देवों में ज्ञान से इस प्रकार सर्वोपरि हों, जैसे कि लोकों में द्युलोक सर्वोपरि है।

सूक्त का सार यही है कि प्रभु हमारा रक्षण करते हैं और इस रक्षण से हम सर्वोत्तम स्थिति को प्राप्त करते हैं। प्रभुरक्षण की प्रार्थना से ही अगले सूक्त का भी प्रारम्भ है—

[३२] द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वृत्रहा प्रभु का सान्निध्य

आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि। महान्महीभिरूतिभिः ॥ १ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **तु**=तो **अस्माकम्**=हमारे **अर्धम्**=समीप **आ आगहि**=सर्वथा प्राप्त होइये। (२) हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **महान्**=पूजनीय हैं। आप **महीभिः ऊतिभिः**=महान् रक्षणों द्वारा हमें प्राप्त हों। प्रभु का सान्निध्य ही हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचाता है। प्रभु 'वृत्रहा' हैं, वे हमारे वृत्रों (=वासनाओं) का विनाश करते हैं। तभी हमारा ज्ञान दीप्त होता है। यह ज्ञान ही हमें रक्षित करता है।

भावार्थ—प्रभु हमें प्राप्त हों। हमारी वासनाओं का विनाश करके हमारे ज्ञान को बढ़ाएँ और

इस प्रकार हमें रक्षित करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भृमि+तूतुजि

भृमिश्चिद्घासि तूतुजिरा चित्र चित्रिणीष्वा। चित्रं कृणोष्यूतये ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! आप **चित् घ**=निश्चय से **भृमिः**=गलत मार्ग पर जा रहे सोम्य व्यक्तियों के मुख को मोड़कर उन्हें ठीक मार्ग पर ले चलनेवाले **असि**=हैं ('सोम्यानां भृमिरसि') इस प्रकार ठीक मार्ग पर चलनेवाले इन सोम्य पुरुषों के **तूतुजिः**=वासनात्मक शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। (२) **आ**=और (आकारस्वार्थे सा०) **चित्र**=हे (चित् र) सब ज्ञानों के देनेवाले प्रभो! **चित्रिणीषु**=इन ज्ञानपूर्वक उत्तम कर्म करनेवाली प्रजाओं में **ऊतये**=रक्षण के लिए **चित्रम्**=चायनीय, पूजनीय, प्रशस्त, सुपथार्जित धन को **आकृणोषि**=सर्वथा करते हैं। इस धन द्वारा वे अपनी जीवनयात्रा को ठीक से पूरा कर पाती हैं।

भावार्थ—वे प्रभु मार्गदर्शक हैं, वासनाओं का संहार करनेवाले हैं। कर्मशील प्रजाओं को कार्यसाधक धन देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के ओज से शत्रुसंहार

दभ्रेभिश्चिच्छशीयांसं हंसि व्राधन्तमोजसा। सखिभिर्ये त्वे सचा ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! आप उन **दभ्रेभिः**=(दभ् हिंसायाम्) शत्रुओं के संहार में लगे हुए **सखिभिः**=मित्रों के साथ, **ये**=जो कि **त्वे सचा**=आप में मिलकर रहने का प्रयत्न करते हैं, अर्थात् सब कार्यों को प्रभुस्मरण के साथ करते हैं, उन मित्रों के साथ आप **शशीयांसम्**=(उत्प्लनमानम्) अत्यन्त कूदते फाँदते हुए-धर्ममार्ग का उल्लंघन करते हुए, **व्राधन्तं चित्**=महान् शत्रु को भी **ओजसा**=ओजस्विता से **हंसि**=नष्ट करते हैं। (२) काम-क्रोध आदि शत्रु 'शशीयान्' हैं, बड़े क्रियाशील हैं और (शधत् महत् नाम नि० ३।३) महान् हैं। इन शत्रुओं को सुगमता से जीता नहीं जा सकता। प्रभु के ओज से ओजस्वी बनने पर ही हम इनका पराजय कर पाते हैं। एवं प्रभु के सखा ही इन्हें जीतने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में हम अति प्रबल काम आदि शत्रुओं का भी पराजय करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

प्रभु के साथ मिलकर

वयमिन्द्र त्वे सचा वयं त्वाभि नोनुमः। अस्माँअस्माँ इदुदव ॥ ४ ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **त्वे सचा**=आप में मेलवाले होते हैं-हम आपके साथ मिलकर सदा चलने का प्रयत्न करते हैं। हमारा कोई भी कर्म आपके विस्मरण के साथ नहीं होता। **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **अभिनोनुमः**=प्रातः-सायं प्रणाम करनेवाले होते हैं। आपके चरणों में बैठकर अपने में शक्ति को भरते हैं। (२) हे प्रभो! आप **अस्मान्**=('अस्ति' इति प्रतिः येषां) आस्तिक वृत्तिवाले-आप में श्रद्धावाले **अस्मान्**=हमें **इत्**=निश्चय से **उद् अव**=इन संसार के विषयों से ऊपर उठाकर रक्षित करिए। हम आपका स्मरण करें। आपका स्मरण हमें विषयों में फँसने से बचाए।

भावार्थ—हम सदा प्रभुस्मरण की वृत्तिवाले हों। प्रभुस्मरण हमें विषयासक्ति से ऊपर उठाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'चित्र-अनवद्य-अनाधृष्ट' रक्षण

स नश्चित्राभिरद्रिवोऽनवद्याभिरूतिभिः। अनाधृष्टाभिरा गहि॥ ५॥

(१) हे **अद्रिवः**=वज्रवन्-क्रियाशीलता रूप वज्रवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **ऊतिभिः**=रक्षणों के साथ **आगहि**=प्राप्त होइये। वस्तुतः प्रभु के बिना हम शत्रुओं के आक्रमण से अपना रक्षण किसी भी प्रकार नहीं कर सकते। (२) हे प्रभो! आप उन रक्षणों के साथ हमें प्राप्त होइये, जो कि **चित्राभिः**=(चित् र) हमारे लिए उत्कृष्ट ज्ञानों को देनेवाले हैं। **अनवद्याभिः**=जो रक्षण अत्यन्त प्रशस्त हैं, जिन रक्षणों द्वारा हमारा मन वासनाओं से मलिन नहीं होता। **अनाधृष्टाभिः**=जो रक्षण अनाधृष्ट हैं। इन रक्षणों के होने पर हमारे शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण हमें मस्तिष्क में ज्ञान-सम्पन्न (चित्र), मन में अनवद्य (=प्रशस्त भावोंवाला) तथा शरीर में अनाधृष्ट (नीरोग) बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभुमित्रों की मित्रता

भूयामो षु त्वावतः सखाय इन्द्र गोमतः। युजो वाजाय घृष्वये॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हम **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **त्वावतः**=आपकी उपासना से आप जैसे बने हुए व्यक्ति के **सु**=उत्तम **सखायः**=मित्र **भूयामो**=हों ही। जो 'ब्रह्म इव' प्रभु जैसा बनता है, उसके मित्र भी उस जैसे बनते हुए प्रभु के समीप होते जाते हैं। इस प्रभु के सान्निध्य से हमारा जीवन निर्मल बनता है। (२) **युजः**=आपके मित्र बने हुए हम आपके सम्पर्क में आनेवाले होकर **वाजाय**=शक्ति के लिए हों-आपकी शक्ति से हम शक्तिसम्पन्न बनें तथा **घृष्वये**=शत्रुओं के घर्षण के लिए हों। आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर हम शत्रुओं को कुचल डालें।

भावार्थ—हम प्रशस्तेन्द्रिय प्रभु मित्रों के मित्र बनें। इस प्रकार शक्तिसम्पन्न होकर शत्रुओं को कुचल डालें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—विराड्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रशस्तेन्द्रिय+शक्तिशाली

त्वं ह्येक ईशिष इन्द्र वाजस्य गोमतः। स नो यन्धि महीमिषम्॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वं हि एकः**=आप ही अकेले **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **वाजस्य**=बल के **ईशिषे**=ईश हैं। आप ही हमें प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले व बल को देनेवाले हैं। (२) **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **महीम्**=अत्यन्त महनीय-हमारे जीवन को महत्त्वपूर्ण बनानेवाली **इषम्**=प्रेरणा को **यन्धि**=दीजिए। आपकी इस उत्कृष्ट प्रेरणा को प्राप्त करके ही हम अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त बना सकेंगे और सबल हो सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु की उत्कृष्ट प्रेरणा को प्राप्त करके हम प्रशस्तेन्द्रिय व शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्तोता के लिए ज्ञानैश्वर्य का प्रापण

न त्वा वरन्ते अन्यथा यद्दित्ससि स्तुतो मघम्। स्तोतृभ्य इन्द्र गिर्वणः॥ ८॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **गिर्वणः**=वेदवाणियों के द्वारा संभजनीय प्रभो! **यत्**=जब **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **मघम्**=ज्ञानैश्वर्य को **दित्ससि**=देने की कामना करते हैं, तो **त्वा**=आपको **अन्यथा न वरन्ते**=प्रकारान्तर से कोई भी रोक नहीं पाता। प्रभु को संसार की कोई शक्ति रोक नहीं पाती। (२) प्रभु का स्तवन यही है कि हम ज्ञानवाणियों को ग्रहण करने का प्रयत्न करें। सर्वमहान् ऐश्वर्य यही है। जब हम प्रभु का स्मरण करते हैं, तो प्रभु हमें इस ज्ञान को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं और प्रभु हमारे लिए ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

गोतम द्वारा प्रभुस्तवन

अभि त्वा गोतमा गिरानूषत प्र दावने। इन्द्र वाजाय घृष्वये॥ ९॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गोतमाः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले पुरुष **गिरा**=इन ज्ञान-वाणियों द्वारा **प्रदावने**=ज्ञानैश्वर्य के प्रकृष्ट दान के निमित्त **त्वा अभि**=आपका लक्ष्य करके **अनूषत**=स्तवन करते हैं। आपके स्तवन से ही वस्तुतः इस ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति होती है। (२) ये गोतम आपका स्तवन **वाजाय**=शक्तिप्राप्ति के लिए करते हैं और **घृष्वये**=शत्रुओं के घर्षण के लिए करते हैं। प्रभुस्तवन से यह स्तोता (=गोतम=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष) प्रभु की शक्ति से अपने को शक्तिसम्पन्न करता है और काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचलनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष प्रभु का स्तवन करके (क) ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करते हैं, (ख) शक्ति-सम्पन्न बनते हैं (ग) और काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचलनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

दास-पुर विध्वंस

प्र ते वोचाम वीर्या३ या मन्दसान आरुजः॥ पुरो दासीरभीत्य॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **मन्दसानः**=अत्यन्त आनन्दमय होते हुए आप, अपने भक्तों को आनन्दित करनेवाले आप **याः**=जिन **दासीः**=हमारा उपक्षय करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं के **पुरः**=नगरों को **अभीत्य**=आक्रमण करके **आरुजः**=छिन्न-भिन्न कर देते हैं, तो हम **ते**=आपके **वीर्या**=उन शक्तिशाली कर्मों का **प्रवोचाम**=प्रवचन करते हैं। (२) प्रभु का उपासन हमारे जीवन में असुर-पुरियों का विध्वंस करके पवित्रता का संचार करता है। यह पवित्रता जीवन में आनन्द का कारण बनती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवनों में असुर-पुरियों का विध्वंस करके, पवित्रता द्वारा आनन्द प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पिपीलिकामध्यागायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

पौंस्य कर्म

ता ते गृणन्ति वेधसो यानि चकर्थ पौंस्या। सुतेष्विन्द्र गिर्वणः॥ ११॥

(१) हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले! **गिर्वणः**=ज्ञानवाणियों द्वारा उपासनीय प्रभो! **सुतेषु**=सोम का (वीर्यशक्ति का) सम्पादन करने पर **यानि**=जिन **पौंस्या**=शक्तिशाली कर्मों को **चकर्थ**=आप करते हैं। **वेधसः**=ज्ञानी पुरुष **ते**=आपके **ता**=उन शक्तिशाली कर्मों को **गृणन्ति**=स्तुतिरूपेण कहते हैं। (२) जब हम शरीर में सोम का सम्पादन करते हैं-वीर्य का उत्पादन व रक्षण

करते हैं, तो प्रभु की व्यवस्था के अनुसार न केवल रोग-कृमियों का ही संहार होता है, अपितु वासनाओं का विनाश होकर मन भी पवित्र हो जाता है। उस समय हम स्वभावतः प्रभु का स्तवन कर उठते हैं कि कितनी ही अद्भुत उस प्रभु द्वारा होनेवाली रचना व व्यवस्था है?

भावार्थ—ज्ञानीपुरुष प्रभु से किये जानेवाले शक्तिशाली कर्मों का स्तवन करते हैं और अपने अन्दर सोम की अद्भुत महिमा को देखते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

वीरवद् यशः

अवीवृधन्त गोतमा इन्द्र त्वे स्तोमवाहसः। एषु धा वीरवद्यशः॥ १२॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गोतमाः**=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **अवीवृधन्त**=आपका अत्यन्त वर्धन करते हैं। ये गोतम **त्वे**=आप में **स्तोमवाहसः**=स्तोमों का धारण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु का स्तवन ही इन गोतमों की सर्वांगीण वृद्धि का कारण बनता है। (२) **एषु**=इन स्तोताओं में हे प्रभो! आप **वीरवत्**=वीरता से युक्त **यशः**=यश को **आधाः**=सर्वथा स्थापित करिए। इनको वीर बनाइये और यशस्वी कर्मोंवाला करिए।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से वीरतायुक्त यश प्राप्त होता है। स्तोता वीर बनता है और यशस्वी कर्मों को करनेवाला होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

प्रभु का प्रिय बनना

यच्चिद्धि शश्वतामसीन्द्र साधारणस्त्वम्। तं त्वा वयं हवामहे॥ १३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत् चित् हि**=यद्यपि **त्वम्**=आप **शश्वताम्**=(शश्वत् बहुनाम नि० ३।१) अनन्त संख्यावाली प्रजाओं के **साधारणः असि**=निष्पक्षपात रूप से वर्तनेवाले हैं, तो भी **तं त्वा**=उन आपको **वयम्**=हम **हवामहे**=पुकारते हैं। (२) प्रभु किसी के प्रति राग-द्वेषवाले नहीं हैं-सब के प्रति समरूप से वर्तनेवाले हैं। तो भी हम 'ज्ञानप्राप्ति, स्तवन व यज्ञादि कर्मों' के द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाले होते हैं। प्रभुभक्तों में भी प्रभु के ज्ञानीभक्त बनकर हम प्रभु के आत्मतुल्य प्रिय बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सबके प्रति समवर्ती हैं। तो भी हम 'ज्ञान, स्तवन व यज्ञादि कर्मों' से प्रभु का प्रिय बनने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'सोमानां सोमपाः' इन्द्रः

अर्वाचीनो वसो भवास्मे सु मत्स्वान्धसः। सोमानामिन्द्र सोमपाः॥ १४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप ही **सोमानां सोमपाः**=इन सोमों के सर्वोत्कृष्ट पान करनेवाले हैं। शरीर में सोम का (वीर्य का) रक्षण आपके स्तवन द्वारा ही होता है। आपका स्तवन हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाता है और इस प्रकार सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। (२) इसलिए हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! आप **अस्मे**=हमारे लिए **अर्वाचीनः भव**=अभिमुख होइये-हमें आभिमुख्येन प्राप्त होइये। और **अन्धसः**=इस सोम द्वारा **सुमत्स्व**=अत्यन्त आनन्दित करिए। सोमरक्षण से शरीर में नीरोगता, मन में निर्मलता व मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति को प्राप्त कराके आप हमें आनन्द प्राप्त कराइये।

भावार्थ—प्रभु सोमरक्षण करनेवाले हैं। सोमरक्षण द्वारा वे हमारे जीवन को आनन्दित करते हैं। इस सोमरक्षण से ही तो हमारा निवास उत्तम होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

स्तवन व इन्द्रियों का प्रत्याहरण

अस्माकं त्वा मतीनामा स्तोम इन्द्र यच्छतु। अर्वागा वर्तया हरी॥ १५॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **मतीनाम्**=मननपूर्वक स्तवन करनेवाले **अस्माकम्**=हमारा **स्तोमः**=स्तुतिसमूह **त्वा आयच्छतु**=आपको हमारे में स्थापित करनेवाला हो, अर्थात् आपकी स्तुति द्वारा हम अपने हृदयों को आपका अधिष्ठान बना सकें। (२) आप **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **अर्वाग् आवर्तय**=अन्तर्मुख वृत्तिवाला करिए। आपके स्तवन से हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी वृत्तिवाली न रहें। विषयव्यावृत्त होकर ये प्रत्याहृत हों अन्दर ही स्थापित हों।

भावार्थ—मनन पूर्वक प्रभु का स्तवन हमारे हृदयों को प्रभु का अधिष्ठान बनाए। हमारी इन्द्रियाँ विषयव्यावृत्त होकर अन्तर्मुख यात्रावाली हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

यज्ञशेष का सेवन करें, ज्ञान में रुचिवाले हों

पुरोळाशं च नो घसो जोषयासे गिरश्च नः। वधूयुरिव योषणाम्॥ १६॥

(१) प्रभु गतमन्त्र में की गई 'अर्वाग् आवर्तया हरी' इस प्रार्थना का उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे जीव! तू **नः**=हमारे **पुरोडाशम्**=पुरोडाश को **च**=ही **घसः**=खानेवाला हो। 'पुरोडाश' वह भोजन है, जिसको कि प्रथम (पुरः) यज्ञ के लिए देकर (दाश्) यज्ञशेष के रूप में सेवन किया गया है। एवं पुरोडाश का सेवन करनेवाला व्यक्ति यज्ञशील होता है और सदा यज्ञशेष को खानेवाला होता है। इसकी कर्मेन्द्रियाँ यज्ञों में प्रवृत्त रहती हैं। (२) **च**=और हे जीव! तू **नः**=हमारी **गिरः**=इन वेदवाणियों का **जोषयासे**=प्रेमपूर्वक सेवन करनेवाला हो। तेरी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति के पवित्र कार्य में लगी रहें। उसी प्रकार ज्ञान के प्रति ये प्रेमवाली हों, **इव**=जैसे कि **वधूयुः**=पत्नी की कामनावाला एक व्यक्ति **योषणाम्**=पत्नी को चाहता है। हम पति हों वेदवाणी को पत्नी के रूप में प्राप्त करें 'परीमे गामनेषत पर्यग्निमरुषत'। (३) वस्तुतः यज्ञादि कर्मों में लगी हुई कर्मेन्द्रियाँ ही सशक्त व पवित्र बनी रहती हैं और इसी प्रकार ज्ञानप्राप्ति में लगी हुई ज्ञानेन्द्रियाँ पवित्र रहती हैं।

भावार्थ—हम सदा यज्ञशील बनकर यज्ञशेष का ही सेवन करें और ज्ञान की वाणियों में प्रीतिवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'शतं सोमस्य खार्यः'

सहस्रं व्यतीनां युक्तानामिन्द्रमीमहे। शतं सोमस्य खार्यः॥ १७॥

(१) हम **व्यतीनाम्**=(वि-अत् गतौ) विशिष्ट गतिवाले **सहस्रं युजानाम्**=शरीर रथ में सदा आनन्दपूर्वक जुते हुए इन्द्रियाश्वों को **इन्द्रम्**=उस इन्द्रियों के अधिष्ठाता प्रभु से **ईमहे**=माँगते हैं। प्रभु हमारे लिए उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराएँ, जो कि प्रसन्नतापूर्वक कार्यों में तत्पर रहें। कर्मेन्द्रिय रूप अश्व यज्ञमार्ग का प्रसन्नतापूर्वक आक्रमण करें और ज्ञानेन्द्रियरूप अश्व ज्ञानप्राप्ति के

मार्ग पर आगे और आगे बढ़ते चलें। (२) इस प्रकार अपने-अपने कर्म में लगी हुई इन्द्रियाँ विषयों से अनाक्रान्त रहती हैं और शरीर में सोम का रक्षण होता है। हम प्रभु से **सोमस्य**=इस सोम के (वीर्यशक्ति के) **शतं खार्यः**=सैंकड़ों मनों को चाहते हैं। हमें बहुत ही इस सोमशक्ति की प्राप्ति हो।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ सदा अपने-अपने कार्य में लगी रहें और हमारे शरीर में सोमशक्ति सुरक्षित रहे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञानैश्वर्य की प्राप्ति

सहस्रा ते शता वयं गवामा च्यावयामसि। अस्मत्रा राध एतु ते ॥ १८ ॥

(१) हे प्रभो! गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करके, उस सोम से ज्ञानाग्नि की दीप्ति द्वारा **वयम्**=हम **ते**=आपकी **गवाम्**=वेदवाणियों के **शता सहस्रा**=सैंकड़ों व हजारों को **आच्यावयामसि**=अपने अन्दर प्राप्त करते हैं। सुरक्षित सोम से बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होती है। इस तीव्र बुद्धि से हम ज्ञानवाणियों को प्राप्त करते हैं। (२) हे प्रभो! **ते राधः**=आपका यह ज्ञानैश्वर्य **अस्मत्रा एतु**=हमारे जीवन में प्राप्त हो। इस ज्ञानैश्वर्य द्वारा ही हम अपने जीवनों को पवित्र व सफल बना पाएँगे।

भावार्थ—हम शतशः ज्ञानवाणियों को प्राप्त करें। प्रभु का ज्ञानैश्वर्य हमारे जीवन की सफलता का साधन बने।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

दश 'हिरण्य कलश'

दश ते कलशानां हिरण्यानामधीमहि। भूरिदा असि वृत्रहन् ॥ १९ ॥

(१) प्रस्तुत ऋग्वेद के दस मण्डल मानो दस कलश हैं, जो कि हितरमणीय ज्ञानजल से परिपूर्ण हैं। हे प्रभो! हम **ते**=आपके इन **दश**=दस **हिरण्यानाम्**=हितरमणीय ज्ञान-जल से परिपूर्ण **कलशानाम्**=कलशों का-घटों का **अधीमहि**=स्मरण करते हैं-इन्हें धारण करने का प्रयत्न करते हैं। इनके धारण से हमारे जीवन में 'प्राण श्रधा' आदि सब कलाओं का उत्तम निवास होगा 'कलाः शेरते अस्मिन्'। (२) हे **वृत्रहन्**=सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप निश्चय से **भूरिदाः**=अत्यन्त देनेवाले **असि**=हैं। 'भूरि'=जीवन के पालन व पोषण के लिए आवश्यक सब वस्तुओं के देनेवाले हैं। इस वेदज्ञान से हमारा जीवन सब कलाओं से परिपूर्ण हो जाता है।

भावार्थ—हम दश हिरण्य-कलशों का धारण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

भूरिदाः

भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्या भर। भूरि घेदिन्द्र दित्ससि ॥ २० ॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **भूरिदाः**=अत्यन्त देनेवाले हैं। **नः**=हमारे लिए भी **भूरि देहि**=अत्यन्त दीजिए। **मा दभ्रम्**=कम मत दीजिए। **भूरि आभर**=अत्यन्त दीजिए। (२) हे इन्द्र! आप **इत्**=निश्चय से **भूरि दित्ससि**=खूब ही देना चाहते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप बहुत ही देनेवाले हैं। हमें बहुत ही दीजिए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ऐश्वर्य के भागी बनें

भूरिदा ह्यसि श्रुतः पुरुत्रा शूर वृत्रहन्। आ नो भजस्व राधसि ॥ २१ ॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **भूरिदाः**=अत्यन्त देनेवाले **श्रुतः असि**=प्रसिद्ध हैं। हे **वृत्रहन्**=वासनाओं का संहार करनेवाले प्रभो! आप **पुरुत्रा**=पालन व पूरण करनेवाले के रूप में (पृ पालन-पूरणयोः) तथा रक्षक के रूप में (त्रा) प्रसिद्ध हैं। (२) हे प्रभो! आप **नः**=हमें **राधसि**=कार्यसाधक ऐश्वर्य में **आभजस्व**=भागी बनाइये। हमें आपकी कृपा से वह धन प्राप्त हो, जो कि सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम आपके ऐश्वर्य में भागी हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ज्ञानवाणियों का अहिंसन

प्र ते बभ्रू विचक्षण शंसामि गोषणो नपात्। माभ्यां गा अनु शिश्रथः ॥ २२ ॥

(१) हे **विचक्षण**=प्राज्ञ इन्द्र! **ते**=आपके **बभ्रू**=इन भरण करनेवाले इन्द्रियाश्वों का **प्रशंसामि**=खूब ही शंसन करता हूँ। इन में कर्मेन्द्रियाँ हमारे जीवन में यज्ञादि उत्तम कर्मों का भरण करती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे जीवन में ज्ञान का पोषण करती हैं, एवं ये 'बभ्रू' हैं। (२) हे **गोषणः**=ज्ञानवाणियों के देनेवाले, **नपात्**=न गिरने देनेवाले प्रभो! आप **आभ्याम्**=इन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से **गाः**=ज्ञानवाणियों को **मा**=मत **अनुशिश्रथः**=हिंसित करिए। इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हम खूब ही ज्ञानवाणियों को प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारी ज्ञान की इन्द्रियाँ ज्ञानवाणियों को हिंसित न करनेवाली हों। कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों का भरण करें। इस प्रकार हम पतन से बचे रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राश्वौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्रियाश्व ?

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते ॥ २३ ॥

(१) हे **इन्द्रियाश्व यामेषु**=जीवनयात्रा के मार्गों में गति करते हुए **शोभेते**=अत्यन्त ही शोभावाले होते हैं। ये **कनीनका इव**=(कन दीप्तौ) अत्यन्त ही दीप्तिवाले से हैं-चमकते हुए हैं। **विद्रधे**=अत्यन्त दृढ़ हैं। **नवे**=(नु स्तुतौ) प्रशंसनीय हैं। **द्रुपदे**=गतिमय पाँवोंवाले हैं-अत्यन्त क्रियाशील हैं। **अर्भके**=ये (like, similar) सर्वत्र समान हैं। पशुओं में व मनुष्यों में इन इन्द्रियों का अन्तर नहीं हैं। मन व बुद्धि के कारण ही सारा अन्तर पड़ता है। **बभ्रू**=ये हमारा भरण करनेवाले हैं। कर्मेन्द्रियाँ सब कर्मों को तथा ज्ञानेन्द्रियाँ सब ज्ञानों को सिद्ध करती हुई हमारा भरण करती हैं। (२) इन्द्रियाश्व दीप्त तो हैं ही-अपने-अपने कार्य को करने में अद्भुत इनकी क्षमता है। ये दृढ़ हैं-थोड़े से विरोध से विकृत होनेवाले नहीं। अत्यन्त प्रशंसनीय हैं, सदा गतिशील हैं। सब प्राणियों में समानरूप से हैं। हमारा भरण इन्हीं के द्वारा होता है।

भावार्थ—प्रभु ने इन्द्रियाश्वों की रचना अद्भुत ही की है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राश्वौ ॥ छन्दः—स्वराडार्चीगायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

उस्रयामा-अनुस्रयामा

अरं म उस्रयाम्णेऽरमनुस्रयाम्णे। बभ्रू यामेष्वस्त्रिधा ॥ २४ ॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित **बभ्रू**=अत्यन्त हमारा भरण करनेवाले इन्द्रियाश्व **उस्रयाम्णे**=(उस्र=प्रकाश की किरण ray of light) प्रकाश की किरणों की ओर जानेवाले **मे**=मेरे लिए **अरम्**=पर्याप्त हैं, अर्थात् मुझे ज्ञानप्राप्ति के कार्य में ठीक से सहायक होते हैं। (२) इसी प्रकार **यामेषु**=जीवनयात्रा के मार्गों में **अस्त्रिया**=न हिंसित होनेवाले ये इन्द्रियाश्व **अनुस्रयाम्णे**=ज्ञान किरणों से भिन्न यज्ञादि कर्मों की ओर जानेवाले मेरे लिए **अरम्**=पर्याप्त हैं, अर्थात् ये मेरे सब यज्ञादि कर्मों को सिद्ध करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रभु से बनायी गयी ये ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-रश्मियों को प्राप्त कराती हैं, तो कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों को सिद्ध करती हैं।

सूक्त का सार यही है कि प्रभु की मित्रता में जीवन उत्तम ही उत्तम बनता है। हम मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त बनकर 'ऋभु' होते हैं (उरु भाति), मन में विशालतावाले 'विभ्वा' होते हैं तथा शरीर में शक्ति-सम्पन्न बनकर 'वाज' होते हैं। अगले सूक्त के ये 'ऋभवः' (ऋभु, विभ्वा व बाज) ही देवता हैं—

[३३] त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

श्वैतरी धेनु

प्र ऋभुभ्यो दूतमिव वाचमिष्य उपस्तिरे श्वैतरीं धेनुमीळे।
ये वातजूतास्तरणिभिरेवैः परि द्यां सद्यो अपसो बभूवुः॥ १॥

(१) प्रभु कहते हैं कि मैं **ऋभुभ्यः**=ज्ञानदीप्त मस्तिष्कवाले 'ऋभु' के लिए, विशाल हृदय 'विभ्वा' के लिए तथा शक्ति-सम्पन्न शरीरवाले 'वाज' के लिए **दूतं इव**=सन्देशवाहक दूत की तरह **वाचम्**=इस ज्ञानवाणी को **इष्ये**=प्रेरित करता हूँ। **उपस्तिरे**=आच्छादन के लिए, अर्थात् सब अशुभों से बचाने के लिए **श्वैतरी धेनुम्**=(श्वेततरां) अत्यन्त शुद्ध ज्ञानदुग्ध को देनेवाली इस वेदवाणी रूप गौ को **ईडे**=प्रस्तुत करता हूँ (to praise)। इस वेदवाणी रूप गौ से वह ज्ञान इन ऋभुओं को प्राप्त होगा, जो कि इन्हें सब अशुभों से बचानेवाला होगा। (२) उन ऋभुओं के लिए मैं इसे प्रस्तुत करता हूँ, **ये**=जो कि **वातजूताः**=वायु से प्रेरणा को प्राप्त हुए-हुए **अपसः**=कर्मशील **तरणिभिः एवैः**=वासनाओं को तरानेवाली गतियों द्वारा **सद्यः**=शीघ्र ही **द्याम्**=ज्ञान-ज्योति को **परिबभूवुः**=व्याप्त करते हैं। जीवन में जो भी आलस्य से आक्रान्त हो जाते हैं, वे कभी भी ज्ञान को नहीं प्राप्त कर पाते 'अलसस्य कुतो विद्या'। क्रियाशीलता ही हमें ज्ञानप्राप्ति का पात्र बनाती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए वेदवाणीरूप गौ को प्रस्तुत करते हैं। इसे हम प्राप्त तभी करते हैं, जब कि हमारे जीवन में आलस्य नहीं होता।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सशक्त शरीर, दीप्त मस्तिष्क व प्रशस्त मन

यदारमक्रन्नृभवः पितृभ्यां परिविष्टी वेषणा दंसनाभिः।
आदिद्देवानामुप सख्यमायन्धीरासः पुष्टिमवहन्मनायै॥ २॥

(१) **यदा**=जब **ऋभवः**='ऋभु, विभ्वा और वाज' (ज्ञानदीप्त, विशाल हृदय सशक्त पुरुष) **पितृभ्याम्**=द्यावापृथिवी के लिए-मस्तिष्क व शरीर के लिए, **परिविष्टी**=परिचर्या के द्वारा-बड़ों की सेवा के द्वारा, **वेषणा**=(विष् to go against, to encounter) वासनाओं पर आक्रमण

के द्वारा तथा **दंसनाभिः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहने के द्वारा **अरं अक्रन्**=पूर्ण पुरुषार्थ करते हैं, अर्थात् जब बड़ों के आदर आदि के द्वारा शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही सशक्त व दीप्त बनाते हैं, तो **आत् इत्**=शीघ्र ही ये ऋभु **देवानाम्**=देवों के **सख्यम्**=मित्रत्व को **उप आयन्**=समीपता से प्राप्त होते हैं। देव बनने के लिए आवश्यक है कि हम शारीरिक व बौद्धिक उन्नतियों को करके ब्रह्म व क्षत्र का विकास करनेवाले बनें। (२) ये **धीरासः**=धीर पुरुष **मनायै**=प्रशस्त-मनस्कता के लिए **पुष्टिं अवहन्**=पुष्टि को धारण करते हैं। निर्बलता मन की भी अप्रशस्तता का कारण बनती है।

भावार्थ—ऋभु, शरीर व मस्तिष्क को सशक्त व ज्ञानदीप्त बनाकर मन को प्रशस्त बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

इन्द्रवन्तः-मधुप्सरसः

पुनर्ये चक्रुः पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना।
ते वाजो विभ्वाँ ऋभुरिन्द्रवन्तो मधुप्सरसो नोऽवन्तु यज्ञम्॥ ३॥

(१) **ये**=जो **पितरा**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **पुनः**=फिर **युवाना चक्रुः**=युवा कर देते हैं-सब प्रकार की जीर्णता से रहित कर देते हैं। जो इन द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **सना**=सदा (always) **यूपा इव**=यज्ञ-स्तम्भों के समान बना देते हैं, अर्थात् जिनके मस्तिष्क व शरीर सदा यज्ञों को करनेवाले होते हैं। अतएव **जरणा**=आधि-व्याधियों को जीर्ण करनेवाले तथा **शयाना**=सदा प्रभु में निवास करनेवाला बनाते हैं। शरीर भी प्रभु में, मस्तिष्क भी प्रभु में। (२) **ते**=वे **वाजः**=शरीर को शक्तिशाली बनानेवाले, **विभ्वा**=हृदय को विशाल बनानेवाले **ऋभुः**=मस्तिष्क को अत्यन्त ज्ञानदीप्त करनेवाले **इन्द्रवन्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभुवाले बनते हैं-सदा प्रभु का स्मरण करते हैं। **मधुप्सरसः**=सोम का भक्षण करनेवाले-सोम को अपने अन्दर ही सुरक्षित करनेवाले होते हैं। प्रभु कहते हैं कि ये व्यक्ति ही **नः**=हमारे इस **यज्ञम्**=यज्ञ का **अवन्तु**=रक्षण करते हैं-मेरे से उपदिष्ट यज्ञ को सदा करनेवाले होते हैं। प्रभु का आदेश वस्तुतः ये ही पालते हैं। प्रभु ने यही तो आदेश दिया है कि 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वी पुरोवाच प्रजापतिः अनेन प्रसविष्यध्वमेष वो स्विष्टकामधुक्'=इस यज्ञ से ही तुमने फलना-फूलना।

भावार्थ—'ऋभु-विभ्वा व वाज' मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ बनाकर 'प्रभु का स्मरण करते हैं, सोम का शरीर में रक्षण करते हैं और यज्ञशील होते हैं'।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वेदवाणीरूप गौ का रक्षण

यत्संवत्समृभवो गामरक्षन्यत्संवत्समृभवो मा अपिंशन्।
यत्संवत्समभरन्भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः॥ ४॥

(१) 'संवसन्ति भूतानि अस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से 'संवत्स' वर्ष का नाम है। **यत्**=क्योंकि **ऋभवः**='ऋभु, विभ्वा और वाज', ये दीप्त मस्तिष्क, विशाल हृदय, सशक्त पुरुष **संवत्सम्**=सम्पूर्ण वर्ष **गाम्**=इस वेदवाणीरूप धेनु का **अरक्षत्**=रक्षण करते हैं-सदा इसका स्वाध्याय करते हैं और **यत्**=क्योंकि ये **ऋभवः**=ऋभु लोग **संवत्सम्**=सम्पूर्ण वर्ष, अर्थात् सदा **माः**=ज्ञानलक्ष्मियों को **अपिंशन्**=अपने जीवन में अलंकृत करते हैं। वेदवाणीरूप गौरक्षण से ज्ञान प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। और **यत्**=क्योंकि **संवत्सम्**=वर्षभर, अर्थात् अविच्छन्न रूप से प्रतिदिन ही **अस्याः**=इस

वेदवाणीरूप गौ की **भासः**=ज्ञानदीप्तियों को **अभरन्**=अपने अन्दर भृत करते हैं। **ताभिः**=उन **शमीभिः**=शान्त भाव से किये जानेवाले कर्मों द्वारा ये ऋभु **अमृतत्वं आशुः**=अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। (२) यदि मनुष्य सारा वर्ष वेदवाणीरूप गौ का रक्षण करे–इसके स्वाध्याय द्वारा अपने जीवन को ज्ञानलक्ष्मी–सम्पन्न बनाए–इसकी ज्ञान–ज्योतियों का भरण ही जीवन का लक्ष्य बन जाए तो मनुष्य कभी वासनाओं का शिकार न होगा। यह वासनाओं का शिकार न होना ही अमर बनना है। विषयों के पीछे न मर कर यह जीवन को पवित्र बनाता है और इस प्रकार जन्म–मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी रूप गौ का रक्षण करें, अर्थात् सदा स्वाध्याय करें। इस प्रकार ज्ञानलक्ष्मियों से जीवन को अलंकृत करें। ज्ञान–ज्योति को अपने में भरकर अमर बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

क्रमिक विकास 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप, दान'

ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान्त्रीन्कृणवामेत्याह।
कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत्पनयद्वचो वः॥ ५॥

(१) **ज्येष्ठः**=सब से बड़ा, अर्थात् सब से पहले आनेवाला व्यक्ति **आह**=कहता है कि **चमसा**=इस शरीरूप पात्र द्वारा **द्वा कर इति**='तप व दान' रूप दो धर्मों का पालन करते हैं। इसके बाद आनेवाला **कनीयान्**=पहले से छोटा पर (कन दीप्तौ) अधिक दीप्त होनेवाला **आह**=कहता है कि **त्रीन् कृणवाम इति**='यज्ञ, तप व दान' इन तीन धर्मों का आचरण करते हैं। (२) **कनिष्ठः**=सब से छोटा–सब के बाद में आनेवाला–सर्वाधिक दीप्त व्यक्ति **आह**=कहता है कि **चतुरः कर इति**='स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' इन चार को करते हैं। यही तो वस्तुतः चतुष्पाद् धर्म है। हे **ऋभवः**=ऋभुओ! **वः**=तुम्हारे **तद् वचः**=उस वचन को **त्वष्टा**=(त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः नि०) ज्ञानस्वरूप प्रभु **पनयत्**=प्रशंसित करते हैं। प्रभु के लिए यह ऋभुओं की वाणी प्रिय होती है। 'तप और दान' को अपनाने का निश्चय स्तुत्य है। 'तप व दान के साथ यज्ञ' को सम्मिलित करने का निश्चय स्तुत्यतर है तथा इनके साथ स्वाध्याय को जोड़कर चतुष्पाद् धर्म के पालन का निश्चय स्तुत्यतम हो जाता है।

भावार्थ—हम 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' रूप चतुष्पाद् धर्म के पालन का निश्चय करें। हमारा यह निश्चय हमें प्रभु के लिए प्रिय बनाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सत्यवचन, सत्य कर्म

सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्।
विभ्राजमानांश्चमसाँ अहेवावेनत्त्वष्टा चतुरो ददृश्वान्॥ ६॥

(१) **नरः**=(नृ नये) आगे और आगे बढ़नेवाले ये ऋभु **सत्यं ऊचुः**=सदा सत्य ही बोलते हैं और **हि**=निश्चय से **एवा चक्रुः**=इस प्रकार सत्य के अनुसार ही करते हैं। **अनु**=सत्यवचन व सत्यकर्म के अनुसार **ऋभवः**=ये ऋभु **एतां स्वधाम्**=इस आत्मधारणशक्ति को **जग्मुः**=प्राप्त होते हैं। (२) **चमसान् ददृश्वान्**=हमारे इन शरीररूप पात्रों का ध्यान करनेवाला **त्वष्टा**=वह सर्वनिर्माता प्रभु (त्वक्षतेर्वा नि०) **अह एव**=निश्चय से **चतुरः**=चारों को ही–'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' इन चारों धर्म के चरणों को **विभ्राजमानान्**=अत्यन्त चमकता हुआ **अवेनत्**=चाहता है।

प्रभु की कामना यही है कि हम इन प्रभु से रक्षित किये जाते हुए चमसों (शरीरों) के द्वारा चतुष्पाद् धर्म का पालन करें।

भावार्थ—हम (क) सत्य बोलें, (ख) सत्य ही करें, (ग) आत्मधारण शक्तिवाले हों और (घ) 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' रूप चतुष्पाद् धर्म का पालन करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

प्रभु का आतिथ्य

द्वादश द्यून्यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः।
सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिधून्धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः॥ ७॥

(१) सूर्य एक-एक राशि में से गुजरता हुआ एक-एक मास का निर्माण करता है। इस सूर्य की गति से १२ मासों का निर्माण होता है। यहाँ उन्हें 'द्यु' (द्यु गतौ) शब्द से स्मरण किया गया है। **यद्**=जब **ऋभवः**='ऋभु, विभ्वा और वाज' ज्ञानदीप्त, विशाल हृदय, शक्तिशाली पुरुष **द्वादश द्यून्**=बारहों मास **अगोह्यस्य**=जिनका सर्वव्यापकता के कारण संवरण नहीं किया जा सकता, उन प्रभु के **अतिथ्ये**=अतिथ्य में-पूजन में **ससन्तः**=निवास करते हुए **रणन्**=आनन्द का अनुभव करते हैं, तो **सुक्षेत्रा अकृण्वन्**=अपने क्षेत्रों को बड़ा उत्तम बनाते हैं। शरीर ही क्षेत्र है 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'। प्रभु का पुजारी कामवासना से आक्रान्त नहीं होता, परिणामतः शरीररूप क्षेत्र बड़ा उत्तम बना रहता है। शरीर की शक्तियों को यह वासना ही जीर्ण करती है-न वासना होती है, न शक्तियों का ह्रास। (२) केवल शरीर ही स्वस्थ बना रहे, ऐसी बात नहीं। ये प्रभु का आतिथ्य करनेवाले ऋभु **सिन्धून्**=ज्ञानप्रवाहों को **अनयन्त**=अपने अन्दर प्राप्त कराते हैं। इनके ज्ञान प्रवाह ठीक प्रकार से चलते हैं। प्रभु के आतिथ्य के परिणामस्वरूप जीवन में ऐसा परिवर्तन आ जाता है कि मानो **धन्व**=मरुस्थल में भी **ओषधीः**=ओषधियाँ तथा **निम्नं आपः**=(निम्न=Deep) गहरे जल **अतिष्ठन्**=स्थित हो जाते हैं। कहाँ मरुस्थल और कहाँ लहलहाते खेत। प्रभु का आतिथ्य जीवन को कुछ का कुछ बना देता है।

भावार्थ—प्रभु का पुजारी उत्तम शरीर व उत्तम ज्ञानप्रवाहोंवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

'स्ववसः, स्वपसः, सुहस्ताः'

रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठां ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्।
त आ तक्षन्त्वृभवो रयिं नः स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः॥ ८॥

(१) ऋभु वे हैं, **ये**=जो **रथम्**=इस शरीररूप रथ को **सुवृतम्**=उत्तम वर्तनवाला, अर्थात् उत्तमता से चलनेवाला तथा **नरेष्ठाम्**=उस संसार का प्रणयन करनेवाले प्रभु में स्थित **चक्रुः**=करते हैं, अर्थात् इस शरीर-रथ को सदा उत्तम मार्ग में ले चलते हैं और प्रभु को वे कभी भूलते नहीं। (२) ऋभु वे हैं, **ये**=जो **धेनुम्**=इस वेदवाणीरूप गौ को करते हैं, अर्थात् अपनाते हैं, जो वेदवाणी रूप गौ **विश्वजुवम्**=सब यज्ञादि उत्तम कर्मों की प्रेरणा देती है और **विश्वरूपाम्**=सब सत्य विद्याओं का निरूपण करती है। कर्मेन्द्रियों के दृष्टिकोण से यह वेदवाणी 'विश्वजू' है, ज्ञानेन्द्रियों के दृष्टिकोण से 'विश्वरूपा'। (३) प्रभु कहते हैं कि **ते ऋभवः**=वे ऋभु **नः**=हमारे **रयिम्**=इस ज्ञानैश्वर्य को **आतक्षन्तु**=सर्वतः सम्पादित करनेवाले हों। ये **स्ववसः**=उत्तम सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें (अवस् Food)। सात्त्विक अन्न से सात्त्विक मनवाले होकर ये सदा **स्वपसः**=उत्तम

कर्मों को करनेवाले हों और **सुहस्ताः**=शोभन हाथोंवाले हों, अर्थात् सब कार्यों को सुन्दरता से करनेवाले बनें।

भावार्थ—अपने शरीर-रथ को उत्तम बनाकर हम 'वाज' बनें। ज्ञान की वाणी को अपनाकर हम 'ऋभु' बनें। सात्त्विक अन्न के सेवन से सात्त्विक मनवाले बनकर हम 'विभ्वा' हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'वाज' देवों का, 'ऋभुक्षा' इन्द्र का, 'विभ्वा' वरुण का

अपो ह्येषामजुषन्त देवा अभि क्रत्वा मनसा दीध्यानाः।
वाजो देवानामभवत्सुकर्मेन्द्रस्य ऋभुक्षा वरुणस्य विभ्वा॥ ९॥

(१) **हि**=निश्चय से **एषाम्**=इन ऋभुओं के **देवाः**=इन्द्रियरूपेण शरीरस्थ देव **अपः**=अपने-अपने कर्मों का **अजुषन्त**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। ऋभु लोग ज्ञानेन्द्रियों द्वारा 'सब विषयों का निरूपण करनेवाली' वेदवाणी का सेवन करते हैं और कर्मेन्द्रियों द्वारा इस वेदवाणी से प्रेरणा दिये गये यज्ञों को करनेवाले बनते हैं। (२) इस प्रकार ये ऋभु **क्रत्वा**=यज्ञादि कर्मों से तथा **मनसा**=मनन व ज्ञान से **अभिदीध्यानाः**=कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों में उभयत्र दीप्त बनते हैं। (३) **सुकर्मा**=उत्तम कर्मों का करनेवाला **वाजः**=यह शक्ति-सम्पन्न पुरुष **देवानां अभवत्**=देवों का होता है-सब देवों का यह सम्बन्धी बनता है-इसमें सब दिव्य गुणों का विकास होता है। **ऋभुक्षाः**=उत्कृष्ट ज्योति में निवास करनेवाला ऋभु **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का होता है। ज्ञानी तो प्रभु को आत्मतुल्य ही प्रतीत होता है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। और उदार विशाल हृदयवाला 'विभ्वा' **वरुणस्य**=वरुण का होता है। वरुण 'पाशी' हैं। यह वरुण का बनकर अपने को व्रतों के पाशों में बाँधनेवाला होता है।

भावार्थ—ऋभु सदा इन्द्रियों से यथोचित्त कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। ये कर्मों व ज्ञानों से दीप्त होते हैं। शक्तिशाली बनकर दिव्यगुणों को अपनाते हैं। ज्ञानी बनकर प्रभु के प्रिय होते हैं। विशाल व पवित्र हृदयवाले बने रहने के लिए सदा अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुयुज अश्व

ये हरी मेधयोक्था मदन्त इन्द्राय चक्रुः सुयुजा ये अश्वा।
ते रायस्पोषं द्रविणान्यस्मे धत्त ऋभवः क्षेमयन्तो न मित्रम्॥ १०॥

(१) ऋभु वे हैं, **ये**=जो **हरी**=इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **मेधया**=बुद्धि से तथा **उक्था**=स्तोत्रों से **मदन्तः**=(हर्षयन्तः) हर्षित होता हुआ **चक्रुः**=करते हैं। जिनकी इन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति व स्तुतिरूप कर्म में ही आनन्द का अनुभव होता है। (२) ऋभु वे हैं, **ये**=जो कि **इन्द्राय**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **अश्वा**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को **सुयुजा चक्रुः**=उत्तम रूप से शरीर-रथ में जुता हुआ करते हैं। उत्तम रूप से जुतने का भाव यही है कि अपने-अपने कार्य को उत्तमता से करना। ज्ञानेन्द्रियाँ 'ज्ञान प्राप्ति में लगी रहें, कर्मेन्द्रियाँ स्तुतिरूप कर्मों में प्रवृत्त रहें' यही इनका शरीर-रथ में सुयोग है। (३) प्रभु कहते हैं कि **ते ऋभवः**=वे ऋभु **अस्मे**=हमारे **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को तथा **द्रविणानि**=जीवनयात्रा के संचालक (द्रु गतौ) वसुओं को **धत्त**=धारण करें। उसी प्रकार धारण करें, **न**=जैसे कि **क्षेमयन्तः**=कल्याण की कामनावाले **मित्रम्**=मित्र को प्राप्त करते हैं। मित्र को प्राप्त करके वे 'पापान्निवारयति योजयते हिताय'

पापों से बचते हैं और हितकर कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—हमें बुद्धि व स्तोत्र प्रिय हों। हमारे इन्द्रियाश्वों का शरीर-रथ में उत्तम योग हो। हम धन व द्रविणों को धारण करके सचमुच 'ऋभु' बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'

इदाह्नः पीतिमुत वो मदं धुर्न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।
ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीये अस्मिन्त्सवने दधात॥ ११॥

(१) **इदा**=अब सब देव तुम्हारे लिए **अह्नः**=(अ हन्) न नष्ट करने योग्य इस सोम के **पीतिम्**=पान को, **उत**=और **मदम्**=सोमपान-जनित हर्ष को **वः**=तुम्हारे लिए **धुः**=धारण करें। **देवाः**=देव **ऋते श्रान्तस्य**=श्रम करनेवाले के अतिरिक्त किसी से **सख्याय न**=मित्रता के लिए नहीं होते-सब देव श्रमशील के ही मित्र होते हैं। इसलिए 'ऋभु' श्रमशील बनकर देवों की मैत्री को प्राप्त करते हैं। आसुर भावों से अनाक्रान्त होने के कारण ही वे सोमरक्षण द्वारा जीवन को उल्लासमय बना पाते हैं। (२) प्रभु इन ऋभुओं से कहते हैं कि **ते ऋभवः**=ऋभुओ! तुम **नूनम्**=निश्चय से **अस्मे**=हमारे **वसूनि**=वसुओं को-निवास को उत्तम बनानेवाले तत्त्वों को **अस्मिन् तृतीये सवने**=जीवन के इस तीसरे सवन में-अड़सठ से एक सौ सोलह वर्ष तक के इस सायन्तन सवन में भी **दधात**=धारण करो। वस्तुतः जीवन का वास्तविक उत्थान व आनन्द सोमरक्षण पर ही निर्भर करता है। सोमरक्षण के लिए वासनाओं से अनाक्रान्ति आवश्यक है। इसके लिये सदा कर्म में लगे रहना आवश्यक है।

भावार्थ—ऋभु सदा कर्म में लगे रहकर दिव्यगुणों का वर्धन करते हैं। सोमरक्षण द्वारा जीवन के सायंकाल में भी शक्ति-सम्पन्न बने रहते हैं।

इन्हीं ऋभुओं का ही वर्णन अगले सूक्त में भी है—

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'ऋभु विभ्वा वाज इन्द्र'

ऋभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो नो अच्छेमं यज्ञं रत्नधेयोप यात।
इदा हि वो धिषणा देव्यह्नामधात्पीतिं सं मदा अग्मता वः॥ १॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **ऋभुः**=ज्ञानदीप्त मस्तिष्कवाला, **विभ्वा**=विशाल हृदयवाला, **वाजः**=शक्ति-सम्पन्न शरीरवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **नः**=हमारे से प्राप्त कराये गये **इमं यज्ञं अच्छ**=इस जीवन-यज्ञ की ओर **रत्नधेया**=रमणीय तत्त्वों को धारण करने के लिए **उपयात**=प्राप्त हों। वस्तुतः जीवन को यज्ञमय-उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि हम 'ऋभु, विभ्वा, वाज व इन्द्र' बनें। (२) ऐसा होने पर **इदा**=अब **हि**=निश्चय से **वः**=तुम्हारी **देवी**=दिव्य गुणों का वर्धन करनेवाली **धिषणा**=धारणात्मिका बुद्धि **अह्नाम्**=न नष्ट करने योग्य इन सोमकणों की **पीतिम्**=शरीर के अन्दर व्याप्ति को **अधात्**=धारण करे। **वः**=तुम्हें **मदाः**=वास्तविक आनन्द **सं अग्मत**=सम्यक् प्राप्त हों। सोमरक्षण द्वारा आनन्द की प्राप्ति तो होती ही है।

भावार्थ—जीवन को उत्तम बनानेवाले ४ तत्त्व हैं—(क) दीप्त मस्तिष्क, (ख) विशाल हृदय, (ग) शक्ति (घ) जितेन्द्रियता। इन तत्त्वों की प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करें, तब ही जीवन

उल्लासमय बनेगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋभुओं का लक्षण

विदानासो जन्मनो वाजरत्ना उत ऋतुभिर्ऋभवो मादयध्वम्।
सं वो मदा अग्मत सं पुरन्धिः सुवीरामस्मे रयिमेरयध्वम्॥ २॥

(१) हे ऋभुओ! **विदानासः**=तुम ज्ञान को प्राप्त करने के स्वभाववाले होते हो। **जन्मनः**=(जनी प्रादुर्भावे) शक्तियों के विकास द्वारा **वाजरत्नाः**=बल व त्याग (वाज=strength, sacrifice) से रमणीय जीवनवाले हो। **उत**=और तुम **ऋतुभिः**=ऋतुओं के अनुसार नियमित गतियों से **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। (२) **वः**=तुम्हें **मदाः**=आनन्द व उल्लास **सं अग्मत**=संगत हों-प्राप्त हों। **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धि **सं (अग्मत)**=प्राप्त हो। प्रभु कहते हैं कि **अस्मे**=हमारी **सुवीरां रयिम्**=उत्कृष्ट वीरता से युक्त सम्पत्ति को **एरयध्वम्**=अपने अन्दर प्रेरित करो।

भावार्थ—ऋभु (क) ज्ञान की रुचिवाले होते हैं, (ख) बल व त्याग से जीवन को रमणीय बनाते हैं, (ग) नियमित गतिवाले होते हैं, (घ) सदा 'प्रसन्नता, पालक बुद्धि व वीरतायुक्त धन' को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

जीवन-यज्ञ की साधना

अयं वो यज्ञ ऋभवोऽकारि यमा मनुष्वत्प्रदिवो दधिध्वे।
प्र वोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः॥ ३॥

(१) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **अयम्**=यह जीवन **वः**=आपके द्वारा **यज्ञः अकारि**=यज्ञ बना दिया जाता है। जीवन को आप यज्ञ का रूप दे देते हो। **यम्**=जिस जीवन-यज्ञ को **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले आप **मनुष्वत्**=एक समझदार व्यक्ति की तरह **आदधिध्वे**=धारण करते हैं। इस जीवनयज्ञ को आप बड़ी कुशलता से पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। आप कर्मों में कुशलता को ही योग समझते हैं। (२) इसीलिए आप सोमरक्षण का भी पूरा ध्यान करते हैं। ये सोमकण **वः अच्छा**=आपकी ओर **प्र अस्थुः**=प्रस्थित होते हैं-आप के शरीर में ही व्याप्त होते हैं। ये सोमकण **जुजुषाणासः**=प्रीतिपूर्वक आपका सेवन करनेवाले होते हैं। इसीलिए आप **विश्वे**=सब **अग्रिया**=अग्रगति-उन्नति के सिद्ध करनेवाले **उत**=और **वाजाः**=शक्ति-सम्पन्न **अभूत**=होते हो। सोमरक्षण से ही सब उन्नति व शक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—ऋभु जीवन-यज्ञ को बड़ी समझदारी से पूर्ण करते हैं। सोमरक्षण द्वारा उन्नति व शक्ति का साधन करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

तृतीय सवन में भी उल्लासमयता

अभूदु वो विधते रत्नधेयमिदा नरो दाशुषे मर्त्याय।
पिबत वाजा ऋभवो ददे वो महि तृतीयं सवनं मदाय॥ ४॥

(१) हे **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यो! **इदा**=अब **वः**=तुम्हारे में से **विधते**=प्रभु का

पूजन करनेवाले, **दाशुषे मर्त्याय**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले व्यक्ति के लिए **रत्नधेयम्**=रत्नों का आधान **अभूत् उ**=निश्चय से होता है। जो भी व्यक्ति प्रभु के साथ अपने को जोड़ता है, वह सब रमणीय पदार्थों को प्राप्त करता है। (२) हे **वाजाः**=अपने को शक्ति-सम्पन्न बनानेवाले पुरुषो! **पिबत**=इस सोम का पान करो। **ऋभवः**=हे ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**=तुम्हारे लिए मैं इस सोम को **ददे**=देता हूँ। इस सोम के पान से यह **महि**=अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **तृतीयं सवनम्**=जीवन यज्ञ का तृतीय सवन-अड़सठ से एक सौ सोलह वर्ष तक का समय, **मदाय**=अत्यन्त आनन्द के लिए हो। बाल्यकाल (प्रातः सवन) कुछ नासमझी का होता है। यौवन (माध्यन्दिन सवन) गृहस्थ के बोझ से दबा हुआ होता है। यह तृतीय सवन ही वास्तविक आत्मोत्थान का कारण बनता है। इसमें हम जीर्ण- शीर्ण न हो जाएँ। इसके लिए आवश्यक है कि हम सोमपान करनेवाले बनें। यह सोमपान ही हमारी शक्ति को स्थिर रखेगा।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले को रत्नों की प्राप्ति होती है। सोमपान करके हम जीवन-यज्ञ के तृतीय सवन में भी शक्तिशाली व सोत्साह बने रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

वाज व ऋभुक्षा को प्रभु की प्राप्ति

आ वाजा यातोप न ऋभुक्षा महो नरो द्रविणसो गृणानाः।
आ वः पीतयोऽभिपित्वे अह्नामिमा अस्तं नवस्वइव ग्मन्॥ ५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **वाजाः**=शक्तिशाली मनुष्यो! **ऋभुक्षाः**=सद्गुणों से महान् बननेवाले **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यो! (ऋभुक्षाः महन्नाम नि० ३३, सद्गुणैर्महान्तः द०) **नः उप आयात**=तुम हमारे समीप आओ, अर्थात् प्रभु की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) अपने अन्दर शक्ति का सम्पादन करें, (ख) सद्गुणों से महान् बनें, (ग) सदा उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले हों। (२) प्रभु कहते हैं कि तुम **महः द्रविणसः**=इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सोमरूप धन का **गृणानाः**=स्तवन करनेवाले बनो। इसके महत्त्व को समझकर ही तो हम इसका पान करनेवाले होंगे। **वः**=तुम्हें **अभिपित्वे**=जीवन के इस सायन्तन-सवन में **अह्नाम्**=इन न नष्ट करने योग्य सोमकणों की **पीतयः**=शरीर में व्याप्तियाँ **आवग्मन्**=सर्वथा इस प्रकार प्राप्त हों, **इव**=जैसे कि **नवस्वः**=नव प्रसूत धेनुएँ **अस्तम्**=गृह को प्राप्त होती हैं। बछड़े का स्मरण करती हुई वे शीघ्रता से घर की ओर आती हैं, इसी प्रकार ये सोमकण शरीररूप गृह की ओर आनेवाले हों। प्रभु कहते हैं कि ये ही तुम्हें 'वाज व ऋभुक्षा' बनाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शवसः नपातः

आ नपातः शवसो यातनोपेमं यज्ञं नमसा हूयमानाः।
सजोषसः सूरयो यस्य च स्थ मध्वः पात रत्नधा इन्द्रवन्तः॥ ६॥

(१) हे **शवसः नपातः**=शक्ति को न गिरने देनेवाले लोगो! शक्ति का रक्षण करनेवाले पुरुषो! **इमं यज्ञं उप आयातन**=इस उपासनीय, संगतिकरण योग्य व समर्पणीय प्रभु के समीप प्राप्त होओ। तुम जो कि **नमसा हूयमानाः**=नम्रता से पुकार रहे हो-नम्रता से प्रभु प्रार्थना में प्रवृत्त हो, **सजोषसः**=परस्पर मिलकर प्रीतिपूर्वक अपने कर्त्तव्यों का सेवन करनेवाले हो। **सूरयः**=जो तुम ज्ञानी हो। (२) तुम उस प्रभु के समीप प्राप्त होओ **यस्य च स्थ**=निश्चय से जिसके तुम हो।

वस्तुतः तुम प्रभु के ही मित्र हो। **मध्वः पातः**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम का तुम पान करो। परिणामतः **रत्नधाः**=रत्नों का धारण करनेवाले बनो। **इन्द्रवन्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभुवाले बनो। प्रभु के तुम होओ।

भावार्थ—सोम का रक्षण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमपान के चार साधन

सजोषा इन्द्र वरुणेन सोमं सजोषाः पाहि गिर्वणो मरुद्भिः।
अग्रेपाभिर्ऋतुपाभिः सजोषा ग्नास्पत्नीभी रत्नधाभिः सजोषाः ॥ ७ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **वरुणेन**=वरुण के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाला होकर **सोमं पाहि**=सोम का पान कर। वरुण 'पाशी' है-व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाला। जिस समय हम अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधते हैं, तभी सोम का रक्षण कर पाते हैं। (२) हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से प्रभु का स्तवन करनेवाले! तू **मरुद्भिः सजोषाः**=प्राणों के साथ प्रीतिवाला होता हुआ (सोमं) **पाहि**=सोम का पान कर। प्राणसाधना से शरीर में रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है। (३) **अग्रेपाभिः**=अग्रगति का रक्षण करनेवाली, **ऋतु, पाभिः**=नियमितता का रक्षण करनेवाली वृत्तियों के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाला होता हुआ तू सोम का पान कर। जिस समय हमारे जीवन में आगे बढ़ने की भावना होती है तथा हम दिनचर्या में बड़े नियमित होते हैं, तो सोम का रक्षण कर पाते हैं। (४) **रत्नधाभिः**=रमणीय तत्त्वों का हमारे में धारण करनेवाली **ग्नास्पत्नीभिः**=ज्ञानवाणियों का रक्षण करनेवाली इन वेदवाणियों से **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाला होता हुआ तू सोम का पान कर।

भावार्थ—सोम के शरीर में सुरक्षित करने के चार साधन हैं, (क) व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना, (ख) प्राणसाधना (प्राणायाम), (ग) अग्रगति की भावना व नियमित गति, (घ) ज्ञानवाणियों को अपनाना।

चार का संग (आदित्यों के सम्पर्क से स्वाध्यायशील तथा पर्वतों के सम्पर्क से उपासना-प्रवृत्त बनें)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सजोषस आदित्यैर्मादयध्वं सजोषस ऋभवः पर्वतेभिः।
सजोषसो दैव्येना सवित्रा सजोषसः सिन्धुभी रत्नधेभिः ॥ ८ ॥

(१) **आदित्यैः**=जिन्हें प्रकृति जीव व परमात्मा तीनों का ज्ञान है, उन आदित्य विद्वानों के साथ **सजोषसः**=संगत हुए-हुए तुम **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। (२) इसी प्रकार **ऋभवः**=हे ज्ञान से दीप्त पुरुषो! तुम **पर्वतेभिः**=(पर्व पूरणे) अपना पूरण करनेवाले-न्यूनताओं से रहित पुरुषों से **सजोषसः**=संगत हुए-हुए आनन्दित होओ। (३) **सवित्रा दैव्येन**=(देव एव दैव्यम्, स्वार्थे ष्यञ्) उस सर्वप्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु से **सजोषसः**=संगत हुए-उसकी उपासना में बैठे हुए तुम आनन्दित होओ। (४) **रत्नधेभिः**=सब रमणीय ज्ञानों का आधान करनेवाले **सिन्धुभिः**=ज्ञान के समुद्रभूत इन चार वेदों से **सजोषसः**=संगत हुए-हुए, अर्थात् इनका स्वाध्याय करते हुए तुम आनन्दित होओ।

भावार्थ—हमें 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का ज्ञान देनेवाले विद्वानों का और सब न्यूनताओं

को दूर करनेवाले प्रभुभक्तों का संग प्राप्त हो। प्रभुभक्तों के संग से हम भी प्रभु की उपासना में बैठनेवाले बनें और आदित्यों का सम्पर्क हमें भी स्वाध्याय की रुचिवाला बनाए।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

विभू नर क्या करते हैं?

ये अश्विना ये पितरा य ऊती धेनुं ततक्षुर्ऋभवो ये अश्वा।
ये अंसत्रा य ऋधग्रोदसी ये विभ्वो नरः स्वपत्यानि चक्रुः॥ ९॥

(१) **ये**=जो **विभ्वः नरः**=व्यापक उदार हृदयवाले उन्नतिपथ पर चलनेवाले व्यक्ति होते हैं, वे **ऊती**=अपने रक्षण के उद्देश्य से-रोगों व वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाने के हेतु से **अश्विना**=प्राणापान को **ततक्षुः**=बनाते हैं। ये विभू नर प्राणायाम के द्वारा प्राणापान की शक्ति को विकसित करके नीरोग व निर्मल हृदय बनते हैं। (२) **ये**=जो विभू नर हैं, वे **पितरा**=माता-पिता को रक्षण के उद्देश्य से उपासित करते हैं। 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव'=माता-पिता को देववत् पूजते हुए पवित्र जीवनवाले बने रहते हैं। (३) **ये**=जो **ऋभवः**=ज्ञान से दीप्त होनेवाले पुरुष हैं, वे **धेनुं ततक्षुः**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली इस वेदवाणी रूप गौ को निर्मित करते हैं। इससे वे सदा ज्ञानदुग्ध का दोहन करते हैं। (४) **ये**=जो ऋभु हैं, वे **अश्वा**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों का निर्माण करते हैं। इन इन्द्रियाश्वों से ही तो शरीर-रथ में आगे और आगे बढ़ते हुए वे लक्ष्य पर पहुँचा करते हैं। (५) ऋभु व विभू वे हैं, **ये**=जो कि **अंसत्रा**=कवचों का निर्माण करते हैं। 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'=इन ज्ञान-वाणियों को ही वे अपना आन्तर कवच बनाते हैं। (६) विभू वे हैं, **ये**=जो **रोदसी**=द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **ऋधक्**=एक-एक करके (One by One) बनाते हैं। शरीर को सबल बनाते हैं, तो मस्तिष्क को वे ज्ञानदीप्त बनाते हैं। इस प्रकार ये विभू नर **स्वपत्यानि**=(स्व-पत्य) आत्मप्राप्ति के साधनभूत कर्मों को करते हैं (पत् गतौ) अथवा (सु अपत्) अच्छी प्रकार अपतन के साधनभूत कर्मों को करते हैं। ये कर्म ही उन्हें 'ऋभु, विभ्वा व वाज' बनाते हैं।

भावार्थ—जीवन-निर्माण के लिए आवश्यक है कि (क) प्राणसाधना करें, (ख) माता-पिता को देव मानें, (ग) वेदवाणीरूप गौ का दोहन करें, (घ) कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों को प्रशस्त बनाएँ, (ङ) ब्रह्मज्ञानरूप कवच का धारण करें, (च) मस्तिष्क व शरीर दोनों के निर्माण का ध्यान करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ते अग्रेपाः ऋभवः मंदसानाः

ये गोमन्तं वाजवन्तं सुवीरं रयिं धत्थ वसुमन्तं पुरुक्षुम्।
ते अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना अस्मे धत्त ये च रातिं गृणन्ति॥ १०॥

(१) **ते**=वे **अग्रेपाः**=सर्वप्रथम सोमपान करनेवाले **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त **मंदसानाः**=स्तोता होते हैं, **ये**=जो **रयिम्**=धन को **धत्थ**=धारण करते हैं। जो धन **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है, **वाजवन्तम्**=प्रशस्त शक्तिवाला है, **सुवीरम्**=उत्तम वीरता व उत्तम सन्तानोंवाला है, **वसुमन्तम्**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वोंवाला है तथा **पुरुक्षुम्**=(क्षु=Food) पालक व पूरक भोजनवाला है। वस्तुतः यह धन ही इन्हें (क) सोमपान द्वारा सशक्त शरीरवाला बनाता है, (ख) ज्ञान की दीप्ति प्राप्त कराता है और (ग) स्तुति की वृत्तिवाला बनाता है। (२) **अस्मे**=हमारे लिए

ऐसे ही धन को **धत्त**=धारण करो। उनके लिए धन को धारण करो **ये च**=और जो **रातिं गृणन्ति**=दान की स्तुति करते हैं-दान की वृत्तिवाले होते हैं।

भावार्थ—हम सोमपान करनेवाले ज्ञानदीप्त स्तोता बनें। प्रशस्त धनों को प्राप्त करें और उन्हें देनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

ऋभुओं का संग

नापाभूत न वोऽतीतृषामानिः शस्ता ऋभवो यज्ञे अस्मिन्।

समिन्द्रेण मदथ सं मरुद्भिः सं राजभी रत्नधेयाय देवाः ॥ ११ ॥

(१) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में **न अप अभूत**=हमारे से दूर न होओ। **नः वः अतीतृषाम**=हम आपके प्यासे ही न रह जाएँ-'आपके सम्पर्क को न प्राप्त कर सकें' ऐसा न हो। **अनिः शस्ताः**=हम इस जीवन में अनिन्दित बनें। (२) हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! तुम **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **संमदथ**=सम्यक् आनन्दित होओ। तुम्हें प्रभु की उपासना ही में आनन्द आये। **मरुद्भिः**=प्राणों के साथ तुम **सम्**=आनन्द का अनुभव करो, प्राणसाधना में-प्राणायाम में तुम्हें आनन्द आये। **राजभिः**=ज्ञानदीप्त व व्यवस्थित (regulated) जीवनवाले पुरुषों के साथ तुम्हें **सम्**=आनन्द प्राप्त हो-ऐसों का संग ही तुम्हारे लिए रुचिकर हो। इस प्रकार तुम **रत्नधेयाय**=सब रमणीय वस्तुओं को धारण करनेवाले होओ।

भावार्थ—हमें ऋभुओं का संग प्राप्त हो। देववृत्ति के पुरुष प्रभु की उपासना में, प्राणसाधना में व व्यवस्थित जीवन में आनन्द का अनुभव करें।

अगला सूक्त भी इन ऋभुओं का ही वर्णन करता है—

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभुप्राप्ति के तीन साधन

इहोप यात शवसो नपातः सौधन्वना ऋभवो माप भूत।

अस्मिन्हि वः सवने रत्नधेयं गमन्त्विन्द्रमनु वो मदासः ॥ १ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **इह उपयात**=यहाँ हमारे समीप तुम प्राप्त होओ। प्रभुप्राप्ति के लिए ज्ञानदीप्ति तो आवश्यक है ही। तुम जो कि **शवसः नपातः**=अपनी शक्ति को न गिरने देनेवाले हो। शक्तिशाली ही प्रभु को पाते हैं 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। **सौधन्वनाः**=उत्तम धनुषवाले तुम **मा**=मत **अपभूत**=हमारे से दूर होओ। 'प्रणवोधनुः'=प्रणव (ओ३म्) ही धनुष है। इस प्रणवरूप धनुष द्वारा हम आत्मारूप शर को ब्रह्म रूप लक्ष्य में प्रविष्ट करनेवाले बनें। एवं प्रभुप्राप्ति के तीन साधन हैं, (क) ज्ञानदीप्ति, (ख) शक्ति का संचय व (ग) ओ३म् के जप से चित्तवृत्तिनिरोध। (२) इस प्रकार जीवन को बनाने से **अस्मिन् सवने**=इस जीवन के तृतीय सवन में भी **हि**=निश्चय से **वः**=तुम्हारा **रत्नधेयम्**=रमणीय पदार्थों का धारण होता है। सोमरक्षण से ६८ साल से प्रारम्भ होनेवाले तृतीय सवन में भी रमणीय तत्त्वों का धारण बना रहता है। (३) इस प्रकार सोमरक्षण के साथ **वः**=तुम्हें **मदासः**=आनन्द **इन्द्रं अनु**=प्रभु के सामीप्य के अनुपात में **गमन्तु**=प्राप्त हों। सोमरक्षण द्वारा प्रभु के समीप और समीप होते हुए आनन्द का अनुभव करो। वस्तुतः जीवन का प्रथम सवन (प्रथम चौबीस वर्ष) उतनी सुबोधता का नहीं

होता। माध्यन्दिन सवन (२५ से ६८ तक) गृहस्थ के बोझ में दबा-सा रहता है अब तृतीय सवन (६८ से ११६ तक) अध्यात्म उन्नति के लिए सर्वथा अनुकूल होता है। इस समय सोम का रक्षण करते हुए हम आगे और आगे बढ़ते चलते हैं। प्रभु का सान्निध्य करते हुए प्रभु के आनन्द से आनन्दित हो पाते हैं।

भावार्थ—'शक्ति का रक्षण, 'ओ३म्' का जप व ज्ञान' ये प्रभुप्राप्ति के साधन हैं। हम जीवन के तृतीय सवन में भी (६८-११६) सोमरक्षण करते हुए आनन्द को प्राप्त हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुषुत सोम का पान

आगंन्नृभूणामिह रत्नधेयमभूत्सोमस्य सुषुतस्य पीतिः।
सुकृत्यया यत्स्वपस्यया चँ एकं विचक्र चमसं चतुर्धा॥ २॥

(१) **इह**=इस जीवन में **ऋभूणाम्**=ज्ञानदीप्त पुरुषों को **रत्नधेयम्**=रत्नों का आधान-रमणीय तत्त्वों की प्राप्ति **आगन्**=प्राप्त हो। **सुषुतस्य**=उत्तम सात्त्विक भोजनों से उत्पन्न **सोमस्य**=सोम का **पीतिः**=पान **अभूत्**=हो। इस सोम के पान से ही तो रत्नों की स्थापना होती है। (२) यह सब तब होता है, **यत्**=जब कि ये ऋभु **सुकृत्यया**=उत्तम कर्मों द्वारा **च**=और **स्वपस्यया**=सदा उत्तम कर्मों की इच्छा से **एकं चमसम्**=इस एक शरीररूप पात्र को **चतुर्धा**=चार प्रकार से **विचक्र**=करते हैं। चार प्रकार से करने का भाव यह है कि ये इस शरीर से चलनेवाली जीवनयात्रा को चार भागों में बाँटकर पूरा करते हैं। ये चार भाग ही 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' ये चार आश्रम हैं। इस प्रकार प्रत्येक आश्रम को सुन्दरता से निभाते हुए ये ऋभु सोम का रक्षण करते हैं और सोमरक्षण द्वारा रत्नों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम शरीर द्वारा चारों आश्रमों का ठीक से पालन का निश्चय करें। सोमरक्षण करते हुए जीवन को रमणीय तत्त्वों से परिपूर्ण करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

अमृत मार्ग का आक्रमण

व्यकृणोत चमसं चतुर्धा सखे वि शिक्षेत्यब्रवीत।
अथैत वाजा अमृतस्य पन्थां गणं देवानामृभवः सुहस्ताः॥ ३॥

(१) हे ऋभुओ! तुम लोगों ने **चमसम्**=इस शरीर पात्र को **चतुर्धा**=चार प्रकार से **व्यकृणोत**=किया है, अर्थात् इसके द्वारा 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' चारों आश्रमों को बिताने का निश्चय किया है तथा प्रभु से **इति अब्रवीत्**=इस रूप में प्रार्थना की है कि **सखे**=हे मित्र प्रभो! **विशिक्ष**=हमें विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कराइये, अथवा (शक् सन्) हमें सशक्त बनाने की कामना करिए। (२) **अथ**=अब इस प्रार्थना के साथ **वाजाः**=हे शक्तिशाली पुरुषो! तुम **अमृतस्य पन्थां एत**=अमृत के मार्ग पर आक्रमण करो। उस मार्ग पर चलो, जो कि तुम्हें मोक्ष की ओर ले जाए-तुम विषय-वासनाओं के पीछे मरनेवाले मत होओ। हे **सुहस्ताः**=उत्तम हाथोंवाले कार्यकुशल **ऋभवः**=ज्ञानी पुरुषो! **देवानां गणं (एत)**=दिव्यगुणों के समूह को प्राप्त होओ। गीता में प्रतिपादित दैवी सम्पत्ति के २७ तत्त्वों को प्राप्त करो।

भावार्थ—जीवन को हम चार आश्रमों में चलाएँ। प्रभु से शक्ति की प्रार्थना करें। अमृत के मार्ग पर चलें। दैवी-सम्पत्ति के अर्जन के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोम्य मधु का रक्षण

किंमयः स्विच्चमस एष आस यं काव्येन चतुरो विचक्र।
अथा सुनुध्वं सवनं मदाय पात ऋभवो मधुनः सोम्यस्य ॥ ४ ॥

(१) **एषः चमसः**=यह शरीरूप पात्र **यम्**=जिसको **काव्येन**=वेदज्ञान द्वारा **चतुरः विचक्र**=आपने चार आश्रमों में बाँटकर बिताने का निश्चय किया, वह **स्वित्**=निश्चय से **किंमयः आस**=आनन्द के प्राचुर्यवाला हुआ है। वेद में मानव-जीवन को चार मंजिलों में बाँटकर बिताने का उपदेश हुआ है। जब हम उस प्रभु के महान् काव्य वेद के अनुसार जीवन को इस प्रकार चार भागों में बाँटकर चलते हैं, तो जीवन आनन्दमय बना रहता है। (२) **ऋभवः**=हे ऋभुओ! तुम **मदाय**=जीवन को उल्लासमय बनाने के लिए **सवनम्**=(सूयते इति) सोम को **सुनुध्वम्**=अपने अन्दर उत्पन्न करो। और इस **सोम्यस्य**=सोमसम्बन्धी-सोम से उत्पन्न हुए-हुए **मधुनः**=माधुर्य का **पात**=रक्षण करो। हम शरीर में सोम को उत्पन्न करें और इस सोम को सुरक्षित रखते हुए जीवन को मधुर बनाएँ।

भावार्थ—जीवन की चारों मंजिलों को सुन्दरता से बिताने से जीवनयात्रा अच्छी निभती है। इसको अच्छा बनाने के लिए ही हम सोम (वीर्य शक्ति) का उत्पादन व रक्षण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

देवपान चमस

शच्याकर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमसं देवपानम्।
शच्या हरी धनुतरावतष्टेन्द्रवाहावृभवो वाजरत्नाः ॥ ५ ॥

(१) हे **वाजरत्नाः**=शक्तिरूपी रमणीय धनवाले, **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! आप **शचा**=कर्म व प्रज्ञान द्वारा **पितरा**=द्यावापृथिवी रूप माता-पिता को-मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा शरीररूप पृथिवी को **युवाना**=युवा **अकर्त**=कर देते हो। इन्हें जीर्णशक्तिवाले नहीं होने देते। (२) तुम **शच्या**=कर्म व प्रज्ञान द्वारा **चमसम्**=इस शरीरपात्र को **देवपानम्**=दिव्यवृत्तिवाले पुरुषों का सोमपान का स्थान **अकर्त**=करते हो-इसमें सोम का पान करते हुए इसे अत्यन्त दृढ़ व ज्ञान-सम्पन्न बनाते हो। (३) **शच्या**=कर्म व प्रज्ञान द्वारा ही **हरी**=इन इन्द्रियाश्वों को **धनुतरौ**=(शीघ्रं गंतृतरौ) शीघ्र गतिवाला तथा **इन्द्रवाहौ**=उस प्रभु का वहन (धारण) करनेवाला **अतष्ट**=बनाते हो। कर्मेन्द्रियाँ यदि शीघ्रता से यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होती हैं, तो ज्ञानेन्द्रियाँ प्रभु का ज्ञान प्राप्त करनेवाली बनती हैं।

भावार्थ—कर्म व प्रज्ञान द्वारा शरीर व मस्तिष्क की शक्ति जीर्ण नहीं होती। इस शरीर में देववृत्ति के पुरुष सोम (वीर्यशक्ति) का रक्षण करते हैं और इन्द्रियों को कर्मप्रवृत्त व आत्मज्ञान का धारण करनेवाली बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋभु, वृषा व मन्दसान

यो वः सुनोत्यभिपित्वे अह्नां तीव्रं वाजासः सवनं मदाय।
तस्मै रयिमृभवः सर्ववीरमा तक्षत वृषणो मन्दसानाः ॥ ६ ॥

(१) **यः**=जो प्रभु हे **वाजासः**=शक्तिशाली पुरुषो! **वः**=तुम्हारे लिए **अह्नां अभिपित्वे**=दिनों की (अभिपतने) समाप्ति के समय-जीवन की सन्ध्यावेला में भी **तीव्रं सवनम्**=इस शत्रुसंहार के लिए उग्र सोम को **मदाय**=उल्लास-प्राप्ति के लिए **सुनोति**=उत्पन्न करता है। **तस्मै**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए, हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त **वृषणः**=शक्तिशाली **मन्दसानाः**=स्तुति करनेवाले लोगो! **सर्ववीरं रयिम्**=सब वीरताओं के देनेवाले धन को **आनक्षत**=सर्वथा सम्पादित करो। (२) हम ऋभु (ज्ञानदीप्त) वृषा (शक्तिशाली) व मन्दसान (स्तुति करनेवाले) बनें। प्रभु हमारे लिए जिस सोम का सम्पादन करते हैं, उसका हम रक्षण करें। वीरता से युक्त धन का सम्पादन करें। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु को प्राप्त करने के लिए हम ऋभु 'ज्ञानदीप्त' बनें। शक्ति का सम्पादन करें (वृषा) तथा स्तुति की वृत्तिवाले हों (मन्दसान)।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

तीनों सवनों में सोमपान

प्रातः सुतमपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते।
समृभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः सखीँर्याँ इन्द्र चकृषे सुकृत्या॥ ७॥

(१) हे **हर्यश्व**=गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तू **प्रातः**=जीवन के प्रातःसवन में (प्रथम २४ वर्षों में) **सुतं अपिबः**=इस उत्पन्न किये गये सोम का पान करता है। वीर्य का रक्षण ही सोम का पान है। **माध्यन्दिनं सवनम्**=जीवन का माध्यन्दिन सवन तो **केवलं ते**=सिर्फ तेरे लिए ही है। २४ से ६८ तक के जीवन के मध्याह्न में (गृहस्थ काल में) केवल इन्द्र ही सोमपान करता है, अर्थात् इस समय एक जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ही सोमरक्षण सम्भव होता है। (२) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सुकृत्या**=उत्तम कर्मों के हेतु से **यान्**=जिनको **सखीन् चकृषे**=अपना मित्र बनाता है, उन **रत्नधेभिः**=रमणीय तत्त्वों का धारण करनेवाले **ऋभुभिः**=ज्ञानदीप्त पुरुषों के साथ उठता-बैठता हुआ-इन्हीं के संग में रहता हुआ तू **संपिबस्व**=सोम का सम्यक् पान कर। हीनवृत्ति पुरुषों का संग ही हमें भटकानेवाला व सोमपान के अयोग्य बना देता है।

भावार्थ—हम जीवन के तीनों सवनों में सोम का पान करनेवाले बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मोक्ष-प्राप्ति

ये देवासो अभवता सुकृत्या श्येनाइवेदधि दिवि निषेद।
ते रत्नं धात शवसो नपातः सौधन्वना अभवतामृतासः॥ ८॥

(१) **ये**=जो तुम **सुकृत्या**=उत्तम कर्मों द्वारा **देवासः अभवत**=देव बने हों। **श्येनाः इव**=जो तुम अत्यन्त शंसनीय गतिवाले हो। शंसनीय गतिवाले की भाँति तुम **इत्**=निश्चय से **दिवि**=प्रकाश में **अधिनिषेद**=आधिक्येन निषण्ण होओ। जैसे उत्तम कर्मोंवाले बनो, उसी प्रकार ज्ञान में स्थित होनेवाले बनो। (२) **ते**=वे तुम **रत्नं धात**=रमणीय पदार्थों के धारण करनेवाले बनो। **शवसः नपातः**=शक्ति के न गिरने देनेवाले होओ। **सौधन्वनाः**=उत्तम प्रणवरूप धनुष्वाले बनो। इस प्रकार **अमृतासः अभवत**=तुम अमृत हो जाओ, जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाओ।

भावार्थ—मोक्षप्राप्ति का मार्ग यह है, (क) उत्तम कर्मों द्वारा देव बनें, (ख), प्रशंसनीय गतिवाले व ज्ञान की रुचिवाले हों, (ग) रत्न (मणि=सोम) का धारण करें, (घ) शक्ति को नष्ट

न होने दें, (ङ) प्रणव (ओ३म्) का जप करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मदेभिः इन्द्रियेभिः

यत्तृतीयं सवनं रत्नधेयमकृणुध्वं स्वपस्या सुहस्ताः।
तदृभवः परिषिक्तं व एतत्सं मदेभिरिन्द्रियेभिः पिबध्वम् ॥ ९ ॥

(१) **यत्**=जब **तृतीयं सवनम्**=जीवन-यज्ञ के सायन्तन सवन को भी **रत्नधेयम्**=रत्नों का आधान करनेवाला **अकृणुध्वम्**=करते हो, अर्थात् ६८ से ११६ वर्ष तक भी सोम (रत्न=मणि) का शरीर में धारण करते हो, तो **स्वपस्या**=उत्तम कर्मों की इच्छा से **सुहस्ताः**=उत्तम हाथोंवाले होते हो। सोमरक्षण से उत्तम कर्मों की इच्छा तो होती ही है, साथ ही साथ शक्तिसम्पन्न बने रहते हैं। (२) **तद्**=तब **ऋभवः**=हे ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**=तुम्हारा **एतत्**=यह **परिषिक्तम्**=सोम का सर्वतः सेचन होता है। सो तुम **मदेभिः**=उल्लासों के हेतु से तथा **इन्द्रियेभिः**=वीर्यों व बलों के हेतु से-प्रत्येक अंग की शक्ति के हेतु से **संपिबध्वम्**=सम्यक् सोम का पान करो। सोमरक्षण से जीवन में उल्लास बना रहता है तथा शक्ति स्थिर रहती है।

भावार्थ—सोमरक्षण हमें उत्तम कर्मों की इच्छावाला, उत्तम हाथोंवाला, उल्लासयुक्त व सशक्त बनाता है।

अगले सूक्त में भी इन ऋभुओं का ही वर्णन है—

[३६] षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

त्रिचक्रः रथः

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो३ रथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥ १ ॥

(१) हे ऋभुओ! तुम्हारा यह **रथः**=शरीर-रथ **अनश्वः जातः**=इन्द्रियरूप अश्वों के शासनवाला नहीं रहा। इसमें इन्द्रियों का शासन नहीं रहा। **अनभीशुः**=यह मनरूप लगाम के प्रभुत्ववाला भी नहीं हुआ। इसमें मन का भी शासन नहीं है। **उक्थ्यः**=यह अत्यन्त स्तुत्य है। इन्द्रियों व मन के शासन न होने से यह अत्यन्त प्रशंसनीय बना है। यह रथ **त्रिचक्रः**=ज्ञान, कर्म व उपासनारूप तीन चक्रोंवाला है। यह रथ **रजः परिवर्तते**=इस लोक में निरन्तर गतिवाला होता है। यह रथ सदा क्रियाशील है। (२) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**=तुम्हारा **तत्**=वह **देव्यस्य**=देवप्राप्ति का साधनभूत कर्म **प्रवाचनम्**=प्रकर्षेण कथन योग्य है **यत्**=कि तुम **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **च**=तथा **पृथिवीम्**=शरीररूप पृथिवी को **पुष्यथ**=पुष्ट करते हो। शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाना और मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न बनाना ही प्रभुप्राप्ति का साधन है।

भावार्थ—हम इस शरीररथ में इन्द्रियों व मन का प्रभुत्व न होने दें। इस में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों का स्थान हो। हम शरीर व मस्तिष्क दोनों का ही पोषण करें। इस रथ में न घोड़े हैं, न लगाम। तीन चक्र हैं, यह अन्तरिक्ष में उड़ता है, सो प्रशस्य है। इसका एञ्जिन दृढ़ है तो प्रकाश की भी व्यवस्था इसमें ठीक है। एवं वायुयान का उल्लेख यहाँ स्पष्ट संकेतित है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

शोभन-गति अकुटिल रथ

रथं ये चक्रुः सुवृतं सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परि ध्यया।
ताँ ऊ न्व१स्य सवनस्य पीतय आ वो वाजा ऋभवो वेदयामसि॥ २॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **ये**=जो ऋभु **सुचेतसः**=उत्तम ज्ञानवाले हैं। **मनसः परिध्यया**=मन के समन्तात् ध्यान से **सुवृतम्**=उत्तम वर्तनवाले, **अविह्वरन्तम्**=अकुटिल **रथं चक्रुः**=शरीररूप रथ को बनाते हैं। वस्तुतः ऋभु समझदार होते हैं। समझदारी से ऐसे शरीर-रथ को बनाते हैं, जो सदा उत्तम गतिवाला होता है तथा कुटिलता से रहित होता है। (२) हे **वाजाः**=शक्तिशाली **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **तान् वः**=उन आपको ऊ नु=निश्चय से **अस्य सवनस्य**=इस उत्तम सवनवाले सोम के **पीतये**=पान के लिए-शरीर में सुरक्षित करने के लिए, **आवेदयामसि**=सब प्रकार से समझाते हैं।

भावार्थ—ऋभु शरीर से कुटिलताशून्य उत्तम गतिवाले होते हैं। ये सोम का पान करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

वृद्ध होते हुए भी युवा

तद्वो वाजा ऋभवः सुप्रवाचनं देवेषु विभ्वो अभवन्महित्वनम्।
जिव्री यत्सन्ता पितरा सनाजुरा पुनर्युवाना चरथाय तक्षथ॥ ३॥

(१) हे **वाजाः**=शक्ति-सम्पन्न शरीरवाले, **विभ्वः**=विशाल हृदयवाले **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**=आपका **तत्**=वह **महित्वनम्**=महत्त्वपूर्ण कार्य **देवेषु**=देवों में **सुप्रवाचनम्**=अत्यन्त प्रशंसनीय होता है, **यत्**=कि जो **जिव्री सन्ता**=वृद्ध होते हुए भी **सनाजुरा**=सदा जीर्ण होनेवाले **पितरा**=द्यावापृथिवी रूप माता-पिता को-मस्तिष्क व शरीर को **चरथाय**=मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए **पुनः**=फिर **युवाना**=युवा **तक्षथ**=कर देते हो। आप मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाते हो, तो शरीर को बड़ा दृढ़ बना देते हो। (२) सामान्यतः आयु बढ़ने के साथ शक्तियों में क्षीणता आने लगती है। मस्तिष्क भी उतना काम नहीं करता, शरीर भी शिथिल हो जाता है। पर यदि हम जीवन के प्रातः-सवन से ही सोमपान का ध्यान करें, विशेषतः इस तृतीय सवन में (६८ से ११६ तक) सोमपान का पूरा ध्यान करें तो हमारे ये मस्तिष्क व शरीर फिर युवा से हो जाते हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यही है। विद्वान् लोग इस कार्य के महत्त्व का ही शंसन करते हैं। यह कार्य ही हमें 'ऋभु, विभ्वा व वाज' बनाता है।

भावार्थ—सोमरक्षण द्वारा हम मस्तिष्क व शरीर को दीप्त व सशक्त बनाए रखें। वृद्धावस्था में भी ये जीर्ण न होकर युवा से बने रहते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

चतुर्वय चमस

एकं वि चक्र चमसं चतुर्वयं निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिः।
अथा देवेष्वमृतत्वमानश श्रुष्टी वाजा ऋभवस्तद्व उक्थ्यम्॥ ४॥

(१) हे ऋभुओ! आप **एकं चमसम्**=इस एक शरीररूप पात्र को **चतुर्वयम्**=(वय=शाखा) चार शाखाओंवाला **विचक्र**=विशेषरूप से करते हो। 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' ही

इसकी चार शाखाएँ हैं। इन आश्रमों में चलते हुए आप **धीतिभिः**=ध्यान द्वारा **गाम्**=वेदवाणी-रूप गौ को **चर्मणः**=चमड़ी से-आवरण से **निः अरिणीत**=बाहिर करते हैं। इसको चमड़े से बाहिर करने का भाव है 'इसके अन्तर्निहित अर्थ को देखना'। अपने चारों आश्रमों में इनका स्वाध्याय चलता ही चलता है। (२) **अथा**=अब ऐसा करने पर तुम **देवेषु**=सब इन्द्रियों में **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को-नीरोगता को **आनक्ष**=व्याप्त करते हो। इनकी सब इन्द्रियाँ अविकृत व सशक्त बनी रहती हैं। हे **वाजाः**=शक्तिसम्पन्न शरीरवाले **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **वः**=तुम्हारा **तत्**=वह कार्य-जीवन को चार शाखाओंवाला बनाना तथा ध्यान द्वारा वेदवाणी के अन्तर्निहित अर्थ को देखना **श्रुष्टी**=शीघ्र ही **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य होता है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि जीवन को चार भागों में बाँटकर सुन्दरता से जीवन को सफल बनाएँ और स्वाध्याय का एक्र नैत्यिक कर्त्तव्य के रूप में पालन करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

प्रथमश्रवस्तम रयि

ऋ॒भु॒तो र॒यिः प्र॑थ॒मश्र॑वस्तमो॒ वाज॑श्रुतासो॒ यमजी॑जन॒न्नरः॑।
वि॒भ्व॒त॒ष्टो वि॒दथे॑षु प्र॒वाच्यो॒ यं दे॑वा॒सोऽव॑था॒ स विच॑र्षणिः॥ ५॥

(१) **ऋभुतः**=ज्ञानदीप्त आचार्यों से प्राप्त होनेवाला **रयिः**=ज्ञानैश्वर्य **प्रथमश्रवस्तमः**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत यश का कारण बनता है (श्रवस्=glory)। यह ज्ञानैश्वर्य वह है, **यम्**=जिसको **वाजश्रुतासः**=शक्ति व त्याग के कारण प्रसिद्ध **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **अजीजनन्**=अपने अन्दर उत्पन्न करते हैं। विद्यार्थी को, (क) शक्ति का संचय करना चाहिए, (ख) त्याग की वृत्तिवाला होना चाहिए, (ग) उन्नतिपथ पर बढ़ने की भावनावाला होना चाहिए (progressive)। (२) **विभ्वतष्टः**=विभ्वा से बना हुआ-विशाल हृदयवाले पुरुष से बनाया हुआ यह शरीर-रथ **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **प्रवाच्यः**=प्रशंसनीय होता है, अर्थात् हृदय की विशालता होने पर शरीर-रथ ऐसा सुन्दर बनता है कि यह ज्ञानप्राप्ति में अतिशयेन उत्तम होता है। (३) हे **देवासः**=देवो! **यं अवथ**=जिसका आप रक्षण करते हैं, **सः**=वह **विचर्षणिः**=विशेषरूपेण द्रष्टा होता है, अर्थात् उसकी बुद्धि इस प्रकार सूक्ष्म बनती है कि वह सब वस्तुओं के तत्त्व को देखनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम शक्ति का संयम करते हुए प्रगति की वृत्तिवाले बनकर ज्ञानदीप्त आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करें। विशाल हृदय बनकर शरीर को ऐसा बनाएँ कि यह ज्ञानप्राप्ति में अत्यन्त अनुकूलतावाला हो।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वाजी, अर्वा व ऋषिः

स वा॒ज्यर्वा॒ स ऋषि॑र्वच॒स्यया॒ स शूरो॒ अस्ता॒ पृत॑नासु दु॒ष्टरः॑।
य रा॒यस्पोषं॒ स सु॒वीर्यं॑ द॒धे यं वाजो॒ विभ्वाँ॑ ऋ॒भवो॒ यमावि॑षुः॥ ६॥

(१) **यम्**=जिस पुरुष को **वाजः**=शक्तिशाली, **विभ्वा**=विशालहृदय माता-पिता **आविषुः**=रक्षित करते हैं और **यम्**=जिसको **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त आचार्य (आविषुः) रक्षित करते हैं, अर्थात् जिसका रक्षण शक्ति-सम्पन्न माता द्वारा होता है, जिसका रक्षण विशाल हृदय (=अकृपण) पिता से होता है और जिसका रक्षण ज्ञानदीप्त आचार्य द्वारा होता है **सः वाजी**=वह शक्तिशाली

बनता है। माता के निर्बल होने पर बालक भी निर्बल ही रह जाता है। (सः) **अर्वा**=वह सब लोभ आदि वृत्तियों का संहार करनेवाला होता है। पिता कृपण होगा, तो सन्तान भी लोभप्रवण होगी। (सः) **ऋषिः**=वह तत्त्वद्रष्टा बनता है। आचार्य ज्ञानदीप्त होता है, तो विद्यार्थी भी ज्ञानी बनता है। 'वाज' से रक्षित यह 'वाजी' बनता है, 'विभ्वा' से रक्षित यह 'अर्वा' होता है, 'ऋभु' से रक्षित 'ऋषि' बनता है। (२) **वचस्यया**=स्तुति से युक्त हुआ-हुआ **सः**=वह **शूरः**=शूरवीर बनता है, **अस्ता**=शत्रुओं का सुदूर विनष्ट करनेवाला होता है। **पृतनासु**=संग्रामों में **दुष्टरः**=शत्रुओं से न तैरने योग्य होता है। **सः**=वह **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को व ज्ञानैश्वर्य को **दधे**=धारण करता है और **सः**=वह **सुवीर्यं दधे**=उत्तम शक्ति को धारण करता है।

भावार्थ—हम शरीर में 'वाजी' (शक्तिशाली) बनें। मन में 'अर्वा' हों (वासनाओं का संहार करनेवाले) मस्तिष्क में हम 'ऋषि' हों, तत्त्वद्रष्टा। एक सन्तान को उत्तम माता-पिता-आचार्य मिलते हैं, तो वह ऐसा बन पाता है। इसके बाद 'ध्यान' (स्तुति) उसके जीवन का निर्माण करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

धीर, कवि व विपश्चित्

श्रेष्ठं वः पेशो अधि धायि दर्शतं स्तोमो वाजा ऋभवस्तं जुजुष्टन।

धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान्व एना ब्रह्मणा वेदयामसि ॥ ७ ॥

(१) गतमन्त्र में 'वचस्या' (स्तुति) का उल्लेख था। इस वचसा द्वारा **वः**=तुम्हारे में **श्रेष्ठम्**=अतिप्रशस्त **दर्शतम्**=दर्शनीय **पेशः**=रूप **अधिधायि**=अधिनिहित होता है। इस रूप का आधान करनेवाला यह **स्तोमः**=स्तुति-वचन है। प्रभुस्तवन से जीवन प्रशस्त व सुन्दर बनता है। हे **वाजाः**=शक्तिशाली **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **तं जुजुष्टन**=उस स्तोम का प्रीतिपूर्वक सेवन करो। (२) इस स्तोम का सेवन करते हुए तुम **हि**=निश्चय से **धीरासः**=धीर (ज्ञान में रमण करनेवाले) **कवयः**=क्रान्तदर्शी-वस्तुतत्त्व को देखनेवाले **विपश्चितः**=विद्वान् **ष्ठा (स्थ)**=होते हो। **तान्**=उन **वः**=आपको **एना ब्रह्मणा**=इस ब्रह्म से (ब्रह्म वेदः)-वेद से-प्रभुप्रदत्त ज्ञान की वाणियों से **आवेदयामसि**=ज्ञानसम्पन्न करते हैं। यह ज्ञान ही वस्तुतः जीवन को सुन्दरतम रूप देता है। यह ज्ञान ही हमें 'धीर, कवि व विपश्चित्' बनाता है। (thinker, sober strongminded, learned)।

भावार्थ—प्रभुस्तवन से जीवन प्रशस्त बनता है। प्रशस्त जीवन का भाव है 'धीर, कवि व विपश्चित्' बनना।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सात्त्विक भोजन

यूयमस्मभ्यं धिषणाभ्यस्परि विद्वांसो विश्वा नर्याणि भोजना।

द्युमन्तं वाजं वृषशुष्ममुत्तममा नो रयिमृभवस्तक्षता वयः ॥ ८ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि हे **विद्वांसः**=ज्ञानी पुरुषो! **यूयम्**=तुम **अस्मभ्यम्**=हमारी प्राप्ति के लिए **धिषणाभ्यः**=बुद्धियों के लिए व स्तुतियों के लिए **विश्वा**=सब **नर्याणि**=नरहितकारी **भोजना**=भोजनों को **परितक्षत**=सम्पादित करो। ऐसे ही भोजनों का सेवन करो, जो कि तुम्हारा हित करनेवाले हों-जिन भोजनों के सेवन से बुद्धि भी उत्तम बने तथा प्रभु स्तवन की वृत्ति बने,

अर्थात् राजस व तामस भोजनों को न करके सात्त्विक भोजनों को ही करो। (२) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! नः=हमारे लिए **द्युमन्तं वाजम्**=प्रशस्तज्ञान से युक्त बल को **आतक्षत**=सम्पादित करो। **वृषशुष्मम्**=सुखसेचक बलों से युक्त **उत्तमं रयिम्**=प्रशस्त धन को सम्पादित करो तथा (उत्तमं) **वयः**=उत्कृष्ट जीवन की साधना करो। प्रभुप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (क) प्रशस्त ज्ञानवाले बल से युक्त हों, (ख) सुखसेचक बल से युक्त उत्तम धन से युक्त हों, (ग) उत्कृष्ट जीवनवाले बनें।

भावार्थ—सात्त्विक आहार से सात्त्विक बुद्धिवाले बनकर हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रजा-रयि-वीरवत् श्रव

इह प्रजामिह रयिं रराणा इह श्रवो वीरवत्तक्षता नः।
येन वयं चितयेमात्यन्यान्तं वाजं चित्रमृभवो ददा नः॥ ९॥

(१) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त आचार्यो! आप **इह**=इस जीवन में **प्रजाम्**=प्रकृष्ट विकास को तथा **इह**=इस जीवन में **रयिम्**=ज्ञानैश्वर्य को **रराणाः**=देते हुए, **नः**=हमारे लिए **इह**=यहाँ **वीरवत्**=वीरता से युक्त **श्रवः**=(glory) यश को **तक्षता**=सम्पादित करिए। विकसित शक्तियोंवाला शरीर, ज्ञानैश्वर्य सम्पन्न मस्तिष्क, तथा यशस्वी मन हमें प्राप्त हो। (२) आप **नः**=हमारे लिए **तम्**=उस **चित्रम्**=(चित् र) ज्ञानैश्वर्यवाले **वाजम्**=बल को **ददा**=दीजिए, **येन**=जिससे **वयम्**=हम **अन्यान् अति**=औरों से आगे बढ़े हुए **चितयेम**=जाने जाएँ। 'शक्ति+ज्ञान' हमारे जीवन को बड़ा सुन्दर बना दें।

भावार्थ—शक्तिसम्पन्न ज्ञान प्राप्त करके हमारा जीवन अत्यन्त सुन्दर बन जाए।

अगला सूक्त भी ऋभुओं का वर्णन करता है—

[३७] सप्तत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—ऋभवः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवयान मार्ग

उप नो वाजा अध्वरमृभुक्षा देवा यात पथिभिर्देवयानैः।
यथा यज्ञं मनुषो विक्ष्वा३सु दधिध्वे रण्वाः सुदिनेष्वह्नाम्॥ १॥

(१) हे **वाजाः देवाः**=शक्तिसम्पन्न देववृत्ति के वाजो! तथा **ऋभुक्षाः देवाः**=देववृत्ति के ऋभुओ! (=ज्ञानदीप्त पुरुषो) **देवयानैः पथिभिः**=देवयान मार्गों के द्वारा **नः**=हमारे **अध्वरम्**=जीवन यज्ञ में **उपयात**=प्राप्त होओ, अर्थात् हमें इस जीवन में शक्ति-सम्पन्न देववृत्ति के माता-पिता तथा देववृत्ति के ही ज्ञानदीप्त आचार्यों का सम्पर्क प्राप्त हो। इनके सम्पर्क में हम देवयान मार्गों से चलनेवाले बनें। (२) ये **रण्वाः**=रमणीय जीवनवाले 'वाज व ऋभुक्षा देव' हमें इसलिए भी प्राप्त हों, **यथा**=जिससे **आसु विक्षु**=इन प्रजाओं में **अह्नां सुदिनेषु**=दिनों की उत्तमता के निमित्त **मनुषः यज्ञम्**=एक विचारशील ज्ञानी के यज्ञ को **दधिध्वे**=धारण करें। इस जीवन में हम शक्ति-सम्पन्न शरीरवाले (वाज) पवित्र दिव्यवृत्तियों से युक्त मनवाले (देव) तथा ज्ञानदीप्त मस्तिष्कवाले (ऋभु) बन पाएँ। ऐसा बनकर हम जीवन को एक यज्ञ का ही रूप दे दें।

भावार्थ—हम उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके देवयान मार्गों से चलते हुए जीवन को यज्ञमय बना पाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवयान मार्ग का स्वरूप

ते वो हृदे मन॑से सन्तु यज्ञा जुष्टा॑सो अद्य घृतनि॑र्णिजो गुः।
प्र वः सुतासो॑ हरयन्त पूर्णाः क्रत्वे दक्षा॑य हर्षयन्त पीताः ॥ २ ॥

(१) हे मनुष्यो! **ते**=वे **यज्ञाः**=यज्ञ **वः**=तुम्हारे **हृदे मनसे**=हृदय के लिए व मन के लिए **सन्तु**=हों। इन यज्ञों के प्रति तुम्हारे हृदयों में श्रद्धा हो तथा मनों में इनके लिए प्रबल कामना हो। ये यज्ञादि कर्म श्रद्धा व कामना के होने पर ही चलते हैं। श्रद्धा के अभाव में ये व्यर्थ प्रतीत होते हैं और इनका हमारे जीवनों में स्थान नहीं रहता। वस्तुतः जिन भी बातों का फल एक मिनिट में नहीं दिखता, वे सब श्रद्धा से ही चलती हैं। (२) **जुष्टासः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये गये **घृतनिर्णिजः**=(घृ दीप्तौ, निजिर् शौचपोषणयोः) ज्ञानों की पवित्रताएँ व पोषण हमें **अद्य**=आज **गुः**=प्राप्त हों। हम ज्ञान को प्रीतिपूर्वक उपासित करें। यह ज्ञान हमें पवित्र व पुष्ट जीवनवाला बनाए। (२) **वः**=तुम्हारे **पूर्णाः**=किसी भी प्रकार की कमी से रहित **सुतासः**=सोमों के उत्पादन (वीर्यशक्ति का निर्माण) **प्रहरयन्त**=शरीर में रोगकृमियों पर प्रबल आक्रमण करनेवाले हों। ये सोमकण ही **पीताः**=शरीर में पिये हुए-शरीर में ही व्याप्त किये हुए **क्रत्वे**=यज्ञों के लिए तथा **दक्षाय**=कर्मों की कुशलता के लिए **हर्षयन्त**=हमें हर्षित करें। इन सोमकणों के रक्षण से हम यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हों तथा कर्मों को कुशलता से करनेवाले बनें।

भावार्थ—देवयान मार्ग यह है, (क) श्रद्धा व इच्छा से यज्ञों को करना, (ख) ज्ञानदीप्तियों के द्वारा पोषण व पवित्रता को प्राप्त करना, (ग) सोम (वीर्य) के उत्पादन द्वारा रोगों से ऊपर उठना और (घ) सोम को शरीर में व्याप्त करके यज्ञशील कुशलकर्मा बनना।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्तोम और सोम

त्र्युदायं देवहि॑तं यथा॑ वः स्तोमो॑ वाजा ऋभुक्षणो ददे वः।
जुह्वे मनु॑ष्वदुप॑रासु विक्षु युष्मे सचा॑ बृहद्दि॑वेषु सोम॑म् ॥ ३ ॥

(१) हे **वाजाः**=शक्तिशाली पुरुषो! **ऋभुक्षणः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **यथा**=जिस प्रकार **वः**=आपका **त्र्युदायम्**=तीनों 'शारीरिक, मानस व बौद्धिक' उन्नतियोंवाला **देवहितम्**=देवों में स्थापन हो, सो **वः**=तुम्हारे लिए **स्तोमः ददे**=यहं स्तोम दिया जाता है। इस स्तोम (=स्तुति) द्वारा तुम सब प्रकार की उन्नति करके अपने को देवों में स्थापित करनेवाले होंगे। यह स्तोम तुम्हें देव बना देगा। प्रभु का स्तवन हमें प्रभु जैसा बनने के लिए प्रेरित करता ही है। (२) **मनुष्वत्**=एक विचारशील व्यक्ति की तरह **उपरासु** (उप रमन्ते)=प्रभु की उपासना में (स्तोम में) रमण करनेवाली **विक्षु**=प्रजाओं में, **युष्मे सचा**=तुम्हारे साथ **बृहद्दिवेषु**=प्रभूत ज्ञानदीप्तिवाली प्रजाओं में **सोमं जुह्वे**=मैं इस सोम को देता हूँ। यह सोम ही सुरक्षित हुआ-हुआ तुम्हारी सब उन्नतियों का कारण बनेगा।

भावार्थ—हम स्तोम (स्तुति) को अपनाएँ और सोम का (वीर्य का) रक्षण करें। यही विविध (शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक) उन्नति का मार्ग है। यही देवत्व-प्राप्ति का साधन है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

देव कौन ?

पीवोअश्वाः शुचद्रथा हि भूतायःशिप्रा वाजिनः सुनिष्काः।
इन्द्रस्य सूनो शवसो नपातोऽनु वश्चेत्यग्रियं मदाय ॥ ४॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार स्तोम व सोम को अपनाकर देव बननेवाले व्यक्ति **पीवो अश्वाः**=परिपुष्ट इन्द्रियाश्वोंवाले होते हैं। **शुचद्रथाः**=उनका शरीर-रथ अत्यन्त पवित्र होता है, यह कभी रोगों की मलिनता व टूट-फूटवाला नहीं होता। प्रभु कहते हैं कि **हि**=निश्चय से **भूत**=तुम ऐसे ही होओ। तुम्हारी इन्द्रियाँ सशक्त हों, शरीर शुचितावाला हो तथा **अयः शिप्राः**=तुम्हारे हनू (जबड़े) लोहे के समान दृढ़ हों। दाँत लोह दृढ़ता को लिये हुए हों। **वाजिनः**=तुम शक्ति-सम्पन्न (vigorous) होओ। **सुनिष्काः**=उत्तम गर्दन (Neck) वाले होवो। तुम्हारी गर्दन निर्बलता के कारण झुकी हुई न हो। (२) हे **इन्द्रस्य सूनो**=इन्द्र के पुत्रो! अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुषो! **शवसः न पातः**=शक्ति को न नष्ट होने देनेवालो! यह **वः मदाय**=तुम्हारी आनन्दप्राप्ति के लिए **अग्रियम्**=सर्वमुख्य (अग्रे भवम्) सोमपानरूप धर्म **अनुचेति**=अनुज्ञात किया जाता है। यह 'सोमपान' (वीर्यरक्षण) ही तुम्हारा सर्वोपरि धर्म है। यही तुम्हारे जीवन को 'दिव्य जीवन' बनाएगा। यही देवत्व प्राप्ति का साधन है।

भावार्थ—सोमपान द्वारा तुम परिपुष्ट इन्द्रियाश्वोंवाले व पवित्र शरीर-रथवाले, दृढ़ दाँतोंवाले शक्तिशाली न गिरी गर्दनवाले बनो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

कैसा धन ?

ऋभुमृभुक्षणो रयिं वाजे वाजिन्तमं युजम्। इन्द्रस्वन्तं हवामहे सदासातममश्विनम् ॥ ५ ॥

(१) हे **ऋभुक्षणः**=ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले देवो! हम **रयिं हवामहे**=धन के लिए याचना करते हैं। उस धन के लिए, जो कि **ऋभुम्**=ज्ञानदीप्तिवाला है (उरु भाति)। इस धन को प्राप्त करके हम ज्ञानविमुख न हो जाएँ, प्रत्युत धन को ज्ञानप्राप्ति का साधन बनाएँ। **वाजे**=संग्राम में **वाजिन्तमम्**=जो अत्यन्त शक्तिशाली है-संग्राम में जो हमें शक्ति-सम्पन्न बनाता है, उस धन की हम याचना करते हैं। इस धन से हम वासनाओं में फँस न जाएँ। **युजम्**=हम उस धन को चाहते हैं, जो हमें परस्पर मेलवाला बनाए। धन के कारण हमारा परस्पर विरोध न हो जाए। (२) हम उस धन को चाहते हैं, जो कि **इन्द्रस्वन्तम्**=इन्द्रवाला है, हमें उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की ओर ले चलनेवाला है और इसी दृष्टिकोण से **सदासातमम्**=सदा दान की वृत्ति से युक्त है। जो धन सदा दान में विनियुक्त होता है, वह हमें भोगों में फँसने से बचाता है। तभी यह धन हमें प्रभु की ओर ले जानेवाला होता है। और **अश्विनम्**=हम प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले धन को चाहते हैं। उस धन को, जो कि इन्द्रियों को विषयासक्ति से ऊपर उठाकर सशक्त बनाए।

भावार्थ—हमें धन प्राप्त हो। यह धन हमें 'ज्ञान, शक्ति, परस्पर प्रेम, प्रभुप्रवणता, त्यागवृत्ति व प्रशस्त इन्द्रियों' वाला बनाए।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

उत्तम बुद्धि व उत्तम इन्द्रियाँ

सेदृभवो यमवथ यूयमिन्द्रश्च मर्त्यम्। स धीभिरस्तु सनिता मेधसाता सो अर्वता ॥ ६ ॥

(१) हे **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त पुरुषो! **यूयम्**=आप **इन्द्रः च**=और वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **यं मर्त्यम्**=जिस मनुष्य को **अवथ**=रक्षित करते हो, **स इत्**=वह ही **धीभिः सनिता**=उत्तम बुद्धियों व कर्मों से मेलवाला **अस्तु**=हो। वस्तुतः जीवन में 'माता, पिता व आचार्य' ही ऋभु हैं। जिस भी व्यक्ति को ये उत्तम ऋभु प्राप्त होते हैं और जिस पर प्रभुकृपा बनी रहती है, वह उत्तम बुद्धिवाला बनता है और सदा सत्कर्मों का करनेवाला होता है। (२) इन ऋभुओं से व प्रभु से रक्षित होनेवाला, **सः**=वह पुरुष **मेधसाता**=इस जीवन-संग्राम में **अर्वता**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से संभक्त होता है। इसकी इन्द्रियाँ भी प्रशस्त बनती हैं। इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में लगी रहती हैं और कर्मेन्द्रियाँ उत्तम यज्ञादि कर्मों में व्यापृत होती हैं। इस प्रकार यह इन्द्रियों को विषयपंक से मलिन नहीं होने देता।

भावार्थ—ज्ञानदीप्त माता, पिता व आचार्यों से रक्षित तथा प्रभु से रक्षित पुरुष उत्तम बुद्धि व उत्तम इन्द्रियोंवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

यज्ञमार्ग

वि नो॑ वाजा ऋभुक्षणः प॒थश्चि॑तन॒ यष्ट॑वे। अ॒स्मभ्यं॑ सूरयः स्तु॒ता विश्वा॒ आशा॑स्तरी॒षणि॑ ॥ ७ ॥

(१) हे **वाजाः**=शक्तिशाली पुरुषो! **ऋभुक्षणः**=ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले पुरुषो! **नः**=हमें **यष्टवे**=यज्ञादि उत्तम कर्म करने के लिए **पथः विचितन**=मार्गों का विशेषरूप से ज्ञान दीजिए। (२) हे **सूरयः**=ज्ञानी **स्तुताः**=(स्तुतमस्यास्तीति) प्रभुभक्त पुरुषो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को व इच्छाओं को **तरीषणि**=तैरने के लिए (पथः विचितन) मार्गों का ठीक ज्ञान दीजिए। आप से दत्त ज्ञान के अनुसार मार्गों का आक्रमण करते हुए हम सब इच्छाओं को तैर जाएँ।

भावार्थ—ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करके मार्गों का अनुसरण करते हुए हम यज्ञशील हों और इच्छाओं से ऊपर उठ जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—ऋभवः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मघत्तये

तं नो॑ वाजा ऋभुक्षण॒ इन्द्र॒ नास॑त्या र॒यिम्। सम॑श्वं चर्ष॒णिभ्य॒ आ पु॒रु श॑स्त म॒घत्त॑ये ॥ ८ ॥

(१) हे **वाजाः**=शक्तिशाली **ऋभुक्षणः**=ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले पुरुषो! हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नासत्या**=प्राणापानो! आप सब **नः चर्षणिभ्यः**=हम श्रमशील मनुष्यों के लिए **तम्**=उस **समश्वम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वों से संगत (युक्त) **पुरु**=पालन व पूरण करनेवाले **रयिम्**=धन को **आशस्त**=उपदिष्ट करो। हमें उस मार्ग का ज्ञान दो, जिससे कि हम इस ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकें। (२) हमें आप धन दो। इसलिए दो कि **मघत्तये**=हम इन मघों (ऐश्वर्यों) का अत्यन्त दान कर सकें। धन हमारा पालन व पूरण करनेवाला हो। हमारी इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाला हो। हमें दान के लिये समर्थ करनेवाला हो।

भावार्थ—हम धन प्राप्त करें। यह धन हमें शक्तिशाली ज्ञानदीप्त बनाए। इसे प्राप्त करके हम जीवनयात्रा को ठीक प्रकार चलाते हुए प्रभुप्रवण हों। प्राणापान की शक्ति को बढ़ाएँ। इन्द्रियों को निर्बल न होने दें। दानशील हों।

अगले सूक्त का प्रथम मन्त्र प्रभु के दानों का उल्लेख करता है और अगले मन्त्रों में 'दधिक्रा' नाम से 'मन' का उल्लेख है—

[३८] अष्टात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व, बुद्धि व शत्रु-विनाशक तेज

उतो हि वां दात्रा सन्ति पूर्वा या पूरुभ्यस्त्रसदस्युर्नितोशे।
क्षेत्रासां ददथुरुर्वरासां घनं दस्युभ्यो अभिभूतिमुग्रम्॥ १॥

(१) हे द्यावापृथिवी! **वाम्**=आप के **दात्रा**=दान **उत उ हि**=निश्चय से **पूर्वा**=हमारा पालन व पूरण करनेवाले **सन्ति**=हैं। **या**=जिनको वस्तुतः **पूरुभ्यः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले मनुष्यों के लिए **त्रसदस्युः**=जिन से सब शत्रु भयभीत होते हैं, वे प्रभु **नितोशे**=देते हैं। इन द्यावापृथिवी से-संसार के सब लोकों से जो भी पदार्थ हमें प्राप्त होते हैं, उन्हें वास्तव में द्यावापृथिवी द्वारा, प्रभु ही प्राप्त करा रहे हैं। जो भी व्यक्ति पालन व पूरण के कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, प्रभु उनके लिए इन वस्तुओं को देते हैं। प्रभु त्रसदस्यु हैं। हम प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करते हैं, तो वहाँ काम-क्रोध आदि आसुरभावों का प्रवेश नहीं होता। (२) हे द्यावापृथिवी! आप **क्षेत्रासां**=(क्षेत्राणि सनोति इति) सब भूमियों में विचरनेवाले इन्द्रियाश्वों को **ददथुः**=देते हो। **उर्वरासाम्**=(उर्वरां सर्वसस्याढ्यां भुवं सनोति) नये-नये विचारों को जन्म देनेवाली बुद्धि को देते हो। तथा **दस्युभ्यः घनम्**=दस्युओं के विनाश के लिए (दस्युओं के लिये विनाशक) **उग्रम्**=प्रबल **अभिभूतिम्**=अभिभावक बल को देते हो।

भावार्थ—प्रभुकृपा से द्यावापृथिवी हमारे लिए पालक व पूरक दानों को देते हैं। उत्तम इन्द्रियाश्वों को, बुद्धि को तथा शत्रु-विनाशक तेज को देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वस्थ मन

उत वाजिनं पुरुनिष्षिध्वानं दधिक्रामु ददथुर्विश्वकृष्टिम्।
ऋजिप्यं श्येनं प्रुषितप्सुमाशुं चर्कृत्यमर्यो नृपतिं न शूरम्॥ २॥

(१) **उत**=और **उ**=निश्चय से हे द्यावापृथिवी! आप हमारे लिए **दधिक्राम्**=उस मन को **दस्युः**=देते हो, जो कि **वाजिनम्**=शक्तिशाली है, **पुरुनिष्षिध्वानम्**=खूब ही वासनाओं का निषेध करनेवाला है, **विश्वकृष्टिम्**=सब मनुष्यों के हित की भावना को अपने में धारण करनेवाला है, **ऋजिप्यम्**=ऋजु मार्ग से गति करता हुआ हमारा वर्धन करनेवाला है (प्या वृद्धौ)। (२) उस मन को आप हमें देते हो, जो कि **श्येनम्**= शंसनीय गतिवाला है, **प्रुषितप्सुम्**= दीप्तरूपवाला है, **आशुम्**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला है। **अर्यः**=(अरेः) काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का **चर्कृत्यम्**=(कर्तनशीलम्) काटनेवाला, छेदन करनेवाला है। **नृपतिं न**=मनुष्यों के रक्षक राजा की तरह **शूरम्**=शूरवीर है। राजा जैसे शत्रुओं का पराजय करके प्रजाओं का कल्याण करता है, उसी प्रकार जो मन काम-क्रोधादि को छेदन करता हुआ हमारा कल्याण करता है, ऐसे मन को ये द्यावापृथिवी हमारे लिए दें। जैसे द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में अन्तरिक्षलोक है, इसी प्रकार यहाँ हमारे जीवनों में मस्तिष्क व स्थूल शरीर के मध्य में मन है। स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर से मन भी बड़ा स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर मिलकर स्वस्थ मन को जन्म देते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'तीव्र गतिवाला' मन

यं सीमनु प्रवतेव द्रवन्तं विश्वः पूरुर्मदति हर्षमाणः।
पड्भिर्गृध्यन्तं मेधयुं न शूरं रथतुरं वातमिव ध्रजन्तम्॥ ३॥

(१) **प्रवता इव द्रवन्तम्**=निम्न मार्ग से जाते हुए पानी की तरह शीघ्र गतिवाले **यं अनु**=जिस मन के अनुसार **विश्वः पूरुः**=सब अपना पालन व पूरण करनेवाले मनुष्य **हर्षमाणः**=प्रसन्नता का अनुभव करते हुए **सीम्**=निश्चय से **मदति**=स्तुति करते हैं। ऐसे मन को द्यावापृथिवी हमारे लिए दें। मन निम्न मार्ग से बहते हुए पानी की तरह तीव्र गतिवाला है। इस मन को वश में करके हम आनन्द का अनुभव करते हैं और प्रभु के स्तवन की वृत्तिवाले बनते हैं। (२) उस मन को ये द्यावापृथिवी हमारे लिए दें जो कि **पड्भिः गृध्यन्तम्**=(पद् गतौ) गतियों से विविध पदार्थों के ग्रहण की कामनावाला है। जो मन 'मेधयुं न शूरं'=संग्रामेच्छु शूरवीर के समान है। संग्रामेच्छु शूरवीर संपत्तियों को प्राप्त करता हुआ तृप्त नहीं। यह मन भी तृप्त नहीं होता। **रथतुरम्**=शरीररूप रथ को तीव्रगति से इधर-उधर ले जाता है। **वातं इव ध्रजन्तम्**=वायु के समान शीघ्र गतिवाला है। इस मन को अपने वश में करके हम जीवनयात्रा में सफलतापूर्वक लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाले हों।

भावार्थ—मन तीव्र गतिवाला है, शक्तिशाली है। यदि यह हमें प्राप्त हो जाता है, तो हम अवश्य जीवनयात्रा को सफलतापूर्वक पूरा कर पाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सरलता व ज्ञान

यः स्मारुन्धानो गध्या समत्सु सनुतरश्चरति गोषु गच्छन्।
आविर्ऋजीको विदथा निचिक्यत्तिरो अरतिं पर्याप आयोः॥ ४॥

(१) **यः**=जो **समत्सु**=अध्यात्म संग्रामों में **स्म**=निश्चय से **गध्या**=ग्रहणीय बातों को **आरुन्धानः**=अपने में निरुद्ध करता हुआ **सनुतरः**=उत्तम सम्भक्ता होता हुआ **गोषु**=ज्ञान की वाणियों में **गच्छन्**=चलता है। जिस समय मन को हम काम-क्रोध-लोभ आदि से शून्य कर पाते हैं, तो यह मन शरीर में निवास के लिए आवश्यक सब वसुओं का स्थापन करनेवाला होता है (प्रधा आरुन्धानः), हृदय में प्रभु संभजन की वृत्तिवाला होता है (सनुतरः) और बुद्धि में दीप्ति को धारण करता हुआ ज्ञानवाणियों के प्रति रुचिवाला होता है (गोषु गच्छन्)। (२) **आविर्ऋजीकः**=(ऋजीक=इन्द्र) प्रकट किया है इन्द्र को जिसने अथवा प्रकट किया है आर्जव (=सरलता) को जिसने (आर्जवं ब्रह्मणः पदम्) ऐसा यह मन **विदथा**=ज्ञानों को **निचिक्यत्**=जानता हुआ **आपः**=व्यापक मनोवृत्तिवाले **आयोः**=गतिशील व्यक्ति के **अरतिम्**=दुःख को **तिरः परि चरति**=तिरस्कृत, अन्तर्हित व विनष्ट करनेवाला होता है। जब मन सरलता को व ज्ञान को अपनाता है, तो सब दुःख दूर हो ही जाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह मन को वश में करके उदार वृत्तिवाला व गतिशील बना रहे, यही दुःख को दूर करने का मार्ग है।

भावार्थ—हम मन में सरलता को धारण करें, ज्ञान की रुचिवाले बनें। उदार हृदय व गतिशील हों। दुःखों को दूर करने का मार्ग यही है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मन, ज्ञान व इन्द्रिय समूह

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥ ५॥

(१) **उत**=और **स्म**=निश्चय से **एनम्**=इस मन को **अनु**=लक्ष्य करके **क्षितयः**=मनुष्य **भरेषु**=संग्रामों में **क्रोशन्ति**=पुकारते हैं। इस प्रकार पुकारते हैं, **न**=जैसे कि **वस्त्रमथिं तायुम्**=वस्त्रों के चुरा लेनेवाले चोर को लक्ष्य करके। इस प्रकार पुकारते हैं, **न**=जैसे कि **नीचायमानम्**=(नीचैः अयमानं) नीचे झपटा मारते हुए **जसुरिम्**=विनाशक (जस्=to hurt, injure, kill) **श्येनम्**=वाज को लक्ष्य करके। वस्तुतः मन 'वस्त्रमथि तायु' के समान है-'नीचायमान जसुरि श्येन' के समान है। यदि यह हमारे वश में न हो, तो विनाशक ही होता है। इसको वश में करने के लिए साधक प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु कृपा से ही यह वशीभूत होता है। (२) **च**=और **श्रवः अच्छा**=ज्ञान का लक्ष्य करके प्रभु को पुकारते हैं। **च**=और **पशुमत् यूथम्**=इन पशुओंवाले झुण्ड को-इन्द्रिय समूह को लक्ष्य करके प्रभु को पुकारते हैं। यहाँ एक ओर 'मन' है, दूसरी ओर 'इन्द्रिय समूह'। दोनों के बीच में 'ज्ञान'। प्रभु को इन तीनों चीजों का लक्ष्य करके पुकारते हैं। प्रभुकृपा से मन व इन्द्रियसमूह हमारे वश में हुआ, तो ज्ञान तो प्राप्त होगा ही। मन इधर-उधर भटकता है। वस्तुतः भटकता हुआ यह हमारी सब अध्यात्म-सम्पत्ति को चुरा ले जाता है। इन्द्रियाँ भी विषयों में फँस जाती हैं। ये ज्ञानग्रहण व यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त नहीं रहतीं। प्रभु की उपासना ही हमें इन्द्रियों व मन के साथ चलनेवाले इस संग्राम में विजयी बनाती है। तभी हमें ज्ञान प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें मन व इन्द्रियसमूह का अधिष्ठाता बनाए। ऐसा बनकर हम ज्ञानी बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

आत्मरूप वर का 'जन्य' मन

उत स्मासु प्रथमः सरिष्यन्नि वेवेति श्रेणिभी रथानाम्।
स्रजं कृण्वानो जन्यो न शुभ्वा रेणुं रेरिहत्किरणं ददश्वान्॥ ६॥

(१) **उत**=और **आसु**=इन प्रजाओं में **स्म**=निश्चय से **प्रथमः**=सर्वमुख्य रूप में **सरिष्यन्**=गति करता हुआ यह मन **रथानां श्रेणिभिः**='स्थूल, सूक्ष्म व कारण' शरीररूप रथों से **निवेवेति**=अत्यन्त गति करता है। मनोमय कोश सब कोशों में प्रधान है-यह सब कोशों के केन्द्र में है। वेद इस मध्यम कोश को ही ठीक करने पर बल देता है 'वि कोशं मध्यमं युवं'। इसका एक ओर स्थूल शरीर पर प्रबल प्रभाव पड़ता है तो दूसरी ओर यह कारण शरीर से सम्बद्ध होकर सब के साथ एकत्व का अनुभव करता है 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'। (२) यह मन **स्रजं कृण्वानः**=अलंकरण को करता हुआ, **जन्यः न**=वर के सेवक की तरह **शुभ्वा**=उसे अलंकृत करनेवाला है। आत्मा 'वर' है, यह मन उसका 'जन्य' है। जैसे जन्य (वर का मित्र या सेवक) वर को सजाता है, इसी प्रकार यह मन आत्मा को सद्गुणों से अलंकृत कर देता है। **रेणुं रेरिहत्**=यह सब रेणु (धूल) को चाट जाता है-नष्ट कर देता है (to kill) तथा **किरणम्**=प्रकाश व ज्ञान की किरणों को **ददश्वान्**=धारण करता है। आत्मारूप वर को मन इसी रूप में अलंकृत करता है कि उसकी राजसवृत्ति को विनष्ट करता है और ज्ञान के प्रकाशवाली सात्त्विकवृत्ति को जागरित करता है।

भावार्थ—वशीभूत मन ही आत्मा को सत्त्वगुण से अलंकृत करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्राः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सहुरिः ऋतावा

उत स्य वाजी सहुरिर्ऋतावा शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
तुरं यतीषु तुरयन्नृजिप्योऽधि भ्रुवोः किरते रेणुमृञ्जन्॥ ७॥

(१) **उत**=और **स्यः**=वह मन रूप अश्व (दधिक्रा) **वाजी**=बड़ा शक्तिशाली है। **सहुरिः**=सब शत्रुओं का मर्षण करनेवाला है। **ऋतावा**=हमारे जीवनों में ऋत का रक्षण करनेवाला है। **समर्ये**=इस जीवन-संग्राम में **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार से **शुश्रूषमाणः**=हमारी सेवा करता है। वस्तुतः इस मन के वशीभूत होने पर यह मन हमारी जीवनयात्रा की पूर्ति का साधन बन जाता है। (२) **तुरं यतीषु**=शीघ्र गतिवाली इन प्रजाओं में **तुरयन्**=शीघ्रता से कार्यों को करता हुआ, **ऋजिप्यः**=ऋजुमार्ग से आगे बढ़ता हुआ-हमारा वर्धन करता हुआ **अधि भ्रुवोः**=भ्रू-स्थानों में होनेवाली **रेणुम्**=धूल को **किरते**=विक्षिप्त करता है, अर्थात् मस्तक की धूलि को दूर करता है और इस प्रकार मस्तक को ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल बनाता है। ज्ञान द्वारा **ऋञ्जन्**=यह मन हमारे जीवन को प्रसाधित करता है। इस प्रकार यह मन हमें देदीप्यमान जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—यह मन हमारे शत्रुओं का पराभव करता है। ज्ञान के आवरणभूत रजोगुण को दूर करके हमारे जीवन को दीप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्राः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'दुर्वतु' दधिक्रा

उत स्मास्य तन्यतोरिव द्योर्ऋघायतो अभियुजो भयन्ते।
यदा सहस्रमभि षीमयोधीद्दुर्वर्तुः स्मा भवति भीम ऋञ्जन्॥ ८॥

(१) जब मन प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होता है, तो **उत स्म**=निश्चय से **ऋघायतः**=शत्रुओं का हिंसन करते हुए **अस्य**=(अस्मात्) इस मन से **अभियुजः**=आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रु **भयन्ते**=इस प्रकार भयभीत होते हैं, **इव**=जैसे कि **द्योः**=दीप्यमान **तन्यतोः**=शब्द करती हुई अशनि (विद्युत्) से। जैसे गर्जती हुई-कड़कती हुई विद्युत् प्राणियों के लिए भयंकर होती है, इसी प्रकार शत्रुओं का हिंसन करता हुआ यह दधिक्रा (मन) काम-क्रोध आदि के लिए भयावह होता है। (२) **यदा**=जब यह मन **सीम्**=निश्चय से **सहस्रं अभि अयोधीत्**=हजारों शत्रुओं से युद्ध करता है, तो यह **स्म**=निश्चय से **दुर्वर्तुः भवति**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाला होता है और **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर होता हुआ **ऋञ्जन्**=उपासकों के जीवन को प्रसाधित करता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना में चलता हुआ 'मन' काम-क्रोध आदि शत्रुओं पर बिजली की तरह गिरता है। सब बुराइयों का निवारण करके हमारे जीवन को अलंकृत करता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्राः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'कृष्टिप्रा आशु' दधिक्रा

उत स्मास्य पनयन्ति जना जूतिं कृष्टिप्रो अभिभूतिमाशोः।
उतैनमाहुः समिथे वियन्तः परा दधिक्रा असरत्सहस्रैः॥ ९॥

(१) **उत स्म**=और निश्चय से **जनाः**=लोग **अस्य**=इस **कृष्टिप्रः**=श्रमशील मनुष्यों का पूरण करनेवाले-उनकी न्यूनताओं को दूर करनेवाले **आशोः**=शीघ्रता से व्यापनेवाले मन के **अभिभूतिम्**=शत्रुओं के पराभूत करनेवाले **जूतिम्**=वेग को **पनयन्ति**=स्तुत करते हैं-प्रशंसित करते हैं। यह मन जिस शीघ्रतावाले बल से शत्रुओं पर आक्रमण करता है, वह इसका बल प्रशंसनीय ही होता है। (२) **उत**=और **समिथे**=संग्राम में **वियन्तः**=विविध दिशाओं में भयभीत होकर भागते हुए शत्रु **एनं आहुः**=इसके विषय में यही कहते हैं कि **दधिक्राः**=यह मनुष्यों का धारण करके गति करता हुआ मन **सहस्रैः**=हजारों बलों के साथ **परा असरत्**=सुदूर गतिवाला होता है। न जाने यह हमें कहाँ फेंकेगा। वस्तुतः स्तुति प्रवृत्त मन से शत्रु भयभीत होकर सुदूर भाग जाते हैं।

भावार्थ—मन अतिशयेन बलवान् व वेगवान् है। काम आदि शत्रु इससे भयभीत होकर दूर विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्राः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

ज्योतिषा आततान

आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्यइव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि॥ १०॥

(१) **दधिक्राः**=हमारा धारण करके गति करता हुआ यह मन **शवसा**=अपने बल से **पञ्चकृष्टीः अपः**=पाँचों का विस्तार करनेवाली श्रमशील प्रजाओं को (पाँचों भूतों, पाँच प्राणों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों व अन्तःकरण पञ्चक का विस्तार करनेवाली प्रजाओं को) **सूर्य इव**=सूर्य की तरह **ज्योतिषा आततान**=समन्तात् ज्योति से विस्तृत करता है। मन हमारे जीवनों को ज्ञान-ज्योति से जगमग कर देता है। हमारा भी यह कर्त्तव्य है कि हम श्रमशील बनें और पाँचों तत्त्वों की शक्ति का विस्तार करने के लिए यत्नशील हों। (२) **सहस्रसाः**=हजारों शक्तियों को देनेवाला यह मन **शतसाः**=सौ के सौ वर्ष पर्यन्त हमें शक्तियों के देनेवाला है **वाजी**=यह शक्तिशाली है, **अर्वः**=शत्रु संहार में कुशल है। यह हमारे लिए **इमा वचांसि**=इन स्तुति-वचनों को **मध्वा संपृणक्तु**=माधुर्य से संपृक्त कर दे। हम बड़े मधुर शब्दों में सदा स्तुति करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभुभक्ति की भावना से पूर्ण मन हमारे जीवन को ज्योतिर्मय कर दे। यह हमें शतवर्षपर्यन्त सहस्रों शक्तियों को देनेवाला हो।

अगला सूक्त भी दधिक्रा का ही वर्णन करता है—

[३९] एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्राः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अति विश्वानि दुरितानि

आशुं दधिक्रां तमु नु ष्टवाम दिवस्पृथिव्या उत चर्किराम।
उच्छन्तीर्मामुषसः सूदयन्त्वति विश्वानि दुरितानि पर्षन्॥ १॥

(१) हम **आशुम्**=शीघ्रता से मार्गों का व्यापन करनेवाले **तम्**=उस **दधिक्राम्**=हमारा धारण करके क्रमण करनेवाले इस मन का **उ**=ही **नु**=अब **स्तवाम**=स्तवन करें-मन के महत्त्व को हम समझने का प्रयत्न करें। **उत**=और **दिवः पृथिव्याः**=द्युलोक व पृथिवी लोक से **चर्किराम**=इसको वि-क्षिप्त करें। द्युलोक व पृथिवीलोक में भटकते हुए इस मन को उधर से हटाकर हम अन्दर ही

स्थापित करने का प्रयत्न करें। (२) **उच्छन्तीः**=अन्धकार का निवारण करती हुई **उषसः**=ये उषाएँ **माम्**=मुझे **सूदयन्तु**=प्रेरित करें। इनमें मन को द्युलोक व पृथिवीलोक से हटाकर मैं प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ। इस प्रकार ये उषाएँ **विश्वानि दुरितानि**=सब बुराइयों के **अतिपर्षन्**=हमें पार ले चलें।

भावार्थ—मन का महत्त्व समझकर, इसे सब ओर से हटाकर, हम प्रभुप्रेरणा को सुनें। यह प्रेरणा हमें सब दुरितों से दूर करेगी।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'ततुरि' दधिक्राव्ण=तारक मन

म॒हश्च॑र्कर्म्यर्व॑तः क्रतु॒प्रा द॑धि॒क्राव्णः॑ पुरु॒वार॑स्य॒ वृष्णः॑।
यं पू॒रुभ्यो॑ दीदि॒वांसं॒ नाग्निं द॒दथु॑र्मित्रावरुणा॒ ततु॑रिम्॥ २॥

(१) **क्रतुप्राः**=यज्ञों का पूरण करनेवाला-यज्ञों के द्वारा ही शक्ति व प्रज्ञान को अपने अन्दर भरनेवाला मैं **दधिक्राव्णः**=हमारा धारण करके गति करनेवाले इस मन की **चर्कर्मि**=अत्यन्त स्तुति करता हूँ, जो कि **महः**=महान् है, **अर्वतः**=सब बुराइयों का संहार करनेवाला है, **पुरुवारस्य**=पालक व पूरक और अतएव वरणीय है, **वृष्णः**=शक्तिशाली है। (२) उस दधिक्रावा मन का मैं स्तवन करता हूँ, **यम्**=जिसको **पूरुभ्यः**=अपने नियत कर्म का पालन करनेवाले मनुष्यों के लिए **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण **ददथुः**=देते हैं। 'मित्र और वरुण देते हैं' इसका भाव यह है कि हम इस मन को स्नेह की भावनावाला (मित्र) तथा द्वेष भावना से रहित (वरुण) बनाने का प्रयत्न करें। ऐसा ही मन **अग्निं न दीदिवांसम्**=अग्नि की तरह देदीप्यमान होता है। तथा **ततुरिम्**=हमें इस भवसागर से तरानेवाला होता है।

भावार्थ—यज्ञों में लगे रहकर हम अपने मन को स्नेहयुक्त व निर्द्वेष बनाएँ। यही मन हमें भवसागर से तरानेवाला होगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

मित्रेण वरुणेना सजोषाः (सस्नेह व निर्द्वेष मन)

यो अश्व॑स्य दधि॒क्राव्णो॒ अका॑री॒त्समि॑द्धे अ॒ग्ना उ॒षसो॒ व्यु॑ष्टौ।
अना॑गसं॒ तमदि॑तिः कृणोतु॒ स मि॒त्रेण॒ वरु॑णेना स॒जोषाः॑॥ ३॥

(१) **यः**=जो **उषसः व्युष्टौ**=उषःकाल के होते ही **अग्ना समिद्धे**=यज्ञाग्नि के दीप्त करने पर **अश्वस्य**=मार्गों का व्यापन करनेवाले (अश् व्याप्तौ) **दधिक्राव्णः**=इस हमारा धारण करके क्रमण करनेवाले मन की **अकरीत्**=स्तुति करता है, **तम्**=उसे **अदितिः**=यह विषयों से खण्डित न होनेवाला मन **अनागसं कृणोतु**=निष्पाप बनाए। मन अश्व है-शीघ्रता से देश-देशान्तर का व्यापन करनेवाला है। यह दधिक्रावा है-हमारा धारण करता हुआ जीवन-मार्ग में आगे बढ़ता है। हमें चाहिए कि हम उषा के होते ही यज्ञादि उत्तम कर्मों में इसे प्रवृत्त करें। यही इसका स्तवन है, यही इसे विषयों से बचाने का मार्ग है। यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहने पर यह 'अदिति' बनता है और हमें निष्पाप बनाता है। (२) **सः**=वह **मित्रेण**=मित्र से व **वरुणेन**=वरुण से **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिवाला होता है। मित्र व वरुण से संगत हुआ-हुआ यह मन सदा स्नेहवाला (मित्र) व द्वेष की भावना से रहित (वरुण) होता है।

भावार्थ—मन को उषा के होते ही यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त करना चाहिए, तभी यह विषयों

से न खण्डित हुआ-हुआ, सस्नेह व निर्द्वेष बना रहता है और हमें निष्पाप जीवनवाला बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'वरुण-मित्र-अग्नि व इन्द्र' को पुकारना

दधिक्राव्ण इष ऊर्जो महो यदमन्महि मरुतां नाम भद्रम्।
स्वस्तये वरुणं मित्रमग्निं हवामह इन्द्रं वज्रबाहुम् ॥ ४॥

(१) हम **दधिक्राव्णः**=इस धारण करके गति करनेवाले **इषः**=प्रभु की प्रेरणा प्राप्त करनेवाले, **ऊर्जः**=बल व प्राण शक्ति से सम्पन्न **महः**=महान् मन का **यद्**=जब **अमन्महि**=स्तवन करते हैं-इस मन का महत्त्व समझकर इसे अपने वश में करने का प्रयत्न करते हैं, तो **मरुताम्**=मनुष्यों का **भद्रं नाम**=निश्चय से कल्याण होता है। वशीभूत मन ही कल्याण का साधक है। (२) **स्वस्तये**=कल्याणप्राप्ति के लिए हम **वरुणम्**=वरुण को, **मित्रम्**=मित्र को, **अग्निम्**=अग्नि को **हवामहे**=पुकारते हैं। **वज्रबाहुम्**=वज्र को हाथ में लिए हुए **इन्द्रम्**=इन्द्र को पुकारते हैं। 'मित्र को पुकारना' अर्थात् मन को सस्नेह बनाने का प्रयत्न करना। 'वरुण को पुकारना' अर्थात् मन को निर्द्वेष बनाना। 'अग्नि को पुकारना' अर्थात् सदा आगे बढ़ने की भावनावाला होना। और 'वज्रबाहु इन्द्र को पुकारना' अर्थात् सदा क्रियाशील हाथोंवाला जितेन्द्रिय बनना, कर्मों में लगे रहना और इन्द्रियों को विषयों में नहीं फँसने देना। इस प्रकार 'वरुण, मित्र, अग्नि व वज्रबाहु इन्द्र' बनना ही कल्याण का मार्ग है।

भावार्थ—हम मन का महत्त्व समझें। इसे वश में करके अपना कल्याण सिद्ध करें। निर्द्वेष, सस्नेह, प्रगतिशील व कर्मठ जितेन्द्रिय बनकर कल्याण-मार्ग का अनुसरण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

युद्धों व यज्ञों में सफलता का साधक मन

इन्द्रमिवेदुभये वि ह्वयन्त उदीराणा यज्ञमुपप्रयन्तः।
दधिक्रामु सूदनं मर्त्याय ददथुर्मित्रावरुणा नो अश्वम्॥ ५॥

(१) **इत्**=निश्चय से **उदीराणाः**=युद्ध के लिए उद्योग करते हुए और **यज्ञं उपप्रयन्तः**=यज्ञ को समीपता से प्राप्त होते हुए **उभये**=दोनों ही **इन्द्रं इव**=जैसे प्रभु को **विह्वयन्ते**=पुकारते हैं, इसी प्रकार वे **दधिक्राम्**=हमारा धारण करके गति करनेवाले इस मन को **उ**=भी पुकारते हैं। यह मन ही उन्हें युद्धों में विजयी बनाता है और यज्ञों में सफल करता है। (२) **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण **नः**=हमारे लिए **अश्वम्**=इस मनरूप अश्व को **ददथुः**=देते हैं, जो कि **मर्त्याय**=मनुष्य के लिए **सूदनम्**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाला है। जिस समय मनुष्य मन में स्नेह (मित्र) व निर्द्वेषता (वरुण) की भावना को भरता है, उस समय सब आसुरभावों से ऊपर उठकर पवित्र भावनाओंवाला बनता है।

भावार्थ—युद्धों व यज्ञों में सफलता इस मन द्वारा ही प्राप्त होती है। यह मन ही प्रेम व निर्द्वेषता के भाव से युक्त होकर सब आसुरभावों से दूर होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्राः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः ॥

मधुरभाषण व दीर्घजीवन

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः।
सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ६॥

(१) मैं **दधिक्राव्णः**=धारण करके गति करनेवाले इस मन का **अकारिषम्**=स्तवन करता हूँ। जो मन **जिष्णोः**=विजयशील है, **अश्वस्य**=(अशू व्याप्तौ) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाला है, **वाजिनः**=जो शक्तिशाली है। इस मन को मैं अपने अनुकूल करने का प्रयत्न करता हूँ। (२) यह दधिक्रावा (मन) **नः**=हमारे **मुखा**=मुखों को **सुरभि करत्**=सुगन्धित करता है और **नः**=हमारे **आयूंषि**=आयुष्यों को **प्रतारिषत्**=अत्यन्त दीर्घ करता है। मन के वशीभूत होने पर हम मधुर शब्द बोलते हैं और दीर्घजीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—मन 'जिष्णु, अश्व व वाजी' है। इसको वशीभूत करके हम मधुरभाषी व दीर्घजीवी बनते हैं।

अगले सूक्त का प्रारम्भ भी इसी दधिक्रावा के वर्णन से करते हैं—

[४०] चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्रावा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

जिष्णु=सदा विजयी

द॒धि॒क्राव्ण॒ इदु॒ नु च॑र्किराम॒ विश्वा॒ इन्मामु॒षसः॑ सूदयन्तु।
अ॒पाम॒ग्नेरु॒षस॒ः सूर्य॑स्य॒ बृह॒स्पते॑राङ्गि॒र॒सस्य॑ जि॒ष्णोः ॥ १ ॥

(१) **नु**=अब **इत् उ**=निश्चय से **दधिक्राव्णः**=हमारा धारण करके गति करनेवाले इस मन की **चर्किराम**=हम स्तुति करें। इस मन का महत्त्व समझें। **इत्**=निश्चय से **विश्वाः उषसः**=सब उषाकाल **माम्**=मुझे **सूदयन्तु**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित करें। मन को वश में करके हम सदा यज्ञादि कर्मों में ही प्रवृत्त हों। (२) हम इन उषाओं में **अपाम्**=(आपः रेतो भूत्वा०) इन रेतःकणों का स्तवन करें। इनका स्तवन करते हुए इनके रक्षण का निश्चय करें। **अग्नेः**=हम (अग्नि वाग् भूत्वा०) वाणी का उपासन करें। वाणी से भद्र शब्दों को ही बोलने का निश्चय करें। **उषसः**=उषा का स्तवन करें। इस समय प्रबुद्ध होकर सब मलों के दग्ध करने का निश्चय करें (उष दाहे)। **सूर्यस्य**=सूर्य का स्तवन करें-ज्ञानसूर्य को उदित करने के लिए यत्नशील हों। **बृहस्पतेः**=बृहस्पति-ब्रह्मणस्पति का स्तवन करें। ऊँचे से ऊँचे स्थान में पहुँचने के लिए यत्नशील हों। ऊर्ध्वादिक् के अधिपति बृहस्पति बनें। **आंगिरसस्य**=अंगिरस् के उपासक हों। एक-एक अंग को रसमय-लोचलचकवाला बनाएँ। हमारे अंग सूखे काठ की तरह निर्जीव से न हो जाएँ। **जिष्णोः**=हम जिष्णु-विजयशील के उपासक हों। जीवन में सदा विजेता बनें। कभी पराजित न हों।

भावार्थ—मन को वशीभूत करके हम दिव्य भावनाओं का उपासन करते हुए सदा विजयी बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—दधिक्रावा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दुवन्यसत्-तुरण्यसत्

सत्वा॑ भरि॒षो गवि॒षो दु॑वन्य॒सच्छ्र॒व॒स्यादि॒ष उ॒षस॑स्तुरण्य॒सत्।
स॒त्यो द्र॒वो द्र॑व॒रः प॑तङ्ग॒रो द॑धि॒क्रावेष॒मूर्जं॒ स्व॑र्जनत् ॥ २ ॥

(१) **सत्वा**=(सद् गतौ) गतिशील यह **दधिक्रावा**=हमारा धारण करके क्रमण करनेवाला मन **भरिषः**=हमारे भरण में कुशल है। मन ओजस्वी हो, तो यह शरीर का ठीक धारण करता है। **गविषः**=यह मन ज्ञानवाणियों का प्रेरक है। **दुवन्यसत्**=प्रभु के उपासकों में स्थित होता है (दुवन्येषु सीदति)। उपासना की वृत्ति होने पर मन स्थिर हो ही जाता है। उस समय यह हमारा

मन **द्रवः**=प्रभु की प्रेरणाओं द्वारा और **उषसः**=(उष दाहे) दोषों के दहन द्वारा **श्रवस्यात्**=ज्ञान की कामना करे। यही मन सर्वश्रेष्ठ होता है। **तुरण्यसत्**=सदा त्वरा से यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहनेवालों में यह आसीन होता है। मन को स्थिर करने के दो ही साधन हैं—(क) उपासना, (ख) यज्ञादि कर्मों में लगे रहना। (२) **सत्यः**=(सत्सु तायमानः) उत्तम कर्मों में यह शक्ति के विस्तार को प्राप्त करता है। **द्रवः**=गतिशील होता है। **द्रवरः**=इन्द्रियों को गतिवाला बनाता है (Driver)। **पतङ्गरः**=निम्न गतिवाला होता हुआ हमें निगल जाता है। यदि मन विषयों की ओर चला गया, तो यह विनाश का कारण बनता ही है। विषयों की ओर न गया हुआ यह दधिक्रावा=मन **इषम्**=प्रभुप्रेरणा को, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को तथा **स्वः**=प्रकाश को **जनत्**=उत्पन्न करता है।

भावार्थ—वशीभूत मन 'प्रभुप्रेरणाप्राणशक्ति व प्रकाश' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्रावा॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

बहिर्मुखी मन व अन्तर्मुखी मन

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णं न वेरनु वाति प्रगर्धिनः।
श्येनस्येव ध्रजतो अङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः॥ ३॥

(१) **उत**=और **स्म**=निश्चय से **द्रवतः**=गति करते हुए **तुरण्यतः**=त्वार से कर्मों में व्याप्त होते हुए **प्रगर्धिनः**=भौतिक वस्तुओं की लालसावाले इस मनरूपी पक्षी का **पर्णम्**=पंख **वेः न**=पक्षी के पंख के समान ही **अनुवाति**=गतिवाला होता है। उस समय भौतिक विषयों की ओर गया हुआ यह मन अत्यन्त चञ्चल होता है। (२) इस **ऊर्जा सह**=बल व प्राणशक्ति के साथ **तरित्रतः**=संसार सागर को तैरनेवाले **अंकसं परि ध्रजतः**=(अंकस्=the body) शरीर की ओर गति करते हुए, विषय वासनाओं से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होते हुए **दधिक्राव्णः**=मन का **वर्णम्**=पालनात्मक कर्म **श्येनस्य इव**=श्येन की तरह होता है-शंसनीय गतिवाले पक्षी की तरह होता है। श्येन जैसे अपने शत्रुओं का विनाश कर डालता है, इसी प्रकार यह प्रत्याहृत होता हुआ मन सब शत्रुओं का विनाश करता है। आसुरभावनाओं के विनाश से हमारा मन प्रशंसनीय गतिवाला हो जाता है।

भावार्थ—विषयाभिलाषी मन तीव्र गति से इधर-उधर भटकता है। भवसागर को तैरने की कामनावाला मन शरीर की ओर लौटता है और आसुरभावों को विनष्ट करके प्रशंसनीय होता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—दधिक्रावा॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

संयम व अभ्रंश

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि।
क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत्पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत्॥ ४॥

(१) **उत**=और **स्यः**=वह **वाजी**=बलवान् मन **क्षिपणिम्**=(a net) विषय जाल को **तुरण्यति** (तुर्=overcome)=जीतता है। विषयों से युद्ध करता है। उस समय यह **ग्रीवायां बद्धः**=इस ग्रीवा में-भोज्य पदार्थों को निगलनेवाली गरदन में बँधा हुआ होता है। ग्रीवा के बन्धन को धारण करता है-खान-पान में बड़े संयम से चलता है। **अपि कक्षे**=कक्ष प्रदेश में बद्ध होकर चलता है, ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करता है तथा **आसनि**=मुख में यह बँधा हुआ होता है- वाणी का संयम करके हित मितभाषी होता है। (२) **दधिक्राः**=यह मन **क्रतुम्**=प्रज्ञान व यज्ञादि कर्मों के **अनु**=अनुसार **संतवीत्वत्**=प्रवृद्ध बलवाला होता हुआ **पथां अंकासि अनु**=मार्गों के चिह्नों

के अनुसार **आपनीफणत्**=निरन्तर गतिवाला होता है, महाजनों के मार्ग चिह्नों पर ही यह चलता है-कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता।

भावार्थ—विषयजाल को परे फेंक कर मन खाने व बोलने के व्रत को धारण करता हुआ संयमी होता है। यह मार्गभ्रष्ट नहीं होता।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सूर्यः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

प्रभुदर्शन

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥ ५॥

(१) गतमन्त्र का मार्ग से न भ्रष्ट होनेवाला 'मन' प्रभु को देखता है और कह उठता है कि वे प्रभु ही **हंसः**=(हन्ति पाप्मानं) सब पापों को नष्ट करते हैं और **शुचिषद्**=पवित्र हृदय में आसीन होते हैं। **वसुः**=वे ही सबको वसानेवाले हैं और **अन्तरिक्षसद्**=(अन्तरिक्ष) मध्यमार्ग में आसीन होते हैं, अर्थात् मध्यमार्ग में चलनेवाले पुरुष को प्राप्त होते हैं। **होता**=वे ही वस्तुतः सब यज्ञादि कर्मों को करनेवाले हैं और **वेदिषत्**=यज्ञवेदि में आसीन होते हैं। **अतिथिः**=निरन्तर गतिवाले वे प्रभु **दुरोणसत्**=हमारे निर्मल शरीरगृहों में (दुर् ओण्) स्थित होते हैं। (२) **नृषत्**=निरन्तर आगे बढ़नेवालों में वे स्थित होते हैं। **वरसद्**=श्रेष्ठों में स्थित होते हैं। **ऋतसद्**=सत्यकर्मा पुरुषों में स्थित होते हैं। **व्योमसद्**=(वी+ओम्, वी गतौ अव रक्षणे) गति द्वारा वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचानेवालों में ये प्रभु स्थित होते हैं। (३) **अब्जाः**=(अप्सु जायते) नदियों के निरन्तर बहते हुए जलों में प्रभु की महिमा का प्रादुर्भाव होता है। **गोजाः**=इस पृथिवी में (पुण्यगन्ध के रूप में) प्रभु प्रादुर्भूत होते हैं। **ऋतजाः**=सृष्टि के अटल नियमों में (ऋत right) प्रभु का प्रादुर्भाव हो रहा है। **अद्रिजाः**=पर्वतों के अद्भुत दृश्यों में प्रभु दिखते हैं। **ऋतम्**=वे प्रभु स्वयं ऋत हैं-सत्यस्वरूप हैं।

भावार्थ—शुद्ध हृदय होकर हम 'हंस' के रूप में प्रभु का दर्शन करें। यह प्रभुदर्शन हमारे सब पापों को नष्ट करे।

अगले सूक्त में 'इन्द्र व वरुण' के नाम से प्रभु का आराधन है—

[४१] एकचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'नमस्वान्-क्रतुमान्' स्तोम

इन्द्रा को वां वरुणा सुम्नमाप स्तोमो हविष्माँ अमृतो न होता।
यो वां हृदि क्रतुमाँ अस्मदुक्तः पस्पर्शदिन्द्रावरुणा नमस्वान्॥ १॥

(१) 'इन्द्र' परमैश्वर्यशाली है (इदि परमैश्वर्ये)। 'वरुण' सब बुराइयों का निवारण करनेवाला है। सब बुराइयों के निवारण से ही परमैश्वर्य की प्राप्ति होती है। इन्हें संबोधन करते हुए कहते हैं कि **इन्द्रावरुणा**=हे इन्द्र और वरुण देवो! **कः**=कौन **वाम्**=आपके **सुम्नम्**=आनन्द को **आप**=प्राप्त करता है? संसार के विषयों में न फँसनेवाला कोई विरल व्यक्ति ही इन्द्र व वरुण के आनन्द को प्राप्त कर पाता है। वह इस आनन्द को प्राप्त करता है, **यः**=जो कि **स्तोमः**=(स्तोमः अस्य अस्ति इति) स्तुतिवाला बनता है, **हविष्मान्**=त्यागपूर्वक अदन (भक्षण) वाला होता है। **अमृतः न**=अमृत-सा, सदा नीरोग-सा-बनता है अथवा विषयवासनाओं के पीछे मरता नहीं।

होता=यज्ञशील होता है। (२) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण देवो! **यः**=जो **अस्मदुक्तः**=हमारे से उच्चरित हुआ-हुआ **वां हृदि**=आपके हृदय में **पस्पर्शत्**=स्पर्श करे, वही स्तवन ठीक है। यही स्तवन हमें इन्द्र और वरुण के सुख को प्राप्त करानेवाला होता है। यह स्तोम **क्रतुमान्**=यज्ञादि उत्तम कर्मोंवाला है और **नमस्वान्**=नम्रता से युक्त है। वस्तुतः जब हम नम्र व यज्ञशील बनकर प्रभु का स्तवन करते हैं, तभी हम प्रभु के प्रिय होते हैं।

भावार्थ—हम नम्र व यज्ञशील बनकर प्रभु का स्तवन करें। यही स्तवन हमें प्रभु का प्रिय बनाएगा और हम प्रभु के आनन्द में भागी हो सकेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

इन्द्र व वरुण के साथ मैत्री

इन्द्रा ह यो वरुणा चक्र आपी देवौ मर्तः सख्याय प्रयस्वान्।
स हन्ति वृत्रा समिथेषु शत्रूनवोभिर्वा महद्भिः स प्र शृण्वे॥ २॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित 'नमस्वान्-क्रतुमान् स्तोम' द्वारा **ह**=निश्चय से **यः**=जो **मर्तः**=मनुष्य **इन्द्रावरुणा देवौ**=परमैश्वर्यशाली पाप-निवारक देव को **आपी चक्रे**=मित्र बनाता है और जो **सख्याय**=इनकी मित्रता के लिए **प्रयस्वान्**=उद्योगवाला होता है। **सः**=वह **वृत्रा हन्ति**=ज्ञान की आवरणभूत सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला होता है। प्रभु की मित्रता में वासनारूप शत्रुओं का विनाश हो ही जाता है। महादेव के सामने कामदेव का क्या काम? (२) यह इन्द्र और वरुण को अपना मित्र बनानेवाला व्यक्ति **समिथेषु**=संग्रामों में **शत्रून् हन्ति**=काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को विनष्ट करता है। **वा**=और **महद्भिः अवोभिः**=महान् रक्षणों से **सः**=वह **प्रशृण्वे**=प्रसिद्ध होता है-यह बड़े-बड़े प्रलोभनों में भी अपना रक्षण कर पाता है।

भावार्थ—हम इन्द्र व वरुण के मित्र बनने का प्रयत्न करें। यह मैत्री ही हमें विजयी बनाएगी।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

श्रेष्ठ रत्नों की प्राप्ति

इन्द्रा ह रत्नं वरुणा धेष्ठेत्था नृभ्यः शशमानेभ्यस्ता।
यदी सखाया सख्याय सोमैः सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते॥ ३॥

(१) हे **ता इन्द्रावरुणा**=प्रसिद्ध परमैश्वर्यशाली पापनिवारक देवो! आप **शशमानेभ्यः**=प्लुतगति से कर्म करनेवाले (शश प्लुत गतौ) और इन कर्मों द्वारा ही प्रभु का शंसन करनेवाले (शंसमानेभ्यः) **नृभ्यः**=लोगों के लिए **इत्था**=सचमुच **रत्नं धेष्ठा**=रमणीय धनों को धारण करते हो। (२) यह आप तब करते हो, **यद्**=जब कि **ई**=निश्चय से **सखाया**=मित्रभूत आप **सुतेभिः सोमैः**=उत्पन्न हुए-हुए सोमों से तथा **सुप्रयसा**=उत्तम सात्त्विक अन्नों के सेवन से **सख्याय**=मित्रता के लिए **मादयैते**=प्रसन्न होते हो। इन्द्र और वरुण हमारे मित्र तभी बनते हैं, जब कि हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए सोम का रक्षण करते हैं। यह सोमरक्षण ही हमें 'इन्द्र-वरुण' के जैसा बनने में समर्थ करता है। तभी हम रमणीय रत्नों के भागी होते हैं।

भावार्थ—(क) हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करें, (ख) सोम का शरीर में ही व्यापन करें, (ग) सदा कर्मशील बने रहें। यही मार्ग है 'इन्द्र व वरुण' के प्रिय बनने का।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'दुरेव वृकति व दभीति' का विनाश

इन्द्रा॑ युवं व॑रुणा दि॒द्युम॑स्मि॒न्नोजि॑ष्ठमु॒ग्रा नि व॑धिष्टं॒ वज्र॑म्।

यो नो॑ दु॒रेवो॑ वृ॒कति॑र्द॒भीति॒स्तस्मि॑न्मिमाथाम॒भिभू॒त्योजः॥ ४॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण! **युवम्**=आप **उग्रा**=अत्यन्त तेजस्वी हो। **अस्मिन्**=इस हमारे शत्रु पर **दिद्युम्**=दीप्त **ओजिष्ठम्**=ओजस्वितम **वज्रम्**=वज्र को **निवधिष्टम्**=निश्चय से प्रहृत करो। आपके वज्र से यह हमारा शत्रु सुतरां विनष्ट हो जाए। (२) **यः**=जो **नः**=हमारा **दुरेवः**=दुष्ट आचरणवाला (दुर् एव) कामरूप शत्रु है, **वृकतिः**=आदान की वृत्तिवाला कभी न तृप्त होनेवाला लोभरूप शत्रु है, **दभीतिः**=हिंसन के स्वभाववाला क्रोधरूप शत्रु है। **तस्मिन्** उस 'काम-लोभ-क्रोध' रूप शत्रु पर **अभिभूत्योजः**=अभिभावक बल को **मिमाथाम्**=बनाओ। इस शत्रु के विनाश के लिए इस अभिभावक बल का प्रयोग करो। इन शत्रुओं के विनष्ट होने पर ही हम विनाश से बच पाते हैं।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण का उपासन हमें 'दुराचरणवाले काम, औरों के धन को भी छीननेवाले लोभ तथा हिंसकवृत्तिवाले क्रोध' से बचाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वेदधेनु का हमारे जीवन में प्रेरण

इन्द्रा॑ युवं व॑रुणा भू॒तम॒स्या धि॒यः प्रे॒तारा॑ वृ॒ष॒भेव॑ धे॒नोः।

सा नो॑ दुहीय॒द्यव॑सेव ग॒त्वी स॒हस्र॑धारा॒ पय॑सा म॒ही गौः॥ ५॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र व वरुण देवो! **युवम्**=आप दोनों **वृषभा इव**=हमारे पर सुखों का सेचन करनेवालों के समान हो। आप **अस्याः**=इस **धेनोः**=ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणी रूप गौ की **धियः**=बुद्धियों को-ज्ञानों को **प्रेतारा भूतम्**=प्रेरित करनेवाले होओ। इन्द्र व वरुण की कृपा से हमारे लिए यह वेदधेनु प्रेरित हो। (२) **सा**=वह वेदधेनु **नः**=हमारे लिए **यवसा इव**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) सब बुराइयों के अमिश्रण व अच्छाइयों के मिश्रण के हेतु से ही **गत्वी**=गतिवाली होकर **दुहीयत्**=ज्ञानदुग्ध को प्रपूरित करनेवाली हो। यह **गौः**=सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाली वेदरूप गौ **सहस्रधारा**=सहस्रों प्रकार से हमारा धारण करनेवाली है। **पयसा मही**=अपने ज्ञानदुग्ध के कारण महनीय है। मानव जीवन में इसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण हमारे लिए वेदवाणी रूप गौ को प्रेरित करते हैं। यह हमारे लिए ज्ञानदुग्ध को प्राप्त कराके हमारा नाना प्रकार से धारण करती है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

शत्रु विनाश व सुन्दर जीवन

तो॒के हि॒ते तन॑य उ॒र्वरा॑सु सूरो॒ दृशी॑के॒ वृष॑णश्च॒ पौंस्ये॑।

इन्द्रा॑ नो॒ अत्र॒ वरु॑णा स्याता॒मवो॑भिर्द॒स्मा परि॑तक्म्यायाम्॥ ६॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार हमारे जीवनों में वेदधेनु को प्रेरित करके ज्ञान के प्रपूरण द्वारा **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण **अत्र**=यहाँ **परितक्म्यायाम्**=अज्ञानान्धकार से आवृत जीवन- रात्रि में (परितक्म्या=रात्रि) **नः**=हमारे लिए **अवोभिः**=रक्षणों द्वारा **दस्मा**=काम-क्रोध-लोभ आदि

शत्रुओं के विनष्ट करनेवाले **स्याताम्**=हों। (२) ये इन्द्र और वरुण हमें काम आदि शत्रुओं से इसलिए ऊपर उठाएँ कि **तोके हिते**=हितकर सन्तानों के निमित्त। (हिते तनये) हितकर पौत्रों के निमित्त। **उर्वरासु**=नये-नये विचारों को जन्म देनेवाली बुद्धियों के निमित्त। **सूरः दृशीके**=सूर्य के चिरकाल तक दर्शन के निमित्त-चिर जीवन के लिए। **च**=और **वृषणः पौंस्ये**=शक्तिशाली पुरुष के वीरतापूर्ण कर्मों के निमित्त। वेदज्ञान को प्राप्त करके जब काम-क्रोध-लोभ से ऊपर उठते हैं, तो हमें यदा (क) हितकार्यों में प्रवृत्त होनेवाले सन्तान मिलते हैं, (ख) हमारी बुद्धि उर्वरा होती है, (ग) हम दीर्घजीवन को प्राप्त करते हैं और (घ) शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमें 'उत्तम सन्तान, उर्वरा बुद्धि, दीर्घजीवन तथा शक्ति' प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

पितरा इव शम्भू

युवामिद्ध्यवसे पूर्व्याय परि प्रभूती गविषः स्वापी।
वृणीमहे सख्याय प्रियाय शूरा मंहिष्ठा पितरेव शंभू॥ ७॥

(१) **गविषः**=(गो इष्) ज्ञानवाणियों की कामनावाले हम **पूर्व्याय अवसे**=हमारा पालन व पूरण करने में उत्तम रक्षण के लिए **युवां इत् हि**=हे इन्द्र और वरुण! आपको ही **परिवृणीमहे**=सर्वथा वरनेवाले हैं। आप ही **प्रभूती**=प्रकृष्ट ऐश्वर्यवाले हैं तथा **स्वापी**=उत्तम बन्धु हैं। (२) हम **प्रियाय सख्याय**=सदा प्रीति को देनेवाली मित्रता के लिए आप को वरते हैं। जो आप **शूरा**=हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले हैं, **मंहिष्ठा**=हमें अधिक से अधिक उन्नति के साधनभूत पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। **पितरा इव शम्भू**=माता-पिता के समान हमारे लिए शान्ति को भावित करनेवाले हैं।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण ही हमारे सच्चे मित्र हैं। ये ही हमारा रक्षण करते हैं। हमारा जीवन शान्त बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

इन्द्र व वरुण का स्तवन

ता वां धियोऽवसे वाजयन्तीराजिं न जग्मुर्युवयूः सुदानू।
श्रिये न गाव उप सोममस्थुरिन्द्रं गिरो वरुणं मे मनीषाः॥ ८॥

(१) हे **सुदानू**=शोभन ज्ञानों के देनेवाले इन्द्र और वरुण! **वाजयन्तीः**=शक्ति की कामनावाली **युवयूः**=आप को प्राप्त करने की कामनावाली **ताः धियः**=वे स्तुतियाँ **अवसे**=रक्षण के लिए **वां जग्मुः**=आपके प्रति प्राप्त होती हैं। इस प्रकार प्राप्त होती हैं, **व**=जैसे कि **आजिम्**=युद्ध को सेनाएँ प्राप्त हुआ करती हैं। जीवन भी एक संग्राम है। इसमें विजय-प्राप्ति के लिए अपने को सशक्त बनाने की कामनावाली प्रजाएँ इन्द्र और वरुण का स्तवन करती हैं। (२) **न**=जैसे **गावः**=ये वेदवाणियाँ **श्रिये**=शोभा के लिए **सोमम्**=सोमरक्षण करनेवाले विनीत विद्यार्थी को **उप अस्थुः**=समीपता से प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार **मे गिरः**=मेरी ये ज्ञानवाणियाँ तथा **मनीषाः**=मननपूर्वक की जाने वाली स्तुतियाँ **इन्द्रं वरुणम्**=इन्द्र व वरुण का उपासन करती हैं। इन्द्र व वरुण का उपासन करती हुई ये मेरी शोभा की वृद्धि के लिए होती हैं।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण की उपासना से ज्ञानवृद्धि को प्राप्त करके हम जीवन को शोभा-सम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

धन व ज्ञान (धन) की प्राप्ति

इमा इन्द्रं वरुणं मे मनीषा अग्मन्नुप द्रविणमिच्छमानाः।

उपेमस्थुर्जोष्टारइव वस्वो रघ्वीरिव श्रवसो भिक्षमाणाः॥ ९ ॥

(१) **द्रविणम्**=ज्ञानधन को **इच्छमानाः**=चाहती हुई **इमाः**=ये **मे**=मेरी **मनीषाः**=बुद्धियाँ व स्तुतियाँ **इन्द्रम्**=इन्द्र को व **वरुणम्**=वरुण को **उप अग्मन्**=समीपता से प्राप्त होती हैं। इन्द्र व वरुण की उपासना से ही तो ज्ञानधन की प्राप्ति होती है। इन्द्र व वरुण की सच्ची उपासना यही है कि हम जितेन्द्रिय व निर्द्वेष बनें। यह जितेन्द्रिय (इन्द्र) निर्द्वेष (वरुण) व्यक्ति ही ज्ञानी बन पाता है। (२) मेरी बुद्धियाँ **ईम्**=निश्चय से इन्द्र व वरुण का **उप अस्थुः**=उपासन इस प्रकार करती हैं, **इव**=जैसे कि **जोष्टारः**=सेवक लोग **वस्वः भिक्षमाणाः**=धन का भिक्षण करते हुए स्वामी के समीप उपस्थित होते हैं और **इव**=जैसे कि **श्रवसः**=(भिक्षमाणाः) ज्ञान का भिक्षण करती हुई **रघ्वीः**=छोटी-छोटी प्रजाएँ (छोटे बालक) आचार्य के समीप उपस्थित होती हैं।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण का उपासन ही हमें धन व ज्ञान (धन) को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

अश्व्य व रथ्य धन

अश्व्यस्य त्मना रथ्यस्य पुष्टेर्नित्यस्य रायः पतयः स्याम।

ता चक्राणा ऊतिभिर्नव्यसीभिरस्मत्रा रायो नियुतः सचन्ताम्॥ १० ॥

(१) हम **त्मना**=स्वयं, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से **रायः**=धन के **पतयः**=स्वामी **स्याम**=हों। उस धन के, जो कि **नित्यस्य**=अस्थिर नहीं है, **अश्व्यस्य**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला है तथा **रथ्यस्य**=उत्तम शरीर रूप रथवाला है तथा **पुष्टेः**=हमारा उचित पोषण करनेवाला है। धन वही हमें धन्य बनानेवाला है, जिसके द्वारा इन्द्रियाँ सशक्त बनी रहें, शरीर दृढ़ बना रहे तथा परिवार के सभी व्यक्तियों का जिसके द्वारा उचित पोषण होता रहे। (२) **ता**=वे इन्द्र और वरुण **नव्यसीभिः ऊतिभिः**=स्तुत्य रक्षणों द्वारा **चक्राणा**=हमारे लिए सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले हों। उनकी कृपा से **अस्मत्रा**=हमारे जीवन में **रायः**=सब ऐश्वर्य तथा **नियुतः**=उत्तम इन्द्रियाश्व **सचन्ताम्**=समवेत हों। हमें ऐश्वर्य तथा उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त हों।

भावार्थ—इन्द्र व वरुण की कृपा से हमें वे धन प्राप्त हों, जो कि इन्द्रियों व शरीर को उत्तम बनाएँ-हमारा ठीक से पोषण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

क्रियाशीलता व व्रतबन्धन

आ नो बृहन्ता बृहतीभिरूती इन्द्र यातं वरुण वाजसातौ।

यद्दिद्यवः पृतनासु प्रक्रीळान्तस्य वां स्याम सनितार आजेः॥ ११ ॥

(१) हे **बृहन्ता**=अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त **इन्द्र वरुण**=इन्द्र और वरुण! आप **वाजसातौ**=इस जीवनसंग्राम में **बृहतीभिः**=हमारी वृद्धि को कारणभूत **ऊती**=रक्षणों के साथ **नः**=हमें **आयातम्**=प्राप्त

होओ। इन्द्र और वरुण की कृपा से ही हमने इस जीवनसंग्राम में विजयी बनना है। (२) **यद्**=जब **दिद्यवः**=दीप्त अस्त्र **पृतनासु**=शत्रु-सैन्यों पर **प्रक्रीडान्**=खेलनेवाले हों, **तस्य**=उस **वाम्**=आपके **आजेः**=संग्राम के **सनितारः**=सेवन करनेवाले **स्याम**=हों। हमारे जीवन के अध्यात्म-संग्राम में काम-क्रोध आदि शत्रु इन्द्र के वज्र से प्रहृत हों तथा वरुण के पाशों से जकड़े जाएँ। 'इन्द्र के वज्र' का भाव यह है कि हम जितेन्द्रिय बनकर सदा क्रियाशील बने रहें। 'वरुण के पाशों' का भाव यह है कि हम पापों के निवारण के लिए अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधनेवाले हों। ऐसा होने पर ही हम अध्यात्म-संग्राम में विजयी बनते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र के उपासक बनकर जितेन्द्रिय व क्रियाशील हों। वरुण के उपासक बनकर व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधकर निष्पाप बनें।

इस प्रकार इन्द्र व वरुण का उपासक 'त्रसदस्यु' बनता है, जिससे दास्यव वृत्तियाँ भयभीत होकर दूर भागती हैं। यह 'पौरुकुत्स्य' होता है, अत्यन्त ही बुराई का संहार करनेवाला यह प्रार्थना करता है कि—

[४२] द्विचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'श्रमशील उपासक' का जीवन

मम॑ द्वि॒ता रा॒ष्ट्रं क्ष॒त्रिय॑स्य वि॒श्वायो॒र्विश्वे॑ अ॒मृता॒ यथा॑ नः।
क्रतुं॑ सचन्ते॒ वरु॑णस्य दे॒वा राजा॑मि कृ॒ष्टेरु॑प॒मस्य॑ व॒व्रेः॥ १॥

(१) **क्षत्रियस्य**=क्षतों से अपना त्राण करनेवाले, **विश्वायोः**=पूर्ण जीवनवाले (शरीर में स्वस्थ, मन में निर्मल तथा बुद्धि में तीव्र) **मम**=मेरा **राष्ट्रम्**=यह शरीररूप राष्ट्र **द्विता**=दोनों का विस्तार करनेवाला है, शरीर में शक्ति का तथा मस्तिष्क में दीप्ति का। (२) मैं ऐसा प्रयत्न करता हूँ कि **विश्वे अमृताः**=सब देव **यथा**=जैसे **नः**=हमारे होते हैं। **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **वरुणस्य क्रतुम्**=वरुण के प्रज्ञान व शक्ति को **सचन्ते**=प्राप्त करते हैं। देवों को-दिव्य गुणों को अपनाकर मैं देव बनता हूँ। देव बनकर वरुण की शक्ति व प्रज्ञा को प्राप्त करता हूँ। (३) ऐसा होने पर मैं **कृष्टेः**=एक श्रमशील व्यक्ति के, **उपमस्य**=प्रभु के अन्तिकतम व्यक्ति के-प्रभु के उपासक के **वव्रेः**=रूप या **राजाभि**=राजा होता हूँ। मेरा जीवन एक 'श्रमशील उपासक' का जीवन होता है।

भावार्थ—मैं क्षत्रिय व विश्वायु बनकर शरीर-राष्ट्र में शक्ति व ज्ञान का विस्तार करता हूँ। प्रयत्न करता हूँ कि मेरा जीवन एक श्रमशील उपासक का जीवन हो।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

आसुरभावों का विनाशक बल

अ॒हं राजा॒ वरु॑णो॒ मह्यं॒ तान्य॑सु॒र्या॑णि प्र॒थ॒मा धा॑रयन्त।
क्रतुं॑ सचन्ते॒ वरु॑णस्य दे॒वा राजा॑मि कृ॒ष्टेरु॑प॒मस्य॑ व॒व्रेः॥ २॥

(१) वरुण की उपासना करता हुआ **अहम्**=मैं स्वयं भी **राजा**=राजा **वरुणः**=देदीप्यमान वरुण बन जाता हूँ। **मह्यम्**=मेरे लिए सब **देवाः**=देव **तानि**=उन **प्रथमा**=मुख्य **असुर्याणि**=असुरों के विघातक बलों को **धारयन्त**=धारण करते हैं। इन बलों को प्राप्त करके मैं आसुरभावों का विनाश करके देव बन जाता हूँ। (२) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **वरुणस्य क्रतुम्**=वरुण की प्रज्ञा व शक्ति

को **सचन्ते**=प्राप्त करते हैं। मैं भी **कृष्टेः**=श्रमशील **उपमस्य**=उपासक के **वव्रेः**=रूप का **राजामि**=राजा बनता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से असुरविघातक बलों को प्राप्त करके मैं प्रभु जैसा ही बनता हूँ।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

जितेन्द्रिय व निष्पाप

अहमिन्द्रो वरुणस्ते महित्वोर्वी गभीरे रजसी सुमेके।
त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्त्समैरयं रोदसी धारयं च॥ ३॥

(१) **अहम्**=मैं **इन्द्रः**=इन्द्र बनता हूँ-जितेन्द्रिय बनता हूँ। **वरुणः**=वरुण बनता हूँ-निष्पाप होता हूँ। जितेन्द्रिय व निष्पाप बनकर **महित्वा**=प्रभु की उपासना द्वारा **ते रजसी**=द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को **उर्वी**=विशाल बनाता हूँ, **गभीरे**=गम्भीर बनाता हूँ, **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाला करता हूँ। (२) **त्वष्टा इव**=एक निर्माता के समान **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को-लोकों को-शरीर के अंग-प्रत्यंग को **विद्वान्**=जानता हुआ **समैरयम्**=सम्यक् गतिवाला करता हूँ। सब अंगों को ठीक से कार्य में व्यापृत करता हूँ। **च**=और **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **धारयम्**=धारण करता हूँ-शरीर व मस्तिष्क दोनों को ही ठीक रखने के लिए यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व निष्पाप बनकर शरीर व मस्तिष्क का ठीक प्रकार से धारण करें।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

अदिति का पुत्र 'ऋतावा'

अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद्वि भूम॥ ४॥

(१) **अहम्**=मैं **उक्षमाणाः**=शरीर के अंग-प्रत्यंग को सिक्त करते हुए **अपः**=रेतःकणों को **अपिन्वम्**=शरीर में ही सिक्त करता हूँ। शरीर में व्याप्त होकर ये रेतःकण अंग-प्रत्यंग को सुपुष्ट करते हैं। (२) मैं **दिवं**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **ऋतस्य सदने**=ऋत के सदन में-ऋत के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में, **धारयम्**=धारण करता हूँ। अपनी बुद्धि से सदा प्रभु का चिन्तन करता हूँ। (३) मैं **ऋतेन**=ऋत द्वारा-सब कार्यों को ठीक समय पर करने द्वारा, **अदितेः पुत्रः**=अदिति का पुत्र बनता हूँ-पूर्ण स्वस्थ बनता हूँ (अ-दिति=खण्डन)-अपने स्वास्थ्य को नष्ट नहीं होने देता। मैं **ऋतावा**=ऋत का रक्षण करनेवाला होता हूँ। **उत**=और **त्रिधातु**=तीनों का जिसमें धारण किया गया है (शरीर, मन व बुद्धि=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्यौः) उस **भूम**=पार्थिव शरीर का **वि प्रथयत्**=विशेषरूप से विस्तार करता हूँ। इस शरीर में 'वात, पित्त व कफ़' इन तीनों का ठीक रूप में समन्वय होने पर स्वास्थ्य ठीक बना रहता है 'त्रिधातु' शब्द वस्तुतः इसी बात को व्यक्त कर रहा है। वात की अविकृति शरीर को ठीक रखती है, कफ़ की अविकृति मन को तथा पित्त की अविकृति बुद्धि को ठीक रखती है।

भावार्थ—मैं शरीर में सोमकणों का रक्षण करूँ। मस्तिष्क को प्रभु के विचार में लगाऊँ। ऋत का पालन करते हुए स्वस्थ बनूँ। शरीर में 'वात, पित्त व कफ़' तीनों का ठीक से धारण करूँ।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभु को पुकारता व विजयी बनना

मां नरः स्वश्वा वाजयन्तो मां वृताः समरणे हवन्ते।
कृणोम्याजिं मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः ॥ ५ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **स्वश्वाः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले, **वाजयन्तः**=शक्ति को प्राप्त करने की कामनावाले **नरः**=उन्नतिपथ पर बढ़नेवाले लोग **माम्**=मुझे **हवन्ते**=पुकारते हैं। **वृताः**=शत्रुओं से घिरे हुए ये लोग **समरणे**=युद्ध में **माम्**=मुझे ही पुकारते हैं। मेरे साहाय्य से ही उन्होंने युद्ध में विजयी बनना होता है। (२) वस्तुतः **अहम्**=मैं **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला **मघवा**= परमैश्वर्यशाली होता हुआ **आजिं कृणोमि**=युद्ध को करता हूँ। **अभिभूत्योजाः**=शत्रुओं के अभिभावक बलवाला मैं ही **रेणुं इयर्मि**=शत्रुओं में भागदौड़ पैदा करके धूल को उड़ानेवाला होता हूँ।

भावार्थ—हम उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले व शक्ति का संचय करनेवाले बनकर प्रभु को पुकारें। इस संसार-संग्राम में प्रभु ही हमें विजयी बनाएँगे।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सोमरक्षण व स्तवन

अहं ता विश्वा चकरं नकिर्मा दैव्यं सहो वरते अप्रतीतम्।
यन्मा सोमासो ममदन्यदुक्थोभे भयेते रजसी अपारे ॥ ६ ॥

(१) **अहम्**=मैं **ता विश्वा**=उन सब शत्रुओं के साथ संग्राम आदि कार्यों को **चकरम्**=करता हूँ। **अप्रतीतम्**=युद्ध से पराङ्मुख न होनेवाले **मा**=मुझ को **दैव्यं सहः**=सब देवों का तेज भी **नकिः वरते**=रोक नहीं पाता। प्रकृति की सब सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र आदि में प्रकट होनेवाली शक्तियाँ ही 'दैव्यं सहः' हैं। इन सब का विरोध भी मुझे युद्ध में आगे बढ़ने के निश्चय से विचलित नहीं कर पाता। (२) **यत्**=जब **मा**=मुझे **सोमासः**=सोमकण शरीर में सुरक्षित होकर **ममदन्**=आनन्दित करते हैं और **यद्**=जब **उक्था**=प्रभु के स्तोत्र मुझे आनन्दित करनेवाले होते हैं, तो **उभे**=ये दोनों **अपारे**=अनन्त दूरी तक फैले हुए **रजसी**=द्यावापृथिवी **भयेते**=मेरे से भयभीत होते हैं। सारा संसार ही मेरा विरोध नहीं कर पाता।

भावार्थ—शरीर में सोमकणों का रक्षण और प्रभुस्तवन मुझे वह शक्ति प्राप्त कराते हैं कि सारा संसार भी मेरा विरोध नहीं कर पाता।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वृत्र-हनन व ज्ञान-प्रवाह

विदुष्टे विश्वा भुवनानि तस्य ता प्र ब्रवीषि वरुणाय वेधः।
त्वं वृत्राणि शृण्विषे जघन्वान्त्वं वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून् ॥ ७ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण करनेवाला वरुण का स्तवन करता हुआ कहता है कि **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **तस्य ते**=उस तेरी **विदुः**=महिमा को अनुभव करते हैं। हे **वेधः**=संसार के निर्माता सर्वज्ञ प्रभो! आप ही **वरुणाय**=व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधनेवाले व्यक्ति के लिए **ता**=उन ज्ञानवाणियों को **प्रब्रवीषि**=कहते हैं। (२) **त्वम्**=आप ही **वृत्राणि**

जघन्वान्=वृत्रों-वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **शृण्विषे**=सुने जाते हैं और **त्वम्**=आप ही **वृतान्**=वासनाओं से आवृत हुए-हुए **सप्त सिन्धून्**=शरीरस्थ सप्तर्षियों के सात ज्ञान-प्रवाहों को **अरिणाः**=गतिमय करते हैं। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' ये शरीरस्थ सप्तर्षि हैं। प्रभु ने इन्हें ज्ञानप्राप्ति के लिए शरीर में स्थापित किया है। वासना इस ज्ञानप्रवाह को रोकती है, सो 'वृत्र' कहलाती है। प्रभु इस वृत्र को विनष्ट करके पुनः ज्ञानधाराओं को प्रवाहित करते हैं।

भावार्थ—हम अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधने का प्रयत्न करें। प्रभु वृत्र का विनाश करके हमारे जीवन में ज्ञान-प्रवाहों को प्रवृत्त करेंगे।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

मन का बन्धन

अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने।
त आयजन्त त्रसदस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम् ॥ ८॥

(१) मन का ग्रहण करना बड़ा कठिन है सो यह 'दौर्गह' है। इस **दौर्गहे**=दुर्ग्रहणीय मन के **बध्यमाने**=बाँधे जाने पर-इस मन को वश में कर लेने पर **अत्र**=इस जीवन में **अस्माकम्**=हमारे **ते**=वे **सप्त ऋषयः**=शरीरस्थ सात ऋषि (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख **पितरः**=पालक **आसन्**=हो जाते हैं। मन के वशीभूत न होने पर ये इन्द्रियाँ विषयों में फँस जाती हैं। इसके वशीभूत हो जाने पर ये ही ज्ञान को प्राप्त कराती हुई हमारा रक्षण करनेवाली होती हैं। (२) **न**=अब (संप्रत्यर्थे) **ते**=वे सप्त ऋषि **त्रसदस्युम्**=जिससे दास्यववृत्तियाँ भयभीत होती हैं, उस पुरुष को **अस्याः**=इस देह द्वारा **इन्द्रम्**=उस प्रभु के साथ **आयजन्त**=मेल कराते हैं, जो कि **वृत्रतुरम्**=वासना को विनष्ट करनेवाले हैं और **अर्धदेवम्**=देवों के समीप वर्तमान हैं (अर्धे समीपे)। मन वश में न था तो यह हमें भटकानेवाला था। वशीभूत हुआ तो यह हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला बन गया।

भावार्थ—मन के वशीभूत होते ही इन्द्रियाँ हमारा रक्षण करनेवाली होती हैं और प्रभु से हमारा मेल कराने का साधन बनती हैं।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः॥ देवता—इन्द्रावरुणौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पुरुकुत्सानी

पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्धव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः।
अथा राजानं त्रसदस्युमस्या वृत्रहणं ददथुरर्धदेवम् ॥ ९॥

(१) हे **इन्द्रावरुणा**=परमैश्वर्यशाली पापनिवारक प्रभो! **पुरुकुत्सानी**=अपना पालन व पूरण करने के लिए वासनाओं के संहार करने की वृत्ति (पृ पालन पूरणयोः, कुथ हिंसायाम्) **हि**=निश्चय से **हव्येभिः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति से-यज्ञशीलता से तथा **नमोभिः**=नम्रता से **वाम्**=आपके प्रति **अदाशत्**=अपना अर्पण करती है। जिस समय मनुष्य में वासनाओं के संहार करने की वृत्ति उत्पन्न होती है, उस समय त्याग की भावना (हव्य) व नम्रता से (नमस्) युक्त होकर प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनता है। (२) **अथा**=अब **राजानम्**=जीवन को दीप्त बनानेवाले **त्रसदस्युम्**=दास्यव-भावों को अपने से दूर करनेवाले इस 'त्रसदस्यु' को **अस्याः**=इस देह के द्वारा **वृत्रहणम्**=वासनाओं के विनाशक **अर्धदेवम्**=सब देवों के समीप वर्तमान उस प्रभु को **ददथुः**=देते हो, अर्थात् इन्द्र और वरुण=जितेन्द्रियता व निष्पापता इसे प्रभु के समीप प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—हमारे में वासनाओं को दूर करने की वृत्ति हो। इस वृत्ति को धारण करके हम 'इन्द्र व वरुण' के उपासक बनें। जितेन्द्रियता व निष्पापता को धारण करें। यही प्रभुप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ॥ देवता—इन्द्रावरुणौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञों द्वारा धन का संविभाग

राया वयं ससवांसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः।
तां धेनुमिन्द्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीम् ॥ १० ॥

(१) **वयम्**=हम **राया**=धन के द्वारा **ससवांसः**=संविभाग करते हुए, अर्थात् सबके साथ मिलकर धन का उपभोग करते हुए **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें। हमारे धनों में से **हव्येन**=हव्य द्वारा **देवाः**=सब वायु आदि देव अपने भाग को प्राप्त करें तथा **यवसेन**=घास आदि द्वारा **गावः**=गौवें भी-पशु भी अपना भाग प्राप्त करनेवाले हों। हम 'ब्रह्मयज्ञ' द्वारा राष्ट्र के सब बच्चों के लिए धन का संविभाग करें। 'पितृयज्ञ' द्वारा अपने बड़ों के लिए तथा 'अतिथियज्ञ' द्वारा विद्वानों के लिए धन का संविभाग करते हुए, देवयज्ञ तथा बलिवैश्व देव यज्ञ भी अवश्य करें। (२) हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रियता व निष्पापता के देवो! **युवम्**=आप **नः**=हमारे लिए **विश्वाहा**=सदा **ताम्**=उस **अनपस्फुरन्तीम्**=अविहिंसित **धेनुम्**=वेदवाणी रूप गौ को **धत्तम्**=धारण करो। वेदज्ञान प्राप्त करने के लिए जितेन्द्रियता व निष्पापता सहायक हैं।

भावार्थ—धन को हम यज्ञों के द्वारा बाँटकर उपयुक्त करें। जितेन्द्रिय व निष्पाप बनकर वेदवाणी रूप गौ को प्राप्त करनेवाले हों।

इस सूक्त के अनुसार यज्ञ करनेवाले व्यक्ति 'त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य' कहलाते हैं। अगले सूक्त में 'सौहोत्र' कहलाते हैं। ये अत्यन्त सुखों का सेचन करनेवाले होने से 'पुरुमीढ' हैं और अपनी भी आहुति दे डालने से 'अजमीढ' हैं (अजो ego)। ये कहते हैं—

[४३] त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळहौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सुहव्या देवी' सुष्टुति

क उ श्रवत्कतमो यज्ञियानां वन्दारु देवः कतमो जुषाते।
कस्येमां देवीममृतेषु प्रेष्ठां हृदि श्रेषाम सुष्टुतिं सुहव्याम् ॥ १ ॥

(१) **यज्ञियानाम्**=उपासना के योग्य देवों में **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय **कः**=अनिरुक्त प्रजापति-शब्दों से अवर्णनीय वह प्रभु, **उ**=निश्चय से **श्रवत्**=हमारी इस प्रार्थना को सुनता है। वह **कतमः देवः**=अत्यन्त आनन्दमय देव **वन्दारु**=इस वन्दनशील स्तोत्र को **जुषाते**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। (२) **कस्य**=शब्दों से अवर्णनीय उस प्रभु की **इमाम्**=इस **देवीम्**=हमारे जीवन को प्रकाशमय करनेवाली व दिव्य गुणों से भरनेवाली **सुहव्याम्**=उत्तम शब्दों से पुकारे जानेवाली **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **हृदि श्रेषाम**=हृदय में आलिङ्गित करते हैं, जो कि **अमृतेषु प्रेष्ठाम्**=देवों में प्रियतम है-जो स्तुति देववृत्ति के लोग प्रेमपूर्वक किया करते हैं।

भावार्थ—हमारे से की गयी स्तुति प्रभु के लिए प्रिय हो। यह स्तुति उत्तम शब्दों से उच्चारित की जाती हुई हमारे जीवनों को प्रकाशमय व दिव्य गुणोंवाला बनाए।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्तम शरीर-रथ

को मृ॑ळाति कत॒म आग॑मिष्ठो दे॒वाना॑मु कत॒मः शंभ॑विष्ठः।
रथं॒ कमा॑हुर्द्र॒वद॑श्वमा॒शुं यं सूर्य॑स्य दुहि॒तावृ॑णीत ॥ २ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार सुष्टुत **कः**=वे शब्दों से अवर्णनीय प्रभु **मृडाति**=हमें सुखी करते हैं। **कतमः**=वे अत्यन्त आनन्दमय प्रभु **आगमिष्ठः**=हमें प्राप्त होते हैं। **उ**=और **देवानाम्**=देवों के मध्य में **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय वे सर्वमहान् देव **शम्भविष्ठः**=हमारे लिए अधिक से अधिक शान्ति को देनेवाले होते हैं। (२) उस समय **रथम्**=इस शरीर-रथ को भी **कम्**=आनन्दमय **आहुः**=कहते हैं। यह रथ **द्रवदश्वम्**=शीघ्र गतिवाले इन्द्रियाश्वोंवाला होता है, **आशुम्**=शीघ्रता से मार्ग का व्यापन करनेवाला होता है। यह वह रथ होता है, **यम्**=जिसको कि **सूर्यस्य दुहिता**=ज्ञानसूर्य का प्रपूरण करनेवाली बुद्धि **अवृणीत**=वरती है, अर्थात् यह शरीर-रथ बुद्धि के प्रकाश से प्रकाशमय होता है।

भावार्थ—हमें प्रभु प्राप्त हों। इसी से शान्ति मिलती है। इसी से यह रथ उत्तम गतिवाला व प्रकाशमय होता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

अन्धकार में भी प्रकाश

म॒क्षू हि ष्मा॒ गच्छ॑थ॒ ईव॑तो॒ द्यूनिन्द्रो॒ न श॒क्तिं परि॑तक्म्यायाम्।
दि॒व आजा॑ता दि॒व्या सु॑प॒र्णा कया॒ शची॑नां भवथः॒ शचि॑ष्ठा ॥ ३ ॥

(१) हे प्राणापानो! आप **हि स्म**=निश्चय से **ईवतः द्यून्**=आगामी दिनों में **मक्षू**=शीघ्र ही **गच्छथः**=हमें प्राप्त होते हो। **न**=जैसे **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **परितक्म्यायाम्**=रात्रि में-अन्धकार में भी **शक्तिम्**=शक्ति को प्राप्त करता है। जीवनयात्रा में घने अन्धकार के भी दिन आते हैं। उन दिनों में एक जितेन्द्रिय पुरुष घबराता नहीं। जैसे यह इन्द्र शक्ति को प्राप्त करता है, इसी प्रकार आगामी दिवसों में हम प्राणापान को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। प्राणापान की आराधना ही हमें जीवनयात्रा में अन्धकारमय दिनों में भी व्याकुलता से बचाएगी। (२) **दिवः आजाता**=ये प्राणापान प्रकाश के हेतु से प्रादुर्भूत किये गये हैं-इनकी साधना से अशुद्धि का क्षय होकर ज्ञान चमक उठता है। **दिव्या**=ये प्राणापान हमारे जीवन में दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले हैं। **सुपर्णा**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं और ये प्राणापान **कया**=अपनी आनन्दप्रद शक्ति से **शचीनां शचिष्ठा भवथः**=अतिशयेन शक्तिवाले होते हैं। प्राणसाधना से हमें अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्राणायाम द्वारा प्राणापान की साधना हमारे जीवन में शक्ति का संचार करती है और अन्धकारमय दिनों में भी प्रकाश को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'माध्वी दस्रा' अश्विना

का वां॑ भूदुप॑माति॒: कया॑ न॒ आश्वि॑ना गमथो हू॒यमा॑ना।
को वां॑ म॒हश्चि॒त्त्यज॑सो अ॒भीक॑ उरु॒ष्यतं॑ माध्वी दस्रा न ऊ॒ती ॥ ४ ॥

(१) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **उपमातिः**=उपमा **का भूत्**=क्या हो सकती है। आप तो

शरीर में स्थित आत्मा के अद्भुत सेवक हो। जैसे निष्ठावान् सेवक स्वामी की सेवा में तत्पर रहता है, उसी प्रकार आत्मा के सेवक ये प्राणापान हैं। जब सब सो जाते हैं, तब भी ये प्राणापान जागते ही रहते हैं। **हूयमाना**=पुकारे जाते हुए ये **अश्विना**=प्राणापान **नः**=हमारे लिए **कया**=अद्भुत ही (अवर्णनीय) शक्ति के साथ **आगमथः**=आते हैं। (२) **कः**=कौन **वाम्**=आपके **महः त्यजसः**=महान् त्याग के **अभीके चित्**=समीप भी पहुँच सकता है? ये प्राणापान दिन-रात अनथक सेवक के समान जागते हैं 'तत्र जागृतः अस्वप्रजौ सत्रसदौ च देवौ'। **माध्वी**=ये हमारे जीवन को अत्यन्त मधुर बनाते हैं। **दस्रा**=हमारी बुराइयों का उपक्षय करते हैं। **नः ऊती**=हमारे रक्षण के लिए होते हैं।

भावार्थ—प्राणपान अद्भुत शक्ति के साथ हमें प्राप्त होते हैं। ये हमारे जीवन को मधुर बनाते हैं और हमारे सब रोगों का उपक्षय करते हैं।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

द्युलोक की ओर

उरु वां रथः परि नक्षति द्यामा यत्समुद्रादभि वर्तते वाम्।
मध्वा माध्वी मधु वां प्रुषायन्यत्सीं वां पृक्षो भुरजन्त पक्वाः॥ ५॥

(१) हे अश्विनी देवो! प्राणापानो! **वां रथः**=आपकी साधनावाला यह शरीररथ **उरु**=अत्यन्त **द्याम्**=द्युलोक की ओर **परिनक्षति**=सब प्रकार से गतिवाला होता है। **यत्**=क्योंकि **समुद्रात्**=(स-मुद्) उस आनन्दमय प्रभु से यह रथ **वां अभि आवर्तते**=आपकी ओर ही आनेवाला होता है। वस्तुतः प्रभु ने इस शरीर रथ को प्राणापान का ही रथ बनाया है। प्राणसाधना करने पर शरीर में शक्ति का रक्षण होता है। यह शक्ति ज्ञानाग्नि को दीप्ति करती है एवं यह रथ द्युलोक की ओर गति कर रहा होता है-प्रकाशमय लोक की ओर चलता है। (२) **मध्वा**=इस शरीर में रक्षित सोम द्वारा आप **माध्वी**=जीवन को अति मधुर बनाते हो। **वाम्**=आपका **मधु**=यह सोम-आपकी साधना से रक्षित हुआ-हुआ यह सोम **प्रुषायन्**=शरीर के सब अंगों को सिक्त करता है। यह सब होता तब है, **यत्**=जब कि **सीम्**=निश्चय से **वाम्**=आपको **पक्वाः**=पके हुए **पृक्षः**=ये वानस्पतिक अन्न **भुरजन्त**=पोषित करते हैं। (पृक्षः इति अन्ननाम नि० २।७) वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से जब प्राणापान का पोषण होता है, तो शरीर में सोम का रक्षण सुगम होता है। इसके रक्षण से जीवन सशक्त व मधुर बनता है।

भावार्थ—प्रभु ने यह शरीर-रथ वस्तुतः प्राणापान का ही बनाया है। इनकी साधना होने पर यह रथ द्युलोक की ओर (प्रकाश की ओर) गतिवाला होता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

रसया-घृणा

सिन्धुर्ह वां रसया सिञ्चदश्वान्घृणा वयोऽरुषासः परि ग्मन्।
तदू षु वामजिरं चेति यानं येन पती भवथः सूर्यायाः॥ ६॥

(१) हे प्राणापानो! **सिन्धुः**=शरीर में प्रवाहित होनेवाला यह सोम **ह**=निश्चय से **वाम्**=आपके **अश्वान्**=इन इन्द्रियाश्वों को **रसया**=रस से-लोच-लचक से तथा **घृणा**=दीप्ति से **सिंचत्**=सिक्त करता है। सोम के सुरक्षित होने पर इन्द्रियाश्व सूखे काठ की तरह नहीं हो जाते और ये दीप्ति से युक्त बने रहते हैं। उस समय ये इन्द्रियाश्व **वयः**=गतिवाले तथा **अरुषासः**=आरोचमान होते

हुए **परिग्मन्**=सब ओर गतिवाले होते हैं। (२) हे प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तद्**=वह **यानम्**=गमन **ऊ षु**=निश्चय से **अजिरम्**=(अज क्षेपणे) सब मलों को परे फेंकनेवाला **चेति**=जाना जाता है, **येन**=जिस गमन से आप **सूर्यायाः**=सूर्या के **पती**=रक्षक **भवथः**=होते हैं। 'सूर्य की दुहिता' (सूर्या) शरीर में बुद्धि ही है। इसका रक्षण ये प्राणापान ही करते हैं। प्राणसाधना से सब इन्द्रियों के दोष दूर होकर-सब मलिनताओं का निराकरण होकर 'बुद्धि' दीप्त हो उठती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में सोम का रक्षण होता है। रक्षित सोम जहाँ इन्द्रियों को रस व दीप्ति से युक्त करता है, वहाँ ज्ञानाग्नि को भी दीप्त करता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सुमति व शक्ति

इहेह यद्वां समना पपृक्षे सेयमस्मे सुमतिर्वाजरत्ना।
उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक्॥ ७॥

(१) हे **समना**=(सं अन प्राणने) सम्यक् प्राणित करनेवाले प्राणापानो! **इह इह**=इस जीवन में और इस जीवन में ही **यद्**=जब **वां पपृक्षे**=मैं आपके सम्पर्क में आता हूँ, अर्थात् आपकी साधना में प्रवृत्त होता हूँ, तो **सा इयम्**=वह यह **अस्मे**=हमारी **सुमतिः**=कल्याणीमति **वाजरत्ना**=शक्तिरूप रमणीय धनवाली होती है। आपकी साधना से जहाँ मुझे बुद्धि प्राप्त होती है, वहाँ मुझे शक्ति भी मिलती है। (२) **युवम्**=आप दोनों **जरितारम्**=स्तोता को **ह**=निश्चय से **उरुष्यतम्**=रक्षित करो। हे **नासत्या**=सब असत्य को हमारे से दूर करनेवाले प्राणापानो! **कामः**=हमारी इच्छा **युवद्रिक्**=आपकी ओर आनेवाली होती हुई **श्रितः**=हमें प्राप्त होती है, अर्थात् हमें आपकी ही साधना का विचार हो। हम प्राणायाम की रुचिवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से 'सुमति व शक्ति' प्राप्त होती है। सो हमारी कामना यही होती है कि हम प्राणसाधना करनेवाले बनें।

अगला सूक्त भी 'अश्विनौ' का ही है—

[४४] चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पृथुज्रय रथ

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः।
यः सूर्यां वहति वन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम् ॥ १॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वयम्**=हम **अद्य**=आज **वाम्**=आपके **तं रथम्**=उस शरीररथ की **हुवेम**=पुकार करते हैं-उस शरीररथ को प्राप्त करने की कामना करते हैं, जो कि **पृथुज्रयम्**=बड़े वेगवाला है-स्फूर्तियुक्त है, **गो संगतिम्**=ज्ञानकिरणों के मेलवाला है। शक्ति के कारण गतिवाला व प्रकाशमय है। (२) **यः**=जो रथ **सूर्याम्**=सूर्य की दुहिता को-बुद्धि को **वहति**=धारण करता है, **वन्धुरायुः**=सब सौन्दर्यों को अपने साथ जोड़नेवाला है। हम उस रथ की कामना करते हैं, जो कि **गिर्वाहसम्**=ज्ञानपूर्वक स्तुतिवाणियों का धारण करता है, **पुरुतमम्**=अत्यन्त पालक व पूरक है, **वसूयुम्**=निवास के लिए आवश्यक सब धनों को अपने में लिये हुए है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर स्फूर्तिमय, ज्ञान के प्रकाशवाला, बुद्धिसम्पन्न, सुन्दर ज्ञानपूर्वक स्तुतिवाणियों को धारण करनेवाला, नीरोग व उत्तम निवासवाला बनता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

श्रीसम्पन्नता

युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः।

युवोर्वपुरभि पृक्षः सचन्ते वहन्ति यत्ककुहासो रथे वाम्॥ २॥

(१) हे **दिवः नपाता**=ज्ञान को न नष्ट होने देनेवाले, **देवता**=(देवते) दिव्यगुणोंवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **शचीभिः**=अपने कर्मों व प्रज्ञानों द्वारा **तां श्रियम्**=उस प्रसिद्ध श्री (शोभा) को **वनथः**=विजय करते हो (Win)। प्राणापान ही कर्मेन्द्रियों से कर्म करते हैं तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ये शरीर को शोभासम्पन्न करते हैं। (२) **युवो**=आप दोनों के इस **वपुः**=शरीर को **पृक्षः**=सात्त्विक अन्न **अभिसचन्ते**=प्रातः सायं सेवन करते हैं। (**अभि**=दिन के दोनों ओर प्रातः सायम्)। यह सब तब होता है, **यत्**=जब कि **वाम्**=आप दोनों को **ककुहासः**=(महन्नाम नि० ३।७) महान् इन्द्रियाश्व **रथे**=इस शरीररथ में **वहन्ति**=धारण करते हैं। शरीर में प्राणसाधना होने पर ही अन्न का पाचन हुआ करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर श्रीसम्पन्न बनता है। प्राणसाधना से ही अन्न का ठीक से पाचन होता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऊतये-सुतपेयाय

को वामद्या करते रातहव्य ऊतये वा सुतपेयाय वार्कैः।

ऋतस्य वा वनुषे पूर्व्याय नमो येमानो अश्विना ववर्तत्॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **कः**=कोई विरल पुरुष ही **रातहव्यः**=दिये हैं हव्य पदार्थ जिसने, अर्थात् जो यज्ञशील है, वह **ऊतये**=रक्षण के लिए **वा**=तथा **सुतपेयाय**=सोमपान के लिए **वाम्**=आपकी **अद्या**=आज **अर्कैः**=स्तुति मन्त्रों से **करते**=आराधना करता है। स्तुति-मन्त्रों का उच्चारण करते हुए प्राणापान की साधना से जहाँ वासनाओं के आक्रमण से हमारा बचाव होता है, वहाँ शरीर में सोम का रक्षण होता है। हमारी वृत्ति यज्ञों की ओर होती है-भोगप्रवृत्ति से हम दूर होते हैं। (२) कोई विरल व्यक्ति ही **नमः येमानः**=नम्रता को अपने अन्दर धारण करता हुआ **ऋतस्य**=ऋत के-सत्य के **पूर्व्याय वनुषे**=(सर्वमुख्य विजय) सर्वोत्तम के लिए **अश्विना**=प्राणापानों को **आवर्ततत्**=आवृत्त करता है। प्राणायाम करता हुआ अपने अन्दर सत्य को धारण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा शरीर का रक्षण होता है, सोम का शरीर में व्यापन होता है और ऋत का हम विजय कर पाते हैं।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

हिरण्यय रथ

हिरण्ययेन पुरुभू रथेनेमं यज्ञं नासत्योप यातम्।

पिबाथ इन्मधुनः सोम्यस्य दधथो रत्नं विधते जनाय॥ ४॥

(१) हे **पुरुभू**=(पृ पालनपूरणयोः) पालक व पूरक होते हुए **नासत्या**=अश्विनी देवो-प्राणापानो! आप **हिरण्ययेन रथेन**=ज्योतिर्मय शरीररथ से **इमं यज्ञम्**=हमारे इस जीवनयज्ञ को **उपयातम्**=समीपता से प्राप्त होओ। आपकी साधना से हमारा यह शरीर-रथ ज्योतिर्मय व तेजस्वी

बने। इसके द्वारा हम जीवनयज्ञ को सुन्दरता से पूर्ण करनेवाले हों। (२) हे प्राणापानो! आप **इत्**=निश्चय से **सोमस्य मधुनः**=इस सोम सम्बन्धी मधु का **पिबाथः**=पान करते हो। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करते हो। हे प्राणापानो! आप **विधते जनाय**=परिचर्या करनेवाले उपासक मनुष्य के लिए **रत्नं दधथः**=रमणीय वस्तुओं को धारण करते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीररथ ज्योतिर्मय व तेजस्वी बनता है, सोम का रक्षण होता है तथा शरीर में सब रत्नों का धारण होता है।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'हिरण्यय सुवृत्' रथ

आ नो यातं दिवो अच्छा पृथिव्या हिरण्ययेन सुवृता रथेन।
मा वामन्ये नि यमन्देवयन्तः सं यद्ददे नाभिः पूर्व्या वाम्॥ ५॥

(१) हे प्राणापानो! **दिवः पृथिव्याः अच्छा**=द्युलोक व पृथिवीलोक का लक्ष्य करके, अर्थात् मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवीलोक का ध्यान करके **आ**=हमारे लिए आप **हिरण्ययेन**=ज्योतिर्मय **सुवृता**=(सुष्ठु वर्तते) तथा बिल्कुल ठीकठाक, अर्थात् सकलांगपूर्ण **रथेन**=शरीररथ से **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणापान की साधना ही शरीर-रथ को सुन्दर बनाती है। (२) **अन्ये**=दूसरे **देवयन्तः**=द्यूत आदि क्रीड़ाओं को करते हुए लोग **वाम्**=आपको **मा नियमन्**=रोकनेवाले न हों, अर्थात् हम अन्य व्यवहारों में उलझकर आपकी साधना को कभी भूल न जाएँ। **यत्**=क्योंकि **वाम्**=आपका तो **पूर्व्या**=सर्वमुख्य-सर्वप्रथम **नाभिः**=(नह बन्धने) सम्बन्ध **संददे**=मुझे आपके साथ बाँधता है। मेरा सर्वोत्तम सम्बन्ध आपके साथ ही तो है। आत्मा के साथ प्राणों का सम्बन्ध शाश्वत है। प्राणसाधना से ही मस्तिष्क हिरण्यय (ज्योतिर्मय) बनता है तथा शरीर सुवृत् (पूर्ण स्वस्थ) होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हमारा शरीर 'हिरण्यय-सुवृत्' हो, ज्योतिर्मय-सकलांगपूर्ण।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्राणायाम व सम्मिलित प्रार्थना

नू नो रयिं पुरुवीरं बृहन्तं दस्रा मिमाथामुभयेष्वस्मे।
नरो यद्वामश्विना स्तोममावन्त्सधस्तुतिमाजमीळ्हासो अग्मन्॥ ६॥

(१) **अस्मे**=हमारे **उभयेषु**=दोनों में-पुरुमीढ व अजमीढों में रहनेवाली **पुरुवीरम्**=अत्यन्त वीरतावाली **बृहन्तम्**=वृद्धि की कारणभूत **रयिम्**=सम्पत्ति को **नु**=निश्चय से, हे **दस्रा**=दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **नः मिमाथाम्**=हमारे लिए बनाओ। हमें वह सम्पत्ति प्राप्त कराओ, जो कि पुरुमीढ व अजमीढों में रहा करती है-जो सम्पत्ति हमें वीर बनाती है व हमारी वृद्धि का कारण बनती है। (२) हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नरः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले लोग **यद्**=जब **वाम्**=आपके **स्तोमम्**=स्तवन का **आवन्**=अपने में रक्षण करते हैं, उस समय **आजमीढासः**=गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करके सुखों का सेचन करनेवाले (भ्रज गतिक्षेपणयोः, मिह सेचने) ये लोग **सधस्तुतिम्**=मिलकर उपासनावृत्ति को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। ये लोग परिवार में सब के सब एकत्रित होकर प्रभु की उपासनावाले बनते हैं। सब प्राणायाम करते हैं और मिलकर प्रभु का गायन करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणायाम करें और मिलकर प्रभु का स्तवन करें। इसी से पुरुवीर-बृहन् रयि को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—पुरुमीळहाजमीळ्हौ सौहोत्रौ ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमतिः वाजरत्ना

इहेह यद्वां समना पपृक्षे सेयमस्मे सुमतिर्वाजरत्ना।
उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक् ॥ ७ ॥

मन्त्र की व्याख्या ४३.७ पर द्रष्टव्य है।

अगले सूक्त में भी 'अश्विनौ' का ही वर्णन है—

[४५] पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

द्वन्द्व त्रयी

एष स्य भानुरुदियर्ति युज्यते रथः परिज्मा दिवो अस्य सानवि।
पृक्षासो अस्मिन्मिथुना अधि त्रयो दृतिस्तुरीयो मधुनो वि रप्शते ॥ १ ॥

(१) **एषः**=यह **स्यः**=वह प्रसिद्ध (सुपरिचित्) **भानुः**=सूर्य **उदियर्ति**=उदय होता है और **रथः**=हमारा यह शरीररथ **युज्यते**=इन्द्रियाश्वों से युक्त किया जाता है। **परिज्मा**=यह रथ चारों ओर गतिवाला होता है-'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' इन चतुर्विध पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला होता है। **अस्य दिवः सानवि**=यह रथ हमें द्युलोक के शिखर पर पहुँचाता है। हम प्राणसाधना करते हुए ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं और ज्ञान के शिखर पर पहुँचने के लिए यत्नशील होते हैं। (२) **अस्मिन् अधि**=इस शरीर-रथ में **त्रयः मिथुनाः**=तीन द्वन्द्व **पृक्षासः**=सम्पर्कवाले होते हैं (पृची सम्पर्के)। सब से प्रथम द्वन्द्व 'ज्ञाने मौनं' ज्ञान व मौन का है। ज्ञानी होते हुए ये मौन रहते हैं-ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करते फिरते। द्वितीय द्वन्द्व 'क्षमा शक्तौ' शक्ति व क्षमा का है। विरोधी को कुचलने में समर्थ होते हुए भी ये क्षमा की वृत्तिवाले होते हैं। तृतीय द्वन्द्व 'त्यागे श्लाघाविपर्ययः' त्याग व निरहंकारता का है। त्यागी होते हुए उस त्याग के अहंकार से रहित होते हैं। प्रथम द्वन्द्व का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। दूसरे का सम्बन्ध भुजाओं से है और तीसरे का सम्बन्ध हृदय से है। यह **तुरीयः**=चौथा **मधुनः दृतिः**=सोम का (वीर्यशक्ति का) आधारभूत चर्मपात्र के समान यह शरीर **विरप्शते**=विशेषरूप से प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। शरीर में सोमरक्षण होने पर प्रभुस्तवन की वृत्ति उत्पन्न होती है-उस वृत्ति के प्रबल होने पर यह साधक प्रभु के नामों का जप करने लगता है।

भावार्थ—हमें सूर्योदय होते ही क्रियाशील जीवन को प्रारम्भ करना है। हमारा लक्ष्य है-ज्ञान के शिखर पर पहुँचना। हम शरीर में 'ज्ञान=मौन' 'शक्ति-क्षमा' त्याग-अश्लाघा रूप तीन द्वन्द्वों को धारण करें। शरीर को सोम (वीर्य) का पात्र बनाते हुए प्रभु के नामों का जप करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

मधुर व ज्ञानदीप्त जीवन

उद्वां पृक्षासो मधुमन्त ईरते रथा अश्वास उषसो व्युष्टिषु।
अपोर्णुवन्तस्तम आ परीवृतं स्वर्१ण शुक्रं तन्वन्त आ रजः ॥ २ ॥

(१) हे अश्विनौ! प्राणापानो! **वाम्**=आपके **पृक्षासः**=सम्पर्कवाले, अर्थात् प्राणसाधना से युक्त हुए-हुए और अतएव **मधुमन्तः**=माधुर्यवाले **रथाः**=ये शरीर-रथ व **अश्वासः**=इन्द्रियाश्व **उषसः**

व्युष्टिषु=उषाकालों के उदित होते ही **उदीरते**=उत्कृष्ट गतिवाले होते हैं। जिस समय हम प्राणायाम के अभ्यासी बनते हैं, उस समय शरीर व इन्द्रियाँ निर्दोष होकर जीवन को मधुर बनानेवाली होती हैं। (२) **आ परीवृतम्**=चारों ओर से घिरे हुए **तमः**=अज्ञानान्धकार को **अप ऊर्णुवन्तः**=दूर करते हुए ये रथ व अश्व (शरीर व इन्द्रियाँ) **रजः**=हृदयान्तरिक्ष को **स्वः न**=सूर्य के समान **शुक्रम्**=दीप्त **आतन्वन्तः**=विस्तृत करते हैं। प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं 'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'। उस समय निर्मल हृदय ज्ञानदीप्ति से चमक उठता है 'योगाङ्गानुष्ठाद् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'।

भावार्थ—प्राणायाम से शरीर व इन्द्रियाँ निर्दोष होकर जीवन को मधुर बनाती हैं और हृदय ज्ञानदीप्ति से चमक उठता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

मधुमान् रथ

मध्वः पिबतं मधुपेभिरासभिरुत प्रियं मधुने युञ्जाथां रथम्।
आ वर्तनिं मधुना जिन्वथस्पथो दृतिं वहेथे मधुमन्तमश्विना॥ ३॥

(१) हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **मधुपेभिः आसभिः**=सोम (वीर्य) रूप मधु का पान करनेवाले मुखों द्वारा **मध्वः पिबतम्**=मधु का (सोम का) पान करो। प्राणायाम के होने पर सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है-उस समय सब इन्द्रियाँ इस सोम का पान करनेवाली बन जाती हैं। ये इन्द्रियाँ मानो प्राणापान की मुख बनती हैं, इनके द्वारा वे सोम का पान करते हैं। **उत**=और इस **प्रियं रथम्**=प्रीति से युक्त (प्रसन्न) शरीर-रथ को **मधुने**=इस सोमरूप मधु की प्राप्ति के लिए **युञ्जाथाम्**=निरन्तर कार्य में लगाए रखो। इस में घोड़े जुते ही रहें-यह सदा मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता ही रहे। (२) हे प्राणापानो! आप **वर्तनिम्**=इस शरीरूप गृह को तथा **पथः**=जीवनमार्गों को **मधुना**=सोमरूप मधु से **आ जिन्वथः**=सर्वथा प्रीणित करनेवाले होओ। आप **मधुमन्तम्**=सोमरूप मधु से परिपूर्ण **दृतिम्**=इस शरीरूप चर्मपात्र को **वहेथे**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोमरूप मधु शरीर में ही सुरक्षित रहता है। इससे सारा जीवन मधुर बन जाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—जगती॥ स्वरः—निषादः॥

कैसे इन्द्रियाश्व ?

हंसासो ये वां मधुमन्तो अस्त्रिधो हिरण्यपर्णा उहुवं उषर्बुधः।
उदप्रुतो मन्दिनो मन्दिनिस्पृशो मध्वो न मक्षः सवनानि गच्छथः॥ ४॥

(१) हे अश्विनौ-प्राणापानो! **ये**=जो **वाम्**=आपके **उहुवः**=वहन करनेवाले अश्व हैं, वे हमारे **सवनानि**=जीवनयज्ञ के प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन तथा सायन्तनसवनों में **गच्छथः**=प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार प्राप्त होते हैं, **न**=जैसे कि **मक्षः**=मक्खियाँ **मध्वः**=शहद के छत्ते को प्राप्त होती हैं। (२) यहाँ इन्द्रियाँ ही अश्व हैं। ये प्राणापान के इसलिए कहलाते हैं कि प्राणशक्ति ही तो इनमें काम करती है। ये इन्द्रियाश्व **हंसासः**=(हन् हिंसागत्योः) गतिशीलता द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले हैं। अपने-अपने कर्म में लगे रहने से ये विषयों में फँसती नहीं। **मधुमन्तः**=स्वस्थ इन्द्रियाँ जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाली हैं। **अस्त्रिधः**=हमारा द्रोह व हिंसन करनेवाली नहीं। **हिरण्यपर्णा**=वीर्य व ज्ञान द्वारा ये हमारा पालन व पूरण करनेवाली हैं। वीर्य द्वारा पालन और

ज्ञान द्वारा पूरण। (हिरण्यं वै वीर्यम्, हिरण्यं वै ज्योतिः)। **उषर्बुधः**=ये उषाकाल में ही प्रबुद्ध होनेवाली हैं। (२) ये इन्द्रियरूप अश्व **उदप्रुतः**=वीर्यरूप जल से अपने को सिक्त करनेवाले हैं। **मन्दिनः**=अत्यन्त प्रसन्नतावाले हैं और **मन्दिनिस्पृशः**=उस आनन्दमय प्रभु में स्पर्श करनेवाले हैं। सोमरक्षण से कर्मेन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ दीप्त होती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाश्व निष्पाप बनकर (हंस) अन्ततः प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं (मन्दिनिस्पृशः)।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

निक्तहस्त, तरणि व विचक्षण

स्वध्वरासो मधुमन्तो अग्नय उस्रा जरन्ते प्रति वस्तोरश्विना।
यन्निक्तहस्तस्तरणिर्विचक्षणः सोमं सुषाव मधुमन्तमद्रिभिः॥ ५॥

(१) **स्वध्वरासः**=उत्तम यज्ञमय जीवनवाले, **मधुमन्तः**=माधुर्ययुक्त स्वभाववाले, **अग्नयः**=प्रगतिपथ के पथिक लोग **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन **उस्रा**=दीप्तिवाले (Bright, Shining) अथवा प्रातःकाल के साथ सम्बद्ध (relating to morning) इन **अश्विना**=प्राणापान को **जरन्ते**=स्तुत करते हैं। प्राणापान का स्तवन प्राणायाम के द्वारा इनकी साधना ही है। (२) **यत्**=जो **निक्तहस्तः**=यज्ञादि कर्मों के कारण शुद्ध हाथोंवाला है, **तरणिः**=सब वासनाओं को तैरनेवाला है और **विचक्षणः**=विशिष्ट द्रष्टा (ज्ञानी) है, वह **अद्रिभिः**=उपासनाओं द्वारा **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाले **सोमम्**=सोम का **सुषाव**=अपने में उत्पादन करता है। इस सोम के उत्पादन व रक्षण से ही वस्तुतः वह 'शरीर में निक्तहस्त, मन में तरणि तथा मस्तिष्क में विचक्षण' बन पाता है। इस सोमरक्षण में प्राणसाधना व प्रभु की उपासना साधन बनते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा 'स्वध्वर, मधुमान् अग्नि' बनें। इस प्रकार सोम का रक्षण करते हुए 'निक्तहस्त, तरणि व विचक्षण' हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अश्विनौ॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

आकेनिपासः

आकेनिपासो अहभिर्दविध्वतः स्वर्ण शुक्रं तन्वन्त आ रजः।
सूरश्चिदश्वान्युयुजान ईयते विश्वाँ अनु स्वधया चेतथस्पथः॥ ६॥

(१) प्राणापान के अश्व, अर्थात् प्राणसाधना करने पर इन्द्रियाश्व **आके निपासः**=(आके समीपे निपतन्ति) इधर-उधर भटकनेवाले न होकर समीप प्राप्त होनेवाले होते हैं। **अहभिः**=(अह व्याप्तौ) कर्मों में व्यापन द्वारा ये **दविध्वतः**=सब वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले होते हैं। **स्वः न**=सूर्य की तरह **शुक्रम्**=दीप्त **रजः**=हृदयान्तरिक्ष को **आतन्वन्तः**=विस्तृत करते हुए होते हैं। प्राणसाधना से इन्द्रियाँ निरुद्ध होती हैं-वासनाओं से शून्य होती हैं तथा प्रकाश करनेवाली होती हैं। (२) इसलिए **सूरः**=ज्ञानी पुरुष **चित्**=निश्चय से **अश्वान्**=इन इन्द्रियाश्वों को **युयुजानः**=कर्मों में व्यापृत करता हुआ **ईयते**=जीवनयात्रा में चलता है। हे प्राणापानो! आप **विश्वान् पथः**=सब मार्गों को **स्वधया**=आत्मधारण शक्ति के साथ **अनुचेतथः**=अनुकूलता से ज्ञापित करते हो। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति का निरोध होता है, आत्मतत्त्व का हम धारण करनेवाले बनते हैं और हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा से हमें कर्त्तव्यमार्गों का ज्ञान होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से इन्द्रियाँ निरुद्ध होकर प्रकाशमय होती हैं। इन इन्द्रियों को यज्ञादि

कर्मों में लगाए रहने से ये मलिन नहीं होतीं। इस समय हमें अन्तःप्रकाश प्राप्त होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अश्विनौ ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'स्वश्वः अजरः' रथः

प्र वामवोचमश्विना धियंधा रथः स्वश्वो अजरो यो अस्ति।
येन सद्यः परि रजांसि याथो हविष्मन्तं तरणिं भोजमच्छ॥ ७॥

(१) **धियन्धाः**=प्रज्ञा व कर्मों को धारण करनेवाला मैं, हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपकी **प्रवोचम्**=प्रकृष्ट स्तुति करता हूँ। आप उस रथ से मुझे प्राप्त होइये, **यः रथा**=जो रथ कि **स्वश्वः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला है और **अजरः**=जीर्ण-शीर्ण अंगोंवाला नहीं। (२) उस रथ से मुझे प्राप्त होइये, **येन**=जिस से कि **सद्यः**=शीघ्र ही **रजांसि परियाथः**=सब लोकों में आप शीघ्रता से प्राप्त होते हो, अर्थात् जो रथ शीघ्र गतिवाला होता है और सब कर्त्तव्यकर्मों को करने के लिए उस-उस स्थान पर पहुँचता है। उस रथ से मुझे प्राप्त होइये, जिससे कि आप **हविष्मन्तम्**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले, **तरणिम्**=अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले सूर्य के समान **भोजम्**=अपना पालन करनेवाले-रोगों से अपने को बचानेवाले व्यक्ति की **अच्छ**=ओर आप प्राप्त होते हो, अर्थात् आपकी साधना से मन में मैं 'हविष्मान्' बनूँ, मस्तिष्क में 'तरणि' होऊँ और शरीर में 'भोज' बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर-रथ 'उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला व दृढ़ हो'। इस साधना से हम 'हविष्मान्, तरणि व भोज' बनें।

प्राणसाधना से हम जितेन्द्रिय 'इन्द्र' बनते हैं। क्रियाशील होते हैं 'वायु'। 'इन्द्रवायू' ही अगले सूक्त के देवता हैं—

पञ्चमोऽनुवाकः

[४६] षट्चत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेव ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

क्रियाशीलता द्वारा सोमरक्षण

अग्रं पिबा मधूनां सुतं वायो दिविष्टिषु। त्वं हि पूर्वपा असि॥ १॥

(१) **वायो**=हे गतिशील पुरुष! तू **दिविष्टिषु**=ज्ञानप्राप्ति की एषणाओं के निमित्त, अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के लिए **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए इस **मधूनां अग्रम्**=सारभूत वस्तुओं के सर्वश्रेष्ठ इस सोम को **पिब**=पीनेवाला बन। गतिशीलता द्वारा तू इस सोम का अपने अन्दर रक्षण कर। यह सोम अत्यन्त उत्कृष्ट मधु है। यही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर तेरी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। (२) हे वायो! **त्व**=तू **हि**=ही **पूर्वपाः असि**=सब से प्रथम इस सोम का पान करनेवाला है। सोमपान का सर्वप्रथम साधन यही है कि हम क्रियाशील बने रहें। इससे वासनाओं से बचे रहेंगे और सोम को रक्षित कर पाएँगे।

भावार्थ—सोमरक्षण के लिए क्रियाशीलता सर्वमुख्य साधन है।

ऋषिः—वामदेव ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'इन्द्र सारथि' बनना

शतेना नो अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः। वायो सुतस्य तृम्पतम्॥ २॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशील जीव! **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला, **इन्द्रसारथिः**=

परमैश्वर्यशाली प्रभु को अपना सारथि बनानेवाला-उसके हाथ में जीवन की बागडोर को सौंपनेवाला होता हुआ तू **शतेन अभिष्टिभिः**=वासनाओं पर शतशः आक्रमणों द्वारा **नः**=हमारे **सुतस्य**=उत्पन्न किये हुए सोम का **तृम्पतम्**=तृप्तिपूर्वक पान करो। (२) वायु और इन्द्र ने सोम का पान करना है। क्रियाशील व जितेन्द्रिय व्यक्ति ही सोम का रक्षण करते हैं। हम अपने इस जीवन में वासनाओं पर सतत आक्रमण करते हुए प्रशस्त इन्द्रयाश्वोंवाले बनें। प्रभु को अपना सारथि बनाएँ-रथ की बागडोर प्रभु को सौंप दें। ऐसा होने पर ही वासनाओं से अनाक्रान्त रहकर हम सोम का रक्षण कर पाएँगे।

भावार्थ—हम वासनाओं पर प्रभुस्तवन द्वारा सतत आक्रमण करें। प्रशस्तेन्द्रिय बनकर सोम का पान करें।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

अभि प्रयः

आ वां सहस्त्रं हरय इन्द्रवायू अभि प्रयः। वहन्तु सोमपीतये॥ ३॥

(१) हे **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रिय गतिशील पुरुषो! **वाम्**=आपको **हरयः**=ये इन्द्रियाश्व **सहस्त्रम्**=आनन्दपूर्वक (स हस्) **प्रयः अभि**=अन्न की ओर **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ, अर्थात् ये इन्द्रियाश्व प्रसन्नतापूर्वक सात्त्विक भोजन करनेवाले हों। यह भोजन ही सोमरक्षण के लिए अनुकूल होता है। 'प्रयः' शब्द का अर्थ प्रयत्न भी है। ये इन्द्रियाश्व सदा प्रयत्नपूर्वक गतिवाले हों, आलस्य ही तो सोमविनाश का कारण बनता है। (२) ये इन्द्रियाश्व **सोमपीतये**=सोमरक्षण के लिए जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुष को ले चलें। वस्तुतः जितेन्द्रियता और क्रियाशीलता ही सोमरक्षण का साधन बनते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र बनें-जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनें, वायु। सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए तथा सतत प्रयत्न में लगे हुए हम सोम का रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'हिरण्यवन्धुर, स्वध्वर व दिविस्पृश्' रथ

रथं हिरण्यवन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम्। आ हि स्थाथो दिविस्पृशम्॥ ४॥

(१) हे **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुषो! आप **हि**=निश्चय से **रथं आस्थाथः**=इस शरीररथ पर आरूढ़ होओ, जो शरीररथ **हिरण्यवन्धुरम्**=(हिरण्यं वै वीर्यम्) वीर्य को अपने में बाँधनेवाला है अथवा वीर्यबन्धन के कारण जो सुन्दर है। (२) उस शरीररथ पर तुम स्थित होओ, जो कि **स्वध्वरम्**=उत्तम अध्वरोंवाला है, जिसके द्वारा निरन्तर यज्ञात्मक कर्मों का साधन होता है। **दिविस्पृशम्**=जो ज्ञान में स्पर्श करनेवाला है-जो ज्ञानदीप्तिवाला है। (२) इस शरीररथ की ये तीन ही विशेषताएँ हैं। प्रथम यह वीर्य के रक्षण से शक्ति-सम्पन्न व सुन्दर है, दूसरे सदा अध्वरों को सिद्ध करनेवाला तथा तृतीय स्थान में यह ज्ञान की दीप्तिवाला है।

भावार्थ—इन्द्र और वायु अपने शरीररथ को 'हिरण्यवन्धुर, स्वध्वर व दिविस्पृश्' बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता

रथेन पृथुपाजसा दाश्वांसमुप गच्छतम्। इन्द्रवायू इहा गतम्॥ ५॥

(१) हे **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रियता व क्रियाशीलतारूप दिव्यगुणो! आप **पृथुपाजसा**=प्रभूत

बलवाले **रथेन**=इस शरीर-रथ से **दाश्वांसम्**=आप के प्रति अपने को देनेवाले पुरुष को **उपगच्छतम्**=समीपता से प्राप्त होओ। इस दाश्वान् के शरीर-रथ को आप बड़ा शक्तिशाली बनाओ। (२) हे इन्द्रवायू! आप **इह**=इसी जीवनयज्ञ में **आगतम्**=हमें प्राप्त होओ। हम इस जीवन में जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनें। ऐसा बनने से हमारा यह शरीररथ प्रभूत बलवाला हो।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता हमारे शरीर-रथ को अत्यन्त शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

सोमरक्षण से दिव्यगुणों की प्राप्ति

इन्द्रवायू अयं सुतस्तं देवेभिः सजोषसा। पिबतं दाशुषो गृहे॥ ६॥

(१) हे **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रियता व क्रियाशीलतारूप दिव्य गुणो! **अयं**=यह सोम तुम्हारे लिए **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। **तम्**=उस सोम को **देवेभिः सजोषसः**=सब दिव्यगुणों के साथ प्रीतिवाले होते हुए **दाशुषः गृहे**=इस आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के घर में-इस शरीररूप गृह में **पिबतम्**=पीनेवाले होइये। (२) इस सोमशक्ति को आप इस शरीर में ही सुरक्षित करिए। जो भी व्यक्ति जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता को ही अपने जीवन का ध्येय बना लेता है, वह इस सोमशक्ति का रक्षण कर पाता है। इसके रक्षण से सब दिव्यगुणों की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से सोमरक्षण करते हुए हम अपने जीवन में दिव्यगुणों को उत्पन्न करें।

ऋषिः—वामदेव॥ देवता—इन्द्रवायू॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इन्द्र वायू का 'प्रयाण व विमोचन'

इह प्रयाणमस्तु वामिन्द्रवायू विमोचनम्। इह वां सोमपीतये॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र वायू**=जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता रूप दिव्य गुणो! **इह**=यहाँ हमारे जीवन में **वाम्**=आपका **प्रयाणं अस्तु**=प्रकृष्ट गमन हो। हमारे जीवन में सब क्रियाएँ आप के उद्देश्य से ही हों। (२) हे इन्द्र वायू! इस जीवन में आपका **विमोचनम्**=सब विषय वासनाओं से छुटकारा हो। आपके कारण हमारे जीवन में कोई भी अशुभ वासना स्थान न पा सके। **इह**=हमारे जीवनों में **सोमपीतये**=सोम (वीर्य) रक्षण के लिए **वाम्**=आपका निवास हो। जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर हम सदा सोमशक्ति का रक्षण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारे जीवन में सर्वत्र जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता का प्रसार हो। इनके द्वारा सब वासनाओं का हमारे से पार्थक्य हो।

अगले सूक्त में भी 'इन्द्रवायू' का ही वर्णन है—

[४७] सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

क्रियाशीलता रूप स्पृहणीय देव

वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्रं दिविष्टिषु। आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता॥ १॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशीलता रूप दिव्यगुण! **शुक्रः**=व्रत से दीप्त हुआ-हुआ मैं **ते**=तेरे लिए **दिविष्टिषु**=(दिवः एषणेषु) ज्ञानप्राप्ति की कामनाओं के होने पर **अग्रम्**=सर्वप्रथम **मध्वः**=सोम को **अयामि**=आययामि (अयतिरन्तर्भावितण्यर्थः) प्राप्त कराता हूँ। क्रियाशीलता से वासनाओं का आक्रमण न होकर, सोम का रक्षण होता है। इससे ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। (२) हे **देव**=क्रियाशीलता-

रूप दिव्यगुण! **स्पार्हः**=तू स्पृहणीय है। तू **नियुत्वता**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले इस शरीर-रथ से **सोमपीतये**=सोमरक्षण के लिए **आयाहि**=हमें प्राप्त हो। क्रियाशीलता से ही हमें सोमपान के योग्य बनाना है।

भावार्थ—क्रियाशील बनकर हम सोम का रक्षण करें। यह सोम हमें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—भुरिगुष्णिक् ॥ स्वरः—ऋषभः ॥

इन्द्रवायू का सोमपान

इन्द्रश्च वायवेषां सोमानां पीतिमर्हथः। युवां हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्र्यक् ॥ २ ॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशीलता रूप देव! तू **च**=और **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रियतारूप देवसम्राट् **एषाम्**=इन **सोमानाम्**=सोमकणों के **पीतिम्**=पान के **अर्हथः**=योग्य होते हो। क्रियाशीलता व जितेन्द्रियता से ही सोम का रक्षण होता है। (२) **हि**=निश्चय से **युवाम्**=आप दोनों को ही **इन्दवः**=ये सोमकण **यन्ति**=प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार ये सोमकण आपको प्राप्त होते हैं, **न**=जैसे कि **आपः**=जलकण **सध्र्यक्**=साथ-साथ गतिवाले होते हुए **निम्नम्**=निम्न प्रदेश को प्राप्त होते हैं। जलों का झुकाव निम्न प्रदेश की ओर होता है, इन सोमकणों का झुकाव जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुष की ओर होता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर हम सोमकणों के केन्द्र बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

शुष्म व शवस्

वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती। नियुत्वन्ता न ऊतय आ यातं सोमपीतये ॥ ३ ॥

(१) **वायो**=हे क्रियाशीलता रूप देव! तू **च**=और **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रियता रूप देवसम्राट् **सुष्मिणा**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं के शोषण के बलवाले हो। **शवसः पती**=शक्ति के स्वामी हो। मानस बल 'शुष्म' है, शरीर बल 'शवस्' है। (२) आप दोनों **सरथम्**=इस समान रथ में **नियुत्वन्ता**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले होकर **ऊतये**=रक्षा के लिए **यः**=हमें **आयातम्**=प्राप्त होइये और **सोमपीतये**=सोम (वीर्य)-रक्षण के लिये होइये। सोम को शरीर में व्याप्त करते हुए आप हमें 'शुष्म व शवस्' को प्राप्त कराते हैं। इन्द्र का बल 'शुष्म' है। इससे यह काम-क्रोध आदि शत्रुओं का शोषण करता है। वायु का बल 'शवस्' है। इससे यह सदा क्रियाशील बना रहता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर 'शुष्मी' व 'शवसस्पति' बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रवायू ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

चाहने योग्य इन्द्रियाश्व

या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा। अस्मे ता यज्ञवाहसेन्द्रवायू नि यच्छतम् ॥ ४ ॥

(१) हे **नरा**=हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाले **इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु! **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **याः**=जो **वाम्**=आपके **पुरुस्पृहः**=बहुत ही चाहने योग्य **नियुतः**=इन्द्रियरूप अश्व **सन्ति**=हैं, **ताः**=उन इन्द्रियाश्वों को **अस्मे**=हमारे लिए **नियच्छतम्**=प्राप्त कराइये। (२) आप ही **यज्ञवाहसः**=हमारे जीवनयज्ञ को चलानेवाले हैं। जीवन जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से ही सफल होता है। जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से इन्द्रियाश्व सबल बने रहते हैं। इनकी सबलता ही हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाती है।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता से हमारे इन्द्रियाश्व सबल बनें।

अगले सूक्त में भी जीव को 'वायु' नाम से स्मरण करते हैं। क्रियाशील बनकर ही तो यह 'जितेन्द्रिय' भी बन पाता है—

[४८] अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'अवीत होत्र' ऐश्वर्य

विहि होत्रा अवीता विपो न रायो अर्यः। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥ १ ॥

(१) **विपः न**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले एक पुरुष के समान **अर्यः**=अपना स्वामी होता हुआ तू **होत्राः**=(होमसाधिकाः) यज्ञों को सिद्ध करनेवाले **अवीताः**=(Not gone away) जिनका विलासों में व्यर्थ ही व्यय नहीं हुआ, ऐसे **रायः**=ऐश्वर्यों का **विहि**=उपभोग कर। तू धनों को प्राप्त कर। परन्तु काम आदि शत्रुओं को कम्पित करके-जितेन्द्रिय बनकर तू उन ऐश्वर्यों का यज्ञादि उत्तम कार्यों में ही व्यय कर। ये धन विलास में व्ययित न हों, अवीत बने रहें। (२) हे **वायो**=गतिशील पुरुष तू **चन्द्रेण रथेन**=मनःप्रसाद से युक्त इस शरीर-रथ से **आयाहि**=समन्तात् कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त हो, ताकि तू **सुतस्य पीतये**=इस उत्पन्न सोम का पान कर सके-सोम को शरीर में ही सुरक्षित रख सके।

भावार्थ—हम उन ऐश्वर्यों को प्राप्त करें, जो कि यज्ञादि का साधन बनें-विलासों में व्ययित न हों। सदा प्रसन्नतापूर्वक कर्त्तव्यकर्मों में लगे हुए हम सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

इन्द्रसारथि

निर्युवाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥ २ ॥

(१) हे **वायो**=गतिशील पुरुष! तू **अशस्तीः**=सब अप्रशस्त बातों को **निर्युवाणः**=अपने से पृथक् करता हुआ, **नियुत्वान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला होता हुआ, **इन्द्रसारथिः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को अपना सारथि बनाकर, इस **चन्द्रेण**=मनःप्रसादयुक्त **रथेन**=शरीर-रथ से **आयाहि**=कर्त्तव्यों में प्रवृत्त हो, ताकि **सुतस्य पीतये**=तू सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर सके। (२) सोमरक्षण के लिये आवश्यक है कि, (क) हम निन्द्य बातों को अपने से दूर करें, (ख) इन्द्रियों को प्रशस्त बनाएँ, (ग) प्रभु को अपने रथ का सारथि बनाएँ। (घ) मनःप्रसाद के साथ सदा क्रिया में लगे रहें।

भावार्थ—अप्रशस्तता से दूर होकर और सदा क्रियाशील बनकर हम सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—वायुः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

'वसुधिती' द्यावापृथिवी

अनु कृष्णे वसुधिती येमाते विश्वपेशसा। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥ ३ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को सारिथ बनाकर जीवनयात्रा में चलने से हमारे द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **कृष्णे**=एक दूसरे को आकृष्ट करनेवाले-परस्पर सम्बद्ध **वसुधिती**=ज्ञान व शक्ति रूप वसुओं को धारण करनेवाले-ब्रह्म व क्षत्र का अपने में समन्वय करनेवाले, **विश्वपेशसा**=सब अंग-प्रत्यंगों का ठीक से निर्माण करनेवाले **अनुयेमाते**=अनुकूलता से संयत होते हैं। मस्तिष्क व शरीर ठीक होने पर, सब ठीक ही रहता है। (२) हे **वायो**=क्रियाशील जीव! तू **चन्द्रेण रथेन**=

मनःप्रसादवाले शरीर-रथ से **सुतस्य पीतये**=सोमपान के लिए-वीर्य के रक्षण के लिए, **आयाहि**=समन्तात् कर्त्तव्यों में प्रवृत्त हो। कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहने से ही तू शरीर में सोम का रक्षण कर पाएगा।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर परस्पर सम्बद्ध व ब्रह्म व क्षत्र का धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

'मत्वा कर्माणि सीव्यति'

वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव। वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये॥ ४॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशील जीव! **त्वा**=तुझे **मनोयुजः**=मन के साथ सम्बद्ध होकर कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले, **युक्तासः**=शरीर-रथ में जुते हुए-अपने कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त इन्द्रियाश्व **नवतिर्नव**=निन्यानवे वर्षों तक **वहन्तु**=ले चलनेवाले हों, अर्थात् जीवन के अन्तिम क्षणों तक तू क्रियाशील बना रह। (२) **चन्द्रेण रथेन**=मनःप्रसादवाले शरीर-रथ से तू **आयाहि**=समन्तात् कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त रह, ताकि **सुतस्य पीतये**=तू सोम का पान कर सके। यह कर्त्तव्यपरायणता हमें वासनाओं से बचाती है और इस प्रकार सोमरक्षण के योग्य बनाती है।

भावार्थ—हम जीवन के अन्तिम क्षणों तक मननपूर्वक कार्यों में प्रवृत्त रहें। 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' के अनुसार मनुष्य बनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—वायुः॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

शतवर्षपर्यन्त क्रियाशील जीवन

वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम्। उत वा ते सहस्त्रिणो रथ आ यातु पाजसा॥ ५॥

(१) हे **वायो**=क्रियाशील जीव! **पोष्याणाम्**=जिनका उत्तमता से पोषण किया गया है, ऐसे **हरीणाम्**=इन्द्रियाश्वों को **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **युवस्व**=तू शरीर-रथ में जोतनेवाला हो। अन्त तक तेरी इन्द्रियाँ शक्तिशाली हों और तू क्रियाशील जीवनवाला हो। (२) **उत वा**=और निश्चय से **ते**=तेरा **सहस्त्रिणः रथः**=(स हस्) सदा प्रसन्नता से युक्त यह शरीर-रथ **पाजसा**=शक्ति से युक्त हुआ-हुआ **आयातु**=सदा क्रिया में प्रवृत्त रहे और लक्ष्य-स्थान पर पहुँचनेवाला हो।

भावार्थ—हम शतवर्षपर्यन्त शक्ति-सम्पन्न होते हुए (पाजसा), प्रसन्नतापूर्वक (सहस्त्रिणः) क्रियाओं में प्रवृत्त रहें-सदा कर्त्तव्यकर्मों के करने में लगे रहें।

हम अपने जीवन का लक्ष्य 'इन्द्राबृहस्पती' को बनाएँ। 'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य' शक्तिशाली हों तथा बृहस्पति-ब्रह्मणस्पति=ज्ञान के स्वामी बनें। इन्हीं का उल्लेख अगले सूक्त में है—

[४९] एकोनपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

हवि, उक्थ व मद

इदं वामास्ये हविः प्रियमिन्द्राबृहस्पती। उक्थं मदश्च शस्यते॥ १॥

(१) हे **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले व्यक्तियो! **इदम्**=यह **वाम्**=आपके **आस्ये**=मुख में **प्रियम्**=प्रीतिकारक **हविः**=यज्ञशेष के रूप में सात्त्विक अन्न **शस्यते**=प्रशंसा के योग्य होता है। 'आप यज्ञशेष' का सेवन करते हो। वस्तुतः यह यज्ञशेष का सेवन ही आपको शक्ति व ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त कराता है। (२) **उक्थम्**=आप से किया जानेवाला

यह प्रभु का स्तवन प्रशंसनीय होता है। यह स्तवन ही आपको संसार के विषयों में फँसने से बचाता है। **च**=और **मदः**=आपका यह उल्लास शंसनीय होता है। आप सात्त्विक अन्न के सेवन व स्तवन से उल्लासमय जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—यदि हम सात्त्विक अन्न के सेवन व प्रभुस्तवन को अपनाएँगे तो उत्साहमय जीवनवाले बनकर 'इन्द्र' (शक्तिशाली) व 'बृहस्पति' (ज्ञानी) बनेंगे।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

चारुर्मदाय पीतये

अयं वां परि षिच्यते सोम इन्द्राबृहस्पती। चारुर्मदाय पीतये॥ २॥

(१) हे **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान के ऐश्वर्यवाले व्यक्तियो! **अयं सोमः**=यह सोम (वीर्य) **वाम्**=आपके शरीरों में **परिषिच्यते**=अंग-प्रत्यंग में सिक्त होता है। इसका शरीर में ही व्यापन होता है। (२) **चारुः**=यह शरीर में सिक्त हुआ-हुआ सोम सुन्दर होता है-यह जीवन को सुन्दर बनाता है। **मदाय**=यह जीवन में उल्लास का कारण बनता है। **पीतये**=यह रक्षण के लिए होता है। शरीर में रक्षित हुआ-हुआ यह शरीर के रक्षण का हेतु होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमारे जीवन को सुन्दर उल्लासमय व रोगों से अनाक्रान्त बनाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

इन्द्र और बृहस्पति

आ न इन्द्राबृहस्पती गृहमिन्द्रश्च गच्छतम्। सोमपा सोमपीतये॥ ३॥

(१) **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान के देवता **इन्द्रः च**=और वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे **गृहम्**=इस शरीररूप गृह में **आगच्छतम्**=आएँ। हमारा लक्ष्य शक्ति व ज्ञान का सम्पादन हो। तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम प्रभु की उपासना करें। (२) **सोमपा**=(सोमपौ) ये इन्द्र और बृहस्पति सोम का पान करनेवाले हैं। जब हम शक्ति व ज्ञानप्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाते हैं, तो हम सोम (वीर्य) का रक्षण करने में समर्थ होते हैं। सो ये इन्द्र और बृहस्पति **सोमपीतये**=इस सोमपान (रक्षण) के लिए हमें यहाँ शरीरगृह में प्राप्त हों।

भावार्थ—शक्ति व ज्ञानप्राप्ति को जीवन का ध्येय बनाने से सोम (वीर्य) का पान सुगम हो जाता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती॥ छन्दः—गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'शतग्विन्म् अश्वामन्तं सहस्त्रिणम्'

अस्मे इन्द्राबृहस्पती रयिं धत्तं शतग्विनम्। अश्वावन्तं सहस्त्रिणम्॥ ४॥

(१) **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान के अधिष्ठातृदेव **अस्मे**=हमारे लिए **रयिं धत्तम्**=ऐश्वर्य को धारण करें। उस ऐश्वर्य का, जो कि **शतग्विनम्**=शतवर्षपर्यन्त ठीक कार्य करनेवाला ज्ञानेन्द्रियोंवाला है। जो ऐश्वर्य **अश्वावन्तम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला है तथा **सहस्त्रिणम्**=जो (स+हस्) आनन्द से युक्त है। (२) शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाने पर हम उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, उत्तम कर्मेन्द्रियों व आनन्द को प्राप्त करते हैं। ये ही वस्तुतः हमारे विज्ञानमय, मनोमय व आनन्दमय कोश के धन हैं।

भावार्थ—'शक्ति व ज्ञान' प्राप्ति का लक्ष्य हमारे सब कोशों को उत्तम बनाने में सहायक होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

सोम का सम्पादन व रक्षण

इन्द्राबृहस्पती वयं सुते गीर्भिर्हवामहे। अस्य सोमस्य पीतये ॥ ५ ॥

(१) **वयम्**=हम **सुते**=सोम के उत्पादन के होने पर **गीर्भिः**=स्तुतिवाणियों द्वारा **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान के अधिष्ठातृदेवों को **हवामहे**=पुकारते हैं। सोम ही शरीर में सुरक्षित होकर शक्ति का वर्धन करता है और यही ज्ञानाग्नि का भी ईंधन बनता है। (२) हम इन्द्र और बृहस्पति को '**अस्य सोमस्य पीतये**'=इस सोमपान के लिए पुकारते हैं। वस्तुतः इन दोनों देवों का आराधन ही हमें सोमपान के योग्य बनाता है।

भावार्थ—सोम के सम्पादन व रक्षण के लिए हम 'इन्द्र व बृहस्पति' के उपासक बनते हैं, शक्ति व ज्ञान प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

आनन्दमय जीवन

सोममिन्द्राबृहस्पती पिबतं दाशुषो गृहे। मादयेथां तदोकसा ॥ ६ ॥

(१) हे **इन्द्राबृहस्पती**=शक्ति व ज्ञान के अधिष्ठातृदेवो! आप **दाशुषः**=आपके प्रति अपने को दे डालनेवाले के **गृहे**=शरीरगृह में **सोमं पिबतम्**=सोम का पान करो। जो व्यक्ति शक्ति व ज्ञान की प्राप्ति में जुट जाता है, वह सोम का रक्षण कर पाता है। (२) हे इन्द्राबृहस्पती! **तदोकसा**=सोमरक्षणवाले शरीररूप गृह के स्वामी होते हुए आप **मादयेथाम्**=हमें आनन्दयुक्त जीवनवाला करिए। वस्तुतः शक्ति-सम्पन्न ज्ञानयुक्त जीवन आनन्दवाला होता ही है। सोमरक्षण इस जीवन का साधन बनता है।

भावार्थ—हम शक्ति व ज्ञान का सम्पादन करके आनन्दयुक्त जीवनवाले हों।

अगले सूक्त में भी 'बृहस्पति' का मुख्यतया उल्लेख है। समाप्ति पर उसके साथ इन्द्र का भी उल्लेख होगा—

[५०] पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु के गुणों का धारण

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥ १ ॥

(१) **यः**=जो **ज्मः अन्तान्**=पृथिवी के अन्तों को, दसों दिशाओं को **सहसा**=शक्ति से **वितस्तम्भ**=थामता है। **बृहस्पतिः**=जो ब्रह्मणस्पति है-सब ज्ञानों का स्वामी है। **रवेण**='निस्तोवाच उदीरते हरिरेति कनिक्रदत' ज्ञान, कर्म व उपासना की वाणियों से **त्रिषधस्थः**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक रूप तीनों लोक में स्थित है-सर्वत्र इन वाणियों का प्रसार कर रहा है। (२) **तम्**=उस **मन्द्रजिह्वम्**=अत्यन्त मधुर जिह्वावाले-मधुरता से ज्ञानोपदेश करनेवाले प्रभु को **पुरःदधिरे**=अपने सामने धारण करते हैं-उसे आदर्श के रूप में अपने सामने स्थापित करते हैं। उसके गुणों को अपना

आदर्श बनाकर उन्हें धारण करने के लिए यत्नशील होते हैं। एक तो '**प्रत्नासः ऋषयः**'=पुराणे, अर्थात् बड़ी आयु के तत्त्वज्ञानी पुरुष! फिर **दीध्यानाः**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त होनेवाले पुरुष तथा **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले पुरुष। ये सब उस प्रभु को अपना लक्ष्य बनाकर तदनुसार अपना जीवन बनाने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—ऋषि व विप्र लोग प्रभु को अपना लक्ष्य बनाकर उसके गुणों को अपने में धारण करने के लिये यत्न करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

स्वाध्याय व दोषनिवारण

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥ २॥

(१) हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **ये**=जो **नः**=हमारे में से **धुनेतयः**=(धुना ईतिर्येषां) शत्रुओं को कम्पित करनेवाली गतिवाले, **सुप्रकेतं मदन्तः**=उत्कृष्ट ज्ञान के साथ आनन्द का अनुभव करते हुए **अभिततस्रे**=प्रातः-सायं दोनों समय दोषों को अपने से दूर फेंकते हैं (reject, cast), **अस्य**=हमारे में से इस मनुष्य के **योनिम्**=इस बुराइयों के अमिश्रण व अच्छाइयों के मिश्रण के प्रयत्न की **रक्षतात्**=आप रक्षा करें। (२) यह योनि ही **पृषन्तम्**=सब सुखों का सेचन करनेवाली है। **सृप्रम्**=इसे निरन्तर अग्रगति करानेवाली है। **अदब्धम्**=अहिंसित है-इसे हिंसित नहीं होने देती और **ऊर्वम्**=विशाल है। इस प्रातः-सायं दोषनिराकरण के कार्य से ही इसका जीवन सुखसिक्त, अग्रगतिवाला, अहिंसित तथा विशाल बनता है।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं स्वाध्याय में आनन्द लेते हुए दोष-निराकरण के लिए यत्नशील हों। प्रभु कृपा करेंगे और हमारा यह कार्य हमारे लिए सुखवर्षक-उन्नतिकारक, अहिंसक व हमें विशाल बनानेवाला होगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—बृहस्पतिः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यज्ञशीलता से स्वर्गप्राप्ति

बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम्॥ ३॥

(१) हे **बृहस्पते**=सर्वोच्च दिशा के अधिपते! परमात्मन्! **या**=जो **ते**=आपके **परावत् परमा**=सुदूर से सुदूर देश से भी उत्कृष्ट स्थान हैं, उनमें **ऋतस्पृशः**=(ऋतं=यज्ञ) यज्ञों के सम्पर्कवाले यज्ञशील पुरुष **आनिषेदुः**=आसीन होते हैं। पृथ्वीलोक से ऊपर अन्तरिक्षलोक है, अन्तरिक्ष से ऊपर द्युलोक है। यह द्युलोक ('दिवो नाकस्य पृष्ठात्') स्वर्गलोक का पृष्ठ है। इस स्थान पर यज्ञशील पुरुष ही पहुँचते हैं। (२) **तुभ्यम्**=तेरी प्राप्ति के लिए **अद्रिदुग्धाः**= उपासना द्वारा अपने अन्दर पूरित हुए-हुए **मध्वः**=सोमकण **अभितः विरप्शम्**=दोनों ओर महान् शब्दराशि को (रप् व्यक्तायां वाचि) **श्चोतन्ति**=क्षरित करते हैं। अपरा विद्या की शब्दराशि ही प्रकृतिविद्या है और पराविद्या की शब्दराशि आत्मविद्या है। जब सोमकणों का हम रक्षण करते हैं, तो ये दोनों ही विद्याएँ हमें प्राप्त होती हैं। एक इहलोक को सुन्दर बनाती है, तो दूसरी परलोक को ('अभितः') शब्द इसी भाव का द्योतक है। ये सोमकण **खाताः अवताः**=खोदे गये कुओं के समान हैं। ये कुएँ जलराशि को प्राप्त कराते हैं और ये सोमकण ज्ञान की जलराशि को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम स्वर्ग में स्थित होते हैं। शरीर में सुरक्षित सोमकण हमें ज्ञानजलराशि को प्राप्त कराते हैं। उसमें स्नान करके हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सप्तास्यः-सप्तरश्मिः

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि ॥ ४ ॥

(१) **बृहस्पतिः**=यह ज्ञान का स्वामी प्रभु **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **महः ज्योतिषः**=महान् ज्ञान-ज्योति से **प्रथमं जायमानः**=विस्तार के साथ प्रादुर्भूत होता हुआ **रवेण**=ज्ञानवाणियों के उच्चारण से **तमांसि**=अन्धकारों को **वि अधमत्**=विनष्ट करता है। हृदय में प्रभु का प्रकाश होते ही सब अन्धकार विनष्ट हो जाता है। (२) ये प्रभु **सप्तास्यः**=सात छन्दों से बनी हुई वेदवाणीरूप सात मुखोंवाले हैं। **तुविजातः**=महान् प्रादुर्भाववाले हैं, **सप्तरश्मिः**=सात रश्मियोंवाले सूर्य की तरह ये प्रभु सात छन्दोरूप वेदवाणी रूप सात रश्मियोंवाले हैं। इन सात रश्मियों से ही ये प्रभु 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः व सत्यम्' इन सात लोकों को प्रकाशित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्योतिर्मय हैं। सप्त छन्दोमयी वेदवाणियाँ ही प्रभु के सात मुख हैं। ये ही प्रभुरूप सूर्य की सात रश्मियाँ हैं। इनके द्वारा प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वलासुर का विनाश

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद्वावशतीरुदाजत् ॥ ५ ॥

(१) **सः**=वह **बृहस्पतिः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु **सुष्टुभा**=उत्तम स्तुतियोंवाले **गणेन**=मन्त्र-समूह से तथा **सः**=वे प्रभु **ऋक्वता**=ऋचाओंवाले-विज्ञानवाले **गणेन**=मन्त्रसमूह से **वलं रुरोज**=ज्ञान के आवरणभूत (veil) इस वल नामक असुर को **रुरोज**=विनष्ट करते हैं। **रवेण**=हृदयस्थरूपेण इन ज्ञानवाणियों के उच्चारण से **फलिगम्**=विशीर्णता की ओर ले जाने (फल विशरणे) वाली आसुरवृत्ति को विनष्ट करते हैं। ज्ञान द्वारा प्रभु हमारे में उत्तम वृत्तियों को उत्पन्न करके हमारा कल्याण करते हैं। (२) **बृहस्पतिः**=वे ज्ञान के स्वामी प्रभु **हव्यसूदः**=सब हव्यपदार्थों को-पवित्र यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त करानेवाली **वावशतीः**=हमारा अत्यन्त हित चाहती हुई **उस्रियाः**=ज्ञान-रश्मियों को **उदाजत्**=हमारे में उत्कर्षेण प्रेरित करते हैं। इन ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके ही हम इस संसार में अयज्ञिय बातों से दूर रहकर अपना हित सिद्ध कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानवाणियों द्वारा ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करते हैं। सब विशीर्ण करनेवाली आसुरवृत्तियों को विनष्ट करते हैं। हव्य-पदार्थों की ओर हमारा झुकाव होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञैः नमसा हविर्भिः

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार वलासुर को विनष्ट करके हम **एवा**=सचमुच उस **पित्रे**=पालक **विश्वदेवाय**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज **वृष्णे**=शक्तिशाली व सुखवर्षक प्रभु के लिए **यज्ञैः**=श्रेष्ठतम कर्मों से, **नमसा**=उन कर्मों के अहंकार को छोड़कर नम्रभाव से **हविर्भिः**=सदा दानपूर्वक अदन से **विधेम**=पूजा को करें। (२) हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! इस प्रकार आपका यज्ञों, नमन व हवियों से पूजन करते हुए **वयम्**=हम **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाले **वीरवन्तः**=वीरत्व की भावनावाले तथा **रयीणां पतयः**=धनों के स्वामी (न कि दास) **स्याम**=हों।

भावार्थ—यज्ञों, नम्रता व हवियों से प्रभुपूजन करते हुए हम 'उत्तम सन्तान, वीरता व धन का स्वामित्व' प्राप्त करें। यज्ञों से उत्तम प्रजा को प्रभु के प्रति नमन से वीरता को तथा हवियों से धन के स्वामित्व को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रतिजन्य-धनों का धारण

स इद्राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभि वीर्येण।
बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्॥ ७॥

(१) **सः**=वह बृहस्पति का उपासक **इत्**=ही **राजा**=दीप्त जीवनवाला होता है। **विश्वा**=सब **प्रतिजन्यानि**=प्रत्येक जन के लिए हितकर, अर्थात् व्यक्ति सम्बद्ध धनों का **अभितस्थौ**=अपने में धारण करनेवाला बनता है। **शुष्मेण**=शत्रुशोधक बलों द्वारा यह मानस-धनों को प्राप्त करता है और **वीर्येण**=वीर्यशक्ति द्वारा रोगकृमियों को नष्ट करके शारीरिकधनों का अधिष्ठाता बनता है। (२) इन प्रतिजन्य-धनों को वही प्राप्त कर पाता है, **यः**=जो कि **सुभृतम्**=(सुष्ठु भृतं यस्मात्) उत्तम भरण करनेवाले **बृहस्पतिम्**=उस सर्वज्ञ प्रभु को **बिभर्ति**=अपने हृदय में धारण करता है, **वल्गूयति**=उसके ही स्तुति-वचनों का उच्चारण करता है और **पूर्वभाजम्**=सब से प्रथम सेवनीय उस बृहस्पति का ही **वन्दते**=अभिवादन करता है।

भावार्थ—प्रभु का आराधक ही प्रतिजन्यधनों को प्राप्त करता है और यह शुष्म व वीर्य-सम्पन्न होकर मानस व शारीरिक बलों का धारण करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'ब्राह्मण का आदर करनेवाला' राजा

स इत्क्षेति सुधित ओकसि स्वे तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्।
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन्ब्रह्मा राजनि पूर्व एति॥ ८॥

(१) **सः**=वह **इत्**=ही राजा **सुधितः**=उत्तमता से तृप्त हुआ-हुआ (Satisfied) **स्वे ओकसि**=अपने गृह में **क्षेति**=निवास करता है, अर्थात् उसी का जीवन शान्तिपूर्वक बीतता है। **तस्मै**=उसी के लिए **इडा**=यह पृथिवी **विश्वदानीम्**=सदा **पिन्वते**=अन्न आदि से प्रीणन (प्रीति) करनेवाली होती है, अर्थात् इसके राज्य में कभी अकाल आदि की पीड़ा नहीं होती। तथा

तस्मै=उसके लिए **विशः**=प्रजाएँ **स्वयं एव**=अपने आप ही **आनमन्ते**=नम्र होती हैं-झुकनेवाली होती हैं-उपद्रव आदि की भावना से शून्य होती हैं। **यस्मिन् राजनि**=जिस राजा में **ब्रह्मा**=ज्ञानी ब्राह्मण **पूर्वः एति**=पहले चलनेवाला होता है, अर्थात् जिसके राज्य में ब्राह्मण को प्रथम स्थान प्राप्त होता है-जो राजा उन ब्राह्मणों से दिये गये परामर्श के अनुसार चलता है। (२) ब्राह्मण के परामर्श से सब कार्यों को करनेवाले राजा के राज्य में, (क) अशान्ति नहीं होती, (ख) अकाल नहीं पड़ते तथा (ग) प्रजाएँ सदा स्वयमेव कर आदि देती हुई उपद्रव की भावना से दूर होती हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में ब्राह्मण का आदर होने पर अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूत सम्बन्धी कोई कष्ट नहीं होता।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

देवों से रक्षित होनेवाला राजा

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ॥ ९ ॥

(१) **अप्रतीतः**=शत्रुओं से प्रतिरुद्ध न किया गया हुआ वह राजा **धनानि**=उन सब धनों को **संजयति**=सम्यक् जीतता है , जो धन **प्रतिजन्यानि**=प्रत्येक व्यक्ति से अर्जन के योग्य हैं, **उत या**=और जो **सजन्या**=समाज के लिए हितकर हैं अथवा मिलकर कमाने योग्य हैं, अर्थात् वैयक्तिक व सामाजिक धनों का वह विजेता बनता है। (२) **यः राजा**=जो राजा **अवस्यवे**=रक्षण की कामनावाले **ब्रह्मणे**=ज्ञानीपुरुष के लिए **वरिवः कृणोति**=धनों को देता है, **तम्**=उस राजा की **देवाः**=सब देव **अवन्ति**=रक्षा करते हैं। ब्राह्मणों का आदर करनेवाले इस राजा के राज्य में आधिदैविक कष्ट नहीं आते।

भावार्थ—ब्राह्मणों का आदर करनेवाला राजा 'प्रतिजन्य व सजन्य' धनों का विजेता होता है और सब देव उसका रक्षण करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रा बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्राह्मण+क्षत्रिय (बृहस्पति+इन्द्र)

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन्यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दवः स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम् ॥ १० ॥

(१) **अस्मिन् यज्ञे**=इस राष्ट्र-यज्ञ में हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् ब्राह्मण! तू **च इन्द्रः**=और बल के कर्मों को करनेवाला इन्द्र (राजा) दोनों ही **सोमं पिबतम्**=सोम का पान करनेवाले होओ। **मन्दसाना**=तुम दोनों हर्ष का अनुभव करो और **वृषण्वसू**=शक्तिशाली धनवाले व प्रजा पर धन की वर्षा करनेवाले होओ। (२) **वाम्**=आप दोनों को **इन्दवः**=ये सोमकण **आविशन्तु**=आविष्ट हों, जो कि **स्वाभुवः**=(सुष्ठु सर्वतो भवन्ति) सम्यक् सब अंगों में व्याप्त होनेवाले हैं। आप **अस्मे**=हम सब के लिए **सर्ववीरम्**=सब वीरताओं से युक्त **रयिम्**=धन को **नियच्छतम्**=देनेवाले होइये।

भावार्थ—राष्ट्र में ब्राह्मण व क्षत्रिय सोम का (वीर्य का) रक्षण करनेवाले हों। ऐसे ही ब्राह्मण व क्षत्रिय (पुरोहित व राजा) प्रजाओं को आनन्दित व धन्य बना सकते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—इन्द्रा बृहस्पतिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

राज कर्त्तव्य

बृह॑स्पत इन्द्र॒ वर्ध॑तं न॒: सचा॒ सा वां॑ सुम॒तिर्भू॑त्व॒स्मे ।
अ॒वि॒ष्टं धियो॑ जिगृ॒तं पुर॑न्धीर्जज॒स्तम॒र्यो व॒नुषा॒मरा॑तीः ॥ ११ ॥

(१) हे **बृहस्पते**=ज्ञानी ब्राह्मण ! **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले क्षत्रिय ! आप **सचा**=मिलकर **नः वर्धतम्**=हमें बढ़ानेवाले होइये । **वाम्**=आपकी **सा सुमतिः**=वह कल्याणीमति **अस्मे भूतु**=हमें प्राप्त हो । आपका प्रजा-रक्षण का शुभ विचार सदा बना रहे । हम आपके अशुभ विचार के शिकार न हो जाएँ । (२) आप दोनों मिलकर **धियः अविष्टम्**=हमारे कर्मों का रक्षण करें । **पुरन्धीः**=शरीररूप नगरियों का धारण करनेवाली बुद्धियों को **जिगृतम्**=जगाओ और **वनुषाम्**=सम्भजन करनेवाले हम लोगों के **अर्यः**=(गंत्रीः) आक्रमण करनेवाले **अरातीः**=शत्रुओं को **जजस्तम्**=(क्षपयतम्) नष्ट करनेवाले होइये ।

भावार्थ—पुरोहित व राजा मिलकर राष्ट्र का रक्षण करें । वे प्रजाओं के उत्तम कर्मों का रक्षण करें, प्रजाओं में पालक बुद्धि को पैदा करने का प्रयत्न करें । शत्रुओं के आक्रमण से प्रजाओं का रक्षण करें ।

ऐसे राष्ट्र में सदा उत्तम उषाओं का प्रादुर्भाव होता है । उस उषा का वर्णन अगले सूक्त में करते हैं—

[५१] एकपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पालक व प्रज्ञापक ज्योति

इ॒दमु॒ त्यत्पु॑रु॒तमं॑ पु॒रस्ता॒ज्ज्योति॒स्तम॑सो व॒युना॑वदस्थात् ।
नू॒नं दि॒वो दु॑हि॒तरो॑ विभा॒तीर्गा॒तुं कृ॑णवन्नु॒षसो॒ जना॑य ॥ १ ॥

(१) **इदम्**=यह **उ**=निश्चय से **त्यत्**=वह प्रसिद्ध **पुरुतमम्**=अतिशयेन पालक व पूरक **वयुनावत्**=अतिप्रशस्त प्रज्ञानवाली (प्रशस्त कान्तिवाली) **ज्योतिः**=ज्योति **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **तमसः उद् अस्थात्**=अन्धकार को विनष्ट करके उठ खड़ी हुई है । (२) **नूनम्**=निश्चय से **दिवः दुहितरः**=ज्ञान का पूरण करनेवाली **विभातीः**=चमकती हुई **उषसः**=उषाएँ **जनाय**=लोगों के लिए **गातुं कृणवन्**=मार्ग को करती हैं । ये उषायें अन्धकार को दूर करके मार्ग को दिखानेवाली होती हैं ।

भावार्थ—उषाकाल का प्रकाश पालक (पुरुतमं) व प्रज्ञापक (वयुनावत्) है । ये उषाएँ प्रकाश को करती हुईं हमारे लिये मार्गदर्शन करती हैं ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

'दीप्त व पवित्र जीवन को बनानेवाली' उषाएँ

अस्थु॑रु चि॒त्रा उ॒षस॑: पु॒रस्ता॑न्मि॒ताइ॑व॒ स्वर॑वोऽध्व॒रेषु॑ ।
व्यू॑ व्र॒जस्य॒ तम॑सो॒ द्वारो॒च्छन्ती॑रव्र॒ञ्छुच॑यः पाव॒काः ॥ २ ॥

(१) **उ**=निश्चय से **चित्राः**=चायनीय-पूजा के योग्य अथवा (चित् र) ज्ञान देनेवाली, प्रज्ञापक

उषसः=उषाएँ **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **अस्थुः**=स्थित हैं। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **अध्वरेषु**=यज्ञों में **मिताः स्वरवः**=निर्मित यज्ञस्तम्भ। जिस प्रकार उन यज्ञ-स्तम्भों की शोभा होती है, इसी प्रकार ये उषाएँ शोभावाली हैं। (२) ये उषाएँ **उ**=निश्चय से **व्रजस्य**=(वारकस्य) घेर लेनेवाले **तमसः**=अन्धकार के **द्वारा**=द्वारों को, **वि उच्छन्तीः**=अन्धकारशून्य व प्रकाशमय करती हुईं, **अव्रन्**=खोल डालती हैं। अन्धकार को दूर करती हुई ये उषाएँ **शुचयः**=दीप्ति को प्राप्त करानेवाली हैं और **पावकाः**=पवित्र करनेवाली हैं।

भावार्थ—अन्धकार को दूर करती हुई उषाएँ हमारे जीवनों को दीप्त व पवित्र बनाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

भोज व पणि

उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजात्राधोदेयायोषसो मघोनीः।
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये॥ ३॥

(१) **मघोनीः उषसः**=ऐश्वर्यवाली उषाएँ **अद्य**=आज **उच्छन्तीः**=अन्धकार को दूर करती हुईं **भोजान्**=औरों का पालन करनेवाले लोगों को **राधो देयाय**=कार्यसाधक धनों को देने के लिए **चितयन्त**=प्रज्ञानयुक्त करती हैं। इन उषाओं में ये 'भोज' जागते हैं और धन का दान करनेवाले इनके लिये उषाएँ सचमुच 'मघोनी' होती हैं-ऐश्वर्योंवाली होती हैं। (२) इन भोजों के विपरीत **पणयः**=वणिक्वृत्तिवाले कृपण लोग **अचित्रे**=अचायनीय (अप्रशंसनीय) **तमसः विमध्ये**=अन्धकार के मध्य में, **अन्तः**=इस अन्धकार के अन्दर, **अबुध्यमानाः**=जागृति को न प्राप्त करते हुए **ससन्तु**=सोये रह जाएँ।

भावार्थ—उषाकालों में प्रबुद्ध होकर दान की वृत्तिवाले 'भोज' हम बनें। पणि बनकर-कृपण बनकर सोये ही न रह जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

नवग्व अंगिर, दशग्व सप्तास्य

कुवित्स देवीः सनयो नवो वा यामो बभूयादुषसो वो अद्य।
येना नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे सप्तास्ये रेवती रेवदूष॥ ४॥

(१) **देवीः उषसः**=दिव्य गुणोंवाली उषाओ! **सनयः**=पुराणा **नवः वा**=या नया जैसा भी वह **यामः**=शरीर-रथ है **सः**=वह **अद्य**=आज **कुवित्**=अत्यन्त ही **वः**=आपका **बभूयात्**=हो। हम वृद्ध हों या युवा हों, सदा प्रातःकाल उठनेवाले हों। प्रातःकाल उठना ही इस शरीर-रथ को उषाकालों का बनाना है। (२) **येन**=जिस रथ से **रेवतीः**=प्रशस्त धनोंवाली तुम **नवग्वे**=नवमदशक तक-नव्वे साल की आयु तक जानेवाले इस **अंगिरे**=गतिशील पुरुष में (अगि गतौ), तथा **दशग्वे**=दशम दशक तक जानेवाले-१०० वर्ष तक पहुँचनेवाले **सप्तास्ये**=सप्त छन्दोमयी वेदवाणी रूप मुखवाले, अर्थात् अत्यन्त ज्ञान को प्राप्त करनेवाले पुरुष में **रेवत्**=प्रशस्त धनयुक्त **ऊष**=(विभातं कृतवत्य) प्रकाश को प्राप्त कराती हो।

भावार्थ—सदा प्रातः प्रबुद्ध होनेवाला व्यक्ति नव्वे साल के आयुष्य में भी गतिशील होता है। सौवें वर्ष में भी खूब ज्ञान की चेतनावाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

गतिशीलता की प्रेरिका उषाएँ

यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः।
प्रबोधयन्तीरुशषः ससन्तं द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम् ॥ ५ ॥

(१) हे **उषसः**=उषाओ! **यूयम्**=तुम **हि**=निश्चय से **देवीः**=प्रकाशमयी हो। **ऋतयुग्भिः**=ऋत के साथ जो भी ठीक है, उसके साथ मेलवाले **अश्वैः**=इन इन्द्रियाश्वों द्वारा **सद्यः**=शीघ्र ही **भुवनानि**=सब लोकों में **परिप्रयाथ**=चारों ओर आती हो। ये उषाएँ सब प्राणियों को प्राप्त हों प्रत्येक ऋतु में प्रवृत्त होनेवाले इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराती हैं। सामान्यतः उषा में जगनेवाले लोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। (२) ये **उषसः**=उषाएँ **ससन्तम्**=सोये हुए **द्विपात् चतुष्पात्**=दोपाये व चौपाये **जीवम्**=सब जीवों को **चरथाय**=गतिशील होने के लिए अपने-अपने कार्यों में लगने के लिए **प्रबोधयन्तीः**=प्रबुद्ध करती हैं।

भावार्थ—उषाएँ जगाती हैं। गतिशील बनने के लिए प्रेरित करती हैं। हमारे इन्द्रियाश्वों को ऋत (यज्ञ) की ओर ले जाती हैं।

अथ द्वितीयो वर्गः॥ २॥

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रारम्भ, मध्य व अन्त की उषाएँ

क्व स्विदासां कतमा पुराणी यया विधाना विदधुर्ऋभूणाम्।
शुभं यच्छुभ्रा उषसश्चरन्ति न वि ज्ञायन्ते सदृशीरजुर्याः ॥ ६ ॥

(१) **आसाम्**=इन उषाओं में **कतमा**=अत्यन्त आनन्द को देनेवाली वह **पुराणी**=पुराकाल में होनेवाली उषा **क्व स्वित्**=भला अब कहाँ है। **यया**=जिस उषा से **ऋभूणाम्**=(उरु भान्ति) ज्ञानदीप्त पुरुषों के **विधाना**=कार्यों को-चार भागों में बटे वेदज्ञान प्राप्ति-रूप कार्य को **विदधुः**=करते थे। वह जीवन यज्ञ के प्रातःसवन (प्रथम चौबीस वर्षों की) की उषाएँ अब कहाँ हैं? उन उषाओं में तो हम ऋभुओं के कार्यों को करने में ही तत्पर थे-ज्ञानप्राप्ति मात्र ही हमारा कार्य था। कितना आनन्द था उंन उषाकालों में। (२) **यत्**=जो **शुभ्राः**=दीप्त **उषसः**=उषाएँ **शुभम्**=यज्ञादि शुभ कार्यों को करती थीं, वे माध्यन्दिनसवन की (पच्चीस से अड़सठ वर्ष तक की) उषाएँ भी अब कहाँ है? जिस समय गृहस्थ में सदा प्रातः प्रबुद्ध होकर हम पञ्चयज्ञों में प्रवृत्त हुआ करते थे, वे उषाएँ भी जा चुकीं। (३) अब इस सायन्तनसवन में भी (उनहत्तर से एक सौ सोलह वर्ष तक) ये उषाएँ उसी प्रकार चल रही हैं। पहली उषाओं से भिन्न रूप में **न विज्ञायन्ते**=ये नहीं जानी जातीं। **सदृशीः**=ये उसी प्रकार से चल रही हैं, उन पुराणी उषाओं से भिन्न नहीं प्रतीत होती। **अजुर्याः**=ये जीर्ण हो गयी प्रतीत नहीं होतीं। हम जीर्ण होने से पहली सुन्दर उषाओं को निःसन्देह स्मरण करें। परन्तु उषाएँ तो एकरूप से चलती-चलती रहती हैं, इनमें पुराणपन नहीं आ जाता, ये अजुर्य हैं।

भावार्थ—जीवन के प्रारम्भ में हम ऋभु बनकर ज्ञानदीप्ति की प्राप्ति में लगे थे। मध्य में शुभ यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहें। अब अन्त में भी ये उषाएँ हमारे लिए उसी प्रकार अक्षीणतावाली बनी रहें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

उत्थान के लिये आत्मप्रेरणा

ता घा ता भद्रा उषसः पुरासुरभिष्टिद्युम्ना ऋतजातसत्याः।
यास्वीजानः शशमान उक्थैः स्तुवञ्छंसन्द्रविणं सद्य आप ॥ ७ ॥

(१) **ताः**=वे **घ**=निश्चय से **ताः**=प्रसिद्ध **भद्राः**=कल्याणकर **उषसः**=उषाकाल **पुरा आसुः**=पहले थे। ये उषाकाल **अभिष्टि द्युम्नाः**=(अनिष्टि=attack) वासनाओं पर आक्रमण के कारण ज्योतिर्मय थे तथा **ऋतजातसत्याः**=ऋत के विकास के कारण ये उषाकाल सत्य थे। इन उषाकालों में हम सब कार्य ऋत के अनुसार-नियमपूर्वक करते थे। अतएव हमारे जीवन सत्य प्रधान थे। (२) **यासु**=जिन उषाओं में **ईजानः**=यज्ञ करता हुआ, **शशमानः**=प्लुत गति से कार्यों को करता हुआ यह **उक्थैः**=स्तोत्रों से **स्तुवन् शंसन्**=स्तुति व शंसन करता हुआ पुरुष **सद्यः**=शीघ्र ही **द्रविणं आप**=धन को प्राप्त करता था। हमारे जीवनों के वे उषाकाल कितने सुन्दर थे। कितना पवित्र व समृद्ध जीवन था। उन्हीं उषाओं को फिर से लाने का हम प्रयत्न करें।

भावार्थ—भद्र उषाकाल वे हैं, जिनमें हम (क) वासनाओं पर आक्रमण करके ज्ञान-ज्योति को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं, (ख) नियमितता के विकास के जीवन को सत्यमय बनाते हैं, (ग) यज्ञशील व स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले होते हैं, (घ) प्रभु का स्तवन व शंसन करते हुए द्रविणों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'यज्ञ, स्वाध्याय व स्तवन' वाली उषाएँ

ता आ चरन्ति समना पुरस्तात्समानतः समना पप्रथानाः।
ऋतस्य देवीः सदसो बुधाना गवां न सर्गा उषसो जरन्ते ॥ ८ ॥

(१) **ताः**=वे उषाएँ **समना**=(सं अन् प्राणने) सम्यक् प्राणित करनेवाली **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **आचरन्ति**=गतिवाली होती हैं। ये उषाएँ **समानतः**=समानरूप से सब को **समना**=प्राणित करनेवाली **पप्रथानाः**=विस्तृत हो रही हैं। उषाकाल के वायुओं में ओजोन गैस प्रचुर मात्रा में होती है। वही प्राणित करने का साधन बनती है। (२) ये **देवीः उषसः**=दिव्य (प्रकाशमय) उषाएँ **ऋतस्य सदसः**=यज्ञों के स्थानों का बोध कराती हुई, **गवां सर्गाः न**=प्रकाशरश्मियों की सृष्टियों के समान **जरन्ते**=स्तुत होती हैं, अर्थात् इन उषाओं में भद्र लोग यज्ञ करते हैं, स्वाध्याय द्वारा ज्ञानरश्मियों को उत्पन्न करते हैं और स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। उषाकाल के मुख्य कार्य 'यज्ञ, स्वाध्याय व प्रभुस्तवन' ही हैं।

भावार्थ—उषाकाल का वायु स्वास्थ्यवर्धक है। इन उषाओं में प्रबुद्ध होकर हम यज्ञ, स्वाध्याय व स्तवन-स्तुति आदि पवित्र कार्यों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

शक्तिसम्पन्न, पवित्र व दीप्त ज्ञान

ता इन्न्वे३व समना समानीरमीतवर्णा उषसश्चरन्ति।
गूहन्तीरभ्वमसितं रुशद्भिः शुक्रास्तनूभिः शुचयो रुचानाः ॥ ९ ॥

(१) **ताः**=वे **एव**=ही **इत् नु**=निश्चय से अब **समना**=सम्यक् प्राणित करनेवाली **समानीः**=समान

रूप से चली आ रही **अमीतवर्णाः**=अहिंसित वर्णवाली-तेजस्वी **उषसः**=उषाएँ **चरन्ति**=गतिवाली होती हैं। (२) **अभ्वम्**=महान् **असितम्**=कृष्णवर्ण-रात्रि के अन्धकार को **रुशद्भिः**=चमकते हुए अपने प्रकाशों से **गूहन्तीः**=अपने अन्दर छिपाती हुई, **तनूभिः शुक्राः**=अपने शरीरों से (शुक्रम्=वीर्यम्) शक्ति-सम्पन्न, **शुचयः**=पवित्र व **रुचानाः**=दीप्तिवाली हैं। वस्तुतः ये उषाएँ हमें शरीर में (शुक्र) वीर्य-सम्पन्न, मन में (शुचि) पवित्र तथा मस्तिष्क में (रुच दीप्तौ) दीप्त ज्ञानवाला बनाती हैं।

भावार्थ—उषाएँ अन्धकार को दूर करनेवाली हैं। इनमें जागनेवाला पुरुष शक्ति-सम्पन्न, पवित्र व दीप्त ज्ञानवाला बनता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

उत्तम सन्तान, धन व सुवीर्य

रयिं दिवो दुहितरो विभातीः प्रजावन्तं यच्छतास्मासु देवीः।
स्योनादा वः प्रतिबुध्यमानाः सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥ १०॥

(१) **दिवः दुहितरः**=प्रकाश का हमारे जीवनों में प्रपूरण करनेवाली **विभातीः**=चमकती हुई **देवीः**=दिव्यगुणों को जन्म देनेवाली उषाओ! **अस्मासु**=हमारे में **प्रजावन्तम्**=प्रकृष्ट सन्तानोंवाले **रयिम्**=धन को **यच्छत**=प्राप्त कराओ। उषाकाल में जागरित होकर अपने कर्त्तव्यों में लगते हुए हम उत्तम सन्तानों व धनों को प्राप्त करें। (२) **वः**=आपसे दिये जानेवाले **स्योनाद्**=सुख के निमित्त **आप्रतिबुध्यमानाः**=सदा जागरित होते हुए हम **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति के **पतयः**=स्वामी **स्याम**=हों। यह उषाकाल का जागरण हमें शक्तिशाली बनाए।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर अपने कर्तव्यकर्मों में तत्पर हों। इससे हमें उत्तम सन्तान, धन व सुवीर्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

यज्ञकेतु का यशस्वी जीवन

तद्वो दिवो दुहितरो विभातीरुप ब्रुव उषसो यज्ञकेतुः।
वयं स्याम यशसो जनेषु तद् द्यौश्च धत्तां पृथिवी च देवी॥ ११॥

(१) **यज्ञकेतुः**=यज्ञ के ज्ञानवाला मैं-यज्ञों के महत्त्व को समझनेवाला मैं हे **दिवः दुहितरः**=प्रकाश की प्रपूरक **विभातीः**=चमकती हुई **उषसः**=उषाओ! **वः तत्**=आपके उस महत्त्व को मैं **ब्रुवः**=कहता हूँ। (२) उषाओं के महत्त्व को समझते हुए हम उषाओं में जागनेवाले बनें। और **वयम्**=हम **जनेषु**=लोगों में **यशसः स्याम**=यशस्वी हों। उत्कृष्ट जीवनवाले बनकर हम यशस्वी क्यों न होंगे! **तद्**=उस हमारे यश को **द्यौः च**=मस्तिष्करूप द्युलोक **च**=और **देवी पृथिवी**=यह (दिव गतौ) गतिमय पृथिवीरूप शरीर **धत्ताम्**=धारण करें। हमारा मस्तिष्क ज्ञानदीप्त होकर तथा हमारा शरीर दृढ़ होकर हमारे जीवन को यशस्वी बनाएँ।

भावार्थ—उषाकालों में जागकर हम यज्ञशील बनें। हमारा शरीर व मस्तिष्क हमारे जीवन को यशस्वी बनाएँ।

अगले सूक्त में भी उषा का ही वर्णन है—

[५२] द्विपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'सूनरी जनी' उषा

प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः। दिवो अदर्शि दुहिता॥ १॥

(१) **स्या**=वह **दिवः दुहिता**=प्रकाश का हमारे जीवनों में प्रपूरण करनेवाली उषा **प्रति अदर्शि**=प्रतिदिन उदय होती हुई दिखती है। उषा निकलती है, हमें प्रबुद्ध करके हमारे जीवनों को प्रकाश से भर देती है। (२) **सूनरी**=यह हमें उत्तमता से मार्ग पर आगे और आगे ले चलती है। **जनी**=यह हमारे जीवनों में शक्तियों का विकास करती है और **स्वसुः परि**=स्वसृ (=बहिन) के स्थानापन्न रात्रि की समाप्ति पर **व्युच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती है। यह उषा हमारे जीवन के अन्धकार को भी इसी प्रकार दूर भगाती है।

भावार्थ—उषा (क) हमें उत्तम मार्ग पर ले चलती है, (ख) हमारे जीवन में गुणों व शक्तियों का विकास करती है और (ग) प्रकाश का हमारे में प्रपूरण करनेवाली है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'अरुषी-ऋतावरी' उषा

अश्वेव चित्रारुषी माता गवामृतावरी। सखाभूदश्विनोरुषाः॥ २॥

(१) **अश्वा इव**=(अश् व्याप्तौ) जैसे यह उषा कर्मों में व्याप्त होनेवाली है, उसी प्रकार **चित्रा**=ज्ञान को देनेवाली है। **अरुषी**=आरोचमान है, **गवां माता**=प्रकाश की किरणों का निर्माण करनेवाली है, **ऋतावरी**=यह ऋतवाली है-यज्ञोंवाली है। हमें प्रातः प्रबुद्ध होकर कर्त्तव्यकर्मों में लग जाना चाहिए। ज्ञानप्राप्ति के लिए यत्नशील होना चाहिए। हम इस उषा जागरण से अपने जीवन को आरोचमान तेजस्वी बनाएँ। स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञानप्रकाश को बढ़ाते हुए हम यज्ञशील हों। (२) प्रातः प्राणसाधना का उषाकाल **अश्विनोः**=प्राणापान का **सखा अभूत्**=मित्र होता है, अर्थात् इस उषाकाल में प्राणसाधना चलती है। प्रातः प्रबुद्ध होकर, स्नानादि शुद्धि करके, हम सूर्याभिमुख बैठकर प्रतिदिन प्राणापान का अभ्यास करें।

भावार्थ—प्रातः प्रबुद्ध होकर अपने कर्त्तव्यकर्मों में हम लगें, स्वाध्याय करें और यज्ञ में प्रवृत्त हों। प्राणसाधना करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—उषाः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'प्राण, ज्ञान व वसु' प्रदा उषा

उत सखास्यश्विनोरुत माता गवामसि। उतोषो वस्व ईशिषे॥ ३॥

(१) हे **उषः**=उषा! तू **उत**=निश्चय से **अश्विनोः सखा असि**=प्राणापान की मित्र है। प्रातः प्रबुद्ध होकर हमें प्राणायाम द्वारा प्राणों को वश में करने का यत्न करना चाहिए। **उत**=और तू **गवाम्**=ज्ञानरश्मियों की **माता असि**=माता है। यह उषा प्राणसाधना द्वारा हमें ऊर्ध्वरेतस् बनाती है। यह रेतस् ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। इस प्रकार स्वाध्याय से हमारी ज्ञानरश्मियाँ फैलती हैं। (२) **उत**=और हे उषः! तू **वस्वः**=सब वसुओं के **ईशिषे**=ऐश्वर्यवाली है। शरीर में निवास के लिए जो भी आवश्यक तत्त्व हैं, उन्हें तू प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ—उषा प्राणों को, ज्ञान को व वसुओं को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'यावयद्द्वेषा' उषा

यावयद् द्वेषसं त्वा चिकित्वित्सूनृतावरि। प्रति स्तोमैरभुत्स्महि ॥ ४ ॥

(१) हे **चिकित्वत्**=ज्ञान को प्राप्त करानेवाली, **सूनृतावरि**=प्रिय सत्यवाणियोंवाली उषा! **त्वाम्**=तुझे **स्तोमैः**=स्तुतियों द्वारा **प्रति अभुत्स्महि**=प्रतिदिन प्रबुद्ध करते हैं। इस उषाकाल में हम स्वाध्याय द्वारा ज्ञान को बढ़ाते हैं (चिकित्वत्) शान्तचित्त होकर प्रिय सत्यवाणियों को बोलने का ही व्रत लेते हैं (सूनृतावरि) तथा प्रभु स्तवन करते हैं (स्तोमैः)। (२) उस उषाकाल का हम स्तवन करते हैं, जो कि **यावयद् द्वेषसम्**=हमारे से सब द्वेषों को दूर करनेवाला है। उषा के शान्त वातावरण में हम द्वेष आदि बुरी वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—उषाकाल ज्ञान, प्रियसत्यवाणी, निर्द्वेष व प्रभुस्तवन के लिए है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

इन्द्रियों का निर्माण-ज्ञानरश्मियाँ व तेज

प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः। ओषा अप्रा उरु ज्रयः ॥ ५ ॥

(१) इन उषाकालों में **भद्राः**=कल्याणकर **गवां सर्गाः न**=इन्द्रियों के निर्माण की तरह **रश्मयः**=ज्ञानरश्मियाँ **प्रति अदृक्षत**=प्रतिदिन दृष्टिगोचर होती हैं। उषाकाल के जागरण से इन्द्रियों का निर्माण उत्तम होता है, इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है और हमारी ज्ञानरश्मियों का विकास होता है। (२) **उषः**=यह उषावेला **उरु ज्रयः**=विशाल तेज को **आ अप्राः**=हमारे जीवन में समन्तात् भरती है। इस समय सोये हुए पुरुषों के तेज को सूर्य हर लेता है 'उद्यन सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे'।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण (क) इन्द्रियों का उत्तम निर्माण करता है, (ख) ज्ञानरश्मियों को प्राप्त कराता है और (ग) हमारे में तेजस्विता को भरता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

स्वधा का रक्षण

आपप्रुषी विभावरि व्यावर्ज्योतिषा तमः। उषो अनु स्वधामव ॥ ६ ॥

(६) **विभावरि**=ज्ञान के प्रकाशवाली उषः! तू **आपप्रुषी**=हमारे जीवनों में तेज का पूरण करती हुई **ज्योतिषा**=ज्ञान के प्रकाश से **तमः**=अज्ञानान्धकार को **व्यावत्**=दूर करनेवाली हो। (२) हे **उषः**=उषे! तू **अनु**=तेजस्विता व ज्योति को प्राप्त कराने के बाद **स्वधाम्**=आत्मधारणशक्ति को **अव**=हमारे में सुरक्षित कर।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण हमें तेजस्विता व ज्ञान से पूरित करके आत्मधारण शक्ति से युक्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—उषाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'द्यां अन्तरिक्षम्'

आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरु प्रियम्। उषः शुक्रेण शोचिषा ॥ ७ ॥

(१) **उषः**=हे उषे! तू **द्याम्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक को **रश्मिभिः**=ज्ञानरश्मियों से **आ तनोषि**=समन्तात् आतत (व्याप्त) करती है। (२) तथा **उरु**=विशाल **प्रियम्**=प्रीतियुक्त, प्रसादमय

अन्तरिक्षम्=हृदयान्तरिक्ष को **शुक्रेण शोचिसा**=चमकती हुई पवित्रता से-शुचिता से आतत करता है।

भावार्थ—उषाकाल का जागरण यदि हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानरश्मियों से दीप्त करता है, तो हमारे तन को यह चमकती हुई पवित्रता से चमका देता है।

उषाकाल की समाप्ति पर ज्ञान सूर्य का उदय होता है। सो अगला सूक्त सविता का है—

[५३] त्रिपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'असुर प्रचेता' प्रभु

तद्देवस्य सवितुर्वार्यं महद् वृणीमहे असुरस्य प्रचेतसः।
छर्दिर्येन दाशुषे यच्छति त्मना तन्नो महाँ उदयान्देवो अक्तुभिः॥ १॥

(१) **देवस्य**=प्रकाशमय **सवितुः**=प्रेरक प्रभु के **तद्**=उस **वार्यम्**=वरणीय **महत्**=महनीय तेज को **वृणीमहे**=वरते हैं 'तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि'। उस प्रभु के तेज को वरते हैं, जो कि **असुरस्य प्रचेतसः**=(असून् राति) प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं और प्रकृष्ट चेतनावाले हैं। प्रभु शक्ति व ज्ञान के पुञ्ज हैं। हम भी इनके तेज का वरण करते हैं। इसी तेज को धारण करने के लिए यत्नशील होते हैं। (२) **येन**=जिस तेज से वे प्रभु **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए-आत्मार्पण करनेवाले के लिए, **छर्दिः**=शरण को **यच्छति**=देते हैं, **महान् देवः**=वे महादेव **नः**=हमारे लिए **त्मना**=स्वयं **अक्तुभिः**=अपनी प्रकाश की किरणों के साथ **तत्**=उस तेज को **उदयान्**=दें।

भावार्थ—प्रभु 'असुर हैं, प्रचेता' हैं। हमारे लिए प्रभु प्रकाश की किरणों के साथ हमें तेजस्विता प्रदान करें-जो तेजस्विता सब रक्षणात्मक कार्यों में विनियुक्त हो।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'तेजोमय' प्रभु

दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशङ्गं द्रापिं प्रति मुञ्चते कविः।
विचक्षणः प्रथयन्नापृणन्नुर्वजीजनत्सविता सुम्नमुक्थ्यम्॥ २॥

(१) **दिवः धर्ता**=प्रकाश को धारण करनेवाले, **भुवनस्य प्रजापतिः**=सारे ब्रह्माण्ड की प्रजाओं के रक्षक **कविः**=वह क्रान्तदर्शी प्रभु **पिशंगं द्रापिम्**=तेजोमय हिरण्मय कवच को **प्रतिमुञ्चते**=धारण करते हैं। तेजोमय प्रकाशमय रूप में ही प्रतीत होते हैं। (२) **विचक्षणः**=वे विशेषरूप से सब के **सविता**=प्रेरक प्रभु सर्वत्र अपने तेज को **प्रथयन्**=विस्तृत करते हुए और **आपृणन्**=आपूरित करते हुए **उरु**=विशाल **उक्थ्यम्**=स्तुत्य **सुम्नम्**=सुख को **अजीजनत्**=उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—प्रभु तेजोमय हैं। यदि मैं प्रभु का धारण करूँगा, तो वे मुझे विशाल स्तुत्य आनन्द को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'निवेशयन्-प्रसुवन्' प्रभु

आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।
प्र बाहू अस्राक्सविता सवीमनि निवेशयन्प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत् ॥ ३ ॥

(१) **देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **दिव्यानि**=द्युलोकस्थ तथा **पार्थिवा**=इस पृथिवी से संम्बद्ध **रजांसि**=लोक (क्षेत्र) **आप्राः**=(आ अप्राः) आपूरित किये हुए हैं। इनको व्याप्त करनेवाले वे प्रभु **स्वाय धर्मणे**=अपनी धर्म प्रजा के लिये **श्लोकं कृणुते**=यश को करते हैं, अर्थात् अपनी धारणशक्ति के कारण यशस्वी हो रहे हैं। उस विष्णु (व्यापक प्रभु) की महिमा यही है कि वे इस अनन्त से प्रतीयमान ब्रह्माण्ड को भी अपने एकदेश में धारण करके रह रहे हैं 'पादो ऽस्य विश्वा भूतानि'। (२) वे **सविता**=सकल जगदुत्पादक-सबके प्रेरक प्रभु **सवीमनि**=इस उत्पन्न जगत् में सर्वत्र **बाहू**=अपनी भुजाओं को **प्र अस्राक्**=(प्रसारयति) फैलाते हैं। अपनी भुजाओं से इस सारे ब्रह्माण्ड का धारण करते हैं। वे प्रभु **अक्तुभिः**=अपने प्रकाश की किरणों से **जगत्**=सारे ब्रह्माण्ड को **निवेशयन्**=अपने-अपने स्थान पर स्थापित कर रहे हैं और **प्रसुवन्**=सब प्राणियों को प्रेरित कर रहे हैं। प्रभु सविता हैं। प्रकृति के दृष्टिकोण से सब जगत् के उत्पादक हैं और जीव के दृष्टिकोण से सबके प्रेरक हैं। प्रभु की एक भुजा यदि सब पिण्डों को अपने-अपने स्थान में निवेशित करती है, तो दूसरी भुजा सब प्राणियों को कर्त्तव्य का निर्देश करती है।

भावार्थ—प्रभु सब प्राकृतिक पिण्डों का अपने-अपने स्थान में धारण करते हुए (निवेशयन्), उनमें निवास करनेवाले प्राणियों को अपने-अपने कर्त्तव्यों की प्रेरणा दे रहे हैं (प्रसुवन्)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—स्वराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

महो अज्मस्य राजति

अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशद् व्रतानि देवः सविताभि रक्षते।
प्रास्राग्बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यो धृतव्रतो महो अज्मस्य राजति ॥ ४ ॥

(१) **अदाभ्यः**=वे प्रभु किसी से हिंसित होनेवाले नहीं हैं। **भुवनानि प्रचाकशत्**=वे सब भुवनों को प्रकाशित करते हुए हैं। वे **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=प्रेरक प्रभु **व्रतानि अभिरक्षते**=सब पुण्यकर्मों का रक्षण करते हैं 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। (२) इस **भुवनस्य प्रजाभ्यः**=ब्रह्माण्ड की प्रजाओं के लिए **बाहू**=अपनी भुजाओं को **प्रास्राक्**=वे प्रभु फैलाते हैं। गतमन्त्र के अनुसार एक बाहु से यदि ब्रह्माण्ड का धारण करते हैं, तो दूसरी बाहु से सब प्रजाओं को कर्त्तव्यों का निर्देश करते हैं। **धृतव्रतः**=सब व्रतों का धारण करनेवाले वे प्रभु **महः अज्मस्य**=इस महान् ब्रह्माण्ड का **राजति**=शासन करते हैं 'इन्द्रो विश्वस्य राजति' (अज गतौ से 'अज्म', सृ गतौ से 'संसार')।

भावार्थ—प्रभु ही लोकों को प्रकाशित करते हैं प्राणियों को प्रेरणा देते हैं। वे ही सारे ब्रह्माण्ड के शासक हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

'सर्वव्यापक-सर्वरक्षक' प्रभु

त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना।
तिस्रो दिवः पृथिवीस्तिस्र इन्वति त्रिभिर्व्रतैरभि नो रक्षति त्मना ॥ ५ ॥

(१) **सविता**=वह सर्वोत्पादक प्रभु **महित्वना**=अपनी महिमा से **त्रिः अन्तरिक्षम्**='वायु-विद्युत्-वरुण' नामवाले त्रिभेद अन्तरिक्ष को **परिभूः**=व्याप्त करता है। अन्तरिक्ष का निचला प्रदेश वह है, जहाँ वायु बहती है, मध्य प्रदेश में विद्युत् चमकती है, उपरला प्रदेश जलवाष्पों का स्थान है। ये सविता **त्री रजांसि**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक रूप तीनों लोकों को व्याप्त कर रहे हैं। इन लोकों की **त्रीणि रोचना**=तीनों दीप्तियों को, 'अग्नि, विद्युत् व सूर्य को' भी वे प्रभु ही व्याप्त करनेवाले हैं। (२) ये प्रभु **तिस्त्रः दिवः**=द्युलोक के तीनों विभागों को 'इन्द्र, प्रजापति, सत्य नामक तीनों द्युलोक के प्रदेशों को **इन्वति**=व्याप्त करते हैं। (३) **तिस्त्रः पृथिवीः**=पृथिवी के तीन प्रदेशों को भी वे प्रभु व्याप्त किये हुए हैं। पृथिवी के उपरले प्रदेश में प्राणी विचरते हैं, ३४ फीट नीचे जलवाला प्रदेश मध्यम है, उसके नीचे स्वर्ण आदि धातुओं का प्रदेश आता है, यही पृथिवी का केन्द्र प्रदेश है। इन सब को प्रभु व्याप्त किये हुए हैं। (४) ये प्रभु **त्मना**=स्वयं **त्रिभिः व्रतैः**=निर्माण धारण व प्रलय रूप मुख्य कर्मों से अथवा 'सर्दी, गर्मी व वर्षा' रूप ऋतुओं को यथा समय प्राप्त कराने से **नः अभिरक्षति**=हमारा सम्यक् रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। प्रभु ही अपने व्रतों द्वारा सब का रक्षण कर रहे हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'बृहत्सुम्न' प्रभु

बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी।
स नो देवः सविता शर्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरूथमंहसः॥ ६॥

(१) **बृहत्सुम्नः**=विशाल सुखों को देनेवाला, **प्रसवीता**=सर्वोत्पादक, **निवेशनः**=सब को आधार देनेवाला, **जगतः स्थातुः**=जंगम स्थावर **उभयस्य**=दोनों का **यः वशी**=जो वश में करनेवाला है। **सः**=वह **सविता देवः**=प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **नः**=हमारे लिए **शर्म**=सुख को **यच्छतु**=दे। (२) वे प्रभु **अस्मे**=हमारे लिये **क्षयाय**=उत्तम निवास के लिए (क्षि निवासे) **अंहसः**=पाप से **त्रिवरूथम्**=तीन रक्षकों को रक्षा के लिये प्राप्त कराएँ। हमें काम से, क्रोध से व लोभ से वे प्रभु बचाएँ। अथवा शरीर सम्बन्ध के पापों से बचाएँ। अथवा मनु के अनुसार मन, वाणी व शरीर के दोषों से रक्षित करें।

भावार्थ—प्रभु हमें निष्पाप बनाएँ और सुखी करें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'हमारे घरों को उत्तम बनानेवाले' प्रभु

आगन्देव ऋतुभिर्वर्धतु क्षयं दधातु नः सविता सुप्रजामिषम्।
स नः क्षपाभिरहभिश्च जिन्वतु प्रजावन्तं रयिमस्मे समिन्वतु॥ ७॥

(१) **देवः आगन्**=वे प्रकाशमय प्रभु हमें प्राप्त हों। **ऋतुभिः**=सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि ऋतुओं से **वर्धतु**=हमारा वर्धन करें। **नः**=हमारे **क्षयम्**=गृहों को **दधातु**=धारण करें। वे **सविता**=प्रेरक प्रभु **सुप्रजाम्**=उत्तम सन्तानों को व **इषम्**=उत्तम अन्नों को हमारे लिए प्राप्त कराएँ। प्रभु की उपासना में व प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलते हुए हम अपने घरों को उत्तम बना पाएँ। (२) **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **क्षपाभिः च अहभिः**=रात-दिन **जिन्वतु**=उत्तम धनों के देनेवाले हों। वे प्रभु **प्रजावन्तम्**=उत्तम प्रजाओं व सन्तानोंवाले **रयिम्**=धन को **अस्मे**=हमारे लिए **समिन्वतु**=सम्यक् व्याप्त कराएँ। (व्याप्नोतु=प्रापयतु सा०)।

भावार्थ—हमें प्रभु प्राप्त हों-हमारा निरन्तर वर्धन हो। हमारा घर उत्तम बने। हमें उत्तम सन्तान, अन्न व धन प्राप्त हों। जिस घर में प्रभु का उपासन होगा, वह अवश्य उत्तम बनेगा।

अगले सूक्त में भी सविता का ही आराधन है—

[५४] चतुःपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'सदा स्मरणीय' प्रभु

अभूद्देवः सविता वन्द्यो नु न इदानीमह्न उपवाच्यो नृभिः।
वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत्॥ १॥

(१) **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=प्रेरक प्रभु **नु**=अब **नः**=हमारे लिए **वन्द्यः**=अभिवादनीय व स्तुत्य **अभूत्**=होते हैं। **अह्नः**=दिन के **इदानीम्**=इस समय में-जिस भी जीवनयज्ञ के सवन में हमारी स्थिति है, उस समय **नृभिः**=उन्नतिपथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **उपवाच्यः**=वे प्रभु नामस्मरण के योग्य हैं। जीवन का दिन भी 'प्रातः, मध्याह्न, सायं' इन तीन भागों में बटा हुआ है। हम इस दिन के जिस भी समय में हों, अर्थात् बाल्य, युवा व वृद्ध जिस भी अवस्था में हों, सदा उस प्रभु के नाम का जप करते हैं। (२) **यः**=जो प्रभु **मानवेभ्यः**=विचारशील पुरुषों के लिए **रत्ना**=रमणीय धनों को **विभजति**=प्राप्त कराते हैं, वे प्रभु **अत्र**=यहाँ इस जीवन में **नः**=हमारे लिए **श्रेष्ठं द्रविणम्**=उत्तम धनों **यथा**=ठीक रूप में **दधत्**=धारण करें। प्रभु हमें यथायोग्य धनों को प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम सदा प्रभुस्मरण-पूर्वक कार्यों में प्रवृत्त रहें। प्रभुकृपा से हमें उत्तम रत्न प्राप्त हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुन्दर जीवन

देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्।
आदिद्दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः॥ २॥

(१) हे **सवितः**=सर्वोत्पादक, सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **यज्ञियेभ्यः देवेभ्यः**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहनेवाले देवों के लिए **अमृततत्वम्**=अमृतत्व को-नीरोगता को **सुवसि**=प्राप्त कराते हैं। आप इनके लिए **उत्तमं भागम्**=उत्कृष्ट भजनीय धन को प्राप्त कराते हैं। (२) हे सवितः! **आत् इत्**=आप शीघ्र ही **दामानम्**=दान की वृत्तिवाले पुरुष को **व्यूर्णुषे**=प्रकाशमय जीवनवाला करते हैं। आप **मानुषेभ्यः**=विचारशील पुरुषों के लिए **अनूचीना**=(अनु अञ्च) अनुक्रम से चलनेवाले **जीविता**=जीवनों को प्रकाशित करते हैं, अर्थात् इनके जीवन को बड़ा व्यवस्थित व नियमित बनाते हैं।

भावार्थ—यज्ञादि कर्मों में लगे रहने पर नीरोगता व धन प्राप्त होता है। दानशील पुरुष का जीवन प्रकाशमय बनता है। विचारशील पुरुष का जीवन बड़ा व्यवस्थित होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

पापों से दूर

अचित्ती यच्चकृमा दैव्ये जने दीनैर्दक्षैः प्रभूती पूरुषत्वता।
देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः॥ ३॥

(१) हे **सवितः**=सर्वप्रेरक प्रभो! **अचित्ती**=अज्ञानवश **यत्**=जो **दैव्ये जने**=देव की ओर गतिवाले लोगों के विषय में-आपके उपासक भक्तों के विषय में **चकृमा**=हम अपराध कर बैठें, **त्वम्**=आप **अत्र**=इस विषय में **नः**=हमें **अनागसः**=निष्पाप **सुवतात्**=करिए। आपकी प्रेरणा से हमारी प्रवृत्ति इन पापों से दूर हो। (२) **दीनैः**=दीन पुरुषों के साथ **प्रभूती**=प्रकृष्ट ऐश्वर्य के कारण जो अपराध कर बैठें, उससे आप हमें दूर करिए। **दक्षैः**=दक्ष (कुशल) पुरुषों के साथ भी **पुरुषत्वता**=अपने पौरुष के घमण्ड के कारण जो अपराध कर बैठें, उससे आप हमें बचाइये। (३) **च**=तथा **देवेषु**=पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि देवों के विषय में तथा **मानुषेषु**=मनुष्यों के विषय में हम जो अपराध करें, उससे आप हमें बचने की प्रेरणा दीजिए।

भावार्थ—अज्ञानवश, ऐश्वर्यमद में या पौरुष के मद में होनेवाले पापों से प्रभु हमें बचाएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'विश्व धारक' प्रभु

न प्र॒मिये॑ सवि॒तुर्दैव्य॑स्य॒ तद्यथा॒ विश्वं॒ भुव॑नं धारयि॒ष्यति॑।
यत्पृ॑थि॒व्या वरि॑म॒न्ना स्व॑ङ्गु॒रिर्वर्ष्म॑न्दि॒वः सु॒वति॑ स॒त्यम॑स्य॒ तत्॥ ४॥

(१) **दैव्यस्य** (स्वार्थे ष्यञ्) **सवितुः**=उस प्रकाशमय प्रेरक प्रभु का **न प्रमिये**=यह व्रत हिंसित नहीं होता कि **तद्यथा**=सो जैसे वे प्रभु **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को **धारयिष्यति**=धारण करेंगे। प्रभु धारणात्मक कर्म ही करते हैं। प्रभु का प्रलयरूप कर्म भी रात्रि की तरह धारण के लिए ही है। रात्रि जैसे बलवर्धन के लिए आवश्यक है, इसी प्रकार प्रलय भी। (२) प्रभु की यह बात भी हिंसित नहीं हो सकती **यत्**=कि वे प्रभु **पृथिव्याः**=पृथिवी के **वरिमन्**=इस विस्तार में **आ**=सर्वत्र **स्वंगुरिः**=(सु अगि गतौ) उत्तम गतिवाले हैं, प्रभु की एक-एक क्रिया सौन्दर्य को लियें हुए है। उस प्रभु का तो छेदन-भेदन व मारण भी हमारी अमरता के लिए है 'यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्युः'। **दिवः वर्ष्मन्**=द्युलोक के इस उरुत्व में-विस्तार में प्रभु जो कुछ करते हैं, **अस्य**=इन प्रभु का **तत्**=वह कार्य **सत्यम्**=सत्य ही है। सत्यस्वरूप प्रभु के सब कार्य सत्य ही होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के सब कार्य हमारे धारण के लिए ही हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्'

इन्द्र॑ज्येष्ठान्बृ॒हद्भ्यः॒ पर्व॑तेभ्यः॒ क्षयाँ॑ ए॒भ्यः सु॑वसि प॒स्त्याव॑तः।
यथा॑यथा प॒तय॑न्तो वियेमि॒र ए॒वैव त॑स्थुः सवितः स॒वाय॑ ते॥ ५॥

(१) **बृहद्भ्यः**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि के मार्ग पर चलनेवाले **पर्वतेभ्यः**=अपना पूरण करनेवाले **एभ्यः**=इन लोगों के लिए, हे **सवितः**=सर्वोत्पादक प्रभो! **इन्द्रज्येष्ठान्**=(इन्द्रः ज्येष्ठः येषु) प्रभु ही जिनमें ज्येष्ठ हैं, अर्थात् सदा प्रभु के स्मरणवाले **पस्त्यावतः**=उत्तम गृहों (कमरों) वाले **क्षयान्**=निवास-स्थानों को **सुवसि**=आप प्राप्त कराते हैं। (२) इन घरों में रहते हुए वे लोग **यथा यथा**=जैसे-जैसे **पतयन्तः**=आपकी ओर गति करते हुए ये **वियेमिरे**=यम-नियम से युक्त जीवनवाले होते हैं, **एव एव**=उस-उस प्रकार **ते**=आपके **सवाय**=ऐश्वर्य के लिए **तस्थुः**=स्थित होते हैं। ये प्रभुभक्त संयत जीवनवाले होते हुए आपकी ओर आते हैं और आपके ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हमें प्रभु की उपासनावाले गृह प्राप्त हों ऐसे घरों में ही हमारा जन्म हो। वहाँ प्रभु की ओर चलते हुए जीवनवाले बनकर हम प्रभु के ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

यज्ञशीलता व विश्व की अनुकूलता

ये ते त्रिरहन्त्सवितः सवासो दिवेदिवे सौभगमासुवन्ति।
इन्द्रो द्यावापृथिवी सिन्धुरद्भिरादित्यैर्नो अदितिः शर्म यंसत् ॥ ६ ॥

(१) हे **सवितः**=प्रेरक प्रभो! **ये**=जो **अहन्**=दिन में **त्रिः**=तीन बार **सवासः**=यज्ञ हैं–प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन व सायन्तन सवन, **ते**=वे **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **सौभगम्**=उत्तम सौभाग्य को **आसुवन्ति**=प्राप्त कराते हैं। हम प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न व सायं प्रभु का स्मरण करते हुए, अर्थात् सदा प्रभु का स्मरण करते हुए सौभाग्यशील हों। जीवन-दिन का, प्रातः सवन प्रथम २४ वर्ष का है, माध्यन्दिन सवन अगले ४४ वर्ष का और सायन्तन सवन अन्तिम ४८ वर्ष का। इस प्रकार हम आजीवन प्रभु की उपासना के साथ कर्म करें। (२) **इन्द्रः**=वे प्रभु, **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवी लोक, **अद्भिः**=जलों के साथ **सिन्धुः**=ये नदियाँ तथा **आदित्यैः**=सब सूर्यादि देवों के साथ **अदितिः**=यह प्रकृति **नः**=हमारे लिए **शर्म यंसत्**=सुख दे। यज्ञात्मक जीवन होने पर यह सारा ब्रह्माण्ड सुख ही सुख देनेवाला होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर विश्व की अनुकूलता प्राप्त करें।

इस प्रकार यज्ञशील जीवन होने पर सब दिव्यगुणों का विकास होगा, सब देवों की अनुकूलता होगी, सो अगला सूक्त 'विश्वे देवाः' देवता का है—

[५५] पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

वसुओं के रक्षक प्रभु

को वस्त्राता वसवः को वरूता द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नः।
सहीयसो वरुण मित्र मर्तात्को वोऽध्वरे वरिवो धाति देवाः ॥ १ ॥

(१) हे **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोगो! **कः**=वह अनिर्वचनीय प्रभु ही **वः**=आपके **त्राता**=रक्षक हैं। **कः**=वे आनन्दमय प्रभु ही **वरूता**=तुम्हारे सब अशुभों का निवारण करनेवाले हैं। हे **अदिते**=अखण्डनीय **द्यावाभूमी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आप **नः**=हमारा **त्रासीथाम्**=रक्षण करिए। सारा ब्रह्माण्ड हमारे उत्तम निवास के लिए अनुकूल हो। (२) हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **कः**=वे प्रभु ही **अध्वरे**=इस जीवन यज्ञ में **वः**=आपके लिए **वरिवः**=ऐश्वर्य को **धाति**=धारण करते हैं। हे **वरुण**=सब अशुभों का निवारण करनेवाले **मित्र**=सब प्रभीतियों (मृत्यु व पापों) से बचानेवाले प्रभो! **सहीयसः मर्तात्**=हमारा अभिभव करनेवाले मनुष्य से आप हमें रक्षित करिए।

भावार्थ—हम अपने निवास को उत्तम बनाएँ। प्रभु हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ब्रह्मचर्य में व गृहस्थ में

प्र ये धामानि पूर्व्याण्यर्चान्वि यदुच्छान्वियोतारो अमूराः ।
विधातारो वि ते दधुरजस्रा ऋतधीतयो रुरुचन्त दस्माः ॥ २ ॥

(१) **ये**=जो लोग **पूर्व्याणि**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम **धामानि**=तेजों का **प्र अर्चान्**=प्रकर्षेण अर्चन करते हैं, अथवा पूर्व आश्रम में (ब्रह्मचर्याश्रम में) सम्पादनीय वीर्यरूप तेज का अर्चन करते हैं और **यत्**=जब इस तेज के अर्चन द्वारा, ज्ञानाग्नि को दीप्त करके, **वि उच्छान्**=अन्धकार को दूर करते हैं। **वियोतारः**=जो अज्ञानान्धकार को दूर करके बुराइयों को अपने से पृथक् करनेवाले हैं। ये लोग **अमूराः**=अमूढ़ हैं—समझदार हैं। संसार में चलने का तरीका यही है कि पूर्व्य धाम=वीर्य का समादर करें, अज्ञानान्धकार को दूर करें और बुराइयों से अपने को बचाएँ यही ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य है। (२) अब गृहस्थ में आकर **विधातारः**=हम विशेषरूप से धारण करनेवाले बनें। **ते**=वे धारण करनेवाले लोग **अजस्राः**=कार्यों को बीच में ही न छोड़ते हुए (जसु मोक्षणे) **विदधुः**=विशेषरूप से कार्यों को करते हैं। ये गृहस्थ **ऋत धीतयः**=सत्यकर्मा होते हुए-असत्य कर्मों से दूर हटते हुए **दस्माः**=औरों के दुःखों को दूर करनेवाले होकर अथवा दर्शनीय जीवनवाले होकर **रुरुचन्त**=संसार में चमकते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य में हम तेज का धारण करें, अविद्यान्धकार को दूर करें और बुराइयों से अपने को अलग करें। गृहस्थ में धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों, निरन्तर क्रियाशील रहें, सत्यकर्मा व दर्शनीय जीवनवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

(घर को उत्तम बनाना) गृह देवता की उपासना

प्र पस्त्या३मदितिं सिन्धुमर्कैः स्वस्तिमीळे सख्याय देवीम् ।
उभे यथा नो अहनी निपात उषासानक्ता करतामदब्धे ॥ ३ ॥

(१) **पस्त्यां देवीम्**=गृह का उत्तम निर्माण करनेवाली देवी को **सख्याय**=मित्रता के लिए मैं **ईडे**=स्तुत करता हूँ। घर को उत्तम बनाने के नियमों का मैं पालन करता हूँ। **अदितिम्**=(अ-दिति=खण्डन) स्वास्थ्य की देवी का मैं आराधन करता हूँ। **सिन्धुम्**=(स्यन्दते) प्रवाहमय इन रेतःकणों का मैं स्तवन करता हूँ। रेतःकणों के गुणों का ध्यान करके मैं इनके रक्षण के लिए यत्नशील होता हूँ। **अर्कैः**=मन्त्रों द्वारा मैं **स्वस्तिम्**=कल्याण की देवी का पूजन करता हूँ। ये स्तुति मन्त्र मुझे कल्याण के मार्ग से भटकने नहीं देते। (२) इन सब का मैं आराधन करता हूँ **यथा**=जिससे **उभे**=दोनों दिन-रात **नः**=हमें **निपातः**=नितरां रक्षित करते हैं। **अदब्धे**=अहिंसित होते हुए **उषासानक्ता**=दिन-रात हमारे लिए शुभों को ही **करताम्**=करनेवाले हों। दिन-रात का अहिंसित होना यही है कि हम समय को व्यर्थ में व्ययित न करके उनका सदुपयोग ही करें। (३) सब से मुख्य गृहस्थ धर्म यही है कि हम गृह को उत्तम बनाएँ। यही गृह देवता की उपासना है। इसके लिए स्वास्थ्य को ठीक रखना आवश्यक है। यही अदिति का उपासन है। स्वास्थ्य के लिए रेतःकणों का रक्षण आवश्यक है। यही सिन्धु की उपासना है। ऐसा होने पर ही कल्याण होता है। यही स्वस्ति का उपासन हो जाता है।

भावार्थ—हम घर को अच्छा बनाएँ। स्वस्थ रहें। रेतःकणों का रक्षण करें। प्रभु-स्मरणपूर्वक

कल्याण के मार्ग पर चलें। इस प्रकार प्रभु दिन-रात हमारा कल्याण ही करेंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

सुमार्ग

व्य॑र्य॒मा वरु॑णश्चेति॒ पन्था॑मि॒षस्पति॑ः सुवि॒तं गा॒तुम॒ग्निः।
इन्द्रा॑विष्णू नृ॒वदु॒ षु स्तवा॑ना॒ शर्म॑ नो यन्त॒मम॑व॒द्वरू॑थम्॥ ४॥

(१) **अर्यमा**='अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति' देने की वृत्ति-अलोभ की वृत्ति **पन्थाम्**=मार्ग को **विचेति**=हमें बतलाती है। **वरुणः**=द्वेष-निवारण की देवी व व्रतबन्धन की देवी मार्ग को बतलाती है। **इषस्पतिः**=वह सब प्रेरणाओं का स्वामी प्रभु **सुवितं गातुम्**=शुभगमन-शुभ-आचरणवाले मार्ग को बतलाता है। **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु हमें सुवित गातु का उपदेश करता है। वस्तुतः मार्ग यही है कि (क) हम देनेवाले बनें, (ख) व्रतबन्धन में अपने को बाँधे, द्वेष को दूर करें, (ग) प्रभुप्रेरणा को सुनें, (घ) अग्रगति की भावनावाले हों। (२) **इन्द्राविष्णू**='इन्द्र' शक्ति का प्रतीक है, 'विष्णु' व्यापकता का। ये इन्द्र और विष्णु-शक्ति व व्यापकता की देवियाँ **स्तवाना**=स्तुति की जाती हुई **उ षु**=निश्चय से अच्छी प्रकार **नः**=हमारे लिए **नृवत् शर्म**=प्रशस्त मनुष्योंवाले घर को 'यथानः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्' तथा **अमवत्**=शक्ति से युक्त **वरूथम्**=(Wealth) धन को **यन्तम्**=दें। वस्तुतः घर वही अच्छा बनता है, जहाँ शक्ति व उदारता हो-जहाँ मनुष्यों का स्वभाव नम्र हो, शरीर में शक्ति हो और धन हो।

भावार्थ—हम सुमार्ग पर चलें और घरों को अच्छा बनाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

स्वस्थ निष्पापजीवन

आ पर्व॑तस्य म॒रुता॒मवां॑सि दे॒वस्य॑ त्रा॒तुर॑व्रि॒ भग॑स्य।
पात्पति॒र्जन्या॒दंह॑सो नो मि॒त्रो मि॒त्रिया॑दु॒त न॑ उरुष्येत्॥ ५॥

(१) मैं **पर्वतस्य**=शरीरस्थ इस मेरु-पर्वत के (रीढ़ की हड्डी के), **मरुताम्**=प्राणों के, **त्रातुः देवस्य**=उस रक्षक प्रभु के **भगस्य**=ऐश्वर्य की देवी के **अवांसि**=रक्षणों का **आ अव्रि**=सर्वथा वरण करता हूँ। मेरुदण्ड को सदा सीधा रखना स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक है। प्राणसाधना मन की निर्मलता का साधन बनती है। रक्षक प्रभु का स्मरण हमें शक्ति-सम्पन्न व आत्मविश्वासवाला बनाता है। ऐश्वर्य संसारयात्रा की पूर्ति का साधन बनता है। एवं ये सब वस्तुएँ मिलकर हमारा पूर्ण रक्षण करती हैं। (२) **पतिः**=(यादसांपतिः अप्पतिः=वरुण) वह रक्षक वरुण **नः**=हमें **जन्यात्**=लोगों के विषय में हो जानेवाले **अहसः**=पाप से **पात्**=रक्षित करे। हम इस प्रकार व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधें और द्वेष से अपने को दूर करें कि हम लोगों के लिए कष्ट का कारण न बनें। **उत**=और **मित्रः**=वह पापों से बचानेवाला प्रभु **मित्रियात्**=मित्रों के विषय में हो जानेवाले पाप से **नः**=हमें **उरुष्येत्**=बचाए।

भावार्थ—हम रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें, प्राणायाम करें, प्रभुस्मरण करें, ऐश्वर्य का सम्पादन करें, लोगों व मित्रों के विषय में पाप करने से बचें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

प्रभुस्मरण

नू रोदसी अहिना बुध्न्येन स्तुवीत देवी अप्येभिरिष्टैः।
समुद्रं न संचरणे सनिष्यवो घर्मस्वरसो नद्यो३ अप व्रन्॥ ६॥

(१) नु=अब **अहिना बुध्न्येन**=अहीन बुध्नवाले-अहीन आधारभूत प्रभु की प्राप्ति के दृष्टिकोण से **रोदसी**=द्यावापृथिवी **स्तुवीत**=हमारे से स्तुत हों। हम इन द्यावापृथिवी का स्तवन करें। इनके स्तवन में हम इनके उस अहीन आधारभूत प्रभु की महिमा को भी देखनेवाले बनेंगे। प्रभु ही तो इनको आधार दे रहे हैं, इस अनन्त से प्रतीयमान रोदसी के धारण करनेवाले वे प्रभु कितने ही महान् होंगे? (२) **अप्येभिः इष्टैः**=प्राप्त करने योग्य इष्ट पदार्थों के हेतु से **देवी**=यह सब व्यवहारों व गतियों को करनेवाली स्वास्थ्य की देवी (अ-दिति) हमारे से आराधित होती है। स्वास्थ्य ही सब इष्ट पुरुष का मूल है 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'। (३) **सनिष्यवः**=धनप्राप्ति की कामना करना **न**=जैसे **संचरणे**=मार्गों पर चलने के अवसर में **स-मुद्रम्**=उस आनन्दमय प्रभु का स्मरण करना इसी प्रकार **घर्मस्वरसः**=दीप्त-स्तुति के शब्दोंवाले (धर्मः दीप्त, स्वृ=शब्दे) पुरुष ही **नद्यः अपव्रन्**=इन ज्ञान-नदियों के प्रवाहों को खोल डालते हैं। प्रभुस्तवन से ही धनार्थी धन प्राप्त करते हैं और ज्ञानार्थी ज्ञान-नदियों के प्रवाहों में स्नान करते हैं। वैदिक साहित्य में ज्ञान को देनेवाला आचार्य भी 'समुद्र' है 'तपो प्रतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे'। ज्ञान का प्रवाह भी 'सरस्वती' नदी का प्रवाह है, इसमें स्नान करके विद्यार्थी 'स्नातक' बनता है।

भावार्थ—रोदसी (द्यावापृथिवी) का स्मरण, इनके आधारभूत 'अहिर्बुध्न्य' प्रभु का स्मरण कराता है। प्रभुस्मरण से प्राप्त स्वास्थ्य सब पुरुषार्थों का आधार बनता है। प्रभुस्मरण से धनार्थी धन लाभ करता है और ज्ञानार्थी ज्ञान को प्राप्त करता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः ॥ स्वरः—पञ्चमः ॥

सात्त्विक अन्न व दिव्य जीवन

देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन्।
नहि मित्रस्य वरुणस्य धासिमर्हामसि प्रमियं सान्वग्नेः॥ ७॥

(१) **देवी**=सब व्यवहारों व गतियों को सिद्ध करनेवाली **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवी **नः**=हमें **निपातु**=नितरां रक्षित करे। **त्राता देवः**=वह रक्षक प्रभु **अप्रयुच्छन्**=सदा अप्रमत्त होता हुआ **त्रायताम्**=हमारा रक्षण करे, अर्थात् स्वास्थ्य का व प्रभुस्मरण का हम सदा ध्यान करें, इनमें प्रमाद न करें। (२) हम **मित्रस्य**=मित्र के **वरुणस्य**=वरुण के तथा **अग्नेः**=अग्नि के **सानु**=समुच्छ्रित-सर्वोन्नत **धासिम्**=आहार को **प्रमियम्**=हिंसित करने के लिए **नहि अर्हामसि**=नहीं योग्य हैं, अर्थात् हम सात्त्विक अन्न का ही प्रयोग करें, जिससे कि हम 'मित्र, वरुण व अग्नि' बनें, सब के साथ स्नेहवाले, निर्द्वेष व अग्रगतिवाले।

भावार्थ—हम स्वास्थ्यप्राप्ति व प्रभुस्मरण में अप्रमत्त हों। सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए 'सब के साथ स्नेह करनेवाले, निर्द्वेष व प्रगतिशील' बनें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

वसव्य+सौभग

अ॒ग्निरी॑शे वसु॒व्य॑स्या॒ग्निर्म॒हः सौभ॑गस्य। तान्य॒स्मभ्यं॑ रासते ॥ ८ ॥

(१) **अग्निः**=सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले प्रभु **वसव्यस्य**=सब धनसमूहों के **ईशे**=ईश हैं-प्रभु सब धनों के स्वामी हैं। **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु ही **महः सौभगस्य**=महान् सौभाग्य के ईश हैं। (२) **तानि**=उन वसव्यों व सौभगों को **अस्मभ्यम्**=हम उपासकों के लिए **रासते**=वे देते हैं कि सच्ची उपासना यही है कि हम सब के मित्र व निर्द्वेष बनकर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले बनें। जब हम इस प्रकार प्रगतिशील होंगे तो धनसमूहों व सौभगों को अवश्य प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—हम अग्नि के उपासक बनें, अर्थात् अपने अन्दर **अग्नित्व**=प्रगतिशीलता को धारण करें। इसी से हमें धन व सौभाग्य प्राप्त होंगे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

'मघोनी-सूनृता-वाजिनीवती' उषा

उषो॑ मघो॒न्या व॑ह॒ सूनृ॑ते॒ वार्या॑ पु॒रु। अ॒स्मभ्यं॑ वाजिनीवति ॥ ९ ॥

(१) हे **उषः**=उषा की देवी! तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **पुरुवार्या**=पालक व पूरक वरणीय धनों को **आवह**=प्राप्त करा। हम उषा में प्रबुद्ध होकर स्वकार्य तत्पर होते हुए वरणीय धनों को प्राप्त करनेवाले बनें। (२) हे उषः! तू (क) **मघोनि**=सब ऐश्वर्योंवाली है अथवा (मघः मखः यज्ञ) सब यज्ञोंवाली है। हम ऐश्वर्यों को प्राप्त करें और यज्ञों में उनका विनियोग करें। (ख) **सूनृते**-हे उषः! तू प्रिय सत्यवाणीवाली है। तेरे में प्रबुद्ध होते हुए हम सदा प्रिय सत्यवाणी को ही बोलें। (ग) **वाजिनीवति**=तू प्रशस्त अन्नोंवाली है। उषा के उपासक हम सदा सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें।

भावार्थ—हम उषाकाल में जाएँ। यज्ञों में प्रवृत्त हों, प्रिय सत्यवाणी को ही बोलें और सात्त्विक अन्न का सेवन करें। यह उषा हमें सब वरणीय धनों को प्राप्त कराएगी।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

धन+धन का स्वामी (प्रकृति+परमेश्वर)

तत्सु नः॑ सवि॒ता भगो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॑र्य॒मा। इन्द्रो॑ नो॒ राध॒सा ग॑मत् ॥ १० ॥

(१) उषा **नः**=हमें **तत्**=उस धन को दे, जिस **सुराधसा**=उत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ **सविता**=वह प्रेरक प्रभु **आगमत्**=हमें प्राप्त हो। जिससे **भगः**=वह ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु हमारे जीवन-यज्ञ में उपस्थित हो। ऐसा न हो कि ऐश्वर्यों को प्राप्त करके ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु को हम भूल जाएँ। उस प्रभु की प्रेरणा को हम सदा सुननेवाले ही बने रहें। (२) उस ऐश्वर्य के साथ **वरुणः**=वरुण **मित्रः**=मित्र **अर्यमा**=सर्वप्रदाता **इन्द्रः**=ऐश्वर्यशाली प्रभु भी हमें प्राप्त हो। इन वाक्यों से प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी निर्द्वेष (वरुण) सब के प्रति स्नेहवाले (मित्र) त्याग व दान की वृत्तिवाले (अर्यमा) जितेन्द्रिय (इन्द्र) बनें।

भावार्थ—हम धनों को प्राप्त करें। साथ ही धनों के स्वामी प्रभु को न भूलकर 'निर्द्वेष, स्नेही, दाता व जितेन्द्रिय' बनें।

ऐसा होने पर अर्थात् धन के साथ धन स्वामी को न भूलने पर हमारे द्यावापृथिवी, मस्तिष्क

व शरीर बड़े उत्तम बनेंगे। इन 'द्यावापृथिवी' का वर्णन अगले सूक्त में है—

[५६] षट्पञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

'शुचयद्भिरर्कैः, पप्रथानेभिरेवैः'

मही द्यावापृथिवी इह ज्येष्ठे रुचा भवतां शुचयद्भिरर्कैः।
यत्सीं वरिष्ठे बृहती विमिन्वन्रुवद्धोक्षा पप्रथानेभिरेवैः॥ १॥

(१) **इह**=इस हमारे जीवन-यज्ञ में **मही द्यावापृथिवी**=ये महनीय-अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क व शरीर रूप द्यावापृथिवी **रुचा**=दीप्ति से **ज्येष्ठे**=अत्यन्त प्रशस्त **भवताम्**=हों। मस्तिष्क ज्ञानदीप्ति से तथा शरीर तेजस्विता की दीप्ति से दीप्त हो। (२) **यत्**=अब **सीम्**=निश्चय से **रुवत् उक्षा**=प्रभु-स्तवन करता हुआ और प्रभु-स्तवन के द्वारा शरीर व मस्तिष्क को सोम (वीर्य) से सिक्त करता हुआ (प्रभु-स्तवन से ही तो सोम का रक्षण होता है) यह पुरुष **शुचयद्भिः अर्कैः**=जीवन को पवित्र बनानेवाले मन्त्रों से तथा **पप्रथानेभिः एवैः**=विस्तार को प्राप्त होती हुई गतियों से-उदार कर्मों से इनको **वरिष्ठे**=उरुतर (विशाल) व **बृहती**=प्रवृद्ध शक्तिवाला **विमिन्वन्**=बनाता है। मस्तिष्क को 'शुचयद्भिः अर्कैः' पवित्र ज्ञानप्रद मन्त्रों से उरुतर (विशाल) बनाता है तथा उदार कर्मों से शरीर को प्रवृद्ध शक्तिवाला। ऐसा करने पर हमारे द्यावापृथिवी महनीय व ज्येष्ठ बनते हैं, चमक उठते हैं।

भावार्थ—हम सोमरक्षण के द्वारा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाएँ तथा शरीर को तेजस्विता से चमका दें। हम पवित्र ज्ञान की वाणियों व उदार कर्मों को अपनानेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

ऋतावरी अद्रुहा

देवी देवेभिर्यजते यजत्रैरमिनती तस्थतुरुक्षमाणे।
ऋतावरी अद्रुहा देवपुत्रे यज्ञस्य नेत्री शुचयद्भिरर्कैः॥ २॥

(१) गतमन्त्र में वर्णित द्यावापृथिवी (मस्तिष्क व शरीर) **देवेभिः**=दिव्यगुणों से **देवी**=प्रकाशमय होते हुए **यजत्रैः**=यष्टव्य (यज पूजायाम्) पूजनीय बातों से **यजते**=आदरणीय होते हैं-मस्तिष्क अपनी ज्ञानप्राप्ति के कारण तथा शरीर तेजस्विता के कारण। **अमिनती**=हमारा हिंसन न करते हुए ये **उक्षमाणे**=परस्पर सिक्त होते हुए **तस्थतुः**=स्थिरता को प्राप्त होते हैं। वीर्यसेचन ही शरीररूप पृथिवी को दृढ़ और मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानदीप्त करता है। (२) ये द्यावापृथिवी **शुचयद्भिः अर्कैः**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले इन मन्त्रों से (ज्ञान-वचनों से) **ऋतावरी**=ऋतवाले होते हैं-यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। **अद्रुहा**=परस्पर द्रोहरहित होते हैं-शरीर मस्तिष्क का व मस्तिष्क शरीर का ध्यान करता है। ये दोनों **देवपुत्रे**=दिव्यगुणों को जन्म देनेवाले होते हैं-देव इनके पुत्र होते हैं। ये **यज्ञस्य नेत्री**=जीवनयज्ञ का उत्तम प्रणयन करते हैं।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर परस्पर मिलकर उन्नत होते हुए हमारे जीवन-यज्ञ का सुन्दर प्रणयन करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥ स्वरः—पञ्चमः॥

स्वपाः

स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान।
उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत्॥ ३॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार **यः**=जो **इमे**=इन **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर को **जजान**=विकसित शक्तिवाला करता है **सः इत्**=वह ही **भुवनेषु**=इन लोकों में **स्वपाः आस**=उत्तम कर्मोंवाला होता है। केवल शरीर का स्वास्थ्य हमें उत्तम कर्मों में समर्थ नहीं करता और केवल मस्तिष्क का ज्ञान भी। स्वास्थ्य व ज्ञान का समन्वय-इनका परस्पर अद्रोह ही हमें 'स्वपाः' बनाता है। (२) **धीरः**=एक धीर पुरुष **शच्या**=शक्ति व प्रज्ञान द्वारा इन द्यावापृथिवी को **अ-वंशे** उत्पत्तिरहित अथवा निराधार होते हुए उस सर्वाधार प्रभु में (जो वंशरहित है, उस प्रभु में) **समैरत्**=प्रेरित करता है। धीर पुरुष शरीर व मस्तिष्क को प्रभु की ओर ले चलता है। वस्तुतः इसीलिए इसके ये मस्तिष्क व शरीर **उर्वी**=विशाल **गभीरे**=गांभीर्य को लिये हुए **रजसी**=रञ्जनात्मक-प्रसन्नता को उत्पन्न करनेवाले व **सुमेके**=उत्तम निर्माणवाले होते हैं (सु-मेक=make)।

भावार्थ—हम द्यावापृथिवी को-मस्तिष्क व शरीर को विकसित शक्तिवाला करके उत्तम कर्मोंवाले बनें। इन्हें हम शक्ति व प्रज्ञानयुक्त कर प्रभु की ओर प्रेरित करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पत्नी की अनुकूलता

नू रोदसी बृहद्भिर्नो वरूथैः पत्नीवद्भिरिषयन्ती सजोषाः।
उरूची विश्वे यजते नि पातं धिया स्याम रथ्यः सदासाः॥ ४॥

(१) **नु**=अब **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **नः**=हमारे लिए **बृहद्भिः वरूथैः**=वृद्धि के कारणभूत धनों के साथ **सजोषाः**=समानरूप से प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों। हमारा मस्तिष्क हमें ज्ञानधन प्राप्त कराए तो शरीर शक्तिधन को। **पत्नीवद्भिः**=उत्तम पत्नी दोनों धनों के साथ **इषयन्ती**=हमारे लिए ये द्यावापृथिवी उत्तम अन्नों को चाहनेवाले हों। घरों में पत्नी की अनुकूलता हो और प्रशस्त अन्न की कमी न हो। (२) हमारे ये द्यावापृथिवी **उरूची**=विशाल गतिवाले हों मस्तिष्क भी उदार और शरीर भी उदार। **विश्वे**=ये सारे अर्थात् पूर्ण (whole) हों-इनमें कमी न हो। **यजते**=ये यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले होते हुए **निपातम्**=निश्चय से हमारा रक्षण करें। (२) हम **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों द्वारा (धी=बुद्धि, कर्म) **रथ्यः**=उत्तम शरीर-रथवाले व **सदा-साः**=सदा उस प्रभु का सम्भजन करनेवाले हों।

भावार्थ—हमें उत्तम धन व अन्न प्राप्त हों। पत्नी की अनुकूलता से हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों ठीक हों। बुद्धिपूर्वक कर्मों को करते हुए हम उत्तम शरीर-रथवाले, सदा प्रभु का सम्भजन करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥ स्वरः—षड्जः॥

'द्यवी-शुची'

प्र वां महि द्यवी अभ्युपस्तुतिं भरामहे। शुची उप प्रशस्तये॥ ५॥

(१) हे **द्यवी**=द्योतमान-ज्ञान व शक्ति से चमकते हुए-द्यावापृथिवी (मस्तिष्क व शरीर)

वाम्=आपकी **महि उपस्तुतिम्**=महनीय स्तुति को **अभि प्रभरामहे**=प्रातः-सायं धारण करते हैं। प्रातः-सायं दोनों समय मस्तिष्क व शरीर को उत्तम बनाने का ध्यान करते हैं। (२) **शुची**=पवित्र मस्तिष्क व शरीर को **प्रशस्तये**=प्रशस्त जीवन के लिए **उप (गच्छामः)**=समीपता से प्राप्त होते हैं। मस्तिष्क व शरीर दोनों पवित्र हों, तो सब कर्म प्रशस्त ही होते हैं।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर 'द्यवी शुची'=दीप्त व पवित्र हों।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—विराड्गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

ऋतमय जीवन

पुनाने तन्वा मिथः स्वेन दक्षेण राजथः। ऊह्याथे सनादृतम् ॥ ६ ॥

(१) ये द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **मिथः**=परस्पर **तन्वा**=शक्ति के विस्तार के साथ **पुनाने**=एक-दूसरे को पवित्र करते हुए (शरीर स्वस्थ हो तो मस्तिष्क स्वस्थ लगता है। मस्तिष्क स्वस्थ हो तो शरीर स्वस्थ होता है) **स्वेन**=अपने **दक्षेण**=बल से **राजथः**=दीप्त होते हैं। मस्तिष्क ज्ञान से चमकता है, तो शरीर शक्ति से दीप्त है। (२) ये मस्तिष्क और शरीर **सनाद्**=सदा से **ऋतम्**=यज्ञ का-जो भी ठीक है, उसका **ऊह्याथे**=वहन करते हैं। मस्तिष्क व शरीर के ठीक होने से जीवन ऋतमय बनता है।

भावार्थ—मस्तिष्क व शरीर एक दूसरे की शक्ति का वर्धन करते हुए जीवन को ऋतमय बनाते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्दः—गायत्री ॥ स्वरः—षड्जः ॥

जीवन-यज्ञ का रक्षण

मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ऋतम्। परि यज्ञं नि षेदथुः ॥ ७ ॥

(१) **मही**=ये महनीय-महत्त्वपूर्ण द्यावापृथिवी-मस्तिष्क व शरीर **मित्रस्य**=अपने मित्र के-जो भी व्यक्ति मस्तिष्क व शरीर की उन्नति के लिए कटिबद्ध होता है, उसके **ऋतम्**=इस जीवन-यज्ञ को **साधथः**=सिद्ध करते हैं। **तरन्ती**=ये इस जीवन-यज्ञ में आनेवाले सब विघ्नों को तैर जाते हैं और **पिप्रती**=इस जीवन-यज्ञ का सम्यक् पूरण करते हैं। (२) ये द्यावापृथिवी इस **यज्ञं परि निषेदथुः**=यज्ञ को (परितः) सब ओर से आश्रय करते हैं-सर्वतोभावेन जीवन-यज्ञ का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—इस जीवन-यज्ञ को उत्तम बनाने के लिए 'महायन्त्र प्रधान संस्कृति' घातक ही है, कृषि-प्रधान संस्कृति ही जीवन को उत्तम बना सकती है। सो उसका चित्रण अगले सूक्त में करते हैं—

[५७] सप्तपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—क्षेत्रपतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

क्षेत्रपति प्रभु

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि। गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे ॥ १ ॥

(१) **क्षेत्रस्य पतिना**=सब क्षेत्रों के स्वामी उस प्रभु के साथ **वयम्**=हम **हितेन इव**=जैसे मित्र के साथ, उसी प्रकार **गाम्**=गौओं को, **अश्वम्**=अश्वों को और **आ पोषयित्नु**=समन्तात् पोषण करनेवाले धन को **जयामसि**=जीतते हैं। दसवें मण्डल में कहेंगे कि 'तत गावः' उस कृषि-

प्रधान जीवन में गौवें हैं। इसी प्रकार कृषि-प्रधान जीवन में घोड़ों व आवश्यक धनों की कमी नहीं रहती। यह आवश्यक है कि हम प्रभु के स्वामित्व को भूल न जाएँ। अपने को ही मालिक मान गर्वीले न हो जाएँ। (२) **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **ईदृशे**=ऐसे धनों के होने पर **मृडाति**=सुखी करते हैं। जब हमारा जीवन कृषि-प्रधान होता है, तो सब जीवन के आवश्यक धन प्राप्त होते हैं और जीवन स्वर्गमय बना रहता है।

भावार्थ—हम 'सीरा युञ्जन्ति कवयः' कवि बनकर कृषि-प्रधान जीवन बिताएँ। वहाँ गौवों, घोड़ों व आवश्यक धनों को प्राप्त करके सुखी जीवनवाले हों। अपने क्षेत्र का पति प्रभु को ही जानें।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—क्षेत्रपतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

दूध, घी, माधुर्य, प्रकाश व ऋत

क्षेत्र॑स्य पते॒ मधु॑मन्तमू॒र्मिं धे॒नुरि॑व॒ पयो॑ अ॒स्मासु॑ धुक्ष्व।
म॒धु॒श्चुतं॑ घृ॒तमि॑व॒ सुपू॑तमृ॒तस्य॑ नः॒ पत॑यो मृळयन्तु ॥ २ ॥

(१) हे **क्षेत्रस्य पते**=सब क्षेत्रों के स्वामिन् प्रभो! **अस्मासु**=हमारे में **मधुमन्तम्**=अत्यन्त मायुर्ध को लिये हुए **ऊर्मिम्**=(Light) प्रकाश को उसी प्रकार **धुक्ष्व**=प्रपूरित करिए, **इव**=जैसे कि **धेनुः**=गौ **पयः**=दूध को हमारे में पूरित करे। कृषि-प्रधान जीवन में प्रभु गौवों के द्वारा दूध को प्राप्त कराके हमें सात्त्विक बुद्धिवाला बनाएँगे। इसी सात्त्विक बुद्धि से हमारा जीवन माधुर्य व प्रकाश से परिपूर्ण होगा। (२) **मधुश्चुतम्**=माधुर्य को टपकानेवाले **सुपूतम्**=उत्तम पवित्र **घृतं इव**=घृत की तरह प्रभु हमें माधुर्ययुक्त प्रकाश को भी प्राप्त कराएँ। कृषि-प्रधान जीवन में जैसे पवित्र दूध था, उसी प्रकार यह अति पवित्र घृत है। इनके परिणामस्वरूप वहाँ माधुर्य व प्रकाश है। (२) इस कृषि-प्रधान जीवन में **ऋतस्य पतयः**=यज्ञों के रक्षक देव **नः**=हमें **मृडयन्तु**=सुखी करें। यहाँ हमारा जीवन यज्ञात्मक बना रहे और अनृत से हम दूर रहें। कृषि के साथ अज्ञान कहीं न आ जाए। यह अज्ञान इस ऋतमय कृषि को 'अनृत' ही बना डालेगा।

भावार्थ—कृषि-प्रधान जीवन में प्रभु हमें उत्तम दूध, पवित्र घृत, माधुर्य व प्रकाश को प्राप्त कराएँ। प्रकाश से परिपूर्ण यह जीवन ऋतमय बना रहे। (अज्ञान तो इसे अनृत बना देगा। उस समय मनुष्य गेहूँ की जगह तम्बाकू ही पैदा करने लगेगा)।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—क्षेत्रपतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

माधुर्य ही माधुर्य

मधु॑मती॒रोष॑धी॒र्द्याव॒ आपो॒ मधु॑मन्नो भवत्व॒न्तरि॑क्षम्।
क्षेत्र॑स्य॒ पति॒र्मधु॑मान्नो अ॒स्त्वरि॑ष्यन्तो॒ अन्वे॑नं चरेम ॥ ३ ॥

(१) इस कृषि-प्रधान जीवन में **ओषधीः मधुमतीः**=ओषधियाँ माधुर्यवाली हों। **द्यावः**=द्युलोक व वहाँ से बरसनेवाले **आपः**=जल माधुर्यवाले हों। द्युलोकस्थ सूर्य ने ही तो हमारे क्षेत्रस्थ अन्नों को परिपक्क करना है। वायु देवता का निवास-स्थान यह **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **नः**=हमारे लिए **मधुमत् भवतु**=माधुर्यवाला हो। इसी वायु का नत्रजन (गैस) ही तो हमारे खेतों को उपजाऊ बनाएगा। (२) **क्षेत्रस्य पतिः**=सब क्षेत्रों का स्वामी प्रभु **नः**=हमारे लिए **मधुमान् अस्तु**=माधुर्यवाला हो-प्रभु की अनुकूलता से ही यह मही शस्यशालिनी होती है। **अरिष्यन्तः**=अहिंसित होते हुए हम **एनं अनुचरेम**=प्रभु की अनुकूलता में गतिवाले हों। प्रभु-स्मरण ही हमें

वासनाओं से हिंसित होने से बचाएगा।

भावार्थ—ओषधियाँ, द्युलोक, जल, अन्तरिक्ष और इनके स्वामी वे प्रभु सब हमारे लिए माधुर्य प्रदान करनेवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—शुनः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

सब सुखकर हो

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥ ४॥

(१) इस कृषि में **वाहाः**=हल को चलानेवाले बैल **शुनम्**=सुख से अपना कार्य करें। **नरः**=उन बैलों को हाँकनेवाले पुरुष भी **शुनम्**=सुख से अपना कार्य करें। **लांगलम्**=हल भी **शुनम्**=सुख-सुविधा से **कृणतु**=भूमि को जोते। (२) **वरत्राः**=रज्जुएँ भी **शुनम्**=सुखकर होकर **बध्यन्ताम्**=बाँधी जाएँ। तथा हे पुरुष! **अष्ट्राम्**=इस प्रतोद (चाबुक) को **शुनम्**=सुखकर रूप में ही **उद् इंगय**=ऊपर उठा। क्रूरता से इसका प्रयोग करने का अवसर ही न आए।

भावार्थ—बैल, मनुष्य, हल, रस्सियाँ और चाबुक सब सुखकर हों। इनका व्यवहार व प्रयोग इस रूप में हो कि सुखवृद्धि ही हो-उसमें कमी न आये।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—शुंनासीरौ॥ छन्दः—पुरउष्णिक्॥ स्वरः—ऋषभः॥

शुनासीरौ

शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम्॥ ५॥

(१) 'शुनो वायुः शु एति अन्तरिक्षे, सीरः आदित्यः सरणात्' नि० ९।४० के अनुसार **शुनासीरौ**=वायु और सूर्य **इमां वाचं जुषेथाम्**=हमारी इस वाणी का प्रीतिपूर्वक सेवन करें, **यत्**=कि **दिवि**=द्युलोक में ये **पयः चक्रथुः**=जल को करें और **तेन**=उस जल से **इमाम्**=इस भूमि को **उपसिञ्चतम्**=सींचें। (२) सूर्य से ही जल वाष्पीभूत होकर द्युलोक में पहुँचता है और उससे बने हुए पर्जन्यों को वायुएँ ही उस-उस स्थान पर प्राप्त कराती हैं। इन दोनों के द्वारा जल से सींची गयी यह पृथिवी जिस अन्न को पैदा करती है, वह सर्वाधिक गुणकारी होता है।

भावार्थ—वायु व सूर्य द्युलोक में मेघों को जन्म देकर पृथिवी को सींचें और हमें मधुर अन्न प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सीता॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

सीता

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा। यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि॥ ६॥

(१) हे **सीते**=भूमिकर्षिके (द०)-हल की फाली! तू **अर्वाची भव**=(अर्वाक् अञ्चति) भूमि में पर्याप्त नीचे जानेवाली हो। कुछ गहरी ही भूमि खुदेगी तो उसकी उपजाऊ शक्ति बढ़ेगी, सूर्य की किरणों का अधिक भूभाग तक सम्पर्क होगा, यह सम्पर्क उसे उपजाऊ बनाएगा। हे **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्य की कारणभूत **सीते त्वा वन्दामहे**=तेरा हम स्तवन-गुणवर्णन करते हैं। इस स्तवन से तेरे महत्त्व को समझकर हम तेरा ठीक प्रयोग करते हैं। (२) यह हम इसलिए करते हैं कि **यथा**=जिससे तू **नः**=हमारे लिए **सुभगा**=उत्तम ऐश्वर्य को देनेवाली **अससि**=होती है, **यथा**=जिससे **नः**=हमारे लिये **सुफला**=उत्तम फलोंवाली **अससि**=होती है।

भावार्थ—हम सीता (लांगल पद्धति) के महत्त्व को समझकर गहराई तक भूमि को जोतें, जिससे उत्तम कृषि होकर हमारा ऐश्वर्य बढ़े।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—सीता॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥ स्वरः—गान्धारः॥

इन्द्रः-पूषा

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ ७॥

(१) **इन्द्रः**=राष्ट्र का शासक राजा **सीताम्**=इस लांगल पद्धति को-कृषि कार्य को **निगृह्णातु**=निग्रह में रखे-उन अन्नों को उपजाने का नियम करे, जो कि मानव के लिए हितकर हैं। **पूषा**=समाज शरीर का पोषण करनेवाला वैश्य **ताम्**=उस सीता को **अनुयच्छतु**=राजाज्ञा के अनुसार काबू करे। राजा व्यवस्था करें और वैश्य उस व्यवस्था के अनुसार कृषि कराएँ। (२) **सा**=वह सीता **नः**=हमारे लिए **पयस्वती**=आप्यायन के हेतुभूत अन्नों के देनेवाली होती हुई **उत्तरां उत्तरां समाम्**=अगले-अगले वर्षों में **दुहाम्**=उत्तम अन्नों का दोहन करनेवाली हो।

भावार्थ—कृषि पर भी राजा का नियन्त्रण हो, वैश्य उसे अनुकूलता से कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—शुंनासीरौ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

सभी सुखकर हों

शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥ ८॥

(१) **फालाः**=लोहफलक (हल के अग्रभाग में लगी फाली) **नः**=हमारे लिए **शुनम्**=सुखकर रूप में **भूमिम्**=भूमि को **विकृणन्तु**=खोदें। **कीनाशाः**=कृषक **वाहैः**=बैलों के साथ **शुनम्**=सुखकर रूप में **अभियन्तु**=खेतों में आगे-पीछे गतिवाले हों। (ग) **पर्जन्यः**=बादल भी **मधुना पयोभिः**=मधुर जलों के हेतु से **शुनम्**=सुखकर होकर बरसे **शुनासीरा**=वायु और आदित्य **अस्मासु**=हमारे में **शुनम्**=सुख को **धत्तम्**=धारण करें। इस कृषि कार्य में भाग लेनेवाले 'लोहफलक, कृषक, बैल, बादल, वायु और सूर्य' सभी सुखकर हों।

भावार्थ—कृषिकार्य में भाग लेनेवाले सभी तत्त्व व प्राणी हमारे लिए सुखकर हों।

इन सब से उत्तम अन्नों को प्राप्त करके हमारा जीवन सुखी होता है। हमें गौवों व घृत की भी प्राप्ति होती है। इनका उल्लेख अगले सूक्त में है। वेदवाणी ही गौ है। उससे प्राप्त होनेवाला ज्ञान ही घृत है:—

[५८] अष्टपञ्चाशं सूक्तम्

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'वाक् चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्मप्रिच्छता'

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥ १॥

(१) वैदिक साहित्य में प्रभु तो समुद्र हैं ही (स+मुद्)-सदा आनन्दमय हैं। आचार्य भी ज्ञान का समुद्र है। **समुद्रात्**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से, तदनन्तर गुरु-शिष्य परम्परा से **मधुमान्**=अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए **ऊर्मिः**=ज्ञान का प्रकाश **उदारत्**=उत्कर्षेण प्राप्त होता है। ज्ञान हमारे जीवन में माधुर्य को उत्पन्न करता है। **उप अंशुना**=प्रभु की उपासना से व आचार्य के चरणों में बैठने से प्राप्त ज्ञान-किरणों से मनुष्य **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को **समानट्**=सम्यक् प्राप्त करता है। (२)

घृतस्य=ज्ञानदीप्ति के परिणामस्वरूप **नाम**=विनय **यत्**=जब **गुह्यम्**=हृदय-गुहा में होनेवाली **अस्ति**=है, तो उस समय **देवानाम्**=देवों की **जिह्वा**=वाणी-ज्ञान को देनेवाली वाणी **अमृतस्य नाभिः**=अमृत का केन्द्र प्रतीत होती है। ज्ञान को देती हुई देवों की वाणी अमृतवर्षण करती हुई मालूम देती है।

भावार्थ—आचार्य से प्राप्त होनेवाला ज्ञान हमें मधुर बनाता है और अन्ततः मोक्ष को प्राप्त कराता है। इस ज्ञान से विनीत हृदयवाले विद्वान् जिह्वा से ज्ञानामृत का वर्षण करते प्रतीत होते हैं।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥
स्वरः—धैवतः॥

शिक्षण-व्यवस्था

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन्यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद्गौर एतत् ॥ २ ॥

(१) **वयम्**=हम **घृतस्य**=ज्ञानदीप्ति के **नाम**=यश का **प्रब्रवाम**=कथन करते हैं-ज्ञान की महिमा का ध्यान करते हुए हम ज्ञान को धारण करनेवाले बनते हैं। **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **नमोभिः**=नम्रताओं से **धारयाम**=हम ज्ञान का धारण करते हैं-नम्रता से ही ज्ञान प्राप्त होता है 'तद्विद्धि प्रणिपातेन'। (२) **शस्यमानम्**=हमारे से उच्चारण किये जाते हुए इस ज्ञान को **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवित् आचार्य **उपशृणवत्**=समीपता से सुनते हैं। इन **चतुःशृंगः**=चार वेदवाणीरूप शृंगोंवाले **गौरः**=शुद्ध जीवनवाले आचार्य ने ही तो **एतत्**=इस ज्ञान का **अवमीत्**=उद्गिरण किया था। आचार्य ने अपनी वाणी से इस ज्ञान को दिया था। अब आचार्य उसे विद्यार्थी से सुन रहे हैं।

भावार्थ—ज्ञान की महिमा को जानते हुए हम नम्रता से इस ज्ञान का धारण करें। चतुर्वेदवित् आचार्य हमें ज्ञान दें और हमारे से उसे सुनें।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥
स्वरः—पञ्चमः॥

ज्ञानयज्ञ

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश॥ ३ ॥

(१) **अस्य**=इस ब्रह्मयज्ञ के **चत्वारि शृंगाः**=चार वेद ही चार शृंग हैं। **त्रयः पादाः**=तीन सवन ही इसके तीन पाद हैं। आचार्यकुल में बीतनेवाली तीन रात्रियाँ ही इसके तीन पाद हैं 'तिस्रो रात्रीर्मदवात्सीर्गृहे मे' (कठोपनिषत्)। **द्वे शीर्षे**=प्रकृति विद्या (अविद्या) और आत्मविद्या (विद्या) ही इसके दो सिर हैं। **अस्य**=इसके **सप्त हस्तासः**=गायत्री आदि सात छन्द ही सात हाथ हैं। (२) **त्रिधा बद्धः**='ऋग्, यजु, साम'='ज्ञान, कर्म, उपासना' के रूप से तीन प्रकार से बँधा हुआ **वृषभः**=यह सुखों का वर्षक ज्ञानवृषभ **रोरवीति**=गर्जना करता है। इस ज्ञानवृषभ पर आरूढ़ हुआ-हुआ **महो देवः**=महान् देव **मर्त्यान् आ विवेश**=मनुष्यों में प्रवेश करता है। ज्ञान ही तो प्रभुप्राप्ति का साधन है। यह सुखवर्षक होने से 'वृषभ' है। आनन्दित करनेवाला आनन्दी है। इसके होने पर, ईश्वर हमें क्यों न प्राप्त होंगे। सब ज्ञानों के अधिष्ठाता प्रभु ही तो हैं।

भावार्थ—ज्ञानवृषभ के चार वेद ही चार सींग हैं और इस वृषभ को अपनाने से इस पर आरूढ़ देवों के देव महादेव परमात्मा को हम प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—गान्धारः ॥

इन्द्र, सूर्य व वेन

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः॥ ४॥

(१) **पणिभिः**=स्तुति की वृत्तिवाले पुरुषों से **त्रिधा**=तीन प्रकार से, माता, पिता व आचार्य के सम्पर्क में आकर 'त्रिभिरेत्य सन्धिम्' (कठोपनिषत्) **हितम्**=जो अपने में स्थापित किया गया है, **गवि**=ज्ञान की इन वाणियों रूप गौ में **गुह्यमानम्**=छिपा कर जो रखा गया है, उस **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अन्वविन्दन्**=अनुक्रम से प्राप्त करते हैं। (२) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष ही **एकम्**=ऋग्, अर्थात् विज्ञानरूप ज्ञान के एक अंश को **जजान**=अपने में प्रादुर्भूत करता है। **सूर्यः**=(सरणात्) नित्य कर्मों में लगे रहनेवाला गृहस्थ-पुरुष ही **एकम्**=यजुः रूप कर्मों के ज्ञान को **जजान**=अपने में विकसित करता है। और **वेनात्**=प्रभुप्राप्ति की प्रबल कामनावाले आत्मरति पुरुष से **एकम्**=सामरूप उपासनात्मक ज्ञान को **स्वधया**=आत्मधारण के हेतु से **निष्टतक्षुः**=सम्पादित करते हैं।

भावार्थ—'इन्द्र' जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी विज्ञान को प्राप्त करता है। निरन्तर क्रियाशील गृहस्थ यज्ञों का ज्ञान प्राप्त करता है और आत्मरति वनस्थ प्रभु की उपासना का ज्ञान प्राप्त करके आत्मा के धारण में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—निचृदुष्णिक् ॥
स्वरः—ऋषभः ॥

ज्ञानधाराओं में

एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्॥ ५॥

(१) **हृद्यात्**=हृदयदेश में रहनेवाले **समुद्रात्**=सदा आनन्दमय प्रभु से **एताः**=ये **शतव्रजाः**= शतवर्षपर्यन्त चलनेवाली व अनन्त गतियोंवाली (विविध विषयों का ज्ञान देनेवाली) ज्ञानधाराएँ **अर्षन्ति**=हमें प्राप्त होती हैं। ये **रिपुणा**=वासनात्मक शत्रु से **अवचक्षे न**=देखने के लिये नहीं होतीं। इनके होने पर वासनात्मक शत्रु का आक्रमण नहीं होता। (२) एक उपासक कहता है कि मैं **घृतस्य**=इस ज्ञानदीप्ति की **धाराः**=धाराओं को **अभिचाकशीमि**=मैं अपने चारों ओर देखता हूँ। ज्ञानसमुद्र में ही स्नान करता हूँ और देखता हूँ कि **हिरण्ययः**=वह ज्योतिर्मय **वेतसः**=अग्नि (वी गतौ श्वेतस, अग् गतौ अग्नि) नामक प्रभु ही **आसाम्**=इनके **मध्ये**=मध्य में हैं 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु से ज्ञानधाराओं के प्राप्त होने पर वासना का आक्रमण नहीं होता। हम अपने को इन ज्ञानधाराओं में घिरा हुआ पाते हैं और देखते हैं कि इन सबका मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रभु ही हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—गान्धरः ॥

श्रद्धा व मनन से

सम्यक्स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः ।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगाइव क्षिपणोरीषमाणाः ॥ ६ ॥

(१) **अन्तर्हृदा**=हृदय के अन्तस्तल से-पूर्ण श्रद्धा से तथा **मनसा**=मनन से-विचार से **पूयमानाः**=पवित्र की जाती हुई **धेनाः**=वेदवाणियाँ **सरितः न**=नदियों के समान **सम्यक्स्रवन्ति**= हमारे जीवन में सम्यक् प्रवाहित होती हैं। श्रद्धा व मनन से ही तो ज्ञान प्राप्त होता है। (२) हमारे जीवनों में **एते**=ये **घृतस्य ऊर्मयः**=ज्ञानदीप्ति की रश्मियाँ **अर्षन्ति**=प्राप्त होती हैं। इस प्रकार शीघ्रता से प्राप्त होती हैं, **इव**=जैसे कि **क्षिपणोः**=व्याध से (अस्त्रों का प्रक्षेप करनेवाले शिकारी से) **ईषमाणाः**=भय के कारण भागते हुए **मृगाः**=मृग कक्षदेश को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—श्रद्धा व मनन से हमारे में ज्ञानवाणियों का प्रवाह चलता है। उस समय ये ज्ञान-वाणियाँ हमें शीघ्रता से प्राप्त होती हैं।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—गान्धारः ॥

आशातीत उन्नति

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः ।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः ॥ ७ ॥

(१) **इव**=जैसे **सिन्धोः**=नदी से जल **प्राध्वने**=(प्रवणवति देशे सा०) निम्न देश में **शूघनासः**=शीघ्र गमनवाले होते हैं, इसी प्रकार ज्ञान के समुद्र आचार्य से भी **वातप्रतिमः**=वायुवत् प्रकृष्ट वेगवाली **यह्वाः**=महान् **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराएँ भी विनीततावाले विद्यार्थियों की ओर **पतयन्ति**=शीघ्र गतिवाली होती हैं। ये ज्ञान की धाराएँ उन्हें वायुवत् सततगामी, सदा क्रियाशील बनाती हैं और जीवन में उन्हें महान् बनाती हैं। (२) **ऊर्मिभिः पिन्वमानः**=इन ज्ञानरश्मियों से बढ़ता हुआ यह विद्यार्थी **काष्ठाः भिन्दन्**=सब सीमाओं का विदारण करता हुआ आगे बढ़ता है, **न**=जैसे कि **अरुषः**=आरोचमान **वाजी**=बलवान् घोड़ा बन्धनों को तोड़कर आगे बढ़ता है। आजकल की भाषा में प्रयोग करते हैं कि 'रिकार्ड को बीट' कर गया। यही भाव 'काष्ठाः भिन्दन्' का है। यह सब उन्नतियों की सीमाओं को लाँघ जाता है।

भावार्थ—विनीत होकर ज्ञान को प्राप्त करते हैं। ज्ञान को प्राप्त करके हम सतत क्रियाशील बनते हैं। आशातीत उन्नति को प्राप्त करते हैं।

नोट—'आशा' शब्द का अर्थ दिशा भी होता है। मन्त्र में दिशा का पर्याय 'काष्ठा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥
स्वरः—धैवतः ॥

ज्ञानी की कर्त्तव्यपरायणता

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥ ८ ॥

(१) **समना**=समान मनवाली **योषाः**=स्त्रियाँ **कल्याण्यः**=कल्याण को करनेवाली **स्मयमानासः**=मुस्कराती हुईं **इव**=जैसे पति को प्राप्त होती हैं, इसी प्रकार ये कल्याणी **घृतस्य धाराः**=ज्ञानदीप्ति की धाराएँ **अग्निम्**=इस प्रगतिशील विद्यार्थी को **अभिप्रवन्त**=आभिमुख्येन प्राप्त होती हैं। (२) इस विद्यार्थी को **समिधः**='इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयो चान्तरिक्षं समिधा पृणाति' 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक की ज्ञानरूप तीन समिधाएँ' **नसन्त**=व्याप्त करती हैं। **ताः**=इन समिधाओं को-ज्ञानदीप्तियों को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **जातवेदाः**=विकसित ज्ञानवाला व्यक्ति **हर्यति**=(हर्य गतिकान्त्योः) इच्छापूर्वक-दिल से कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—ज्ञान को प्राप्त करके यह ज्ञानी पुरुष इच्छापूर्वक कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होता है, इन कर्त्तव्यों को करने में ही आनन्द लेता है।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

वेदवाणी द्वारा 'यज्ञशील सोमी' पुरुष का वरण

कन्याइव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत्पवन्ते॥ ९॥

(१) **कन्याः**=कन्याएँ जैसे **वहतुम्**=पति को **एतवा**=प्राप्त होने के लिए **उ**=निश्चय से **अञ्जि**=आभरणों को **अञ्जानाः**=अलंकृत करती हुई होती हैं, इसी प्रकार मैं इन **घृतस्य धाराः**=ज्ञानधाराओं को पतिरूप इस युवक को प्राप्त होने के लिये अलंकृत होता हुआ **अभि चाकशीमि**=देखता हूँ। (२) ये **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराएँ **तत् अभि पवन्ते**=उसकी ओर प्राप्त होती हैं, **यत्र**=जहाँ **सोमः**=सोम (वीर्यशक्ति) **सूयते**=सम्पादित होता है और **यत्र यज्ञः**=जहाँ यज्ञादि उत्तम कर्म होते हैं। सुरक्षित सोम ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और यज्ञादि कर्मों में लगे रहना सोमरक्षण का साधन बनता है। इस यज्ञशील सोमरक्षक पुरुष को ही ये घृतधाराएँ पति के रूप में बहती हैं। ये पति होते हैं, वेदवाणी इनकी पत्नी 'परीमे गामनेषत'।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें और यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त हों। ऐसा होने पर वेदवाणी हमें पतिरूप से वरेगी।

ऋषिः—वामदेवः॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देवसम्पर्क व ज्ञानवृद्धि

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते॥ १०॥

(१) **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तवन की **अभि**=ओर **अर्षत**=गतिवाले होओ-स्तवन में प्रवृत्त होओ। **गव्यम्**=(गावः इन्द्रियाणि) इन इन्द्रियों सम्बन्धी **आजिम्**=संग्राम को प्राप्त होओ-इन्हें विषय-वासनाओं से पराजित मत होने दो। इस प्रकार **अस्मासु**=हमारे में **भद्रा द्रविणानि**=कल्याणकर धनों को **धत्त**=धारण करो। (२) इसलिए **इमम्**=इस **नः यज्ञम्**=हमारे जीवनयज्ञ को **देवता नयत**=देवों के प्रति प्राप्त कराओ। हमारा जीवन-यज्ञ मातृरूप देव को प्राप्त करे-इससे हमें चरित्र का शिक्षण मिले। पुनः पितृदेव को प्राप्त करके सदाचार को हम सीखें। आचार्य देवों के सान्निध्य से हम ज्ञानपरिपूर्ण हों। अतिथि देवों के सान्निध्य से जीवनयात्रा में निरन्तर आगे और आगे

बढ़ें। परमात्म देव को प्राप्त कर शान्ति लाभ करें। इस प्रकार जीवन-यज्ञ में देवों का सम्पर्क होने पर **घृतस्य धाराः**=ज्ञानदीप्ति के प्रवाह **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्य के साथ हमें **पवन्ते**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—उत्तम स्तुति व अध्यात्म-संग्राम (विषयों से इन्द्रियों को पृथक् करने के संग्राम) द्वारा हम कल्याण कर धनों को प्राप्त करें। देवों के सम्पर्क में आकर ज्ञान को निरन्तर बढ़ाएँ।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—अग्निः सूर्यो वाऽपो वा गावो वा घृतं वा ॥ छन्दः—स्वराट्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—गान्धारः ॥

ज्ञान किसे प्राप्त होता है?

धाम॑न्ते॒ विश्वं॒ भुव॑न॒मधि॑ श्रि॒तम॒न्तः स॑मु॒द्रे हृ॒द्य१॒॑न्तरायु॑षि।

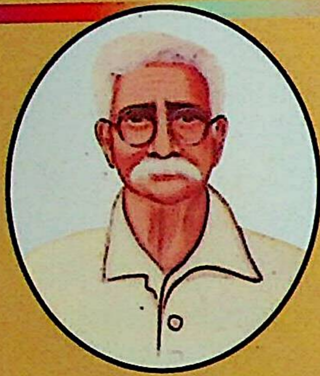
अ॒पामनी॑के समि॒थे य आभृ॑त॒स्तम॑श्याम॒ मधु॑मन्तं त ऊ॒र्मिम्॥ ११ ॥

(१) हे प्रभो! **ते धामनि**=आपके तेज में **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड **अधिश्रितम्**=आश्रित हुआ-हुआ है। हम **ते**=आपके **मधुमन्तम्**=माधुर्यवाले-जीवन को मधुर बनानेवाले **ऊर्मिम्**=ज्ञानप्रकाश को **अश्याम**=प्राप्त करें। (२) **तम्**=उस ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करें, **यः**=जो कि **समुद्रे हृदि अन्तः**=(स-मुद्) प्रसन्नतावाले हृदय के अन्दर **आभृतः**=धारण किया गया है। **आयुषिः**=गतिशील जीवन में जो धारण किया गया है। **अपाम्**=शरीरस्थ रेतःकणों के **अनीके**=बल में जो धारण किया गया है, रेतःकणों के रक्षण के होने पर जो प्राप्त होता है, इन रेतःकणों ने ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनना होता है। **समिथे**=संग्राम में जो धारण किया गया है। अध्यात्म-संग्राम में काम-क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करके जिसे पाया जाता है।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वाधार हैं। हमें प्रभु का वह ज्ञान प्राप्त हो, जो कि प्रसन्न हृदयवाले पुरुष को, गतिशील जीवनवाले को, सोमरक्षक व अध्यात्म-संग्राम विजेता को प्राप्त होता है।

इस ज्ञान को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति 'बुध' बनता है। यह ज्ञान की वाणियों में स्थिर होने से 'गविष्ठिर' कहलाता है। पञ्चम मण्डल का प्रारम्भ इन ऋषियों के सूक्त से ही होता है। ये आत्रेय हैं ज्ञान के कारण 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से ऊपर उठे हुए हैं। ये अपने जीवन मात्र को निरन्तर आगे बढ़ाते हुए 'अग्नि' होते हैं। अग्नि ही इस प्रथम सूक्त का देवता है।

इति चतुर्थं मण्डलम्॥



पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार



पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर



श्री विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड



श्री [illegible]रणदास [illegible]वेदी



पं० तुलसीरामजी



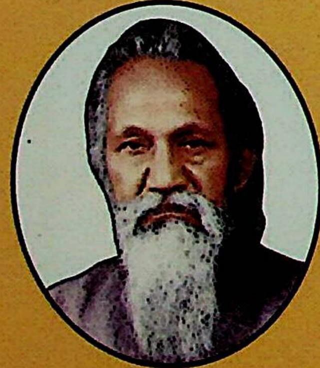
श्री रामनाथ वेदालङ्कार



स्वामी वेदानन्द सरस्वती



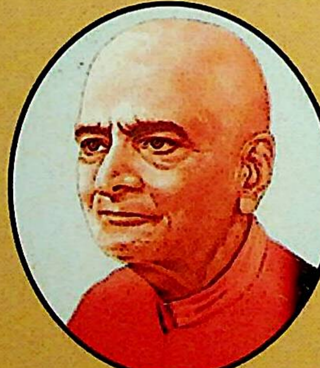
श्री आर्यमुनि



पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु



स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती



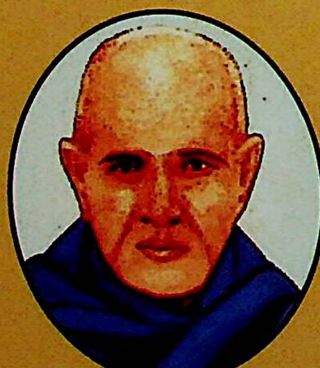
स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती



पं० अयोध्याप्रसाद



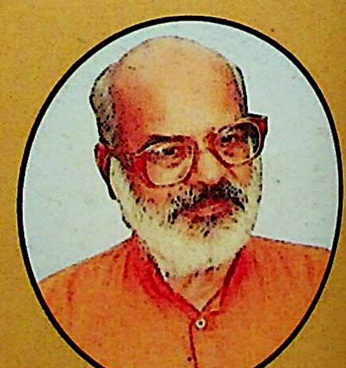
पं० भगवतदत्त



पं० शिवशङ्कर शर्मा 'काव्यतीर्थ'



म०प० युधिष्ठिर मीमांसक



स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

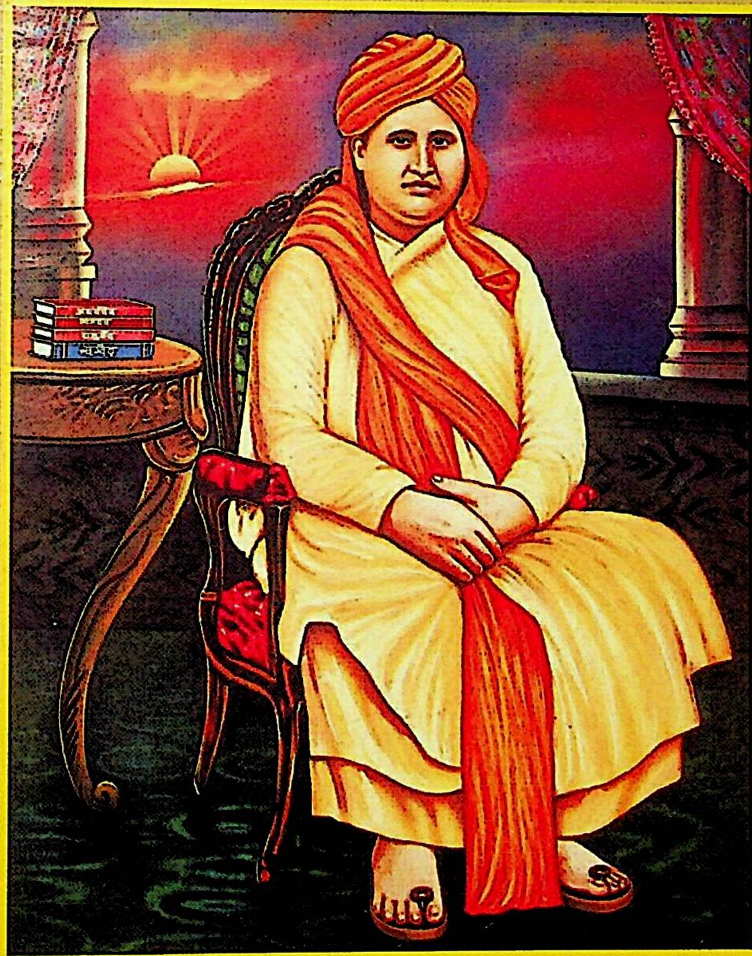
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

स्नातक बनने के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणा से उन्होंने गुरुकुल में ही अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। वह सन् 1946 में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ से सेवा निवृत्त हुए और अपनी बहिन श्रीमती वेदकुमारी (धर्मपत्नी स्व० श्री भीमसेन विद्यालंकार) के यहां लाहौर चले गए। भारत स्वतन्त्र होने पर देश-विभाजन के बाद वह पुनः दिल्ली आए और अपने लघु भ्राता श्री हरिमोहन के पास चूनामण्डी पहाड़गंज में रहने लगे। यहीं पर अपने छोटे से अध्ययन कक्ष में न्यूनतम सुविधाओं के बीच सर्दी, गर्मी, बरसात की परवाह न करते हुए कठोर तपस्या से वेदभाष्य के इस बृहत् कार्य को अकेले अपने दम पर पूरा किया।

श्रीयुत हरिशरण अत्यन्त विनम्र विद्वान् थे। अपने विशाल पाण्डित्य का उन्हें रत्ती भर अभिमान न था। जहां कहीं जिस किसी से भी उन्हें कुछ नया ज्ञान प्राप्त होता उसे बड़े उदार हृदय से वह स्वीकार कर लेते। वेद-प्रवचन व स्वाध्याय ही उनका व्यसन था। किशोरावस्था से ही वह नियमित रूप से आसन प्राणायाम तथा दण्ड, बैठक आदि व्यायाम करते थे। इस कारण उनका शरीर अत्यन्त सुडौल और बलशाली था। उन्हें तैरने व भ्रमण करने का भी खूब शौक था। युवावस्था में वह हाकी और बालीबाल के अच्छे खिलाड़ी रहे थे।

जीवन के अन्तिम चरण में वह अपने भतीजे सुधीरकुमार (सुपुत्र डॉ० हरिप्रकाश) के पास कविनगर गाजियाबाद में रहे। निधन से एक दो वर्ष पूर्व वह वार्द्धक्य जनित स्मृति लोप के रोग से आक्रान्त अवश्य हो गए थे परन्तु उन दिनों भी उनका वेद पाठ का क्रम नियमित रूप से चलता रहा। दो सप्ताह में एक बार वह चारों वेदों का पारायण पूरा कर लेते। वेदों का यह विलक्षण भाष्यकार एक दो दिन तक मामूली सा अस्वस्थ रहने के बाद 3 जुलाई 1991 को वेदमाता की गोद में ही चिर निद्रा में लीन हो गया।

—अजय भल्ला



वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है "हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।"

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी; ९८९९६५१५०३